यह है 'सुवर्ण का सूर्य'-जिन्होंने ज्ञायकस्वभावके सन्मुख लेजानेवाला "क्रमबद्धपर्याय"का
तेर प्रवचनोंकी अपूर्व भेंट देकर भारतके मुमुक्षु जीवोंके उपर महान उपकार किया है।

* आभार *

सत्साहित्य का ज्यादा प्रचार हो ऐसी धर्म प्रभावना हेतु श्री दीपचन्दजी सेठिया (सरदार शहर) के ज्ञान प्रचार ध्रुव फंड के व्याज में से १५००) रु० इस पुस्तक की कीमत कम करने के लिये खर्च किया गया है।

—प्रकाशक

सार, प्रवचनसार आदि अनेक शास्त्रों के आधार से, युक्ति—अनुभव से भरपूर प्रवचनों के द्वारा यह विषय बहुत स्पष्ट करके समझाया है। ऐसा वस्तुस्वरूप समझाकर पू. गुरुदेव ने भव्य जीवों के ऊपर परम उपकार किया है।

इस पुस्तक में मुख्यतया समयसार गा. ३०८ से ३११ के ऊपर पू. गुरुदेव के क्रमबद्धपर्याय संबन्धी तेरह विशिष्ट प्रवचन दिये गये हैं, और बाद में इसी विषय से सम्बन्धित कितने छोटे प्रवचन भी इसके साथ जोड़ दिये हैं। "आत्मधर्म" मासिक में यह सब प्रवचन छप गये हैं।

इस पुस्तक में लेखे गये महत्वपूर्ण प्रवचन ब्र० भाई श्री हरिलाल जैन के भावपूर्ण परिश्रम का फल है। उन्होंने यह प्रवचन अत्यन्त सावधानी एवं उद्यमपूर्वक सुन्दर भाषा में लेखे हैं। अतः यह संस्था उनको धन्यवाद देती है।

पूज्य गुरुदेव के ये महत्व के प्रवचनों के लेखन में पू. गुरुदेव का आशय बिलकुल अच्छी तरह बना रहे इसके लिये पू. बेनश्री—बेनश्री की ओर से खास सहाय मिली है, इसलिये दोनों पू. बहनों का हम आभार मानते हैं।

ओ भारत के भव्य मुमुक्षु जीवो! इस अमूल्य भेंट को पाकर हर्ष पूर्वक इसका सत्कार कीजिये—हमारे आत्महित के लिये श्री तीर्थंकर भगवान ने परम कृपा करके गुरुदेव के द्वारा यह भेंट अपने को दी है—ऐसा ही मानकर, इसमें कहे हुए अपूर्व गम्भीर रहस्य को समझकर, ज्ञायकस्वभाव सन्मुख हो आत्महित के पावन पथ पर परिणमन करो यही भावना है।

वीर सं० २४८१
भादों सुदी पंचमी

—रामजी माणेकचन्द दोशी
प्रमुख
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ : सौराष्ट्र

* दूसरी आवृत्ति का निवेदन *

जैन समाज की तत्वज्ञान की जिज्ञासा देख कर और इस पुस्तक की विशेष मांग होने पर यह दूसरी आवृत्ति प्रसिद्ध करने में आई है।

वीर सं० ४८१
माघ सुक्ला ५

रामजी माणेकचन्द दोशी
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

अनुक्रमणिका

आत्मा ज्ञायक है

क्रमबद्ध पर्याय का विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण और विपरीत कल्पनाओं का निराकरण

लीजिये अमूल्य भेंट

(नि वे द न)

जो प्रवचन इस पुस्तक में प्रसिद्ध हुये हैं वे वास्तव में जैनशासन के पुनीत साहित्य में पू श्री कहानगुरुदेव की एक महान अमूल्य भेंट है। हम विचार में पड गये कि इस अमूल्य भेंट को कौन-सा नाम दिया जाय? अन्त मे बहुत सोचकर इसका नाम रक्खा—"ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव" यह नाम क्यों पसन्द किया इसके बारे में थोड़ा-सा स्पष्टीकरण देखिये—

१–आत्मा का ज्ञानस्वभाव है,

२–उसकी पूर्ण व्यक्ति केवलज्ञान अर्थात् सर्वज्ञता है, सर्वज्ञता के निर्णय से ज्ञानस्वभाव का भी निर्णय हो जाता है (प्रवचनसार गाथा ८० वत्)

३–सर्वज्ञता के निर्णय में सारे ही ज्ञेय पदार्थों के स्वभावगत क्रमबद्ध-परिणमन की प्रतीति भी हो ही जाती है, क्योंकि भगवान सब देख रहा है।

—इस तरह ज्ञानस्वभाव की प्रतीति, सर्वज्ञता की प्रतीति व क्रमबद्ध-पर्यायों की प्रतीति—ये तीनों ही एक दूसरे से अविनाभावी हैं, एक के निर्णय में दूसरे दोनों का निर्णय आ ही जाता है।

इस तरह ज्ञानस्वभाव का व ज्ञेयस्वभाव का निर्णय कराने का ही मुख्य प्रयोजन होने से इस अमूल्य भेंट का नाम "ज्ञानस्वभाव व ज्ञेयस्वभाव" रखा है। इसके निर्णय किये बिना किसी भी तरह से जीवको वीतरागीज्ञान—सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

जो भी मुमुक्षु जीव आत्मा का हित साधना चाहता हो, सर्वज्ञ भगवान के सुपथ में मगल प्रयाण करना चाहता हो, उसको उपर्युक्त विषय का यथार्थ अबाधित निर्णय अवश्य करना ही चाहिये। इसका निर्णय किये बिना सर्वज्ञ के मार्ग में एक डग भी नहीं चला जा सकता, और उसका निर्णय होते ही इस आत्मा में सर्वज्ञदेव के मार्ग का—मुक्ति के मार्ग का—मगलाचरण हो जाता है।

इस परसे यह बात अच्छी तरह समझ में आ जायगी कि जिज्ञासु जीवों को यह विषय कितने महत्व का है। और इसीलिये पू गुरुदेव ने समय-

सार, प्रवचनसार आदि अनेक शास्त्रों के आधार से, युक्ति—अनुभव से भरपूर प्रवचनों के द्वारा यह विषय बहुत स्पष्ट करके समझाया है। ऐसा वस्तुस्वरूप समझाकर पू. गुरुदेव ने भव्य जीवों के ऊपर परम उपकार किया है।

इस पुस्तक में मुख्यतया समयसार गा. ३०८ से ३११ के ऊपर पू. गुरुदेव के क्रमबद्धपर्याय संबन्धी तेरह विशिष्ट प्रवचन दिये गये हैं, और बाद में इसी विषय से सम्बन्धित कितने जरूरी प्रवचन भी इसके साथ जोड़ दिये हैं। "आत्मधर्म" मासिक में यह सब प्रवचन छप गये हैं।

इस पुस्तक में लेखे गये महत्वपूर्ण प्रवचन ब्र० भाई श्री हरिलाल जैन का भावपूर्ण परिश्रम का फल है। उन्होंने यह प्रवचन अत्यन्त सावधानी एवं उद्यमपूर्वक सुन्दर भाषा में लेखे हैं। अतः यह संस्था उनको धन्यवाद देती है।

पूज्य गुरुदेव के ये महत्त्व के प्रवचनों के लेखन में पू. गुरुदेव का आशय बिलकुल अच्छी तरह बना रहे इसके लिये पू. बेनश्री—बेनश्री की ओर से काम सहाय मिली है, इसलिये दोनों पू. बहनों का हम आभार मानते हैं।

ओ भारत के भव्य मुमुक्षु जीवो! इस अमूल्य भेंट को पाकर हर्ष पूर्वक इसका सत्कार कीजिये—हमारे आत्महित के लिये श्री तीर्थंकर भगवान ने परम कृपा करके गुरुदेव के द्वारा यह भेंट अपने को दी है—ऐसा ही मानकर, इसमें कहे हुए अपूर्व गम्भीर रहस्य को समझकर, ज्ञायकस्वभाव सन्मुख हो आत्महित के पावन पथ पर परिणमन करो यही भावना है।

—रामजी माणेकचन्द दोशी
प्रमुख
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ । सौराष्ट्र

वीर सं० २४८१
भादों सुदी पंचमी

* दूसरी आवृत्ति पर निवेदन *

जैन समाज की तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा दिन पर दिन और इस पुस्तक की विशाल मांग होने पर यह दूसरी आवृत्ति प्रसिद्ध करने में आई है।

रामजी माणेकचन्द दोशी

वी० सं० २४८४

अनुक्रमणिका

आत्मा ज्ञायक है

क्रमबद्ध पर्याय का विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण और विपरीत कल्पनाओं का निराकरण

क्रमबद्धपर्याय का विस्तार से स्पष्टीकरण

[दूसरा भाग]

अनेकान्तगर्भित सम्यक् नियतवाद

अनेकान्त

श्री सर्वज्ञदेवाय नमः

आत्मा ज्ञायक है

क्रमबद्धपर्याय का विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण

—और—

अनेक प्रकार की विपरीत कल्पनाओं का निराकरण

[समयसार गाथा ३०८ से ३११ तथा उसकी टीका पर

पूज्य गुरुदेव के प्रवचन]

पूज्य गुरुदेव ने इन प्रवचनो में अखण्डरूप से एक बात पर खास भार दिया है कि—ज्ञायक के समक्ष दृष्टि रखकर ही इस क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय होता है। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करनेवाले की दृष्टि काल के समक्ष नही होती, किन्तु ज्ञायकस्वभाव पर होती है। ज्ञायक सन्मुख की दृष्टि के अपूर्व पुरुषार्थ के विना वास्तव में क्रमबद्धपर्याय का निर्णय नही होता और न उसे निर्मल क्रमबद्धपर्याय होती है। यह वात प्रत्येक मुमुक्षु को लक्ष में रखने योग्य है।

भाई रे! यह मार्ग तो मुक्ति का है या वन्धन का? इसमे तो ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके मुक्ति की वात है, इस वात का यथार्थ निर्णय करने से ज्ञान पृथक् का पृथक् रहता है। जो मुक्ति का मार्ग है उसके वहाने कोई स्वच्छन्द की पुष्टि करता है अथवा उसे "छूत की वीमारी" कहता है, उस जीव को मुक्ति का अवसर कब मिलेगा?

[—पूज्य गुरुदेव]

कुन्दकुन्द भगवान के मूल सूत्र

दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं।
जह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह ॥ ३०८ ॥
जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते।
तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणाहि ॥ ३०९ ॥
ण कुदोचि वि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो आदा।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण स होइ ॥ ३१० ॥
कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि।
उप्पज्जंति य णियमा सिद्धी दु ण दीसए अण्णा ॥ ३११ ॥

अमृतचन्द्राचार्यदेव की टीका

जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीवः एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव न जीवः, सर्वद्रव्याणां स्वपरिणामैः सह तादात्म्यात् कंकणादिपरिणामैः कांचनवत्। एवं हि जीवस्य स्वपरिणामैरुत्पद्यमानस्याप्यजीवेन सह कार्यकारणभावो न सिद्ध्यति सर्वद्रव्याणां द्रव्यान्तरेण सहोत्पाद्योत्पादकभावाभावात् तदसिद्धौ चाजीवस्य जीवकर्मत्वं न सिद्ध्यति तदसिद्धौ च कर्तृकर्मणोरनन्यापेक्षसिद्धत्वात् जीवस्याजीवकर्तृत्वं न सिद्ध्यति। अतो जीवोऽकर्ता अवतिष्ठते।

मूल गाथाओं का हिन्दी अनुवाद

जो द्रव्य उपजे जिन गुणों से उनसे जान अनन्य वो।
है जगत् में कटकादि पर्यायों से कनक अनन्य ज्यों ॥ ३०८ ॥
जिव-अजिव के परिणाम जो शास्त्रों विषें जिनवर कहे।
वे जीव और अजीव जान अनन्य उन परिणाम से ॥ ३०९ ॥
उपजै न आत्मा कोइ से इससे न आत्मा कार्य है।
उपजावता नहिं कोइ को इससे न कारण भी बने ॥ ३१० ॥
रे कर्म-आश्रित होय कर्ता, कर्म भी करतार के।
आश्रित हुवे उपजे नियम से, अन्य नहिं सिद्धी दिखे ॥ ३११ ॥

टीका का हिन्दी अनुवाद

प्रथम तो जीव क्रमवद्ध ऐसे अपने परिणामो से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नही है, इसप्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामो से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नही है, क्योकि जिसप्रकार (ककन आदि परिणामो से उत्पन्न ऐसे)सुवर्ण का ककनादि परिणामो के साथ तादात्म्य है उसीप्रकार सर्व द्रव्यो का अपने परिणामो के साथ तादात्म्य है। इसप्रकार जीव अपने परिणामो से उत्पन्न होता है, तथापि उसे अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नही होता, क्योकि सर्व द्रव्यो को अन्य द्रव्य के साथ उत्पाद्य–उत्पादकभाव का अभाव है, वह (कार्यकारणभाव) सिद्ध न होने से, अजीव को जीव का कर्मपना सिद्ध नही होता, और वह (अजीव को जीव का कर्मपना) सिद्ध न होने से, कर्ता–कर्म की अन्यनिरपेक्षरूप से (–अन्य द्रव्य से निरपेक्ष रूप से स्वद्रव्य मे ही) सिद्धि होने से जीव को अजीव का कर्तापना सिद्ध नही होता, इसलिये जीव अकर्ता सिद्ध होता है।

[—समयसार गुजराती दूसरी आवृत्ति]

(यह प्रवचन समयसार गाथा ३०८ से ३११ तथा उसकी टीका के हैं, मूल गाथा तथा टीका में भरे हुए गम्भीर रहस्य को पूज्य गुरुदेव ने इन प्रवचनो में अत्यन्त स्पष्टरूप से समझाया है।)

❋ पहला प्रवचन ❋

[आश्विन कृष्णा १२, वीर स० २४८०]

(१) अलौकिक गाथा और अलौकिक टीका

यह गाथायें अलौकिक हैं और श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने टीका भी ऐसी ही अलौकिक की है। टीका मे क्रमबद्धपर्याय की बात करके तो आचार्यदेव ने जैन–शासन का नियम और जैन–दर्शन का रहस्य

कुन्दकुन्द भगवान के मूल सूत्र

दविय जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं ।
जह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह ॥ ३०८ ॥
जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते ।
तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणाहि ॥ ३०९ ॥
ण कुदोचि वि उप्पण्णो जह्मा कज्जं ण तेण सो आदा ।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण स होइ ॥ ३१० ॥
कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि ।
उप्पज्जंति य णियमा सिद्धी दु ण दीसए अण्णा ॥ ३११ ॥

अमृतचन्द्राचार्यदेव की टीका

जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीवः एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव न जीवः सर्वद्रव्याणां स्वपरिणामैः सह तादात्म्यात् कंकणादिपरिणामैः कांचनवत् । एवं हि जीवस्य स्वपरिणामैरुत्पद्यमानस्याप्यजीवेन सह कार्यकारणभावो न सिद्ध्यति सर्वद्रव्याणां द्रव्यांतरेण सहोत्पाद्योत्पादकभावाभावात् तदसिद्धौ चाजीवस्य जीवकर्मत्वं न सिद्ध्यति तदसिद्धौ च कर्तृकर्मणोरनन्यापेक्षसिद्धत्वात् जीवस्याजीवकर्तृत्वं न सिद्ध्यति । अतो जीवोऽकर्ता अवतिष्ठते ।

मूल गाथाओं का हिन्दी अनुवाद

जो द्रव्य उपजै जिन गुणों से उनसे जान अनन्य वो ।
है जगत् में कटकादि पर्यायों से कनक अनन्य ज्यों ॥ ३०८ ॥
जिव अजिव के परिणाम जो शास्त्रों विषैं जिनवर कहे ।
वे जीव और अजीव जान अनन्य उन परिणाम से ॥ ३०९ ॥
उपजै न आत्मा कोइ से इससे न आत्मा कार्य है ।
उपजावता नहिं कोइ को इससे न कारण भी बने ॥ ३१० ॥
रे कर्मआश्रित होय कर्ता कर्म भी करतार के ।
आश्रित हुवे उपजै नियम से अन्य नहिं सिद्धी दिखे ॥ ३११ ॥

क्रम नियमित परिणाम से उत्पन्न होते हैं। जिस समय जिस पर्याय का क्रम है वह एक समय भी आगे–पीछे नही हो सकती। जो पर्याय १०० नम्बर की हो वह ९९ नम्बर की नही हो सकती और १०० नम्बर की पर्याय १०१ नम्बर की भी नही हो सकती है। इसप्रकार प्रत्येक पर्याय का स्वकाल नियमित है और समस्त द्रव्य क्रमबद्धपर्याय से परिणमित होते हैं। अपने स्वभाव का निर्णय हुआ वहाँ धर्मी जानता है कि मैं तो ज्ञायक हूँ, मैं किसे बदल सकता हूँ ? इसलिये धर्मी के पर को बदलने की बुद्धि नही है, राग को भी बदलने की बुद्धि नही है, वह राग का भी ज्ञायकरूप से ही रहता है।

(३) सर्वज्ञभगवान 'ज्ञापक' हैं, 'कारक' नहीं हैं

पहले तो ऐसा निर्णय करना चाहिये कि इस जगत मे ऐसे सर्वज्ञभगवान हैं कि जिनके आत्मा का ज्ञानस्वभाव पूर्ण विकसित हो गया है, और मेरा आत्मा भी ऐसा ही ज्ञानस्वभावी है। जगत के समस्त पदार्थ क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होते हैं, पदार्थ की तीनो काल की पर्यायो का क्रम निश्चित् है, सर्वज्ञदेव ने तीनकाल तीन लोक की पर्यायें जानी हैं। जो सर्वज्ञ ने जाना वह बदल नही सकता। तथापि सर्वज्ञदेव ने जाना इसलिये वैसी अवस्था होती है—ऐसा भी नही है। सर्वज्ञ-भगवान तो ज्ञापकप्रमाण है, वे कही पदार्थों के कारक नही हैं, कारक-रूप तो पदार्थ स्वय ही है, प्रत्येक पदार्थ स्वयं ही अपने छह कारको रूप होकर परिणमित होता है।

(४) क्रमबद्धपर्याय की झन्कार

आचार्यदेव पहले से ही क्रमबद्धपर्याय की झन्कार करते आ रहे हैं—

"जीव पदार्थ कैसा है" उसका वर्णन करते हुए दूसरी गाथा मे कहा था कि "क्रमरूप और अक्रमरूप वर्तते हुए अनेक भाव जिसका स्वभाव होने से जिसने गुण–पर्यायें अगीकार की हैं।" पर्याय क्रमवर्ती होती है और गुण सहवर्ती होता है।—ऐसा कहकर वहाँ जीव की क्रमबद्धपर्याय की बात बतला दी है।

भर दिया है। भगवान आत्मा का ज्ञायकस्वभाव है वह तो ज्ञाता दृष्टापने का ही काम करता है। कहीं फेरफार करे ऐसा उसका स्वभाव नहीं है और रागको भी बदलने का उसका स्वभाव नहीं है—राग का भी वह ज्ञायक है। जीव और अजीव सब पदार्थों की त्रिकाल की अवस्थायें क्रमबद्ध होती हैं आत्मा उनका ज्ञायक है।—ऐसा ज्ञायक आत्मा सम्यग्दर्शन का विषय है।

(२) जीव–अजीव के क्रमबद्ध परिणाम और आत्मा का ज्ञायक-स्वभाव

[टीका] जीवो हि तावत् क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीव एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो ऽजीव एव न जीव ,

आचार्यदेव कहते हैं कि— प्रथम तो' अर्थात् सर्वप्रथम यह निर्णय करना चाहिये कि जीव क्रमबद्ध—क्रमनियमित ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है अजीव नहीं है इसप्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं है। देखो यह महान सिद्धान्त। जीव या अजीव प्रत्येक वस्तु में क्रमबद्धपर्याय होती है उसमें उल्टा–सीधा होता ही नहीं। आजकल अनेक पण्डित और त्यागी आदि लोगो में इसके सामने बड़ा विरोध उठा है, क्योंकि इस बात का निर्णय करने जायें तो अपना अभी तक का माना हुआ कुछ भी नहीं रहता। संवत् २००३ में (प्रवचन–मण्डप के उद्घाटन प्रसंग पर) सर सेठ हुकमचन्दजी इन्दौर वालों के साथ पं० देवकीनन्दनजी आये थे उन्हें जब यह बात बतलाई तब वे बड़े आश्चर्यचकित हुए थे कि अहो! ऐसी बात है!! यह बात अभी तक हमारे ख्याल में नहीं आई थी। छहों द्रव्यों में उनकी त्रिकाल की प्रत्येक पर्याय का स्वकाल नियमित है। जगत में अनन्त जीव हैं और जीव की अपेक्षा अनन्तगुने अजीव हैं वे सब द्रव्य अपने अपने

जीव और अजीव समस्त पदार्थों की तीनो काल की पर्यायें क्रमबद्ध है—उन सबको जाना किसने ? सर्वज्ञदेव ने ।

"सर्वज्ञदेव ने ऐसा जाना"—इस प्रकार सर्वज्ञता का निर्णय किसने किया ?—अपनी ज्ञानपर्याय ने ।

वर्तमान ज्ञानपर्याय अल्पज्ञ होने पर भी उसने सर्वज्ञता का निर्णय किसके समक्ष देखकर किया ?–ज्ञानस्वभाव की ओर देखकर वह निर्णय किया है ।

इस प्रकार जो जीव अपने ज्ञायकस्वभाव के निर्णय का पुरुषार्थ करता है उसीको क्रमबद्धपर्याय का निर्णय होता है, और वह जीव पर का तथा राग का अकर्ता होकर ज्ञायकभाव का ही कर्ता होता है । ऐसे जीव को ज्ञानस्वभाव के निर्णय मे पुरुषार्थ, स्वकाल आदि पाँचो समवाय एक साथ आ जाते हैं ।

(६) इसमें ज्ञायकस्वभाव का पुरुषार्थ है इसलिये यह नियतवाद नहीं है

प्रश्न—गोम्मटसारमें तो नियतवादी को मिथ्यादृष्टि कहा है न ?

उत्तर—गोम्मटसार मे जो नियतवाद कहा है वह तो स्वच्छन्दी का है, जो जीव सर्वज्ञ को नही मानता, ज्ञानस्वभाव का निर्णय नही करता, अन्तरोन्मुख होकर समाधान नही किया है, विपरीत भावो के उछाले कम भी नही किये हैं, और 'जैसा होना होगा'—ऐसा कहकर मात्र स्वच्छन्दी होता है और मिथ्यात्व का पोषण करता है, ऐसे जीव को गोम्मटसार में गृहीत मिथ्यादृष्टि कहा है, किन्तु ज्ञानस्वभाव के निर्णयपूर्वक यदि इस क्रमबद्धपर्याय को समझे तो ज्ञायकस्वभाव की ओर के पुरुषार्थ द्वारा मिथ्यात्व और स्वच्छन्द छूट जाये ।

(७) भय का स्थान नहीं किन्तु भय के नाश का कारण

प्रश्न—क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करते हुए शायद स्वच्छन्दी

तत्पश्चात् ६२ वीं गाथा में कहा है कि— 'वर्णादिक भाव, अनुक्रम से आविर्भाव और तिरोभाव को प्राप्त होती हुई ऐसी उन उन व्यक्तियों (पर्यायों) द्वारा पुद्गलद्रव्य के साथ रहते हुए, पुद्गल का वर्णादि के साथ तादात्म्य प्रगट करते हैं।' यहाँ अनुक्रम से आविर्भाव और तिरोभाव' प्राप्त करना कहकर अजीव की क्रमबद्धपर्याय बतला दी है।

कर्ता–कर्म–अधिकार में भी गाथा ७६–७७–७८ में प्राप्य विकार्य और निर्वर्त्य—ऐसे तीन प्रकार के कर्म की बात करके क्रमबद्धपर्याय की बात जमा दी है। प्राप्य' अर्थात्, द्रव्य में जिस समय जो पर्याय नियमित है उस क्रमबद्धपर्याय को उस समय वह द्रव्य प्राप्त करता है–पहुँच जाता है, इसलिये उसे 'प्राप्यकर्म' कहा जाता है।

(६) ज्ञायकस्वभाव समझे तभी क्रमबद्धपर्याय समझ में आती है

देखो इसमें ज्ञायकस्वभाव की ओर से लेना है। ज्ञायक की ओर से ले तभी यह क्रमबद्धपर्याय की बात यथार्थ समझ में आ सकती है। जो जीव पात्र होकर अपने आत्मा के लिये समझना चाहता हो उसे यह बात यथार्थ रूप से समझ में आ सकती है। दूसरे हठी जीव तो इसे समझे बिना विपरीत ग्रहण करते हैं और ज्ञायकस्वभाव के निर्णय का पुरुषार्थ छोड़कर क्रमबद्धपर्याय के नाम से अपने स्वच्छन्द की पुष्टि करते हैं। जिसे ज्ञान की श्रद्धा नहीं है, केवली की प्रतीति नहीं है, अन्तर् में वैराग्य नहीं है कषाय की मंदता भी नहीं है, स्वच्छन्दता बनी है और क्रमबद्धपर्याय का नाम लेता है—ऐसे हठी–स्वच्छन्दी जीव की यहाँ बात नहीं है। जो इस क्रमबद्धपर्याय को समझ ले उसे स्वच्छन्द रह ही नहीं सकता वह तो ज्ञायक हो जाता है। भगवान! क्रमबद्धपर्याय समझकर हम तो तुझे अपने ज्ञायक आत्मा का निर्णय कराना चाहते हैं और यह बतलाना चाहते हैं कि आत्मा पर का अकर्ता है। यदि अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय नहीं करेगा तो तू क्रमबद्धपर्याय को समझा ही नहीं है।

वीतरागता का कारण है। जो वीतरागता का कारण है उसे तू रोग कहता है? क्रमबद्धपर्याय न माने तो वस्तु ही नही रहती। क्रमबद्ध-पर्यायपना तो वस्तु का स्वरूप है, उसे रोग कहना महान विपरीतता है। द्रव्य प्रतिसमय अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है—ऐसा उसका धर्म है, क्रमबद्धपर्याय मे जिस समय जिस पर्याय का स्वकाल है, उस समय द्रव्य उसी पर्याय को द्रवित होता है–प्रवाहित होता है, ऐसा ही वस्तुस्वभाव है और अपना स्वभाव ज्ञायक है। ऐसे स्वभाव को मानना वह रोग नही है, किन्तु ऐसे वस्तुस्वभाव को न मानकर फेरफार करना मानना वह मिथ्यात्व है और वही महान रोग है।

(१०) अमुक पर्यायें क्रम से और अमुक अक्रमरूप होती हैं—ऐसा नहीं है

प्रत्येक द्रव्य की तीनो काल की पर्यायो मे क्रमबद्धपना है, उसे जो न माने वह सर्वज्ञता को नही मानता, वह आत्मा के ज्ञान-स्वभाव को नही मानता, क्योकि यदि आत्मा के ज्ञानस्वभाव की यथार्थ प्रतीति करे तो उसमे क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति भी अवश्य आ जाती है।

यहाँ क्रमबद्धपर्याय का कथन हो रहा है उसमे अनादि अनतकाल की समस्त पर्याये समझ लेना चाहिये। द्रव्य की अमुक पर्याये क्रमबद्ध हो और अमुक अक्रम से हो–ऐसे दो भाग नही हैं। कोई ऐसा कहे कि—"अबुद्धिपूर्वक पर्यायें तो ज्ञान की पकड मे नही आती, इसलिये वे तो क्रमबद्ध होती हैं, किन्तु बुद्धिपूर्वक की पर्यायो में क्रमबद्धपना लागू नही होता, वे तो अक्रमरूप भी हो सकती हैं।"—यह बात सच्ची नही है। अबुद्धिपूर्वक की या बुद्धिपूर्वक की कोई भी पर्याय क्रमबद्ध ही होती है। जड और चेतन समस्त द्रव्यो की सभी पर्यायें क्रमबद्ध ही होती हैं। कोई ऐसा कहे कि—"भूतकाल की पर्यायें तो हो चुकी हैं, इसलिये उनमे कोई फेरफार नही हो सकता, किन्तु भविष्य की पर्यायें बाकी हैं, इसलिये उनके क्रम मे फेरफार किया जा

हो जायेंगे—ऐसा भय है इसलिये ऐसे भयस्थान में किसलिये आना चाहिये ?

उत्तर:—अरे भाई ! क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करना अर्थात् अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय करना वह कहीं भय का कारण नहीं है वह तो स्वच्छन्द के नाश का और निर्भयता होने का कारण है। ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के बिना मैं पर को बदल दूं"—ऐसी कर्तृबुद्धि से स्वच्छन्दी हो रहा है, उसके बदले पदार्थों की पर्याय उनके अपने से ही क्रमबद्ध होती है मैं उसका कर्ता या बदलनेवाला नहीं हूं मैं तो ज्ञायक हूं—ऐसी प्रतीति होने से स्वच्छन्द छूटकर स्वतंत्रता का अपूर्व भान होता है। यह क्रमबद्धपर्याय की समझ भय का स्थान नहीं है, भय तो मूर्खता और अज्ञान में होता है यह तो भय के और स्वच्छन्द के नाश का कारण है।

(८) "ज्ञायकपना" ही आत्मा का परम स्वभाव है

आत्मा ज्ञायक वस्तु है ज्ञान ही उसका परम स्वभाव-भाव है। ज्ञायकपना आत्मा का परम भाव है वह स्व-पर के ज्ञातृत्व के सिवा दूसरा क्या कर सकता है ? 'जैसा है' और 'जैसा होता है' उसको वह जानता है। द्रव्य और गुण वह त्रिकाल सत् और पर्याय वह एक एक समय का सत् उस सत् का आत्मा ज्ञाता है किन्तु किसी पर का उत्पादक नाशक या उसमें फेरफार करनेवाला नहीं है। यदि उत्पन्न करना नाश करना या फेरफार करना माने तो वहाँ ज्ञायक-भावपने की प्रतीति नहीं रहती। इसलिये जो ज्ञानस्वभाव को नहीं मानता और पर में फेरफार करना मानता है उसे ज्ञायकत्व नहीं रहता किन्तु मिथ्यात्व हो जाता है।

(९) "छूत का रोग" नहीं किन्तु वीतरागता का कारण

कुछ लोग कहते हैं कि आजकल क्रमबद्धपर्याय नामक 'छूतका रोग' फैल रहा है। अरे भाई ! यह क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति तो

यदि ऐसा न हो तो सर्वज्ञ ने जाना क्या ? अहो ! यह क्रमबद्धपर्याय की बात जिसकी प्रतीति मे आये उसके ज्ञानस्वभाव की दृष्टि होकर मिथ्यात्व का और अनन्तानुबन्धीकषाय का नाश हो जाता है, उसके स्वच्छन्दता नही किन्तु स्वतत्रता होती है। निर्मानता, निर्मोहता, पवित्रता जीवन मे प्रगट करना हो तो ऐसे ज्ञायकस्वभाव का निश्चय प्रथम से ही होना चाहिये।

(१३) ज्ञानस्वभाव का पुरुषार्थ और उसमें एक साथ पाँच समवाय

अज्ञानी कहते हैं कि—"इस क्रमबद्धपर्याय को मानें तो पुरुषार्थ उड जाता है"—किन्तु ऐसा नही है। इस क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करने से कर्ताबुद्धि का मिथ्याभिमान उड जाता है और निरतर ज्ञायकपने का सच्चा पुरुषार्थ होता है। ज्ञानस्वभाव का पुरुषार्थ न करे उसके क्रमबद्ध पर्याय का निर्णय भी सच्चा नही है। ज्ञानस्वभाव के पुरुषार्थ द्वारा क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करके जहाँ पर्याय स्वसन्मुख हुई वहाँ एक समय मे उस पर्याय मे पाँचो समवाय आ जाते हैं। नाटक समयसार मे प० बनारसीदास जी भी कहते हैं कि—

टेक डारी एक मैं अनेक खोजै सो सुबुद्धि,
खोजी जीवे वादी मरै साँची कहवति है ॥ ४५ ॥

दुराग्रह को छोडकर एक मे अनेक धर्मों को ढूँढना सम्यग्ज्ञान है। इसलिये ससार मे जो कहावत है कि "खोजी पावे वादी मरे" सो सत्य है।

पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियत और कर्म का अभाव—यह पाँचो समवाय एकसमय की पर्याय मे आ जाते हैं।

(१४) स्वामी कार्तिकेय अनुप्रेक्षा और गोम्मटसार के कथन की संधि

स्वामी कार्तिकेय अनुप्रेक्षा में गाथा ३२१-२२-२३ मे स्पष्ट कहा है कि जिस समय जैसा होना सर्वज्ञदेव ने देखा है, उस समय वैसा ही

सकता है। ऐसा कहनेवाले को भी पर्याय का क्रम बदलने की बुद्धि है वह पर्यायबुद्धि है। आत्मा ज्ञायक है उसकी प्रतीति करने की यह बात है। ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करे तो "मैंने इसका ऐसा किया और उसका वैसा न होने दिया'—ऐसी कर्तावुद्धि की सब विपरीत मान्यताओं का भुक्का उड़ जाता है अर्थात् विपरीत मान्यता चूरचूर हो जाती है और अकेली ज्ञायकता रहती है।

(११) ऐसी सत्य बात के श्रवण की भी दुर्लभता

अभी कई जीवों ने तो यह बात सत्समागम से यथार्थतया सुनी भी नहीं है। 'मैं ज्ञान हूँ जगत की प्रत्येकवस्तु अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होती है उसका मैं ज्ञाता हूँ किन्तु किसीका कहीं बदलनेवाला नहीं हूँ'—ऐसा यथार्थ सत्य सत्समागम से सुनकर जिसने जाना भी नहीं है उसे अन्तर में उसकी सच्ची धारणा कहाँ से होगी? और धारणा बिना उसकी यथार्थ रुचि और परिणमन तो कहाँ से हो? आजकल यह बात अन्यत्र कहीं सुनने को भी नहीं मिलती। यह बात समझकर उसका यथार्थ निर्णय करने योग्य है।

(१२) क्रम और वह भी निश्चित

'जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीवः' यह मूल टीका है इसके हिन्दी अर्थ में पंडित जयचंदजी ने ऐसा लिखा है कि—जीव प्रथम ही क्रमकर निश्चित अपने परिणामों कर उत्पन्न हुआ जीव ही है अजीव नहीं है। क्रम तो है ही और वह भी नियमित अर्थात् इस द्रव्य में इस समय ऐसी ही पर्याय होगी—यह भी निश्चित है।

कोई ऐसा कहे कि—'पर्याय क्रमबद्ध है अर्थात् वह एक के बाद एक *क्रमशः* होती है—यह ठीक है, *किन्तु किस समय कैसी पर्याय होगी* वह निश्चित नहीं है'—तो यह बात सत्य नहीं है। क्रम और वह भी निश्चित है, किस समय की पर्याय कैसी होना है वह भी निश्चित है।

तो नही होता'—इस प्रकार जिनके निमित्ताधीन दृष्टि है उन्हे क्रमवद्ध पर्याय की यथार्थ प्रतीति नही है। 'क्रमवद्धपर्याय होना हो किन्तु निमित्त न आये तो ?' यह प्रश्न ही उल्टा है। क्रमवद्धपर्याय मे जिस समय जो निमित है वह भी निश्चित् ही है; निमित्त न हो ऐसा होता ही नही।

(१८) दो नई वातें!—समझे उसका कल्याण

एक तो नियमसार की "कारण शुद्ध पर्याय" की वात, और दूसरी यह 'क्रमवद्धपर्याय' की वात।—यह दो वातें सोनगढ से नई निकली हैं—ऐसा कई लोग कहते हैं, लोगो मे आजकल यह वात प्रचलित नही है इसलिये नई मालूम होती है। शुद्धकारणपर्याय की वात सूक्ष्म है, और दूसरी यह क्रमवद्धपर्याय की वात सूक्ष्म है,—यह वात जिसे जम जाये उसका कल्याण हो जाता है। यह एक क्रमवद्ध-पर्याय की वात वरावर समझे तो उसमे निश्चय-व्यवहार और उपादान-निमित्त आदि सव स्पष्टीकरण आ जाते हैं। वस्तु की पर्याय क्रमवद्ध और मैं उसका ज्ञायक-यह समझने से सव समाधान हो जाते हैं। भगवान! अपने ज्ञायकस्वभाव को भूलकर तू पर के करने की मान्यता मे रुक गया? पर मे तेरी प्रभुता या पुरुषार्थ नही है, इस ज्ञायकभाव मे ही तेरा प्रभुता है, तेरा प्रभु तेरे ज्ञायकमन्दिर मे विराजमान है उसके सन्मुख हो और उसकी प्रतीति कर।

(१९) आत्मा अनादि से ज्ञायकभावरूप ही रहा है

जगत मे एकेन्द्रिय से लेकर पन्चेन्द्रिय तक का प्रत्येक जीव और अनत सिद्धभगवान, और अनन्तानन्त परमाणुओ मे प्रत्येक परमाणु,—वे सव क्रमवद्धरूप से परिणमित हो ही रहे हैं, मैं उनमें क्या बदल सकता हूँ? मैं तो ज्ञायक हूँ—ऐसा जो निर्णय करे उसे सम्यग्दर्शन हो जाता है। आत्मा का ज्ञान स्वभाव है वह अनादि अनंत जानने का ही कार्य करता है। आत्मा तो अनादिकाल से ज्ञायकभावरूप

होगा उसे बदलने में कोई समर्थ नहीं है।—जो ऐसा श्रद्धान करता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है और जो उसमें शंका करता है वह प्रगटरूप से मिथ्यादृष्टि है उसे सर्वज्ञ की श्रद्धा नहीं है।

जो जीव ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा नहीं करता और मात्र क्रमबद्धपर्याय का नाम लेकर स्वच्छन्द से विषय-कषाय का पोषण करता है उसे गोम्मटसार में गृहीत मिथ्यादृष्टि गिना है किन्तु निर्मल-ज्ञान स्वभाव की प्रतीति करके जो जीव क्रमबद्धपर्याय को मानता है उस जीव को कहीं भी मिथ्यादृष्टि नहीं कहा है।

(१५) एक बार यह बात तो सुन !

अहो आत्मा का ज्ञानस्वभाव जिसमें भव नहीं है, उसका जिसने निर्णय किया वह क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ उसे भेदज्ञान हुआ उसने केवली को यथार्थरूप से माना। प्रभु ! ऐसा ही वस्तुस्वरूप है और ऐसा ही तेरा ज्ञानस्वभाव है एकबार आग्रह छोड़कर अपनी पात्रता और सज्जनता लाकर यह बात तो सुन।

(१६) राग की रुचिवाला क्रमबद्धपर्याय को समझा ही नहीं

प्रश्नः—आप कहते हैं कि क्रमबद्धपर्याय होती है तो फिर क्रमबद्धपर्याय में जो राग होना होगा वह होता है ?

उत्तरः—भाई ! तेरी रुचि कहाँ अटकी है ? तुझे ज्ञान की रुचि है या राग की ? जिसे ज्ञानस्वभाव की रुचि और दृष्टि हुई है वह तो फिर अस्थिरता के अल्पराग का भी ज्ञाता ही है। और 'जो राग होना था वह हुआ'—ऐसा कहकर जो राग की रुचि नहीं छोड़ता वह तो स्वच्छन्दी-मिथ्यादृष्टि है। जो यह क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप समझे उसकी तो दृष्टि पलट जाती है।

(१७) उल्टा प्रश्न—"निमित्त न आवे तो ?"

ऐसा निमित्त आये तो ऐसा होता है, और निमित्त न आवे

तो नही होता'—इस प्रकार जिनके निमित्ताधीन दृष्टि है उन्हे क्रमवद्ध पर्याय की यथार्थ प्रतीति नही है। 'क्रमवद्धपर्याय होना हो किन्तु निमित्त न आये तो ?' यह प्रश्न ही उल्टा है। क्रमवद्धपर्याय मे जिस समय जो निमित है वह भी निश्चित् ही है, निमित्त न हो ऐसा होता ही नही।

(१८) दो नई वातें !—समके उसका कल्याण

एक तो नियमसार की "कारण शुद्ध पर्याय" की वात, और दूसरी यह 'क्रमवद्धपर्याय' की वात।—यह दो वातें सोनगढ से नई निकली हैं—ऐसा कई लोग कहते हैं, लोगो मे आजकल यह वात प्रचलित नही है इसलिये नई मालूम होती है। शुद्धकारणपर्याय की वात सूक्ष्म है, और दूसरी यह क्रमवद्धपर्याय की वात सूक्ष्म है,—यह वात जिसे जम जाये उसका कल्याण हो जाता है। यह एक क्रमवद्ध-पर्याय की वात वरावर समझे तो उसमे निश्चय–व्यवहार और उपादान–निमित्त आदि सव स्पष्टीकरण आ जाते हैं। वस्तु की पर्याय क्रमवद्ध और मैं उसका ज्ञायक–यह समझने से सव समाधान हो जाते हैं। भगवान ! अपने ज्ञायकस्वभाव को भूलकर तू पर के करने की मान्यता मे रुक गया ? पर मे तेरी प्रभुता या पुरुषार्थ नही है, इस ज्ञायकभाव मे ही तेरा प्रभुता है, तेरा प्रभु तेरे ज्ञायकमन्दिर मे विराजमान है उसके सन्मुख हो और उसकी प्रतीति कर।

(१९) आत्मा अनादि से ज्ञायकभावरूप ही रहा है

जगत मे एकेन्द्रिय से लेकर पन्चेन्द्रिय तक का प्रत्येक जीव और अनत सिद्धभगवान, और अनन्तानन्त परमाणुओ मे प्रत्येक परमाणु,—वे सव क्रमवद्धरूप से परिणमित हो ही रहे है, मैं उनमे क्या वदल सकता हूँ ? मैं तो ज्ञायक हूँ—ऐसा जो निर्णय करे उसे सम्यग्दर्शन हो जाता है। आत्मा का ज्ञान स्वभाव है वह अनादि अनंत जानने का ही कार्य करता है। आत्मा तो अनादिकाल से ज्ञायकभावरूप

ही रहा है किन्तु अज्ञानी को मोह द्वारा वह अन्यथा अध्यवसित हुआ है—यह बात प्रवचनसार की २०० वीं गाथा में कही है। आत्मा तो ज्ञायक होने पर भी अज्ञानी उसकी प्रतीति नहीं करता और 'मैं पर का कर्ता हूँ'—ऐसा मोह द्वारा अन्यथा मानता है।

(२०) कथंचित् क्रम-अक्रमपना किसप्रकार है ?

कोई ऐसा कहता है कि—"जीव की पर्याय में कुछ क्रमबद्ध हैं और कुछ अक्रमरूप हैं तथा शरीरादि अजीव की पर्याय में भी कुछ क्रमबद्ध हैं और कुछ अक्रमरूप हैं।—वह सारी बात वस्तु के द्रव्य-गुण-पर्याय से विपरीत है ज्ञानस्वभाव से विपरीत है और केवली से भी विपरीत है अर्थात् सूत्र से भी विपरीत है। वस्तु में ऐसा क्रम-अक्रमपना नहीं है किन्तु पर्याय अपेक्षा से क्रमबद्धपना और गुण सहवर्ती हैं उस अपेक्षा से अक्रमपना—इसप्रकार वस्तु क्रम-अक्रमरूप है।

(२१) केवली को मानता है वह कुदेव को नहीं मानता

कोई ऐसा कहता था कि—"जैसा केवली ने देखा वैसा हुआ है इसलिये जो फिरका (संप्रदाय) मिला और जैसे गुरु मिले (—वे भले ही मिथ्या हों तथापि) उनमें फेरफार करने की उतावल नहीं करना चाहिये क्योंकि कुदरत के नियम में जैसा आना है इसलिये उसे बदलना नहीं चाहिये।

—किन्तु भाई ! तुझे केवलज्ञान का विश्वास हो गया है ? और कुदरत का नियम अर्थात् वस्तुस्वरूप जम गया है ? जिसे केवल ज्ञान का विश्वास हो गया है और वस्तुस्वरूप समझ में आ गया उसके अन्तर में गृहीत-मिथ्यात्व रहता ही नहीं कुधर्म को या कुगुरु को माने ऐसा क्रम उसके होता ही नहीं। इसलिये सम्यक्त्वी जीव कुधर्म-कुगुरु का त्याग करे तो उससे कहीं उसके पर्याय की

क्रमवद्धता टूट जाती है—ऐसा नही है। सच्चे पुरुषार्थ मे निर्मल क्रमवद्ध पर्याय होती है।

(२२) ज्ञायकस्वभाव

जो द्रव्य जिन गुणो से उत्पन्न हो-अर्थात् जिस पर्यायरूप से परिणमित हो उसीके साथ वह तन्मय है। अहो ! द्रव्य स्वय उस-उस पर्याय के साथ तन्मय होकर परिणमित हुआ है, वहाँ दूसरा कोई उसे क्या करेगा ? आत्मा तो परम पारिणामिक स्वभावरूप ज्ञायक है, ज्ञायकभावरूप रहना ही उसका स्वभाव है। ऐसे स्वभाव का निर्णय किया वहाँ स्वभाव की ओर के पुरुपार्थ से शुद्ध पर्याय होती जाती है।

(२३) "क्रमवद्ध को नहीं मानता वह केवली को नहीं मानता"

"वस ! जैसा निमित्त आये वैसी पर्याय होती है, हम क्रमवद्ध को नही मानते।" ऐसा कहनेवाला केवलीभगवान को भी नही मानता, और वास्तव में वह आत्मा को भी नही मानता। क्रमवद्ध-पर्याय का अस्वीकार करना वह ज्ञानस्वभाव का ही अस्वीकार करने जैसा है। भाई ! यह क्रमवद्धपर्याय कही किसीके घर की कल्पना नही है, किन्तु वस्तु के घर की वात है, वस्तु का ही स्वरूप ऐसा है। कोई न माने तो उससे कही वस्तु का स्वरूप नही वदल सकता।

(२४) ज्ञानस्वभाव की ओर पुरुषार्थ को मोड़े विना क्रमबद्धपर्याय समझ में नहीं आती

"शुभ-अशुभ भाव भी जैसे क्रमवद्ध थे वैसे आये," ऐसा कहकर जो जीव राग के पुरुषार्थ मे ही अटक रहा है और ज्ञानस्वभाव की ओर पुरुषार्थ को नही मोडता, वह वास्तव मे क्रमबद्धपर्याय को समझा ही नही है, किन्तु मात्र बातें करता है। ज्ञानस्वभाव का निर्णय करने से राग की रुचि छूट जाती है और तभी क्रमबद्धपर्याय का सच्चा निर्णय होता है। भाई ! तू किसके समक्ष देखकर क्रमबद्धपर्याय

मानता है ? जिसने ज्ञायकस्वभाव की ओर देखकर क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किया वह राग का भी ज्ञाता ही हो गया है यह राग बदलकर इस समय ऐसा राग करू इसप्रकार राग को बदलने की बुद्धि में से उसका वीर्य हट गया और ज्ञानस्वभाव की ओर ढल गया उसके राग दूर होने का क्रम चालू हो गया है वर्तमान साधकदशा हुई है और उसी पुरुषार्थ से क्रमबद्धपर्याय के क्रम में अल्पकाल में केवलज्ञान भी आयगा उसका पुरुषार्थ चल रहा है। ज्ञानी को क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में स्वभाव की दृष्टि से प्रयत्न चालू हो है वह ज्ञान की अधिकता रूप ही अर्थात् भूतार्थ के आश्रित ही परिणमित होता है उसमें न उतावल है और न प्रमाद है। प्रवचनसार की २०२ वीं गाथा में प० हेमराजजी कहते हैं कि—विभावपरिणति को छूटता न देखकर सम्यग्दृष्टि जीव आकुल-व्याकुल भी नहीं होता और समस्त विभावपरिणति को टालने का पुरुषार्थ किये बिना भी नहीं रहता भूतार्थस्वभाव का आश्रय करके वर्तता है उसमें उसे पुरुषार्थ बना ही रहता है। एक साथ पाँचों समवाय उसमें आ जाते हैं।

(२५) अपने-अपने अवसरों में प्रकाशमान रहते हैं

प्रवचनसार गाथा ९९ 'सदवट्ठिदं सहावे दव्व इत्यादि में आचार्यदेव ने क्रमबद्धपर्याय का सिद्धांत अलौकिक रीति से रख दिया है। हार के मोती के दृष्टांत से द्रव्य के परिणाम अपने-अपने अवसरों में प्रकाशमान रहते हैं—यह बात समझाकर क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप एकदम स्पष्ट कर दिया है। और एक ही समय में उत्पादव्यय-ध्रुव होने पर भी उन तीनों का भिन्न-भिन्न लक्षण है—नाश अर्थात् व्यय नष्ट होनेवाले भाव के आश्रित है उत्पाद उत्पन्न होनेवाले भाव के आश्रित है और ध्रौव्य स्थिर रहनेवाले भाव के आश्रित है।—इस प्रकार प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रुव कहकर उसमें भी क्रमबद्धपर्याय की सांकल बना ही है। (देखो गाथा १०१)

(२६) 'सत्' और उसे जाननेवाला ज्ञानस्वभाव

अहो ! भगवन्तो ने जगल मे निवास करके, अपने ज्ञान मे वस्तुस्वरूप को ग्रहण करके तादृश वर्णन किया है। एक ओर सम्पूर्ण सत् का ज्ञेय पिण्ड जगत में पडा है और दूसरी ओर उसे जाननेवाला ज्ञानस्वभाव है। महासत्ता सत्, अवातरसत्ता सत्, जड–चेतन प्रत्येक द्रव्य त्रिकाल सत् और उसकी प्रत्येक समय की पर्याय भी क्रमबद्धप्रवाह मे उसके अपने स्वकाल से सत्, और इन सबको जाननेवाली ज्ञानपर्याय भी सत् ।–इसप्रकार सब क्रमबद्ध और व्यवस्थित सत् है। जहाँ उसका निर्णय किया वहाँ अपने को ज्ञातृत्व ही रहा और कर्तृत्व की मिथ्या-बुद्धि दूर हो गई। सत् का ज्ञाता न रहकर उस सत् को बदलना चाहे वह मिथ्याबुद्धि है।

(२७) ज्ञानस्वभाव के निर्णय में पाँचों समवाय आ जाते हैं

समस्त पर्यायें तो क्रमबद्ध ही हैं, किन्तु उसका निर्णय कौन करता है ? ज्ञाता का ज्ञान ही उसका निर्णय करता है। जिस ज्ञान ने ऐसा निर्णय किया उसने अपना (ज्ञानस्वभाव का) निर्णय भी साथ ही कर लिया है। जहाँ स्वभाव सन्मुख होकर ऐसा निर्णय किया वहाँ—

(१) स्वभाव की ओर का सम्यक् "पुरुषार्थ" आया,

(२) जो शुद्धता प्रगट हुई है वह स्वभाव मे से हुई है इसलिये "स्वभाव" भी आया,

(३) उस समय जो निर्मल पर्याय प्रगट होनी थी वही प्रगटी है, इसलिये "नियत" भी आया,

(४) जो निर्मलदशा प्रगट हुई है वही उस समय का स्वकाल है, इसप्रकार स्वकाल भी आ गया,

(५) उस समय निमित्तरूप कर्म के उपशमादि स्वय वर्तते है, इसप्रकार 'कर्म' भी अभावरूप निमित्तरूप से आ गया,

—उपरोक्तानुसार स्वभावसन्मुख पुरुषार्थ में पाँचों समवाय एक साथ आ जाते हैं।

(२८) उदीरणा—संक्रमणादि में भी क्रमबद्धपर्याय का नियम

कर्म को उपशम उदीरणा संक्रमणादि अवस्थाओं का शास्त्र में वर्णन आता है वह सब अवस्थायें भी क्रमबद्ध ही हैं शुभभाव से जीव ने असाता प्रकृति का साता रूप से संक्रमण किया—ऐसा कथन आता है परन्तु वहाँ कर्म की वह अवस्था होना नहीं थी और जीव ने की—ऐसा नहीं है किन्तु वैसी अवस्था होने के समय जीव के वैसे परिणाम निमित्त होते हैं—ऐसा बतलाया है। सर्वत्र एक ही अबाधित नियम है कि पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध है और आत्मा ज्ञायक है—फेरफार करनेवाला नहीं है। जीव ने शुभभाव किये और कर्म में असाता पलटकर साता हुई, वहाँ उस कर्म की अवस्था में फेरफार तो हुआ है, किन्तु उससे कहीं उसकी अवस्था का क्रम नहीं टूटा है और जीव ने शुभभाव करके उस अजीव में फेरफार किया—ऐसा भी नहीं है असाता बदलकर साता हुई वहाँ ऐसा ही उस अजीव की अवस्था का क्रम था।

(२९) द्रव्य सत्, पर्याय भी सत्

लोग कहते हैं कि—जीव सब छोड़कर चला गया किन्तु वहाँ उसने कहीं जीवत्व छोड़ा है ? जीव तो जीवरूप रहकर ही अन्यत्र गया है न ! जिसप्रकार जीव जीवरूप से सत् रहा है उसीप्रकार उसकी प्रत्येक समय की पर्याय भी उस उस समय का सत् है, वह बदलकर दूसरे समय की पर्यायरूप नहीं हो जाती।

(३०) ज्ञायक के निर्णय बिना सब पढ़ाई उल्टी है

मैं ज्ञान हूँ–ज्ञायक हूँ ऐसा न मानकर पर में फेरफार करना मानता है यह बुद्धि ही मिथ्या है। भाई ! आत्मा ज्ञान है–इस बात

के निर्णय विना तेरी सव पढाई उल्टी है, तेरे तर्क और न्याय भी विपरीत है। ज्ञानस्वभाव की गम पडे विना आगम भी अनर्थकारी हो जाते हैं। शास्त्र मे निमित्त से कथन आये वहाँ अज्ञानी अपनी विपरीत दृष्टि के अनुसार उसका आशय लेकर उल्टा मिथ्यात्व का पोषण करता है।

(३१) "मै तो ज्ञायक हूँ"

सव जीवो की पर्याय क्रमवद्ध है तो मैं किसे वदल सकता हूँ ? सर्व अजीवो की पर्याय भी क्रमवद्ध है तो मैं किसे पलट सकता हूँ ?—मैं तो ज्ञायक हूँ, ज्ञायकत्व ही मेरा परम स्वभाव है। मैं ज्ञाता ही हूँ, किसीको वदलनेवाला नही हूँ। किसीका दुख मिटा दूँ या सुखी कर दूँ यह वात मुझमे नही है—इसप्रकार अपने ज्ञायक आत्मा का निर्णय करना वह सम्यग्दर्शन है।

(३२) अपनी मानी हुई सब वात को वदलकर यह वात समझना पड़ेगी

सोलापुर मे अधिवेशन के समय विद्वत्परिषद ने इस क्रमवद्ध-पर्याय के सम्वन्ध मे चर्चा उठाई थी, किन्तु उसका कोई निर्णय नही आया, ज्यो का त्यो गीला ही समेट लिया, क्योकि जो इस वात का निर्णय करने लगें तो, निमित्त के कारण कही फेरफार होता है—यह वात नही रहती और अभी तक का रटा हुआ सब वदलना पडता है। किन्तु वह सब वदलकर, क्रमवद्धपर्याय जिस प्रकार कही जाती है उसका निर्णय किये विना किसी प्रकार श्रद्धा-ज्ञान सच्चे नही हो सकते।

(३३) क्रमवद्ध परिणमित होने वाले ज्ञायक का अकर्तृत्व

आत्मा ज्ञानस्वभावी वस्तु है, ज्ञान उसका परम स्वभाव है, और ज्ञान के साथ श्रद्धा, चारित्र, आनन्द, वीर्य इत्यादि अनन्त गुण रहते हैं। द्रव्य परिणमित होने से उन समस्त गुणो का क्रमानुसार परिणमन होता है।

आत्मा ज्ञायक है इसलिये उसका स्वभाव स्वपर को जानने का है पर को करे या राग द्वारा पर का कारण हो ऐसा उसका स्वभाव नहीं है और पर उसका कुछ करे या स्वयं पर को कारण बनाये—ऐसा भी स्वभाव नहीं है, इसप्रकार अकारणकार्यस्वभाव है।

यहाँ सर्वविशुद्धज्ञान-अधिकार में यह क्रमबद्धपर्याय की बात लेकर आचार्यदेव ने जीव का अकर्तृत्व सिद्ध किया है अर्थात् जीव ज्ञायक ही है—ऐसा समझाया है। जीव ज्ञानस्वभावी है, उसके अनंत गुणों की समय-समय की पर्यायें क्रमबद्ध ही उत्पन्न होती हैं और वे जीव के साथ एकमेक हैं। तीनकाल की प्रत्येक पर्याय अपने स्वकाल में ही उत्पन्न होती है कोई भी पर्याय उल्टी-सीधी उत्पन्न नहीं होती।

(२४) पुरुषार्थ का महान प्रश्न

इसमें महान प्रश्न यह है कि— तब फिर पुरुषार्थ कहाँ रहा?

समाधान—यह निर्णय किया वहाँ मात्र ज्ञातापना ही रहा इसलिये पर में फेरफार करने की बुद्धि से हटकर पुरुषार्थ का बल स्वभाव की ओर ढल गया। इसप्रकार ज्ञान के साथ वीर्यगुण (पुरुषार्थ) भी साथ ही है। ज्ञान की क्रमबद्धपर्याय में साथ स्वभाव की ओर का पुरुषार्थ भी साथ ही वर्तता है क्रमबद्धपर्याय में पुरुषार्थ कहीं पृथक नहीं रह जाता। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करके ज्ञान स्वोन्मुख हुआ वहाँ उसके साथ वीर्य सुख श्रद्धा चारित्र अस्तित्व इत्यादि अनन्तगुण एकसाथ ही परिणमित होते हैं इसलिये इसमें पुरुषार्थ भी साथ ही है।

(२५) "ज्ञायक" और "कारक"

अनादि-अनंतकाल में जिस समय जिस द्रव्य की जैसी पर्याय है वह सर्वज्ञदेव ने केवलज्ञान में प्रत्यक्ष जान लिया है किन्तु सर्वज्ञदेव ने जाना इसलिये वे द्रव्य वैसी क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होते

हैं—ऐसा नही है, किन्तु उस-उस समय की निश्चित् क्रमवद्धपर्यायरूप से परिणमित होने का द्रव्यो का ही स्वभाव है। सर्वज्ञ का केवल-ज्ञान तो 'ज्ञापक' अर्थात् वतलानेवाला है, वह कही पदार्थों का कारक नही है। छहो द्रव्य ही स्वय अपने-अपने छह कारकरूप से परिणमित होते हैं।

❋ दूसरा प्रवचन ❋

[आश्विन कृष्णा १३, वीर स० २४८०]

पर्याय क्रमवद्ध होने पर भी शुद्धस्वभाव के पुरुपार्थ विना शुद्धपर्याय कभी नही होती। ज्ञानस्वभाव की प्रतीति का अपूर्व पुरुषार्थ करे उसीको सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें क्रमवद्ध होती हैं।

(३६) जिसका पुरुषार्थ ज्ञायक की ओर ढला उसीको क्रमवद्ध की श्रद्धा हुई

"अहो! मैं ज्ञायक हूँ, ज्ञान ही मेरा परम स्वभाव है,—ऐसे निर्णय का अन्तर मे प्रयत्न करे उसके ऐसा निर्णय हो जाता है कि वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है और सर्वज्ञदेव ने केवलज्ञान से ऐसा ही जाना है। जिस जीव ने अपने ज्ञान मे ऐसा निर्णय किया उसे सर्वज्ञ से विरुद्ध कथन करनेवाले (अर्थात् निमित्त के कारण कुछ फेरफार होता है या राग से धर्म होता है—ऐसा मनानेवाले) कुदेव—कुगुरु—कुशास्त्र की मान्यता छूट गई है, उसका पुरुषार्थ ज्ञानस्वभाव की ओर ढला है और उसीको सर्वज्ञदेव की तथा क्रमबद्धपर्याय की यथार्थ श्रद्धा हुई है।

(३७) सर्वज्ञदेव को न माननेवाले

कोई ऐसा कहे कि "सर्वज्ञदेव भविष्य की पर्याय को वर्तमान में नही जानते, किन्तु जब वह पर्याय होगी तब वे उसे जानेंगे।"—

तो ऐसा कहनेवाले को सर्वज्ञ की श्रद्धा भी नहीं रही। भाई रे! भविष्य के परिणाम होंगे सब सर्वज्ञदेव जानेंगे—ऐसा नहीं है सर्वज्ञ देव को तो पहले से ही तीनकाल-तीनलोक का ज्ञान वर्त रहा है। तुझे ज्ञायकरूप से नहीं रहना है किन्तु निमित्त द्वारा क्रम बदलना हो सकता है ऐसा मानना है तो यह तेरी दृष्टि ही विपरीत है। ज्ञानस्वभाव की दृष्टि करने से पर्याय का निर्मल क्रम प्रारम्भ हो जाता है यह नियम है।

जीव-अजीव के सर्व परिणाम क्रमबद्ध जैसे हैं वैसे सर्वज्ञदेव ने जाने हैं और सूत्र में भी वसे ही बतलाये हैं इसलिये आचार्यदेव ने गाथा में कहा है कि—'जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते' जीव-अजीव के क्रमबद्ध परिणाम जैसे हैं वसे ही उसी सब प्रकारों के सर्वज्ञदेव ज्ञाता हैं किन्तु उनके कारक नहीं हैं।

(२८) जो आत्मा का ज्ञायकपना नहीं मानता वह केवली आदि को भी नहीं मानता

जीव प्रतिसमय अपने क्रमबद्धपरिणामरूप से उत्पन्न होता है जीव में अनन्त गुण होने से एक समय में उन अनन्त गुणों के अनंत परिणाम होते हैं उनमें प्रत्येक गुण के परिणाम प्रतिसमय नियमित क्रमबद्ध ही होते हैं।—ऐसे वस्तुस्वभाव का निर्णय करने से ज्ञान स्वसन्मुख होकर अकर्तारूप से—साक्षीभाव से परिणमित हुआ वहाँ साधकदशा होने से अभी अस्थिरता का राग भी होता है किन्तु ज्ञान तो उसका भी साक्षी है। स्व-परप्रकाशकज्ञान विकसित हुआ उसकी क्रमबद्ध पर्याय ऐसी ही है कि उससमय ज्ञायक को जानते हुए वैसे राग को भी जाने। ऐसे ज्ञायकपने को न माने और पर्याय के क्रम में फेरफार करना माने तो वह जीव आत्मा के ज्ञानस्वभाव को नहीं मानता केवलीभगवान को भी वह नहीं मानता और केवलज्ञान के साधक गुरु कैसे होते हैं उन्हें भी वह नहीं मानता। क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति करके जिसने अपने ज्ञानस्वभाव को प्रतीति में लिया उसे सम्यग्दर्शनादि हुए

हैं, और उसीने वास्तव मे केवलीभगवान को, उनके शास्त्रो को और गुरु को माना है।

(३९) पर्याय क्रमबद्ध होने पर भी, पुरुषार्थी को ही सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें होती हैं

देखो, इसमें आत्मा के ज्ञायकस्वभाव के पुरुषार्थ की वात है। "क्रमबद्धपर्याय" का ऐसा अर्थ नही है कि जीव चाहे जैसे कुधर्म को मानता हो तथापि उसे सम्यग्दर्शन हो सकता है। अथवा चाहे जैसे तीव्र विषय-कषायो मे वर्तता हो या एकेन्द्रियादि पर्याय मे वर्तता हो तथापि उसे भी क्रमबद्धरूप से उस पर्याय मे सम्यग्दर्शनादि हो जायें —ऐसा कभी नही होता। जो कुधर्म को मानते हैं, तीव्र विषय-कषाय मे वर्तते हैं, या एकेन्द्रिय मे पडे हैं, उन्हे कहाँ अपने ज्ञानस्वभाव की या क्रमबद्धपर्याय की खबर है? पर्याय क्रमबद्ध होने पर भी शुद्ध-स्वभाव के पुरुषार्थ विना कदापि शुद्धपर्याय नही होती। ज्ञानस्वभाव की प्रतीति का अपूर्व पुरुषार्थ करे उसीको सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें क्रमबद्ध होती हैं और जो वैसा पुरुषार्थ नही करता उसे क्रमबद्ध मलिन पर्याय होती है। पुरुषार्थ के बिना ही हमे सम्यग्दर्शनादि निर्मलदशा हो जायेगी—ऐसा कोई माने तो वह क्रमबद्धपर्याय का रहस्य समझा ही नही है। जो जीव कुदेव को, कुगुरु को, कुधर्म को मानता है और स्वच्छन्दता से तीव्र कषायो मे वर्तता है—ऐसे जीव को क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा ही नही है। भाई! अपने ज्ञानस्वभाव के पुरुषार्थ बिना तूने क्रमबद्धपर्याय को कहाँ से जाना? जबतक कुदेव-कुधर्म आदि को माने तबतक उसकी क्रमबद्धपर्याय में सम्यग्दर्शन की योग्यता हो ही नही सकती। सम्यग्दर्शन की योग्यतावाले जीव को उसके साथ ज्ञान का विकास, स्वभाव का पुरुषार्थ आदि भी योग्य ही होते है, एकेन्द्रियपना आदि पर्याय मे उसप्रकार के ज्ञान, पुरुषार्थ आदि नही होते, ऐसा ही उस जीव की पर्याय का क्रम है। यहाँ तो यह बात है कि पुरुषार्थ द्वारा जिसने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति की उसे

सम्यग्दर्शन हुआ, इसलिये पर का और रागादि का अकर्ता हुआ और उसीने क्रमबद्धपर्याय को यथार्थ रूप से जाना है। अभी तो कुदेव और सुदेव का निर्णय करने की भी जिसके ज्ञान में शक्ति नहीं है उस जीव में ज्ञायकस्वभाव का और अनन्त गुणों की क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करने की शक्ति तो कहाँ से होगी ? और यथार्थ निर्णय के बिना क्रमबद्धपर्याय में शुद्धता हो जाये—ऐसा नहीं होता।

(४०) "अनियतनय" या "अकालनय" के साथ क्रमबद्धपर्याय का विरोध नहीं है

प्रवचनसार के परिशिष्ट के ४७ नयों में २७ वें अनियतनय से आत्मा को अनियत" कहा है परन्तु अनियत अर्थात् अक्रमबद्ध—ऐसा उसका अर्थ नहीं है। वहाँ पानी की उष्णता का उदाहरण देकर समझाया है कि जिसप्रकार उष्णता पानी का नित्यस्थायी स्वभाव नहीं है किन्तु उपाधिभाव है इसलिये उस विकार की अपेक्षा से आत्मा को अनियत कहा है। इसीप्रकार ३१ वें बोल में वहाँ 'अकालनय' कहा है उसमें भी कहीं इस क्रमबद्धपर्याय के नियम से विरुद्ध बात नहीं है कहीं क्रमबद्धपर्याय को तोड़कर वह बात नहीं है। (इन अनियतनय तथा अकालनय सम्बन्धी विशेष समझ के लिये आत्मधर्म में प्रकाशित होनेवाले पूज्य गुरुदेव के प्रवचन पढ़े ।)

(४१) जैनदर्शन की मूलवस्तु का निर्णय

मूल वस्तुस्वभाव क्या है उसका पहले बराबर निर्णय करना चाहिए। आत्मा का ज्ञाता–दृष्टा स्वभाव क्या है ? और ज्ञेय पदार्थों का क्रमबद्धस्वभाव क्या है ?—उसके निर्णय में विश्वदर्शनरूप जैन दर्शन का निर्णय आ जाता है किन्तु अज्ञानियों को उसका निर्णय नहीं है।

देखो यह मूलवस्तु है, इसका पहले निर्णय करना चाहिये। इस मूलवस्तु के निर्णय बिना धर्म नहीं हो सकता। जिस प्रकार कोई

आदमी किसी दूसरे आदमी के पास पाँचहजार की उगाही के लिये जाये, वहाँ कर्जदार आदमी उसे अच्छी-अच्छी मिठाइयो का भोजन कराये, किन्तु लेनदार कहे कि भाई ! भोजन की वात पीछे, पहले मुख्य (मूल) वात करो, यानी मैं पाँचहजार रुपये लेने आया हूँ, उनकी पहले व्यवस्था कर दो,-इस प्रकार वहाँ भी मुख्य वात पहले करते हैं, उसी प्रकार यहाँ मुख्य (मूल) रकम यह है कि आत्मा ज्ञान-स्वभावी है उसका निर्णय करना चाहिये। आत्मा ज्ञायकस्वभाव है और पदार्थों की पर्याय का क्रमवद्धस्वभाव है—उसका जो निर्णय नही करता, और "ऐसा निमित्त चाहिये तथा ऐसा व्यवहार चाहिये"-इसप्रकार व्यवहार की रुचि मे रुक जाता है उसका किंचित् भी हित नही होता। अहो ! मैं ज्ञायक हूँ—यह मूल वात जिसकी प्रतीति मे आ गई उसे क्रमवद्धपर्याय जमे विना नही रहेगी, और जहाँ यह वात जमी वहाँ सव स्पष्टीकरण हो जाते हैं।

[४२] हार के मोतियों के दृष्टान्त द्वारा क्रमवद्धपर्याय की समझ; और ज्ञान को सम्यक् करने की रीति

प्रवचनसार की ९९ वी गाथा मे लटकते हुए हार का दृष्टान्त देकर उत्पाद-व्यय-ध्रुव सिद्ध किये हैं, उसमे भी क्रमवद्धपर्याय की वात आ जाती है। जिस प्रकार लटकते हुए हार के मोतियो मे पीछे पीछे के स्थानो मे पीछे पीछे के मोतियो के प्रगट (प्रकाशित) होने से और आगे आगे के मोतियो के प्रगट नही होने से प्रत्येक मोती अपने-अपने स्थान मे प्रकाशित हैं, उसमें आगे-आगे के स्थान मे आगे-आगे का मोती प्रकाशित होता है और पीछे-पीछे के मोती प्रकाशित नही होते, उसी प्रकार लटकते हुए हार की भाँति परिणमित द्रव्य में समस्त परिणाम अपने-अपने अवसरो मे प्रकाशित रहते हैं, उसमे पीछे-पीछे के अवसरो में पीछे-पीछेके परिणाम प्रगट होते हैं और आगे-आगे के परिणाम प्रगट नही होते। (देखो, गाथा ९९ की टीका।) लटकते हुए हार के डोरे मे उसका प्रत्येक मोती यथास्थान

क्रमबद्ध जमा हुआ है यदि उसमें उल्टा–सीधा करने जाये–पाँचवें नम्बर का मोती हटा कर पच्चीसवें नम्बर पर लगाने जाये–तो हार का डोरा टूट जायेगा इसलिये हार की अखण्डता नहीं रहेगी। उसी प्रकार जगत का प्रत्येक द्रव्य मूलतः अर्थात् परिणमनशील है। अनादिअनन्त पर्यायरूप मोती क्रमबद्ध जमे हुए हैं उसे न मानकर एक भी पर्याय का क्रम तोड़ने जाये तो गुण का और द्रव्य का क्रम टूट जायेगा अर्थात् श्रद्धा ही मिथ्या हो जायेगी। मैं तो ज्ञायक हूँ मैं निमित्त बनकर किसीकी पर्याय में फेरफार कर दूँ—ऐसा मेरा स्वरूप नहीं है —इस प्रकार ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति द्वारा अकर्तापना हो जाता है अर्थात् सम्यग्ज्ञान होता है और वही जीव स्व-परप्रकाशक ज्ञान द्वारा इस क्रमबद्धपर्याय को यथार्थतया जानता है।—इसप्रकार अभी तो ज्ञान को सम्यक करने की यह रीति है इसे समझे बिना सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता।

(४३) ज्ञायकभाव का परिणमन करे वही सच्चा श्रोता

इस क्रमबद्धपर्याय के विषय में आजकल बड़ी गड़बड़ी शुरू हुई है इसलिये यहाँ उसका विशेष स्पष्टीकरण करते हैं। अभी तो जिसे इस बात के श्रवण का भी प्रेम न आये वह अन्तर में पात्र होकर परिणमित कहाँ से करेगा? और अकेले श्रवण का प्रेम करे किन्तु स्वच्छन्द टालकर अंतर में ज्ञायकभाव का परिणमन न करे तो उसने भी वास्तव में यह बात नहीं सुनी है। यही बात समयसार की चौथी गाथा में आचार्यदेव ने रखी है वहाँ कहा है कि एकत्वविभक्त शुद्धात्मा का श्रवण जीव ने पहले कभी नहीं किया है अनन्तबार साक्षात् तीर्थंकर भगवान के समवसरण में जाकर दिव्यध्वनि सुन आया तथापि आचार्य भगवान कहते हैं कि उसने भावभासनरूप शुद्धात्मा की बात का श्रवण किया ही नहीं क्यों? क्योंकि अन्तर में उपादान जागृत करके उस शुद्धात्मा की रुचि नहीं की इसलिये उसके श्रवण में निमित्तपना भी नहीं आया।

(४४) जहाँ स्वच्छन्द है वहाँ क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा नहीं है; साधक को ही क्रमबद्धपर्याय की सच्ची श्रद्धा है

प्रश्न.—क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा हो जाये, किन्तु पर्याय के क्रम मे से स्वच्छन्द दूर न हो तो ?

उत्तर:—ऐसा हो ही नही सकता। भाई! जो क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करे उसके पर्याय मे स्वच्छन्द का क्रम रह ही नही सकता, क्योकि ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर उसने वह प्रतीति की है। ज्ञानस्वभाव की पहिचान के पुरुषार्थ बिना अकेली क्रमबद्धपर्याय का नाम ले, उसकी यहाँ बात नही है, क्योकि ज्ञानस्वभाव की पहिचान बिना वह क्रमबद्धपर्याय को भी नही समझा है। ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख होकर क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति की वहाँ तो अनन्तगुणो का अश निर्मलरूप से परिणमित होने लगा है, श्रद्धा मे सम्यग्दर्शन हुआ, ज्ञान में सम्यग्ज्ञान हुआ, आनन्द के अश का वेदन हुआ, वीर्य का अश स्वोन्मुख हुआ,—इसप्रकार समस्त गुणो की अवस्था के क्रम में निर्मलता का प्रारम्भ हो गया। अभी जिसके श्रद्धा-ज्ञान सम्यक् नही हुए हैं, आनन्द का भान नही है, वीर्यबल अन्तर्स्वभावोन्मुख नही हुआ है, उसे क्रमबद्धपर्याय की सच्ची प्रतीति नही है। क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति के साथ तो स्वभाव की ओर का पुरुषार्थ है, श्रद्धा-ज्ञान सम्यक् हुए हैं, अतीन्द्रिय आनन्द और वीतरागता का अश प्रगट हुआ है, इसलिये वहाँ स्वच्छन्द तो होता ही नही। साधकदशा में अस्थिरता का राग आता है, किन्तु वहाँ स्वच्छन्द नही होता। और जो राग है उसका भी परमार्थत तो वह ज्ञानी ज्ञाता ही है। इस प्रकार इसमे भेदज्ञान की बात है। सम्यग्दर्शन कहो, भेदज्ञान कहो या ज्ञायकभाव का पुरुषार्थ कहो, अथवा क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति कहो, वस्तुस्वभाव का निर्णय कहो—यह सब साथ ही हैं। क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धावाले को हठ भी नही रहती और स्वच्छन्द भी नही रहता। सम्यक्श्रद्धा होने के साथ ही उसे उसी क्षण चारित्र प्रगट करके मुनित्व धारण

कर लेना चाहिये—ऐसी हठ नहीं होती और चाहे जैसा राग हो उसमें कोई हर्ज नहीं है—ऐसा स्वच्छन्द भी नहीं होता ज्ञायकभावरूप मोक्षमार्ग का उद्यम उसके चलता ही रहता है। चारित्र की कमजोरी में अपना ही अपराध मानता है, किसी अन्य का दोष नहीं मानता।

(४५) यह समझें तो सब गुत्थियाँ सुलझ जायें

आजकल उपादान–निमित्त और निश्चय–व्यवहार की बड़ी उलझनें चल रही हैं यदि यह क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप बराबर समझे तो वे सारी गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं। द्रव्य अपने क्रमबद्धपरिणाम रूप से उत्पन्न होता है'—ऐसा कहा उसमें उस उस पर्याय का क्षणिक उपादान आ जाता है। प्रत्येक समय की पर्याय अपने–अपने क्षणिक उपादान से ही क्रमबद्धरूप से नियमितरूप से उत्पन्न होती है अपने परिणामों से ही अर्थात् उस समय की क्षणिक योग्यता से ही उत्पन्न होती है निमित्त से उत्पन्न नहीं होती। प्रत्येक गुण में अपने–अपने क्षणिक उपादान से क्रमबद्ध परिणाम उत्पन्न होते हैं,—इस प्रकार समस्त गुणों के अनन्त परिणाम एक समय में उत्पन्न होते हैं। यह जो क्रमबद्धपना कहा जाता है वह 'उर्ध्वता सामान्य' की अपेक्षा से अर्थात् कालप्रवाह की अपेक्षा से कहा जाता है।

(४६) यथार्थ जैसा निर्णय

भाई! अपने ज्ञान को अंतरोन्मुख करके एकबार यथार्थ जैसा यथार्थ निर्णय तो कर। यथार्थ जैसा निर्णय किये बिना मोक्षमार्ग की ओर तेरा वीर्य नहीं चलेगा। यह निर्णय करने से तेरी प्रतीति में निरन्तर ज्ञान की अधिकता हो जायेगी और राग उस ज्ञान का ज्ञेय हो जायेगा। इसके अनुभवज्ञान बिना अनादि से स्व-पर के स्वरूप को भूल कर पर का मैं करूं और पर को बदल दूं ऐसा मान रहा है—ऐसी बुद्धि तो संसारभ्रमण के कारणरूप है।

(४७) फरसी की भाँति सर्व जीव ज्ञानस्वरूप हैं

आत्मा ज्ञानस्वभावी है ज्ञान किसे बदलेगा? जिस प्रकार

केवलीभगवान जगत के ज्ञाता-दृष्टा ही हैं, उसी प्रकार यह आत्मा भी ज्ञाता-दृष्टापने का ही कार्य कर रहा है। भगवान एक समय मे परिपूर्ण जानते हैं और यह जीव अल्प जानता है—इतना ही अन्तर है। किन्तु अपने ज्ञाता-दृष्टापने की प्रतीति न करके, अन्यथा मानकर जीव ससार मे भटक रहा है। अल्प और अधिक ऐसे भेद को गौण कर डाले तो सर्व जीवो मे ज्ञान का एक ही प्रकार है, समस्त जीव ज्ञानस्वरूप हैं और जानने का ही कार्य करते है, किन्तु ज्ञानरूप से अपना अस्तित्व है उसे प्रतीति मे न लेकर, ज्ञान के अस्तित्व मे पर का अस्तित्व मिलाकर पर के साथ एकत्व मानता है, पर से लाभ-हानि मानता है वही दु ख और ससार है।

(४८) निमित्त वास्तव में कारक नहीं किन्तु अकर्ता है

"सर्वज्ञभगवान को तो परिपूर्ण ज्ञान विकसित हो गया है, वे तो 'ज्ञायक' हैं इसलिये वे पर मे कुछ भी फेरफार नही करते, यह बात ठीक है, किन्तु यह जीव तो निमित्तरूप से कारक होकर अपनी इच्छानुसार पदार्थों मे फेरफार—उल्टासीधा कर सकता है ?"—ऐसा कोई कहे तो वह भी सत्य नही है। ज्ञायक हो या कारक हो, किन्तु पदार्थ की क्रमबद्धपर्याय को बदलकर कोई उल्टी-सीधी नही करता। प्रत्येक द्रव्य निरन्तर स्वय ही अपना कारक होकर क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, निमित्तरूप दूसरा द्रव्य वास्तव मे कारक नही किन्तु अकारक है, अकारक को कारक कहना वह उपचारमात्र है, इसी प्रकार निमित्त अकर्ता है, उस अकर्ता को कर्ता कहना वह उपचार है-व्यवहार है—अभूतार्थ है।

(४९) ज्ञायक के निर्णय में ही सर्वज्ञ का निर्णय

भगवान सर्व के ज्ञायक हैं—ऐसा निर्णय किसने किया ? ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर स्वय ज्ञायक हुआ तभी भगवान के ज्ञायकपने का यथार्थ निर्णय हुआ।

(४०) पर्याय में अनन्यपना होने से, पर्याय के बदलने पर द्रव्य भी बदलता है; चक्की के निचले पाट की भाँति वह सर्वथा कूटस्थ नहीं है

यहाँ ऐसा कहा है कि क्रमबद्धपरिणामरूप से द्रव्य उत्पन्न होता है— 'दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं' द्रव्य अपने जिन गुणों से जिन क्रमबद्धपरिणामोंरूप उत्पन्न होता है उनमें उसे अनन्य जान। इसलिये अकेली पर्याय ही पलटती है और द्रव्य गुण तो 'चक्की के निचले पाट की भाँति' सर्वथा कूटस्थ ही रहते हैं—ऐसा नहीं है। पर्याय के बदलने से उस-उस पर्यायरूप से द्रव्य गुण उत्पन्न होते हैं। पहले समय की पर्याय में जो द्रव्य-गुण अनन्य थे वे दूसरे समय पलटकर दूसरे समय की पर्याय में अनन्य हैं। पहले समय में पहली पर्याय का जो कर्ता था वह बदलकर दूसरे समय में दूसरी पर्याय का कर्ता हुआ है। इसी प्रकार कर्ता की भाँति कर्म करण सम्प्रदान अपादान और अधिकरण—इन सब कारकों में प्रतिसमय परिवर्तन होता है। पहले समय जैसा कर्तापना था वैसा ही कर्तापना दूसरे समय नहीं रहा पर्याय के बदलने से कर्तापना आदि भी बदले हैं। कर्ता-कर्म आदि छह कारक पहले जिस स्वरूप में थे उसी स्वरूप में दूसरे समय नहीं रहे। पहले समय में पहली पर्याय के साथ तद्रूप होकर उसका कर्तृत्व था और दूसरे समय में दूसरी पर्याय के साथ तद्रूप होकर उस दूसरी पर्याय का कर्तृत्व हुआ। इसप्रकार पर्याय अपेक्षा से, नई नई पर्यायों के साथ तद्रूप होता-होता सारा द्रव्य प्रतिसमय पलट रहा है द्रव्य-अपेक्षा से ध्रुवता है। यह कुछ सूक्ष्म बात है।

प्रवचनसार की ६३ वीं गाथा में भी कहा है कि—"तेहिं पुणो पज्जाया .... द्रव्य तथा गुणों से पर्यायें होती हैं। द्रव्य के परिणमित होने से उसके अनन्त गुण भी क्रमबद्धपर्यायरूप से साथ ही परिणमित हो जाते हैं। पर्याय में अनन्यरूप से द्रव्य उत्पन्न होता है—

ऐसा कहने से, पर्याय के परिणमित होने से द्रव्य भी परिणमित हुआ है—यह बात सिद्ध होती है, क्योकि यदि द्रव्य सर्वथा ही परिणमित न हो तो पहली पर्याय से छूटकर दूसरी पर्याय के साथ वह कैसे तद्रूप होगा ? पर्याय के बदलने पर यदि द्रव्य न बदले तो वह अलग पड़ा रहेगा !—इसलिये दूसरी पर्याय के साथ उसकी तद्रूपता हो ही नही सकती। किन्तु ऐसा नही होता; पर्याय परिणमित होती रहे और द्रव्य अलग रह जाये ऐसा नही होता।

कोई ऐसा कहे कि—"पहले समय की जो पर्याय है वह स्वयं ही दूसरे समय की पर्यायरूप परिणमित हो जाती है, द्रव्य परिणमित नही होता"—तो यह बात असत्य है। पहली पर्याय मे से दूसरी पर्याय नही आती, पर्याय मे से पर्याय प्रगट होती है—ऐसा माननेवाले को तो "पर्यायमूढ" कहा है। पर्याय के पलटने पर उसके साथ द्रव्य, क्षेत्र और भाव भी (पर्याय अपेक्षा से) पलट गये हैं। यदि ऐसा न हो तो समय-समय की नई पर्याय के साथ द्रव्य का तद्रूपपना सिद्ध नही हो सकता। "सर्व द्रव्यो का अपने परिणामो के साथ तादात्म्य है"—ऐसा कह कर आचार्यदेव ने अलौकिक नियम दिखा दिया है। श्री दीपचन्द जी कृत चिद्विलास मे भी यह बात की है।

(५१) जीव का सच्चा जीवन

जीव अपने क्रमबद्धपरिणामरूप से उत्पन्न होता हुआ, उसमे तन्मयरूप से जीव ही है, अजीव नही है। अजीव के या राग के आश्रय से उत्पन्न हो ऐसा जीव का सच्चा स्वरूप नही है। और क्रमबद्ध-परिणाम न माने तो उसे भी वस्तुस्वरूप की खबर नही है। "जीवित जीव" तो अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से ही उत्पन्न होता है, उसके बदले अजीवादि निमित्त के कारण जीव उत्पन्न होता है—ऐसा माने, अथवा तो जीव निमित्त होकर अजीव को उत्पन्न करता है—ऐसा माने तो उसने जीव के जीवन को नही जाना है। जीव का जीवन तो ऐसा है कि पर के कारण-कार्य बिना ही स्वय अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है।

(५२) दृष्टि अनुसार क्रमबद्धपर्याय होती है

आत्मा ज्ञायकस्वरूप समभावी सूर्य है —ऐसे स्वभाव को जो नहीं जानता और स्वच्छन्दी होकर मिथ्यात्व की विषमबुद्धि से कर्तृत्व मानता है—पर में उलटा-सीधा करना चाहता है—उसने जीव को वास्तव में माना ही नहीं है ज्ञायकस्वरूप जीवतत्त्व को उसने जाना ही नहीं है। कर्तृत्व मानकर कहीं भी फेरफार करने गया वहाँ स्वयं ज्ञातारूप से नहीं रहा और क्रमबद्धपर्याय ज्ञेयरूप है उसे नहीं माना इसलिये अकर्ता साक्षीस्वरूप ज्ञायक जीवतत्त्व उसकी दृष्टि में नहीं रहा। ज्ञायकस्वभाव पर जिसकी दृष्टि है वह ज्ञाता है—अकर्ता है और निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूप से वह उत्पन्न होता है। ज्ञातास्वभाव पर जिसकी दृष्टि नहीं है और पर के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पर ही जिसकी दृष्टि है उसे विपरीतदृष्टि में क्रमबद्धपर्याय अशुद्ध होती है। इस प्रकार यह दृष्टि बदलने की बात है पर की दृष्टि छोड़कर ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि करने की यह बात है, ऐसी दृष्टि प्रगट किये बिना यह बात यथार्थरूप से समझ में नहीं आ सकती।

(५३) ज्ञायक के लक्ष बिना एक भी न्याय सच्चा नहीं होता

पानी का जो प्रवाह है वह उलटा सीधा नहीं होता पहले का पीछे और पीछे का आगे—ऐसा नहीं होता उसी प्रकार द्रव्य अपने अनादि-अनन्त पर्यायों के प्रवाहक्रम को द्रवित होता है—प्रवाहित होता है उस प्रवाहक्रम में जिस-जिस पर्याय को वह द्रवित होता है उस-उस पर्याय के साथ वह अनन्य है। जिस प्रकार मकान के खिड़की-दरवाजे नियत हैं छोटे-बड़े अनेक खिड़की-दरवाजों में जिस स्थान पर जो खिड़की या दरवाजा लगाना हो वही बराबर बैठता है बड़ा दरवाजा काटकर छोटे दरवाजे की जगह लगा दें तो उस बड़े दरवाजे की जगह क्या समायेंगे ? बड़े दरवाजे की जगह कहीं छोटा दरवाजा फिट नहीं हो सकता वहाँ तो बढ़ई प्रत्येक खिड़की—दरवाजे पर नम्बर लिख रखता है। यदि उस नम्बर में गड़बड़ी हो

जाये तो खिडकी–दरवाजो का मेल टूट जाता है। उसीप्रकार आत्मा ज्ञायकस्वरूप है और पदार्थ उसके ज्ञेय हैं, उन पदार्थों की क्रमवद्ध-पर्याय मे जिस पर्याय का जो स्थान (—स्वकाल) है वह आगे–पीछे नही होता। यदि एक भी पर्याय के स्थान को (प्रवाहक्रम को) वदलकर इधर–उधर करने जायें तो कोई व्यवस्था ही न रहे, क्योकि एक पर्याय को वदलकर दूसरे स्थान पर रखा, तो दूसरे स्थान की पर्याय को बदलकर तीसरे स्थान पर रखना पडेगी–इसप्रकार सारा द्रव्य ही छिन्नभिन्न हो जायेगा,–अर्थात् उस जीव की दृष्टि मे द्रव्य खण्ड-खण्ड होकर मिथ्यात्व हो जायेगा, सर्वज्ञता या ज्ञायकता तो सिद्ध ही नही होगी। "मैं ज्ञायक हूँ",–इस वात का जवतक लक्ष न हो तवतक एक भी सच्चा न्याय समझ मे नही आ सकता। आत्मा ज्ञायक और सर्व पदार्थ ज्ञेय,—इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय दोनो व्यवस्थित हैं। जैसे पदार्थ हैं वैसा ही ज्ञान जानता है, और जैसा ज्ञान जानता है वैसे ही पदार्थ हैं, तथापि किसी के कारण कोई नही है—ऐसा वस्तु-स्वरूप है। ऐसा वस्तुस्वरूप जानकर जो ज्ञाता हुआ वह राग का भी ज्ञाता ही है और वह राग भी उसके ज्ञान का ज्ञेय होकर रहता है। पदार्थों की व्यवस्था का ज्ञायक न रहकर फेरफार करना मानता है उसे अपने ज्ञान का ही विश्वास नही है।

(५४) "पदार्थों का परिणमन व्यवस्थित या अव्यवस्थित ?"

भाई, तू ज्ञान है, ज्ञान क्या करता है ? वस्तु जैसी हो वैसी जानता है। तेरा स्वरूप जानने का है। तू विचार तो कर कि पदार्थों का परिणमन व्यवस्थित होता है या अव्यवस्थित ? यदि व्यवस्थित कहा जाये तो उसमें कही भी फेरफार करना नही रहता, ज्ञातृत्व ही रहता है, और यदि अव्यवस्थित कहा जाये तो ज्ञान ने जाना क्या ? पदार्थों का परिणमन अव्यवस्थित कहने से ज्ञान ही अव्यवस्थित सिद्ध होगा, क्योकि अव्यवस्थित हो तो केवलीभगवान ने जाना क्या ? इसलिये न तो केवलज्ञान ही सिद्ध होगा और न आत्मा का ज्ञान-

स्वभाव ! ज्ञानस्वभाव की पहिचान के बिना न तो मिथ्यात्व दूर होता है और न धर्म का अंश भी प्रगट होता है।

(५५) जीव या अजीव सबकी पर्याय क्रमबद्ध है, उसे जाननेवाला ज्ञानी तो ज्ञाताभावरूप से ही क्रमबद्ध उत्पन्न होता है

कोई कहे कि "कभी जीव क्रमबद्धपरिणामरूप से परिणमित होता है और कभी अक्रमरूप से भी उसी प्रकार अजीव भी कभी क्रमबद्ध परिणमित होता है और कभी जीव उसे अक्रमरूप से भी परिणमित कर देता है। —ऐसा नहीं है। भाई! जीव या अजीव किसी का ऐसा स्वरूप नहीं है कि अक्रमरूप से परिणमित हों। केवलज्ञान चौथे गुणस्थान में हो जाये और सम्यग्दर्शन तेरहवें गुणस्थान में हो—ऐसा कभी नहीं होता। पहले केवलज्ञान हो जाये और फिर मुनिदशा ग्रहण करे—ऐसा भी कभी नहीं होता ऐसा ही वस्तु के परिणमन का स्वभाव है। धर्मी के स्वभावदृष्टि में ज्ञायकभाव का पुरुषार्थ चालू ही है, ज्ञान में धैर्य है चारित्र में अल्प राग होता है उसे भी जानते हैं किन्तु उन्हें आकुलता नहीं है उतावल नहीं है हठ नहीं है वह तो क्रमबद्ध अपने ज्ञाताभावरूप उत्पन्न होता हुआ उसमें तद्रूप है।

(५६) अजीव भी अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से स्वयं उत्पन्न होता है

जिसप्रकार जीव अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है उसीप्रकार अजीव भी अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, जीव उसका कर्ता नहीं है। यह शरीर हिले—डुले भाषा बोली जाये वह सब अजीव की क्रमबद्धपर्यायें हैं। उसमें जिस समय जो पर्याय होती है वह उसके अपने से ही होती है उस पर्यायरूप से वह अजीव स्वयं ही उत्पन्न होता है जीव उसका कारण नहीं है और न वह जीव का कार्य है। इस प्रकार अकार्यकारणपना जीव में भी है, और अजीव में भी है इसलिये उन्हें परस्पर कोई भी कारणकार्यपना नहीं

है,—ऐसा वस्तुस्वरूप बतलाकर यहाँ आत्मा का ज्ञायकस्वभाव बतलाना है।

(५७) सर्व द्रव्यों में "अकार्यकारणशक्ति।"

सर्व द्रव्यो को अन्य द्रव्य के साथ उत्पादक—उत्पाद्यभाव का अभाव है, अर्थात् सर्व द्रव्यो को पर के साथ अकार्यकारणपना है। इसप्रकार "अकार्यकारणशक्ति" सभी द्रव्यो मे है। अज्ञानी कहते हैं कि "अकार्यकारणशक्ति तो सिद्ध मे ही है और ससारी जीवो को तो पर के साथ कार्य-कारणपना है"—यह बात झूठ है।

(५८) पुद्गल में क्रमबद्धपर्याय होने पर भी......

पुद्गल मे कर्म आदि की अवस्था भी क्रमबद्ध है, पुद्गल मे वह अवस्था होना नही थी और जीव ने विकार करके वह अवस्था उत्पन्न की ऐसा नही है। पुद्गलकर्म मे उपशम—उदीरणा—सक्रमण—क्षय इत्यादि जो अवस्थायें होती हैं उन अवस्थाओरूप से पुद्गल स्वय क्रमबद्धपर्याय से उत्पन्न होता है। ऐसा होने पर भी ऐसा नियम है कि ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से ज्ञाता होकर जीव जहाँ अकर्तारूप से परिणमित हुआ, वहाँ जगत मे ऐसी क्रमबद्धपर्याय की योग्यतावाले कोई परमाणु ही नही हैं कि जो उसे मिथ्यात्वप्रकृतिरूप से बँधें। मिथ्यात्वप्रकृति के साथ का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ही उसे ज्ञायक-दृष्टि मे से छूट गया है।—यह बात आचार्यदेव अगली गाथाओ मे बडी अच्छी तरह समझायेंगे।

(५९) क्रमबद्धपर्याय को न समझनेवाले की कुछ भ्रमणायें

अजीव मे ज्ञान नही है, इसलिये उसकी अवस्था तो जैसी होना होती है वैसी क्रमबद्ध होती रहती है, किन्तु जीव की अवस्था क्रमबद्ध नही होती, वह तो अक्रमरूप भी होती है—ऐसा कोई मानें तो वह बात असत्य है।

अजीव मे ज्ञान नही है, इसलिये जीव उसकी अवस्था जैसी करना चाहे वैसी कर सकता है, इसलिये उसकी अवस्था क्रमबद्ध नही

है किन्तु क्रम है, पानी भरा हो उसमें जैसा रंग डालोगे वैसे रंग का हो जायेगा—ऐसा कोई माने तो उसकी बात भी झूठ है।

क्रमबद्धपर्याय है इसलिये हमें कुछ भी पुरुषार्थ नहीं करना चाहिये—ऐसा कोई माने तो वह भी अज्ञानी है, क्योंकि क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में ज्ञातामात्रपने का पुरुषार्थ आ जाता है उसे वह नहीं समझा है।

मैं ज्ञायक हूँ—ऐसे स्वभाव का पुरुषार्थ करने से सर्व द्रव्यों की क्रमबद्धपर्याय का भी निर्णय होता है वह यथार्थ है। इस ओर आत्मा का ज्ञायकस्वभाव न माने तथा दूसरी ओर पदार्थों में क्रमबद्धपरिणाम न माने और फेरफार करना माने तो वह जीव न तो वस्तुस्वरूप को जानता है, और न पंचपरमेष्ठी भगवन्तों को ही वास्तव में मानता है।

(६०) जीव के कारण बिना ही अजीव की क्रमबद्धपर्याय

शरीर की अवस्था भी अजीव से होती है। मैं उसकी अवस्था को बदलूं अथवा तो अनुक्रम आहार–विहार का बराबर ध्यान रखकर शरीर को अच्छा कर दू—ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। आहार के एक रजकण को भी बदलना वह जीव की क्रिया नहीं है। दाने–दाने पर खानेवाले का नाम—ऐसी एक पुरानी कहावत है, वह क्या बतलाती है?—कि जिसके पेट में जो दाना आना है वही आयेगा जीव उसका ध्यान रखकर शरीर की रक्षा कर दे—ऐसा नहीं है। जीव के कारण बिना ही अजीव अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है। आत्मा का स्वभाव अपने ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होने का है।

"अरे! इस शरीर का कोई अंग जिस तरह ऊँचा–नीचा करना हो वैसा हम कर सकते हैं तो क्या हममें इतनी शक्ति नहीं है कि परमाणु को बदल सकें?—ऐसी दलील अज्ञानी करते हैं।

ज्ञानी कहते हैं कि अरे भाई! क्या परमाणुओं में ऐसी शक्ति नहीं है कि वे अपने क्रमबद्धपरिणामों से ऊँचे–नीचे हों? क्या

अजीव द्रव्यों मे शक्ति ही नही है ? भाई ! अजीव मे भी ऐसी शक्ति है कि तेरे कारणपने के विना ही वह स्वय अपनी हलन–चलनादि अवस्थारूप उत्पन्न होता है, अपनी अवस्था मे वह तद्रूप है, उसमे कुछ भी फेरफार करने की शक्ति जीव में नही है ।—जीव मे उसे जानने की शक्ति है । इसलिये तू अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय कर और अजीव के कर्तृत्व की बुद्धि छोड ।

❋ तीसरा प्रवचन ❋

[आश्विन कृष्णा १४, वीर स० २४८०]

जिसे समझने से आत्मा का हित हो ऐसा उपदेश वह इष्टोपदेश है । यहाँ "योग्यता" कहकर समय–समय की पर्याय की स्वतत्रता बतलाई जाती है वही उपदेश इष्ट है, इसके सिवा पर के कारण कुछ होना बतलाये अर्थात् पराधीनता बतलाये वह उपदेश इष्ट नही है—हितकारी नही है—प्रिय नहीं है । समय–समय की क्रमबद्धपर्याय बतलाकर आत्मा को अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर ले जाये वह उपदेश इष्ट है ।

(६१) अधिकार की स्पष्टता

यह सर्वविशुद्ध–ज्ञान–अधिकार है, "सर्वविशुद्धज्ञान" यानी अकेला ज्ञायकभाव । ज्ञायकस्वरूप जीव कर्म का कर्ता नही है—यह बात यहाँ सिद्ध करना है । क्रमबद्धपर्याय के वर्णन मे आत्मा का ज्ञायक-स्वभाव सिद्ध करके उसे अकर्ता बतलाया है । आत्मा निमित्तरूप से भी जडकर्म का कर्ता नही है—ऐसा उसका स्वभाव है ।

(६२) क्रमबद्धपर्याय में शुद्धता का क्रम कब चालू होता है ?

प्रथम तो जीव की बात की है कि—जीव अपने अनन्त गुणो

के परिणामों से क्रमबद्ध नियमितरूप से उत्पन्न होता है और उन परिणामों में अनन्यरूप से वह जीव ही है अजीव नहीं है। इसमें द्रव्य गुण और पर्याय तीनों आ गये। अपने अनादि-अनन्त परिणामों में क्रमबद्धरूप से उत्पन्न होता हुआ ज्ञायकस्वभावी जीव किसी पर के कार्य में कारण नहीं है और कोई पर उसके कार्य में कारण नहीं है किसीके कारण किसीकी अवस्था के क्रम में फेरफार हो—ऐसा कभी नहीं होता। 'मैं ज्ञायक हूँ' —ऐसी स्वभावसन्मुख दृष्टि होने से धर्मी को क्रमबद्धपर्याय निर्मलरूप से परिणमित होने लगती है, किन्तु पर्याय को आगे-पीछे करने पर उसकी दृष्टि नहीं है। इस प्रकार ज्ञायक-स्वभाव की दृष्टि का पुरुषार्थ होने से क्रमबद्धपर्याय में शुद्धता का क्रम चालू हो जाता है।

(६३) अकर्तृत्व सिद्ध करने के लिये क्रमबद्धपर्याय की बात क्यों की?

किसी को ऐसा प्रश्न उठे कि यहाँ तो आत्मा को अकर्ता सिद्ध करना है उसमें यह क्रमबद्धपर्याय की बात क्यों की?—तो उसका कारण यह है कि जीव और अजीव समस्त द्रव्य स्वयं अपनी अपनी क्रमबद्धपर्याय से उत्पन्न होते हैं—यह बात जमे बिना "मैं पर को बदल दूँ" —ऐसी कर्ताबुद्धि नहीं छूटती और अकर्तृत्व नहीं होता। मैं ज्ञायकस्वभाव हूँ और प्रत्येक वस्तु की अवस्था क्रमबद्ध होती रहती है उसका मैं ज्ञाता हूँ किन्तु कर्ता नहीं हूँ—ऐसा निश्चय होने से कर्ताबुद्धि छूट जाती है और अकर्तृत्व अर्थात् साक्षीपना—ज्ञायकपना हो जाता है। स्वभाव से तो सर्व आत्मा अकर्ता ही हैं किन्तु यह तो पर्याय में अकर्तापना हो जाने की बात है।

(६४) क्रमबद्ध है, तो फिर उपदेश क्यों?

पर्याय तो क्रमबद्ध ही होती है तो फिर शास्त्र में इतना अधिक उपदेश क्यों दिया है?—ऐसा कोई पूछे, तो कहते हैं कि भाई! उस सब उपदेश का तात्पर्य तो ज्ञायकस्वभाव का निर्णय कराना है।

उपदेश की वाणी तो वाणी के कारण क्रमबद्ध निकलती है। इससमय ऐसी ही भाषा निकालकर मैं दूसरो को समझा दूँ—ऐसी कर्ताबुद्धि ज्ञानी के नही है।

(६५) वस्तुस्वरूप का एक ही नियम

सर्व द्रव्य अपने–अपने परिणाम के कर्ता हैं, किसी अन्य का हस्तक्षेप उसमे नही है। "ऐसा निमित्त आये तो ऐसा हो सकता है और दूसरा निमित्त आये तो वैसा हो जायेगा"—ऐसा वस्तुस्वरूप मे नही है। वस्तुस्वरूप का एक ही नियम है कि प्रत्येक द्रव्य क्रमबद्ध-पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ स्वय ही अपनी पर्याय का कर्ता है, और दूसरे से वह निरपेक्ष है। वस्तु स्वय अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होती है।—ऐसा न मानकर, दूसरा उसमे फेरफार कर सकता है—ऐसा जो मानता है उसे पर मे फेरफार करने की बुद्धि रहती है, इसलिये पर की ओर से हटकर वह अपने ज्ञायक स्वभाव की ओर उन्मुख नही होता, इसलिये उसे ज्ञातापना नही होता—अकर्तापना नही होता और कर्तृत्वबुद्धि नही छूटती यहाँ "प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, दूसरा कोई उसका कर्ता नही है"—इस नियम के द्वारा आत्मा का अकर्तृत्व समझाकर कर्ताबुद्धि को छुडाते हैं।

(६६) ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि प्रगट किये बिना, क्रमबद्धपर्याय की ओट लेकर बचाव करना चाहे वह महान स्वच्छन्दी है

इस क्रमबद्धपर्याय की ओट लेकर कोई स्वच्छन्द से ऐसा बचाव करे कि "हमे क्रोध होना था वह क्रमबद्ध हो गया, उसमे हम क्या करे ?" तो उससे कहते हैं कि अरे मूढ जीव! अभी तुझे आत्मा के ज्ञायकपने की प्रतीति नही हुई तो तू क्रमबद्धपर्याय की बात कहाँ से लाया! ज्ञायकस्वभाव के निर्णय से ही क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय होता है। तेरी दृष्टि ज्ञायक पर है या क्रोध पर ? यदि ज्ञायक

पर दृष्टि हो तो फिर ज्ञायक में क्रोध होना कहाँ से आया ? अपने ज्ञायकभाव का निर्णय करके पहले तू ज्ञाता हो, फिर तुझे क्रमबद्ध पर्याय की खबर पड़ेगी। ज्ञायकस्वभाव की ओर उन्मुख होकर ज्ञायक को ज्ञान का ज्ञेय बनाना—उसीकी इसमें मुख्यता है, राग को ज्ञेय करने की मुख्यता नहीं है। ज्ञायकस्वभाव का निर्णय किया वहाँ ज्ञान की ही अधिकता रहती है—क्रोधादि की अधिकता कभी भी नहीं होती इसलिये ज्ञाता को अनन्तानुबन्धी क्रोधादि होते ही नहीं और उसीको क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति हुई है।

क्रोध के समय जिसे ज्ञानस्वरूप का तो भास नहीं होता उसे क्रोध की ही रुचि है और क्रमबद्धपर्याय की ओट लेकर बचाव करना चाहता है वह तो महान स्वच्छंदी है। क्रमबद्धपर्याय में ज्ञायकभाव का परिणमन भासित न होकर, क्रोधादिकषाय का परिणमन भासित होता है यही उसकी विपरीतता है। भाई रे ! यह मार्ग तो छुटकारे का है या बंधन का ? इसमें तो ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके छुटकारे की बात है, इस बात का यथार्थ निर्णय होने से ज्ञान पृथक का पृथक् रहता है। जो छुटकारे का मार्ग है उसके बहाने स्वच्छंद का पोषण करता है उस जीव को छुटकारे का अवसर कब आयेगा !!

(६७) अमर प्याला !

यह तो अजर-अमर प्याला है इस प्याले को पचाना दुर्लभ है। पात्र होकर जिसने यह प्याला पिया और पचाया वह अजर-अमर हो जाता है अर्थात् जन्म-मरण रहित ऐसे सिद्धपद को प्राप्त होता है।

(६८) क्रमबद्धपर्याय में भूमिकानुसार प्रायश्चितादि का भाव होता है

"लगे हुए दोषोंका प्रायश्चित करने का वर्णन तो शास्त्र में बहुत आता है, दोष हुआ वह पर्याय भी क्रमबद्ध है, तब फिर

उसका प्रायश्चितादि किसलिये ?"—ऐसी किसीको शका हो तो उसका समाधान यह है कि—साधक को उस-उस भूमिका मे प्रायश्चितादि का वैसा विकल्प होता है उसका वहाँ ज्ञान कराया है। साधकदशा के समय क्रमबद्धपर्याय मे उस प्रकार के भाव आते हैं वह बतलाया है। "हमे क्रमबद्धपर्याय मे दोष होना था वह हो गया, उसका प्रायश्चित क्या करें ?"—ऐसा कोई कहे तो वह मिथ्यादृष्टि स्वच्छदी है, साधक को ऐसा स्वच्छद नही होता। साधकदशा तो परम विवेकवाली है, उसे अभी वीतरागता नही हुई है और स्वच्छद भी नही रहा है, इसलिये दोषो के प्रायश्चितादि का शुभविकल्प आये—ऐसी ही वह भूमिका है।

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होने पर भी सम्यक्त्वी को चौथे गुणस्थान मे ऐसा भाव आता है कि मैं चारित्रदशा लूँ, मुनि को ऐसा भाव आता है कि लगे हुए दोषो की गुरु के निकट जाकर सरलतापूर्वक आलोचना करूँ और प्रायश्चित लूँ—"कर्म तो जब खिरना होगे तब खिरेंगे, इसलिये अपने को तप करने की क्या आवश्यकता है ?"—ऐसा विकल्प मुनि को नही आता, किन्तु ऐसा भाव आता है कि मैं तप द्वारा निर्जरा करूँ—शुद्धता बढाऊँ।—ऐसा ही उस-उस भूमिका के क्रम का स्वरूप है। "चारित्रदशा तो क्रमबद्धपर्याय मे जब आना होगी तब आ जायेगी"—ऐसा कहकर सम्यक्त्वी कभी स्वच्छंदी या प्रमादी नही होता, द्रव्यदृष्टि के बल मे उसका पुरुषार्थ चलता ही रहता है। वास्तव मे द्रव्यदृष्टिवाले को ही क्रमबद्धपर्याय यथार्थरूप से समझ मे आती है। क्रम बदलता नही है, तथापि पुरुषार्थ की धारा नही टूटती—यह बात ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि बिना नही हो सकती। शास्त्रो मे प्रायश्चित आदि का वर्णन करके मध्यम भूमिका मे कैसे-कैसे भाव होते हैं—उसका ज्ञान कराया है। वास्तव मे तो ज्ञाता को ज्ञान की अधिकता मे उन प्रायश्चितादि का विकल्प भी ज्ञेयरूप ही है।

(६६) क्रम-अक्रम सम्बन्ध में अनेकान्त और सप्तभंगी

कोई ऐसा कहता है कि— 'सभी पर्यायें क्रमबद्ध ही हैं—ऐसा कहने में तो एकान्त हो जाता है इसलिये कुछ पर्यायें क्रमबद्ध हैं और कुछ अक्रमबद्ध हैं—ऐसा अनेकान्त कहना चाहिये —सो ऐसा कहने-वाले को एकान्त अनेकान्त की खबर नहीं है। सभी पर्यायें क्रमबद्ध ही हैं' और अक्रमरूप "नहीं हैं —ऐसा अनेकान्त है। अथवा क्रम अक्रम का अनेकान्त लेना हो तो इसप्रकार है कि सर्व गुण द्रव्य में एक साथ सहभावीरूप से वर्तते हैं इसलिये उस अपेक्षा से द्रव्य अक्रम रूप ही है और पर्याय-अपेक्षा से क्रमरूप ही है—इसप्रकार ही कथंचित् क्रमरूप और कथंचित् अक्रमरूप-ऐसा अनेकान्त है, किन्तु कुछ पर्यायें क्रमरूप और कुछ पर्यायें अक्रमरूप-ऐसा मानना तो अनेकान्त नहीं किन्तु वस्तुस्वरूप से विपरीत होने से मिथ्यात्व है।

पर्याय-अपेक्षा से तो क्रमबद्धपना ही है—यह नियम है तथापि इसमें अनेकान्त और सप्तभंगी आ जाती है। गुणों की अपेक्षा से अक्रमपना और पर्यायों की अपेक्षा से क्रमपना-ऐसा अनेकान्तस्वरूप है वह ऊपर कहा जा चुका है। तथा वस्तु में (१) स्यात् क्रमपना (२) स्यात् अक्रमपना (३) स्यात् क्रम अक्रमपना (४) स्यात् अव क्तव्यपना (५) स्यात् क्रम-अवक्तव्यपना (६) स्यात् अक्रम-अवक्त व्यपना और (७) स्यात् क्रम अक्रम अवक्तव्यपना —इसप्रकार क्रम-अक्रम सम्बन्ध में सप्तभंगी भी उतरती है किस प्रकार ? वह कहा जाता है—

(१) पर्यायें एक के बाद एक क्रमबद्ध होती हैं इसलिये पर्यायों की अपेक्षा से कहने पर वस्तु क्रमरूप है।

(२) सर्व गुण एक साथ सहभावी हैं इसलिये गुणों की अपेक्षा से कहने पर वस्तु अक्रमरूप है।

(३) पर्यायें तथा गुण-इन दोनों की अपेक्षा से (एक साथ) लेकर कहने पर वस्तु क्रम-अक्रमरूप है।

(४) एक साथ दोनो नही कहे जा सकते उस अपेक्षा मे वस्तु अवक्तव्य है।

(५) वस्तु मे क्रमपना और अक्रमपना दोनो एक साथ होने पर भी क्रमरूप कहते समय अक्रमपने का कथन बाकी रह जाता है, उस अपेक्षा से वस्तु क्रम-अवक्तव्यरूप है।

(६) इसी प्रकार अक्रमरूप कहने से क्रमपने का कथन बाकी रह जाता है, उस अपेक्षा से वस्तु अक्रम-अवक्तव्यरूप है।

(७) क्रमपना और अक्रमपना दोनो अनुक्रम से कहे जा सकते हैं किन्तु एक साथ नही कहे जा सकते, उस अपेक्षा से वस्तु क्रम—अक्रम-अवक्तव्यरूप है।

—इसप्रकार क्रम-अक्रम सम्बन्ध मे सप्तभगी समझना चाहिये।

(७०) अनेकान्त कहाँ और किसप्रकार लागू होता है ? (सिद्ध का दृष्टान्त)

यथार्थ वस्तुस्थिति क्या है वह समझे बिना कई लोग अनेकात के या स्याद्वाद के नाम से गप्पे हाँकते हैं। जिस प्रकार अस्ति-नास्ति मे वस्तु स्व-रूप से अस्तिरूप है और पर-रूप से नास्तिरूप है,—ऐसा अनेकान्त है, किन्तु वस्तु स्व-रूप से भी अस्तिरूप है और पर-रूप से भी अस्तिरूप है—ऐसा अनेकान्त नही है, वह तो एकान्तरूप मिथ्यात्व है। उसी प्रकार यहाँ क्रम—अक्रम मे भी समझना चाहिये। पर्याये क्रमबद्ध हैं और गुण अक्रम है—ऐसा अनेकान्त है, किन्तु पर्यायें क्रमबद्ध हैं और पर्यायें अक्रम भी हैं—ऐसा मानना वह कही अनेकान्त नही है, वह तो मिथ्यादृष्टि का एकान्त है। पर्यायें तो क्रमबद्ध ही हैं—अक्रम नही हैं ऐसा अनेकान्त है। पर्याय मे अक्रमपना तो है ही नही, इसलिये उसमे "कथचित् क्रम और कथचित् अक्रम" —ऐसा अनेकान्त लागू नही होता। वस्तु मे जो धर्म हो उनमें सप्तभगी लागू होती है, किन्तु वस्तु में जो धर्म ही न हो, उनमे सप्तभगी लागू नही होती।

"सिद्धभगवन्त एकान्त सुखी ही हैं"—ऐसा कहनेपर कोई अज्ञानी पूछे कि—सिद्ध भगवान को एकान्त सुख ही क्यों कहते हो? कथंचित् सुख और कथंचित् दुःख-ऐसा अनेकान्त कहो न? उसका समाधान—भाई! सिद्धभगवान को जो सुख प्रगट हुआ है वह एकान्त सुख ही है उसमें दुःख किंचित्मात्र है ही नहीं इसलिये उसमें तेरा कहा हुआ सुख-दुःख का अनेकान्त लागू नहीं होता। सिद्धभगवान को शक्ति में या व्यक्ति में किसी प्रकार दुःख नहीं है इसलिये वहाँ सुख-दुःखका ऐसा अनेकान्त या सप्तभंगी लागू नहीं होती किन्तु सिद्धभगवान को एकान्त सुख ही है और दुःख किंचित् नहीं है—ऐसा अनेकान्त लागू होता है। (देखो पंचाध्यायी गाथा ३३३-३४-३५) उसीप्रकार यहाँ पर्याय में क्रमबद्धता है और अक्रमता नहीं है—ऐसा अनेकान्त लागू होता है किन्तु पर्याय में क्रमता भी है और अक्रमता भी है। पर्याय से ही क्रमरूप और पर्याय से ही अक्रम रूप—ऐसा क्रम-अक्रमरूप जीव का स्वरूप नहीं है किन्तु पर्याय से क्रमवर्तीपना और गुण से अक्रमवर्तीपना—ऐसा क्रम-अक्रमरूप जीव का स्वरूप है।

(७१) ट्रेन के दृष्टान्त से शंका और उसका समाधान

शंका—एक आदमी ट्रेन के डिब्बे में बैठा है और ट्रेन पूर्व दिशा की ओर जा रही है, वहाँ ट्रेन के चलने से उस आदमी का भी पूर्व की ओर जो गमन हो रहा है वह तो क्रमबद्ध है किन्तु वह आदमी डिब्बे में खड़ा होकर पश्चिम की ओर चलने लगे तो उस गमन की अवस्था अक्रमरूप हुई न?

समाधान—अरे भाई! तुझे अभी क्रमबद्धपर्याय की खबर नहीं है। पर्याय का क्रमबद्धपना कहा जाता है वह तो ऊर्ध्वप्रवाह की अपेक्षा से (—कालप्रवाह की अपेक्षा से) है क्षेत्र की अपेक्षा से नहीं है। वह आदमी पहले पूर्व में चले और फिर पश्चिम में चलने लगे तो उससे कहीं उसकी पर्याय के काल का क्रम टूट नहीं गया है।

ट्रेन पूर्व मे जा रही हो और डिब्बे मे बैठा हुआ आदमी पश्चिम की ओर चलने लगे, तो उससे कही उसकी वह पर्याय अक्रमरूप नही हुई है। अरे! ट्रेन पूर्व मे जा रही हो और सारी ट्रेन पीछे पश्चिम की ओर चलने लगे तो वह भी क्रमवद्ध ही है। पर्यायो का क्रमवद्धपना द्रव्य के ऊर्ध्वप्रवाहक्रम की अपेक्षा से है। यह क्रमवद्धपर्याय की वात अनेक जीवो ने तो अभी तक सुनी ही नही है। क्रमवद्धपना क्या है और किस प्रकार है, तथा उसका निर्णय करनेवाले का ध्येय कहाँ जाता है—वह वात लक्ष मे लेकर समझे ही नही तो उसकी प्रतीति कहाँ से हो? वस्तु मे अनत गुण हैं, वे सव एकसाथ—विछे हुए—तिर्यक्प्रचयरूप है इसलिये वे अक्रमरूप हैं, और पर्यायें एक के वाद एक—व्यतिरेकरूप—ऊर्ध्वप्रचयरूप हैं इसलिये वे क्रमरूप हैं।

(७२) क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता कौन है?

देखो, क्रमवद्धपर्याय तो जीव और अजीव सभी द्रव्यो मे है, किन्तु यह वात कही अजीव को नही समझाते, यह तो जीव को समझाते हैं, क्योकि जीव ही ज्ञाता है। ज्ञाता को अपने ज्ञायकस्वभाव का भान होने पर वह क्रमवद्धपर्याय का भी ज्ञाता हो जाता है।

(७३) भाषा का उत्पादक जीव नही है

पांचो अजीव द्रव्य भी अपने-अपने गुणो से अपने क्रमवद्ध नियमित परिणामरूप से उत्पन्न होते हुए अजीव ही हैं—जीव नही हैं। अजीव द्रव्य—उनमे प्रत्येक परमाणु भी—अन्य कारको की अपेक्षा न रखकर स्वय अपने छह कारकरूप होकर अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से स्वय उत्पन्न होते हैं, वे भी किसी अन्यके कर्ता नही हैं, और दूसरे का कार्य बनकर उसे अपना कर्ता बनायें ऐसा भी नही है। भाषा बोली जाती है वह अजीव की क्रमबद्धपर्याय है और उस पर्यायरूप से अजीवद्रव्य उत्पन्न होता है, जीव उसे उत्पन्न नही करता।

प्रश्न —केवलीभगवान की वाणी तो इच्छा के बिना ही सहजरूप से निकलती है इसलिये वह कमबद्धपर्याय है और उसे जीव

उत्पन्न नहीं करता—ऐसा भले ही कहो किन्तु छद्मस्थ की वाणी तो इच्छापूर्वक है इसलिये छद्मस्थ तो अपनी इच्छानुसार भाषा को परिणमित करता है न ?

उत्तर:—भाई ! ऐसा नहीं है। केवलीभगवान के या छद्मस्थ के जो वाणी निकलती है वह तो अजीव के अपने वैसे क्रमबद्धपरिणामों से ही निकलती है, जीव के कारण नहीं। छद्मस्थ को उस काल इच्छा होती है किन्तु उस इच्छा ने वाणी को उत्पन्न नहीं किया है। और इच्छा है वह भी ज्ञाता का ज्ञेय है ज्ञान की अधिकता में धर्मी जीव उस इच्छा का भी ज्ञायक ही है।

(७४) ज्ञायक को ही जानने की मुख्यता

वास्तव में तो इच्छा को जानना भी व्यवहार है। ज्ञान को अन्तरोन्मुख करके ज्ञायक को जानना वह परमार्थ है। क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में राग को जानने की मुख्यता नहीं है किन्तु ज्ञायक को जानने की मुख्यता है। ज्ञान में ज्ञायक की मुख्यता हुई तब राग को उसका व्यवहार-ज्ञेय कहा ज्ञाता जागृत हुआ तब राग को रागरूप से जाना और तभी राग को व्यवहार कहा गया। इस प्रकार निश्चय पूर्वक ही व्यवहार होता है क्योंकि ज्ञान और राग दोनों एक साथ उत्पन्न होते हैं धर्म शुरू होने में पहले रागरूप व्यवहार और फिर निश्चय—ऐसा नहीं है। यदि राग को अर्थात् व्यवहार को पहले कहो तो ज्ञान के बिना (निश्चय के बिना) उस व्यवहार को जाना किसने ? व्यवहार स्वयं तो अंधा है उसे कहीं स्व-पर की खबर नहीं है राग और भेदरूप व्यवहार का पक्ष छोड़कर निश्चय का अवलम्बन करके स्व-परप्रकाशक ज्ञाता जागृत हुआ वही ज्ञायक को जानते हुए राग को भी व्यवहार ज्ञेयरूप से जानता है। क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में निश्चय-व्यवहार दोनों एकसाथ हैं पहले व्यवहार और फिर निश्चय-ऐसा माने अर्थात् राग के अवलम्बन से ज्ञान होना माने तो वह वास्तव में क्रमबद्धपर्याय को समझा ही नहीं है।

(७५) "इष्टोपदेश" की बात :- कौन-सा उपदेश इष्ट है ?

द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है—ऐसा कहने से उसमे समय-समय की क्षणिक योग्यता की बात भी आ गई।

कोई कहे कि—"योग्यता की बात तो 'इष्टोपदेश' मे आई है, इसमे कहाँ आई ?" उसका उत्तर – यह भी इष्ट-उपदेश की ही बात है। इष्ट उपदेश अर्थात् हितकारी उपदेश। जिसे समझने से आत्मा का हित हो—ऐसा उपदेश वह इष्टोपदेश है। यह "योग्यता" कहकर समय-समय की पर्याय की स्वतन्त्रता बतलाई जा रही है वही उपदेश इष्ट है, इसके सिवा पर के कारण कुछ-होना बतलाये अर्थात् पराधीनता बतलाये वह उपदेश इष्ट नही है—हितकारी नही है—प्रिय नही है। समय-समय की क्रमबद्धपर्याय बतलाकर आत्मा को अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर ले जाये वह उपदेश इष्ट है, किन्तु पर्याय मे फेरफार आगा-पीछा होना बतलाकर जो कर्ताबुद्धि का पोषण करे वह उपदेश इष्ट नही है अर्थात् सच्चा नही है, हितकारी नही है। "जो आत्मा को हितमार्ग मे प्रवर्तन कराये वह गुरु है, वास्तव मे आत्मा स्वय ही अपनी योग्यता से अपने आत्माको हितमार्ग मे प्रवर्तित करता है इसलिये वह स्वय ही अपना गुरु है। निमित्तरूप से अन्य ज्ञानी गुरु होते हैं, किन्तु उस निमित्त के कारण इस आत्मा मे कुछ हो जायें—ऐसा नही हो सकता।" देखो, यह इष्ट उपदेश। इस प्रकार उपदेश हो तभी वह इष्ट है—हितकारी है—सत्य है, इससे विरुद्ध उपदेश हो तो वह इष्ट नही है—हितकारी नही है—सत्य नही है।

(७६) आत्मा का ज्ञायकत्व और पदार्थों के परिणमन में क्रमबद्धता

आत्मा ज्ञायक है, ज्ञातापना उसका स्वरूप है। जिसप्रकार केवली भगवान जगत के सर्व द्रव्य-गुण-पर्याय के ज्ञाता हैं, उसी प्रकार इस आत्मा का स्वभाव भी ज्ञाता है। ज्ञान ने जाना इसलिये पदार्थों मे वैसी क्रमबद्धपर्याय होती है—ऐसा नही है, और पदार्थ वैसे हैं इस-

लिये उनका ज्ञान हुआ—ऐसा भी नहीं है। आत्मा का ज्ञायकस्वभाव और पदार्थों का क्रमबद्धपरिणमनस्वभाव है। ऐसा क्यों? —ऐसा विकल्प ज्ञान में नहीं है और पदार्थों के स्वभाव में भी ऐसा नहीं है। "ऐसा क्यों? —ऐसा विकल्प करके जो पदार्थ को बदलना चाहता है उसने ज्ञान के स्वभाव को नहीं जाना है। ज्ञानस्वभाव का निर्णय करने से साधकजीव ज्ञाता हो जाता है 'ऐसा क्यों?'—ऐसा मिथ्याबुद्धि का विकल्प उसे नहीं होता।

(७७) ऐसी है साधकदशा!—एक साथ दस बोल

ज्ञान को अन्तरोन्मुख करके जिसने ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया वह—

—क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ (१)
—उसके ज्ञान में सर्वज्ञ की सिद्धि आई, (२)
—उसे भेदज्ञान और सम्यग्दर्शन हुआ (३)
—उसे मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ प्रारम्भ हुआ (४)
—उसे अकर्तृत्व हुआ, (५)
—उसने सर्व जैनशासन को जान लिया (६)
—उसने देव-गुरु-शास्त्र को यथार्थरूपसे पहिचान लिया (७)
—उसके निश्चय-व्यवहार दोनों एकसाथ आये (८)
—उसकी पर्याय में पाँचों समवाय आ गये (९)
— योग्यता ही वास्तविक कारण है उसका उसे निर्णय हुआ इसलिये इष्ट-उपदेश भी उस में आ गया। (१०)

(७८) यह लोकोत्तरदृष्टि की बात है, जो इससे विपरीत माने वह लौकिक-जन है

अहो! यह अलौकिक लोकोत्तर बात है। एक ओर ज्ञायक-स्वभाव और सामने क्रमबद्धपर्याय—उसका निर्णय करना यह लोकोत्तर है। मैं ज्ञायक हूँ और पदार्थों की पर्यायें क्रमबद्ध हैं—ऐसा न मानकर जो कुछ भी फेरफार करना मानता है वह लौकिकजन है

लोकोत्तर जैनदृष्टि उसे नही रहती। अपने ज्ञायकस्वभाव सन्मुख दृष्टि रखकर आत्मा क्रमबद्ध ज्ञायकभावरूप ही उत्पन्न होता है और पदार्थों की क्रमबद्ध होनेवाली पर्यायो को जानता है—ऐसा जो लोकोत्तर-स्वभाव है, उसे जो नही मानता वह भले ही जैनसप्रदाय मे रहता हो, तथापि भगवान उसे अन्यमती—लौकिकमती—अर्थात् मिथ्यादृष्टि कहते हैं। "लौकिकमती" कहने से कई लोगो को यह बात कठिन मालूम होती है ? किन्तु भाई! समयसार मे आचार्यभगवान स्वय कहते हैं कि—"ये त्वात्मान कर्तारमेव पश्यति ते लोकोत्तरिका अपि न लौकिकतामतिवर्तते, लौकिकाना परमात्मा विष्णुः सुरनारकादि-कार्याणि करोति, तेषा तु स्वात्मा तानि करोतीत्यपसिद्धातस्य सम-त्वात्। ततस्तेषामात्मनो नित्यकर्तृत्वाभ्युपगमात् लौकिकानामिव लोकोत्तरिकाणामपि नास्ति मोक्ष।" (गाथा ३२२–२३ टीका)

—जो आत्मा को कर्ता ही देखते हैं—मानते हैं, वे लोकोत्तर हों तो भी लौकिकता का अतिक्रमण नही करते, क्योकि लौकिकजनो के मत में परमात्मा विष्णु देव–नारकादि कार्य करते हैं, और उनके (–लोक से बाह्य हो जानेवाले मुनियो के) मत मे अपना आत्मा वे कार्य करता है—ऐसे अपसिद्धांत की (मिथ्यासिद्धान्त की) दोनो के समानता है। इसलिये आत्मा के नित्यकर्तृत्व की उनकी मान्यता के कारण लौकिकजनो की भाँति, लोकोत्तर पुरुषो का (मुनियो का) भी मोक्ष नही होता।

उसके भावार्थ मे प० जयचन्दजी भी लिखते हैं कि—

"जो आत्मा को कर्ता मानते हैं वे मुनि भी हो तो भी लौकिकजन सरीखे ही हैं, क्योकि लोक ईश्वर को कर्ता मानते हैं और मुनियो ने भी आत्मा को कर्ता मान लिया, इस तरह इन दोनो का मानना समान हुआ। इस कारण जैसे लौकिकजनो के मोक्ष नही है उसी तरह उन मुनियो के भी मोक्ष नही है।"

देखो, इससे मूल सिद्धान्त है। दिगम्बर जैनसम्प्रदाय का

द्रव्यलिंगी साधु होकर भी, यदि "आत्मा पर का कर्ता है" —ऐसा माने तो वह भी लौकिकजनों की भाँति मिथ्यादृष्टि ही है। अब आत्मा पर का कर्ता है—ऐसा शायद सीधी तरह न कहे, किन्तु—

—निमित्त हो तदनुसार कार्य होता है ऐसा मानें, अथवा हम निमित्त होकर पर का कार्य कर दें—ऐसा मानें

—अथवा राग के—व्यवहार के—अवलम्बन से निश्चय-श्रद्धा—ज्ञान होना मानें,—शुभरागरूप व्यवहार करते करते निश्चयश्रद्धादि होना मानें

—मोक्षमार्ग में पहले व्यवहार और फिर निश्चय ऐसा मानें,

—अथवा राग के कारण ज्ञान हुआ अर्थात् राग कर्ता और ज्ञान उसका कार्य—ऐसा मानें

तो वे सब भी वास्तव में लौकिकजन ही हैं क्योंकि उनके लौकिकदृष्टि दूर नहीं हुई है। लौकिकदृष्टि अर्थात् मिथ्यादृष्टि।

'ज्ञायक' के सन्मुख दृष्टि करके क्रमबद्धपर्याय को जाननेवाले सम्यक्त्वी लोकोत्तर दृष्टिवान हैं और उनसे विरुद्ध माननेवाले लौकिक दृष्टिवान हैं।

(७९) समझने के लिये एकाग्रता

यदि यह बात सुनकर समझे तो आनन्द आये ऐसी है किन्तु इसे समझने के लिये ज्ञान को अन्यत्र से हटाकर कुछ एकाग्र करना चाहिये। अभी तो जिसके श्रवण में भी एकाग्रता न हो और श्रवण के समय भी चित्त अन्यत्र भटकता हो वह अन्तर में एकाग्र होकर यह बात समझेगा कब?

(८०) भीतर दृष्टि करने से सारा निर्णय होता है

प्रश्न:—आप तो बहुत से पक्ष (—पहलू) समझाते हैं किन्तु हमारी बुद्धि अल्प है उससे क्या—क्या समझें?

उत्तर:—अरे भाई! जो समझना चाहे उसे यह सब समझमें आ सकता है। दृष्टि बाह्य में जाती है, उसे बदलकर अन्तर में दृष्टि

करते ही यह सभी पक्ष समझ मे आ सकते हैं। समझनेवाला स्वय भीतर बैठा है या कही अन्यत्र गया है ? अन्तर मे शक्तिरूप से परिपूर्ण ज्ञायकस्वभाव विद्यमान है, उसमे दृष्टि करे इतनी देर है। "मेरे नैनो की आलस से रे मैं हरि को न नीरख्यो जरी " इस प्रकार दृष्टि डालते ही निहाल कर दे ऐसा भगवान आत्मा भीतर बैठा है, किन्तु नयनो के आलस्य से अज्ञानी उसे नही देखता। अतर्मुख दृष्टि करते ही इन सब पक्षो का निर्णय हो जाता है।

(८१) ज्ञाता स्व-पर को जानता हुआ उत्पन्न होता है

ज्ञाताभाव की क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ धर्मी जीव अपने ज्ञानस्वभाव को भी जानता है, स्व-पर दोनो को जानता हुआ उत्पन्न होता है, किन्तु स्व-पर दोनो को करता हुआ उत्पन्न नही होता। कर्ता तो एक स्व का ही है, और स्व मे भी वास्तव मे ज्ञायक-भाव की क्रमबद्धपर्याय को ही करता है, राग का कर्तृत्व धर्मी की दृष्टि मे नही है।

ज्ञान उत्पन्न होता हुआ स्व को और राग को भी जानता हुआ उत्पन्न होता है, किन्तु "राग को करता हुआ" उत्पन्न होता है—ऐसा नही है। ज्ञान उत्पन्न होता है और स्वय अपने को जानता हुआ उत्पन्न होता है। उत्पन्न होना और जानना दोनो क्रियायें एकसाथ हैं, ज्ञान मे वे दोनो क्रियायें एकसाथ होने मे कोई विरोध नही है। "आत्मा स्वयं अपने को किस प्रकार जानता है—इस सम्बन्ध मे प्रवचनसार की ३६ वी गाथा मे आचार्यदेव ने शका—समाधान किया है। एक पर्याय मे से दूसरी पर्याय की उत्पत्ति होने मे विरोध है, किन्तु ज्ञानपर्याय स्वय उत्पन्न हो और उसी समय वह स्व को जाने—ऐसी दोनो क्रियायें एकसाथ होने मे कोई विरोध नही है, क्योकि ज्ञान का स्वभाव ही स्व-पर को प्रकाशित करने का है। ज्ञान स्वय अपने को नही जानता—ऐसा जाननेवाले ने वास्तव मे ज्ञान को ही नही माना है। यहाँ तो कहते हैं कि ज्ञानी स्वय अपने को जानता हुआ क्रमबद्ध ज्ञायक-भावरूप ही उत्पन्न होता है। यह बात बराबर समझने योग्य है।

(८२) लोकोत्तरदृष्टि की बात समझने के लिये ज्ञान की एकाग्रता

कालेज के बड़े–बड़े प्रोफेसरों के भाषण की अपेक्षा भी यह तो अलग प्रकार की बात है वहाँ तो समझने के लिये ध्यान रखता है, तथापि जितना पूर्व का विकास हो तदनुसार ही समझ में आता है और समझने पर भी उसमें आत्मा का कल्याण तो होता नहीं है। और यह तो लोकोत्तर दृष्टि की बात है, इसमें ध्यान रखकर समझने के लिये ज्ञान को एकाग्र करें तो वर्तमान में भी नया–नया विकास होता जाये और अन्तर में एकाग्र होकर समझे उसका तो अपूर्व कल्याण हो जाये।

(८३) सम्यक्त्वी जीव निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूप से ही उत्पन्न होता है

जीव अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होने से उसके अनंत गुण एकसाथ परिणमित होते हैं ज्ञायकस्वभाव की ओर झुकाव हुआ वहाँ श्रद्धा–ज्ञान–चारित्रादि सर्व गुणों के परिणमन में निर्मलता के अंश का प्रारम्भ हो जाता है फिर भले ही उसमें अल्प-अधिक अंश व्यक्त हो। चौथे गुणस्थान में क्षायिक श्रद्धा हो जाये तथापि ज्ञान–चारित्र पूरे नहीं हो जाते किन्तु उनका अंश तो प्रगट हो जाता है। इसप्रकार सम्यक्त्वी को निर्मल पर्यायरूप से उत्पन्न होने की ही मुख्यता है अस्थिरता के जो रागादिभाव होते हैं वे उसकी दृष्टि में गौण हैं, अभूतार्थ हैं। ज्ञायकभाव पर दृष्टि रखकर सम्यक्त्वी निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूप ही उत्पन्न होता है—रागादिरूप से वह वास्तव में उत्पन्न ही नहीं होता।

(८४) क्रमबद्धपरिणाम में छह–छह कारक

आचार्यदेव कहते हैं कि 'जीव अपने क्रमबद्धपरिणामरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं है उसमें छहों कारक लागू होते हैं वह इसप्रकार हैं:—

१—जीव स्वयं अपनी पर्याय के कर्तारूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव का कर्ता नहीं है।

२—जीव स्वय अपने कर्मरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव का कर्म नही है।

३—जीव स्वय अपने करणरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव का करण नही है।

४—जीव स्वयं अपने सम्प्रदानरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव का सम्प्रदान नही है।

५—जीव स्वय अपने अपादानरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव का अपादान नहीं है।

६—जीव स्वयं अपने अधिकरणरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव का अधिकरण नही है।

और इसीप्रकार अन्य छह कारक भी निम्नानुसार समझना चाहिये—

१—जीव अपनी पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव को अपना कर्ता नही बनाता।

२—जीव अपनी पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव को अपना कर्म नही बनाता।

३—जीव अपनी पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव को अपना करण नही बनाता।

४—जीव अपनी पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव को अपना सम्प्रदान नही बनाता

५—जीव अपनी पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव को अपना अपादान नहीं बनाता।

६—जीव अपनी पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव को अपना अधिकरण नही बनाता।

उसी प्रकार, अजीव भी अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न

होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं है।—उसमें भी उपरोक्तानुसार छह—छह कारक समझ लेना चाहिये।

—इसप्रकार जीव—अजीव को परस्पर अकार्यकारणपना है।

(८५) यह बात किसे जमती है ?

देखो यह भेदज्ञान ! ऐसी स्पष्ट बात होने पर भी इस बात को 'छूत की बीमारी एकान्त' इत्यादि कहकर कितने ही विरोध करते हैं क्योंकि अपनी मानी हुई विपरीत बात का आग्रह उनके नहीं छूटता। अरे ! विपरीत मान्यता को सत्य मान बैठे हैं तो उसे कैसे छोड़ें ? प० टोडरमलजी भी मोक्षमार्गप्रकाशक में कहते हैं कि—अन्यथा श्रद्धा को सत्य श्रद्धा माननेवाला जीव उसके नाश का उपाय भी किसलिये करेगा ? यह बात तो उसे जम सकती है जिसे मान और आग्रह छोड़कर आत्मा का हित करना हो।

(८६) "करे तथापि अकर्ता"—ऐसा नहीं है

यहाँ जो बात कही जा रही है उसपर से कुछ लोग समझे बिना ऐसा कहते हैं कि—'ज्ञानी पर के कार्य करता अवश्य है किन्तु वह अकर्ता है। किन्तु यह बात मिथ्या है। 'अकर्ता' और फिर 'करता है'—यह बात लाना कहाँ से ? यहाँ तो ऐसा कहा जाता है कि—ज्ञानी या अज्ञानी कोई पर का कर्ता नहीं है पर का कार्य कोई कर ही नहीं सकता। प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है उसमें किसी अन्य का कर्तापना है ही नहीं। वस्तु को देखनेवाला अपने ज्ञानस्वभाव से भ्रष्ट होकर देखता है इसलिये उल्टा देखता है यदि ज्ञायक रहकर देखे तो कर्तापना न माने। वस्तुस्वरूप तो जैसा है वैसा ही रहता है अज्ञानी विपरीत माने उससे कहीं वस्तुस्वरूप अन्यथा नहीं हो जाता।

(८७) यदि कुम्हार घड़ा बनाये तो

जीव और अजीव समस्त द्रव्य अपनी—अपनी पर्यायरूप से

स्वय उत्पन्न होते हैं। अजीव मे से प्रत्येक परमाणु भी अपनी क्रमबद्ध अवस्थारूप से स्वयं उत्पन्न होता है, उसकी वर्ण-गन्धादिरूप अर्थ-पर्याय भी क्रमबद्ध उसीसे है, और घडा आदि के आकाररूपव्यंजन-पर्याय भी क्रमबद्ध उसीसे है। मिट्टी घडेरूप उत्पन्न हुई वहाँ उसकी व्यजनपर्याय (आकृति) कुम्हार ने की—ऐसा नही है। घडेरूप से मिट्टी स्वय उत्पन्न हुई है और मिट्टी ही उसमे व्याप्त है, कुम्हार व्याप्त नही है, इसलिये कुम्हार उसका कर्ता नही है। "निमित्त बिना नही होता"—इस बात का यहाँ काम नही है। यहाँ तो कहते हैं कि प्रत्येक द्रव्य अपने परिणामो के साथ तद्रूप—तन्मय है। जीव यदि अजीव की अवस्था को करे (जैसे कि—कुम्हार घडा बनाये) तो अजीव की अवस्था के साथ तद्रूपता होने से वह स्वय भी अजीव हो जायेगा। यदि निमित्त के अनुसार कार्य होता हो तो अजीव के निमित्त से आत्मा भी अजीव हो जायेगा—इत्यादि अनेक दोष आ पडेगे।

(८८) "योग्यता" कब मानी कहलाती है ?

प्रश्न —एक प्याले में पानी भरा है, पास मे अनेक प्रकार के लाल, हरे आदि रग रखे हैं, उनमे से जैसा रग लेकर पानी मे डालेंगे वैसा ही पानी का रग हो जायेगा। उस पानी मे योग्यता तो सर्वप्रकार की है, किन्तु जिस रग का निमित्त देंगे उसी रग का वह हो जायेगा। इसलिये निमित्तानुसार ही कार्य होता है। भले ही उसकी योग्यता से होता है किन्तु जैसा निमित्त आता है वैसा होता है।

उत्तर —अरे भाई! तेरी सब बात उल्टी है। योग्यता कहना, और फिर निमित्त आये वैसा होता है—ऐसा कहना, यह बात विरुद्ध है। निमित्त आये वैसा होता है—ऐसा माननेवाले ने "योग्यता" को माना ही नही अर्थात् वस्तु के स्वभाव को ही नही माना। पानी के परमाणुओ मे जिस समय जैसी हरे या लाल रगरूप होने की योग्यता है, उसी रगरूप वे परमाणु स्वयं उत्पन्न होते हैं, दूसरा कोई निमित्त उसमे रंग ला सके या फेरफार कर सके—ऐसा नही है।

अहो ? रंग के परमाणु पृथक और पानी के परमाणु भी पृथक, इसलिये रंग का निमित्त माने से पानी के परमाणुओं का रंग बदला ऐसा भी नहीं है परन्तु पानी के परमाणु ही स्वयं अपनी वैसी रंग-अवस्थारूप से परिणमित हुए हैं।

आटे के परमाणुओं में से रोटी की अवस्था होशियार स्त्री ने की है—ऐसा नहीं है, किन्तु स्वयं वे परमाणु ही उस अवस्थारूप से उत्पन्न हुए हैं।—यह बात भी ऊपर के दृष्टांत अनुसार समझ लेना चाहिये।

स्कंध में रहनेवाला प्रत्येक परमाणु स्वतंत्ररूप से अपनी क्रमबद्ध योग्यता से परिणमित होता है स्कंध के अन्य परमाणुओं के कारण वह स्थूलरूप परिणमित हुआ—ऐसा नहीं है किन्तु उसीमें स्थूलरूप से परिणमित होने की स्वतंत्र योग्यता हुई है। देखो एक परमाणु पृथक् हो तब उसमें स्थूल परिणमन नहीं होता किन्तु उसके स्कंध में मिलता है तब उसमें स्थूल परिणमन होता है तो उसके परिणमन में इतना फेरफार हुआ या नहीं ?—हाँ फेरफार तो हुआ है किन्तु वह किसके कारण ?—तो कहते हैं कि अपनी ही क्रमबद्ध पर्याय के कारण पर के कारण नहीं। एक पृथक परमाणु स्थूल स्कंध में मिला वहाँ वह जैसा पृथक था वैसा ही स्कंध में नहीं रहा किन्तु सूक्ष्म में से स्थूलस्वभावरूप से उसका परिणमन हुआ है। उसमें सर्वथा फेरफार नहीं हुआ—ऐसा भी नहीं है और पर के कारण फेरफार हुआ—ऐसा भी नहीं है। उसकी अपनी योग्यता से ही उसमें फेरफार अर्थात् सूक्ष्मता में से स्थूलतारूप परिणमन हुआ है। जिस प्रकार एक पृथक परमाणु में स्थूलतारूप परिणमन नहीं होता उसी प्रकार स्थूल स्कंध में भी यदि उसका स्थूल परिणमन न होता हो तो यह शरीरादि नोकर्म इत्यादि कुछ सिद्ध ही नहीं होंगे। पृथक् परमाणु स्थूल स्कन्ध में मिलने से उसमें स्थूलतारूप परिणमन तो होता है किन्तु वह परके कारण नहीं होता उसकी अपनी योग्यता से होता है।

(८९) क्रमबद्ध का निर्णय करनेवाले को "अभाग्य" होता ही नहीं

"अभाग्य से कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र का निमित्त बन जाये तो उल्टा अतत्त्वश्रद्धान पुष्ट हो जाता है"—ऐसा मोक्षमार्गप्रकाशक मे कहा है, किन्तु वहाँ भी वैसे निमित्तो के सेवन का विपरीत भाव कौन करता है ? वास्तव मे तो अपना जो विपरीत भाव है वही अभाग्य है। आत्मा के ज्ञायकस्वभाव की ओर झुककर जिसने क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किया उसके ऐसा अभाग्य होता ही नही—अर्थात् कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का सेवन उसके होता ही नही।

आत्मा ज्ञायक है और वस्तु की पर्याय क्रमबद्धरूप से स्वय होती है—ऐसे वस्तुस्वरूप को जो नही जानता उसका ज्ञान सच्चा नही होता, और सच्चे ज्ञान बिना निर्मलपर्याय अर्थात् शाति या धर्म नही होता।

(९०) स्वाधीनदृष्टि से देखनेवाला-ज्ञाता

आइस (बर्फ) डालने से पानी की ठण्डी अवस्था हुई—ऐसा नही है, पानी में शक्कर डाली इसलिये उस शक्कर के कारण पानी के परमाणुओ मे मीठी अवस्था हुई—ऐसा नही है, वे परमाणु स्वाधीन-रूप से वैसी अवस्थारूप परिणमित हुए हैं। अपने आत्मा को स्वाधीन-दृष्टि से ज्ञायकभाव से परिणमित देखनेवाला जगत के समस्त पदार्थों को भी स्वाधीन परिणमित देखता है, इसलिये वह ज्ञाता ही है, अकर्ता ही है। आत्मा तो अजीव के कार्य को नही करता, किन्तु एक स्कन्ध में रहनेवाले अनेक परमाणुओ में भी एक परमाणु दूसरे परमाणु का कार्य नही करता।—ऐसी स्वतन्त्रता है।

(९१) संस्कार की सार्थकता, तथापि पर्याय की क्रमबद्धता

प्रश्न —प्रवचनसार के ४७ नयो मे तो कहा है कि अस्वभाव-नय से आत्मा सस्कार को सार्थक करनेवाला है, जिसप्रकार लोहे के

तीर में संस्कार डालकर मुहार नई नोक निकालता है, उसीप्रकार आत्मा की पर्याय में नये संस्कार पड़ते हैं —ऐसा है तो फिर पर्याय की क्रमबद्धता का नियम कहाँ रहा ?

उत्तरः—पर्याय निरन्तर नई नई होती है आत्मा अपनी पर्याय में जैसे संस्कार डालते हैं वैसी पर्याय होती है। अनादि से पर्याय में मिथ्याश्रद्धा–ज्ञान थे, उसके बदले अब ज्ञायकस्वभाव की ओर ढलने से वे मिथ्याश्रद्धा–ज्ञान दूर होकर सम्यक्श्रद्धा–ज्ञान के अपूर्व संस्कार पड़े इसलिये पर्याय में नये संस्कार कहे। तथापि वहाँ क्रमबद्धपर्याय का नियम नहीं टूटा है। क्या सर्वज्ञभगवान ने वैसा नहीं देखा था और हो गया ? अथवा क्या क्रमबद्धपर्याय में वैसा नहीं था और हो गया ?—ऐसा नहीं है। स्वयं अपने ज्ञायकस्वभाव सन्मुख के पुरुषार्थ द्वारा *निर्मलपर्यायरूप उत्पन्न हुआ वहाँ केवलीभगवान ने क्रमबद्धपर्याय में* जो निर्मलपर्याय होना देखा था वही पर्याय आकर उपस्थित हो गई। इसप्रकार ज्ञायकस्वभाव का पुरुषार्थ करनेवाले को पर्याय में मिथ्यात्व दूर होकर सम्यग्दर्शन के अपूर्व नये संस्कार पड़े बिना नहीं रहते और क्रमबद्धपर्याय का क्रम भी नहीं टूटता।—ऐसा मेल ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि के बिना समझ में नहीं आयेगा।

(९२) क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता कौन ?

जिसे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं है और क्रमबद्धपर्याय में आगा–पीछा करना मानता है उसे जीव-अजीव द्रव्यों की खबर नहीं है इसलिये मिथ्याज्ञान है। जो परका कर्तृत्व मानता है उसे तो अभी परसे भिन्नत्व का भी भान नहीं है परसे भिन्नत्व को जाने बिना अन्तर में ज्ञान और राग की भिन्नता उसके ख्याल में नहीं आ सकेगी। यहाँ तो ऐसी बात है कि जो अपने ज्ञानस्वभाव की ओर ढला वह क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता है, राग को भी वह ज्ञान से भिन्न ज्ञेयरूप जानता है। ऐसा ज्ञाता रागादि का अकर्ता ही है।

★

❀ चौथा प्रवचन ❀

[आश्विन कृष्णा ३०, वीर सं २४८०]

क्रमबद्धपर्याय का निर्णय भी ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि द्वारा ही होता है, इसलिये उसमें जैनशासन आ जाता है। जो अबद्धस्पृष्ट आत्मा को देखता है वह समस्त जिनशासन को देखता है—ऐसा पन्द्रहवी गाथा में कहा है; और यहाँ—"जो ज्ञायकदृष्टि से क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करता है वह समस्त जिनशासन को देखता है"—ऐसा कहा जाता है,—उन दोनों का तात्पर्य एक ही है। दृष्टि को अन्तरोन्मुख करके जहाँ ज्ञा य क पर दृष्टि स्थिर की वहाँ सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान के साथ चारित्र, आनन्द, वीर्यादि का भी शुद्धपरिणमन होने लगा, यही जैनशासन है।

(९३) क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में सात तत्त्वों की श्रद्धा

जीव और अजीव दोनो की अवस्था उस-उस काल क्रमबद्ध स्वतन्त्र होती है, उन्हे एक-दूसरे के साथ कार्यकारणपना नही है। जीव का ज्ञायकस्वभाव है, उस ज्ञायक को जानने की मुख्यतापूर्वक क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता है।—ऐसी प्रतीति में सातो तत्त्वो की श्रद्धा भी आ जाती है इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन इसमे आ जाता है। सातो तत्त्वो की श्रद्धा किसप्रकार आती है वह कहते हैं —

(१-२) अपने ज्ञानादि अनन्त गुणो को ज्ञेय बनाकर क्रमबद्ध ज्ञाता-दृष्टा परिणामरूप से मैं उत्पन्न होता हूँ और उसमे मैं तन्मय हूँ ऐसी स्वसन्मुख प्रतीति मे जीवतत्त्व की प्रतीति आ गई, ज्ञाता-दृष्टारूप से उत्पन्न होता हुआ मैं जीव हूँ, अजीव नही हूँ,—इस प्रकार अजीव से भिन्नत्व का—कर्म के अभाव आदि का—ज्ञान भी आ गया, इसलिये अजीवतत्त्व की प्रतीति हो गई।

(३-४-५-६) ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से श्रद्धा-ज्ञान निर्मल हुए हैं, चारित्र मे भी अशत शुद्धता प्रगट हुई है और अभी

साधकदशा होने से अमुक रागादि भी होते हैं। वहाँ श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र का जितना निर्मल परिणमन है उसमें ही संवर–निर्जरा हैं और जितने रागादि होते हैं उतने ही अंश में आस्रव–बन्ध है। साधक को उस शुद्धता और अशुद्धता दोनों का ज्ञान रहता है इसलिये उसे आस्रव–बन्ध–संवर–निर्जरा तत्त्वों की प्रतीति भी आ गई।

(७) परका अकर्ता होकर ज्ञायकस्वभाव में एकाग्र होने से क्रमबद्धपर्याय में अंशतः शुद्धता प्रगट हुई है और अब इसी क्रम से ज्ञायकस्वभाव में पूर्ण एकाग्र होने से पूर्ण ज्ञाता–दृष्टापना (केवलज्ञान) प्रगट हो जायेगा और मोक्षदशा हो जायेगी —ऐसी श्रद्धा होने से मोक्षतत्त्व की प्रतीति भी उसमें आ गई।

इसप्रकार ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख होकर क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति करने से उसमें 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' भी आ जाता है।

(९४) सदोष आहार छोड़ने का उपदेश और क्रमबद्धपर्याय–उसका मेल

प्रश्नः—यदि पर्याय क्रमबद्ध ही होती है आहार भी जो आना हो वही आता है, तो फिर— 'मुनियों को सदोष आहार छोड़कर निर्दोष आहार लेना चाहिये' —ऐसा उपदेश किसलिये ?

उत्तरः—वहाँ ऐसी पहचान कराई है कि जहाँ मुनिदशा हुई हो वहाँ इसप्रकार का सदोष आहार लेने का भाव होता ही नहीं उस भूमिका का क्रम ही ऐसा है कि वहाँ सदोष आहार लेने की वृत्ति ही नहीं होती। ऐसा आहार लेना चाहिए और ऐसा छोड़ना चाहिए—यह तो निमित्त का कथन है। किन्तु कोई ऐसा कहे कि— भले ही सदोष आहार आना होगा तो सदोष आयेगा किन्तु हमें उसके ग्रहण की वृत्ति नहीं है —तो वह स्वच्छन्दी है उसकी दृष्टि तो आहार पर है ज्ञायक पर उसकी दृष्टि नहीं है। मुनियों के तो ज्ञान में इतनी अधिक सरलता हो गई है कि— 'यह आहार मेरे लिये बनाया होगा। इतनी वृत्ति उठे तो भी (–फिर भले ही वह आहार उनके लिये किया हुआ न

हो और निर्दोष हो तो भी–) वह आहार लेने की वृत्ति छोड़ देते हैं। और कदाचित् उद्देशिक (–मुनि के लिये बनाया हुआ) आहार हो, किन्तु यदि स्वय को शका की वृत्ति न उठे और वह आहार ले लें तो भी मुनि को वहाँ कुछ भी दोप नही लगता। इस क्रमवद्धपर्याय का निर्णय करनेवाले का जोर अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर जाता है, पुरुषार्थ का जोर ज्ञायकस्वभाव की ओर ढले विना क्रमवद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय हो ही नही सकता।

(६५) क्रमवद्धपर्याय के निर्णय में जैनशासन

देखो, अपने ज्ञाता–दृष्टा स्वभाव की प्रतीतिपूर्वक इस क्रमवद्ध-पर्याय का निर्णय किया वहाँ अपनी क्रमवद्धपर्याय में ज्ञातापने की ही अधिकता हुई, और राग का भी ज्ञाता ही रहा। क्रमवद्धपर्याय का निर्णय भी ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि द्वारा ही होता है, इसलिये उसमे जैनशासन आ जाता है। जो अवद्धस्पृष्ट आत्मा को देखता है वह समस्त जिनशासन को देखता है—ऐसा पन्द्रहवी गाथा मे कहा, और यहाँ—"जो ज्ञायकदृष्टि से क्रमवद्धपर्याय का निर्णय करता है वह समस्त जिनशासन को देखता है"—ऐसा कहा जाता है, उन दोनो का तात्पर्य एक ही है। दृष्टि को अन्तरोन्मुख करके जहाँ ज्ञा य क पर दृष्टि स्थिर की वहाँ सम्यक्श्रद्धा–ज्ञान के साथ चारित्र, आनन्द, वीर्यादि का भी शुद्ध परिणमन होने लगा, यही जैनशासन है, फिर वहाँ साधकदशा मे चारित्र की अस्थिरता का राग और कर्म का निमित्तादि कैसे होते हैं वह भी स्व–परप्रकाशक ज्ञान में ज्ञेयरूप से ज्ञात हो जाता है।

जिस जीव मे या अजीव मे, जिस समय जिस पर्याय की योग्यता का काल है उस समय उस पर्यायरूप से वह स्वय परिणमित होता है, किसी अन्य निमित्त के कारण वह पर्याय नही होती। ऐसे वस्तुस्वभाव का निर्णय करनेवाला जीव अपने ज्ञायकभाव का आश्रय करके ज्ञाता–दृष्टाभावरूप से ही उत्पन्न होता है, किन्तु अजीव के

आश्रय से उत्पन्न नहीं होता। साधक होने से भले ही अधूरी दशा है तथापि ज्ञायकस्वभाव के आश्रय की मुख्यता से ज्ञायकरूप ही उत्पन्न होता है रागादि की मुख्यतारूप उत्पन्न नहीं होता। जिसने ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किया वही वास्तव में सर्वज्ञ को मानता है वही जैनशासन को जानता है वही उपादान–निमित्त और निश्चय–व्यवहार को यथार्थरूप से पहिचानता है। जिसे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं है उसे यह कुछ भी यथार्थ—समझ नहीं होता।

(९६) आचार्यदेव के अलौकिक मंत्र

अहो! यह तो कुन्दकुन्दाचार्यदेव के और अमृतचन्द्राचार्यदेव के *अलौकिक मन्त्र हैं। जिसे आत्मा की परिपूर्ण ज्ञानशक्ति का विश्वास* आ जावे उसीको यह क्रमबद्धपर्याय समझ में आ सकती है। समयसार में आचार्यदेव ने जगह–जगह यह बात रखी है—

मंगलाचरण में ही सबसे पहले कलश में शुद्धात्मा को नमस्कार करते हुए कहा था कि—'सर्वभावांतरच्छिदे' अर्थात् शुद्धात्मा अपने से अन्य सर्व जीवाजीव चराचर पदार्थों को सर्व क्षेत्रकाल सम्बन्धी सर्व विशेषणों सहित एक ही समय में जाननेवाला है। यहाँ सर्व क्षेत्रकाल सम्बन्धी जानना कहा उसमें क्रमबद्धपर्याय होना आ ही गया। ('स्वानुभूत्या चकासते' अर्थात् अपनी अनुभवनक्रिया से प्रकाशित होता है—ऐसा कहकर उसमें स्व–परप्रकाशकपना भी बतलाया है।)

फिर दूसरी गाथा में जीव के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि—'क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तित अनेक भाव जिसका स्वभाव होने से जिसने गुण–पर्यायें अंगीकार की हैं।'—उसमें क्रमबद्धपर्याय की बात आगई।

तत्पश्चात् अनुक्रम से आविर्भाव और तिरोभाव प्राप्त करती हुई वे–वे व्यक्तियाँ इसप्रकार ६२ वीं गाथा में कहा उसमें भी क्रमबद्धपर्याय की बात समा गई।

तत्पश्चात् कर्ता–कर्म अधिकार की गाथा ७६–७७–७८ मे "प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य" ऐसे कर्म की वात की, वहाँ कर्ता, जो नवीन उत्पन्न नही करता तथा विकार करके अर्थात् फेरफार करके भी नही करता, मात्र जिसे प्राप्त करता है वह कर्ता का प्राप्य कर्म है,—ऐसा कहा उसमे भी पर्याय का क्रमवद्धपना आ गया। द्रव्य अपनी क्रमवद्धपर्याय को प्रतिसमय प्राप्त करता है—पहुँच जाता है।

तत्पश्चात् पुण्य–पाप अधिकार की गाथा १६० "सो सव्वणाण-दरिसी " मे कहा है कि आत्मद्रव्य स्वय ही "ज्ञान" होने के कारण विश्व को (सर्व पदार्थों को) सामान्य–विशेपरूप से जानने के स्वभाववाला है किन्तु अपने पुरुपार्थ के अपराध से सर्व प्रकार से सम्पूर्ण ऐसे अपने को (अर्थात् सर्व प्रकार से सर्व ज्ञेयो को) जाननेवाले ऐसे अपने को नही जानता इसलिये अज्ञानभाव से वर्तता है। यहाँ "विश्व को सामान्य–विशेपरूप से जानने का स्वभाव" कहने से उसमे क्रमवद्धपर्याय की वात भी समा गई। जीव अपने सर्वज्ञस्वभाव को नही जानता इसीलिये अज्ञानी है। यदि अपने सर्वज्ञस्वभाव को जाने तो उसमे क्रमवद्धपर्याय का भी निर्णय हो जाये और अज्ञान न रहे।

आस्रव अधिकार मे गाथा १६६ मे "स्वय ज्ञानस्वभाववाला होकर, केवल जानता ही है"—ऐसा कहा, वहाँ ज्ञेयो का क्रमवद्धपना आ गया।

तत्पश्चात् सवर अधिकार मे "उपयोग उपयोग में ही है, क्रोध मे या कर्म–नोकर्म मे उपयोग नही है"—ऐसा कहा, वहाँ उपयोग के स्व-परप्रकाशकस्वभाव मे क्रमवद्धपर्याय की वात भी सिद्ध हो जाती है।

फिर निर्जरा अधिकार गाथा २१६ मे वेद्य और वेदक दोनो भावो की क्षणिकता बतलाई है, वे दोनो भाव कभी इकट्ठे नही होते—ऐसा होकर उनकी क्रमबद्धता बतलाई है। समय–समय की उत्पन्न–ध्वसीपर्याय पर ज्ञानी की दृष्टि नही है किन्तु ध्रुव ज्ञायक-

स्वभाव पर उसकी दृष्टि है ध्रुव ज्ञायक पर दृष्टि रखकर वह क्रमबद्ध पर्याय का ज्ञाता है।

पश्चात् बंध अधिकार में १६८ वें कलश (सर्वं सदैव नियतं) में कहा है कि—इस जगत में जीवों को मरण जीवित, दुःख सुख —सब सदैव नियम से अपने कर्म के उदय से होता है "दूसरा पुरुष दूसरे के मरण जीवन दुःख सुख करता है,—ऐसा जो मानना है वह तो अज्ञान है।' इसलिये आत्मा उस क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता है किन्तु उसका बदलनेवाला नहीं है—यह बात उसमें आ गई।

मोक्ष अधिकार में भी गाथा २९७–९८–९९ में छह कारकों का वर्णन करके आत्मा को "सर्वविशुद्धचिन्मात्रभाव' कहा। 'सर्व विशुद्धचिन्मात्र' कहने से सामनेवाले ज्ञेय पदार्थों के परिणाम भी क्रमबद्ध हैं—ऐसा उसमें आ गया।

इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार की चलती हुई (३०८से३११वीं) गाथाओं में भी क्रमबद्धपर्याय की स्पष्ट बात की है।

दूसरे शास्त्रों में भी अनेक स्थानों पर यह बात की है। पं० बनारसीदासजी ने श्री जिनेन्द्र भगवान के १००८ नामों में 'क्रमवर्ती' —ऐसा भी एक नाम दिया है।

(९७) स्पष्ट और मूलभूत बात—"ज्ञानशक्ति का विश्वास"

यह तो सीधी और स्पष्ट बात है कि आत्मा ज्ञान है, सर्वज्ञता का उसमें सामर्थ्य है, सर्वज्ञता में क्या जानना शेष रह गया ? सर्वज्ञता के सामर्थ्य पर जोर न आये तो क्रमबद्धपर्याय समझ में नहीं आ सकती। इधर सर्वज्ञता के सामर्थ्य को प्रतीति में लिया वहाँ ज्ञेयों में क्रमबद्धपर्यायें हैं उसका निर्णय भी हो गया। इस प्रकार यह आत्मा के मूलभूत ज्ञायकस्वभाव की बात है। इसका निर्णय न करे तो सर्वज्ञ की भी सच्ची श्रद्धा नहीं होती। जिसे आत्मा की ज्ञान शक्ति का ही विश्वास न आये उसे जैनशासन की एक भी बात समझ में नहीं आ सकती।

सम्यक्त्वी अपने ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करके ज्ञातापने के क्रमबद्धपरिणामरूप उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, किन्तु कर्म का आश्रय करके उत्पन्न नही होता इसलिये अजीव नही है।

तत्पश्चात् स्वरूप में विशेष एकाग्रता द्वारा छट्ठे—सातवें गुणस्थानरूप मुनिदशा प्रगट हुई, उस मुनिदशारूप भी जीव स्वय ही अपने क्रमबद्धपरिणाम से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, किन्तु निर्दोष आहारादि के आश्रय से उस पर्यायरूप से उत्पन्न नही होता इसलिये अजीव नही है।

फिर केवलज्ञानदशा हुई, उसमे भी जीव स्वय ही क्रमबद्ध-परिणमित होकर उस अवस्थारूप से उत्पन्न हुआ है, इसलिये वह जीव ही है, किन्तु चौथा काल या शरीर का सहनन आदि अजीव के कारण वह अवस्था उत्पन्न नही हुई, तथा जीव ने उस अजीव की अवस्था नही की, इसलिये वह अजीव नही है।

(९८) अहो! ज्ञाता की क्रमबद्धधारा!

देखो, यह ज्ञाता की क्रमबद्धपर्याय! इसमे तो केवलज्ञान का समावेश होता है, मोक्षमार्ग आ जाता है, सम्यग्दर्शन आ जाता है। और इससे विरुद्ध माननेवाला अज्ञानी कैसा होता है उसका ज्ञान भी आ जाता है। जीव और अजीव सभी तत्त्वो का निर्णय इसमे आ जाता है।

देखो, यह सत्य की धारा!—ज्ञायकभाव का क्रमबद्धप्रवाह!! ज्ञानी को अपने ज्ञायकस्वभाव मे एकता द्वारा सम्यग्दर्शन से प्रारम्भ करके ठेठ केवलज्ञान तक अकेले ज्ञायकभाव की क्रमबद्धधारा चली जाती है।

शास्त्र मे उपदेशकथन अनेक प्रकार के आते हैं। उस-उस काल सतो को वैसे विकल्प उठने से उस प्रकार की उपदेशवाणी निकली, वहाँ ज्ञाता तो अपने ज्ञायकभाव की धारारूप से उत्पन्न होता हुआ

उस वाणी और विकल्प का ज्ञाता ही है किन्तु उसमें तन्मय होकर उसरूप उत्पन्न नहीं होता।

जगत का कोई पदार्थ बीच में आकर जीव की क्रमबद्ध पर्याय को बदल दे—ऐसा तीनकाल में नहीं होता' जीव अपनी क्रमबद्ध पर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, इसी प्रकार अजीव भी उसकी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है। जो जीव ऐसा निर्णय और भेदज्ञान नहीं करता वह अज्ञानरूप से भ्रांति में भ्रमण कर रहा है।

(९९) ज्ञान के निर्णय में क्रमबद्ध का निर्णय

प्रश्न—तीनकाल की पर्याय क्रमबद्ध है तथापि कल की बात भी ज्ञात क्यों नहीं होती ?

उत्तर—उसका जाननेवाला ज्ञायक कौन है उसका तो पहले निर्णय करो। ज्ञाता का निर्णय करने से तीनकाल की क्रमबद्धपर्याय का भी निर्णय हो जायेगा। और देखो गई कल को शनिवार था और कल सोमवार ही आयेगा उसके बाद मंगलवार ही आयेगा—इस प्रकार सातों वारों की क्रमबद्धता जानी जा सकती है या नहीं ? 'बहुत समय बाद कभी सोमवार के पश्चात् शनिवार आ जायेगा तो ? अथवा रविवार के बाद बुधवार आ जायेगा तो ? ऐसी शंका कभी नहीं होती क्योंकि उस प्रकार का क्रमबद्धताका निर्णय हुआ है। उसी प्रकार आत्मा के केवलज्ञान स्वभाव की प्रतीति करने से समस्त द्रव्यों की क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हो जाता है। यहाँ तो क्रमबद्ध पर्याय' कहने से ज्ञायक का निर्णय करने का प्रयोजन है। ज्ञाता अपने स्वभावसन्मुख होकर परिणमित हुआ वहाँ स्वयं स्वकाल में क्रमबद्धपरिणमित होता है और उसका स्व-परप्रकाशकज्ञान विकसित हुआ वह पर को भी क्रमबद्धपरिणमित जानता है, इसलिये उसका वह कर्ता नहीं होता।

(१००) "निमित्त न आये तो ?"—ऐसा कहनेवाला निमित्त को नहीं जानता

प्रश्न.—यदि वस्तु की क्रमबद्धपर्याय अपने आप निमित्त के विना हो जाती हो तो, यह पीछी यहाँ पडी है उसे हाथ के निमित्त विना ऊपर उठा दीजिये !

उत्तर —अरे भाई ! पीछी की अवस्था पीछी मे और हाथ की अवस्था हाथ मे,—उसमे तू क्या कर सकता है ? पीछी उसके क्षेत्रान्तर की क्रमवद्धपर्याय से ही ऊपर उठती है, और उस समय हाथ आदि निमित्त भी अपनी क्रमवद्धपर्यायरूप से होते ही हैं, न हो ऐसा नहीं होता । इस प्रकार निमित्त का अस्तित्व होने पर भी उसे जो नही मानता, और "निमित्त न आये तो " ऐसा तर्क करता है वह क्रमवद्धपर्याय को या उपादान–निमित्त को समझा ही नही है । "है" फिर न हो तो "यह प्रश्न ही कहाँ से आया ?

(१०१) "निमित्त विना कार्य नहीं होता"–इसका आशय क्या ?

उपादान–निमित्त की स्पष्टता का प्रचार होने से अव कुछ लोग ऐसी भाषा का उपयोग करते हैं कि—"निमित्त भले ही कुछ नही करता, किन्तु उसके बिना तो कार्य नही होता न !" किन्तु गहराई से तो उनके भी निमित्ताधीन दृष्टि ही पडी है । निमित्त होता है उसे प्रसिद्ध करने के लिये शास्त्र मे भी ऐसा कहा जाता है कि "निमित्त के बिना नही होता," किन्तु "कार्य होना हो, और निमित्त न आये तो नही हो सकता"—ऐसा उसका अर्थ नही है । देवसेनाचार्य नयचक्र पृष्ठ ५२–५३ मे कहते हैं कि—"यद्यपि मोक्षरूपी कार्य मे भूतार्थ से जाना हुआ आत्मा आदि उपादान कारण हैं, तथापि वह सहकारीकारण बिना सिद्ध नही होता, इसलिये सहकारीकारण की प्रसिद्धि के लिये निश्चय और व्यवहार का अविनाभाव सम्बन्ध बतलाते हैं ।" इसमे तो, क्रमबद्धपर्याय मे उपादान की योग्यता के समय उस-

प्रकार का निमित्त होता ही है—ऐसा ज्ञान कराया है" कोई अज्ञानी, निमित्त को सर्वथा न मानता हो तो निमित्त बिना नहीं होता"—ऐसा कहकर निमित्त की प्रसिद्धि कराई है अर्थात् उसका ज्ञान कराया है। किन्तु उससे निमित्त आया इसलिये कार्य हुआ और निमित्त न होता तो वह पर्याय नहीं होती"—ऐसा उसका सिद्धान्त नहीं है। "निमित्त बिना नहीं होता"—इसका आशय इतना ही है कि जहाँ-जहाँ कार्य होता है वहाँ वह होता है, न हो ऐसा नहीं हो सकता। निमित्त का ज्ञान कराने के लिये निमित्त की मुख्यता से कथन होता है परन्तु निमित्त की मुख्यता से कहीं पर कार्य नहीं होता, शास्त्रों में तो निमित्त के और व्यवहार के अनेक लेख भरे हैं किन्तु स्व-पर प्रकाशक जागृत हुए बिना उनका आशय स्पष्ट कौन करेगा ?

(१०२) शास्त्रों के उपदेश के साथ क्रमबद्धपर्याय की सन्धि

कुन्दकुन्दाचार्यदेव की आज्ञा से वसुबिन्दु अर्थात् जयसेनाचार्य देव ने दो दिन में ही एक प्रतिष्ठापाठ की रचना की है उसमें जिनेन्द्र प्रतिष्ठा सम्बन्धी क्रियाओं का प्रारम्भ से लेकर अन्त तक का वर्णन किया है। प्रतिमाजी के लिये ऐसा पाषाण लाना चाहिये ऐसी विधि से लाना चाहिये ऐसे कारीगरों के पास ऐसी प्रतिमा बनवाना चाहिये तथा अमुक विधि के लिये मिट्टी लेने जाये वहाँ जमीन खोदकर मिट्टी ले ले और फिर बची हुई मिट्टी से वह गड्ढा पूरने पर यदि मिट्टी बढ़े तो उसे शुभ अशुभ समझना चाहिये।—इत्यादि अनेक विधियों का वर्णन आता है किन्तु आत्मा का ज्ञायकपना रखकर वह सब बात है। ज्ञायकपने से च्युत होकर या क्रमबद्धपने को तोड़कर वह बात नहीं है। प्रतिष्ठा करानेवाले को उस प्रकार का विकल्प होता है और मिट्टी आदि की वैसी क्रमबद्धपर्याय होती है—उसकी वहाँ पहिचान कराई है किन्तु ऐसा नहीं बतलाया है कि अजीव की पर्याय जीव कर देता है। प्रतिष्ठा में "सिद्धचक्रमण्डलविधान' और यागमण्डलविधान' आदि के बड़े बड़े रंगबिरंगे मण्डल रचे जाते हैं और शास्त्र में भी उनका उपदेश आता है, तथापि वह सब क्रमबद्ध ही है, शास्त्र में

उसका उपदेश दिया इसलिये उसकी क्रमवद्धता मिट गई या जीव उसका कर्ता हो गया—ऐसा नही है। ज्ञाता तो अपने को जानता हुआ उसे भी जानता है, और क्रमवद्धपर्याय से स्वय अपने ज्ञायकभावरूप उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार मुनि को समिति के उपदेश मे भी "देखकर चलना, विचारकर वोलना, वस्तु को यत्नपूर्वक उठाना-रखना"—इत्यादि कथन आता है, किन्तु उसका आशय यह वतलाने का नही है कि शरीर की क्रिया को जीव कर सकता है। मुनिदशा मे उस-उस प्रकार का प्रमादभाव होता ही नही, हिंसादि का अशुभभाव होता ही नही-ऐसा ही मुनिदशा की क्रमवद्धपर्याय का स्वरूप है—वह वतलाया है। निमित्त से कथन करके समझाये, तो उससे कही क्रमवद्धपर्याय का सिद्धान्त नही टूट जाता।

(१०३) स्वयंप्रकाशीज्ञायक

शरीरादि का प्रत्येक परमाणु स्वतत्ररूप से अपनी क्रमवद्ध-पर्यायरूप परिणमित हो रहा है, उसे कोई दूसरा अन्यथा वदल दे—ऐसा तीनकाल मे नही हो सकता। अहो! भगवान आत्मा तो स्वय प्रकाशी है, अपने क्षायिकभाव द्वारा वह स्व-पर का प्रकाशक ही है, किन्तु अज्ञानी को उस ज्ञायकस्वभाव की वात नही जमती। मैं ज्ञायक, क्रमवद्धपर्यायो को यथावत् जाननेवाला हूँ,—सदा जाननेवाला ही हूँ किन्तु किसीको वदलनेवाला नही हूँ—ऐसी स्वसन्मुख प्रतीति न करके अज्ञानीजीव कर्ता होकर पर को वदलना मानता है, वह मिथ्या-मान्यता ही ससार परिभ्रमण का मूल है।

सर्व जीव स्वयप्रकाशीज्ञायक हैं, उसमे—

(१) केवली भगवान "पूर्ण ज्ञायक" हैं, (उनके ज्ञायकपना पूर्णव्यक्त हो गया है।)

(२) सम्यक्त्वी—साधक "अपूर्ण ज्ञायक" हैं, (उनके पूर्ण ज्ञायकपना प्रतीति मे आ गया है, किन्तु अभी पूर्ण व्यक्त नही हुआ।)

अर्थ—इसलिये सूत्रमें तत्त्वार्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन माना गया है और वे तत्त्व भी जीवाजीवादिरूपसे नव हैं, अतः क्रमानुसार उन नव पदार्थोंका कथन करना चाहिये।

इसलिये इस शास्त्रका 'सूत्रमें' निश्चय सम्यग्दर्शनका ही लक्षण है व्यवहार सम्यग्दर्शनका नहीं ऐसा निश्चय करना।

दूसरे सूत्रका सिद्धान्त—

संसार-समुद्रसे रत्नत्रयरूपी (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूपी) जहाज को पार करनेके लिये सम्यग्दर्शन चतुर नाविक है। जो जीव सम्यग्दर्शन को प्रगट करता है वह अनंत सुखको पाता है। जिस जीवके सम्यग्दर्शन नहीं है वह यदि पुण्य करे तो भी अनंत दुःख भोगता है; इसलिये जीवोंको वास्तविक सुख प्राप्त करनेके लिये तत्त्वका स्वरूप यथार्थ समझकर सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये। तत्त्वका स्वरूप समझे बिना किसी जीवको सम्यग्दर्शन नहीं होता। जो जीव तत्त्वके स्वरूपको यथार्थतया समझता है उसे सम्यग्दर्शन होता ही है—इसे यह सूत्र प्रतिपादित करता है॥ २॥

निश्चय सम्यग्दर्शनके (उत्पत्तिकी अपेक्षासे) भेद—

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥ ३ ॥

अर्थ—[तत्] वह सम्यग्दर्शन [निसर्गात्] स्वभावसे [वा] अथवा [अधिगमात्] दूसरेके उपदेशादिसे उत्पन्न होता है।

टीका

(१) उत्पत्तिकी अपेक्षासे सम्यग्दर्शनके दो भेद हैं—(१) निसर्गज (२) अधिगमज।

निसर्गज—जो दूसरेके उपदेशादिके बिना स्वयमेव (पूर्व संस्कारसे) उत्पन्न होता है उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

अधिगमज—जो सम्यग्दर्शन परके उपदेशादिसे उत्पन्न होता है उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

(२) जिस जीवके सम्यग्दर्शन प्रगट होता है उस जीवने उस समय अथवा पूर्व भवमें सम्यग्ज्ञानी आत्मासे उपदेश सुना होता है। [उपदिष्ट तत्त्वका श्रवण, ग्रहण-धारण होना, विचार होना उसे देशनालब्धि कहते हैं] उसके बिना किसीको सम्यग्दर्शन नही होता। इसका यह अर्थ नही समझना चाहिये कि वह उपदेश सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करता है। जीव सम्यग्दर्शनको स्वत: अपनेमें प्रगट करता है, ज्ञानीका उपदेश तो निमित्त मात्र है। अज्ञानीका उपदेश सुनकर कोई सम्यग्दर्शन प्रगट नही कर सकता यह नियम है। और, यदि सद्गुरु का उपदेश सम्यग्दर्शन उत्पन्न करता हो तो, जो जो जीव उस उपदेशको सुनें उन सबको सम्यग्दर्शन हो जाना चाहिये, किंतु ऐसा नही होता। सद्गुरुके उपदेशसे सम्यग्दर्शन हुआ है,-यह कथन व्यवहारमात्र है,-निमित्तका ज्ञान करानेके लिए कथन है।

(३) अधिगमका स्वरूप इस अध्यायके छट्ठे सूत्रमे दिया गया है। वहाँ बताया है कि-'प्रमाण और नयके द्वारा अधिगम होता है'। प्रमाण और नयका स्वरूप उस सूत्रकी टीकामें दिया है, वहाँसे ज्ञात करना चाहिये।

(४) तीसरे सूत्रका सिद्धान्त—

जीवको अपनी भूलके कारण अनादिकालसे अपने स्वरूपके संबंधमे भ्रम बना हुआ है, इसलिये उस भ्रमको स्वयं दूर करने पर सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। जीव जब अपने सच्चे स्वरूपको समझनेकी जिज्ञासा करता है तब उसे आत्मज्ञानीपुरुषके उपदेशका योग मिलता है। उस उपदेशको सुनकर जीव अपने स्वरूपका यथार्थ निर्णय करे तो उसे सम्यग्दर्शन होता है। किसी जीवको आत्मज्ञानी पुरुषका उपदेश सुननेपर तत्काल सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, और किसीको उसी भवमें दीर्घकालमें अथवा दूसरे भवमे उत्पन्न होता है। जिसे तत्काल सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसे '**अधिगमज सम्यग्दर्शन**' हुआ कहलाता है, और जिसे पूर्वके संस्कारसे उत्पन्न होता है उसे '**निसर्गज**' सम्यग्दर्शन हुआ कहलाता है।

[कोई जीव अपने आप शास्त्र पढकर या अज्ञानीका उपदेश सुनकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त करलें ऐसा कभी नहीं हो सकता है–देशना लब्धिके विषयमें सब प्रश्नोंका संपूर्ण समाधानवाला लेख देखो–आत्मधर्म वर्ष छठवाँ अंक नं. ११-१२]

जैसे वैद्यकीय ज्ञान प्राप्त करना हो तो वैद्यकके ज्ञानी गुरुकी शिक्षासे वह प्राप्त किया जा सकता है, वैद्यकके अज्ञानी पुरुषसे नहीं उसीप्रकार आत्मज्ञानी गुरुके उपदेश द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त किया जा सकता है आत्मज्ञानहीन (अज्ञानी) गुरुके उपदेशसे वह प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसलिये सच्चे सुखके इच्छुक जीवोंको उपदेशकका चुनाव करनेमें सावधानी रखना आवश्यक है। जो उपदेशकका चुनाव करनेमें भूल करते हैं वे सम्यग्दर्शनको प्राप्त नहीं कर सकते—यह निश्चित समझना चाहिये ॥३॥

तत्त्वोंके नाम

जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥

अर्थ—[जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षाः] १ जीव २ अजीव ३ आस्रव ४ बंध ५ संवर ६ निर्जरा और ७ मोक्ष,—यह सात [तत्त्वम्] तत्त्व हैं।

टीका

१—जीव—जीव अर्थात् आत्मा। वह सदा ज्ञाता स्वरूप, परसे भिन्न और त्रिकालस्थायी है जब वह पर-निमित्तके शुभ अवलंबनमें युक्त होता है तब उसके शुभभाव (पुण्य) होता है और जब अशुभावलम्बनमें युक्त होता है तब अशुभभाव (पाप) होता है, और जब स्वावलंबी होता है तब शुद्ध भाव (धर्म) होता है।

२—अजीव—जिसमें चेतना-ज्ञातृत्व नहीं है, ऐसे द्रव्य पाँच हैं। उनमें से धर्म अधर्म आकाश और काल यह चार अरूपी हैं तथा पुद्गल रूपी (स्पर्श रस, गंध वर्ण सहित) है अजीव वस्तुएँ आत्मासे भिन्न हैं तथा अनन्त आत्मा भी एक दूसरेसे पृथक्-स्वतंत्र हैं। पराश्रयके बिना जीवमें विकार नहीं होता परोन्मुख होनेसे जीवके पुण्य-पापके शुभाशुभ विकारी भाव होते हैं।

३—आस्रव—विकारी शुभाशुभभावरूप जो अरूपी अवस्था जीवमें

होती है वह भावास्रव और नवीन कर्म–रजकणोंका आना (आत्माके साथ एक क्षेत्र मे रहना) सो द्रव्यास्रव है।

पुण्य–पाप दोनो आस्रव और बंध के उपभेद हैं।

पुण्य—दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत इत्यादि जो शुभ भाव जीवके होते हैं वह अरूपी विकारी भाव हैं, वह भाव पुण्य है, और उसके निमित्तसे जड परमाणुओका समूह स्वय (अपने ही कारणसे स्वत) एक क्षेत्रावगाह सम्बन्धसे जीव के साथ बँधता है, वह द्रव्य–पुण्य है।

पाप—हिंसा, असत्य, चोरी, अव्रत इत्यादि जो अशुभभाव हैं सो भाव-पाप है, और उसके निमित्तसे जडकी शक्तिसे जो परमाणुओका समूह स्वय बँधता है वह द्रव्य-पाप है।

परमार्थत–वास्तवमे यह पुण्य-पाप आत्माका स्वरूप नही है, वह आत्माकी क्षणिक अवस्थामे परके सम्बन्धसे होनेवाला विकार है।

४–बंध—आत्माका अज्ञान, राग-द्वेष, पुण्य-पापके भावमे रुक जाना सो भाव-बध है। और उसके निमित्तसे पुद्गलका स्वय कर्मरूप बँधना सो द्रव्य-बध है।

५–संवर—पुण्य-पापके विकारीभावको (आस्रवको) आत्माके शुद्ध भाव द्वारा रोकना सो भाव-सवर है, और तदनुसार नये कर्मोंका आगमन रुक जाय सो द्रव्य-सवर है।

६–निर्जरा—अखडानन्द शुद्ध आत्मस्वभावके लक्षके बलसे स्वरूप स्थिरताकी वृद्धि द्वारा आशिकरूपमे शुद्धिकी वृद्धि और अशुद्ध (शुभाशुभ) अवस्थाका आशिक नाश करना सो भाव-निर्जरा है, और उसका निमित्त पाकर जडकर्मका अशत खिर जाना सो द्रव्य-निर्जरा है।

७–मोक्ष—अशुद्ध अवस्थाका सर्वथा-सम्पूर्ण नाश होकर आत्माकी पूर्ण निर्मल-पवित्र दशाका प्रगट होना सो भाव-मोक्ष है, और निमित्त-कारण द्रव्यकर्मका सर्वथा नाश (अभाव) होना सो द्रव्य-मोक्ष है।

(२) सात तत्त्वोंमेंसे प्रथम दो तत्त्व 'जीव' और 'अजीव' द्रव्य हैं, तथा शेष पाँच तत्त्व उनकी (जीव और अजीवकी) संयोगी तथा वियोगी पर्यायें (विशेष अवस्थायें) हैं। आस्रव और बन्ध संयोगी हैं तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष जीव अजीवकी वियोगी पर्याय हैं। जीव और अजीव तत्त्व सामान्य हैं तथा शेष पाँच तत्त्व पर्याय होनेसे विशेष कहलाते हैं।

(३) जिसकी दशाको अशुद्धमेंसे शुद्ध करना है उसका नाम तो प्रथम अवश्य दिखाना ही चाहिये इसलिये 'जीव' तत्त्व प्रथम कहा गया है पश्चात् जिस ओरके लक्षसे अशुद्धता अर्थात् विकार होता है उसका नाम देना आवश्यक है, इसलिये 'अजीव' तत्त्व कहा गया है। अशुद्ध दशाके कारण-कार्यका ज्ञान करानेके लिये 'आस्रव' और 'बंध' तत्त्व कहे गये हैं। तत्पश्चात् मुक्तिका कारण कहना चाहिये और मुक्तिका कारण वही हो सकता है जो बंध और बंधके कारणसे उल्टे रूपमें हो, इसलिये आस्रवके निरोध होने को 'संवर' तत्त्व कहा है। अशुद्धता विकारके एक देश दूर हो जानेके कार्यको 'निर्जरा' तत्त्व कहा है। जीवके अत्यन्त शुद्ध हो जाने की दशाको 'मोक्ष' तत्त्व कहा है। इन तत्त्वोंको समझनेकी अत्यन्त आवश्यकता है इसीलिये वे कहे गये हैं। उन्हें समझनेसे जीव मोक्षोपायमें युक्त हो सकता है। मात्र जीव अजीवको जाननेवाला ज्ञान मोक्षमार्गके लिये कार्यकारी नहीं होता। इसलिये जो सच्चे सुखके मार्गमें प्रवेश करना चाहते हैं उन्हें इन तत्त्वोंको यथार्थतया जानना चाहिये।

(४) सात तत्त्वोंके होने पर भी इस सूत्रके अन्तमें 'तत्त्वम्' ऐसा एकवचन सूचक शब्द प्रयोग किया गया है, जो यह सूचित करता है कि इन सात तत्त्वोंका ज्ञान करके भेद परसे लक्ष हटाकर जीवके त्रिकालज्ञायक भावका आश्रय करनेसे जीव शुद्धता प्रगट कर सकता है।

(५) पाप पुण्यका सिद्धान्त—

इस सूत्रमें सात तत्त्व कहे गये हैं उनमेंसे पुण्य और पापका समावेश आस्रव और बंध तत्त्वोंमें हो जाता है। जिसके द्वारा शुभ उत्पन्न हो और

दुःखका नाश हो उस कार्यका नाम प्रयोजन है। जीव और अजीवके विशेष (भेद) बहुतसे हैं। उनमेसे जो विशेषोके साथ जीव-अजीवका यथार्थ श्रद्धान करनेपर स्व-परका श्रद्धान हो और उससे सुख उत्पन्न हो; और जिसका अयथार्थ श्रद्धान करनेपर स्व-परका श्रद्धान न हो, रागादिकको दूर करनेका श्रद्धान न हो और उससे दुःख उत्पन्न हो, इन विशेषोसे युक्त जीव-अजीव पदार्थ प्रयोजनभूत समझने चाहिये। आस्रव और बध दुःखके कारण है, तथा सवर, निर्जरा और मोक्ष सुखके कारण है, इसलिये जीवादि सात तत्त्वोका श्रद्धान करना आवश्यक है। इन सात तत्त्वोकी श्रद्धाके बिना शुद्ध-भाव प्रगट नही हो सकता। 'सम्यग्दर्शन' जीवके श्रद्धागुणकी शुद्ध अवस्था है, इसलिये उस शुद्धभावको प्रगट करनेके लिये सात तत्त्वोका श्रद्धान-ज्ञान अनिवार्य है। जो जीव इन सात तत्त्वोकी श्रद्धा करता है वही अपने जीव अर्थात् शुद्धात्माको जानकर उस ओर अपना पुरुषार्थ लगाकर सम्यग्दर्शन प्रगट कर सकता है। इन सात (पुण्य-पाप सहित नौ) तत्त्वोके अतिरिक्त अन्य कोई 'तत्त्व' नही है,—ऐसा समझना चाहिये ॥ ४ ॥

निश्चय सम्यग्दर्शनादि शब्दोंके अर्थ समझनेकी रीति—

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥ ५ ॥

अर्थ—[नामस्थापनाद्रव्यभावत—] नाम, स्थापना, द्रव्य, और भावसे **[तत्न्यासः]** उन सात तत्त्वो तथा सम्यग्दर्शनादिका लोकव्यवहार होता है।

टीका

(१) वक्ताके मुखसे निकले हुये शब्दके, अपेक्षाको लेकर भिन्न २ अर्थ होते हैं, उन अर्थोंमें व्यभिचार (दोष) न आये और सच्चा अर्थ कैसे हो यह बतानेके लिए यह सूत्र कहा है।

(२) इन अर्थोंके सामान्य प्रकार चार किये गये हैं। पदार्थोंके भेद को न्यास अथवा निक्षेप कहा जाता है। [प्रमाण और नयके अनुसार प्रच-

मित हुए लोकव्यवहारको निक्षेप कहते हैं।] ज्ञेय पदार्थ अखण्ड है तथापि उसे जानने पर ज्ञेय-पदार्थके जो भेद (अंश पहलू) किये जाते हैं उसे *निक्षेप* कहते हैं। और उस अंशको जाननेवाले ज्ञानको नय कहते हैं। निक्षेप नयका विषय है और नय निक्षेपका विषयी (विषय करनेवाला) है।

(२) निक्षेपके भेदोंकी व्याख्या—

नाम निक्षेप—गुण जाति या क्रियाकी अपेक्षा किये बिना किसीका यथेच्छ नाम रख लेना सो नाम निक्षेप है। जैसे *किसीका नाम 'जिनदत्त'* रखा' किन्तु वह जिनदेवके द्वारा दिया हुआ नहीं है, तथापि लोकव्यवहार (पहचानने) के लिये उसका 'जिनदत्त' नाम रखा गया है। *एकमात्र* वस्तु की पहिचानके लिये उसकी जो संज्ञा रख ली जाती है उसे नाम निक्षेप कहते हैं।

स्थापना निक्षेप—किसी अनुपस्थित (अविद्यमान) वस्तुका किसी दूसरी उपस्थित वस्तुमें संबंध या मनोभावनाको जोड़कर आरोप कर देना कि 'यह वही है' सो ऐसी भावनाको स्थापना कहा जाता है। जहाँ ऐसा आरोप होता है वहाँ जीवोंको ऐसी मनोभावना होने लगती है कि यह वही है'।

स्थापना दो प्रकारकी होती है—तदाकार और अतदाकार। जिस पदार्थका जैसा आकार हो वैसा आकार उसकी स्थापनामें करना सो तदाकार स्थापना' है। और चाहे जैसा आकार कर लेना सो 'अतदाकार स्थापना' है। सदृशताको स्थापना निक्षेपका कारण नहीं मान लेना चाहिये उसका कारण तो केवल मनोभावना ही है। जनसमुदायकी यह मानसिक भावना जहाँ होती है वहाँ स्थापना निक्षेप समझना चाहिये। वीतराग-प्रतिमाको देखकर बहुतसे जीवोंके भगवान और उनकी वीतरागताकी मनोभावना होती है इसलिये वह स्थापना निक्षेप है। *

* नाम निक्षेप और स्थापना निक्षेपमें यह अन्तर है कि—नाम निक्षेपमें पूज्य अपूज्यका व्यवहार नहीं होता और स्थापना निक्षेपमें यह व्यवहार होता है।

द्रव्य निक्षेप—भूत और भविष्यत् पर्यायकी मुख्यताको लेकर उसे वर्तमानमे कहना-जानना सो द्रव्य निक्षेप है। जैसे श्रेणिक राजा भविष्यमे तीर्थंकर होगे, उन्हे वर्तमानमे तीर्थंकर कहना-जानना, और भूतकालमे हो गये भगवान महावीरादि तीर्थंकरोको वर्तमान तीर्थंकर मानकर स्तुति करना, सो द्रव्य निक्षेप है।

भाव निक्षेप—केवल वर्तमान पर्यायकी मुख्यतासे जो पदार्थ वर्तमान जिस दशामे है उसे उसरूप कहना-जानना सो भाव निक्षेप है। जैसे सीमधर भगवान वर्तमान तीर्थंकरके रूपमे महाविदेहमे विराजमान हैं उन्हे तीर्थंकर कहना-जानना, और भगवान महावीर वर्तमानमे सिद्ध हैं। उन्हे सिद्ध कहना-जानना सो भाव निक्षेप है।

(४) जहाँ 'सम्यग्दर्शनादि' या 'जीवाजीवादि' शब्दोका प्रयोग किया गया हो वहा कौनसा निक्षेप लागू होता है, सो निश्चय करके जीवको सच्चा अर्थ समझ लेना चाहिये। सूत्र १ मे 'सम्यग्दर्शन–ज्ञान चारित्राणि' तथा मोक्षमार्ग वह शब्द तथा सूत्र २, मे सम्यग्दर्शन वह शब्द भावनिक्षेपसे कहा है ऐसा समझना चाहिये।

(५) स्थापनानिक्षेप और द्रव्यनिक्षेपमें भेद—

"In Sthapana the connotation is merely attributed It is never there. It cannot be there. In dravya it will be there or has been there. The common factor between the two is that it is not there now, and to that extent connotation is fictitious in both." (English Tatvarth Sutram, page–11)

अर्थ—स्थापनानिक्षेपमें—बताना मात्र आरोपित है, उसमे वह (मूल वस्तु) कदापि नही है, वह वहाँ कदापि नही हो सकती। और **द्रव्यनिक्षेपमें** वह (मूल वस्तु) भविष्यमे प्रगट होगी अथवा भूतकालमे थी। दोनोंके वीच सामान्यता इतनी है कि–वर्तमानकालमें वह दोनोमें विद्यमान नही है, और उतने अशमें दोनोमें आरोप है। [–तत्त्वार्थसूत्र अग्रेजी टीका, पृष्ठ ११]

(६) पांचवें सूत्रका सिद्धान्त—

भगवानके नामनिक्षेप और स्थापनानिक्षेप शुभभावके निमित्त हैं, इसलिये व्यवहार हैं। द्रव्यनिक्षेप निश्चयपूर्वक व्यवहार होनेसे अपनी शुद्ध पर्याय थोड़े समयके पश्चात् प्रगट होगी यह सूचित करता है। भावनिक्षेप निश्चय पूर्वक अपनी शुद्ध पर्याय होनेसे धर्म है, ऐसा समझना चाहिये। निश्चय और व्यवहारनयका स्पष्टीकरण इसके बादके सूत्रकी टीकामें किया गया है ॥५॥

निश्चय सम्यग्दर्शनादि जाननेका उपाय—

प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय और जीवादि तत्त्वोंका [अधिगमः] ज्ञान [प्रमाणनयैः] प्रमाण और नयोंसे होता है।

टीका

(१) प्रमाण—सच्चे ज्ञानको–निर्दोषज्ञानको अर्थात् सम्यग्ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। अनन्तगुणों या धर्मका समुदायरूप अपना तथा परवस्तुका स्वरूप प्रमाण द्वारा जाना जाता है। प्रमाण वस्तुके सर्वदेशको (सब पहलुओंको) ग्रहण करता है—जानता है।

नय—प्रमाण द्वारा निश्चित् हुई वस्तुके एकदेशको जो ज्ञान ग्रहण करता है उसे नय कहते हैं। जो प्रमाण द्वारा निश्चित हुये अनन्तधर्मात्मक वस्तुके एक एक अंगका ज्ञान मुख्यतासे कराता है सो नय है। वस्तुओंमें अनंत धर्म हैं इसलिये उनके अवयव अनन्त तक हो सकते हैं और इसलिये अवयवके ज्ञानरूप नय भी अनन्त तक हो सकते हैं। श्रुतप्रमाणके विकल्प, भेद या अंशको नय कहते हैं। श्रुतज्ञानमें ही नयरूप अंश होता है। जो नय है वह प्रमाणसापेक्ष होता है। (मति अवधि मनःपर्यय और केवल ज्ञानमें नयके भेद नहीं होते।)

(2) "Right belife is not identical with blind faith, It s authority is neither external nor autocratic It is rea

soned knowledge It is a sort of a sight of a thing You cannot doubt it's testimony So long as there is doubt, there is no right belief But doubt must not be suppressed, it must be destroyed. Things have not to be taken on trust They must be tested and tried by every one him-self. This sutra lays down the mode in which it can be done. It refers the inquirer to the first laws of thought and to the universal principles of all reasoning, that is to logic under the names of Praman and Naya (English Tatvarth Sutram, Page 15)

अर्थ—सम्यग्दर्शन अघश्रद्धाके साथ एकरूप नही है उसका अधिकार आत्माके बाहर या स्वच्छदी नही है, वह युक्तिपुरस्सर ज्ञानसहित होता है, उसका प्रकार वस्तुके दर्शन (देखने) समान है आप उसके साक्षीपनाकी शका नही कर सकते जहाँ तक (स्वस्वरूपकी) शका है वहाँ तक सच्ची मान्यता नही है। उस शकाको दबाना नही चाहिये, किन्तु उसका नाश करना चाहिये। [किसीके] भरोसेपर वस्तुका ग्रहण नही किया जाता। प्रत्येकको स्वय स्वत उसकी परीक्षा करके उसके लिये यत्न करना चाहिये। वह कैसे हो सकता है, सो यह सूत्र बतलाता है। विचारकताके प्राथमिक नियम तथा समस्त युक्तिमान् विश्वके सिद्धान्तोको प्रमाण और नयका नाम देकर उसका आश्रय लेनेके लिये सत्यशोधकको यह सूत्र सूचित करता है। [अग्रेजी तत्त्वार्थ सूत्र पृष्ठ १५]

(३) युक्ति—

प्रमाण और नयकी युक्ति कहते हैं। सत्‌शास्त्रका ज्ञान आगमज्ञान है। आगममे वर्णित तत्त्वोकी यथार्थता युक्ति द्वारा निश्चित किये बिना तत्त्वोके भावोका यथार्थ भास नही होता। इसलिये यहाँ युक्ति द्वारा निर्णय करनेका कहा है।

(४) अनेकान्त एकान्त–

इन शास्त्रोंमें अनेकान्त और एकान्त शब्दोंका खूब प्रयोग किया गया है इसलिये उनका संक्षिप्त स्वरूप यहाँ दिया जा रहा है।

अनेकान्त=[अनेक+अन्त] अनेक धर्म।

एकान्त=[एक+अन्त] एक धर्म।

अनेकान्त और एकान्त दोनोंके दो-दो भेद हैं। अनेकान्तके दो भेद सम्यक-अनेकान्त और मिथ्या-अनेकान्त तथा एकान्तके दो भेद–सम्यक एकान्त और मिथ्या एकान्त हैं। इनमेंसे सम्यक अनेकान्त प्रमाण है और मिथ्या-अनेकान्त प्रमाणाभास तथा सम्यक एकान्त नय है और मिथ्या एकान्त नयाभास है।

(५) सम्यक् और मिथ्या अनेकान्तका स्वरूप—

प्रत्यक्ष अनुमान तथा आगमप्रमाणसे अविरुद्ध एक वस्तुमें जो अनेक धर्म हैं उन्हें निरूपण करनेमें जो तत्पर है सो सम्यक् अनेकान्त है। प्रत्येक वस्तु निजरूपसे है और पररूपसे नहीं। आत्मा स्व-स्वरूपसे है,–पर स्वरूपसे नहीं पर उसके स्वरूपसे है और आत्माके स्वरूपसे नहीं–इसप्रकार जानना सो सम्यक अनेकान्त है। और जो तत् अतत् स्वभावकी मिथ्या कल्पना की जाती है सो मिथ्या अनेकान्त है। जीव अपना कुछ कर सकता है और दूसरे जीवोंका भी कर सकता है–इसमें जीवका निजसे और परसे–दोनोंसे उत्पन्न हुआ इसलिये वह मिथ्या अनेकान्त है।

(६) सम्यक् और मिथ्या अनेकान्तके दृष्टान्त—

१–आत्मा निजरूपसे है और पररूपसे नहीं, ऐसा जानना सो सम्यक अनेकान्त है। आत्मा निजरूपसे है और पररूपसे भी है ऐसा जानना सो मिथ्या अनेकान्त है।

२–आत्मा अपना कुछ कर सकता है शरीरादि पर वस्तुओंका कुछ नहीं कर सकता–ऐसा जानना सो सम्यक अनेकान्त है। आत्मा अपना कर सकता है और शरीरादि परका भी कर सकता है ऐसा जानना सो मिथ्या अनेकान्त है।

३–आत्माके शुद्धभावसे धर्म होता है और शुभ भावसे नही होता, ऐसा जानना सो सम्यक् अनेकान्त है। आत्माके शुद्ध भावसे धर्म होता है और शुभ भावसे भी होता है, ऐसा जानना सो मिथ्या अनेकान्त है।

४–निश्चय स्वरूपके आश्रयसे धर्म होता है और व्यवहारके आश्रय से नही होता, ऐसा जानना सो सम्यक् अनेकान्त है। निश्चय स्वरूपके आश्रयसे धर्म होता है और व्यवहारके आश्रयसे भी होता है, ऐसा समझना सो मिथ्या अनेकान्त है।

५–निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट करनेके वाद स्वावलम्बनके वलसे जितना अश व्यवहारका (-पराश्रयका) अभाव होता है उतना अश निश्चय (-शुद्ध पर्याय) प्रगट होता है, ऐसा समझना सो सम्यक् अनेकान्त है। व्यवहारके करते २ निश्चय प्रगट हो जाता है, ऐसा समझना सो मिथ्या अनेकान्त है।

६–आत्माको अपनी शुद्ध क्रियासे लाभ होता है, और शारीरिक क्रियासे हानि-लाभ नही होता, ऐसा जानना सो सम्यक् अनेकान्त है। आत्माको अपनी शुद्ध क्रियासे लाभ होता है और शारीरिक क्रियासे भी लाभ होता है, ऐसा मानना सो मिथ्या अनेकान्त है।

७–एक (प्रत्येक) वस्तुमे सदा स्वतत्र वस्तुत्वको सिद्ध करनेवाली परस्पर दो विरोधी शक्तियो [सत्-असत्, तत्-अतत्, नित्य-अनित्य, एक–अनेक इत्यादि] को प्रकाशित करे सो सम्यक् अनेकान्त है।

एक वस्तुमें दूसरी वस्तुकी शक्तिको प्रकाशित करके, एक वस्तु, दो वस्तुओका कार्य करती है,–ऐसा मानना सो मिथ्या अनेकात है, अथवा सम्यक् अनेकान्तसे वस्तुका जो स्वरूप निश्चित है उससे विपरीत वस्तु स्वरूपकी केवल कल्पना करके, जो उसमें न हो वैसे स्वभावोकी कल्पना करना सो मिथ्या अनेकान्त है।

८—जीव अपने भाव कर सकता है और पर वस्तुका कुछ नहीं कर सकता—ऐसा जानना सो सम्यक अनेकान्त है।

जीव सूक्ष्म पुद्गलोंका कुछ नहीं कर सकता, किन्तु स्थूल पुद्गलों का कर सकता है,—ऐसा जानना—सो मिथ्या अनेकान्त है।

(७) सम्यक् और मिथ्या एकान्तका स्वरूप—

निजस्वरूपसे अस्तिरूपता और पर-रूपसे नास्तिरूपता—आदि वस्तुका जो स्वरूप है उसकी अपेक्षा रखकर प्रमाणके द्वारा ज्ञात पदार्थके एक देशको (एक पहलूको) विषय करनेवाला नय सम्यक् एकान्त है; और किसी वस्तुके एक धर्मका निश्चय करके उस वस्तुमें रहनेवाले अन्य धर्मोंका निषेध करना सो मिथ्या एकान्त है।

(८) सम्यक् और मिथ्या एकान्तके दृष्टान्त—

१—'सिद्ध भगवन्त एकान्त सुखी हैं' ऐसा जानना सो सम्यक एकांत है, क्योंकि 'सिद्धजीवोंको बिलकुल दुःख नहीं है' यह बात गर्भितरूपसे उसमें आजाती है। और सर्व जीव एकान्त सुखी हैं—ऐसा जानना सो मिथ्या एकान्त है क्योंकि उसमें, अज्ञानी जीव वर्तमानमें दुःखी हैं उसका निषेध होता है।

२—'एकान्त बोधबीजरूप जीवका स्वभाव है' ऐसा जानना सो सम्यक् एकान्त है क्योंकि छद्मस्थ जीवकी वर्तमान ज्ञानावस्था पूर्ण विकासरूप नहीं है यह उसमें गर्भितरूपसे आजाता है।

४—'सम्यग्ज्ञान धर्म है' ऐसा जानना सो सम्यक् एकान्त है, क्योंकि 'सम्यग्ज्ञान पूर्वक वैराग्य होता है'—यह गर्भित रूपसे उसमें आजाता है। सम्यग्ज्ञान रहित 'त्याग मात्र धर्म है'—ऐसा जानना सो मिथ्या एकान्त है क्योंकि वह सम्यग्ज्ञान रहित होनेसे मिथ्या त्याग है।

(९) प्रमाणके प्रकार—

परोक्ष—उपात्त* और अनुपात्त— पर (पदार्थों) द्वारा प्रवर्ते वह परोक्ष (प्रमाणज्ञान) है।

प्रत्यक्ष—जो केवल आत्मासे ही प्रतिनिश्चिततया प्रवृत्ति करे सो प्रत्यक्ष है।

प्रमाण सच्चा ज्ञान है। उसके पाँच भेद हैं–मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवल। इनमेसे मति और श्रुत मुख्यतया परोक्ष हैं, अवधि और मन:पर्यय विकल (–आंशिक–एकदेश) प्रत्यक्ष हैं तथा केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है।

(१०) नयके प्रकार—

नय दो प्रकारके हैं–द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। इनमेसे जो द्रव्य-पर्यायस्वरूप वस्तुमे द्रव्यका मुख्यतया अनुभव करावे सो द्रव्यार्थिकनय है, और जो पर्यायका मुख्यतया अनुभव कराये सो पर्यायार्थिक नय है।

द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय क्या है ? गुणार्थिक नय क्यों नहीं ?

शास्त्रोमे अनेक स्थलो पर द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय का उल्लेख मिलता है, किन्तु कही भी 'गुणार्थिक नय' का प्रयोग नही किया गया है, इसका क्या कारण है ? सो कहते हैं—

तर्क-१—द्रव्यार्थिक नयके कहनेसे उसका विषय गुण, और पर्यायार्थिक नयके कहनेसे उसका विषय-पर्याय, तथा दोनो एकत्रित होकर जो प्रमाणका विषय-द्रव्य है सो सामान्य विशेषात्मक द्रव्य है, इसप्रकार मानकर गुणार्थिक नयका प्रयोग नही किया है,–यदि कोई ऐसा कहे तो यह ठीक नही है क्योकि अकेले गुण द्रव्यार्थिक नयका विषय नही है।

नोट —*उपात्त=प्राप्त, (इन्द्रिय, मन इत्यादि उपात्त पर पदार्थ हैं।
—अनुपात्त=अप्राप्त, (प्रकाश, उपदेश इत्यादि अनुपात्त पर पदार्थ हैं)

तर्क-२—द्रव्यार्थिक नयका विषय द्रव्य और पर्यायार्थिक नयका विषय पर्याय है, तथा पर्याय गुणका अंश होनेसे पर्यायमें गुण आगये यह मानकर गुणार्थिक नयका प्रयोग नहीं किया है यदि इसप्रकार कोई कहे तो ऐसा भी नहीं है क्योंकि पर्यायमें सम्पूर्ण गुणका समावेश नहीं हो जाता।

गुणार्थिक नयका प्रयोग न करनेका वास्तविक कारण—

शास्त्रोंमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक-दो नयोंका ही प्रयोग किया गया है। उन दोनों नयोंका वास्तविक स्वरूप यह है—

पर्यायार्थिक नयका विषय जीवकी अपेक्षित-बंध-मोक्षकी पर्याय है और उस (बंध-मोक्षकी अपेक्षा) से रहित त्रैकालिक शक्तिरूप गुण तथा त्रैकालिक शक्तिरूप निरपेक्ष पर्याय सहित त्रैकालिक जीवद्रव्य सामान्य वही द्रव्यार्थिक नयका विषय है,—इस अर्थमें शास्त्रोंमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयका प्रयोग किया गया है, इसलिये गुणार्थिक नयकी आवश्यकता नहीं रहती। जीवके अतिरिक्त पाँच द्रव्योंके त्रैकालिक ध्रुव स्वरूपमें भी उसके गुणोंका समावेश हो जाता है इसलिये पृथक् गुणार्थिक नयकी आवश्यकता नहीं है।

शास्त्रोंमें द्रव्यार्थिक नयका प्रयोग होता है इसमें गंभीर रहस्य है। द्रव्यार्थिक नयका विषय त्रैकालिक द्रव्य है, और पर्यायार्थिक नयके विषय क्षणिक पर्याय हैं। द्रव्यार्थिक नयके विषयमें पृथक गुण नहीं है क्योंकि गुणको पृथक् करके लक्षमें लेने पर विकल्प उठता है, और गुण भेद तथा विकल्प पर्यायार्थिक नयका विषय है। *

(११) द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नयके दूसरे नाम—

द्रव्यार्थिक नयको—निश्चय शुद्ध, सत्यार्थ परमार्थ, भूतार्थ स्वावलम्बी स्वाश्रित स्वतंत्र स्वाभाविक त्रैकालिक ध्रुव अभेद और स्वलक्षी नय कहा जाता है।

---

* नयका विशेष स्वरूप जानना हो तो प्रवचनसारके अन्तमें दिये गये ४७ नयोंका अभ्यास करना चाहिये।

पर्यायार्थिक नयको—व्यवहार, अशुद्ध, असत्यार्थ, अपरमार्थ, अभूतार्थ, परावलम्बी, पराश्रित, परतन्त्र, निमित्ताधीन, क्षणिक, उत्पन्नध्वसी, भेद और परलक्षी नय कहा जाता है।

(१२) सम्यग्दृष्टिके दूसरे नाम—

सम्यग्दृष्टिको द्रव्यदृष्टि, शुद्धदृष्टि, धर्मदृष्टि, निश्चयदृष्टि, परमार्थदृष्टि और अन्तरात्मा आदि नाम दिये गये हैं।

(१३) मिथ्यादृष्टिके दूसरे नाम—

मिथ्यादृष्टिको पर्यायबुद्धि, सयोगीबुद्धि, पर्यायमूढ, व्यवहारदृष्टि, व्यवहारमूढ, ससारदृष्टि, परावलबी बुद्धि, पराश्रितदृष्टि और बहिरातमा आदि नाम दिये गये हैं।

(१४) ज्ञान दोनों नयोंका करना चाहिये, किन्तु उसमें परमार्थतः आदरणीय निश्चय नय है,—ऐसी श्रद्धा करना चाहिये

व्यवहारनय स्वद्रव्य, परद्रव्य अथवा उसके भावोको या कारण-कार्यादिको किसीका किसीमे मिलाकर निरूपण करता है, इसलिये ऐसे ही श्रद्धानसे मिथ्यात्व होता है, अतः उसका त्याग करना चाहिये।

निश्चयनय स्वद्रव्य–परद्रव्यको अथवा उसके भावोको या कारण-कार्यादिको यथावत् निरूपण करता है, तथा किसीको किसीमे नही मिलाता इसलिये ऐसे ही श्रद्धानसे सम्यक्त्व होता है, अत' उसका श्रद्धान करना चाहिये। इन दोनो नयोको समकक्षी (–समान कोटिका) मानना सो मिथ्यात्व है।

(१५) व्यवहार और निश्चयका फल—

वीतराग कथित व्यवहार, अशुभसे बचाकर जीवको शुभभावमे ले जाता है, उसका दृष्टान्त द्रव्यलिंगी मुनि है। वे भगवानके द्वारा कथित व्रतादिका निरतिचार पालन करते हैं, इसलिये शुभभावके कारण नववें ग्रैवेयक जाते हैं, किन्तु उनका ससार बना रहता है। और भगवानके द्वारा

कथित निश्चय शुभ और अशुभ दोनोंसे बचाकर जीवको शुद्धभावमें—मोक्ष में ले जाता है, उसका दृष्टान्त सम्यग्दृष्टि है जो कि नियमतः मोक्ष प्राप्त करता है।

(१६) शास्त्रोंमें दोनों नयोंको ग्रहण करना कहा है, सो कैसे?

जैन शास्त्रोंका अर्थ करनेकी पद्धति—जैन शास्त्रोंमें वस्तुका स्वरूप समझानेके दो प्रकार हैं—निश्चयनय और व्यवहारनय।

(१) निश्चयनय अर्थात् वस्तु सत्यार्थरूपमें जैसी हो उसीप्रकार कहना; इसलिये निश्चयनयकी मुख्यतासे जहाँ कथन हो वहाँ उसे तो 'सत्यार्थ ऐसा ही है' यों जानना चाहिये, और—

(२) व्यवहारनय अर्थात् वस्तु सत्यार्थरूपसे वैसी न हो किन्तु पर वस्तुके साथका सम्बन्ध बतलानेके लिये कथन हो; जैसे—'घी का घड़ा।' यद्यपि घड़ा घीका नहीं किन्तु मिट्टीका है, तथापि घी और घड़ा दोनों एक साथ हैं यह बतानेके लिये उसे घीका घड़ा कहा जाता है। इसप्रकार जहाँ व्यवहारसे कथन हो वहाँ यह समझना चाहिये कि '**वास्तवमें तो ऐसा नहीं है, किन्तु निमित्तादि बतलानेके लिये उपचारसे वैसा कथन है।**'

दोनों नयोंके कथनको सत्यार्थ जानना अर्थात् इसप्रकार भी है और इसप्रकार भी है ऐसा मानना सो भ्रम है। इसलिये निश्चय कथनको सत्यार्थ जानना चाहिये व्यवहार कथनको नहीं; प्रत्युत यह समझना चाहिये कि वह निमित्तादिको बतानेवाला कथन है ऐसा समझना चाहिये।

इसप्रकार दोनों नयोंके कथनका अर्थ करना सो दोनों नयोंका ग्रहण है। दोनोंको समकक्ष अथवा आदरणीय मानना सो भ्रम है। सत्यार्थको ही आदरणीय मानना चाहिये।

[नय=श्रुतज्ञानका एक पहलू; निमित्त=विद्यमान अनुकूल परवस्तु]

(मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३७२–३७३ के आधार से)

(१७) निश्चयाभासीका स्वरूप—

जो जीव आत्माके त्रकालिक स्वरूपको स्वीकार करे किन्तु यह

स्वीकार न करे कि अपनी भूलके कारण वर्तमान पर्यायमे निजके विकार है वह निश्चयाभासी है उसे शुष्कज्ञानी भी कहते हैं।

(१८) व्यवहाराभासीका स्वरूप—

प्रथम व्यवहार चाहिये, व्यवहार करते २ निश्चय (धर्म) होता है ऐसा मानकर शुभराग करता है परन्तु अपना त्रैकालिक ध्रुव (ज्ञायकमात्र) स्वभावको नही मानता और न अन्तर्मुख होता है ऐसे जीवको सच्चे देव-शास्त्र-गुरु तथा सप्त तत्त्वोकी व्यवहार-श्रद्धा है तो भी अनादिकी निमित्त तथा व्यवहार (भेद-पराश्रय) की रुचि नही छोडता और सप्त तत्त्वकी निश्चय श्रद्धा नही करता इसलिये वह व्यवहाराभासी है, उसे क्रिया-जड भी कहते है और जो यह मानता है कि शारीरिक क्रियासे धर्म होता है वह व्यवहाराभाससे भी अति दूर है।

(१९) नयके दो प्रकार—

नय दो प्रकारके है—'रागसहित' और 'रागरहित'। आगमका प्रथम अभ्यास करने पर नयोका जो ज्ञान होता है वह 'रागसहित' नय है। वहाँ यदि जीव यह माने कि उस रागके होनेपर भी **रागसे धर्म नहीं होता** तो वह नयका ज्ञान सच्चा है। किन्तु यदि यह माने कि रागसे धर्म होता है, तो वह ज्ञान नयाभास है। दोनो नयोका यथार्थ ज्ञान करनेके बाद जीव अपने पर्याय परका लक्ष छोडकर अपने त्रैकालिक शुद्ध चैतन्यस्वभाव की ओर लक्ष करे, स्वसन्मुख हो, तब सम्यग्दर्शनादि शुभभाव प्रगट होते है इसलिये वह नय रागरहित नय है, उसे 'शुद्ध नयका आश्रय अथवा शुद्धनय का अवलबन' भी कहा जाता है, उस दशाको '**नयातिक्रांत**' भी कहते हैं। उसीको सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहा जाता है, और उसीको 'आत्मानुभव' भी कहते हैं।

(२०) प्रमाणसप्तभंगी—नयसप्तभंगी—

सप्तभगीके दो प्रकार हैं। सप्तभगका स्वरूप चौथे अध्यायके उपसहार मे दिया गया है, वहाँसे समझ लेना चाहिये। दो प्रकारकी सप्तभगीमेसे जिस सप्तभगीसे एक गुण या पर्यायके द्वारा सम्पूर्ण द्रव्य जाना जाय वह

'प्रमाण-सप्तभंगी' है, और जिस सप्तभंगीसे कथित गुण अथवा पर्यायके द्वारा उस गुण अथवा पर्यायका ज्ञान हो वह 'नय-सप्तभंगी' है। इस सप्तभंगीका ज्ञान होने पर प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है, और एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता—ऐसा निश्चय होने से, अनादिकालीन विपरीत मान्यता टल जाती है।

(२१) वीतरागी-विज्ञानका निरूपण—

जैन शास्त्रोंमें अनेकान्तरूप यथार्थ जीवादि तत्त्वोंका निरूपण है तथा सच्चा (–निश्चय) रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग बताया है, इसलिये यदि जीव उसकी पहिचान कर ले तो वह मिथ्यादृष्टि न रहे। इसमें वीतरागभावकी पुष्टिका ही प्रयोजन है रागभाव (पुण्य-पापभाव) की पुष्टिका प्रयोजन नहीं है, इसलिये जो ऐसा मानते हैं कि रागसे–पुण्यसे धर्म होता है वे जैन शास्त्रोंके मर्मको नहीं जानते।

(२२) मिथ्यादृष्टिके नय—

जो मनुष्य शरीरको अपना मानता है और ऐसा मानता है कि मैं मनुष्य हूँ जो शरीर है वह मैं हूँ अथवा शरीर मेरा है अर्थात् जीव शरीर का कोई कार्य कर सकता है ऐसा माननेवाला जीव आत्मा और अनन्त रजकणोंको एकरूप माननेके कारण (अर्थात् अनन्तके मिलापको एक माननेके कारण) मिथ्यादृष्टि है और उसका ज्ञान भी यथार्थमें कुनय है। ऐसी मान्यता पूर्वक प्रवर्तना कि मैं मनुष्य हूँ यह उसका (मिथ्यादृष्टिका) व्यवहार है इसलिये यह व्यवहार-कुनय है वास्तवमें तो उस व्यवहारको निश्चय मानता है। जैसे 'जो शरीर है सो मैं हूँ' इस दृष्टान्तमें शरीर पर है, वह जीवके साथ मात्र एक क्षेत्रावगाही है तथापि उसको अपना रूप माना इसलिये उसने व्यवहारको निश्चय समझा। वह ऐसा भी मानता है कि "जो मैं हूँ सो शरीर है" इसलिए उसने निश्चयको व्यवहार माना है। जो ऐसा मानता है कि पर द्रव्योंका मैं कर सकता हूँ और पर अपनेको लाभ नुकसान कर सकता है वह मिथ्यादृष्टि है—एकांती है।

(२३) सम्यग्दृष्टिके नय—

समस्त सम्यक् विद्याके मूलरूप अपने भगवान आत्माके स्वभावको प्राप्त होना, आत्मस्वभावकी भावनामे जुटना और स्व द्रव्यमे एकताके बलसे आत्म स्वभावमे स्थिरता बढाना सो सम्यक् अनेकांतदृष्टि है। सम्यक्-दृष्टि जीव अपने एकरूप—ध्रुव स्वभावरूप आत्माका आश्रय करता है यह उसका निश्चय—सुनय है और अचलित चैतन्य विलासरूप जो आत्म व्यवहार (शुद्धपर्याय) प्रगट होता है सो उसका व्यवहार सुनय है।

(२४) नीतिका स्वरूप—

प्रत्येक वस्तु स्वद्रव्य, स्व क्षेत्र, स्वकाल और स्व-भावकी अपेक्षासे है और परवस्तुके द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षासे वह वस्तु नही है, इसलिये प्रत्येक वस्तु अपना ही कार्य कर सकती है ऐसा जानना सो यथार्थ नीति है। जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा गया अनेकान्त स्वरूप तथा प्रमाण और निश्चय व्यवहाररूप नय ही यथार्थ नीति है। जो सत्पुरुष अनेकान्तके साथ सुसगत (समीचीन) दृष्टिके द्वारा अनेकांतमय वस्तुस्थितिको देखते हैं वे स्याद्वादकी शुद्धिको प्राप्त कर—जानकर **जिननीतिको** अर्थात् जिनेश्वरदेवके मार्गको—न्यायको उल्लघन न करते हुये ज्ञानस्वरूप होते हैं।

नोट—(१) अनेकातको समझानेकी रीतिको स्याद्वाद कहा है। (२) सम्यक् अनेकान्तको प्रमाण कहा जाता है, यह सक्षिप्त कथन है। वास्तवमें जो सम्यक् अनेकातका ज्ञान है सो प्रमाण है, उसीप्रकार सम्यक् एकान्तको नय कहते हैं वास्तवमें जो सम्यक् एकान्तका ज्ञान है सो नय है।

(२५) निश्चय और व्यवहारका दूसरा अर्थ—

अपना द्रव्य और अपनी शुद्ध या अशुद्ध पर्याय बतानेके लिये भी निश्चय प्रयुक्त होता है, जैसे सर्व जीव द्रव्य अपेक्षासे सिद्ध परमात्मा समान हैं आत्माकी सिद्ध पर्यायको निश्चय पर्याय कहते हैं और आत्मामे होनेवाले विकारीभावको निश्चय बंध कहा जाता है।

योग आदि चौदह मार्गणाओंमें किसजगह किस तरहका सम्यग्दर्शन होता है और किस तरहका नहीं ऐसा विशेष ज्ञान सत्से होता है, निर्देशसे ऐसा ज्ञान नहीं होता यही सत् और निर्देशमें अन्तर है।

इस सूत्रमें सत् शब्दका प्रयोग किसलिये किया है ?

अनधिकृत पदार्थोंका भी ज्ञान करा सकनेकी सत् शब्दकी सामर्थ्य है। यदि इस सूत्रमें सत् शब्दका प्रयोग न किया होता तो आगामी सूत्रमें सम्यग्दर्शन आदि तथा जीवादि सात तत्त्वोंके ही अस्तित्वका ज्ञान निर्देश शब्दके द्वारा होता और जीवके क्रोध मान आदि पर्याय तथा पुद्गलके वर्ण गंध आदि तथा घट पट आदि पर्याय (जिनका यह अधिकार नहीं है) के अस्तित्वके अभावका ज्ञान होता इसलिये इस समय अनधिकृत पदार्थ जीव में क्रोधादि तथा पुद्गलमें वर्णादिका ज्ञान करानेके लिये इस सूत्रमें सत् शब्दका प्रयोग किया है।

संख्या और विधानमें अंतर

प्रकारकी गणनाको विधान कहते हैं और उस भेदकी गणनाको संख्या कहते हैं। जैसे सम्यग्दृष्टि तीन तरहके हैं (१) औपशमिक सम्यग्दृष्टि (२) क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि। 'संख्या' शब्दसे भेद गणनाका ज्ञान होता है कि उक्त तीन प्रकारके सम्यग्दृष्टियोंमें औपशमिक सम्यग्दृष्टि कितने हैं क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि कितने हैं अथवा क्षायिक सम्यग्दृष्टि कितने हैं भेदोंके गणनाकी विशेषताको बतलानेका जो कारण है उसे संख्या कहते हैं।

'विधान' शब्दमें मूलपदार्थके ही भेद ग्रहण किये हैं, इसीलिये भेदोंके अनेक तरहके भेदोंको ग्रहण करनेके लिये संख्या शब्द का प्रयोग किया है।

'विधान' शब्दके कहनेसे भेद प्रभेद आजाते हैं ऐसा माना जाय तो विशेष स्पष्टताके लिये संख्या शब्दका प्रयोग किया गया है ऐसा समझना

क्षेत्र और अधिकरणमें अंतर

अधिकरण शब्द थोडे स्थानको बतलाता है इसीसे वह व्याप्य है और क्षेत्र शब्द व्यापक है, वह अधिक स्थानको बतलाता है। 'अधिकरण' शब्दके कहनेमे सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान नही होता, क्षेत्रके कहनेसे सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान होता है, इसलिये समस्त पदार्थोंके ज्ञान करानेके लिये इस सूत्रमे क्षेत्र शब्दका प्रयोग किया है।

क्षेत्र और स्पर्शनमें अंतर

'क्षेत्र' शब्द अधिकरणसे विशेषता बतलाता है तो भी उसका विषय एक देशका है और 'स्पर्शन' शब्द सर्वदेशका विषय करता है। जैसे किसीने पूछा कि 'राजा कहाँ रहता है' उत्तर दिया कि 'फलाने नगरमे रहता है', यहाँ यद्यपि राजा सपूर्ण नगरमे नही रहता किन्तु नगरके एकदेशमे रहता है इसलिये नगरके एक देशमे राजाका निवास होनेसे 'नगर' क्षेत्र है। किसीने पूछा कि 'तेल कहाँ है ?' उत्तर दिया कि 'तिलमे तेल रहता है' यहाँ संपूर्ण स्थानमे तेल रहनेके कारण तिल तैलका स्पर्शन है, इसतरह क्षेत्र और स्पर्शनमे अतर है।

क्षेत्र वर्तमान कालका विषय है और स्पर्शन त्रिकालगोचर विषय है। वर्तमानकी दृष्टिसे घडेमें जल है किन्तु वह त्रिकाल नही है। तीनो कालमे जिस जगह पदार्थकी सत्ता रहती है उसे स्पर्शन कहते हैं। यह दूसरी तरह से क्षेत्र और स्पर्शनके बीच अन्तर है।

काल और स्थितिमें अंतर

'स्थिति' शब्द कुछ पदार्थोंके कालकी मर्यादा बतलाता है, यह शब्द व्याप्य है। 'काल' शब्द व्यापक है और यह समस्त पदार्थोंकी मर्यादाको बतलाता है। 'स्थिति' शब्द कुछ ही पदार्थोंका ज्ञान कराता है और 'काल' शब्द समस्त पदार्थोंका ज्ञान कराता है। कालके दो भेद हैं (१) निश्चय-काल (२) व्यवहारकाल। मुख्य कालको निश्चयकाल कहते हैं और पर्याय विशिष्ट पदार्थोंकी मर्यादा बतलानेवाला अर्थात् घण्टा घडी पल आदि व्यव-

हारकाल है। कालकी मर्यादाको स्थिति कहते हैं अर्थात् 'स्थिति' शब्द इस बातको बतलाता है कि अमुक पदार्थ, अमुक स्थानपर इतने समय रहता है, इतना काल और स्थितिमें अंतर है।

'भाव' शब्दका निक्षेपके सूत्रमें उल्लेख होने पर भी यहाँ किसलिये कहा है ?

निक्षेपके सूत्र ५ वें में भावका अर्थ यह है कि वर्तमानमें जो अवस्था मौजूद हो उसे भाव निक्षेप समझना और भविष्यमें होनेवाली अवस्थाको वर्तमानमें कहना सो द्रव्य निक्षेप है। यहाँ ८ वें सूत्रमें 'भाव' शब्दसे औपशमिक क्षायिक आदि भावोंका ग्रहण किया है जैसे औपशमिक भी सम्यग्दर्शन है और क्षायिक आदि भी सम्यग्दर्शन कहे जाते हैं। इसप्रकार दोनों जगह (५ वें और ८ वें सूत्रमें) भाव शब्दका पृथक प्रयोजन है।

विस्तृत वर्णनका प्रयोजन

कितने ही शिष्य अल्प कथनसे विशेष तात्पर्यको समझ लेते हैं और कितने ही शिष्य ऐसे होते हैं कि विस्तारपूर्वक कथन करने पर समझ सकते हैं। परम कल्याणमय आचार्यका सभीको तत्त्वोंका स्वरूप समझानेका उद्देश है। प्रमाण नयसे ही समस्त पदार्थोंका ज्ञान हो सकता है तथापि विस्तृत् कथनसे समझ सकने वाले जीवोंको निर्देश आदि तथा सत् संख्यादिकका ज्ञान कराने के लिये पृथक २ सूत्र कहे हैं। ऐसी शंका ठीक नहीं है कि एक सूत्रमें दूसरेका समावेश हो जाता है इसलिये विस्तारपूर्वक कथन व्यर्थ है।

ज्ञान संबंधी विशेष स्पष्टीकरण

प्रश्न—इस सूत्रमें ज्ञानके सत्-संख्यादि आठ भेद ही क्यों कहे गये हैं, कम या अधिक क्यों नहीं कहे गये ?

उत्तर—निम्नलिखित आठ प्रकारका निषेध करनेके लिये वे आठ भेद कहे गये हैं:—

१—नास्तिक कहता है कि कोई वस्तु है ही नहीं। इसलिये 'सत्' को सिद्ध करनेसे उस नास्तिकके तर्क खंडित करदी गई है।

२–कोई कहता है कि 'वस्तु' एक ही है, उसमे किसी प्रकारके भेद नही हैं। 'सख्या' को सिद्ध करनेसे यह तर्क खंडित करदी गई है।

३–कोई कहता है कि–'वस्तुके प्रदेश (आकार) नही है'। 'क्षेत्र' के सिद्ध करनेसे यह तर्क खडित करदी गई है।

४–कोई कहता है कि 'वस्तु क्रिया रहित है'। स्पर्शन, के सिद्ध करनेसे यह तर्क खडित करदी गई है। [नोट –एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जाना सो क्रिया है]

५–'वस्तुका प्रलय (सर्वथा नाश) होता है' ऐसा कोई मानता है। 'काल' के सिद्ध करनेसे यह तर्क खंडित करदी गई है।

६–कोई यह मानता है कि 'वस्तु क्षणिक है'। 'अतर' के सिद्ध करने से यह तर्क खडित करदी गई है।

७–कोई यह मानता है कि 'वस्तु कूटस्थ है'। 'भाव' के सिद्ध करने से यह तर्क खडित करदी गई है। [जिसकी स्थिति न बदले उसे कूटस्थ कहते हैं।]

८–कोई यह मानता है कि 'वस्तु सर्वथा एक ही है अथवा वस्तु सर्वथा अनेक ही है'। 'अल्पबहुत्व'–के सिद्ध करनेसे यह तर्क खडित करदी गई है। [देखो प्रश्नोत्तर सर्वार्थसिद्धि पृ० २७७–२७८]

सूत्र ४ से ८ तकका तात्पर्यरूप सिद्धान्त

जिज्ञासु जीवोको जीवादि द्रव्य तथा तत्त्वोंका जानना, छोड़ने योग्य मिथ्यात्व-रागादि तथा ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शनादिकके स्वरूपकी पहिचान करना, प्रमाण और नयोके द्वारा तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति करना तथा निर्देश स्वामित्वादि और सत् सख्यादिके द्वारा उनका विशेष जानना चाहिये।

अब सम्यग्ज्ञानके भेद कहते हैं:—

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥

अर्थ—मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पाँच [ज्ञानम्] ज्ञान हैं।

टीका

(१) मतिज्ञान–पाँच इन्द्रियों और मनके द्वारा (अपनी शक्तिके अनुसार) जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं।

श्रुतज्ञान–मतिज्ञानके द्वारा जाने हुये पदार्थको विशेषरूपसे जानना सो श्रुतज्ञान है।

अवधिज्ञान–जो द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी मर्यादा सहित इंद्रिय या मनके निमित्तके बिना रूपी पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

मनःपर्ययज्ञान–जो द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी मर्यादा सहित इन्द्रिय अथवा मनकी सहायताके बिना ही दूसरे पुरुषके मनमें स्थित रूपी पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानता है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं।

केवलज्ञान–समस्त द्रव्य और उनकी सर्व पर्यायोंको एक साथ प्रत्यक्ष जाननेवाले ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं।

(२) इस सूत्रमें 'ज्ञानम्' शब्द एक वचनका है वह यह बतलाता है कि ज्ञानगुण एक है और उसकी पर्यायके ये ५ भेद हैं। इनमें जब एक प्रकार उपयोगरूप होता है तब दूसरा प्रकार उपयोगरूप नहीं होता इसी लिये इन पाँचमेंसे एक समयमें एक ही ज्ञानका प्रकार उपयोगरूप होता है।

सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है सम्यग्दर्शन कारण और सम्यग्ज्ञान कार्य है। सम्यग्ज्ञान आत्माके ज्ञानगुणकी शुद्ध पर्याय है, यह आत्मासे कोई भिन्न वस्तु नहीं है। सम्यग्ज्ञानका स्वरूप निम्न प्रकार है —

"सम्यग्ज्ञानं पुनः स्वार्थ व्यवसायात्मकं विदुः"

(तत्वार्थसार पूर्वार्ध गाथा १८ पृष्ठ १४)

अर्थ—जिस ज्ञानमे स्व=अपना स्वरूप, अर्थ=विषय, व्यवसाय= यथार्थ निश्चय, ये तीन बातें पूरी हो उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं अर्थात् जिस ज्ञानमे विषय प्रतिबोधके साथ साथ स्वस्वरूप प्रतिभासित हो और वह भी यथार्थ हो तो उस ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

नवमें सूत्रका सिद्धान्त

श्री जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्ररूपित ज्ञानके समस्त भेदोको जानकर परभावोको छोडकर और निजस्वरूपमे स्थिर होकर जीव जो चैतन्य चमत्कार मात्र है उसमे प्रवेश करता है वह तत्क्षण ही मोक्षको प्राप्त करता है।

(श्री नियमसार गाथा १० की टीकाका श्लोक) ॥ ९ ॥

कौनसे ज्ञान प्रमाण हैं ?

तत्प्रमाणे ॥ १० ॥

अर्थ—[तत्] उपरोक्त पाँचो प्रकारके ज्ञान ही [**प्रमाणे**] प्रमाण (सच्चे ज्ञान) हैं।

टीका

नवमे सूत्रमे कहे हुये पाँचो ज्ञान ही प्रमाण हैं, अन्य कोई ज्ञान प्रमाण नही है। प्रमाणके दो भेद हैं प्रत्यक्ष और परोक्ष। यह ध्यान रहे कि इन्द्रियाँ अथवा इन्द्रियो और पदार्थोंके सम्बन्ध (सन्निकर्ष) ये कोई प्रमाण नही हैं अर्थात् न तो इन्द्रियोसे ज्ञान होता है और न इन्द्रियो और पदार्थोंके सम्बन्धसे ज्ञान होता है किन्तु उपरोक्त मति आदि ज्ञान स्वसे होते हैं इसलिये ज्ञान प्रमाण हैं।

प्रश्न—इन्द्रियाँ प्रमाण हैं क्योकि उनके द्वारा ज्ञान होता है ?

उत्तर—इन्द्रियाँ प्रमाण नही हैं क्योकि इन्द्रियाँ जड हैं और ज्ञान तो चेतनका पर्याय है, वह जड नही है इसलिये आत्माके द्वारा ही ज्ञान होता है। —श्री जयधवला पुस्तक भाग १ पृष्ठ ५४–५५

प्रश्न—क्या यह ठीक है न कि प्रस्तुत ज्ञेय पदार्थ हो तो उससे ज्ञान होता है ?

उत्तर—यह ठीक नहीं है यदि प्रस्तुत पदार्थ (ज्ञेय) और आत्मा इन दोनोंके मिलनेसे ज्ञान होता तो ज्ञाता और ज्ञेय इन दोनोंको ज्ञान होना चाहिये किन्तु ऐसा नहीं होता।

(सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ३१२)

यदि उपादान और निमित्त ये दो होकर एक कार्य करें तो उपादान और निमित्तकी स्वतंत्र सत्ता न रहे उपादान निमित्तका कुछ नहीं करते और न निमित्त उपादानका कुछ करता है। प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र रूपसे अपने अपने कारणसे अपने लिए उपस्थित होते हैं, ऐसा नियम होनेसे अपनी योग्यतानुसार निमित्त-उपादान दोनोंके कार्य स्वतन्त्र पृथक् पृथक होते हैं। यदि उपादान और निमित्त ये दोनों मिलकर काम करें तो दोनों उपादान हो जाय अर्थात् दोनोंकी एक सत्ता हो जाय किन्तु ऐसा नहीं होता।

इस सम्बन्धमें ऐसा नियम है कि अपूर्ण ज्ञानका विकास जिस समय अपना व्यापार करता है उस समय उसके योग्य बाह्य पदार्थ अर्थात् इंद्रियाँ प्रकाश ज्ञेय पदार्थ गुरु शास्त्र इत्यादि (पर द्रव्य) स्व स्व कारणसे ही उपस्थित होते हैं, ज्ञानको उनकी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। निमित्त नैमित्तिकका तथा उपादान निमित्तका ऐसा मेल होता है।

प्रश्न—आप सम्यग्ज्ञानका फल अधिगम कहते हो किन्तु वह (अधिगम) तो ज्ञान ही है इसलिये ऐसा मालुम होता है कि सम्यग्ज्ञानका कुछ फल नहीं होता।

उत्तर—सम्यग्ज्ञानका फल आनन्द (संतोष) उपेक्षा (राग द्वेष रहितता) और अज्ञानका नाश है। (सर्वार्थ सिद्धि पृष्ठ ३१४)

इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान स्वसे ही होता है पर पदार्थसे नहीं होता।

सूत्र ९-१० का सिद्धांत

नौवें सूत्रमे कथित पाँच सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण हैं, उनके अतिरिक्त दूसरे लोग भिन्न भिन्न प्रमाण कहते हैं, किन्तु वह ठीक नही है। जिस जीव को सम्यग्ज्ञान हो जाता है वह अपने सम्यक् मति और सम्यक् श्रुतज्ञानके द्वारा अपनेको सम्यक्त्व होनेका निर्णय कर सकता है, और वह ज्ञान प्रमाण अर्थात् सच्चा ज्ञान है ॥ १० ॥

परोक्ष प्रमाणके भेद

आद्ये परोक्षम् ॥ ११ ॥

अर्थ—[**आद्ये**] प्रारभके दो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान [**परोक्षम्**] परोक्ष प्रमाण हैं।

टीका

यहाँ प्रमाण अर्थात् सम्यग्ज्ञानके भेदोमेसे प्रारभके दो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं। यह ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं इसलिये उन्हे सशयवान या भूलयुक्त नही मान लेना चाहिये, क्योकि वे सर्वथा सच्चे ही हैं। उनके उपयोगके समय इद्रिय या मन निमित्त होते हैं, इसलिये परापेक्षाके कारण उन्हे परोक्ष कहा है, स्व-अपेक्षासे पाँचो प्रकारके ज्ञान प्रत्यक्ष हैं।

प्रश्न–तब क्या सम्यक्मतिज्ञानवाला जीव यह जान सकता है कि मुझे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन है ?

उत्तर–ज्ञान सम्यक् है इसलिए अपनेको सम्यग्ज्ञान होनेका निर्णय भली भाँति कर सकता है, और जहाँ सम्यग्ज्ञान होता है वहाँ सम्यग्दर्शन अविनाभावी होता है, इसलिये उसका भी निर्णय कर ही लेता है। यदि निर्णय नही कर पाये तो वह अपना अनिर्णय अर्थात् अनध्यवसाय कहलायगा, और ऐसा होने पर उसका वह ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलायगा।

प्रश्न—सम्यक्मतिज्ञानी दर्शनमोहनीय प्रकृतिके पुद्गलोंको प्रत्यक्ष नहीं देख सकता और उसके पुद्गल उदयरूप हों तथा जीव उसमें युक्त होता हो तो क्या उसकी भूल नहीं होगी ?

उत्तर—यदि भूल होती है तो वह ज्ञान विपरीत होगा और इसलिए वह ज्ञान सम्यक् नहीं कहला सकता। जैसे शरीरके बिगड़नेपर यह असातावेदनीयका उदय है सातावेदनीयका उदय नहीं है—ऐसा कर्मके रजकणोंको प्रत्यक्ष देखे बिना श्रुतज्ञानके बलसे यथार्थ जान लिया जाता है, उसी प्रकार अपने ज्ञान अनुभवसे श्रुतज्ञानके बलसे यह सम्यक् (यथार्थ) जाना जा सकता है कि दर्शनमोहनीय कर्म उदयरूप नहीं है।

प्रश्न—क्या सम्यक्मतिज्ञान यह जान सकता है कि अमुक जीव भव्य है या अभव्य ?

उत्तर—इस संबंधमें श्री धवला शास्त्रमें (पुस्तक ६ पृष्ठ १७ में) लिखा है कि-अवग्रहसे ग्रहण किये गये अर्थको विशेष जाननेकी आकांक्षा ईहा' है। जैसे—किसी पुरुषको देखकर यह भव्य है या अभव्य ? इस प्रकारकी विशेष परीक्षा करना सो 'ईहाज्ञान' है। ईहाज्ञान संदेहरूप नहीं होता क्योंकि ईहात्मक विचार बुद्धिसे संदेहका विनाश हो जाता है। संदेह से ऊपर और अवायसे नीचे तथा मध्यमें प्रवृत्त होनेवाली विचारबुद्धिका नाम ईहा है।

× × × ×

ईहाज्ञानसे जाने गये पदार्थ विषयक संदेहका दूर हो जाना सो 'अवाय' (निर्णय) है। पहले ईहा ज्ञानसे 'यह भव्य है या अभव्य ?' इस प्रकार संदेह रूप बुद्धिके द्वारा विषय किया गया जीव 'अभव्य नहीं भव्य ही है क्योंकि उसमें भव्यत्वके अविनाभावी सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र गुण प्रगट हुये हैं, इसप्रकार उत्पन्न हुये 'अर्थ' (निश्चय) ज्ञानका नाम 'अवाय' है।

इससे सिद्ध होता है कि सम्यक्मतिज्ञान यह यथार्थतया निश्चय कर सकता है कि अपनेको तथा परको सम्यग्दर्शन है।

जब सम्यग्दृष्टि जीव अपने उपयोगमे युक्त होता है तब वे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष होते हैं। यह दशा चौथे गुणस्थानसे होती है। मतिश्रुतात्मक भावमन स्वानुभूतिके समय विशेष दशावाला होता है, फिर भी श्रेणिसमान तो नही किन्तु अपनी भूमिकाके योग्य निर्विकल्प होता है, इसलिए मति-श्रुतात्मक भावमन स्वानुभूति के समय प्रत्यक्ष माना गया है। मति-श्रुत ज्ञानके विना केवलज्ञानकी उत्पत्ति नही होती उसका यही कारण है । (अवधिमन'पर्ययज्ञानके विना केवलज्ञानकी उत्पत्ति हो सकती है)

[पचाध्यायी भाग १ श्लोक ७०८ से ७१९ तक इस सूत्रकी चर्चा की गई है। देखो प० देवकीनदनजीकृत टीका पृष्ठ ३६३ से ३६८]

यहाँ मति-श्रुतज्ञानको परोक्ष कहा है तत्सम्बन्धी विशेष स्पष्टीकरण

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप मतिज्ञानको 'साव्यवहारिक प्रत्यक्ष' भी कहा गया है। लोग कहते हैं कि 'मैंने घडेके रूपको प्रत्यक्ष देखा है' इसलिये वह ज्ञान साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है।

श्रुतज्ञानके तीन प्रकार हो जाते हैं—(१) सपूर्ण परोक्ष, (२) आंशिक परोक्ष, (३) परोक्ष विलकुल नही किंतु प्रत्यक्ष।

(१) शब्दरूप जो श्रुतज्ञान है सो परोक्ष ही है। तथा दूरभूत स्वर्ग-नरकादि बाह्य विषयोका ज्ञान करानेवाला विकल्परूप ज्ञान भी परोक्ष ही है।

(२) आभ्यतरमे सुख-दुःखके विकल्परूप जो ज्ञान होता है वह, अथवा 'मैं अनन्त ज्ञानादिरूप हूँ' ऐसा ज्ञान ईषत् (किंचित्) परोक्ष है।

(३) निश्चयभाव श्रुतज्ञान शुद्धात्माके सम्मुख होनेसे सुख सवित्ति (ज्ञान) स्वरूप है। यद्यपि वह ज्ञान निजको जानता है तथापि इन्द्रियो तथा मनसे उत्पन्न होनेवाले विकल्पोंके समूहसे रहित होनेसे निर्विकल्प है। (अभेदनयसे) उसे 'आत्मज्ञान' शब्दसे पहचाना जाता है। यद्यपि वह केवलज्ञानकी अपेक्षासे परोक्ष है तथापि छद्मस्थोके क्षायिक ज्ञानकी प्राप्ति न होनेसे, क्षायोपशमिक होनेपर भी उसे 'प्रत्यक्ष' कहा जाता है।

प्रश्न—इस सूत्रमें मति और श्रुतज्ञानको परोक्ष कहा है तथापि आपने उसे ऊपर 'प्रत्यक्ष' कैसे कहा है।

उत्तर—इस सूत्रमें जो श्रुतको परोक्ष कहा है सो वह सामान्य कथन है और ऊपर जो भावश्रुतज्ञानको प्रत्यक्ष कहा है सो विशेष कथन है। प्रत्यक्षका कथन विशेष की अपेक्षासे है ऐसा समझना चाहिये।

यदि इस सूत्रमें उत्सर्ग कथन न होता तो मतिज्ञानको परोक्ष नहीं कहा जाता। यदि मतिज्ञान परोक्ष ही होता तो तर्क शास्त्रमें उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष क्यों कहते? इसलिये जैसे विशेष कथनमें उस मतिज्ञानको प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है उसीप्रकार निजात्मसन्मुख भावश्रुतज्ञानको (यद्यपि वह केवलज्ञानकी अपेक्षासे परोक्ष है तथापि) विशेष कथनमें प्रत्यक्ष कहा है।

यदि मति और श्रुत दोनों मात्र परोक्ष ही होते तो सुख-दुःखादिका जो संवेदन (ज्ञान) होता है वह भी परोक्ष ही होता किन्तु वह संवेदन प्रत्यक्ष है यह सभी जानते हैं। [देखो बृहत् द्रव्यसंग्रह गाथा ५ की नीचे हिन्दी टीका पृष्ठ १३ से १५ इगलिश पृष्ठ १७–१८] उत्सर्ग=सामान्य—General Ordinance—सामान्य नियम; अपवाद=विशेष Exception—विशेष नियम।

नोटः—ऐसा उत्सर्ग कथन स्याद्वादके सम्बन्धमें अध्याय १ सूत्र २०–४७ में कहा है वहाँ अपवादका कथन नहीं किया है। [देखो–बृहद् द्रव्य संग्रह गाथा ५७ नीचे हिन्दी टीका पृष्ठ–२११] इस प्रकार जहाँ उत्सर्ग कथन हो वहाँ अपवाद कथन गर्भित है,—ऐसा समझना चाहिये।

प्रत्यक्षप्रमाणके भेद

प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥

अर्थ—[अन्यत्] शेष तीन अर्थात् अवधि मनःपर्यय और केवल ज्ञान [प्रत्यक्षम्] प्रत्यक्ष प्रमाण है।

टीका

अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान विकल–प्रत्यक्ष है तथा केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है। [प्रत्यक्ष=प्रति+अक्ष] 'अक्ष' का अर्थ आत्मा है। आत्माके प्रति जिसका नियम हो अर्थात् जो परनिमित्त–इन्द्रिय, मन, आलोक (प्रकाश), उपदेश आदि से रहित आत्माके आश्रयसे उत्पन्न हो, जिसमे दूसरा कोई निमित्त न हो, ऐसा ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान कहलाता है ॥ १२ ॥

मतिज्ञान के दूसरे नाम

मतिःस्मृतिःसंज्ञाचिंताभिनिबोधइत्यनर्थांतरम् ॥१३॥

अर्थ—[**मतिः**] मति, [**स्मृतिः**] स्मृति, [**संज्ञा**] सज्ञा, [**चिंता**] चिंता, [**अभिनिबोध**] अभिनिबोध, [**इति**] इत्यादि, [**अनर्थांतरम्**] अन्य पदार्थ नही हैं, अर्थात् वे मतिज्ञान के नामातर हैं।

टीका

मति—मन अथवा इन्द्रियोसे, वर्तमानकालवर्ती पदार्थको अवग्रहादि रूप साक्षात् जानना सो मति है।

स्मृति—पहले जाने हुये, सुने हुये या अनुभव किये हुये पदार्थ का वर्तमानमे स्मरण आना सो स्मृति है।

संज्ञा—का दूसरा नाम प्रत्यभिज्ञान है। वर्तमानमे किसी पदार्थको देखने पर 'यह वही पदार्थ है जो पहले देखा था' इसप्रकार स्मरण और प्रत्यक्ष के जोडरूप ज्ञानको सज्ञा कहते हैं।

चिंता—चिंतवनज्ञान अर्थात् किसी चिह्नको देखकर 'यहाँ उस चिह्न वाला अवश्य होना चाहिए' इसप्रकारका विचार चिंता है। इस ज्ञानको ऊह, ऊहा, तर्क अथवा व्याप्तिज्ञान भी कहते हैं।

अभिनिबोध—स्वार्थानुमान, अनुमान, उसके दूसरे नाम हैं। सन्मुख चिह्नादि देखकर उस चिह्नवाले पदार्थका निर्णय करना सो 'अभिनिबोध' है।

प्रश्न—सांव्यवहारिक मतिज्ञानका निमित्त कारण इन्द्रियादिको कहा है उसीप्रकार (ज्ञेय) पदार्थ और प्रकाशको भी निमित्त कारण क्यों नहीं कहा ?

प्रश्नकारका तर्क यह है कि अर्थ (वस्तु) से भी ज्ञान उत्पन्न होता है-और प्रकाशसे भी ज्ञान उत्पन्न होता है यदि उसे निमित्त न माना जाय तो सभी निमित्त कारण नहीं आ सकते इसलिये सूत्र अपूर्ण रह जाता है ।

समाधान—आचार्यदेव कहते हैं कि—

"नार्थालोकौकारण परिच्छेद्यत्वात्तमोवत्"

(द्वितीय समुद्देश)

अर्थ—अर्थ (वस्तु) और आलोक दोनों सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके कारण नहीं हैं किन्तु वे केवल परिच्छेद्य (ज्ञेय) हैं । जैसे अंधकार ज्ञेय है वैसे ही वे भी ज्ञेय हैं ।

इसी न्यायको बतलानेके लिये तत्पश्चात् सातवाँ सूत्र दिया है जिसमें कहा गया है कि—ऐसा कोई नियम नहीं है कि जब अर्थ और आलोक हो तब ज्ञान उत्पन्न होता ही है और जब वे न हों तब ज्ञान उत्पन्न नहीं होता । इनके लिये निम्नलिखित दृष्टान्त दिये गये हैं—

(१) एक मनुष्यके सिर पर मच्छरोंका समूह उड़ रहा था किन्तु दूसरेने उसे बालोंका गुच्छा समझा इसप्रकार यहाँ अर्थ (वस्तु) ज्ञानका कारण नहीं हुआ ।

(२) अंधकारमें बिल्ली इत्यादि रात्रिचर प्राणी वस्तुओंको देख सकते हैं इसलिये ज्ञानके होनेमें प्रकाश कारण नहीं हुआ ।

उपरोक्त दृष्टान्त (१) में मच्छरोंका समूह था फिर भी ज्ञान तो बालोंके गुच्छेका हुआ यदि अर्थ ज्ञानका कारण होता तो बालोंके गुच्छेका ज्ञान क्यों हुआ और मच्छरोंके समूहका ज्ञान क्यों नहीं हुआ ? और दृष्टान्त (२) में बिल्ली आदिको अंधकारमें ज्ञान हो गया यदि प्रकाश ज्ञानका कारण होता तो बिल्लीको [illegible]

प्रश्न—तब यह मतिज्ञान किस कारणसे होता है ?

उत्तर—क्षायोपशमिक ज्ञानकी योग्यताके अनुसार ज्ञान होता है, ज्ञान होनेका यह कारण है। ज्ञानके उस क्षयोपशमके अनुसार यह ज्ञान होता है, वस्तुके अनुसार नही, इसलिये यह निश्चित समझना चाहिये कि बाह्य वस्तु ज्ञानके होनेमे निमित्त कारण नही है। आगे नवमे सूत्रमे इस न्याय-को सिद्ध किया है।

जैसे दीपक घट इत्यादि पदार्थोंसे उत्पन्न नही होता तथापि वह अर्थका प्रकाशक है। [सूत्र ८]

जिस ज्ञानकी क्षयोपशम लक्षण योग्यता है वही विषयके प्रति नियम रूप ज्ञान होनेका कारण है, ऐसा समझना चाहिये [सूत्र ९]

जब आत्माके मतिज्ञान होता है तब इंद्रियाँ और मन दोनो निमित्त मात्र होते हैं, वह मात्र इतना बतलाता है कि 'आत्मा', उपादान है। निमित्त अपनेमे (निमित्त मे) शत प्रतिशत कार्य करता है किन्तु वह उपादानमे अंशमात्र कार्य नही करता। निमित्त परद्रव्य है, आत्मा उससे भिन्न द्रव्य है, इसलिये आत्मामे (उपादानमे) उसका (निमित्तका) अत्यन्त अभाव है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके क्षेत्रमे घुस नही सकता, इसलिए निमित्त उपादानका कुछ नही कर सकता। उपादान अपनेमे अपना कार्य स्वत शत प्रतिशत करता है। मतिज्ञान परोक्षज्ञान है यह ग्यारहवें सूत्रमे कहा है। वह परोक्षज्ञान है इसलिये उस ज्ञानके समय निमित्तकी स्वत अपने कारणसे उपस्थिति होती है। वह उपस्थिति निमित्त कैसा होता है उसका ज्ञान करानेके लिए यह सूत्र कहा है, किन्तु—'निमित्त आत्मामे कुछ भी कर सकता है' यह बतानेके लिये यह सूत्र नही कहा है। यदि निमित्त आत्मामे कुछ करता होता तो वह (निमित्त) स्वय ही उपादान हो जाता।

और 'निमित्त भी उपादानके कार्य समय मात्र आरोपकारण है, यदि जीव चक्षुके द्वारा ज्ञान करे तो चक्षु पर निमित्तका आरोप होता है, और यदि जीव अन्य इन्द्रिय या मनके द्वारा ज्ञान करें तो उस पर निमित्तका आरोप होता है।

यद्यपि इन सबमें अर्थभेद है तथापि प्रसिद्ध रूढ़िके बलसे वे मतिके नामांतर कहलाते हैं। उन सबके प्रगट होनेमें मतिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम निमित्त मात्र है, यह लक्षमें रखकर उसे मतिज्ञानके नामान्तर कहते हैं।

यह सूत्र सिद्ध करता है कि—जिसने आत्मस्वरूपका यथार्थ ज्ञान नहीं किया हो वह आत्माका स्मरण नहीं कर सकता' क्योंकि स्मृति तो पूर्वानुभूत पदार्थ की ही होती है, इसीलिये अज्ञानीको प्रभुस्मरण (आत्म स्मरण) नहीं होता, किन्तु 'राग मेरा है' ऐसी पकड़का स्मरण होता है क्योंकि उसे उसका अनुभव है। इसप्रकार अज्ञानी जीव धर्मके नाम पर चाहे जो कार्य करे तथापि उसका ज्ञान मिथ्या होनेसे उसे धर्मका स्मरण नहीं होता किन्तु राग की पकड़का स्मरण होता है।

स्वसंवेदन, बुद्धि मेधा प्रतिभा प्रज्ञा इत्यादि भी मतिज्ञानके भेद हैं।

स्वसंवेदन—सुखादि अंतरंग विषयोंका ज्ञान स्वसंवेदन है।

बुद्धि—बोधनमात्रता बुद्धि है। बुद्धि प्रतिभा प्रज्ञा आदि मतिज्ञानकी तारतम्यता (हीनाधिकता) सूचक ज्ञानके भेद हैं।

अनुमान दो प्रकारके हैं—एक मतिज्ञानका भेद है और दूसरा श्रुत ज्ञानका। साधनके देखने पर स्वयं साध्यका ज्ञान होना सो मतिज्ञान है। दूसरेके हेतु और तर्क के वाक्य सुनकर जो अनुमान ज्ञान हो सो श्रुतानुमान है। चिह्नादिसे उसी पदार्थका अनुमान होना सो मतिज्ञान है और उसी (चिह्नादि) से दूसरे पदार्थका अनुमान होना सो श्रुतज्ञान है ॥ १३ ॥

मतिज्ञानकी उत्पत्तिके समय निमित्त—

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥१४॥

अर्थ—[इन्द्रियानिन्द्रिय] इन्द्रियाँ और मन [तत्] उस मतिज्ञानमें [निमित्तम्] निमित्त हैं।

टीका

इन्द्रिय—आत्मा, (इन्द्र=आत्मा) परम ऐश्वर्यरूप प्रवर्तमान है, इसप्रकार अनुमान करानेवाला शरीरका चिह्न।

नो इन्द्रिय—मन, जो सूक्ष्म पुद्गलस्कन्ध मनोवर्गणाके नामसे पहिचाने जाते हैं उनसे बने हुये शरीरका आतरिक अङ्ग, जो कि अष्टदल कमलके आकार हृदयस्थानमे है।

मतिज्ञानके होनेमे इन्द्रिय–मन निमित्त होता है, ऐसा जो इस सूत्रमे कहा है, सो वह परद्रव्योके होनेवाले ज्ञानकी अपेक्षासे कहा है,–ऐसा समझना चाहिये। भीतर स्वलक्षमे मन–इन्द्रिय निमित्त नही है। जब जीव उस (मन और इन्द्रियके अवलम्बन) से अंशत' पृथक् होता है तब स्वतत्र तत्त्वका ज्ञान करके उसमे स्थिर हो सकता है।

इन्द्रियोका धर्म तो यह है कि वे स्पर्श, रस, गंध, वर्णको जाननेमे निमित्त हो, आत्मामे वह नही है, इसलिये स्वलक्षमे इन्द्रियाँ निमित्त नही हैं। मनका धर्म यह है कि वह अनेक विकल्पोमे निमित्त हो। वह विकल्प भी यहाँ (स्वलक्षमे) नही है। जो ज्ञान इन्द्रियो तथा मनके द्वारा प्रवृत्त होता था वही ज्ञान निजानुभवमे वर्त रहा है, इसप्रकार इस मतिज्ञानमे मन-इन्द्रिय निमित्त नही हैं। यह ज्ञान अतीन्द्रिय है। मनका विषय मूर्तिक-अमूर्तिक पदार्थ हैं, इसलिये मन सम्बन्धी परिणाम स्वरूपके विषयमे एकाग्र होकर अन्य चितवनका निरोध करता है, इसलिये उसे (उपचारसे) मनके द्वारा हुआ कहा जाता है। ऐसा अनुभव चतुर्थगुणस्थानसे ही होता है।

इस सूत्रमें बतलाया गया है कि मतिज्ञानमे इन्द्रिय–मन निमित्त हैं, यह नही कहा है कि–मतिज्ञानमें ज्ञेय अर्थ (वस्तु) और आलोक (प्रकाश) निमित्त हैं, क्योकि अर्थ और आलोक मतिज्ञानमे निमित्त नही हैं। उन्हे निमित्त मानना भूल है। यह विषय विशेष समझने योग्य है, इसलिये इसे प्रमेयरत्नमाला हिन्दी (पृष्ठ ५० से ५५) यहाँ सक्षेपमें दे रहे हैं—

प्रश्न—सांव्यवहारिक मतिज्ञानका निमित्त कारण इन्द्रियादिको कहा है उसीप्रकार (ज्ञेय) पदार्थ और प्रकाशको भी निमित्त कारण क्यों नहीं कहा ?

प्रश्नकारका तर्क यह है कि अर्थ (वस्तु) से भी ज्ञान उत्पन्न होता है—और प्रकाशसे भी ज्ञान उत्पन्न होता है यदि उसे निमित्त न माना जाय तो सभी निमित्त कारण नहीं आ सकते इसलिये सूत्र अपूर्ण रह जाता है।

समाधान—आचार्यदेव कहते हैं कि—

"नार्थालोकौकारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत्"

(द्वितीय समुद्देश)

अर्थ—अर्थ (वस्तु) और आलोक दोनों सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके कारण नहीं हैं, किन्तु वे केवल परिच्छेद्य (ज्ञेय) हैं। जैसे अंधकार ज्ञेय है वैसे ही वे भी ज्ञेय हैं।

इसी न्यायको बतलानेके लिये तत्पश्चात् सातवाँ सूत्र दिया है जिसमें कहा गया है कि—ऐसा कोई नियम नहीं है कि जब अर्थ और आलोक हो तब ज्ञान उत्पन्न होता ही है और जब वे न हों तब ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इनके लिये निम्नलिखित दृष्टान्त दिये गये हैं—

(१) एक मनुष्यके सिर पर मच्छरोंका समूह उड़ रहा था किन्तु दूसरेने उसे बालोंका गुच्छा समझा' इसप्रकार यहाँ अर्थ (वस्तु) ज्ञानका कारण नहीं हुआ।

(२) अंधकारमें बिल्ली इत्यादि रात्रिचर प्राणी वस्तुओंको देख सकते हैं इसलिये ज्ञानके होनेमें प्रकाश कारण नहीं हुआ।

उपरोक्त दृष्टान्त (१) में मच्छरोंका समूह था फिर भी ज्ञान तो बालोंके गुच्छेका हुआ यदि अर्थ ज्ञानका कारण होता तो बालोंके गुच्छेका ज्ञान क्यों हुआ और मच्छरोंके समूहका ज्ञान क्यों नहीं हुआ ? और दृष्टान्त (२) में बिल्ली आदिको अंधकारमें ज्ञान हो गया' यदि प्रकाश ज्ञानका कारण होता तो बिल्लीको अंधकारमें ज्ञान कैसे हुआ ?

प्रश्न—तब यह मतिज्ञान किस कारणसे होता है ?

उत्तर—क्षायोपशमिक ज्ञानकी योग्यताके अनुसार ज्ञान होता है, ज्ञान होनेका यह कारण है। ज्ञानके उस क्षयोपशमके अनुसार यह ज्ञान होता है, वस्तुके अनुसार नही, इसलिये यह निश्चित समझना चाहिये कि बाह्य वस्तु ज्ञानके होनेमे निमित्त कारण नही है। आगे नवमे सूत्रमे इस न्याय-को सिद्ध किया है।

जैसे दीपक घट इत्यादि पदार्थोंसे उत्पन्न नही होता तथापि वह अर्थका प्रकाशक है। [सूत्र ८]

जिस ज्ञानकी क्षयोपशम लक्षण योग्यता है वही विषयके प्रति नियम रूप ज्ञान होनेका कारण है, ऐसा समझना चाहिये [सूत्र ९]

जब आत्माके मतिज्ञान होता है तब इंद्रियाँ और मन दोनो निमित्त मात्र होते हैं, वह मात्र इतना बतलाता है कि 'आत्मा', उपादान है। निमित्त अपनेमे (निमित्त में) शत प्रतिशत कार्य करता है किन्तु वह उपादानमे अंशमात्र कार्य नही करता। निमित्त परद्रव्य है, आत्मा उससे भिन्न द्रव्य है, इसलिये आत्मामे (उपादानमे) उसका (निमित्तका) अत्यन्त अभाव है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके क्षेत्रमे घुस नही सकता, इसलिए निमित्त उपादानका कुछ नही कर सकता। उपादान अपनेमे अपना कार्य स्वत शत प्रतिशत करता है। मतिज्ञान परोक्षज्ञान है यह ग्यारहवें सूत्रमे कहा है। वह परोक्षज्ञान है इसलिये उस ज्ञानके समय निमित्तकी स्वत अपने कारणसे उपस्थिति होती है। वह उपस्थिति निमित्त कैसा होता है उसका ज्ञान करानेके लिए यह सूत्र कहा है, किन्तु—'निमित्त आत्मामे कुछ भी कर सकता है' यह बतानेके लिये यह सूत्र नही कहा है। यदि निमित्त आत्मामे कुछ करता होता तो वह (निमित्त) स्वय ही उपादान हो जाता।

और 'निमित्त भी उपादानके कार्य समय मात्र आरोपकारण है, यदि जीव चक्षुके द्वारा ज्ञान करे तो चक्षु पर निमित्तका आरोप होता है, और यदि जीव अन्य इन्द्रिय या मनके द्वारा ज्ञान करें तो उस पर निमित्तका आरोप होता है।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें (पर द्रव्यमें) अकिंचित्कर है अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकता। अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्यमें कदापि प्रवेश नहीं है और न अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यकी पर्यायका उत्पादक ही है क्योंकि प्रत्येक वस्तु अपने भीतरमें अत्यन्त (संपूर्णतया) प्रकाशित है परमें लेश मात्र भी नहीं है। इसलिए निमित्तभूत वस्तु उपादानभूतवस्तुका कुछ भी नहीं कर सकती। उपादानमें निमित्तकी द्रव्यसे क्षेत्रसे कालसे और भावसे नास्ति है और निमित्तमें उपादानकी द्रव्य, क्षेत्र काल भावसे नास्ति है, इसलिए एक दूसरे का क्या कर सकते हैं ? यदि एक वस्तु दूसरी वस्तुका कुछ करने लगे तो वस्तु अपने वस्तुत्वको ही खो बैठे किन्तु ऐसा हो ही नहीं सकता।

[निमित्त=संयोगरूपकारण; उपादान=वस्तुकी सहज शक्ति]
यथार्थे सूत्रकी टीकामें निमित्त–उपादान सम्बन्धी स्पष्टीकरण किया है वहाँ से विशेष समझ लेना चाहिये।

उपादान–निमित्त कारण

प्रत्येक कार्यमें दो कारण होते हैं (१) उपादान, (२) निमित्त। इनमेंसे उपादान तो निश्चय (वास्तविक) कारण है और निमित्त व्यवहार आरोप–कारण है अर्थात् वह (जब उपादान कार्य कर रहा हो तब वह उसके) अनुकूल उपस्थितरूप (विद्यमान) होता है। कार्यके समय निमित्त होता है किन्तु उपादानमें वह कोई कार्य नहीं कर सकता इसलिये उसे व्यवहार कारण कहा जाता है। जब कार्य होता है तब निमित्तकी उपस्थितिके दो प्रकार होते हैं (१) वास्तविक उपस्थिति (२) काल्पनिक उपस्थिति। जब छद्मस्थ जीव विकार करता है तब द्रव्यकर्मका उदय उपस्थितरूप होता ही है, वहाँ द्रव्यकर्मका उदय उस विकार का वास्तविक उपस्थितिरूप निमित्त कारण है। [यदि जीव विकार न करे तो वही द्रव्यकर्मकी निर्जरा हुई कहलाती है।] तथा जीव जब विकार करता है तब नो कर्मकी उपस्थिति वास्तवमें होती है अथवा कल्पनारूप होती है।

निमित्त होता ही नही, यह कहकर यदि कोई निमित्तके अस्तित्वका इन्कार करे तब, या उपादान कार्य कर रहा हो तब निमित्त उपस्थित होता है, यह बतलाया जाता है, किन्तु यह तो निमित्तका ज्ञान करानेके लिये है। इसलिये जो निमित्तके अस्तित्वको ही स्वीकार न करे उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नही है। यहाँ सम्यग्ज्ञानका विषय होनेसे आचार्यदेवने निमित्त कैसा होता है इसका ज्ञान कराया है। जो यह मानता है कि निमित्त उपादानका कुछ करता है उसकी यह मान्यता मिथ्या है, और इसलिये यह समझना चाहिये कि उसे सम्यग्दर्शन नही है ॥ १४ ॥

मतिज्ञानके क्रमके भेद—

अवग्रहेहावायधारणाः ॥ १५ ॥

अर्थ—[अवग्रह ईहा अवाय धारणाः] अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारणा यह चार भेद हैं।

टीका

अवग्रह—चेतनामे जो थोडा विशेषाकार भासित होने लगता है उस ज्ञानको 'अवग्रह' कहते हैं। विषय और विषयी (विषय करनेवाले) के योग्य स्थानमे आ जानेके बाद होनेवाला आद्यग्रहण अवग्रह है। स्व और पर दोनोका (जिस समय जो विषय हो उसका) पहिले अवग्रह होता है। (Perception)

ईहा—अवग्रहके द्वारा जाने गये पदार्थको विशेषरूपसे जाननेकी चेष्टा (–आकांक्षा) को ईहा कहते हैं। ईहाका विशेष वर्णन ग्यारहवें सूत्रके नीचे दिया गया है। (Conception)

अवाय—विशेष चिह्न देखनेसे उसका निश्चय हो जाय सो अवाय है। (Judgment)

धारणा—अवायसे निर्णीत पदार्थको कालान्तरमें न भूलना सो धारणा है। (Rettienon)

आत्माके अवग्रह ईहा अवाय और धारणा

जीवको अनादिकालसे अपने स्वरूपका भ्रम है इसलिये पहिले आत्मज्ञानी पुरुषसे आत्मस्वरूपको सुनकर युक्तिके द्वारा यह निर्णय करना चाहिए कि आत्मा ज्ञानस्वभाव है, तत्पश्चात्—

परपदार्थकी प्रसिद्धिके कारण—इन्द्रिय द्वारा तथा मन द्वारा प्रवर्त मान बुद्धिको मर्यादामें लाकर अर्थात् पर पदार्थोंकी ओरसे अपना लक्ष्य खींचकर जब आत्मा स्वयं स्वसन्मुख लक्ष करता है तब प्रथम सामान्य स्थूलतया आत्मासम्बन्धी ज्ञान हुआ वह आत्माका अर्थावग्रह हुआ। तत्पश्चात् स्व विचारके निर्णयकी ओर उन्मुख हुआ सो ईहा और निर्णय हुआ सो अवाय अर्थात् ईहासे ज्ञात आत्मामें यह वही है अन्य नहीं ऐसा दृढ़ ज्ञान अवाय है। आत्मासम्बन्धी कालान्तरमें संशय तथा विस्मरण न हो सो धारणा है। यहाँ तक तो परोक्षभूत मतिज्ञानमें धारणा तकका अन्तिमभेद हुआ। इसके बाद यह आत्मा अनन्त ज्ञानानन्द शांति स्वरूप है इसप्रकार मतिमेंसे प्रलम्बित तार्किक ज्ञान श्रुतज्ञान है। भीतर स्वलक्ष्यमें मन-इन्द्रिय निमित्त नहीं है। जब जीव उससे अंशतः पृथक् होता है तब स्वतन्त्र तत्त्वका ज्ञान करके उसमें स्थिर हो सकता है।

अवग्रह या ईहा हो किन्तु यदि वह सदा चालू न रहे तो आत्माका निर्णय नहीं होता अर्थात् अवाय ज्ञान नहीं होता इसलिये अवायकी अत्यन्त आवश्यकता है। यह ज्ञान होते समय विकल्प राग मन, या पर वस्तुकी ओर लक्ष नहीं होता किन्तु स्वसन्मुख लक्ष होता है।

सम्यग्दृष्टिको अपना (आत्माका) ज्ञान होते समय इन चारों प्रकारका ज्ञान होता है। धारणा तो स्मृति है जिस आत्माको सम्यग्ज्ञान अप्रतिहत (—निर्बाध) भावसे हुआ हो उसे आत्माका ज्ञान धारणारूप बना ही रहता है ॥ १५ ॥

अवग्रहादिके विषयभूत पदार्थ—

बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणां ॥१६॥

अर्थ—[**बहु**] बहु [**बहुविध**] बहुप्रकार [**क्षिप्र**] जल्दी [**अनिःसृत**] अनिःसृत [**अनुक्त**] अनुक्त [**ध्रुवाणां**] ध्रुव [**सेतराणाम्**] उनसे उल्टे भेदोसे युक्त अर्थात् एक, एकविध, अक्षिप्र, नि सृत, उक्त, और अध्रुव, इसप्रकार बारह प्रकारके पदार्थोंका अवग्रह ईहादिरूप ज्ञान होता है।

टीका

(१) **बहु**—एकही साथ बहुतसे पदार्थोंका अथवा बहुतसे समूहोका अवग्रहादि होना [जैसे लोगोके झुन्डका अथवा गेहूँके ढेरका] बहुतसे पदार्थोंका ज्ञानगोचर होना।

(२) **एक**—अल्प अथवा एक पदार्थका ज्ञान होना [जैसे एक मनुष्यका अथवा पानीके प्यालेका] थोडे पदार्थोंका ज्ञानगोचर होना।

(३) **बहुविध**—कई प्रकारके पदार्थोंका अवग्रहादि ज्ञान होना (जैसे कुत्तेके साथका मनुष्य अथवा गेहूँ चना चावल इत्यादि अनेक प्रकारके पदार्थ) युगपत् बहुत प्रकारके पदार्थोंका ज्ञानगोचर होना।

(४) **एकविध**—एक प्रकारके पदार्थोंका ज्ञान होना (जैसे एक प्रकारके गेहूँका ज्ञान) एक प्रकारके पदार्थ ज्ञानगोचर होना।

(५) **क्षिप्र**—शीघ्रतासे पदार्थका ज्ञान होना।

(६) **अक्षिप्र**—किसी पदार्थको धीरे धीरे बहुत समयमे जानना अर्थात् चिरग्रहण।

(७) **अनिःसृत**—एक भागके ज्ञानसे सर्वभागका ज्ञान होना (जैसे पानीके बाहर निकली हुई सून्डको देखकर पानीमे डूबे हुए पूरे हाथीका ज्ञान होना) एक भागके अव्यक्त रहने पर भी ज्ञानगोचर होना।

(८) **निःसृत**—बाहर निकले हुए प्रगट पदार्थका ज्ञान होना, पूर्णव्यक्त पदार्थका ज्ञानगोचर होना।

(९) अनुक्त—(अकथित) जिस वस्तुका वर्णन नहीं किया उसे जानना। जिसका वर्णन नहीं सुना है फिर भी उस पदार्थका ज्ञानगोचर होना।

(१०) उक्त—कथित पदार्थका ज्ञान होना, वर्णन सुननेके बाद पदार्थका ज्ञानगोचर होना।

(११) ध्रुव—बहुत समय तक ज्ञान जैसाका तैसा बना रहना, अर्थात् दृढ़तावाला ज्ञान।

(१२) अध्रुव—प्रतिक्षण हीनाधिक होनेवाला ज्ञान अर्थात् अस्थिरज्ञान।

यह सब भेद सम्यक् मतिज्ञानके हैं। जिसे सम्यक्ज्ञान हो जाता है वह जानता है कि–आत्मा वास्तवमें अपने ज्ञानकी पर्यायोंको *जानता है* और पर तो उस ज्ञानका निमित्त मात्र है। परको जाना ऐसा कहना सो व्यवहार है यदि परमार्थ दृष्टिसे कहा जाय कि आत्मा परको जानता है' सो मिथ्या है, क्योंकि ऐसा होनेपर आत्मा और पर (ज्ञान और ज्ञेय) दोनों एक हो जायेंगे क्योंकि **'जिसका जो होता है वह वही होता है'** इसलिये वास्तवमें यदि यह कहा जाय कि 'पुद्गलका ज्ञान' है तो ज्ञान पुद्गलरूप—ज्ञेयरूप हो जायगा इसलिये यह समझना चाहिये कि निमित्त सम्बन्धी अपने ज्ञानकी पर्यायको आत्मा जानता है। (देखो श्री समयसार गाथा ३५६ से ३६५ की टीका)

प्रश्न—अनुक्त विषय श्रोत्रज्ञानका विषय कैसे संभव है?

उत्तर–श्रोत्रज्ञानमें 'अनुक्त' का अर्थ 'ईषत् (थोड़ा) अनुक्त' करना चाहिये और 'उक्त' का अर्थ 'विस्तारसे लक्षणादिके द्वारा वर्णन किया हैं' ऐसा करना चाहिये जिससे नाममात्रके सुनते ही जीवको विशद (विस्तार रूप) ज्ञान हो जाय तो उस जीवको अनुक्त ज्ञान ही हुआ है ऐसा कहना चाहिये। इसीप्रकार अन्य इन्द्रियोंके द्वारा अनुक्तका ज्ञान होता है ऐसा समझना चाहिये।

प्रश्न—नेत्रज्ञानमे 'उक्त' विषय कैसे सभव है?

उत्तर—किसी वस्तुको विस्तारपूर्वक सुन लिया हो और फिर वह देखनेमे आये तो उस समयका नेत्र ज्ञान 'उक्त ज्ञान' कहलाता है। इसीप्रकार श्रोत्र इन्द्रियके अतिरिक्त दूसरी इन्द्रियोके द्वारा भी 'उक्त' का ज्ञान होता है।

प्रश्न—'अनुक्त' का ज्ञान पाँच इन्द्रियोके द्वारा कैसे होता है?

उत्तर—श्रोत्र इन्द्रियके अतिरिक्त चार इन्द्रियोके द्वारा होनेवाला ज्ञान सदा अनुक्त होता है। और श्रोत्र इन्द्रियके द्वारा अनुक्तका ज्ञान कैसे होता है सो इसका स्पष्टीकरण पहिले उत्तरमे किया गया है।

प्रश्न—अनि.सृत और अनुक्त पदार्थोंके साथ श्रोत्र इत्यादि इद्रियोका सयोग होता हो यह हमे दिखाई नही देता, इसलिये हम उस सयोगको स्वीकार नही कर सकते।

उत्तर—यह भी ठीक नही है, जैसे यदि कोई जन्मसे ही जमीनके भीतर रक्खा गया पुरुष किसी प्रकार बाहर निकले तो उसे घट पटादि समस्त पदार्थोंका आभास होता है, किन्तु उसे जो 'यह घट है, यह पट है' इत्यादि विशेषज्ञान होता है वह उसे परके उपदेशसे ही होता है, वह स्वय वैसा ज्ञान नही कर सकता, इसीप्रकार सूक्ष्म अवयवोके साथ जो इद्रियोका भिडना होता है और उससे अवग्रहादि ज्ञान होता है वह विशेष ज्ञान भी वीतरागके उपदेशसे ही जाना जाता है, अपने भीतर ऐसी शक्ति नही है कि उसे स्वय जान सकें, इसलिये केवलज्ञानीके उपदेशसे जब अनि सृत और अनुक्त पदार्थोंके अवग्रह इत्यादि सिद्ध हैं तब उनका अभाव कभी नही कहा जा सकता।

प्रत्येक इन्द्रियके द्वारा होनेवाले इन बारह प्रकारके मतिज्ञानका स्पष्टीकरण।

१—श्रोत्र इन्द्रियके द्वारा

बहु—एक–तत (ताँतका शब्द) वितत (तालका शब्द) **घन**

(कांसेके बाजेका शब्द) और सुषिर (बाँसुरी आदिका शब्द) इत्यादि शब्दों का एक साथ अवग्रह ज्ञान होता है। उसमें तत इत्यादि भिन्न भिन्न शब्दों का ग्रहण अवग्रहसे नहीं होता किन्तु उसके समुदायरूप सामान्यको वह ग्रहण करता है, ऐसा अर्थ यहाँ समझना चाहिये यहाँ बहु पदार्थका अवग्रह हुआ।

प्रश्न—सभिन्नसंश्रोतृऋद्धिके धारी जीवको तत इत्यादि प्रत्येक शब्दका स्पष्टतया भिन्न २ रूपसे ज्ञान होता है तो उसे यह अवग्रहज्ञान होना बाधित है?

उत्तर—यह ठीक नहीं है, सामान्य मनुष्यकी भाँति उसे भी क्रमशः ही ज्ञान होता है इसलिये उसे भी अवग्रह ज्ञान होता है।

जिस जीवके विशुद्धज्ञान मंद होता है उसे तत आदि शब्दोंमेंसे किसी एक शब्दका अवग्रह होता है। यह एक पदार्थका अवग्रह हुआ।

बहुविध-एकविध—उपरोक्त दृष्टांतमें 'तत' आदि शब्दोंमें प्रत्येक शब्दके दो तीन चार संख्यात असंख्यात या अनन्त भेदोंको जीव ग्रहण करता है तब उसे बहुविध' पदार्थका अवग्रह होता है।

विशुद्धताके मंद रहने पर जीव तत आदि शब्दोंमेंसे किसी एक प्रकारके शब्दोंको ग्रहण करता है उसे एकविध' पदार्थका अवग्रह होता है।

क्षिप्र-अक्षिप्र—विशुद्धिके बलसे कोई जीव बहुत जल्दी शब्दको ग्रहण करता है उसे 'क्षिप्र' अवग्रह कहा जाता है।

विशुद्धिकी मंदता होनेसे जीवको शब्दके ग्रहण करनेमें ढील होती है उसे 'अक्षिप्र' अवग्रह कहा जाता है।

अनिःसृत निःसृत—विशुद्धिके बलसे जीव जब बिना कहे अथवा बिना बताये ही शब्दको ग्रहण करता है तब उसे 'अनिःसृत' पदार्थका अवग्रह कहा जाता है।

विशुद्धिकी मंदताके कारण जीव मुखमेंसे निकले हुए शब्दको ग्रहण करता है तब नि:सृत' पदार्थका अवग्रह हुआ कहलाता है।

शंका—मुखसे पूरे शब्दके निकलनेको 'नि सृत', कहा है, और 'उक्त' का अर्थ भी वही होता है तब फिर दो मे से एक भेद कहना चाहिये, दोनो क्यो कहते हो ?

समाधान—जहाँ किसी अन्यके कहनेसे शब्दका ग्रहण होता है, जैसे किसीने 'गौ' शब्दका ऐसा उच्चारण किया कि 'यहाँ यह गौ शब्द है' उस परसे जो ज्ञान होता है वह 'उक्त' ज्ञान है, और इसप्रकार अन्यके बताये बिना शब्द समुख हो उसका यह 'अमुक शब्द है' ऐसा ज्ञान होना सो नि'सृत ज्ञान है।

अनुक्त-उक्त—जिस समय समस्त शब्दका उच्चारण न किया गया हो, किंतु मुखमेसे एक वर्णके निकलते ही विशुद्धताके बलसे अभिप्रायमात्रसे समस्त शब्दको कोई अन्यके कहे विना ग्रहण कर ले कि 'वह यह कहना चाहता है'—उस समय उसके 'अनुक्त' पदार्थका अवग्रह हुआ कहलाता है।

जिस समय विशुद्धिकी मदतासे समस्त शब्द कहा जाता है तब किसी दूसरेके कहनेसे जीव ग्रहण करता है उस समय 'उक्त' पदार्थका अवग्रह हुआ कहलाता है। **अथवा**—

तत्री अथवा मृदग आदिमे कौनसा स्वर गाया जायगा उसका स्वर सचार न किया हो उससे पूर्व ही केवल उस बाजेमे गाये जाने वाले स्वरका मिलाप हो उसी समय जीवको विशुद्धिके बलसे ऐसा ज्ञान हो जाय कि 'वह यह स्वर बाजेमे बजायगा,' उसी समय 'अनुक्त' पदार्थका अवग्रह होता है।

विशुद्धिकी मदताके कारण बाजेके द्वारा वह स्वर गाया जाय उस समय जानना सो 'उक्त' पदार्थका अवग्रह है।

ध्रुव-अध्रुव—विशुद्धिके बलसे जीवने जिसप्रकार प्रथम समयमे शब्दको ग्रहण किया उसीप्रकार निश्चयरूपसे कुछ समय ग्रहण करना चालू रहे—उसमे किंचित्मात्र भी न्यूनाधिक न हो सो 'ध्रुव' पदार्थका अवग्रह है।

बारबार होनेवाले सक्लेश तथा विशुद्ध परिणाम स्वरूप कारणोसे जीवके श्रोत्र इन्द्रियादिका कुछ आवरण और कुछ अनावरण (क्षयोपशम)

भी रहता है, इसप्रकार श्रोत्र इन्द्रियादिके आवरणकी क्षयोपशमरूप विशुद्धि की कुछ प्रकर्ष और कुछ अप्रकर्ष वथा रहती है उस समय न्यूनाधिकता आमनेके कारण कुछ चल–विचलता, रहती है इससे उस 'अध्रुव' पदार्थका अवग्रह कहलाता है तथा कभी तत इत्यादि बहुतसे शब्दोंका ग्रहण करना; कभी थोड़ेका कभी बहुतका कभी बहुत प्रकारके शब्दोंका ग्रहण करना कभी एक प्रकारका, कभी जल्दी कभी देरसे कभी अनिःसृत शब्दका ग्रहण करना कभी निःसृतका कभी अनुक्त शब्दका और कभी उक्तका ग्रहण करना–इसप्रकार जो चल–विचलतासे शब्दका ग्रहण करना सो सब 'अध्रुवावग्रह' का विषय है।

शंका–समाधान

शंका—'बहु' शब्दोंके अवग्रहमें तत आदि शब्दोंका ग्रहण माना है और बहुविध शब्दोंके अवग्रहमें भी तत आदि शब्दोंका ग्रहण माना है तो उनमें क्या अन्तर है ?

समाधानः—जैसे वाचालता रहित कोई विद्वान बहुतसे शास्त्रोंके विशेष २ अर्थ नहीं करता और एक सामान्य (संक्षेप) अर्थका ही प्रतिपादन करता है अन्य विद्वान बहुतसे शास्त्रोंमें पाये जाने वाले एक दूसरेमें अन्तर बताने वाले कई प्रकारके अर्थोंका प्रतिपादन करते हैं उसीप्रकार बहु और बहुविध दोनों प्रकारके अवग्रहमें सामान्यरूपसे तत आदि शब्दोंका ग्रहण है तथापि जिस अवग्रहमें तत आदि शब्दोंके एक दो चार संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रकारके भेदोंका ग्रहण है अर्थात् अनेक प्रकारके भेद–प्रभेद युक्त तत आदि शब्दोंका ग्रहण है वह बहुविध बहु प्रकारके शब्दोंको ग्रहण करने वाला अवग्रह कहलाता है और जिस अवग्रहमें भेद प्रभेद रहित सामान्यरूपसे तत आदि शब्दोंका ग्रहण है वह बहु शब्दोंका अवग्रह कहलाता है।

२–चक्षु इन्द्रिय द्वारा

बहु–एक—जिस समय जीव विशुद्धिके बलसे सफेद काले हरे आदि रंगोंको ग्रहण करता है उस समय उसे 'बहु' पदार्थका अवग्रह होता है और

जब मंदताके कारण जीव एक वर्णको ग्रहण करता है तब उसे 'एक' पदार्थका अवग्रह होता है।

बहुविध–एकविध—जिस समय जीव विशुद्धिके बलसे शुक्ल कृष्णादि प्रत्येक वर्णके दो, तीन, चार, सख्यात, असख्यात, और अनन्त भेद प्रभेदोको ग्रहण करता है उससमय उसे 'बहुविध' पदार्थका अवग्रह होता है।

जिस समय मदताके कारण जीव शुक्ल कृष्णादि वर्णोमेसे एक प्रकारके वर्णको ग्रहण करता है उससमय उसे 'एकविध' पदार्थका अवग्रह होता है।

क्षिप्र–अक्षिप्र—जिस समय जीव तीव्र क्षयोपशम (विशुद्धि) के बलसे शुक्लादि वर्णको जल्दी ग्रहण करता है उस समय उसे क्षिप्र पदार्थका अवग्रह होता है।

विशुद्धिकी मदताके कारण जिस समय जीव देरसे पदार्थको ग्रहण करता है उस समय उसके 'अक्षिप्र' पदार्थका अवग्रह होता है।

अनिःसृत–निःसृत—जिस समय जीव विशुद्धिके बलसे किसी पचरगी वस्त्र या चित्रादिके एक बार किसी भागमेसे पाँच रगोको देखता है उस समय यद्यपि शेष भागकी पचरगीनता उसे–दिखाई नही दी है तथा उस समय उसके समक्ष पूरा वस्त्र बिना खुला हुआ (घडी किया हुआ ही) रखा है तथापि वह उस वस्त्रके सभी भागोकी पचरगीनताको ग्रहण करता है, यह 'अनि·सृत' पदार्थका अवग्रह है।

जिस समय विशुद्धिकी मदताके कारण जीवके समुख बाहर निकाल कर रखे गये पचरंगी वस्त्रके पाँचो रगोको जीव ग्रहण करता है उससमय उसे 'नि सृत' पदार्थका अवग्रह होता है।

अनुक्त–उक्त—सफेद-काले अथवा सफेद-पीले आदि रगोकी मिलावट करते हुए किसी पुरुषको देखकर (वह इसप्रकारके रगोको मिलाकर अमुक प्रकारका रग तैयार करेगा) इसप्रकार विशुद्धिके बलसे बिना कहे ही जान लेता है, उस समय उसे 'अनुक्त' पदार्थका अवग्रह होता है। अथवा—

दूसरे देशमें बने हुए किसी पचरंगी पदार्थको कहते समय, कहने वाला पुरुष कहनेका प्रयत्न ही कर रहा है कि उसके कहनेसे पूर्व ही विशुद्धिके बलसे जीव जिस समय उस वस्तुके पाँच रंगोंको जान लेता है उस समय उसके भी अनुक्त पदार्थका अवग्रह होता है।

विशुद्धिकी मन्दताके कारण पचरगी पदार्थको कहनेपर जिससमय जीव पाँच रगोंको जान लेता है उससमय उसके 'उक्त' पदार्थका अवग्रह होता है।

ध्रुव—अध्रुव—सक्लेश परिणाम रहित और यथायोग्य विशुद्धता सहित जीव जैसे सबसे पहिले रंगको जिस जिस प्रकारसे ग्रहण करता है उसीप्रकार निश्चलरूपसे कुछ समय बने ही उसके रंगको ग्रहण करना बना रहता है कुछ भी न्यूनाधिक नहीं होता, उससमय उसके 'ध्रुव' पदार्थका अवग्रह होता है।

बारम्बार होनेवाले सक्लेश परिणाम और विशुद्ध परिणामोंके कारण जीवके जिस समय कुछ आवरण रहता है और कुछ विकास भी रहता है तथा वह विकास कुछ उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट ऐसी दो दशाओंमें रहता है तब जिस समय कुछ हीनता और कुछ अधिकताके कारण चल विचलता रहती है उस समय उसके अध्रुव अवग्रह होता है। अथवा—

कृष्णादि बहुतसे रगोंका जानना अथवा एक रगको जानना बहुविध रंगोंको जानना या एकविध रगको जानना जल्दी रंगोंको जानना या धीमेसे जानना अनि:सृत रंगको जानना या नि:सृत रंगको जानना अनुक्तरूपको जानना या उक्तरूपको जानना, इसप्रकार जो चल-विचलरूप जीव जानता है सो अध्रुव अवग्रहका विषय है।

शिष्य-समाधान—आगममें कहा है कि स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु श्रोत्र और मन यह छह प्रकारका अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। लब्धिका अर्थ है क्षायोपशमिकरूप (विकासरूप) शक्ति और 'अक्षर' का अर्थ है अविनाशी। जिस क्षायोपशमिक शक्तिका कभी नाश न हो उसे लब्ध्यक्षर कहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि अनि:सृत और अनुक्त पदार्थोंका भी

अवग्रहादि ज्ञान होता है। लब्ध्यक्षर ज्ञान श्रुतज्ञानका अत्यन्त सूक्ष्म भेद है। जब इस ज्ञानको माना जाता है तब अनि:सृत और अनुक्त पदार्थोंके अवग्रहादि माननेमे कोई दोष नही है।

३-४-५ घ्राणेन्द्रिय-रसनेन्द्रिय,-और स्पर्शनेन्द्रिय

घ्राण-रसना और स्पर्शन इन तीन इन्द्रियोके द्वारा उपर्युक्त बारह प्रकारके अवग्रहके भेद श्रोत्र और चक्षु इन्द्रियकी भाँति समझ लेना चाहिये।

ईहा-अवाय-और धारणा

चालू सूत्रका शीर्षक 'अवग्रहादिके विषयभूत पदार्थ' है, उसमे अवग्रहादिके कहने पर, जैसे बारह भेद अवग्रहके कहे है उसीप्रकार ईहा-अवाय और धारणा ज्ञानोका भी विषय मानना चाहिये।

शंका-समाधान

शंका—जो इन्द्रियाँ पदार्थको स्पर्श करके ज्ञान कराती हैं वे पदार्थोंके जितने भागो (अवयवो) के साथ सम्बन्ध होता है उतने ही भागोका ज्ञान करा सकती है, अधिक अवयवोका नही। श्रोत्र, घ्राण, स्पर्शन और रसना,-यह चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं, इसलिये वे जितने अवयवोके साथ सबद्ध होती हैं उतने ही अवयवोका ज्ञान करा सकती हैं, अधिकका नही, तथापि अनि:सृत और अनुक्तमे ऐसा नही होता, क्योकि वहाँ पदार्थोंका एक भाग देख लेने या सुन लेनेसे समस्त पदार्थका ज्ञान माना जाता है इसलिये श्रोत्रादि चार इन्द्रियोसे जो अनि:सृत और अनुक्त पदार्थोंका अवग्रह ईहादि माना गया है वह व्यर्थ है।

समाधान—यह शका ठीक नही है। जैसे चीटी आदि जीवोकी नाक तथा जिह्वाके साथ गुड आदि द्रव्योका सम्बन्ध नही होता फिर भी उसकी गध और रसका ज्ञान उन्हे हो जाता है, क्योकि वहाँ अत्यन्त सूक्ष्म (जिसे हम नही देख सकते) गुड आदिके अवयवोके साथ चीटी आदि जीवोकी नाक तथा जिह्वा आदि इन्द्रियोका एक दूसरेके साथ स्वाभाविक सयोग सबन्ध रहता है, उस सम्बन्धमे दूसरे पदार्थकी अपेक्षा नही रहती,

इसलिये सूक्ष्म अवयवोंके साथ सम्बन्ध रहनेसे वह प्राप्त होकर ही पदार्थको ग्रहण करते हैं। इसीप्रकार अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके अवग्रह इत्यादि में भी अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके सूक्ष्म अवयवोंके साथ श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका अपनी उत्पत्तिमें परपदार्थोंकी अपेक्षा न रखनेवाला स्वाभाविक संयोग सम्बन्ध है इसलिये अनिःसृत और अनुक्त स्थलोंपर भी प्राप्त होकर इन्द्रियाँ पदार्थोंका ज्ञान कराती हैं अप्राप्त होकर नहीं।

इस सूत्रके अनुसार मतिज्ञानके भेदोंकी संख्या निम्न प्रकार है—

अवग्रह ईहा, अवाय और धारणा = ४

पाँच इन्द्रिय और मन = ६

उपरोक्त चार प्रकारके द्वारा चार प्रकारसे ज्ञान (४×६)=२४ तथा विषयोंकी अपेक्षासे बहु बहुविध आदि बारह=(२४ × १२)=२८८ भेद हैं॥ १६॥

उपरोक्त अवग्रहादिके विषयभूत पदार्थ भेद किसके हैं?

अर्थस्य ॥१७॥

अर्थ—उपरोक्त बारह अथवा २८८ भेद [अर्थस्य] पदार्थके (द्रव्यके-वस्तुके) हैं।

टीका

यह भेद व्यक्त पदार्थके कहे हैं अव्यक्त पदार्थके लिये अठारहवाँ सूत्र कहा है।

यदि कोई कहे कि—'रूपादि गुण ही इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये जा सकते हैं इसलिये रूपादि गुणोंका ही अवग्रह होता है न कि द्रव्योंका'। तो यह कहना ठीक नहीं है—यह यहाँ बताया गया है। 'इन्द्रियोंके द्वारा रूपादि जाने जाते हैं' यह कहने मात्रका व्यवहार है, रूपादि गुण द्रव्यसे अभिन्न हैं इसलिये ऐसा व्यवहार होता है कि 'मैंने रूपको देखा या मैंने गंध

को 'सूंघा'; किन्तु गुण-पर्याय द्रव्यसे भिन्न नही है इसलिये पदार्थका ज्ञान होता है। इन्द्रियोका सम्बन्ध पदार्थके साथ होता है। मात्र गुण-पर्यायोके साथ नही होता ॥ १७ ॥

अवग्रह ज्ञानमें विशेषता

व्यंजनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥

अर्थ—[व्यजनस्य] अप्रगटरूप शब्दादि पदार्थोंका [**अवग्रहः**] मात्र अवग्रह ज्ञान होता है—ईहादि तीन ज्ञान नही होते।

टीका

अवग्रहके दो भेद हैं—(१) व्यजनावग्रह (२) अर्थावग्रह।

व्यंजनावग्रह—अव्यक्त-अप्रगट पदार्थके अवग्रहको व्यजनावग्रह कहते हैं।

अर्थावग्रह—व्यक्त-प्रगट पदार्थके अवग्रहको अर्थावग्रह कहते हैं।

अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रहके दृष्टांत

(१) पुस्तकका शरीरकी चमडीसे स्पर्श हुआ तब (उस वस्तुका ज्ञान प्रारभ होने पर भी) कुछ समय तक वह ज्ञान अपनेको प्रगट रूप नही होता, इसलिये जीवको उस पुस्तकका ज्ञान अव्यक्त-अप्रगट होनेसे उस ज्ञानको व्यजनावग्रह कहा जाता है।

(२) पुस्तक पर दृष्टि पडने पर पहिले जो ज्ञान प्रगटरूप होता है, वह व्यक्त अथवा प्रगट पदार्थका अवग्रह (अर्थावग्रह) कहलाता है।

व्यजनावग्रह चक्षु और मनके अतिरिक्त चार इन्द्रियोके द्वारा होता है, व्यजनावग्रहके बाद ज्ञान प्रगटरूप होता है उसे अर्थावग्रह कहते हैं। चक्षु और मनके द्वारा अर्थावग्रह होता है।

'अव्यक्त' का अर्थ

जैसे मिट्टीके कोरे घड़ेको पानीके छींटे डालकर भिगोना प्रारंभ किया जाय तो थोड़े छींटे पड़ने पर भी वे ऐसे सूख जाते हैं कि देखनेवाला उस स्थानको भीगा हुआ नहीं कह सकता, तथापि युक्तिसे तो वह 'भीगा हुआ ही है' यह बात मानना ही होगी इसीप्रकार कान नाक जीभ और त्वचा यह चार इन्द्रियाँ अपने विषयोंके साथ भिड़ती हैं तभी ज्ञान उत्पन्न होता है इसलिये पहिले ही कुछ समय तक विषयका मन्द संबंध रहनेसे ज्ञान (होनेका प्रारंभ हो जाने पर भी) प्रगट मालूम नहीं होता तथापि विषय का संबंध प्रारम्भ हो गया है इसलिये ज्ञानका होना भी प्रारंभ हो गया है—यह बात युक्तिसे अवश्य माननी पड़ती है। उसे (उस प्रारंभ हुए ज्ञानको) अव्यक्तज्ञान अथवा व्यंजनावग्रह कहते हैं।

जब व्यंजनावग्रहमें विषयका स्वरूप ही स्पष्ट नहीं जाना जाता तब फिर विशेषताकी शंका तथा समाधानरूप ईहादि ज्ञान तो कहाँसे हो सकता है ? इसलिये अव्यक्तका अवग्रहमात्र ही होता है। ईहादि नहीं होते।

'व्यक्त' का अर्थ

मन तथा चक्षुके द्वारा होनेवाला ज्ञान विषयके साथ संबद्ध (स्पर्शित) होकर नहीं हो सकता किन्तु दूर रहनेसे ही होता है इसलिये मन और चक्षुके द्वारा जो ज्ञान होता है वह 'व्यक्त' कहलाता है। चक्षु तथा मनके द्वारा होनेवाला ज्ञान अव्यक्त कदापि नहीं होता इसलिये उसके द्वारा अर्थावग्रह ही होता है।

अव्यक्त और व्यक्त ज्ञान

उपरोक्त अव्यक्त ज्ञानका नाम व्यंजनावग्रह है। जबसे विषयकी व्यक्तता भासित होने लगती है तभीसे उस ज्ञानको व्यक्तज्ञान कहते हैं उसका नाम अर्थावग्रह है। यह अर्थावग्रह (अर्थ सहित अवग्रह) सभी इन्द्रियों तथा मनके द्वारा होता है।

ईहा

अर्थावग्रहके बाद ईहा होता है अर्थावग्रह ज्ञानमे किसी पदार्थकी जितनी विशेषता भासित हो चुकी है उससे अधिक जाननेकी इच्छा हो तो वह ज्ञान सत्यकी ओर अधिक झुकता है, उसे ईहाज्ञान कहा जाता है; वह (ईहा) सुदृढ नही होता। ईहामे प्राप्त हुए सत्य विषयका यद्यपि पूर्ण निश्चय नही होता तथापि ज्ञानका अधिकाश वहाँ होता है। वह (ज्ञानके अधिकाश) विषयके सत्यार्थग्राही होते हैं, इसलिये ईहाको सत्य ज्ञानोमे गिना गया है।

अवाय

अवायका अर्थ निश्चय अथवा निर्णय होता है ईहाके वादके काल तक ईहाके विषय पर लक्ष रहे तो ज्ञान सुदृढ हो जाता है; और उसे अवाय कहते हैं। ज्ञानके अवग्रह, ईहा, और अवाय इन तीनो भेदोमे से अवाय उत्कृष्ट अथवा सर्वाधिक विशेषज्ञान है।

धारणा

धारणा अवायके वाद होती है। किन्तु उसमे कुछ अधिक दृढता उत्पन्न होनेके अतिरिक्त अन्य विशेषता नही है, धारणाकी सुदृढताके कारण एक ऐसा संस्कार उत्पन्न होता है कि जिसके हो जानेसे पूर्वके अनुभवका स्मरण हो सकता है।

एकके बाद दूसरा ज्ञान होता ही है या नहीं ?

अवग्रह होनेके बाद ईहा हो या न हो, और यदि अवग्रहके बाद ईहा हो तो एक ईहा ही होकर छूट जाता है और कभी कभी अवाय भी होती है। अवाय होनेके बाद धारणा होती है और नही भी होती।

ईहाज्ञान सत्य है या मिथ्या ?

जिस ज्ञानमे दो विषय ऐसे आ जांय जिनमे एक सत्य हो और दूसरा मिथ्या, तो (ऐसे समय) जिस अंश पर ज्ञान करनेका अधिक ध्यान

'अव्यक्त' का अर्थ

जैसे मिट्टीके कोरे घड़ेको पानीके छींटे डालकर भिगोना प्रारंभ किया जाय तो थोड़े छींटे पड़ने पर भी वे ऐसे सूख जाते हैं कि देखनेवाला उस स्थानको भीगा हुआ नहीं कह सकता, तथापि युक्तिसे तो वह 'भीगा हुआ ही है' यह बात मानना ही होगी, इसीप्रकार कान नाक, जीभ और त्वचा यह चार इन्द्रियाँ अपने विषयोंके साथ भिड़ती हैं तभी ज्ञान उत्पन्न होता है इसलिये पहिले ही कुछ समय तक विषयका मंद संबंध रहनेसे ज्ञान (होनेका प्रारंभ हो जाने पर भी) प्रगट मालूम नहीं होता तथापि विषय का संबंध प्रारंभ हो गया है इसलिये ज्ञानका होना भी प्रारंभ हो गया है— यह बात युक्तिसे अवश्य मानना पड़ती है। उसे (उस प्रारंभ हुए ज्ञानको) अव्यक्तज्ञान अथवा व्यंजनावग्रह कहते हैं।

जब व्यंजनावग्रहमें विषयका स्वरूप ही स्पष्ट नहीं जाना जाता तब फिर विशेषताकी शंका तथा समाधानरूप ईहादि ज्ञान तो कहाँसे हो सकता है ? इसलिये अव्यक्तका अवग्रहमात्र ही होता है। ईहादि नहीं होते।

'व्यक्त' का अर्थ

मन तथा चक्षुके द्वारा होनेवाला ज्ञान विषयके साथ संबद्ध (स्पर्शित) होकर नहीं हो सकता किन्तु दूर रहनेसे ही होता है इसलिये मन और चक्षुके द्वारा जो ज्ञान होता है वह 'व्यक्त' कहलाता है। चक्षु तथा मनके द्वारा होनेवाला ज्ञान अव्यक्त कदापि नहीं होता इसलिये उसके द्वारा अर्थावग्रह ही होता है।

अव्यक्त और व्यक्त ज्ञान

उपरोक्त अव्यक्त ज्ञानका नाम व्यंजनावग्रह है। जबसे विषयकी व्यक्तता भासित होने लगती है तभीसे उस ज्ञानको व्यक्तज्ञान कहते हैं उसका नाम अर्थावग्रह है। यह अर्थावग्रह (अर्थ सहित अवग्रह) सभी इन्द्रियों तथा मनके द्वारा होता है।

ईहा

अर्थावग्रहके वाद ईहा होता है अर्थावग्रह ज्ञानमे किसी पदार्थकी जितनी विशेषता भासित हो चुकी है उससे अधिक जाननेकी इच्छा हो तो वह ज्ञान सत्यकी ओर अधिक झुकता है, उसे ईहाज्ञान कहा जाता है, वह (ईहा) सुदृढ नही होता। ईहामे प्राप्त हुए सत्य विषयका यद्यपि पूर्ण निश्चय नही होता तथापि ज्ञानका अधिकाश वहाँ होता है। वह (ज्ञानके अधिकाश) विषयके सत्यार्थग्राही होते हैं, इसलिये ईहाको सत्य ज्ञानोमे गिना गया है।

अवाय

अवायका अर्थ निश्चय अथवा निर्णय होता है ईहाके वादके काल तक ईहाके विषय पर लक्ष रहे तो ज्ञान सुदृढ हो जाता है; और उसे अवाय कहते हैं। ज्ञानके अवग्रह, ईहा, और अवाय इन तीनो भेदोमे से अवाय उत्कृष्ट अथवा सर्वाधिक विशेषज्ञान है।

धारणा

धारणा अवायके वाद होती है। किन्तु उसमे कुछ अधिक दृढता उत्पन्न होनेके अतिरिक्त अन्य विशेषता नही है, धारणाकी सुदृढताके कारण एक ऐसा संस्कार उत्पन्न होता है कि जिसके हो जानेसे पूर्वके अनुभवका स्मरण हो सकता है।

एकके बाद दूसरा ज्ञान होता ही है या नहीं ?

अवग्रह होनेके बाद ईहा हो या न हो, और यदि अवग्रहके बाद ईहा हो तो एक ईहा ही होकर छूट जाता है और कभी कभी अवाय भी होती है। अवाय होनेके बाद धारणा होती है और नही भी होती।

ईहाज्ञान सत्य है या मिथ्या ?

जिस ज्ञानमे दो विषय ऐसे आ जाँय जिनमे एक सत्य हो और दूसरा मिथ्या, तो (ऐसे समय) जिस अश पर ज्ञान करनेका अधिक ध्यान

हो तदनुसार उस ज्ञानको सत्य या मिथ्या नाम लेना चाहिये । जैसे-एक चन्द्रमाके देखने पर यदि दो चन्द्रमाका ज्ञान हो और वहाँ यदि देखनेवाले का लक्ष केवल चन्द्रमाको समझ लेनेकी ओर हो तो उस ज्ञानको सत्य मानना चाहिये और यदि देखनेवालेका लक्ष एक या दो ऐसी संख्या निश्चित् करने की ओर हो तो उस ज्ञानको असत्य (मिथ्या) मानना चाहिये ।

इस नियमके अनुसार ईहामें ज्ञानका अधिकांश विषयका सत्यांश ग्राही ही होता है इसलिये ईहाको सत्यज्ञान में माना गया है ।

'धारणा' और 'संस्कार' संबंधी स्पष्टीकरण

शंका—धारणा किसी उपयोग ज्ञानका नाम है या संस्कारका ?

शंकाकारका तर्क—यदि उपयोगरूप ज्ञानका नाम धारणा हो तो वह धारणा स्मरणको उत्पन्न करनेके लिये समर्थ नहीं हो सकती क्योंकि कार्य कारणरूप पदार्थोंमें परस्पर कालका अंतर नहीं रह सकता । धारणा कब होती है और स्मरण कब इसमें कालका बहुत बड़ा अंतर पड़ता है । यदि उस (धारणाको) संस्काररूप मानकर स्मरणके समय तक विद्यमान मानने की कल्पना करें तो वह प्रत्यक्षका भेद नहीं होता' क्योंकि संस्कार रूप ज्ञान भी स्मरणकी अपेक्षासे मलिन है स्मरण उपयोगरूप होनेसे अपने समयमें दूसरा उपयोग नहीं होने देता और स्वयं कोई विशेषज्ञान उत्पन्न करता है किन्तु धारणाके संस्काररूप होनेसे उसके रहने पर भी अन्यान्य अनेक ज्ञान उत्पन्न होते रहते हैं, और स्वयं वह धारणा तो अर्थ का ज्ञान ही नहीं करा सकती ।

[यह शंकाकारका तर्क है उसका समाधान करते हैं]

समाधान-'धारणा उपयोगरूप ज्ञानका भी नाम है और संस्कार का भी नाम है । धारणाको प्रत्यक्ष ज्ञानमें माना है और उसकी उत्पत्ति भी अवायके बाद ही होती है उसका स्वरूप भी अवायकी अपेक्षा अधिक दृढ़रूप है इसलिये उसे उपयोगरूप ज्ञानमें गर्भित करना चाहिए ।

वह धारणा स्मरणको उत्पन्न करती है और कार्यके पूर्वक्षणमे कारण रहना ही चाहिये इसलिये उसे सस्काररूप भी कह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि जो स्मरणके समयतक रहता है उसे किसी किसी जगह धारणासे पृथक् गिनाया है और किसी २ जगह धारणाके नामसे कहा है। धारणा तथा उस सस्कारमे कारण-कार्य सम्बन्ध है। इसलिये जहाँ भेद विवक्षा मुख्य होती है वहाँ भिन्न गिने जाते हैं और जहाँ अभेद विवक्षा मुख्य होती है वहाँ भिन्न न गिनकर केवल धारणाको ही स्मरणका कारण कहा है।

चार भेदोंकी विशेषता

इसप्रकार अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा यह चार मतिज्ञानके भेद हैं, उसका स्वरूप उत्तरोत्तर तरतम–अधिक अधिक शुद्ध होता है और उसे पूर्व २ ज्ञानका कार्य समझना चाहिये। एक विषयकी उत्तरोत्तर विशेषता उसके द्वारा जानी जाती है, इसलिये उन चारो ज्ञानोको एक ही ज्ञानके विशेष प्रकार भी कह सकते हैं। मति स्मृति-आदिकी भाँति उसमे कालका असम्बन्ध नही है तथा बुद्धि मेधादिकी भाँति विषयका असम्बन्ध भी नही है ॥ १८ ॥

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥१९॥

अर्थ—व्यजनावग्रह [**चक्षुः अनिन्द्रियाभ्याम्**] नेत्र और मनसे [**न**] नही होता।

टीका

मतिज्ञानके २८८ भेद सोलहवें सूत्रमे कहे गये हैं, और व्यजनावग्रह चार इन्द्रियोके द्वारा होता है, इसलिये उसके बहु बहुविध आदि बारह भेद होने पर अडतालीस भेद हो जाते हैं इसप्रकार मतिज्ञानके ३३६ प्रभेद होते हैं ॥ १९ ॥

हो तदनुसार उस ज्ञानको सत्य या मिथ्या नाम लेना चाहिये। जैसे—एक चन्द्रमाके देखने पर यदि दो चन्द्रमाका ज्ञान हो और वहाँ यदि देखनेवाले का लक्ष केवल चन्द्रमाको समझ लेनेकी ओर हो तो उस ज्ञानको सत्य मानना चाहिये और यदि देखनेवालेका लक्ष एक या दो ऐसी संख्या निश्चित् करने की ओर हो तो उस ज्ञानको असत्य (मिथ्या) मानना चाहिये।

इस नियमके अनुसार ईहामें ज्ञानका अधिकांश विषयका सत्यांश ग्राही ही होता है इसलिये ईहाको सत्यज्ञान में माना गया है।

'धारणा' और 'संस्कार' संबंधी स्पष्टीकरण

शंका—धारणा किसी उपयोग ज्ञानका नाम है या संस्कारका ?

शंकाकारका तर्क—यदि उपयोगरूप ज्ञानका नाम धारणा हो तो वह धारणा स्मरणको उत्पन्न करनेके लिये समर्थ नहीं हो सकती क्योंकि कार्य कारणरूप पदार्थोंमें परस्पर कालका अंतर नहीं रह सकता। धारणा कब होती है और स्मरण कब इसमें कालका बहुत बड़ा अन्तर पड़ता है। यदि उसे (धारणाको) संस्काररूप मानकर स्मरणके समय तक विद्यमान मानने की कल्पना करें तो वह प्रत्यक्षका भेद नहीं होता क्योंकि संस्कार रूप ज्ञान भी स्मरणकी अपेक्षासे मलिन है स्मरण उपयोगरूप होनेसे अपने समयमें दूसरा उपयोग नहीं होने देता और स्वयं कोई विशेषज्ञान उत्पन्न करता है किन्तु धारणाके संस्काररूप होनेसे उसके रहने पर भी अन्यान्य अनेक ज्ञान उत्पन्न होते रहते हैं, और स्वयं वह धारणा तो अर्थ का ज्ञान ही नहीं करा सकती।

[यह शंकाकारका तर्क है उसका समाधान करते हैं]

समाधान—'धारणा उपयोगरूप ज्ञानका भी नाम है और संस्कार का भी नाम है। धारणाको प्रत्यक्ष ज्ञानमें माना है और उसकी उत्पत्ति भी अवायके बाद ही होती है उसका स्वरूप भी अवायकी अपेक्षा अधिक दृढ़रूप है इसलिये उसे उपयोगरूप ज्ञानमें गर्भित करना चाहिए।

वह धारणा स्मरणको उत्पन्न करती है और कार्यके पूर्वक्षणमें कारण रहना ही चाहिये इसलिये उसे संस्काररूप भी कह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि जो स्मरणके समयतक रहता है उसे किसी किसी जगह धारणासे पृथक् गिनाया है और किसी २ जगह धारणाके नामसे कहा है। धारणा तथा उस संस्कारमें कारण-कार्य सम्बन्ध है। इसलिये जहाँ भेद विवक्षा मुख्य होती है वहाँ भिन्न गिने जाते हैं और जहाँ अभेद विवक्षा मुख्य होती है वहाँ भिन्न न गिनकर केवल धारणाको ही स्मरणका कारण कहा है।

चार भेदोंकी विशेपता

इसप्रकार अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा यह चार मतिज्ञानके भेद हैं, उसका स्वरूप उत्तरोत्तर तरतम–अधिक अधिक शुद्ध होता है और उसे पूर्व २ ज्ञानका कार्य समझना चाहिये। एक विषयकी उत्तरोत्तर विशेषता उसके द्वारा जानी जाती है, इसलिये उन चारो ज्ञानोको एक ही ज्ञानके विशेष प्रकार भी कह सकते हैं। मति स्मृति-आदिकी भाँति उसमे कालका असम्बन्ध नही है तथा बुद्धि मेधादिकी भाँति विषयका असम्बन्ध भी नही है ॥ १८ ॥

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥१६॥

अर्थ—व्यजनावग्रह [**चक्षुः अनिन्द्रियाभ्याम्**] नेत्र और मनसे [न] नही होता।

टीका

मतिज्ञानके २८८ भेद सोलहवें सूत्रमे कहे गये हैं, और व्यजनावग्रह चार इन्द्रियोंके द्वारा होता है, इसलिये उसके बहु बहुविध आदि बारह भेद होने पर अडतालीस भेद हो जाते हैं इसप्रकार मतिज्ञानके ३३६ प्रभेद होते हैं॥ १६ ॥

श्रुतज्ञानका वर्णन, उत्पत्तिका क्रम तथा उसके भेद

श्रुतं मतिपूर्वं द्वयनेकद्वादशभेदम् ॥२०॥

अर्थ—[श्रुतम्] श्रुतज्ञान [मतिपूर्वं] मतिज्ञान पूर्वक होता है अर्थात् मतिज्ञानके बाद होता है, यह श्रुतज्ञान [द्वयनेकद्वादशभेदम्] दो, अनेक और बारह भेदवाला है।

टीका

(१) सम्यग्ज्ञानका विषय चल रहा है [देखो सूत्र ९] इसलिये यह सम्यक् श्रुतज्ञानसे सम्बन्ध रखनेवाला सूत्र है—ऐसा समझना चाहिये। मिथ्या श्रुतज्ञानके सम्बन्धमें ३१ वाँ सूत्र कहा है।

(२) श्रुतज्ञान—मतिज्ञानसे ग्रहण किये गये पदार्थसे, उससे भिन्न पदार्थ ग्रहण करनेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। जैसे—

१—सद्गुरुका उपदेश सुनकर आत्माका यथार्थ ज्ञान होना। इसमें उपदेश सुनना मतिज्ञान है और फिर विचार करके आत्माका ज्ञान प्रगट करना श्रुतज्ञान है।

२—शब्दसे घटादि पदार्थोंको जानना। इसमें घट शब्दका सुनना मतिज्ञान है और उससे घट पदार्थका ज्ञान होना श्रुतज्ञान है।

३—धुंयेसे अग्निका ग्रहण करना। इसमें धुंयेको आँखसे देखकर जो ज्ञान हुआ सो मतिज्ञान है और धुंयेसे अग्निका अनुमान करना सो श्रुतज्ञान है।

४—एक मनुष्यने 'जहाज' शब्द सुना सो यह मतिज्ञान है। पहिले जहाजके गुण सुने अथवा पढ़े थे उससम्बन्धी ('जहाज' शब्द सुनकर) जो विचार करता है सो श्रुतज्ञान है।

(३) मतिज्ञानके द्वारा जाने हुए विषयका अवलम्बन लेकर जो उत्तर तर्कणा (दूसरे विषयके सम्बन्धमें विचार) जीव करता है सो श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञानके दो भेद हैं–(१) अक्षरात्मक (२) अनक्षरात्मक।

"आत्मा" शब्दको सुनकर आत्माके गुणोंको हृदयमे प्रगट करना सो अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। अक्षर और पदार्थमे वाचक-वाच्य सम्बन्ध है। 'वाचक' शब्द है उसका ज्ञान मतिज्ञान है, और उसके निमित्तसे 'वाच्य' का ज्ञान होना सो श्रुतज्ञान है। परमार्थसे ज्ञान कोई अक्षर नही है; अक्षर तो जड हैं; वह पुद्गलस्कन्धकी पर्याय है, वह निमित्त मात्र है। 'अक्षरात्मक श्रुतज्ञान' कहने पर कार्यमे कारणका (निमित्तका) मात्र उपचार किया गया समझना चाहिए।

(४) श्रुतज्ञान ज्ञानगुणकी पर्याय है; उसके होनेमे मतिज्ञान निमित्त-मात्र है। श्रुतज्ञानसे पूर्व ज्ञानगुणकी मतिज्ञानरूप पर्याय होती है, और उस उपयोगरूप पर्यायका व्यय होने पर श्रुतज्ञान प्रगट होता है, इसलिये मतिज्ञानका व्यय श्रुतज्ञानका निमित्त है, वह 'अभावरूप निमित्त' है, अर्थात् मतिज्ञान का जो व्यय होता है वह श्रुतज्ञानको उत्पन्न नही करता, किन्तु श्रुतज्ञान तो अपने उपादान कारणसे उत्पन्न होता है। (मतिज्ञानसे श्रुत-ज्ञान अधिक विशुद्ध होता है।)

(५) **प्रश्न**—जगतमे कारणके समान ही कार्य होता है, इसलिये मतिज्ञानके समान ही श्रुतज्ञान होना चाहिये ?

उत्तर—उपादान कारणके समान कार्य होता है, निमित्त कारणके समान नही। जैसे घटकी उत्पत्तिमे दण्ड, चक्र, कुम्हार, आकाश, इत्यादि निमित्त कारण होते हैं, किन्तु उत्पन्न हुआ घट उन दण्ड चक्र कुम्हार आकाश आदिके समान नही होता, किन्तु वह भिन्न स्वरूप ही (मिट्टीके स्वरूप ही) होता है। इसीप्रकार श्रुतज्ञानके उत्पन्न होनेमे मति नाम (केवल नाम) मात्र वाह्य कारण है, और उसका स्वरूप श्रुतज्ञानसे भिन्न है।

(६) एकवार श्रुतज्ञानके होने पर फिर जब विचार प्रलम्बित होता है। तव दूसरा श्रुतज्ञान मतिज्ञानके वीचमे आये विना भी उत्पन्न हो जाता है।

प्रश्न—ऐसे श्रुतज्ञानमे 'मतिपूर्वं' इस सूत्रमे दी गई व्याख्या कैसे लागू होती है ?

उत्तर—उसमें पहिला श्रुतज्ञान मतिपूर्वक हुआ था इसलिये दूसरा श्रुतज्ञान भी मतिपूर्वक है ऐसा उपचार किया जा सकता है। सूत्रमें 'पूर्व' पहिले साक्षात् शब्दका प्रयोग नहीं किया है, इसलिये यह समझना चाहिये कि श्रुतज्ञान साक्षात् मतिपूर्वक और परम्परामतिपूर्वक—ऐसे दो प्रकारसे होता है।

(७) भावश्रुत और द्रव्यश्रुत—

श्रुतज्ञानमें तारतम्यकी अपेक्षासे भेद होता है, और उसके निमित्त में भी भेद होता है। भावश्रुत और द्रव्यश्रुत इन दोनोंमें दो अनेक और बारह भेद होते हैं। भावश्रुतको भावागम भी कह सकते हैं और उसमें द्रव्यागम निमित्त होता है। द्रव्यागम (श्रुत) के दो भेद हैं (१) अङ्ग प्रविष्ट और (२) अङ्गबाह्य। अङ्ग प्रविष्टके बारह भेद हैं।

(८) अनक्षरात्मक और अक्षरात्मक श्रुतज्ञान—

अनक्षरात्मक श्रुतज्ञानके दो भेद हैं—पर्यायज्ञान और पर्यायसमास। सूक्ष्मनिगोदिया जीवके उत्पन्न होते समय जो पहिले समयमें सब जघन्य श्रुतज्ञान होता है सो पर्याय ज्ञान है। दूसरा भेद पर्यायसमास है। सर्व जघन्यज्ञानसे अधिक ज्ञानको पर्यायसमास कहते हैं। [उसके असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं] निगोदिया जीवके सम्यक् श्रुतज्ञान नहीं होता, किन्तु मिथ्याश्रुत होता है इसलिये यह दो भेद सामान्य श्रुतज्ञानकी अपेक्षा से कहे हैं ऐसा समझना चाहिये।

(९) यदि सम्यक् और मिथ्या ऐसे दो भेद न करके—सामान्य मतिश्रुतज्ञानका विचार करें तो प्रत्येक छद्मस्थ जीवके मति और श्रुतज्ञान होता है। स्पर्शके द्वारा किसी वस्तुका ज्ञान होना सो मतिज्ञान है और उसके सम्बन्धसे ऐसा ज्ञान होना कि 'यह हितकारी नहीं है या है' सो श्रुतज्ञान है यह अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। एकेन्द्रियादि असैनी जीवोंके अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान ही होता है। सैनीपंचेन्द्रिय जीवोंके दोनों प्रकारका श्रुतज्ञान होता है।

(१०) प्रमाणके दो प्रकार—

प्रमाण दो प्रकारका है—(१) स्वार्थप्रमाण, (२) परार्थप्रमाण। स्वार्थप्रमाण ज्ञानस्वरूप है और परार्थप्रमाण वचनरूप है। श्रुतके अतिरिक्त चार ज्ञान स्वार्थप्रमाण हैं। श्रुतप्रमाण स्वार्थ-परार्थ-दोनो रूप है, इसलिये वह ज्ञानरूप और वचनरूप है। श्रुत उपादान है और वचन उसका निमित्त है। [विकल्पका समावेश वचनमे हो जाता है।] श्रुत-प्रमाणका अंश 'नय' है।

[देखो पचाध्यायी भाग १ पृष्ठ ३४४ पं० देवकीनन्दनजी कृत और जैन सिद्धान्त दर्पण पृष्ठ २२, राजवार्तिक पृष्ठ १५३, सर्वार्थसिद्धि अध्याय एक सूत्र ६ पृष्ठ ५६]

(११) 'श्रुत' का अर्थ—

श्रुतका अर्थ होता है 'सुना हुआ विषय' अथवा 'शब्द'। यद्यपि श्रुतज्ञान मतिज्ञानके वाद होता है तथापि उसमे वर्णनीय तथा शिक्षा योग्य सभी विषय आते हैं, और वह सुनकर जाना जा सकता है, इसप्रकार श्रुतज्ञानमे श्रुतका (शब्दका) सम्बन्ध मुख्यतासे है, इसलिये श्रुतज्ञानको शास्त्रज्ञान (भावशास्त्रज्ञान) भी कहा जाता है। (शब्दोको सुनकर जो श्रुतज्ञान होता है उसके अतिरिक्त अन्य प्रकारका भी श्रुतज्ञान होता है।) सम्यग्ज्ञानी पुरुषका उपदेश सुननेसे पात्र जीवोको आत्माका यथार्थ ज्ञान हो सकता है, इस अपेक्षासे उसे श्रुतज्ञान कहा जाता है।

(१२) रूढिके बलसे भी मतिपूर्वक होनेवाले इस विशेष ज्ञानको 'श्रुतज्ञान' कहा जाता है।

(१३) श्रुतज्ञानको वितर्क—भी कहते हैं। [अध्याय ९ सूत्र ३६]

(१४) अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य

अंगप्रविष्टके बारह भेद हैं—(१) आचाराग (२) सूत्रकृताग (३) स्थानाग (४) समवायाग (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति अग (६) ज्ञातृधर्म कथाग (७) उपासकाध्ययनाग (८) अंत कृतदशाग (९) अनुत्तरौपपादिकाग (१०) प्रश्नव्याकरणाग (११) विपाकसूत्राग और (१२) दृष्टिप्रवादाग—

उत्तर—उसमें पहिला श्रुतज्ञान मतिपूर्वक हुआ था इसलिये दूसरा श्रुतज्ञान भी मतिपूर्वक है ऐसा उपचार किया जा सकता है। सूत्रमें 'पूर्व' पहिले 'साक्षात्' शब्दका प्रयोग नहीं किया है इसलिये यह समझना चाहिये कि श्रुतज्ञान साक्षात् मतिपूर्वक और परम्परामतिपूर्वक—ऐसे दो प्रकारसे होता है।

(७) भावश्रुत और द्रव्यश्रुत—

श्रुतज्ञानमें तारतम्यकी अपेक्षासे भेद होता है और उसके निमित्त में भी भेद होता है। भावश्रुत और द्रव्यश्रुत इन दोनोंमें दो अनेक और बारह भेद होते हैं। भावश्रुतको भावागम भी कह सकते हैं और उसमें द्रव्यागम निमित्त होता है। द्रव्यागम (श्रुत) के दो भेद हैं (१) अङ्ग प्रविष्ट और (२) अङ्गबाह्य। अङ्ग प्रविष्टके बारह भेद हैं।

(८) अनक्षरात्मक और अक्षरात्मक श्रुतज्ञान—

अनक्षरात्मक श्रुतज्ञानके दो भेद हैं—पर्यायज्ञान और पर्यायसमास। सूक्ष्मनिगोदिया जीवके उत्पन्न होते समय जो पहिले समयमें सर्व जघन्य श्रुतज्ञान होता है सो पर्याय ज्ञान है। दूसरा भेद पर्यायसमास है। सर्व जघन्यज्ञानसे अधिक ज्ञानको पर्यायसमास कहते हैं। [उसके असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं] निगोदिया जीवके सम्यक् श्रुतज्ञान नहीं होता किन्तु मिथ्याश्रुत होता है इसलिये यह दो भेद सामान्य श्रुतज्ञानकी अपेक्षा से कहे हैं ऐसा समझना चाहिये।

(९) यदि सम्यक् और मिथ्या ऐसे दो भेद न करके—सामान्य मतिश्रुतज्ञानका विचार करें तो प्रत्येक छद्मस्थ जीवके मति और श्रुतज्ञान होता है। स्पर्शके द्वारा किसी वस्तुका ज्ञान होना सो मतिज्ञान है और उसके सम्बन्धसे ऐसा ज्ञान होना कि 'यह हितकारी नहीं है या है' सो श्रुतज्ञान है वह अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। एकेन्द्रियादि असंज्ञी जीवोंके अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान ही होता है। संज्ञीपंचेन्द्रिय जीवोंके दोनों प्रकारका श्रुतज्ञान होता है।

(१०) प्रमाणके दो प्रकार—

प्रमाण दो प्रकारका है—(१) स्वार्थप्रमाण, (२) परार्थप्रमाण। स्वार्थप्रमाण ज्ञानस्वरूप है और परार्थप्रमाण वचनरूप है। श्रुतके अतिरिक्त चार ज्ञान स्वार्थप्रमाण हैं। श्रुतप्रमाण स्वार्थ-परार्थ-दोनो रूप है, इसलिये वह ज्ञानरूप और वचनरूप है। श्रुत उपादान है और वचन उसका निमित्त है। [विकल्पका समावेश वचनमे हो जाता है।] श्रुत-प्रमाणका अंश 'नय' है।

[देखो पचाध्यायी भाग १ पृष्ठ ३४४ प० देवकीनन्दनजी कृत और जैन सिद्धान्त दर्पण पृष्ठ २२, राजवार्तिक पृष्ठ १५३, सर्वार्थसिद्धि अध्याय एक सूत्र ६ पृष्ठ ५६]

(११) 'श्रुत' का अर्थ—

श्रुतका अर्थ होता है 'सुना हुआ विषय' अथवा 'शब्द'। यद्यपि श्रुतज्ञान मतिज्ञानके बाद होता है तथापि उसमे वर्णनीय तथा शिक्षा योग्य सभी विषय आते हैं, और वह सुनकर जाना जा सकता है, इसप्रकार श्रुतज्ञानमे श्रुतका (शब्दका) सम्बन्ध मुख्यतासे है, इसलिये श्रुतज्ञानको शास्त्रज्ञान (भावशास्त्रज्ञान) भी कहा जाता है। (शब्दोको सुनकर जो श्रुतज्ञान होता है उसके अतिरिक्त अन्य प्रकारका भी श्रुतज्ञान होता है।) सम्यग्ज्ञानी पुरुषका उपदेश सुननेसे पात्र जीवोको आत्माका यथार्थ ज्ञान हो सकता है, इस अपेक्षासे उसे श्रुतज्ञान कहा जाता है।

(१२) रूढिके बलसे भी मतिपूर्वक होनेवाले इस विशेष ज्ञानको 'श्रुतज्ञान' कहा जाता है।

(१३) श्रुतज्ञानको वितर्क—भी कहते हैं। [अध्याय ९ सूत्र ३९]

(१४) अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य

अंगप्रविष्टके बारह भेद हैं—(१) आचारांग (२) सूत्रकृतांग (३) स्थानांग (४) समवायांग (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग (६) ज्ञातृधर्म कथांग (७) उपासकाध्ययनांग (८) अंत कृतदशांग (९) अनुत्तरौपपादिकांग (१०) प्रश्नव्याकरणांग (११) विपाकसूत्रांग और (१२) दृष्टिप्रवादांग—

अंगबाह्य श्रुतमें—चौदह प्रकीर्णक होते हैं। इन बारह अंग और चौदह पूर्वकी रचना जिस दिन तीर्थंकर भगवानकी दिव्यध्वनि खिरती है तब भावश्रुतरूप पर्यायसे परिणत गणधर भगवान एक ही मुहूर्तमें क्रमसे करते हैं।

(१५) यह सब शास्त्र निमित्तमात्र हैं, भावश्रुतज्ञानमें उसका अनुसरण करके तारतम्य होता है—ऐसा समझना चाहिये।

(१६) मति और श्रुतज्ञानके बीचका भेद—

प्रश्न—जैसे मतिज्ञान इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होता है उसीप्रकार श्रुतज्ञान भी इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होता है तब फिर दोनोंमें अन्तर क्या है ?

शंकाकारके कारण—इन्द्रिय और मनसे मतिज्ञानकी उत्पत्ति होती यह प्रसिद्ध है और श्रुतज्ञान वक्ताके कथन और श्रोताके श्रवणसे उत्पन्न होता है, इसलिये वक्ताकी जीभ और श्रोताके कान तथा मन श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण हैं, इसप्रकार मति-श्रुत दोनोंके उत्पादक कारण इन्द्रिय और मन हुए, इसलिये उन दोनोंको एक मानना चाहिए।

उत्तर—मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको एक मानना ठीक नहीं है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों इन्द्रियों और मनसे उत्पन्न होते हैं यह हेतु असिद्ध है क्योंकि जीभ और कानको श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण मानना भूल है। जीभ तो शब्दका उच्चारण करनेमें कारण है, श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति में नहीं। कान भी जीवके होनेवाले मतिज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण है श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें नहीं, इसलिये श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें दो इन्द्रियोंको कारण बताना और मति तथा श्रुतज्ञान दोनोंको इन्द्रियों और मनसे उत्पन्न कहकर दोनोंको एकता मानना मिथ्या है। वे दो इन्द्रियाँ श्रुतज्ञानमें निमित्त नहीं हैं इसप्रकार मति और श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिके कारणमें भेद है। मतिज्ञान इन्द्रियों और मनके कारण उत्पन्न होता है और जिस पदार्थका इन्द्रियों तथा मनके द्वारा मतिज्ञानसे निर्णय हो जाता है उस

पदार्थका मनके द्वारा जिस विशेषतासे ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है, इसलिये दोनो ज्ञान एक नही किन्तु भिन्न २ हैं।

विशेष स्पष्टीकरण—

१—इद्रिय और मनके द्वारा यह निश्चय किया कि यह 'घट' है सो यह मतिज्ञान है, तत्पश्चात्–उस घडेसे भिन्न, अनेक स्थलो और अनेक कालमे रहनेवाले अथवा विभिन्न रगोके समान जातीय दूसरे घडोका ज्ञान करना श्रुतज्ञान है। एक पदार्थको जाननेके वाद समान जातीय दूसरे प्रकारको जानना सो श्रुतज्ञानका विषय है। अथवा—

२—इन्द्रिय और मनके द्वारा जो घटका निश्चय किया, तत्पश्चात् उसके भेदोका ज्ञान करना सो श्रुतज्ञान है, जैसे–अमुक घडा, अमुक रगका है, अथवा घडा मिट्टीका है, तावेका है, पीतलका है; इसप्रकार इन्द्रिय और मनके द्वारा निश्चय करके उसके भेद प्रभेदको जाननेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। उसी (मतिज्ञानके द्वारा जाने गये) पदार्थके भेद प्रभेद का ज्ञान भी श्रुतज्ञान है। अथवा—

३—'यह जीव है' या 'यह अजीव है' ऐसा निश्चय करनेके बाद जिस ज्ञानसे सत्–सख्यादि द्वारा उसका स्वरूप जाना जाता है वह श्रुतज्ञान है, क्योकि उस विशेष स्वरूपका ज्ञान इन्द्रिय द्वारा नही हो सकता, इसलिये वह मतिज्ञानका विषय नही किन्तु श्रुतज्ञानका विषय है। जीव–अजीवको जाननेके बाद उसके सतसख्यादि विशेषोका ज्ञानमात्र मनके निमित्तसे होता है। मतिज्ञानमे एक पदार्थके अतिरिक्त दूसरे पदार्थका या उसी पदार्थके विशेषोका ज्ञान नही होता; इसलिये मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भिन्न भिन्न हैं। अवग्रहके बाद ईहाज्ञानमे उसी पदार्थका विशेष ज्ञान है और ईहाके बाद अवायमे उसी पदार्थका विशेष ज्ञान है, किन्तु उसमे (ईहा या अवाय, मे) उसी पदार्थके भेद प्रभेदका ज्ञान नहीं है, इसलिये वह मतिज्ञान है–श्रुतज्ञान नही। (अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा मतिज्ञानके भेद हैं।)

सूत्र ११ से २० तकका सिद्धांत

जीवको सम्यग्दर्शन होते ही सम्यक्मति और सम्यक्श्रुतज्ञान होता

है। सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य ऐसा समझना चाहिये। यह जो सम्यकमति और श्रुतज्ञानके भेद दिये गये हैं वे ज्ञान विशेष निर्मल होनेके लिये दिये गये हैं उन भेदोंमें अटककर रागमें लगे रहनेके लिये नहीं दिये गये हैं इसलिये उन भेदोंका स्वरूप जानकर जीवको अपने त्रैकालिक अखण्ड अभेद चैतन्य स्वभावकी ओर उन्मुख होकर निर्विकल्प होनेकी आवश्यकता है॥ २० ॥

अवधिज्ञानका वर्णन

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥ २१ ॥

अर्थ—[भवप्रत्ययः] भवप्रत्यय नामक [अवधि] अवधिज्ञान [देवनारकाणाम्] देव और नारकियोंके होता है।

टीका

(१) अवधिज्ञानके दो भेद हैं (१) भवप्रत्यय, (२) गुण प्रत्यय। प्रत्यय कारण और निमित्त तीनों एकार्थ वाचक शब्द हैं। यहाँ भव प्रत्यय' शब्द बाह्य निमित्तकी अपेक्षासे कहा है अतरंग निमित्त तो प्रत्येक प्रकारके अवधिज्ञानमें अवधिज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम होता है।

(२) देव और नारक पर्यायके धारण करनेपर जीव को जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है वह भवप्रत्यय कहलाता है। जैसे पक्षियोंमें जन्मका होना ही आकाशमें गमनका निमित्त होता है, न कि शिक्षा उपदेश जप तप इत्यादि' इसीप्रकार नारकी और देवकी पर्यायमें उत्पत्ति मात्रसे अवधिज्ञान प्राप्त होता है। [यहाँ सम्यग्ज्ञानका विषय है फिर भी सम्यक् या मिथ्याका भेद किये बिना सामान्य अवधिज्ञानके लिये 'भवप्रत्यय' शब्द दिया गया है।]

(३) भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव नारकी तथा तीर्थंकरोंके (गृहस्थ दशामें) होता है वह नियमसे देशावधि होता है वह समस्तप्रदेशसे उत्पन्न होता है।

(४) 'गुणप्रत्यय'—किसी विशेष पर्याय (भव) की अपेक्षा न करके जीवके पुरुषार्थ द्वारा जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है वह गुणप्रत्यय अथवा क्षायोपशमनिमित्तक कहलाता है॥ २१ ॥

क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञानके भेद तथा उनके स्वामी—

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥ २२ ॥

अर्थ—[**क्षयोपशमनिमित्तः**] क्षयोपशमनैमित्तक अवधिज्ञान [**षड्विकल्प**] अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित–ऐसे छह भेदवाला है, और वह [**शेषाणाम्**] मनुष्य तथा तिर्यंचोके होता है।

टीका

(१) **अनुगामी**—जो अवधिज्ञान सूर्यके प्रकाशकी भाँति जीवके साथ ही साथ जाता है उसे अनुगामी कहते है।

अननुगामी—जो अवधिज्ञान जीवके साथ ही साथ नही जाता उसे अननुगामी कहते हैं।

वर्धमान—जो अवधिज्ञान शुक्ल पक्षके चन्द्रमाकी कलाकी भाँति बढता रहे उसे वर्धमान कहते हैं।

हीयमान—जो अवधिज्ञान कृष्ण पक्षके चन्द्रमाकी कलाके माफिक घटता रहे उसे हीयमान कहते हैं।

अवस्थित—जो अवधिज्ञान एकसा रहे, न घटे न बढे उसे अवस्थित कहते हैं।

अनवस्थित—जो पानीकी तरगोकी भाँति घटता बढता रहे, एकसा न रहे उसे अनवस्थित कहते हैं।

(२) यह अवधिज्ञान मनुष्योको होता है ऐसा कहा गया है, इसमे तीर्थंकरोको नही लेना चाहिए, उनके अतिरिक्त अन्य मनुष्योको समझना चाहिए, वह भी बहुत थोडेसे मनुष्योको होता है। इस अवधिज्ञानको 'गुणप्रत्यय' भी कहा जाता है। वह नाभिके ऊपर शख, पद्म, वज्र, स्वस्तिक, कलश, मछली आदि शुभ चिह्नोंके द्वारा होता है।

(३) अवधिज्ञानके *प्रतिपाति ×अप्रतिपाति, देशावधि, परमावधि और सर्वावधि भेद भी हैं।

(४) —जघन्य—देशावधि संयत तथा असंयत मनुष्यों और तिर्यंचोंके होता है। (देव-नारकीको नहीं होता) उत्कृष्ट देशावधि संयत भावमुनिके ही होता है—अन्य तीर्थंकरादि गृहस्थ-मनुष्य, देव, नारकीके नहीं होता; उनके देशावधि होता है।

(५) देशावधि उपरोक्त (पैरा १ में कहे गये) छह प्रकार तथा प्रतिपाति और अप्रतिपाति ऐसे आठ प्रकार का होता है।

परमावधि—अनुगामी अननुगामी वर्धमान, अवस्थित अनवस्थित और अप्रतिपाति होता है।

(६) अवधिज्ञान रूपी—पुद्गल तथा उस पुद्गलके सम्बन्धवाले संसारी जीव (के विकारी भाव) को प्रत्यक्ष जानता है।

(७) द्रव्य अपेक्षासे जघन्य अवधिज्ञानका विषय—एक जीवके औदारिक शरीर संचयके लोकाकाश-प्रदेश प्रमाण-खंड करने पर उसके एक खंड तकका भाग होता है।

द्रव्यापेक्षासे सर्वावधिज्ञानका विषय—एक परमाणु तक जानता है [देखो सूत्र २८ की टीका]

द्रव्यापेक्षासे मध्यम अवधिज्ञानका विषय—जघन्य और उत्कृष्टके बीचके द्रव्योंके भेदोंको जानता है।

क्षेत्रापेक्षासे जघन्य अवधिज्ञानका विषय—उत्सेधांगुलके [आठ यव मध्यके] असंख्यातवें भाग तकके क्षेत्रको जानता है।

क्षेत्र अपेक्षासे उत्कृष्ट अवधिज्ञानका विषय—असंख्यात लोकप्रमाण तक क्षेत्रको जानता है।

---

* प्रतिपाति—जो गिर जाता है। × अप्रतिपाति—जो नहीं गिरता।
— जघन्य—सबसे कम।

क्षेत्र अपेक्षासे मध्यम अवधिज्ञानका विषय—जघन्य और उत्कृष्टके बीचके क्षेत्र भेदोको जानता है।

कालापेक्षासे जघन्य अवधिज्ञानका विषय—आवलीके असख्यात भाग प्रमाण भूत और भविष्यको जानता है।

कालापेक्षासे उत्कृष्ट अवधिज्ञानका विषय—असख्यात लोक प्रमाण अतीत और अनागतकालको जानता है।

कालापेक्षासे मध्यम अवधिज्ञानका विषय—जघन्य और उत्कृष्टके बीचके काल भेदोको जानता है।

भाव अपेक्षासे अवधिज्ञानका विषय—पहिले द्रव्य प्रमाण निरूपण किये गये द्रव्योकी शक्तिको जानता है।

[श्री धवला पुस्तक १ पृष्ठ ९३–९४]

(८) कर्मका क्षयोपशम निमित्त मात्र है, अर्थात् जीव अपने पुरुषार्थसे अपने ज्ञानकी विशुद्ध अवधिज्ञान पर्यायको प्रगट करता है उसमे 'स्वय' ही कारण है। अवधिज्ञानके समय अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम स्वय होता है इतना सबध बतानेको निमित्त बताया है। कर्मकी उस समय की स्थिति कर्मके अपने कारणसे क्षयोपशमरूप होती है, इतना निमित्त-नैमित्तिक सबध है। वह यहाँ बताया है।

क्षयोपशमका अर्थ–(१) सर्वघातिस्पर्द्धकोका उदयाभाविक्षय, (२) देशघातिस्पर्द्धकोमे गुणका सर्वथा घात करनेकी शक्तिका उपशम क्षयोपशम कहलाता है। तथा—

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनमे वेदक सम्यक्त्वप्रकृतिके 'स्पर्द्धकोको क्षय' और मिथ्यात्व, तथा सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृतियोके उदयाभावको उपशम कहते हैं। प्रकृतियोके क्षय तथा उपशमको क्षयोपशम कहते हैं [श्री धवला पुस्तक ५, पृष्ठ २००–२११–२२१]

(१०) गुणप्रत्यय अवधिज्ञान सम्यग्दर्शन, देशव्रत अथवा महाव्रतके निमित्तसे होता है तथापि वह सभी सम्यग्दृष्टि, देशव्रती या महाव्रती, जीवोके नही होता, क्योकि असख्यात लोकप्रमाण सम्यक्त्व, संयमासंयम

और संयमरूप परिणामोंमें अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमके कारणभूत परिणाम बहुत थोड़े होते हैं [श्री जयधवला पृष्ठ १७] गुणप्रत्यय सुअवधिज्ञान सम्यग्दृष्टि जीवोंके ही हो सकता है किन्तु वह सभी सम्यग्दृष्टि जीवोंके नहीं होता।

सूत्र २१-२२ का सिद्धान्त

यह मानना ठीक नहीं है कि "जिन जीवोंको अवधिज्ञान हुआ हो वे ही जीव अवधिज्ञानका उपयोग लगाकर दर्शन मोहकर्मके रजकणोंकी अवस्थाको देखकर उस परसे यह यथार्थतया जान सकते हैं कि—हमें सम्यग्दर्शन हुआ है' क्योंकि सभी सम्यग्दृष्टि जीवोंको अवधिज्ञान नहीं होता किन्तु सम्यग्दृष्टि जीवोंमेंसे बहुत थोड़ेसे जीवोंको अवधिज्ञान होता है। अपनेको 'सम्यग्दर्शन हुआ है' यदि यह अवधिज्ञानके बिना निश्चय न हो सकता होता तो जिन जीवोंके अवधिज्ञान नहीं होता उन्हें सदा तत्सम्बन्धी शंका-संशय बना ही रहेगा किन्तु निःशंकित्व सम्यग्दर्शनका पहिला ही आधार है इसलिये जिन जीवोंको सम्यग्दर्शन सम्बन्धी शंका बनी रहती है वे जीव वास्तवमें सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकते किन्तु मिथ्यादृष्टि होते हैं। इसलिये अवधिज्ञान तथा मनःपर्ययज्ञानका तथा उनके भेदोंका स्वरूप जानकर भेदोंकी ओरके रागको दूर करके अभेद ज्ञानस्वरूप अपने स्वभाव की ओर उन्मुख होना चाहिये ॥ २२ ॥

मनःपर्ययज्ञानके भेद

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥ २३ ॥

अर्थ—[मनःपर्ययः] मनःपर्ययज्ञान [ऋजुमतिविपुलमतिः] ऋजुमति और विपुलमति दो प्रकारका है।

टीका

(१) मनःपर्ययज्ञानकी व्याख्या नवमें सूत्रकी टीकामें की गई है। दूसरेके मनोगत मूर्तिक द्रव्योंको मनके साथ जो प्रत्यक्ष जानता है सो मनःपर्ययज्ञान है।

(२) द्रव्यापेक्षासे मनःपर्ययज्ञानका विषय—जघन्य रूपसे एक समयमे होनेवाले औदारिक शरीरके निर्जरारूप द्रव्यतक जान सकता है, उत्कृष्टरूपसे आठ कर्मोके एक समयमे वँधे हुए समयप्रवद्धरूप* द्रव्यके अनन्त भागोमेसे एक भाग तक जान सकता है।

क्षेत्रापेक्षासे इस ज्ञानका विषय—जघन्यरूपसे दो, तीन कोसतकके क्षेत्रको जानता है, और उत्कृष्टरूपसे मनुष्यक्षेत्रके भीतर जान सकता है। [यहाँ विष्कभरूप मनुष्यक्षेत्र समझना चाहिए]

कालापेक्षासे इस ज्ञानका विषय—जघन्यरूपसे दो तीन भवोका ग्रहण करता है, उत्कृष्टरूपसे असख्यात भवोका ग्रहण करता है।

भावापेक्षासे इस ज्ञानका विषय—द्रव्यप्रमाणमें कहे गये द्रव्योकी शक्तिको (भावको) जानता है। [श्री धवला पुस्तक १ पृष्ठ ६४]

इस ज्ञानके होनेमे मन अपेक्षामात्र (निमित्तमात्र) कारण है, वह उत्पत्तिका कारण नही है। इस ज्ञानकी उत्पत्ति आत्माकी शुद्धिसे होती है। इस ज्ञानके द्वारा स्व तथा पर दोनोके मनमें स्थित रूपी पदार्थ जाने जा सकते हैं। [श्री सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ४४८–४५१–४५२]

दूसरेके मनमे स्थित पदार्थको भी मन कहते हैं, उनकी पर्यायो (विशेषो) को मन पर्यय कहते हैं, उसे जो ज्ञान जानता है सो मनःपर्यय-ज्ञान है। मन पर्ययज्ञानके ऋजुमति और विपुलमति–ऐसे दो भेद हैं।

ऋजुमति—मनमे चिंतित पदार्थको जानता है, अचिंतित पदार्थको नही, और वह भी सरलरूपसे चिंतित पदार्थको जानता है। [देखो सूत्र २८ की टीका]

विपुलमति—चिंतित और अचिंतित पदार्थको तथा वक्रचिंतित और अवक्रचिंतित पदार्थको भी जानता है। [देखो सूत्र २८ की टीका]

---

* समयप्रवद्ध–एक समयमें जितने कर्म परमाणु और नो कर्म परमाणु बँधते हैं उन सबको समयप्रवद्ध कहते हैं।

और संयमरूप परिणामोंमें अवधिज्ञानावरणके क्षयोपशमके कारणभूत परिणाम बहुत थोड़े होते हैं [श्री जयधवला पृष्ठ १७] गुणप्रत्यय सुअवधिज्ञान सम्यग्दृष्टि जीवोंके ही हो सकता है, किन्तु वह सभी सम्यग्दृष्टि जीवोंके नहीं होता।

सूत्र २१–२२ का सिद्धान्त

यह मानना ठीक नहीं है कि 'जिन जीवोंको अवधिज्ञान हुआ हो वे ही जीव अवधिज्ञानका उपयोग लगाकर दर्शन मोहकर्मके रजकणोंकी अवस्थाको देखकर उस परसे यह यथार्थतया जान सकते हैं कि—मुझे सम्यग्दर्शन हुआ है' क्योंकि सभी सम्यग्दृष्टि जीवोंको अवधिज्ञान नहीं होता, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीवोंमेंसे बहुत थोड़ेसे जीवोंको अवधिज्ञान होता है। अपनेको 'सम्यग्दर्शन हुआ है' यदि यह अवधिज्ञानके बिना निश्चय न हो सकता होता तो जिन जीवोंके अवधिज्ञान नहीं होता उन्हें सदा तत्सम्बन्धी शंका–संशय बना ही रहेगा किन्तु निःशंकित्व सम्यग्दर्शनका पहिला ही आचार है, इसलिये जिन जीवोंको सम्यग्दर्शन सम्बन्धी शंका बनी रहती है वे जीव वास्तवमें सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकते किन्तु मिथ्यादृष्टि होते हैं। इसलिये अवधिज्ञानका मनःपर्ययज्ञानका तथा उनके भेदोंका स्वरूप जानकर भेदोंकी ओरके रागको दूर करके अभेद ज्ञानस्वरूप अपने स्वभावकी ओर उन्मुख होना चाहिये ॥ २२ ॥

मनःपर्ययज्ञानके भेद

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥ २३ ॥

अर्थ—[मनःपर्ययः] मनःपर्ययज्ञान [ऋजुमतिविपुलमतिः] ऋजुमति और विपुलमति दो प्रकारका है।

टीका

(१) मनःपर्ययज्ञानकी व्याख्या नवमें सूत्रकी टीकामें की गई है। दूसरेके मनोगत मूर्तिक द्रव्योंको मनके साथ जो प्रत्यक्ष जानता है सो मनःपर्ययज्ञान है।

अर्थ—मनमे स्थित पेचीदा वस्तुओका पेचीदगी सहित प्रत्यक्षज्ञान, जैसे एक मनुष्य वर्तमानमे क्या विचार कर रहा है, उसके साथ भूतकालमे उसने क्या विचार किया है और भविष्यमे क्या विचार करेगा, इस ज्ञानका मनोगत विकल्प मन'पर्ययज्ञानका विषय है। (बाह्य वस्तुकी अपेक्षा मनोगतभाव एक अति सूक्ष्म और विजातीय वस्तु है) ॥ २३ ॥

ऋजुमति और विपुलमतिमें अन्तर

विशुद्धयप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥२४॥

अर्थः—[विशुद्धयप्रतिपाताभ्या] परिणामोकी विशुद्धि और अप्रतिपात अर्थात् केवलज्ञान होनेसे पूर्व न छूटना [तद्विशेषः] इन दो बातोसे ऋजुमति और विपुलमति ज्ञानमे विशेषता (अन्तर) है।

टीका

ऋजुमति और विपुलमति यह दो मन पर्ययज्ञानके भेद सूत्र २३ की टीकामें दिये गये हैं। इस सूत्रमे स्पष्ट बताया गया है कि विपुलमति विशुद्ध शुद्ध है और वह कभी नही छूट सकता, किन्तु वह केवलज्ञान होने तक बना रहता है। ऋजुमति ज्ञान होकर छूट भी जाता है यह भेद चारित्रकी तीव्रताके भेदके कारण होते हैं। सयम परिणामका घटना—उसकी हानि होना प्रतिपात है, जो कि किसी ऋजुमति वालेके होता है ॥ २४ ॥

अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें विशेषता

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः ॥२५॥

अर्थः—[अवधिमन.पर्यययोः] अवधि और मन'पर्ययज्ञानमे [विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्य.] विशुद्धता, क्षेत्र, स्वामी और विषयकी अपेक्षासे विशेषता होती है।

टीका

मन.पर्ययज्ञान उत्तम ऋद्धिधारी भाव मुनियोके ही होता है, और अवधिज्ञान चारो गतियोके सैनी जीवोके होता है, यह स्वामीकी अपेक्षासे भेद है।

मनःपर्ययज्ञान विशिष्ट संयमधारीके होता है [श्री षट्खण्डागम पुस्तक ६, पृष्ठ २८–२९] 'विपुल' का अर्थ विस्तीर्ण–विशाल–गंभीर होता है। [उसमें कुटिल असरल विषम सरल इत्यादि गर्भित हैं] विपुलमतिज्ञान में ऋजु और वक्र (सरल और पेचीदा) सर्वप्रकारके रूपी पदार्थोंका ज्ञान होता है। अपने तथा दूसरोंके जीवन–मरण, सुख–दुःख, लाभ–अलाभ इत्यादिका भी ज्ञान होता है।

विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी व्यक्त अथवा अव्यक्त मनसे चिंतित या अचिंतित अथवा आगे चलकर चिन्तवन किये जानेवाले सर्वप्रकारके पदार्थोंको जानता है। [सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ४४८–४५१–४५२]

कालापेक्षासे ऋजुमतिका विषय—जघन्यरूपसे भूत भविष्यतके अपने और दूसरेके दो तीन भव जानता है और उत्कृष्टरूपसे उसीप्रकार सात आठ भव जानता है।

क्षेत्रापेक्षासे—यह ज्ञान जघन्यरूपसे तीनसे ऊपर और नौ से नीचे कोस तथा उत्कृष्टरूपसे तीनसे ऊपर और नौ से नीचे योजनके भीतर जानता है। उससे बाहर नहीं जानता।

कालापेक्षासे विपुलमतिका विषय—जघन्यरूपसे अगले पिछले सात आठ भव जानता है और उत्कृष्टरूपसे अगले पिछले असंख्यात भव जानता है।

क्षेत्रापेक्षासे—यह ज्ञान जघन्यरूपसे तीनसे ऊपर और नौ से नीचे योजन प्रमाण जानता है और उत्कृष्टरूपसे मानुषोत्तरपर्वतके भीतर तक जानता है उससे बाहर नहीं। [सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ४५४]

विपुलमतिका अर्थ—इंग्लिश तत्त्वार्थ सूत्रमें निम्न प्रकार दिया है।

Complex direct knowledge of complex mental things e g. of what a man is thinking of now along with what he has thought of it in the past and will think of it in the future.

[पृष्ठ ४]

अर्थ—मनमे स्थित पेचीदा वस्तुओका पेचीदगी सहित प्रत्यक्षज्ञान, जैसे एक मनुष्य वर्तमानमे क्या विचार कर रहा है, उसके साथ भूतकालमे उसने क्या विचार किया है और भविष्यमे क्या विचार करेगा, इस ज्ञानका मनोगत विकल्प मन'पर्ययज्ञानका विषय है। (बाह्य वस्तुकी अपेक्षा मनोगतभाव एक अति सूक्ष्म और विजातीय वस्तु है) ॥ २३ ॥

ऋजुमति और विपुलमतिमें अन्तर

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥२४॥

अर्थः—[**विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्या**] परिणामोकी विशुद्धि और अप्रतिपात अर्थात् केवलज्ञान होनेसे पूर्व न छूटना [**तद्विशेषः**] इन दो बातोंसे ऋजुमति और विपुलमति ज्ञानमे विशेषता (अन्तर) है।

टीका

ऋजुमति और विपुलमति यह दो मन'पर्ययज्ञानके भेद सूत्र २३ की टीकामें दिये गये हैं। इस सूत्रमे स्पष्ट बताया गया है कि विपुलमति विशुद्ध शुद्ध है और वह कभी नही छूट सकता, किन्तु वह केवलज्ञान होने तक बना रहता है। ऋजुमति ज्ञान होकर छूट भी जाता है यह भेद चारित्रकी तीव्रताके भेदके कारण होते हैं। सयम परिणामका घटना—उसकी हानि होना प्रतिपात है, जो कि किसी ऋजुमति वालेके होता है ॥ २४ ॥

अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें विशेषता

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः ॥२५॥

अर्थः—[**अवधिमन.पर्यययोः**] अवधि और मनःपर्ययज्ञानमे [**विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्यः**] विशुद्धता, क्षेत्र, स्वामी और विषयकी अपेक्षासे विशेषता होती है।

टीका

मन पर्ययज्ञान उत्तम ऋद्धिधारी भाव मुनियोके ही होता है, और अवधिज्ञान चारो गतियोके सैनी जीवोके होता है, यह स्वामीकी अपेक्षासे भेद है।

उत्कृष्ट अवधिज्ञानका क्षेत्र असंख्यात लोक प्रमाण तक है; और मनःपर्ययज्ञानका ढाई द्वीप मनुष्य क्षेत्र है। यह क्षेत्रापेक्षासे भेद है।

स्वामी तथा विषयके भेदसे विशुद्धिमें अन्तर जाना जा सकता है, अवधिज्ञानका विषय परमाणु पर्यन्त रूपी पदार्थ है और मनःपर्ययका विषय मनोगत विकल्प है।

विषयका भेद सूत्र २७-२८ की टीकामें दिया गया है तथा सूत्र २२ की टीकामें अवधिज्ञानका और २३ की टीकामें मनःपर्ययज्ञानका विषय दिया गया है उस परसे यह भेद समझ लेना चाहिए ॥ २५ ॥

मति-श्रुतज्ञानका विषय—

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥२६॥

अर्थ—[मतिश्रुतयोः] मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका [निबन्धः] विषय सम्बन्ध [असर्वपर्यायेषु] कुछ (न कि सर्व) पर्यायोंसे युक्त [द्रव्येषु] जीव-पुद्गलादि सर्व द्रव्योंमें है।

टीका

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान सभी रूपी-अरूपी द्रव्योंको जानते हैं किन्तु उनकी सभी पर्यायोंको नहीं जानते उनका विषय-सम्बन्ध सभी द्रव्य और उनकी कुछ पर्यायोंके साथ होता है।

इस सूत्रमें 'द्रव्येषु' शब्द दिया है जिससे जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल सभी द्रव्य समझना चाहिए। उनकी कुछ पर्यायोंको यह ज्ञान जानते हैं सभी पर्यायोंको नहीं।

प्रश्न—जीव धर्मास्तिकाय इत्यादि अमूर्तद्रव्य हैं, उन्हें मतिज्ञान कैसे जानता है जिससे यह कहा जा सके कि मतिज्ञान सब द्रव्योंको जानता है ?

उत्तर—अनिन्द्रिय (मन) के निमित्तसे अरूपी द्रव्योंका अवग्रह ईहा अवाय और धारणारूप मतिज्ञान पहिले उत्पन्न होता है और फिर

उस मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान सर्व द्रव्योको जानता है; और अपनी अपनी योग्य पर्यायोको जानता है।

इन दोनो ज्ञानोंके द्वारा जीवको भी यथार्थतया जाना जा सकता है ॥२६॥

अवधिज्ञानका विषय—

रूपिष्ववधेः ॥ २७ ॥

अर्थः—[अवधेः] अवधिज्ञानका विषय—सम्बन्ध **[रूपिषु]** रूपी द्रव्योमे है अर्थात् अवधिज्ञान रूपी पदार्थोंको जानता है।

टीका

जिसके रूप, रस, गध, स्पर्श होता है वह पुद्गल द्रव्य है, पुद्गलद्रव्यसे सम्बन्ध रखनेवाले ससारी जीवको भी इस ज्ञानके हेतुके लिये रूपी कहा जाता है, [देखो सूत्र २८ की टीका]

जीवके पाँच भावोमेसे औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक,— यह तीन भाव (परिणाम) ही अवधिज्ञानके विषय हैं, और जीवके शेष— क्षायिक तथा परिणामिकभाव और धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, तथा कालद्रव्य, अरूपी पदार्थ हैं, वे अवधिज्ञानके विषयभूत नही होते।

यह ज्ञान सर्व रूपी पदार्थो और उसकी कुछ पर्यायोको जानता है ॥२७॥

मनःपर्ययज्ञानका विषय—

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ॥२८॥

अर्थः—[तत् अनंतभागे] सर्वावधिज्ञानके विषयभूत रूपी द्रव्यके अनतवें भागमें **[मनःपर्ययस्य]** मन पर्ययज्ञानका विषय सम्बन्ध है।

टीका

परमावधिज्ञानके विषयभूत जो पुद्गलस्कंध हैं उनका अनतवाँ भाग

करने पर जो एक परमाणुमात्र होता है सो सर्वावधिका विषय है, उसका अनन्तवाँ भाग ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञानका विषय है और उसका अनन्तवाँ भाग विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानका विषय है। (सर्वार्थ सिद्धि पृष्ठ ४७३)

सूत्र २७–२८ का सिद्धान्त

अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानका विषय रूपी है, ऐसा यहाँ कहा गया है। अध्याय दो सूत्र एकमें आत्माके पाँच भाव कहे हैं उनमें से औदयिक, औपशमिक तथा क्षायोपशमिक ये तीन भाव इस ज्ञानके विषय हैं ऐसा २७ वें सूत्रमें कहा है इससे निश्चय होता है कि परमार्थतः यह तीन भाव रूपी हैं,—अर्थात् वे अरूपी आत्माका स्वरूप नहीं हैं। क्योंकि आत्मामेंसे वे भाव दूर हो सकते हैं और जो दूर हो सकते हैं वे परमार्थसे आत्माके नहीं हो सकते। 'रूपी' की व्याख्या अध्याय पाँचके सूत्र पाँचवेंमें दी है। वहाँ पुद्गल 'रूपी है–ऐसा कहा है और पुद्गल स्पर्श रस गन्ध वर्ण वाले हैं, यह अध्याय पाँचके २३ सूत्रमें कहा है। श्रीसमयसारकी गाथा ५० से ६८ तथा २०३ में यह कहा है कि वर्णादिसे गुणस्थानतकके भाव पुद्गल द्रव्यके परिणाम होनेसे जीवकी अनुभूतिसे भिन्न हैं, इसलिये वे जीव नहीं हैं। वही सिद्धान्त इस शास्त्रमें उपरोक्त संक्षिप्त सूत्रोंके द्वारा प्रतिपादन किया गया है।

अध्याय २ सूत्र १ में उन भावोंको व्यवहारसे जीवका कहा है यदि वे वास्तवमें जीवके होते तो कभी जीवसे अलग न होते किन्तु वे अलग किये जा सकते हैं इसलिये वे जीवस्वरूप या जीवके निजभाव नहीं हैं ॥२८॥

केवलज्ञानका विषय

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥२९॥

अर्थ —[केवलस्य] केवलज्ञानका विषय संबंध [सर्वद्रव्य–पर्यायेषु] सर्व द्रव्य और उनकी सर्व पर्यायें हैं, अर्थात् केवलज्ञान एक ही साथ सभी पदार्थोंको और उनकी सभी पर्यायोंको जानता है।

टीका

केवलज्ञान=असहाय ज्ञान, अर्थात् यह ज्ञान इन्द्रिय, मन या आलोक की अपेक्षासे रहित है। वह त्रिकालगोचर अनन्त पर्यायोको प्राप्त अनन्त वस्तुओको जानता है। वह असकुचित, प्रतिपक्षी रहित और अमर्यादित है।

शंका—जिस पदार्थका नाश हो चुका है और जो पदार्थ अभी उत्पन्न नही हुआ उसे केवलज्ञान कैसे जान सकता है ?

समाधान—केवलज्ञान निरपेक्ष होनेसे वाह्य पदार्थोंकी अपेक्षाके विना ही नष्ट और अनुत्पन्न पदार्थोंको जाने तो इसमे कोई विरोध नही आता। केवलज्ञानको विपर्ययज्ञानत्वका भी प्रसग नही आता, क्योकि वह यथार्थ स्वरूपसे पदार्थोंको जानता है। यद्यपि नष्ट और अनुत्पन्न वस्तुओका वर्तमानमे सद्भाव नही है तथापि उनका अत्यन्ताभाव भी नही है।

केवलज्ञान सर्व द्रव्य और उनकी त्रिकालवर्ती अनतानत पर्यायोको अक्रमसे एक ही कालमे जानता है, वह ज्ञान सहज (विनाइच्छाके) जानता है। केवलज्ञानमे ऐसी शक्ति है कि अनन्तानन्त लोक-अलोक हो तो भी उन्हे जाननेमे केवलज्ञान समर्थ है।

विशेष स्पष्टताके लिये देखो अध्याय १ परिशिष्ट ५ जो वडे महत्वपूर्ण हैं।

शंका—केवली भगवानके एक ही ज्ञान होता है या पाँचो ?

समाधान—पाँचो ज्ञानोका एक ही साथ रहना नही माना जा सकता, क्योकि मतिज्ञानादि आवरणीयज्ञान हैं, केवलज्ञानी भगवान क्षीण आवरणीय हैं इसलिये भगवानके आवरणीय ज्ञानका होना सभव नही है, क्योकि आवरणके निमित्तसे होनेवाले ज्ञानोका (आवरणोका अभाव होनेके बाद) रहना हो सकता, ऐसा मानना न्याय विरुद्ध है, [श्री धवला पु० ६ पृष्ठ २९-३०]

मति आदि ज्ञानोका आवरण केवलज्ञानावरणके नाश होनेके साथ ही सम्पूर्ण नष्ट हो जाता है। [देखो सूत्र ३० की टीका]

एक ही साथ सर्वथा जाननेकी एक एक जीवमे सामर्थ्य है।

२९ वें सूत्रका सिद्धान्त—

मैं परको जानू तो बड़ा कहलाऊं' ऐसा नहीं किन्तु मेरी अपार सामर्थ्य अनन्त ज्ञान ऐश्वर्यरूप है इसलिये मैं पूर्णज्ञानघन स्वाधीन आत्मा हूं—इसप्रकार पूर्ण साध्यको प्रत्येक जीवको निश्चित् करना चाहिये; इसप्रकार निश्चित् करके स्वसे एकत्व और परसे विभक्त (भिन्न) अपने एकाकार स्वरूपकी ओर उन्मुख होना चाहिये। अपने एकाकार स्वरूपकी ओर उन्मुख होने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और जीव क्रमशः आगे बढ़ता है और थोड़े समयमें उसकी पूर्ण ज्ञान दशा प्रगट हो जाती है ॥ २९ ॥

एक जीवके एक साथ कितने ज्ञान हो सकते हैं ?

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥३०॥

अर्थ—[एकस्मिन्] एक जीवमें [युगपत्] एक साथ [एकादीनि] एकसे लेकर [आचतुर्भ्यः] चार ज्ञान तक [भाज्यानि] विभक्त करने योग्य हैं अर्थात् हो सकते हैं।

टीका

(१) एक जीवके एक साथ एकसे लेकर चार ज्ञान तक हो सकते हैं? यदि एक ज्ञान हो तो केवलज्ञान होता है दो हों तो मति और श्रुत होते हैं तीन हों तो मति श्रुत और अवधि अथवा मति श्रुत और मनःपर्ययज्ञान होते हैं चार हों तो मति श्रुत अवधि और मनःपर्ययज्ञान होते हैं। एक ही साथ पाँच ज्ञान किसीके नहीं होते। और एक ही ज्ञान एक समयमें उपयोगरूप होता है केवलज्ञानके प्रगट होने पर वह सदाके लिये बना रहता है दूसरे ज्ञानोंका उपयोग अधिकसे अधिक अंतर्मुहूर्त होता है उससे अधिक नहीं होता उसके बाद ज्ञानके उपयोगका विषय बदल ही जाता है। केवलीके अतिरिक्त सभी संसारी जीवोंके कमसे कम दो अर्थात् मति और श्रुतज्ञान अवश्य होते हैं।

(२) क्षायोपशमिक ज्ञान क्रमवर्ती है एक कालमें एक ही प्रवर्तित

होता है; किन्तु यहाँ जो चार ज्ञान एक ही साथ कहे हैं सो चारका विकास एक ही समय होनेसे चार ज्ञानोकी जाननेरूप लब्धि एक कालमे होती है,—यही कहनेका तात्पर्य है। उपयोग तो एक कालमे एक ही स्वरूप होता है ॥ ३० ॥

सूत्र ९ से ३० तक का सिद्धान्त

आत्मा वास्तवमे परमार्थ है और वह ज्ञान है, आत्मा स्वय एक ही पदार्थ है इसलिये ज्ञान भी एक ही पद है। जो यह ज्ञान नामक एक पद है सो यह परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्ष उपाय है। इन सूत्रोमे ज्ञानके जो भेद कहे हैं वे इस एक पदको अभिनन्दन करते हैं।

ज्ञानके हीनाधिकरूप भेद उसके सामान्य ज्ञान स्वभावको नही भेदते, किन्तु अभिनन्दन करते हैं, इसलिये जिसमे समस्त भेदोका अभाव है ऐसे आत्मस्वभावभूत ज्ञानका ही एकका आलम्बन करना चाहिए, अर्थात् ज्ञानस्वरूप आत्माका ही अवलम्बन करना चाहिये, ज्ञानस्वरूप आत्माके अवलम्बनसे ही निम्न प्रकार प्राप्ति होती है.—

१—निजपदकी प्राप्ति होती है। २—भ्रान्तिका नाश होता है। ३—आत्माका लाभ होता है। ४—अनात्माका परिहार सिद्ध होता है। ५—भावकर्म बलवान नही हो सकता। ६—राग-द्वेष मोह उत्पन्न नही होते। ७—पुन' कर्मका आश्रव नही होता। ८—पुन कर्म नही बँधता। ९—पूर्वबद्ध कर्म भोगा जानेपर निर्जरित हो जाता है। १०—समस्त कर्मोका अभाव होनेसे साक्षात् मोक्ष होता है। ज्ञान स्वरूप आत्माके आलम्बनकी ऐसी महिमा है।

क्षयोपशमके अनुसार ज्ञानमे जो भेद होते हैं वे कही ज्ञान सामान्य को अज्ञानरूप नही करते, प्रत्युत ज्ञानको प्रगट करते हैं इसलिये इन सब भेदो परका लक्ष्य गौण करके ज्ञान सामान्यका अवलम्बन करना चाहिये। नवमे सूत्रके अन्तमे एक वचन सूचक 'ज्ञानम्' शब्द कहा है, वह भेदोका स्वरूप जानकर, भेदो परका लक्ष्य छोडकर, शुद्धनयके विषयभूत अभेद, अखण्ड ज्ञानस्वरूप आत्माकी ओर अपना लक्ष्य करनेके लिये कहा है, ऐसा समझना चाहिए [देखो पाटनी ग्रंथमालाका श्री समयसार–गाथा २०४, पृष्ठ ३१०]

मति श्रुत और अवधिज्ञानमें मिथ्यात्व

मतिश्रुतावधयो विपर्ययाश्च ॥३१॥

अर्थ —[मतिश्रुतावधयः] मति, श्रुत और अवधि यह तीन ज्ञान [विपर्ययाश्च] विपर्यय भी होते हैं।

टीका

(१) उपरोक्त पाँचों ज्ञान सम्यग्ज्ञान हैं, किन्तु मति श्रुत और अवधि यह तीनों ज्ञान मिथ्याज्ञान भी होते हैं। उस मिथ्याज्ञानको कुमतिज्ञान कुश्रुतज्ञान तथा कुअवधि (विभंगावधि) ज्ञान कहते हैं। अभीतक सम्यग्ज्ञानका अधिकार चला आ रहा है, अब इस सूत्रमें 'च' शब्दसे यह सूचित किया है कि यह तीन ज्ञान सम्यक् भी होते हैं और मिथ्या भी होते हैं। सूत्रमें विपर्यय' शब्द प्रयुक्त हुआ है उसमें संशय और और अनध्यवसाय गर्भितरूपसे आ जाते हैं। मति और श्रुतज्ञानमें संशय विपर्यय और अनध्यवसाय यह तीन दोष हैं अवधिज्ञानमें संशय नहीं होता किन्तु अनध्यवसाय अथवा विपर्यय यह दो दोष होते हैं इसलिये उसे कुअवधि अथवा विभंग कहते हैं। विपर्यय सम्बन्धी विशेष वर्णन ३२ वें सूत्रकी टीकामें दिया गया है।

(२) अनादि मिथ्यादृष्टिके कुमति और कुश्रुत होते हैं। तथा उसके देव और नारकीके भवमें कुअवधि भी होता है। जहाँ जहाँ मिथ्यादर्शन होता है वहाँ वहाँ मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र अविनाभावी रूपसे होता है॥ ३१ ॥

प्रश्न—जैसे सम्यग्दृष्टि जीव नेत्रादि इन्द्रियोंसे रूपादिको सुमतिसे जानता है उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि भी कुमतिज्ञानसे उन्हें जानता है तथा जैसे सम्यग्दृष्टि जीव श्रुतज्ञानसे उन्हें जानता है तथा कथन करता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी कुश्रुतज्ञानसे जानता है और कथन करता है तथा जैसे सम्यग्दृष्टि अवधिज्ञानसे रूपी वस्तुओंको जानता है उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि कुअवधिज्ञानसे जानता है,—तब फिर मिथ्यादृष्टिके ज्ञानको मिथ्याज्ञान क्यों कहते हो ?

उत्तर—

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥३२॥

अर्थः—[**यदृच्छोपलब्धे.**] अपनी इच्छासे चाहे जैसा (Whims) ग्रहण करनेके कारण [**सत् असतोः**] विद्यमान और अविद्यमान पदार्थोंका [**अविशेषात्**] भेदरूप ज्ञान (यथार्थ विवेक) न होनेसे [**उन्मत्तवत्**] पागलके ज्ञानकी भाँति मिथ्यादृष्टिका ज्ञान विपरीत अर्थात् मिथ्याज्ञान ही होता है।

टीका

(१) यह सूत्र बहुत उपयोगी है। यह '**मोक्षशास्त्र है**' इसलिये अविनाशी सुखके लिये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप एक ही मार्ग है यह पहिले सूत्रमे बताकर, दूसरे सूत्रमे सम्यग्दर्शनका लक्षण बताया है, जिसकी श्रद्धासे सम्यग्दर्शन होता है वे सात तत्त्व चौथे सूत्रमे बताये हैं, तत्त्वोको जाननेके लिये प्रमाण और नयके ज्ञानोकी आवश्यकता है ऐसा ६ वें सूत्रमे कहा है, पाँच ज्ञान सम्यक् है इसलिये वे प्रमाण हैं, यह ९-१० वें सूत्र मे बताया है और उन पांच सम्यग्ज्ञानोका स्वरूप ११ से ३० वें सूत्र तक बताया है।

(२) इतनी भूमिका बाँधनेके बाद मति श्रुत और अवधि यह तीन मिथ्याज्ञान भी होते हैं, और जीव अनादिकालसे मिथ्यादृष्टि है इसलिये वह जबतक सम्यक्त्वको नही पाता तबतक उसका ज्ञान विपर्यय है, यह ३१ वें सूत्रमे बताया है। **सुखके सच्चे अभिलाषीको सर्व प्रथम मिथ्यादर्शनका त्याग करना चाहिये**—यह बतानेके लिये इस सूत्रमे मिथ्याज्ञान–जो कि सदा मिथ्यादर्शन पूर्वक ही होता है–उसका स्वरूप बताया है।

(३) सुखके सच्चे अभिलाषीको मिथ्याज्ञानका स्वरूप समझानेके लिये कहा है कि—

१—मिथ्यादृष्टि जीव सत् और असत्के बीचका भेद (विवेक) नही जानता, इससे सिद्ध हुआ कि प्रत्येक भव्य जीवको पहिले सत् क्या है और असत् क्या है इसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके मिथ्याज्ञानको दूर करना चाहिये।

२—जहाँ सत् और असत्के भेदका अज्ञान होता है वहाँ नासमझ पूर्वक जीव जैसा अपनेको ठीक लगता है वैसा पागल पुरुषकी भाँति अथवा शराब पीये हुए मनुष्यकी भाँति मिथ्या कल्पनाएँ किया ही करता है। इस लिये यह समझाया है कि सुखके सच्चे अभिलाषी जीवको सच्ची समझ पूर्वक मिथ्या कल्पनाओंका नाश करना चाहिए।

(४) पहिले से तीस तकके सूत्रोंमें मोक्षमार्ग और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानका स्वरूप समझाकर उसे ग्रहण करनेको कहा है, यह उपदेश 'अस्ति' से दिया है और ३१ वें सूत्रमें मिथ्याज्ञानका स्वरूप बताकर उसका कारण ३२वें सूत्रमें देकर मिथ्याज्ञानका नाश करनेका उपदेश दिया है, अर्थात् इस सूत्रमें 'नास्ति' से समझाया है। इसप्रकार अस्ति नास्ति' के द्वारा अर्थात् अनेकांत के द्वारा सम्यक्ज्ञानको प्रगट करके मिथ्याज्ञानकी नास्ति करनेके लिये उपदेश दिया है।

(५) सत्=विद्यमान (वस्तु)

असत्=अविद्यमान (वस्तु)

अविशेषात्=इन दोनोंका यथार्थ विवेक न होनेसे।

यदृच्छ (विपर्यय) उपलब्धेः = [विपर्यय शब्दकी ३१ वें सूत्रसे अनुवृत्ति चली आई है] विपरीत—अपनी मनमानी इच्छानुसार कल्पनाएँ—होनेसे वह मिथ्याज्ञान है।

उन्मत्तवत्—मदिरा पीये हुए मनुष्यकी भाँति।

विपर्यय—विपरीतता वह तीन प्रकारकी है—१—कारणविपरीतता, २—स्वरूपविपरीतता ३—भेदाभेदविपरीतता।

कारणविपरीतता—मूलकारणको न पहिचाने और अन्यथा कारण को माने।

स्वरूपविपरीतता—जिसे जानता है उसके मूल वस्तुभूत स्वरूपको न पहिचाने और अन्यथा स्वरूपको माने।

भेदाभेदविपरीतता—जिसे वह जानता है उसे 'यह इससे भिन्न है' और 'यह इससे अभिन्न है'–इसप्रकार यथार्थ न पहिचान कर अन्यथा भिन्नत्व-अभिन्नत्वको माने सो भेदाभेदविपरीतता है।

(१) इन तीन विपरीतताओंको दूर करनेका उपाय—

सच्चे धर्मकी यह परिपाटी है कि पहिले जीव सम्यक्त्व प्रगट करता है, पश्चात् व्रतरूप शुभभाव होते हैं। और सम्यक्त्व स्व और परका श्रद्धान होनेपर होता है, तथा वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग (अध्यात्म शास्त्रो) का अभ्यास करनेसे होता है, इसलिये **पहिले** जीवको द्रव्यानुयोगके अनुसार श्रद्धा करके सम्यग्दृष्टि होना चाहिये, और **फिर** स्वय चरणानुयोगके अनुसार सच्चे व्रतादि धारण करके व्रती होना चाहिए।

इसप्रकार मुख्यतासे तो नीचली दशामे ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है। यथार्थ अभ्यासके परिणामस्वरूपमे विपरीतताके दूर होने पर निम्नप्रकार यथार्थतया मानता है–

१—एक द्रव्य, उसके गुण या पर्याय दूसरे द्रव्य, उसके गुण या पर्याय मे कुछ भी नही कर सकते। प्रत्येक द्रव्य अपने अपने कारणसे अपनी पर्याय धारण करता है। विकारी अवस्थाके समय परद्रव्य निमित्तरूप अर्थात् उपस्थित तो होता है किन्तु वह किसी अन्यद्रव्यमे विक्रिया (कुछ भी) नही कर सकता। प्रत्येक द्रव्यमे अगुरुलघुत्व नामक गुण है इसलिये यह द्रव्य अन्यरूप नही होता, एक गुण दूसरेरूप नही होता और एक पर्याय दूसरेरूप नही होती। एक द्रव्यके गुण या पर्याय उस द्रव्यसे पृथक् नही हो सकते। इसप्रकार जो अपने क्षेत्रसे अलग नही हो सकते और पर द्रव्यमे नही जा सकते तब फिर वे उसका क्या कर सकते हैं? कुछ भी नही। एक द्रव्य, गुण या पर्याय दूसरे द्रव्यकी पर्यायमे कारण नही होते, इसीप्रकार वे दूसरे का कार्य भी नही होते, ऐसी **अकारणकार्यत्वशक्ति** प्रत्येक द्रव्य मे विद्यमान है। इसप्रकार समझ लेने पर कारणविपरीतता दूर हो जाती है।

२–प्रत्येक द्रव्य स्वतत्र है। जीव द्रव्य चेतनागुण स्वरूप है, पुद्गल-द्रव्य स्पर्श, रस, गध, और वर्ण स्वरूप है, जबतक जीव ऐसी विपरीत पकड

पकड़े रहता है कि 'मैं परका कुछ कर सकता हूँ और पर मेरा कुछ कर सकता है तथा शुभ विकल्पसे लाभ होता है' तबतक उसकी अज्ञानरूप पर्याय बनी रहती है। जब जीव यथार्थको समझता है अर्थात् सत्‌को समझता है तब यथार्थ मान्यता पूर्वक उसे सच्चा ज्ञान होता है। उसके परिणाम स्वरूप क्रमशः शुद्धता बढ़कर सम्पूर्ण वीतरागता प्रगट होती है। अन्य चार द्रव्य (धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाश, और काल) अरूपी हैं उनकी कभी अशुद्ध अवस्था नहीं होती इसप्रकार समझ लेने पर स्वरूप विपरीतता दूर हो जाती है।

३—परद्रव्य जड़कर्म और शरीरसे जीव त्रिकाल भिन्न है जब वे एक क्षेत्रावगाह सम्बन्धसे रहते हैं तब भी जीवके साथ एक नहीं हो सकते एक द्रव्यके द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव दूसरे द्रव्यमें नास्तिरूप हैं क्योंकि दूसरे द्रव्यसे वह द्रव्य चारों प्रकारसे भिन्न है। प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपने गुणसे अभिन्न है। क्योंकि उससे वह द्रव्य कभी पृथक नहीं हो सकता। इसप्रकार समझ लेने पर भेदाभेदविपरीतता दूर हो जाती है।

सत्—त्रिकाल टिकनेवाला सत्यार्थ परमार्थ भूतार्थ, निश्चय शुद्ध यह सब एकार्थवाचक शब्द हैं। जीवका ज्ञायकभाव त्रैकालिक अखण्ड है; इसलिये वह सत् सत्यार्थ परमार्थ भूतार्थ निश्चय और शुद्ध है। इस दृष्टिको द्रव्यदृष्टि वस्तुदृष्टि शिवदृष्टि तत्त्वदृष्टि और कल्याणकारी दृष्टि भी कहते हैं।

असत्—क्षणिक अभूतार्थ अपरमार्थ व्यवहार भेद पर्याय, भंग, अविद्यमान जीवमें होनेवाला विकारभाव असत् है क्योंकि वह क्षणिक है और टालने पर टाला जा सकता है।

जीव अनादिकालसे इस असत् विकारी भाव पर दृष्टि रख रहा है इसलिये उसे पर्यायबुद्धि व्यवहारविमूढ़ अज्ञानी मिथ्यादृष्टि मोही और मूढ़ भी कहा जाता है अज्ञानी जीव इस असत् क्षणिक भावको अपना मान रहा है अर्थात् वह असत्‌को सत् मान रहा है इसलिये इस भेदको जान कर जो असत्‌को गौण करके सत् स्वरूपपर भार देकर अपने ज्ञायक स्व

भावकी ओर उन्मुख होता है वह मिथ्याज्ञानको दूर करके सम्यग्ज्ञान प्रगट करता है, उसकी उन्मत्तता दूर हो जाती है।

विपर्यय—भी दो प्रकारका है, सहज और आहार्य।

(१) **सहज**—जो स्वत अपनी भूलसे अर्थात् परोपदेशके बिना विपरीतता उत्पन्न होती है।

(२) **आहार्य**—दूसरेके उपदेशसे ग्रहण की गई विपरीतता यह श्रोत्रेन्द्रियके द्वारा होनेवाले कुमतिज्ञान पूर्वक ग्रहण किया गया कुश्रुत-ज्ञान है।

शंका—दया धर्मके जाननेवाले जीवोंके भले ही आत्माकी पहिचान न हो तथापि उन्हे दया धर्मकी श्रद्धा तो होती ही है, तब फिर उनके ज्ञान को अज्ञान (मिथ्याज्ञान) कैसे माना जा सकता है ?

समाधान—दया धर्मके ज्ञाताओमे भी आप्त, आगम, और पदार्थ (नव तत्त्वो) की यथार्थ श्रद्धासे रहित जो जीव हैं उनके दयाधर्म आदिमे यथार्थ श्रद्धा होनेका विरोध है, इसलिये उनका ज्ञान अज्ञान ही है। ज्ञानका जो कार्य होना चाहिए वह न हो तो वहाँ ज्ञानको अज्ञान माननेका व्यवहार लोकमे भी प्रसिद्ध है, क्योकि पुत्रका कार्य न करनेवाले पुत्रको भी लोकमे कुपुत्र कहनेका व्यवहार देखा जाता है।

शंका—ज्ञानका कार्य क्या है ?

समाधान—जाने हुए पदार्थकी श्रद्धा करना ज्ञानका कार्य है। ऐसे ज्ञानका कार्य मिथ्यादृष्टि जीवमे नही होता इसलिये उसके ज्ञानको अज्ञान कहा है। [श्री धवला पुस्तक ५, पृष्ठ २२४]

विपर्ययमे सशय और अनध्यवसायका समावेश हो जाता है,—यह ३१ वें सूत्रकी टीकामे कहा है, इसी सम्बन्धमे यहाँ कुछ बताया जाता है—

१—कुछ लोगोंको यह सशय होता है कि धर्म या अधर्म कुछ होगा या नही ?

२—कुछ लोगोंको सर्वज्ञके अस्तित्व—नास्तित्वका संशय होता है।

३—कुछ लोगोंको परलोकके अस्तित्व नास्तित्वका संशय होता है।

४—कुछ लोगोंको अनध्यवसाय (अनिर्णय) होता है। वे कहते हैं कि—हेतुवादरूप तर्कशास्त्र है इसलिये उससे कुछ निर्णय नहीं हो सकता ? और जो आगम है सो वे भिन्न २ प्रकारसे वस्तुका स्वरूप बतलाते हैं कोई कुछ कहता है और कोई कुछ, इसलिये उनकी परस्पर बात नहीं मिलती।

५—कुछ लोगोंको ऐसा अनध्यवसाय होता है कि कोई ज्ञाता सर्वज्ञ अथवा कोई मुनि या ज्ञानी प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता कि जिसके वचनोंको हम प्रमाण मान सकें और धर्मका स्वरूप अति सूक्ष्म है इसलिये कैसे निर्णय हो सकता है ? इसलिये 'महाजनो येन गतः स पन्था' अर्थात् बड़े आदमी जिस मार्गसे जाते हैं उसी मार्ग पर हमें चलना चाहिए।

६—कुछ लोग वीतराग धर्मका लौकिक वादोंके साथ समन्वय करते हैं। वे शुभभावोंके वर्णनमें कुछ समानता देखकर जगतमें चलनेवाली सभी धार्मिक मान्यताओंको एक मान बैठते हैं। (यह विपर्यय है)।

७—कुछ लोग यह मानते हैं कि मंदकषायसे धर्म (शुद्धता) होती है, (यह भी विपयय है)।

८—कुछ लोग ईश्वरके स्वरूपको इसप्रकार विपर्यय मानते हैं कि—इस जगतको किसी ईश्वरने उत्पन्न किया है और वह उसका नियामक है।

इसप्रकार संशय विपर्यय और अनध्यवसाय अनेक प्रकारसे मिथ्या ज्ञानमें होते हैं इसलिये सत् और असत्‌का यथार्थ भेद यथार्थ समझकर स्वच्छंदतापूर्वक की जानेवाली कल्पनाओं और उन्मत्तताको दूर करनेके लिए यह सूत्र कहते हैं। [मिथ्यात्वको उन्मत्तता कहा है क्योंकि मिथ्यात्व से अनन्त पापोंका बंध होता है जिसका ध्यान जगतको नहीं है] ॥३२॥

प्रमाणका स्वरूप कहा गया, अब श्रुतज्ञानके अंशरूप नयका स्वरूप कहते हैं।

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतानयाः॥ ३३॥

अर्थ—[**नैगम**] नैगम [**संग्रह**] संग्रह [**व्यवहार**] व्यवहार [**ऋजुसूत्र**] ऋजुसूत्र [**शब्द**] शब्द [**समभिरूढ**] समभिरूढ [**एवंभूता**] एवंभूत—यह सात [**नयाः**] नय [Viewpoints] हैं।

टीका

वस्तुके अनेक धर्मोंमे से किसी एककी मुख्यता करके अन्य धर्मोंका विरोध किये विना उन्हे गौण करके साध्यको जानना सो नय है।

प्रत्येक वस्तुमे अनेक धर्म रहे हुए हैं इसलिये वह अनेकान्तस्वरूप है। ['अन्त' का अर्थ 'धर्म' होता है] अनेकान्तस्वरूप समझानेकी पद्धतिको 'स्याद्वाद' कहते हैं। स्याद्वाद द्योतक है, अनेकान्त द्योत्य है। 'स्यात्' का अर्थ 'कथचित्' होता है, अर्थात् किसी यथार्थ प्रकारकी विवक्षा का कथन स्याद्वाद है। अनेकान्तका प्रकाश करनेके लिये 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया जाता है।

हेतु और विषयकी सामर्थ्यकी अपेक्षासे प्रमाणसे निरूपण किये गये अर्थके एक देशको कहना सो नय है। उसे 'सम्यक् एकान्त' भी कहते हैं। श्रुतप्रमाण दो प्रकारका है स्वार्थ और परार्थ। उस श्रुतप्रमाणका अंश नय है। शास्त्रका भाव समझनेके लिये नयोंका स्वरूप समझना आवश्यक है, सात नयोंका स्वरूप निम्नप्रकार है।

१—**नैगमनय**—जो भूतकालकी पर्यायमें वर्तमानवत् संकल्प करे अथवा भविष्यकी पर्यायमें वर्तमानवत् संकल्प करे तथा वर्तमान पर्यायमे कुछ निष्पन्न (प्रगटरूप) है और कुछ निष्पन्न नहीं है उसका निष्पन्नरूप संकल्प करे उस ज्ञानको तथा वचनको नैगमनय कहते हैं। [Figurative]

२–संग्रहनय—जो समस्त वस्तुओंको तथा समस्त पर्यायोंको संग्रह रूप करके जानता है तथा कहता है सो संग्रहनय है। जैसे सत् द्रव्य इत्यादि [General, Common]

३–व्यवहारनय—अनेक प्रकारके भेद करके व्यवहार करे या भेदे सो व्यवहारनय है। जो संग्रहनयके द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थको विधिपूर्वक भेद करे सो व्यवहार है जैसे सत्के दो प्रकार हैं—द्रव्य और गुण। द्रव्यके छह भेद हैं—जीव पुद्गल, धर्म अधर्म आकाश और काल। गुणके दो भेद हैं सामान्य और विशेष। इसप्रकार जहाँतक भेद हो सकते हैं वहाँतक यह नय प्रवृत्त होता है। [Distributive]

४–ऋजुसूत्रनय—[ऋजु अर्थात् वर्तमान उपस्थित, सरल] जो ज्ञानका अंश वर्तमान पर्यायमात्रको ग्रहण करे सो ऋजुसूत्रनय है। (Present c ndition)

५–शब्दनय—जो नय लिंग संख्या कारक आदिके व्यभिचारको दूर करता है सो शब्द नय है। यह नय लिंगादिके भेदसे पदार्थको भेदरूप ग्रहण करता है जैसे दार (पु०) भार्या (स्त्री) कलत्र (न) यह दार भार्या और कलत्र तीनों शब्द भिन्न लिंगवाले होनेसे यद्यपि एक ही पदार्थके वाचक हैं तथापि यह नय स्त्री पदार्थको लिंगके भेदसे तीन भेदरूप जानता है। [Descriptive]

६–समभिरूढनय—(१) जो भिन्न २ अर्थोंका उल्लंघन करके एक अर्थको रूढिसे ग्रहण करे। जैसे गाय [Usage] (२) जो पर्यायके भेदसे अर्थको भेदरूप ग्रहण करे। जैसे इन्द्र शक्र पुरन्दर यह तीनों शब्द इन्द्रके नाम हैं किन्तु यह नय तीनोंका भिन्न २ अर्थ करता है। [Specific]

७–एवंभूतनय—जिस शब्दका जिस क्रियारूप अर्थ है उस क्रियारूप परिणमित होनेवाले पदार्थको जो नय ग्रहण करता

है उसे एवंभूतनय कहते है जैसे पुजारीको पूजा करते समय ही पुजारी कहना। [Active]

पहिले तीन भेद द्रव्यार्थिकनयके हैं, उसे सामान्य उत्सर्ग अथवा अनुवृत्ति नामसे भी कहा जाता है।

वादके चार भेद पर्यायार्थिकनयके हैं, उसे विशेष, अपवाद अथवा व्यावृत्ति नामसे कहते हैं।

पहिले चार नय **अर्थनय** हैं, और वादके तीन **शब्दनय** हैं। **पर्याय** के दो भेद है—(१) सहभावी–जिसे गुण कहते हैं, (२) क्रमभावी–जिसे पर्याय कहते हैं।

द्रव्य नाम वस्तुओंका भी है और वस्तुओके सामान्य स्वभावमय एक स्वभावका भी है। जव द्रव्य **प्रमाणका** विषय होता है तव उसका अर्थ वस्तु (द्रव्य–गुण और तीनो कालकी पर्याय सहित) करना चाहिए। जव नयोंके प्रकरणमे द्रव्यार्थिकका प्रयोग होता है तव 'सामान्य स्वभावमय एक स्वभाव' (सामान्यात्मक धर्म) अर्थ करना चाहिए। द्रव्यार्थिकमे निम्नप्रकार तीन भेद होते हैं।

१–सत् और असत् पर्यायके स्वरूपमे **प्रयोजनवश** परस्पर भेद न मानकर दोनोको वस्तुका स्वरूप मानना सो नैगमनय है।

२–सत्के अन्तर्भेदोमे भेद न मानना सो सग्रहनय है।

३–सत्मे अन्तर्भेदोको मानना सो व्यवहारनय है।

नयके ज्ञाननय, शब्दनय और अर्थ नय,—ऐसे भी तीन प्रकार होते हैं।

१–वास्तविक प्रमाणज्ञान है, और जब वह एकदेशग्राही होता है तब उसे नय कहते हैं, इसलिये ज्ञानका नाम नय है और उसे ज्ञान नय कहा जाता है।

२–ज्ञानके द्वारा जाने गये पदार्थका प्रतिपादन शब्दके द्वारा होता है इसलिये उस शब्दको **शब्दनय** कहते है।

३—ज्ञानका विषय पदार्थ है इसलिये नयसे प्रतिपादित किये जाने-वाले पदार्थको भी नय कहते हैं। यह अर्थनय है।

आत्माके संबंधमें इन सात नयोंको श्रीमद्राजचन्द्रजीने निम्नलिखित चौदह प्रकारसे अवतरित किए हैं। वे साधकको उपयोगी होनेसे यहाँ अर्थ सहित दिये जाते हैं।

१—एवंभूतदृष्टिसे ऋजुसूत्र स्थिति कर=पूर्णताके लक्ष्यसे प्रारम्भ कर।

२—ऋजुसूत्रदृष्टिसे एवंभूत स्थिति कर=साधकदृष्टिके द्वारा साध्यमें स्थिति कर।

३—नैगमदृष्टिसे एवंभूत प्राप्ति कर=तू पूर्ण है ऐसी संकल्पदृष्टिसे पूर्णताको प्राप्त कर।

४—एवंभूतदृष्टिसे नगम विशुद्ध कर=पूर्णदृष्टिसे अव्यक्त अंश विशुद्ध कर।

५—संग्रहदृष्टिसे एवंभूत हो=त्रैकालिक सत्दृष्टिसे पूर्ण शुद्ध पर्याय प्रगट कर।

६—एवंभूतदृष्टिसे संग्रह विशुद्ध कर=निश्चयदृष्टिसे सत्ताको विशुद्ध कर।

७—व्यवहारदृष्टिसे एवंभूतके प्रति जा=भेददृष्टि छोड़कर अभेदके प्रति जा।

८—एवंभूतदृष्टिसे व्यवहार निवृत्ति कर=अभेददृष्टिसे भेदको निवृत्त कर।

९—शब्ददृष्टिसे एवंभूतके प्रति जा=शब्दके रहस्यभूत पदार्थकी दृष्टिसे पूर्णताके प्रति जा।

१ —एवंभूतदृष्टिसे शब्द निर्विकल्प कर=निश्चयदृष्टिसे शब्दके रहस्य भूत पदार्थमें निर्विकल्प हो।

११–समभिरूढदृष्टिसे एवभूतको देख=साधक अवस्थाके आरूढभावसे निश्चयको देख।

१२–एवभूतदृष्टिसे समभिरूढ स्थिति कर=निश्चयदृष्टिसे समस्वभावके प्रति आरूढ स्थिति कर।

१३–एवभूतदृष्टिसे एवभूत हो=निश्चयदृष्टिसे निश्चयरूप हो।

१४–एवभूत स्थितिसे एवभूतदृष्टिको शमित कर=निश्चय स्थितिसे निश्चयदृष्टिके विकल्पको शमित करदे।

वास्तविकभाव लौकिक भावोंसे विरुद्ध होते हैं।

प्रश्न—यदि व्यवहारनयसे अर्थात् व्याकरणके अनुसार जो प्रयोग (अर्थ) होता है उसे आप शब्दनयसे दूषित कहेगे तो लोक और शास्त्रमे विरोध आयगा।

उत्तर—लोक न समझें इसलिये विरोध भले करें, यहाँ यथार्थ स्वरूप (तत्त्व) का विचार किया जा रहा है—परीक्षा की जा रही है। औषधि रोगीकी इच्छानुसार नही होती। [सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ५३४] जगत रोगी है ज्ञानीजन उसीके अनुकूल (रुचिकर) तत्त्वका स्वरूप (औषधि) नही कहते, किन्तु वे वही कहते हैं जो यथार्थ स्वरूप होता है॥ ३३॥

पाँच प्रकारसे जैन शास्त्रोंके अर्थ समझने की रीति

प्रत्येक वाक्यका पांच प्रकारसे अर्थ करना चाहिये—

शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थ।

"परमार्थको नमस्कार" इस वाक्यका यहाँ पांच प्रकारसे अर्थ किया जाता है—

(१) **शब्दार्थ**—'जो ध्यानरूपी अग्निके द्वारा कर्मकलकको भस्म करके शुद्ध नित्य निरजन ज्ञानमय हुए हैं उन परमात्माको मैं नमस्कार करता हूँ।' यह परमात्माको नमस्कारका शब्दार्थ हुआ।

(२) नयार्थ—शुद्ध निश्चयनयसे आत्मा परमानदस्वरूप है पूर्णशुद्धता प्रगट हुई वह सद्भूत व्यवहारनयका विषय है। कर्म दूर हुए वह असद्भूत अनुपचरित व्यवहारनयका विषय है। इसप्रकार प्रत्येक स्थान पर नयसे समझना चाहिये। यदि नयोंके अभिप्रायको न समझे तो वास्तविक अर्थ समझमें नहीं आता। यथार्थ ज्ञानमें साधकके सुनय होते ही हैं।

'ज्ञानावरणीय कर्मने ज्ञानको रोका'—ऐसा वाक्य हो वहाँ 'ज्ञानावरणीय नामका जड़ कर्म रोकता है ऐसा कहना-दो द्रव्योंका संबंध बतलानेवाला व्यवहारनयका कथन है सत्यार्थ नहीं है।

शास्त्रोंके सच्चे रहस्यको खोलनेके लिये नयार्थ होना चाहिये, नयार्थको समझे बिना चरणानुयोगका कथन भी समझमें नहीं आता। गुरुका उपकार माननेका कथन आवे वहाँ समझना चाहिये कि गुरु परद्रव्य है इसलिये वह व्यवहारका कथन है और वह असद्भूतउपचरित व्यवहारनय है। परमात्म प्रकाश गाथा ७ तथा १४ के अर्थमें बताया गया है कि—असद्भूत का अर्थ 'मिथ्या' होता है।

चरणानुयोगमें परद्रव्य छोड़नेकी बात आवे वहाँ समझना चाहिये कि वहाँ रागको छुड़ानेके लिये व्यवहारनयका कथन है। प्रवचनसारमें शुद्धता और शुभरागकी मित्रता कही है किन्तु वास्तवमें वहाँ उनमें मित्रता नहीं है राग तो शुद्धताका शत्रु ही है किन्तु चरणानुयोगके शास्त्रमें वैसा कहने की पद्धति है और वह व्यवहारनयका कथन है। अशुभसे बचनेके लिये शुभ राग निमित्तमात्र मित्र कहा है उसका भावार्थ तो यह है कि—वह वास्तवमें वीतरागताका शत्रु है किन्तु निमित्त बतानेके लिये व्यवहारनय द्वारा ऐसा ही कथन होता है।

(३) मतार्थ—दूसरे विरुद्ध मत किसप्रकारसे मिथ्या हैं उसका वर्णन करना सो मतार्थ है। चरणानुयोगमें कहे हुए व्यवहाररत्नत्रयादि करते से धर्म हो ऐसी मान्यतावाला अन्यमत है जैनमत नहीं है सो कुन्दकुन्दाचार्यने भावपाहुड़ गाथा ८३ में कहा है कि—'पूजादिकमें और व्रतादि सहित होय सो तो पुण्य है और मोह क्षोभ रहित आत्माका परिणाम सो धर्म है।

लौकिक जन-अन्यमति कई कहै हैं जो पूजा आदिक शुभ क्रियामे और व्रत-क्रिया सहित है सो जिनधर्म है सो ऐसे नही है।"

यहाँ बौद्ध, वेदान्त, नैयायिक इत्यादिमे जो एकान्त मान्यता है और जिनमतमें रहनेवाले जीवमे भी जिसप्रकारकी विपरीत-एकात-मान्यता चल रही हो वह भूल बतलाकर उस भूल-रहित सच्चा अभिप्राय बतलाना सो मतार्थ है।

(४) **आगमार्थ**—जो सत् शास्त्रमे (सिद्धातमे) कहा हो उसके साथ अर्थको मिलाना सो आगमार्थ है। सिद्धातमे जो अर्थ प्रसिद्ध हो वह आगमार्थ है।

(५) **भावार्थ**—तात्पर्य अर्थात् इस कथनका अन्तिम अभिप्राय-सार क्या है? कि-परमात्मरूप वीतरागी आत्मद्रव्य ही उपादेय है, इसके अतिरिक्त कोई निमित्त या किसी प्रकारका राग-विकल्प उपादेय नही है। यह सब तो मात्र जाननेयोग्य है, एक परमशुद्ध स्वभाव ही आदरणीय है। भावनमस्काररूप पर्याय भी निश्चयसे आदरणीय नही है, इसप्रकार परम शुद्धात्म स्वभावको ही उपादेयरूपसे अगीकार करना सो **भावार्थ** है।

यह पाँच प्रकारसे शास्त्रोका अर्थ करनेकी बात समयसार, पचास्तिकाय, बृ० द्रव्यसग्रह, परमात्मप्रकाशकी टीकामे है।

यदि किसी शास्त्रमें वह न कही हो तो भी प्रत्येक शास्त्रके प्रत्येक कथनमें इन पाँच प्रकारसे अर्थ करके उसका भाव समझना चाहिये।

नयका स्वरूप संक्षेपमें निम्न प्रकार है:—

सम्यग्नय सम्यग् श्रुतज्ञानका अवयव है और इससे वह परमार्थसे ज्ञानका (उपयोगात्मक) अश है, और उसका शब्दरूप कथनको मात्र उपचारसे नय कहा है।

इस विषयमे श्री धवला टीकामे कहा है कि'—

शंका—नय किसे कहते हैं?

समाधान—ज्ञाताके अभिप्रायको नय कहते हैं।

शङ्का—अभिप्राय' इसका क्या अर्थ है ?

समाधान—प्रमाणसे गृहीत वस्तुके एक देशमें वस्तुका निश्चय ही अभिप्राय है।

युक्ति अर्थात् प्रमाणसे अर्थके ग्रहण करने अथवा द्रव्य और पर्याय में से किसी एक को अर्थरूपसे ग्रहण करनेका नाम नय है। प्रमाणसे जानी हुई वस्तुके द्रव्य अथवा पर्यायमें वस्तुके निश्चय करनेको नय कहते हैं यह इसका अभिप्राय है।

(धवला टीका पुस्तक ६ पृष्ठ १६२-१६३)

प्रमाण और नयसे वस्तुका ज्ञान होता है इस सूत्र द्वारा भी यह व्याख्यान विरुद्ध नहीं पड़ता। इसका कारण यह है कि प्रमाण और नयसे उत्पन्न वाक्य भी उपचारसे प्रमाण और नय है।

(ध० टी० पु० ६ पृष्ठ १६४)

[यहाँ श्री वीरसेनाचार्यने वाक्यको उपचारसे नय कहक ज्ञानात्मक नयको परमार्थसे नय कहा है]

पंचाध्यायीमें भी नयके दो प्रकार माने हैं—

द्रव्यनयो भावनयः स्यादिति भेदाद्द्विधा च सोऽपियथा।
पौद्गलिकः किल शब्दो द्रव्य भावश्च चिदिति जीवगुण ॥५०५॥

"अर्थ—वह नय भी द्रव्यनय और भावनय इसप्रकारके भेदसे दो प्रकारका है जैसे कि वास्तवमें पौद्गलिक शब्द द्रव्यनय कहलाता है तथ जीवका गुण जो चैतन्य यह है वह भावनय कहलाता है। अर्थात् नय ज्ञानात्मक और वचनात्मकके भेदसे दो प्रकारका है। उनमेंसे वचनात्मक नय द्रव्यनय तथा ज्ञानात्मक नय भावनय कहलाता है।

स्वामी कार्तिकेय विरचित द्वादशानुप्रेक्षामें नयके तीन प्रकार क है। सब वस्तुके धर्मको उसके वाचक शब्दको और उसके ज्ञानको न कहते हैं:—

"सो चिय इक्को धम्मो, वाचय सद्दो वि तस्स धम्मस्स ।
तं जाणदि तं णाणं, ते तिण्णि वि णय विसेसा य ॥२६५॥

अर्थ—जो वस्तुका एक धर्म, उस धर्मका वाचक शब्द और उस धर्मको जाननेवाला ज्ञान ये तीनो ही नयके विशेप है।

भावार्थ—वस्तुका ग्राहक ज्ञान, उसका वाचक शब्द और वस्तु इनको जैसे प्रमाणस्वरूप कहते हैं वैसे ही नय भी कहते हैं।"

(पाटनी ग्रन्थमालासे प्र० कार्तिकेयानुप्रेक्षा पृष्ठ १७०)

"सुयणाणस्स वियप्पो, सो वि णओ" श्रुतज्ञानके विकल्प (-भेद) को नय कहा है। (का० अनुप्रेक्षा गा० २६३)

जैन नीति अथवा नय विवक्षाः—

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तु तत्त्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥२२५॥

(पु० सि० उपाय)

अर्थ—मथानीको खीचनेवाली ग्वालिनीकी तरह जिनेन्द्र भगवान् की जो नीति अर्थात् नय विवक्षा है वह वस्तु स्वरूपको एक नय विवक्षासे खीचती हुई तथा दूसरी नय विवक्षासे ढीली करती हुई अत अर्थात् दोनो विवक्षाओसे जयवन्त रहे।

भावार्थ—भगवान्की वाणी स्याद्वादरूप अनेकान्तात्मक है, वस्तु का स्वरूप मुख्य तथा गौण नयकी विवक्षासे ग्रहण किया जाता है। जैसे जीव द्रव्य नित्य भी है और अनित्य भी है, द्रव्यार्थिकनयकी विवक्षासे नित्य है तथा पर्यायार्थिक नयकी विवक्षासे अनित्य है यही नय विवक्षा है।

(जिनवाणी प्रचारक कार्यालय कलकत्तासे प्र० श्री अमृतचद्राचार्य कृत पुरुषार्थ सि० उ० पृष्ठ १२३)

यह श्लोक सूचित करता है कि-शास्त्रमे कई स्थान पर निश्चयनय की मुख्यतासे कथन है और कहीपर व्यवहारनयकी मुख्यतासे कथन है,

परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि—धर्म किसी समय तो व्यवहारनय (—अभूतार्थनय) के आश्रयसे होता है और किसी समय निश्चयनय (—भूतार्थनय) के आश्रयसे होता है, परन्तु धर्म तो हमेशा निश्चयनय अर्थात् भूतार्थनयके ही आश्रयसे होता है (—अर्थात् भूतार्थनयके अखण्ड विषयरूप निजशुद्धात्माके आश्रयसे ही धर्म होता है।) ऐसा न्याय—पु० सि० उपायके ५ वें श्लोकमें तथा श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ गा० ३११-१२ के भावार्थमें दिया गया है। इसलिये इस श्लोक नं० २२५ का अन्य प्रकार अर्थ करना ठीक नहीं है।

इसप्रकार श्री उमास्वामि विरचित मोक्षशास्त्रके प्रथम अध्यायकी गुजराती टीकाका हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।

प्रथम अध्याय का परिशिष्ट

[१]

सम्यग्दर्शनके सम्बन्धमें कुछ ज्ञातव्य

(१)

सम्यग्दर्शनकी आवश्यकता

प्रश्न—ज्ञानी जब कहते हैं कि सम्यग्दर्शनसे धर्मका प्रारम्भ होता है, तब फिर सम्यग्दर्शन रहित ज्ञान और चारित्र कैसे होते हैं ?

उत्तर—यदि सम्यग्दर्शन न हो तो ग्यारह अंगका ज्ञाता भी मिथ्याज्ञानी है, और उसका चारित्र भी मिथ्याचारित्र है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शनके विना व्रत, जप, तप, भक्ति, प्रत्याख्यान आदि जितने भी आचरण हैं वे सब मिथ्याचारित्र हैं, इसलिये यह जानना आवश्यक है कि सम्यग्दर्शन क्या है और वह कैसे प्राप्त हो सकता है।

(२)

सम्यग्दर्शन क्या है ?

प्रश्न—सम्यग्दर्शन क्या है ? वह द्रव्य है, गुण है या पर्याय ?

उत्तर—सम्यग्दर्शन जीव द्रव्यके श्रद्धागुणकी एक निर्मल पर्याय है। इस जगतमे छह द्रव्य हैं उनमेंसे एक चैतन्यद्रव्य (जीव) है, और पाँच अचेतन–जड द्रव्य–पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल हैं। जीव द्रव्य अर्थात् आत्मवस्तुमे अनन्त गुण हैं, उनमेसे एक गुण श्रद्धा (मान्यता विश्वास-प्रतीति) है, उस गुणकी अवस्था अनादि-कालसे उलटी है इसलिये जीवको अपने स्वरूपका भ्रम बना हुआ है, उस अवस्थाको मिथ्यादर्शन कहते हैं। उस श्रद्धागुणकी सुलटी [–शुद्ध] अवस्था सम्यग्दर्शन है। इसप्रकार आत्माके श्रद्धागुणकी शुद्ध पर्याय सम्यग्दर्शन है।

(३)

श्रद्धागुणकी मुख्यतासे निश्चय सम्यग्दर्शनकी व्याख्या

(१) श्रद्धागुणकी जिस अवस्थाके प्रगट होनेसे अपने शुद्ध आत्माका प्रतिभास हो सो सम्यग्दर्शन है।

(२) सर्वज्ञ भगवानकी वाणीमें जैसा पूर्ण आत्माका स्वरूप कहा गया है वैसा श्रद्धान करना सो निश्चय सम्यग्दर्शन है।

[निश्चय सम्यग्दर्शन निमित्तको अपूर्ण या विकारी पर्यायको, भंगभेदको या गुणभेदको स्वीकार नहीं करता (भेदरूप) लक्ष्यमें नहीं लेता।]

नोट—बहुतसे लोग यह मानते हैं कि मात्र एक सर्वव्यापक आत्मा है और वह आत्मा कूटस्थमात्र है किन्तु उनके कथनानुसार चैतन्यमात्र आत्माको मानना सम्यग्दर्शन नहीं है।

(३) स्वरूपका श्रद्धान।

(४) आत्म श्रद्धान [पुरुषार्थसिद्धि उपाय श्लोक २१६]

(५) स्वरूपकी यथार्थ प्रतीति–श्रद्धान [मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ४७१–सस्ती ग्रन्थमाला देहलीसे प्रकाशित]

(६) परसे भिन्न अपने आत्माकी श्रद्धा रुचि [समयसार कलश ६ छहढाला तीसरी ढाल छन्द २।]

नोट—यहाँ परसे 'भिन्न' शब्द सूचित करता है कि सम्यग्दर्शनको परवस्तु निमित्त अशुद्धपर्याय अपूर्ण शुद्धपर्याय या भंगभेद आदि कुछ भी स्वीकार्य नहीं है। सम्यग्दर्शनका विषय [लक्ष्य] पूर्ण ज्ञानघन त्रैकालिक आत्मा है। [पर्यायकी अपूर्णता इत्यादि सम्यग्ज्ञानका विषय है।]

(७) विशुद्धज्ञान–दर्शनस्वभावरूप निज परमात्माकी रुचि सम्यग्दर्शन है [जयसेनाचार्यकृत टीका–हिन्दी समयसार पृष्ठ ८]

नोट—यहाँ 'निज' शब्द है वह अनेक आत्मा हैं उनसे अपनी भिन्नता बतलाता है।

(८) शुद्ध जीवास्तिकायकी रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व। [जयसेनाचार्यकृत टीका—पंचास्तिकाय गाथा १०७ पृष्ठ १७०]

(४)

ज्ञान गुणकी मुख्यतासे निश्चय सम्यग्दर्शनकी व्याख्या

(१) विपरीत अभिनिवेशरहित जीवादि तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन का लक्षण है, [मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ४७० तथा पुरुषार्थ सिद्धयुपाय श्लोक २२]

नोट—यह व्याख्या प्रमाण दृष्टिसे है उसमें अस्ति–नास्ति दोनो पहलू बताये हैं।

(२) 'जीवादिका श्रद्धान सम्यक्त्व है' अर्थात् जीवादि पदार्थोंके यथार्थ श्रद्धान स्वरूपमे आत्माका परिणमन सम्यक्त्व है [समयसार गाथा १५५, हिन्दी टीका पृष्ठ २२५, गुजराती पृष्ठ २०१]

(३) भूतार्थसे जाने हुए पदार्थोंसे शुद्धात्माके पृथक्त्वका सम्यक् अवलोकन। [जयसेनाचार्यकृत टीका-हिन्दी समयसार पृष्ठ २२६]

नोट—कालम न० २ और ३ यह सूचित करते हैं कि जिसे नव पदार्थोंका सम्यग्ज्ञान होता है उसे ही सम्यग्दर्शन होता है। इसप्रकार सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शनका अविनाभावी भाव बतलाता है। यह कथन द्रव्यार्थिक नयसे है।

(३) पचाध्यायी भाग दूसरेमे ज्ञानकी अपेक्षासे निश्चयसम्यग्दर्शन की व्याख्या श्लोक १८६ से १८९ मे दी गई है, यह कथन पर्यायार्थिकनयसे है। वह निम्नप्रकार कहा गया है—

[गाथा १८६]—'इसलिये शुद्धतत्त्व कही उन नव तत्त्वोसे विलक्षण अर्थान्तर नहीं है, किन्तु केवल नवतत्त्व सम्बन्धी विकारोको छोडकर नवतत्त्व ही शुद्ध हैं।

भावार्थ—इससे सिद्ध होता है कि केवल विकार की उपेक्षा करने से नवतत्त्व ही शुद्ध हैं, नवतत्त्वोसे कही सर्वथा भिन्न शुद्धत्व नही है।'

[गाथा १८७]—'इसलिये सूत्रमे तत्त्वार्थकी श्रद्धा करनेको सम्यग्दर्शन माना गया है, और वह भी जीव-अजीवादिरूप नव हैं, × ×

भावार्थ —विकारकी अपेक्षा करने पर शुद्धत्व नवतत्त्वोंसे अभिन्न है, इसलिये सूत्रकारने [तत्त्वार्थसूत्रमें] उनतत्त्वोंके यथार्थ श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है। ×××'

[गाथा १८८] इस गाथामें जीव अजीव आस्रव बन्ध संवर निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंके नाम दिये हैं।

गाथा १८९] 'पुण्य और पापके साथ इन सात तत्त्वोंको नव पदार्थ कहा जाता है, और ये नव पदार्थ भूतार्थके आश्रयसे सम्यग्दर्शनका वास्तविक विषय हैं।

भावार्थः— पुण्य और पापके साथ यह सात तत्त्व ही नव पदार्थ कहलाते हैं और ये नव पदार्थ यथार्थताके आश्रयसे सम्यग्दर्शनके यथार्थ विषय हैं।

नोटः—यह ध्यान रहे कि यह कथन ज्ञानकी अपेक्षासे है। दर्शनापेक्षासे सम्यग्दर्शनका विषय अपना अखंड शुद्ध चैतन्यस्वरूप परिपूर्ण आत्मा है,—यह बात ऊपर बताई गई है।

(५) शुद्ध चेतना एक प्रकारकी है क्योंकि शुद्धका एक प्रकार है। शुद्ध चेतनामें शुद्धताकी उपलब्धि होती है इसलिये वह शुद्धरूप है और वह ज्ञानरूप है इसलिये वह ज्ञान चेतना है' [पंचाध्यायी अध्याय २ गाथा १९४]

'सभी सम्यग्दृष्टियोंके यह ज्ञानचेतना प्रवाहरूपसे अथवा अखण्ड एकधारारूपसे रहती है। [पंचाध्यायी अध्याय २ गाथा ८५१]

(६) ज्ञेय-ज्ञातृतत्त्वकी यथावत् प्रतीति जिसका लक्षण है वह सम्यग्दर्शन पर्याय है। [प्रवचनसार अध्याय १ गाथा ४२ श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका पृष्ठ ११५]

(७) आत्मासे आत्माको जाननेवाला जीव निश्चयसम्यग्दृष्टि है। [परमात्मप्रकाश गाथा ८२]

(८) 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' [तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १ सूत्र २]

(५)

चारित्रगुणकी मुख्यतासे निश्चयसम्यग्दर्शनकी व्याख्या

(१) "ज्ञानचेतनामे 'ज्ञान' शब्दसे ज्ञानमय होनेके कारण शुद्धात्माका ग्रहण है, और वह शुद्धात्मा जिसके द्वारा अनुभूत होता है उसे ज्ञानचेतना कहते हैं" [पचाध्यायी अध्याय २ गाथा १९६—भावार्थ०]

(२) उसका स्पष्टीकरण यह है कि–आत्माका ज्ञानगुण सम्यक्त्वयुक्त होनेपर आत्मस्वरूपकी जो उपलब्धि होती है, उसे ज्ञानचेतना कहते हैं'। [पचाध्यायी गाथा १९७]

(३) 'निश्चयसे यह ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टिके ही होती है। [पचाध्यायी गाथा १९८]

नोटः—यहाँ आत्माका जो शुद्धोपयोग है—अनुभव है वह चारित्रगुणकी पर्याय है।

(४) आत्माकी शुद्ध उपलब्धि सम्यग्दर्शनका लक्षण है [पचाध्यायी गाथा २१५]

नोट —यहाँ इतना ध्यान रखना चाहिये कि ज्ञानकी मुख्यता या चारित्रकी मुख्यतासे जो कथन है उसे सम्यग्दर्शनका बाह्य लक्षण जानना चाहिये, क्योंकि सम्यग्ज्ञान और अनुभवके साथ सम्यग्दर्शन अविनाभावी है इसलिये वे सम्यग्दर्शनको अनुमानसे सिद्ध करते हैं। इस अपेक्षासे इसे व्यवहार कथन कहते हैं और दर्शन [श्रद्धा] गुणकी अपेक्षासे जो कथन है उसे निश्चय कथन कहते हैं।

(५) दर्शनका निश्चय स्वरूप ऐसा है कि–भगवान् परमात्म स्वभावके अतीन्द्रिय सुखकी रुचि करनेवाले जीवमे शुद्ध अन्तरग आत्मिक तत्त्वके आनन्दको उत्पन्न होनेका धाम ऐसे शुद्ध जीवास्तिकायका (अपने जीवस्वरूपका) परमश्रद्धान, दृढ प्रतीति और सच्चा निश्चय ही दर्शन है (यह व्याख्या सुख गुणकी मुख्यतासे है।)

(६)

अनेकान्त स्वरूप

दर्शन-ज्ञान-चारित्र सम्बन्धी अनेकान्त स्वरूप समझने योग्य है इसलिये वह यहाँ कहा जाता है।

(१) सम्यग्दर्शन—सभी सम्यग्दृष्टियोंके अर्थात् चौथे गुणस्थानसे सिद्धोंतक सभीके एक समान है अर्थात् शुद्धात्माकी मान्यता उन सबके एकही है-मान्यतामें कोई अन्तर नहीं है।

(२) सम्यग्ज्ञान—सभी सम्यग्दृष्टियोंके सम्यक्त्वकी अपेक्षासे ज्ञान एक ही प्रकारका है किन्तु ज्ञान किसीके हीन या किसीके अधिक होता है। तेरहवें गुणस्थानसे सिद्धोंतकका ज्ञान सम्पूर्ण होनेसे सर्व वस्तुओंको युगपद् जानता है। नीचेके गुणस्थानोंमें [चौथेसे बारहवें तक] ज्ञान क्रमशः होता है और वहाँ यद्यपि ज्ञान सम्यक् है तथापि कम बढ़ होता है उस अवस्थामें जो ज्ञान विकासरूप नहीं है वह अभावरूप है इसप्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें अन्तर है।

(३) सम्यक्चारित्र—सभी सम्यग्दृष्टियोंके जो कुछ भी चारित्र प्रगट हुआ हो सो सम्यक है। और जो दसवें गुणस्थान तक प्रगट नहीं हुआ सो विभावरूप है। तेरहवें गुणस्थानमें अनुजीवी योग गुण कंपनरूप होनेसे विभावरूप है और वहाँ प्रतिजीवीगुण बिलकुल प्रगट नहीं है। चौदहवें गुणस्थानमें भी उपादानकी कचाई है इसलिये वहाँ औदयिकभाव है।

(४) जहाँ सम्यग्दर्शन है वहाँ सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरण चारित्रका अंश अभेदरूप होता है ऊपर कहे अनुसार दर्शनगुणसे ज्ञानगुण का पृथक्त्व और इन दोनों गुणोंसे चारित्रगुणका पृथक्त्व सिद्ध हुआ इसप्रकार अनेकान्त स्वरूप हुआ।

(५) यह भेद पर्यायार्थिकनयसे है। द्रव्य अखण्ड है इसलिये द्रव्यार्थिकनयसे सभी गुण अभेद-अखण्ड हैं, ऐसा समझना चाहिये।

(७)

दर्शन [श्रद्धा], ज्ञान, चारित्र इन तीनों गुणोंकी अभेददृष्टिसे निश्चय सम्यग्दर्शनकी व्याख्या

(१) अखण्ड प्रतिभासमय, अनन्त, विज्ञानघन, परमात्मस्वरूप समयसारका जब आत्मा अनुभव करता है उसी समय आत्मा सम्यक्‌रूपसे दिखाई देता है–[अर्थात् श्रद्धा की जाती है] और ज्ञात होता है इसलिये समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। नयोंके पक्षपातको छोडकर एक अखण्ड प्रतिभासको अनुभव करना ही 'सम्यग्दर्शन' और 'सम्यग्ज्ञान' ऐसे नाम पाता है। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान कहीं अनुभवसे भिन्न नहीं हैं। [समयसार गाथा १४४ टीका भावार्थ,]

(२) वर्ते निज स्वभावका अनुभव लक्ष प्रतीत,
वृत्ति वहे जिनभावमें परमार्थे समकित।

[आत्मसिद्धि गाथा १११]

अर्थ—अपने स्वभावकी प्रतीति, ज्ञान और अनुभव वर्ते और अपने भावमें अपनी वृत्ति वहे सो परमार्थ सम्यक्त्व है।

(८)

निश्चय सम्यग्दर्शनका चारित्रके भेदोंकी अपेक्षासे कथन

निश्चय सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थानसे प्रारम्भ होता है, चौथे और पाँचवें गुणस्थानमे चारित्रमे मुख्यतया राग होता है इसलिये उसे 'सराग सम्यक्त्व' कहते है। छठे गुणस्थानमे चारित्रमे राग गौण है, और ऊपरके गुणस्थानोमें उसके दूर होते होते अन्तमे सम्पूर्ण वीतराग चारित्र हो जाता है, इसलिये छठे गुणस्थानसे 'वीतराग सम्यक्त्व,' कहलाता है।

(९)

निश्चय सम्यग्दर्शनके सम्बन्धमें प्रश्नोत्तर

प्रश्नः—मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धीके निमित्तसे होनेवाले विपरीत अभिनिवेशसे रहित जो श्रद्धा है सो निश्चय सम्यक्त्व है या व्यवहार सम्यक्त्व ?

उत्तरः—यह निश्चय सम्यक्त्व है, व्यवहार सम्यक्त्व नहीं।

प्रश्नः—पंचास्तिकायकी १०७ वीं गाथाकी संस्कृत टीकासे उसे व्यवहार सम्यक्त्व कहा है।

उत्तरः—नहीं उसमें इसप्रकार शब्द हैं–"मिथ्यात्वोदयजनित विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धानम्" यहाँ 'श्रद्धान' कहकर श्रद्धानकी परिभाषा कराई है किन्तु उसे व्यवहार सम्यक्त्व नहीं कहा है व्यवहार और निश्चय सम्यक्त्वकी व्याख्या गाथा १०७ में कथित 'भावाणम्' शब्दके अर्थ में कही है।

प्रश्नः—'अध्यात्मकमलमार्तंड' की सातवीं गाथामें उसे व्यवहार सम्यक्त्व कहा है क्या यह ठीक है?

उत्तरः—नहीं वहाँ निश्चय सम्यक्त्वकी व्याख्या है द्रव्यकर्मके उपशम क्षय इत्यादिके निमित्तसे सम्यक्त्व उत्पन्न होता है–इसप्रकार निश्चय सम्यक्त्वकी व्याख्या करना सो व्यवहारनयसे है क्योंकि यह व्याख्या परद्रव्यकी अपेक्षासे की है। अपने पुरुषार्थसे निश्चय सम्यक्त्व प्रगट होता है यह निश्चयनयका कथन है। हिन्दीमें जो 'व्यवहार सम्यक्त्व' ऐसा अर्थ किया है सो यह मूल गाथाके साथ मेल नहीं खाता।

(१०)

व्यवहार सम्यग्दर्शनकी व्याख्या

(१) पंचास्तिकाय षड्द्रव्य तथा जीव-पुद्गलके संयोगी परिणामोंसे उत्पन्न आस्रव बन्ध पुण्य पाप संवर, निर्जरा और मोक्ष इसप्रकार नव पदार्थोंके विकल्परूप व्यवहार सम्यक्त्व है।

[पंचास्तिकाय गाथा १०७ जयसेनाचार्यकृत टीका पृष्ठ १७०]

(२) जीव अजीव आस्रव बन्ध संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंकी ज्योंकी त्यों यथार्थ अटल श्रद्धा करना सो व्यवहार सम्यग्दर्शन है। [छहढाला ढाल ३ छन्द ३]

(३) प्रश्न:—क्या व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शनका साधक है ?

उत्तर:—प्रथम जब निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है तब विकल्प रूप व्यवहार सम्यग्दर्शनका अभाव होता है। इसलिये वह (व्यवहार सम्यग्दर्शन) वास्तवमे निश्चय सम्यग्दर्शनका साधक नही है, तथापि उसे भूतनैगमनयसे साधक कहा जाता है, अर्थात् पहिले जो व्यवहार सम्यग्दर्शन था वह निश्चय सम्यग्दर्शनके प्रगट होते समय अभावरूप होता है, इसलिये जब उसका अभाव होता है तब पूर्वकी सविकल्प श्रद्धाको व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है। (परमात्म प्रकाश गाथा १४० पृष्ठ १४३, प्रथमावृत्ति सस्कृत टीका) इसप्रकार व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शनका कारण नही, किन्तु उसका अभाव कारण है।

(११)

व्यवहाराभास सम्यग्दर्शनको कभी व्यवहार सम्यग्दर्शन भी कहते हैं।

द्रव्यलिंगी मुनिको आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और सयमभावकी एकता भी कार्यकारी नही है [देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक देहलीवाला पृष्ठ ३४९]

यहाँ जो 'तत्त्वार्थ श्रद्धान' शब्दका प्रयोग हुआ है सो वह भाव निक्षेपसे नही किन्तु नाम निक्षेपसे है।

'जिसे स्व-परका यथार्थ श्रद्धान नहीं है किन्तु जो वीतराग कथित देव, गुरु और धर्म—इन तीनोको मानता है तथा अन्यमतमें कथित देवादि को तथा तत्त्वादिको नहीं मानता, ऐसे केवल व्यवहार सम्यक्त्वसे वह निश्चय सम्यक्त्वी नाम नही पा सकता'। (प० टोडरमलजी कृत रहस्यपूर्ण चिट्ठी) उसका गृहीत मिथ्यात्व दूर होगया है इस अपेक्षासे व्यवहार सम्यक्त्व हुआ है ऐसा कहा जाता है किन्तु उसके अगृहीत मिथ्यादर्शन है इसलिये वास्तवमें उसे व्यवहाराभास-सम्यग्दर्शन है।

मिथ्यादृष्टि जीवको देव गुरु धर्मादिका श्रद्धान आभासमात्र होता है उसके श्रद्धानमेंसे विपरीताभिनिवेशका अभाव नहीं हुआ है और उसे व्यवहार सम्यक्त्व आभासमात्र है इसलिये उसे जो देव गुरु धर्म नव तत्त्वादिका श्रद्धान है सो विपरीताभिनिवेशके अभावके लिये कारण नहीं हुआ और कारण हुए बिना उसमें [सम्यग्दर्शनका] उपचार सम्भवित नहीं होता, इसलिये उसके व्यवहार सम्यग्दर्शन भी संभव नहीं है, उसे व्यवहार सम्यक्त्व मात्र नामनिक्षेपसे कहा जाता है [मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ९ पृष्ठ ४७६–४७७ देहलीका]

(१२)

सम्यग्दर्शनके प्रगट करनेका उपाय

प्रश्न—सम्यग्दर्शनके प्रगट करनेका क्या उपाय है ?

(१)

उत्तर—आत्मा और परद्रव्य सर्वथा भिन्न हैं एकका दूसरेमें अत्यंत अभाव है। एक द्रव्य उसका कोई गुण या पर्याय दूसरे द्रव्यमें, उसके गुणमें या उसकी पर्यायमें प्रवेश नहीं कर सकते इसलिये एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ भी नहीं कर सकता ऐसी वस्तुस्थितिकी मर्यादा है। और फिर प्रत्येक द्रव्यमें अगुरुलघुत्व गुण है क्योंकि वह सामान्यगुण है। उस गुणके कारण कोई किसीका कुछ नहीं कर सकता। इसलिये आत्मा परद्रव्यका कुछ नहीं कर सकता शरीरको हिला डुला नहीं सकता, द्रव्यकर्म या कोई भी परद्रव्य जीवको कभी हानि नहीं पहुँचा सकता—यह पहिले निश्चय करना चाहिये।

इसप्रकार निश्चय करनेसे जगतके परपदार्थोंके कर्तृत्वका जो अभिमान आत्मामें अनादिकालसे चला आरहा है वह दोष मान्यतामेंसे और ज्ञानमेंसे दूर हो जाता है।

शास्त्रोंमें कहा गया है कि द्रव्यकर्म जीवके गुणोंका घात करते हैं इसलिये कई लोग मानते हैं कि उन कर्मोंका उदय जीवके गुणोंका वास्तव

मे घात करता है, और वे लोग ऐसा ही अर्थ करते हैं; किन्तु उनका यह अर्थ ठीक नही है। क्योकि वह कथन व्यवहारनयका है जो कि केवल निमित्तका ज्ञान करानेवाला है। उसका वास्तविक अर्थ यह है कि-जब जीव अपने पुरुपार्थके दोपसे अपनी पर्यायमे विकार करता है अर्थात् अपनी पर्यायका घात करता है तब उस घातमे अनुकूल निमित्तरूप जो द्रव्यकर्म आत्मप्रदेशोसे खिरनेके लिये तैयार हुआ है उसे 'उदय' कहनेका उपचार है अर्थात् उस कर्मपर विपाक उदयरूप निमित्तका आरोप होता है। और यदि जीव स्वय अपने सत्यपुरुषार्थमे विकार नही करता—अपनी पर्यायका घात नही करता तो द्रव्यकर्मोके उसी समूहको 'निर्जरा' नाम दिया जाता है। इसप्रकार निमित्त-नैमित्तिक सबधका ज्ञान करने मात्रके लिये उस व्यवहार कथनका अर्थ होता है। यदि अन्यप्रकारसे (शब्दानुसार ही) अर्थ किया जाय तो इस सम्बन्धके बदले कर्त्ता, कर्मका सबध माननेके बराबर होता है, अर्थात् उपादान–निमित्त, निश्चयव्यवहार एकरूप हो जाता है, अथवा एक ओर जीवद्रव्य और दूसरी ओर अनन्त पुद्गल द्रव्य हैं, तो अनन्त द्रव्योने मिलकर जीवमे विकार किया है ऐसा उसका अर्थ हो जाता है, जो कि ऐसा नही हो सकता। यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतानेके लिये कर्मके उदयने जीवपर असर करके हानि पहुँचाई,—उसे परिणमित किया इत्यादि प्रकारसे उपचारसे कहा जाता है, किन्तु उसका यदि उस शब्दके अनुसार ही अर्थ किया जाय तो वह मिथ्या है। [देखो समयसार गाथा १२२ से १२५, १६०, तथा ३३७ से ३४४, ४१२ अमृतचन्द्राचार्य की टीका तथा समय सार कलश न० २११–१२–१३–२१६]

इसप्रकार सम्यग्दर्शन प्रगट करनेके लिये पहिले स्वद्रव्य–परद्रव्य की भिन्नता निश्चित करनी चाहिए, और फिर क्या करना चाहिए सो कहते हैं।

(२)

स्वद्रव्य और परद्रव्यकी भिन्नता निश्चित् करके, परद्रव्यो परसे लक्ष छोडकर स्वद्रव्यके विचारमें आना चाहिए वहाँ आत्मामे दो पहलू हैं उन्हें जानना चाहिए। एक पहलू-आत्माका प्रतिसमय त्रिकाल अखड परि-

पूर्ण असण्ड स्वभावरूपता द्रव्य-गुण पर्यायमें (वर्तमान पर्यायको गौण करने पर) है, आत्माका यह पहलू निश्चयनयका विषय है। इस पहलूका निश्चय करनेवाले ज्ञानका पहलू 'निश्चयनय' है।

दूसरा पहलू—वर्तमान पर्यायमें दोष है—विकार है अल्पज्ञता है यह निश्चय करना चाहिए। यह पहलू व्यवहारनयका विषय है। इसप्रकार दो नयोंके द्वारा आत्माके दोनों पहलुओंका निश्चय करनेके बाद पर्यायका आश्रय छोड़ कर अपने त्रिकाल चैतन्य स्वरूपकी ओर उन्मुख होना चाहिए।

इसप्रकार त्रैकालिक द्रव्यकी ओर उन्मुख होनेपर—वह त्रैकालिक नित्य पहलू होनेसे उसके आश्रयसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

यद्यपि निश्चयनय और सम्यग्दर्शन दोनों भिन्न २ गुणोंकी पर्याय हैं तथापि उन दोनोंका विषय एक है अर्थात् उन दोनोंका विषय एक अखण्ड शुद्ध बुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा है उसे दूसरे शब्दोंमें 'त्रिकालिक ज्ञायक स्वरूप' कहा जाता है। सम्यग्दर्शन किसी परद्रव्य देव गुरु शास्त्र अथवा निमित्त पर्याय, गुणभेद या भग इत्यादिको स्वीकार नहीं करता क्योंकि उसका विषय उपरोक्त कथनानुसार त्रिकाल ज्ञायकस्वरूप आत्मा है।

(१३)

निर्विकल्प अनुभवका प्रारम्भ

निर्विकल्प अनुभवका प्रारम्भ चौथे गुणस्थानसे ही होता है किन्तु इस गुणस्थानमें वह बहुतकालके अन्तरसे होता है और ऊपरके गुणस्थानों में जल्दी २ होता है। नीचेके और ऊपरके गुणस्थानोंकी निर्विकल्पतामें भेद यह है कि परिणामोंकी मग्नता ऊपरके गुणस्थानोंमें विशेष है। [गुजराती मोक्षमार्ग प्रकाशकके साथकी श्री टोडरमलजी कृत रहस्य पूर्ण चिट्ठी पृष्ठ ३४६]

(१४)

जब कि सम्यक्त्व पर्याय है तब उसे गुण कैसे कहते हैं ?

प्रश्नः—सम्यग्दर्शन पर्याय है फिर भी कहीं २ उसे सम्यक्त्व गुण क्यों कहते हैं ?

उत्तर:—वास्तवमे तो सम्यग्दर्शन पर्याय है, किन्तु जैसा गुण है वैसी ही उसकी पर्याय प्रगट हुई है—इसप्रकार गुण पर्यायकी अभिन्नता वतानेके लिये कही कही उसे सम्यक्त्व गुण भी कहा जाता है, किन्तु वास्तवमे सम्यक्त्व पर्याय है, गुण नही। जो गुण होता है वह त्रिकाल रहता है। सम्यक्त्व त्रिकाल नही होता किन्तु उसे जीव जव अपने सत् पुरुषार्थसे प्रगट करता है तव होता है। इसलिये वह पर्याय है।

(१५)

सभी सम्यग्दृष्टियोंका सम्यग्दर्शन समान है

प्रश्न:—छद्मस्थ जीवोको सम्यग्दर्शन होता है और केवली तथा सिद्धभगवानके भी सम्यग्दर्शन होता है, वह उन सवके समान होता है या असमान ?

उत्तर:—जैसे छद्मस्थ (–अपूर्णज्ञानी) जीवके श्रुतज्ञानके अनुसार प्रतीति होती है उसीप्रकार केवलीभगवान और सिद्धभगवानके केवलज्ञानके अनुसार प्रतीति होती है। जैसे तत्त्वश्रद्धान छद्मस्थको होता है वैसा ही केवली–सिद्धभगवानके भी होता है। इसलिये ज्ञानादिकी हीनाधिकता होने पर भी तिर्यंच आदिके तथा केवली और सिद्धभगवानके सम्यग्दर्शन तो समान ही होता है, क्योकि जैसी आत्म स्वरूपकी श्रद्धा छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि को है वैसी ही केवली भगवानको है। ऐसा नही होता कि चौथे गुणस्थान मे शुद्धात्माकी श्रद्धा एक प्रकारकी हो और केवली होने पर अन्य प्रकारकी हो, यदि ऐसा होने लगे तो चौथे गुणस्थानमे जो श्रद्धा होती है वह यथार्थ नही कहलायगी किन्तु मिथ्या सिद्ध होगी। [देहलीका मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ४७५]

(१६)

सम्यग्दर्शनके भेद क्यों कहे गये हैं ?

प्रश्न:—यदि सभी सम्यग्दृष्टियोका सम्यग्दर्शन समान है तो फिर आत्मानुशासनकी ग्यारहवी गाथामे सम्यग्दर्शनके दश प्रकारके भेद क्यो कहे गये हैं ?

उत्तरः—सम्यग्दर्शनके यह भेद निमित्तादिकी अपेक्षासे कहे गए हैं आत्मानुशासनमें दश प्रकारसे सम्यक्त्वके जो भेद कहे गये हैं उनमें से आठ भेद सम्यग्दर्शन प्रगट होनेसे पूर्व जो निमित्त होते हैं उनका ज्ञान करानेके लिए कहे हैं और दो भेद ज्ञानके सहकारीपनकी अपेक्षासे कहे हैं। श्रुत केवलीको जो तत्त्वश्रद्धान है उसे अवगाढ़ सम्यग्दर्शन कहते हैं, और केवली भगवानको जो तत्त्वश्रद्धान है उसे परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन कहा जाता है इसप्रकार आठ भेद निमित्तोंकी अपेक्षासे और दो भेद ज्ञानकी अपेक्षासे हैं। दर्शनकी अपनी अपेक्षासे ये भेद नहीं हैं। उन दशों प्रकारमें सम्यग्दर्शनका स्वरूप एक ही प्रकारका होता है—ऐसा समझना चाहिए, [दे० का मोक्षमार्ग प्रकाशक मु० पृ० ४९३]

प्रश्न—यदि चौथे गुणस्थानसे सिद्धभगवान तक सभी सम्यग्दृष्टियों के सम्यग्दर्शन एकसा है तो फिर केवलीभगवानके परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन क्यों कहा है ?

उत्तर—जैसे छद्मस्थको श्रुतज्ञानके अनुसार प्रतीति होती है उसीप्रकार केवली और सिद्धभगवानको केवलज्ञानके अनुसार ही प्रतीति होती है। चौथे गुणस्थानमें सम्यग्दर्शनके प्रगट होने पर जो आत्मस्वरूप निर्णीत किया था वही केवलज्ञानके द्वारा जाना गया इसलिए वहाँ प्रतीतिमें परमावगाढ़ना कहलाई इसीलिए वहाँ परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहा है। किन्तु पहिले जो श्रद्धान किया था उसे यदि केवलज्ञानमें मिथ्या जाना होता तब तो छद्मस्थकी श्रद्धा अप्रतीतिरूप कहलाती किन्तु आत्मस्वरूपका जैसा श्रद्धान छद्मस्थको होता है वैसा ही केवली और सिद्धभगवानको भी होता है—तात्पर्य यह है कि मूलभूत जीवादिके स्वरूपका श्रद्धान जैसा छद्मस्थ को होता है वैसा ही केवलीको भी होता है।

(१७)

सम्यक्त्वकी निर्मलताका स्वरूप

औपशमिक सम्यक्त्व वर्तमानमें क्षायिकवत् निर्मल है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें समस्त तत्त्वार्थ श्रद्धान होता है। यहाँ जो मलत्व है

उसका तारतम्य–स्वरूप केवलज्ञानगम्य है। इस अपेक्षासे वह सम्यक्त्व निर्मल नही है। अत्यन्त निर्मल तत्त्वार्थ श्रद्धान-क्षायिक सम्यग्दर्शन है। [मोक्षमार्गप्रकाशक अ० ९] इन सभी सम्यक्त्वमे ज्ञानादिकी हीनाधिकता होने पर भी तुच्छ ज्ञानी तिर्यंचादिके तथा केवलीभगवान और सिद्धभगवानके सम्यक्त्व गुण तो समान ही कहा है, क्योकि सबके अपने आत्माकी अथवा सात तत्त्वोकी एकसी मान्यता है [मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ ४७५ देहली]

सम्यग्दृष्टिके व्यवहार सम्यक्त्वमे निश्चयसम्यक्त्व गर्भित है,—निरंतर गमन (परिणमन) रूप है, [श्री टोडरमलजीकी चिट्ठी]

(१८)

सम्यक्त्वकी निर्मलता में निम्नप्रकार पाँच भेद भी किये जाते हैं

१–समल अगाढ, २–निर्मल, ३–गाढ, ४–अवगाढ और ५–परमावगाढ।

वेदक सम्यक्त्व समल अगाढ है, औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व निर्मल है, क्षायिक सम्यक्त्व गाढ है। अग और अग बाह्य सहित जैनशास्त्रो के अवगाहनसे उत्पन्न दृष्टि अवगाढ सम्यक्त्व है, श्रुतकेवलीको जो तत्त्वश्रद्धान है उसे अवगाढ सम्यक्त्व कहते हैं परमावधिज्ञानीके और केवलज्ञानी के जो तत्त्वश्रद्धान है उसे परमावगाढ सम्यक्त्व कहते हैं। यह दो भेद ज्ञानके सहकारीभावकी अपेक्षासे हैं [मोक्षमार्गप्रकाशक अ० ९]

"औपशमिक सम्यक्त्वकी अपेक्षा क्षायिक सम्यक्त्व अधिक विशुद्ध है", [देखो तत्त्वार्थ राजवार्तिक अध्याय २ सूत्र १ नीचेकी कारिका १०-११, तथा उसके नीचे सस्कृत टीका]

"क्षायोपशमिक सम्यक्त्वसे क्षायिक सम्यक्त्वकी विशुद्धि अनत गुणी अधिक है", [देखो तत्त्वार्थराजवार्तिक अध्याय २ सूत्र १ कारिका १२ नीचेकी सस्कृत टीका]

(१९)

सम्यग्दृष्टि जीव अपनेको सम्यक्त्व प्रगट होनेकी बात श्रुतज्ञानके द्वारा बराबर जानता है।

प्रश्नः—अपनेको सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है यह किस ज्ञानके द्वारा मालूम होता है ?

उत्तरः—चौथे गुणस्थानमें भावश्रुतज्ञान होता है उससे सम्यग्दृष्टि को सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेकी बात मालूम हो जाती है। यदि उस ज्ञानके द्वारा खबर नहीं होती ऐसा माना जाय तो उस श्रुतज्ञानको सम्यक् [यथार्थ] कैसे कहा जा सकेगा। यदि अपनेको अपने सम्यग्दर्शनकी खबर न होती हो तो उसमें और मिथ्यादृष्टि अज्ञानीमें क्या अन्तर रहा ?

प्रश्न—यहाँ आपने कहा है कि सम्यग्दर्शन श्रुतज्ञानके द्वारा जाना जाता है, किन्तु पंचाध्यायी अध्याय २ में उसे अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान गोचर कहा है। वे श्लोक निम्नप्रकार हैं। ?—

> सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम्।
> गोचरं स्वावधिस्वांतःपर्ययज्ञानयोर्द्वयो ॥ ३७५ ॥

[अर्थ—सम्यक्त्व वास्तवमें सूक्ष्म है और केवलज्ञान गोचर है तथा अवधि और मनःपर्यय इन दोनोंके गोचर है।] और अध्याय २ गाथा ३७६ में यह कहा है कि वे मति और श्रुतज्ञान गोचर नहीं हैं और यहाँ आप कहते हैं कि सम्यग्दर्शन श्रुतज्ञानगोचर है, इसका क्या उत्तर है ?

उत्तरः—सम्यग्दर्शन मतिज्ञान और श्रुतज्ञानगोचर नहीं है इस प्रकार जो ३७६ वीं गाथामें कहा है उसका अर्थ इतना ही है कि—सम्यग्दर्शन उस–उस ज्ञानका प्रत्यक्ष विषय नहीं है ऐसा समझना चाहिए। किन्तु *इसका अर्थ यह नहीं है कि इस ज्ञानसे सम्यग्दर्शन किसी भी प्रकारसे नहीं* जाना जा सकता। इस सम्बन्ध में पंचाध्यायी अध्याय २ की ३७१ और ३७३ वीं गाथा निम्नप्रकार है—

इत्येवं ज्ञानतत्त्वोसौ सम्यग्दृष्टिर्निजात्मदृक् ।
वैषयिके सुखे ज्ञाने राग-द्वेषौ परित्यजेत् ॥३७१॥

अर्थ—इसप्रकार तत्त्वोको जाननेवाले स्वात्मदर्शी सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियजन्य सुख और ज्ञानमे राग द्वेषको छोडते हैं ।

अपराण्यपि लक्ष्माणि सन्ति सम्यग्दृगात्मनः ।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतैर्यैं (श्च) संलक्षते सुदृक् ॥३७३॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीवके दूसरे लक्षण भी हैं । जिन सम्यक्त्वके अविनाभावी लक्षणोके द्वारा सम्यग्दृष्टि जीव लक्षित होता है ।

वे लक्षण गाथा ३७४ मे कहते हैं—

उक्तमाक्ष्यं सुखं ज्ञानमनादेयं दृगात्मनः ।
नादेयं कर्म सर्वंच (स्वं) तद्वद् दृष्टोपलब्धितः ॥३७४॥

अर्थ—जैसे ऊपर कहा है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टिको इन्द्रियजन्य सुख और ज्ञानका आदर नही है तथा आत्म प्रत्यक्ष होनेसे सभी कर्मोंका भी आदर नही है ।

गाथा ३७५–३७६ का इतना ही अर्थ है कि—सम्यग्दर्शन केवलज्ञानादिका प्रत्यक्ष विषय है और मति श्रुतज्ञानका प्रत्यक्ष विषय नही है, किन्तु मति श्रुतज्ञानमे वह उसके लक्षणोके द्वारा जाना जा सकता है, और केवलज्ञानादि ज्ञानमे लक्षण लक्ष्यका भेद किये बिना प्रत्यक्ष जाना जा सकता है ।

प्रश्नः—इस विषयको दृष्टात पूर्वक समझाइए ?

उत्तरः—स्वानुभवदशामे जो आत्माको जाना जाता है सो श्रुतज्ञानके द्वारा जाना जाता है । श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक ही होता है, वह मतिज्ञान–श्रुतज्ञान परोक्ष है इसलिये वहाँ आत्माका जानना प्रत्यक्ष नही होता । यहाँ जो आत्माको भलीभाँति स्पष्ट जानता है उसमे पारमार्थिक प्रत्यक्षत्व नही है तथा जैसे पुद्गल पदार्थ नेत्रादिके द्वारा जाना जाता है उसीप्रकार एकदेश (अशत) निर्मलता पूर्वक भी आत्माके असख्याति प्रदेशादि नही जाने जाते, इसलिए साव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी नही है ।

अनुभवमें आत्मा तो परोक्ष ही है कहीं आत्माके प्रदेशोंका आकार भासित नहीं होता परन्तु स्वरूपमें परिणाम मग्न होने पर जो स्वानुभव हुआ वह (स्वानुभव) प्रत्यक्ष है। इस स्वानुभवका स्वाद कहीं आगम-अनुमानादि परोक्षप्रमाणके द्वारा ज्ञात नहीं होता किन्तु स्वयं ही इस अनुभवके रसास्वादको प्रत्यक्ष वेदन करता है जानता है। जैसे कोई अन्ध पुरुष मिश्रीका स्वाद लेता है वहाँ मिश्रीका आकारादि परोक्ष है किन्तु जिह्वाके द्वारा स्वाद लिया है इसलिए वह स्वाद प्रत्यक्ष है—ऐसा अनुभव के सम्बन्धमें जानना चाहिए। [टोडरमलजी की रहस्य पूर्ण चिट्ठी।] यह दशा चौथे गुणस्थानमें होती है।

इस प्रकार आत्माका अनुभव जाना जा सकता है, और जिस जीव को उसका अनुभव होता है उसे सम्यग्दर्शन अविनाभावी होता है, इसलिए मतिश्रुतज्ञानसे सम्यग्दर्शन भलीभाँति जाना जा सकता है।

प्रश्न —इस सम्बन्धमें पंचाध्यायीकारने क्या कहा है?

उत्तर—पंचाध्यायीके पहले अध्यायमें मति-श्रुतज्ञानका स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि—

> अपि किन्त्वाभिनिबोधिकबोधद्वैतं तदादिमं यावत्।
> स्वात्मानुभूतिसमये प्रत्यक्षं तत्समक्षमिव नान्यत् ॥७०६॥

अर्थ —और विशेष यह है कि—स्वानुभूतिके समय जितना भी पहिले उस मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका द्वैत रहता है उतना वह सब साक्षात् प्रत्यक्ष की भाँति प्रत्यक्ष है दूसरा नहीं—परोक्ष नहीं।

भावार्थ —तथा उस मति और श्रुतज्ञानमें भी इतनी विशेषता है कि—जिस समय उन दो ज्ञानोंमेंसे किसी एक ज्ञानके द्वारा स्वानुभूति होती है उस समय यह दोनों ज्ञान भी अतीन्द्रिय स्वात्माको प्रत्यक्ष करते हैं इस लिए यह दोनों ज्ञान भी स्वानुभूतिके समय प्रत्यक्ष हैं—परोक्ष नहीं।

प्रश्न—क्या इस सम्बन्धमें कोई और शास्त्राधार है?

उत्तर—हाँ ! टोडरमलजीकृत रहस्यपूर्ण चिट्ठीमें निम्नप्रकार कहा है—

"जो प्रत्यक्षके समान होता है उसे भी प्रत्यक्ष कहते हैं। जैसे लोक मे भी कहते है कि–'हमने स्वप्नमे या ध्यानमे अमुक मनुष्यको प्रत्यक्ष देखा,' यद्यपि उसने प्रत्यक्ष नही देखा है तथापि प्रत्यक्षकी भाँति यथार्थ देखा है इसलिये उसे प्रत्यक्ष कह देते है, इसीप्रकार अनुभवमे आत्मा प्रत्यक्षकी भाँति यथार्थ प्रतिभासित होता है"।

प्रश्न:—श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत समयसार परमागममें इस सबधमे क्या कहा है ?

उत्तर:—(१) श्रीसमयसारकी ४९ वी गाथाकी टीकामे इसप्रकार कहा है,—इसप्रकार रूप, रस, गध, स्पर्श, शब्द, सस्थान और व्यक्तता का अभाव होने पर भी स्वसवेदनके बलसे सदा प्रत्यक्ष होनेसे अनुमानगोचर मात्रताके अभावके कारण (जीवको) अलिगग्रहण कहा जाता है।'

"अपने अनुभवमे आनेवाले चेतना गुणके द्वारा सदा अतरगमे प्रकाशमान है इसलिये (जीव) चेतना गुणवाला है।"

(२) श्री समयसारकी १४३ वी गाथाकी टीकामे इसप्रकार कहा है,—

टीका:—जैसे केवली भगवान, विश्वके साक्षीपनके कारण, श्रुतज्ञान के अवयवभूत-व्यवहार निश्चयनयपक्षोके स्वरूपको ही केवल जानते हैं किंतु, निरतर प्रकाशमान, सहज, विमल, सकल केवलज्ञानके द्वारा सदा स्वय ही विज्ञानघन होनेसे श्रुतज्ञानकी भूमिकाके अतिक्रान्तत्वके द्वारा (श्रुतज्ञानकी भूमिकाको उल्लघन कर चुकनेसे) समस्त नयपक्षके ग्रहणसे दूर होनेसे, किसी भी नयपक्षको ग्रहण नही करते, उसीप्रकार जो (श्रुतज्ञानी आत्मा), जिसकी उत्पत्ति क्षयोपशम से होती है ऐसे श्रुतज्ञानात्मक विकल्पोके उत्पन्न होते हुए भी परका ग्रहण करनेके प्रति उत्साह निवृत्त होनेसे, श्रुतज्ञानके अवयवभूत व्यवहार निश्चयनय पक्षोके स्वरूपको ही केवल जानते हैं, किंतु तीक्ष्ण ज्ञान दृष्टिसे ग्रहण किये गये निर्मल, नित्य उदित, चिन्मय समयसे प्रतिबद्धताके कारण (चैतन्यमय आत्माके अनुभवसे) उस समय (अनुभवके समय) स्वय ही विज्ञानघन होनेसे, श्रुतज्ञानात्मक समस्त अतर्जल्प-

रूप तथा बहिर्जल्परूप विकल्पोंकी भूमिकाकी अतिक्रान्तताके द्वारा समस्त नयपक्षके ग्रहणसे दूर होनेसे, किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करता, वह (आत्मा) वास्तवमें समस्त विकल्पोंसे परे, परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग् ज्योति आत्मख्यातिरूप अनुभूतिमात्र समयसार है।

भावार्थ—जैसे केवली भगवान सदा नयपक्षके स्वरूपके साक्षी (ज्ञाता-दृष्टा) हैं उसी प्रकार श्रुतज्ञानी भी जब समस्त नयपक्षोंसे रहित होकर शुद्ध चैतन्यमात्र भावका अनुभव करते हैं तब वे नयपक्षके स्वरूपके ज्ञाता ही होते हैं। एक नयका सर्वथा पक्ष ग्रहण किया जाय तो मिथ्यात्व के साथ मिश्रित राग होता है प्रयोजनके वश एक नयको प्रधान करके उसे ग्रहण करे तो मिथ्यात्वके अतिरिक्त चारित्रमोहका राग रहता है और जब नयपक्षको छोड़कर केवल वस्तुस्वरूपको जानता है तब श्रुतज्ञानी भी केवलीकी भाँति वीतरागके समान ही होता है, ऐसा समझना चाहिए।

(३) श्री समयसारकी ५ वीं गाथामें आचार्यदेव कहते हैं कि— "उस एकत्वविभक्त आत्माको मैं आत्माके निज वैभवके द्वारा दिखाता हूँ यदि मैं उसे दिखाऊँ तो प्रमाण करना। उसकी टीका करते हुए श्री अमृत चन्द्रसूरि कहते हैं कि—'यों जिसप्रकारसे मेरा ज्ञानका वैभव है उस समस्त वैभवसे दिखलाता हूँ। यदि दिखाऊँ तो स्वयमेव अपने अनुभव-प्रत्यक्षसे परीक्षा करके प्रमाण कर लेना'। आगे जाकर भावार्थमें बताया है कि—'आचार्य आगमका सेवन, युक्तिका अवलम्बन परापर गुरुका उपदेश और स्वसंवेदन—इन चार प्रकारसे उत्पन्न हुए अपने ज्ञानके वैभवसे एकत्व विभक्त शुद्ध आत्माका स्वरूप दिखाते हैं। उसे सुननेवाले हे श्रोताओं! अपने स्वसंवेदन-प्रत्यक्षसे प्रमाण करो'। इससे सिद्ध होता है कि— अपनेको जो सम्यक्त्व होता है उसकी स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे श्रुतप्रमाण (सम्यग्ज्ञान) के द्वारा अपनेको खबर हो जाती है।

(४) कलश ६ में श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि—

मालिनी

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणम्
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।

किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकऽपेस्मि-
न्मनुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥९॥

अर्थ—आचार्य शुद्धनयका अनुभव करके कहते हैं कि इन सर्व भेदोको गौण करनेवाला जो शुद्धनयका विषयभूत चैतन्य चमत्कार मात्र तेज पुज आत्मा है, उसका अनुभव होनेपर नयोकी लक्ष्मी उदयको प्राप्त नही होती। प्रमाण अस्तको प्राप्त होता है और निक्षेपोका समूह कहाँ चला जाता है सो हम नही जानते। इससे अधिक क्या कहें ? द्वैत ही प्रतिभासित नही होता।

भावार्थः— × × × × × × शुद्ध अनुभव होनेपर द्वैत ही भासित नही होता, केवल एकाकार चिन्मात्र ही दिखाई देता है।

इससे भी सिद्ध होता है कि चौथे गुणस्थानमे भी आत्माको स्वय अपने भावश्रुतके द्वारा शुद्ध अनुभव होता है। समयसारमे लगभग प्रत्येक गाथामे यह अनुभव होता है, यह बतलाकर अनुभव करनेका उपदेश दिया है।

सम्यक्त्व सूक्ष्म पर्याय है यह ठीक है, किन्तु सम्यग्ज्ञानी यह निश्चय कर सकता है कि मुझे सुमति और सुश्रुतज्ञान हुआ है, और इससे श्रुतज्ञान मे यह निश्चय करता है कि—उसका (सम्यग्ज्ञानका) अविनाभावी सम्यग्दर्शन मुझे हुआ है। केवलज्ञान, मन पर्ययज्ञान और परमावधिज्ञान सम्यग्दर्शनको प्रत्यक्ष जान सकता है,—इतना ही मात्र अन्तर है।

पचाध्यायीकी गाथा १९६-१९७-१९८ की हिन्दी टीका (प० मक्खनलालजी कृत) मे कहा है कि "ज्ञान शब्दसे आत्मा समझना चाहिए, क्योकि आत्मा स्वय ज्ञानरूप है, वह आत्मा जिसके द्वारा शुद्ध जाना जाता है उसका नाम ज्ञान चेतना है अर्थात् जिस समय ज्ञानगुण सम्यक् अवस्थाको प्राप्त होता है—**केवल शुद्धात्माका अनुभव करता है उससमय उसे ज्ञानचेतना कहा जाता है।** ज्ञानचेतना निश्चयसे सम्यग्दृष्टिको ही होती है, मिथ्यादृष्टिको कभी नही हो सकती।

सम्यक्मति और सम्यक् श्रुतज्ञान कथचित् अनुभव गोचर होनेसे प्रत्यक्षरूप भी कहलाता है; और सपूर्णज्ञान जो केवलज्ञान है वह यद्यपि

छद्मस्थको प्रत्यक्ष नहीं है तथापि शुद्धनय आत्माके केवलज्ञानरूपको परोक्ष बतलाता है।

[श्री समयसार गाथा १४ के नीचेका भावार्थ] इसप्रकार सम्यग्दर्शनका यथार्थज्ञान सम्यक्‌मति और श्रुतज्ञानके अनुसार हो सकता है।

(२०)

कुछ प्रश्नोत्तर

(१) प्रश्न—जब ज्ञानगुण आत्माभिमुख होकर आत्मलीन हो जाता है तब उस ज्ञानकी विशेष अवस्थाको सम्यग्दर्शन कहते हैं क्या यह ठीक है ?

उत्तर—नहीं यह ठीक नहीं सम्यग्दर्शन दर्शन (श्रद्धा) गुणकी पर्याय है वह ज्ञानकी विशेष पर्याय नहीं है। ज्ञानकी आत्माभिमुख अवस्थाके समय सम्यग्दर्शन होता है, यह सही है किन्तु सम्यग्दर्शन ज्ञानकी पर्याय नहीं है।

(२) प्रश्न—क्या सुदेव सुगुरु और सुशास्त्रकी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है ?

उत्तर—यह निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं है किन्तु जिसे निश्चय सम्यग्दर्शन होता है उसे वह व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा जाता है क्योंकि वहाँ राग मिश्रित विचार है।

(३) प्रश्न—क्या व्यवहारसम्यग्दर्शन निश्चयसम्यग्दर्शनका सच्चा कारण है ?

उत्तर—नहीं क्योंकि निश्चय [illegible] परिणमित हुए बिना [illegible] होता नहीं किन्तु [illegible] इसलिये वह निश्चयसम्यग्दर्शनका सच्चा कारण नहीं है। व्यवहारसम्यग्दर्शन ([illegible]) विकार ([illegible]) है और निश्चय [illegible] पर्याय है विकार अविकारका कारण कैसे हो सकता है ? अर्थात् वे निश्चयसम्यग्दर्शनका कारण नहीं हो सकता किन्तु

व्यवहाराभासका व्यय (–अभाव) होकर निश्चयसम्यग्दर्शनका उत्पाद–सुपात्र जीवको अपने पुरुषार्थसे ही होता है [व्यवहाराभासको सक्षेपमे व्यवहार कहा जाता है।]

जहाँ शास्त्रमे व्यवहारसम्यग्दर्शनको निश्चयसम्यग्दर्शनका कारण कहा है वहाँ यह समझना चाहिए कि व्यवहारसम्यग्दर्शनको अभावरूप कारण कहा है। कारणके दो प्रकार हैं–(१) निश्चय (२) और व्यवहार। निश्चय कारण तो अवस्थारूपसे होनेवाला द्रव्य स्वय है और व्यवहार कारण पूर्वकी पर्यायका व्यय होना है।

(४) प्रश्न—श्रद्धा, रुचि और प्रतीति आदि जितने गुण हैं वे सब सम्यक्त्व नही किन्तु ज्ञानकी पर्याय हैं ऐसा पचाध्यायी अध्याय २ गाथा ३८६–३८७ मे कहा है, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—जब आत्मा जीवादि सात तत्वोंका विचार करता है तब उसके ज्ञानमे रागसे भेद होता है इसलिए वे ज्ञानकी पर्याय हैं और वे सम्यक् नही हैं ऐसा कहा है।

सात तत्त्व और नव पदार्थोंका निर्विकल्पज्ञान निश्चय सम्यग्दर्शन सहितका ज्ञान है। [देखो पचाध्यायी अध्याय २ श्लोक १८६–१८९]

श्लोक ३८६ के भावार्थमें कहा है कि–"परन्तु वास्तवमे ज्ञान भी यही है कि जैसेको तैसा जानना और सम्यक्त्व भी यही है कि जैसाका तैसा श्रद्धान करना"।

इससे समझना चाहिये कि रागमिश्रित श्रद्धा ज्ञानकी पर्याय है। राग रहित तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, उसे सम्यक् मान्यता अथवा सम्यक् प्रतीति भी कहते हैं। गाथा ३८७ मे कहा है कि–ज्ञानचेतना सम्यग्दर्शनका लक्षण है,–इसका यह अर्थ है कि अनुभूति स्वय सम्यग्दर्शन नही है किन्तु जब वह होती है तब सम्यग्दर्शन अविनाभावीरूप होता है इसलिये उसे बाह्य लक्षण कहा है। [देखो, पचाध्यायी अध्याय २ गाथा ४०१–४०२–४०३] सम्यग्दर्शनके प्रगट होते ही ज्ञान सम्यक् हो जाता है, और आत्मानुभूति होती है, अर्थात् ज्ञान स्वज्ञेयमे स्थिर होता है। किन्तु वह

स्थिरता कुछ समय ही रहती है। और राग होनेसे ज्ञान स्वमेंसे छूटकर परकी ओर जाता है तब भी सम्यग्दर्शन होता है। और यद्यपि ज्ञानका उपयोग दूसरेके जाननेमें लगा हुआ है तथापि वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है उस समय अनुभूति उपयोगरूप नहीं है फिर भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि लब्धिरूप अनुभूति है।

(५) प्रश्न—'सम्यग्दर्शनका एक लक्षण ज्ञानचेतना है' क्या यह ठीक है ?

उत्तर—ज्ञानचेतनाके साथ सम्यग्दर्शन अविनाभावी होता ही है इसलिए वह व्यवहार अथवा बाह्य लक्षण है।

(६) प्रश्न— अनुभूतिका नाम चेतना है क्या यह ठीक है ?

उत्तर—ज्ञानकी स्थिरता अर्थात् शुद्धोपयोग (अनुभूति) को उपयोगरूप ज्ञानचेतना कहा जाता है।

(७) प्रश्न—यदि सम्यक्त्वका विषय सभीके एकसा है तो फिर सम्यग्दर्शनके औपशमिक क्षायोपशमिक और क्षायिक–ऐसे भेद क्यों किये हैं ?

उत्तर—दर्शन मोहनीय कर्मके अनुभागबन्धकी अपेक्षासे ये भेद नहीं हैं किन्तु स्थितिबन्धकी अपेक्षासे हैं। उनके कारणसे उनमें आत्माकी मान्यता में कोई अंतर नहीं पड़ता। प्रत्येक प्रकारके सम्यग्दर्शनमें आत्माकी मान्यता एक ही प्रकारकी है। आत्माके स्वरूपकी जो मान्यता औपशमिक सम्यग्दर्शनमें होती है वही क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शनमें होती है। केवली भगवानको परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन होता है उनके भी आत्मस्वरूपकी उसी प्रकारकी मान्यता होती है। इस प्रकार सभी सम्यग्दृष्टि जीवोंके आत्मस्वरूपकी मान्यता एक ही प्रकारकी होती है। [देखो पंचाध्यायी अध्याय २ गाथा ९३४–९३८]

(२१)

ज्ञानचेतनाके विधानमें अन्तर क्यों है ?

प्रश्न—पंचाध्यायी और पचास्तिकायमे ज्ञानचेतनाके विधानमे अतर क्यो है ?

उत्तर—पचाध्यायीमे चतुर्थ गुणस्थानसे ज्ञानचेतनाका विधान किया है [अध्याय २ गाथा ८५४], और पचास्तिकायमे तेरवें गुणस्थानसे ज्ञानचेतनाको स्वीकार किया है, किन्तु इससे उसमे विरोध नही आता। सम्यग्दर्शन जीवके शुभाशुभभावका स्वामित्व नही है इस अपेक्षासे पचाध्यायीमे चतुर्थ गुणस्थानसे ज्ञानचेतना कही है। भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देवने क्षायोपशमिक भावमे कर्म निमित्त होता है इस अपेक्षासे नीचेके गुणस्थानोमे उसे स्वीकार नही किया है। दोनो कथन विवक्षाधीन होनेसे सत्य हैं।

(२२)

इस सम्बन्धमें विचारणीय नव विषय—

(१) **प्रश्न**—गुणके समुदायको द्रव्य कहा है और संपूर्ण गुण द्रव्य के प्रत्येक प्रदेशमे रहते हैं इसलिये यदि आत्माका एक गुण (–सम्यग्दर्शन) क्षायिक हो जाय तो सपूर्ण आत्मा ही क्षायिक हो जाना चाहिये और उसी क्षण उसकी मुक्ति हो जानी चाहिये, ऐसा क्यो नही होता ?

उत्तर—जीव द्रव्यमे अनत गुण हैं, वे प्रत्येक गुण असहाय और स्वाधीन हैं, इसलिये एक गुणकी पूर्ण शुद्धि होनेपर दूसरे गुणकी पूर्ण शुद्धि होनी ही चाहिये ऐसा नियम नही है। आत्मा अखड है इसलिये एक गुण दूसरे गुणके साथ अभेद है—प्रदेश भेद नही है, किन्तु पर्यायापेक्षासे प्रत्येक गुणकी पर्यायके भिन्न २ समयमे पूर्ण शुद्ध होनेमे कोई दोष नही है, जब द्रव्यापेक्षासे सपूर्ण शुद्ध प्रगट हो तब द्रव्य की सपूर्ण शुद्धि प्रगट हुई मानी जाय, किन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शनके होनेपर सपूर्ण आत्मा क्षायिक होना चाहिये और तत्काल मुक्ति होनी चाहिये ऐसा मानना ठीक नही है।

(२) प्रश्न—एक गुण सर्व गुणात्मक है और सर्व गुण एक गुणात्मक है इसलिये एक गुणके संपूर्ण प्रगट होनेसे अन्य संपूर्ण गुण भी पूर्ण रीतिसे उसीसमय प्रगट होना चाहिये —क्या यह ठीक है ?

उत्तर—यह मान्यता ठीक नहीं है। गुण और गुणी अखंड हैं इस अभेदापेक्षासे गुण अभेद हैं-किन्तु इसीलिये एक गुण दूसरे सभी गुणरूप है ऐसा नहीं कहा जा सकता· ऐसा कहने पर प्रत्येक द्रव्य एक ही गुणात्मक हो जायगा किन्तु ऐसा नहीं होता। भेदकी अपेक्षासे प्रत्येक गुण भिन्न स्वतंत्र, असहाय है एक गुणमें दूसरे गुणकी नास्ति है वस्तुका स्वरूप भेदाभेद है—ऐसा न माना जाय तो द्रव्य और गुण सर्वथा अभिन्न हो जायेंगे। एक गुणका दूसरे गुणके साथ निमित्त नैमित्तिक संबंध है—इस अपेक्षासे एक गुणको दूसरे गुणका सहायक कहा जाता है। [जैसे सम्यग्दर्शन कारण और सम्यग्ज्ञान कार्य है।]

(३) प्रश्न—आत्माके एक गुणका घात होनेमें उस गुणके घातमें निमित्तरूप जो कर्म है उसके अतिरिक्त दूसरे कर्म निमित्तरूप घातक हैं या नहीं ?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—अनंतानुबंधी चारित्रमोहनीयकी प्रकृति है इसलिये वह चारित्रके घातमें निमित्त हो सकती है, किन्तु वह सम्यग्दर्शनके घातमें निमित्त कैसे मानी जाती है ?

उत्तर—अनंतानुबंधीके उदयमें युक्त होनेपर क्रोधादिरूप परिणाम होते हैं किन्तु वहाँ अतत्त्व श्रद्धान नहीं होता इसलिये वह चारित्रके घात का ही निमित्त होता है, किन्तु सम्यक्त्वके घातमें वह निमित्त नहीं है परमार्थसे तो ऐसा ही है किन्तु अनंतानुबंधीके उदयसे जैसे क्रोधादिक होते हैं वैसे क्रोधादिक सम्यक्त्वके सद्भावमें नहीं होते—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है इसलिये उपचारसे अनंतानुबंधीमें सम्यक्त्वकी घातकता कही जाती है। [मोक्षमार्गप्रकाशक पृ० ४४६ देहली।]

(४) प्रश्नः—ससारमे ऐसा नियम है कि प्रत्येक गुणका क्रमिक विकास होता है, इसलिये सम्यग्दर्शनका भी क्रमिक विकास होना चाहिए। क्या यह ठीक है ?

उत्तरः—ऐसा एकान्त सिद्धान्त नही है। विकासमे भी अनेकान्त स्वरूप लागू होता है,-अर्थात् आत्माका श्रद्धागुण उसके विषयकी अपेक्षासे एकसाथ प्रगट होता है और आत्माके ज्ञानादि कुछ गुणोमे क्रमिक विकास होता है।

अक्रमिक विकासका दृष्टान्त

मिथ्यादर्शनके दूर होने पर एक समयमे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, उसमे क्रम नही पडता। जव सम्यग्दर्शन प्रगट होता है तभीसे वह अपने विषयके प्रति पूर्ण और क्रम रहित होता है।

क्रमिक विकासका दृष्टान्त

सम्यग्ज्ञान–सम्यग्चारित्रमें क्रमश विकास होता है। इसप्रकार विकासमे क्रमिकता और अक्रमिकता आती है। इसलिये विकासका स्वरूप अनेकान्त है ऐसा समझना चाहिए।

(५) प्रश्न—सम्यक्त्वके आठ अङ्ग कहे हैं, उनमे एक अङ्ग 'नि'शकित' है जिसका अर्थ निर्भयता है। निर्भयता आठवें गुणस्थानमें होती है इसलिये क्या यह समझना ठीक है कि जबतक भय है तबतक पूर्ण सम्यग्दर्शन नही होता ? यदि सम्यग्दर्शन पूर्ण होता तो श्रेणिक राजा जो कि क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे वे आपघात नही करते,—यह ठीक है या नही ?

उत्तर—यह ठीक नही है; सम्यग्दृष्टिको सम्यग्दर्शनके विषयकी मान्यता पूर्ण ही होती है, क्योकि उसका विषय अखण्ड शुद्धात्मा है। सम्यग्दृष्टिके शका–काक्षा–विचिकित्साका अभाव द्रव्यानुयोगमे कहा है, और करणानुयोगमे भयका आठवें गुणस्थान तक, लोभका दशवें गुणस्थान तक और जुगुप्साका आठवें गुणस्थान तक सद्भाव कहा है, इसमें विरोध नही है क्योकि–श्रद्धानपूर्वकके तीव्र शकादिका सम्यग्दृष्टिके अभाव हुआ है अथवा

मुख्यतया सम्यग्दृष्टि शंकादि नहीं करता—इस अपेक्षासे सम्यग्दृष्टिके शंकादिका अभाव कहा है किन्तु सूक्ष्म शक्तिकी अपेक्षासे भयादिका उदय आठवें आदि गुणस्थान तक होता है इसलिये करणानुयोगमें वहाँ तक सद्भाव कहा है। [देहलीवाला मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ४२१]

सम्यग्दृष्टिके निर्भयता' कही है इसका अर्थ यह है कि अनन्तानुबंधी कषायके साथ जिसप्रकारका भय होता है उसप्रकारका भय सम्यग्दृष्टि को नहीं होता अर्थात् अज्ञानदशामें जीव जो यह मान रहा था कि 'परवस्तुसे मुझे भय होता है यह मान्यता सम्यग्दृष्टि हो जाने पर दूर हो जाती है उसके बाद भी जो भय होता है वह अपने पुरुषार्थकी कमजोरीके कारण होता है अर्थात् भयमें अपनी वर्तमान पर्यायका दोष है—परवस्तुका नहीं, ऐसा वह मानता है।

श्रेणिक राजाको जो भय उत्पन्न हुआ था सो वह अपने चारित्रकी कमजोरीके कारण हुआ था ऐसी उसकी मान्यता होनेसे सम्यग्दर्शनकी अपेक्षासे वह निर्भय था। चारित्रकी अपेक्षासे अल्प भय होनेपर उसे आत्मघातका विकल्प हुआ था।

(९) प्रश्नः—क्षायिक लब्धिकी स्थिति रखनेके लिये वीर्यान्तराय कर्मके क्षयकी आवश्यकता होगी क्योंकि क्षायिक शक्तिके बिना कोई भी क्षायिक लब्धि नहीं रह सकती। क्या यह मान्यता ठीक है?

उत्तर—यह मान्यता ठीक नहीं है वीर्यान्तरायके क्षयोपशमके निमित्तसे अनेक प्रकारकी क्षायिक पर्यायें प्रगट होती हैं। १—क्षायिक सम्यग्दर्शन (चौथेसे सातवें गुणस्थानमें) २—क्षायिक यथाख्यात चारित्र (बारहवें गुणस्थानमें) ३—*क्षायिक क्षमा (दसवें गुणस्थानमें),

* द्रव्य क्रोधकी नवमें गुणस्थानके पांचवें भागमें व्युच्छित्ति होती है। द्रव्यमानकी नवमें गुणस्थानके छट्ठवें भागमें व्युच्छित्ति होती है। द्रव्यमाया की नवमें गुणस्थानके नवमें भागमें व्युच्छित्ति होती है।

४–क्षायिक निर्मानता (दशवें गुणस्थानमें), ५–क्षायिक निष्कपटता (दशवें गुणस्थानमे) और क्षायिक निर्लोभता (वारहवें गुणस्थानमे) होती है। वारहवे गुणस्थानमे वीर्य क्षयोपशमरूप होता है, फिर भी कषायका क्षय है।

अन्य प्रकारसे देखा जाय तो तेरहवें गुणस्थानमे क्षायिक अनन्तवीर्य और सपूर्ण ज्ञान प्रगट होता है, तथापि योगोका कंपन और चार प्रतिजीवी गुणोकी शुद्ध पर्यायकी अप्रगटता (–विभाव पर्याय) होती है। चौदहवें गुणस्थानमे कषाय और योग दोनो क्षयरूप हैं, फिर भी असिद्धत्व है, उस समय भी जीवकी अपने पूर्ण शुद्धतारूप उपादानकी कचाईके कारण कर्मोके साथका सम्बन्ध और ससारीपन है।

उपरोक्त कथनसे यह सिद्ध होता है कि–भेदकी अपेक्षासे प्रत्येक गुण स्वतत्र है, यदि ऐसा न हो तो एक गुण दूसरे गुणरूप हो जाय और उस गुणका अपना स्वतन्त्र कार्य न रहे। द्रव्यकी अपेक्षासे सभी गुण अभिन्न हैं यह ऊपर कहा गया है।

(७) **प्रश्न**—ज्ञान और दर्शन चेतना गुणके विभाग हैं, उन दोनोंके घातमे निमित्तरूपसे भिन्न २ कर्म माने गये हैं, किन्तु सम्यक्त्व और चारित्र दोनो भिन्न २ गुण हैं तथापि उन दोनोके घातमे निमित्तकर्म एक मोह ही माना गया है, इसका क्या कारण है ?

प्रश्न का विस्तार

इस प्रश्न परसे निम्नलिखित प्रश्न उत्पन्न होते हैं—

१–जब कि मोहनीय कर्म सम्यक्त्व और चारित्र दोनो गुणोके घातमे निमित्त है तब मूल प्रकृतियोमे उसके दो भेद मानकर नौ कर्म कहना चाहिए, किन्तु आठ ही क्यो कहे गये हैं ?

२–जब कि मोहनीयकर्म दो गुणोके घातनेमे निमित्त है तब चार घातिया कर्म चार ही गुणोके घातनेमे निमित्त क्यो बताये गये हैं ? पाँच गुणोका घात क्यो नही माना गया ?

३—शुद्ध जीवोंके कर्म नष्ट होनेपर प्रगट होनेवाले जो आठ गुण कहे हैं उनमें चारित्रको न कहकर सम्यक्त्वको ही कहा है इसका क्या कारण है ? वहाँ चारित्रको क्यों छोड़ दिया है ?

४—कहीं कहीं चारित्र अथवा सम्यक्त्वमेंसे एकको भी न कहकर सुख गुणका ही उल्लेख किया गया है सो ऐसा क्यों ?

उत्तर

जब जीव अपना निजस्वरूप प्रगट न करे और संसारिक दशाको बढ़ाये तब मोहनीय कर्म निमित्त है किन्तु यह मानना सर्वथा मिथ्या है कि कर्म जीवका कुछ कर सकते हैं। संसारिक दशाका अर्थ यह है कि जीवमें आकुलता हो अशांति हो क्षोभ हो। इस अशांतिके तीन भाग किये जा सकते हैं —१–अशांतिरूप वेदनका ज्ञान २–उस वेदनकी ओर जीव झुके तब निमित्त कारण और ३–अशांतिरूप वेदन। उस वेदनका ज्ञान ज्ञानगुणमें गर्भित हो जाता है। उस ज्ञानके कारणमें ज्ञानावरणका क्षयोपशम निमित्त है। जब जीव उस वेदनकी ओर लगता है तब वेदनीय कर्म उस कार्यमें निमित्त होता है और वेदनमें मोहनीय निमित्त है। अशांति मोह आत्म ज्ञानपराङ्मुखता तथा विषयासक्ति—यह सब मोहके ही कार्य हैं। कारणके नाशसे कार्य भी नष्ट हो जाता है इसलिये विषयासक्तिको घटाने से पूर्व ही आत्मज्ञान उत्पन्न करनेका उपदेश भगवानने दिया है।

मोहके कार्यको दो प्रकारसे विभक्त कर सकते हैं:—१ दृष्टिकी विमुखता और २—चारित्रकी विमुखता। दोनोंमें विमुखता सामान्य है। ये दोनों सामान्यतया 'मोह' के नामसे पहिचानी जाती हैं इसलिये उन दोनों को अभेदरूपसे एक कर्म बतलाकर उसके दो उपविभाग दर्शन मोह और 'चारित्र मोह' कहे हैं। दर्शनमोह अपरिमितमोह है और चारित्रमोह परिमित। मिथ्यादर्शन संसारकी जड़ है सम्यग्दर्शनके प्रगट होते ही मिथ्या दर्शनका अभाव हो जाता है। मिथ्यादर्शनमें दर्शनमोह निमित्त है, दर्शन मोहका अभाव होनेपर उसी समय चारित्र मोहका एक उपविभाग जो कि

अनतानुबधी क्रोध मान माया लोभ है उसका एक ही साथ अभाव हो जाता है, और तत्पश्चात् क्रमशः वीतरागताके बढनेपर चारित्रमोहका क्रमशः अभाव होता जाता है, इसलिये दर्शनको कारण और चारित्रको कार्य भी कहा जाता है, इसप्रकार भेदकी अपेक्षासे वे पृथक् हैं। इसलिये प्रथम अभेदकी अपेक्षासे 'मोह' एक होनेसे उसे एक कर्म मानकर फिर उसके दो उपविभाग —दर्शनमोह और चारित्रमोह माने गये हैं।

चार घातिया कर्मोंको चार गुणोंके घातमे निमित्त कहा है इसका कारण यह है कि—मोह कर्मको अभेदकी अपेक्षासे जब एक माना है तब श्रद्धा और चारित्र गुणको अभेदकी अपेक्षासे शाति (सुख) मान कर चार गुणोके घातमे चार घातिया कर्मोंको निमित्तरूप कहा है।

शंका—यदि मिथ्यात्व और कषाय एक ही हो तो मिथ्यात्वका नाश होने पर कषायका भी अभाव होना चाहिए, जिस कषायके अभावको चारित्र की प्राप्ति कहते हैं,–किन्तु ऐसा नही होता और सम्यक्त्वके प्राप्त होने पर भी चौथे गुणस्थानमे चारित्र प्राप्त नही होता, इसलिये चौथे गुणस्थानको अव्रतरूप कहा जाता है। अणुव्रतके होनेपर पाँचवाँ गुणस्थान होता है और पूर्ण व्रतके होने पर 'व्रती' सज्ञा होने पर भी यथाख्यात चारित्र प्राप्त नही होता। इसप्रकार विचार करनेसे मालूम होगा कि सम्यक्त्वके क्षायिक रूप पूर्ण होने पर भी चारित्रकी प्राप्तिमे अथवा पूर्णतामे विलब होता है इसलिये सम्यक्त्व और चारित्र अथवा मिथ्यात्व और कषायोमे एकता तथा कार्य–कारणता कैसे ठीक हो सकती है ?

समाधान—मिथ्यात्वके न रहनेसे जो कषाय रहती है वह मिथ्यात्वके साथ रहनेवाली अति तीव्र अनतानुबधी कषायोके समान नही होती, किन्तु अति मद हो जाती है, इसलिये वह कषाय चाहे जैसा बध करे तथापि वह बध दीर्घससारका कारणभूत नही होता, और इससे ज्ञानचेतना भी सम्यग्दर्शनके होते ही प्रारभ हो जाती है,–जोकि बधके नाशका कारण है, इसलिये जब प्रथम मिथ्यात्व होता है तब जो चेतना होती है वह कर्मचेतना और कर्मफलचेतना होती है–जो कि पूर्ण बधका कारण है। इसका

सारांश यह है कि–कषाय तो सम्यग्दृष्टिके भी दोष रहती है किंतु मिथ्यात्व का नाश होनेसे अति मंद हो जाती है और उससे सम्यग्दृष्टि जीव कुछ अंशोंमें अबंध रहता है और निर्जरा करता है, इससे मिथ्यात्व और कषाय का कुछ अविनाभाव अवश्य है।

अब शंकाकी बात यह रह जाती है कि–मिथ्यात्वके नाशके साथ ही कषायका पूर्ण नाश क्यों नहीं होता? इसका समाधान यह है कि–मिथ्यात्व और कषाय सर्वथा एक वस्तु तो नहीं है। सामान्य स्वभाव दोनों का एक है किन्तु विशेषकी अपेक्षासे कुछ भेद भी है। विशेष–सामान्यकी अपेक्षासे भेद अभेद दोनोंको यहाँ मानना चाहिए। यह भाव दिखानेके लिए ही शास्त्रकारने सम्यक्त्व और आत्मशांतिके घातका निमित्त मूल प्रकृति एक 'मोह' रखी है और उत्तर प्रकृतिमें दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय–दो भेद किये हैं। [इस स्पष्टीकरणमें पहिली और दूसरी शंकाका समाधान हो जाता है] जब कि उत्तर प्रकृतिमें भेद है तब उसके नाशका पूर्ण अविनाभाव कैसे हो सकता है? [नहीं हो सकता] हाँ मूल कारणके न रहनेपर चारित्र मोहनीय की स्थिरता भी अधिक नहीं रहती। दर्शनमोहनीयके साथ न सही तो भी थोड़े ही समयमें चारित्रमोहनीय भी नष्ट हो जाता है।

अथवा सम्यक्त्वके हो जाने पर भी ज्ञान सदा स्वानुभूतिमें ही तो नहीं रहता जब ज्ञानका बाह्य लक्ष हो जाता है तब स्वानुभूतिसे छूट जानेके कारण सम्यग्दृष्टि भी विषयोंमें अल्पतन्मय हो जाता है किन्तु यह तन्मयता ज्ञानकी चंचलताका दोष है और उसका कारण भी कषाय ही है। उस ज्ञानकी केवल कषाय–नैमित्तिक चंचलता कुछ समय तक ही रह सकती है और वह भी तीव्र बंधका कारण नहीं होती।

भावार्थ —यद्यपि सम्यक्त्वकी उत्पत्तिसे संसारकी जड़ कट जाती है किन्तु दूसरे कर्मोंका उसी समय सर्वथा नाश नहीं हो जाता। सब अपनी अपनी योग्यतानुसार बंधते हैं और उदयमें आते हैं। जैसे–मिथ्यात्वके साथी चारित्रमोहनीयकी उत्कृष्ट स्थिति चालीस कोड़ाकोड़ी सागरकी होती है। इससे यह निश्चय हुआ कि मिथ्यात्व ही समस्त दोषोंमें अधिक बलवान

दोष है, और वही दीर्घसंसारकी स्थापना करता है, इसलिये यह समझना चाहिए कि उसका नाश किया और ससारका किनारा आगया। किंतु साथ ही यह भी नही भूलना चाहिए कि मोह तो दोनो हैं। उनमे से एक (दर्शनमोह) अमर्यादित है और दूसरा (चारित्रमोह) मर्यादित है। किन्तु दोनो ससारके ही कारण हैं।

यदि ससारका सक्षेपमे स्वरूप कहा जाय तो वह दु:खमय है, इसलिये आनुषगिक रूपसे दूसरे कर्म भी भले ही दुखके निमित्त कारण हो किंतु मुख्य निमित्तकारण तो मोहनीयकर्म ही है। जब कि सर्वदु:खका कारण (निमित्तरूपसे) मोहनीय कर्ममात्र है तो मोहके नाशको सुख कहना चाहिए। जो ग्रथकार मोहके नाशको सुख गुणकी प्राप्ति मानते हैं उनका मानना मोहके सयुक्त कार्यकी अपेक्षासे ठीक है। वैसा मानना अभेद-व्यापक-दृष्टिसे है इसलिये जो सुखको अनन्त चतुष्टयमे गर्भित करते हैं वे चारित्र तथा सम्यक्त्वको भिन्न नही गिनते, क्योकि सम्यक्त्व तथा चारित्रके सामुदायिक स्वरूपको सुख कहा जा सकता है।

चारित्र और सम्यक्त्व दोनोका समावेश सुखगुणमे अथवा स्वरूप-लाभमे ही होता है, इसलिये चारित्र और सम्यक्त्वका अर्थ सुख भी हो सकता है। जहाँ सुख और वीर्यगुणका उल्लेख अनन्त चतुष्टयमे किया गया है वहाँ उन गुणोकी मुख्यता मानकर कहा है, और दूसरोको गौण मानकर नही कहा है, तथापि उन्हे उनमे सगृहीत हुआ समझ लेना चाहिये, क्योकि वे दोनो सुखगुणके विशेषाकार हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मोहनीय कर्म किस गुणके घातमे निमित्त है। और इससे वेदनीयकी अघातकता भी सिद्ध हो जाती है, क्योकि वेदनीय किसीके घातनेमे निमित्त नही है, मात्र घात हुए स्वरूपका जीव जब अनुभव करता है तब निमित्तरूप होता है। [इस स्पष्टीकरणमे तीसरी और चौथी शकाका समाधान हो जाता है।]

[यह बात विशेष ध्यानमे रखनी चाहिए कि जीवमें होनेवाले विकारभावोको जीव जब स्वयं करता है तब कर्मका उदय उपस्थितरूपमे निमित्त होता है, किंतु उस कर्मके रजकणोने जीवका कुछ भी किया है या

कोई असर पहुँचाया है यह मानना सर्वथा मिथ्या है। इसीप्रकार जीव जब विकार करता है तब पुद्गल कार्माणवर्गणा स्वयं कर्मरूप परिणमित होती है—ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। जावको विकारीरूपमें कर्म परिणमित करता है और कर्मको जीव परिणमित करता है,—इस प्रकार सम्बन्ध बताने वाला व्यवहार कथन है। वास्तवमें जड़को कर्मरूपमें जीव परिणमित नहीं कर सकता और कर्म जीवको विकारी नहीं कर सकता, गोमट्टसार आदि कर्म शास्त्रोंका इसप्रकार अर्थ करना ही न्यायपूर्ण है।

प्रश्न—बंधके कारणोंमें मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय और योग—ये पाँचों मोक्षशास्त्रमें कहे हैं, और दूसरे आचार्य कषाय तथा योग दो ही बतलाते हैं इस प्रकार वे मिथ्यात्व अविरति और प्रमादको कषाय का भेद मानते हैं। कषाय चारित्रमोहनीयका भेद है इससे यह प्रतीत होता है कि चारित्रमोहनीय ही सभी कर्मोंका कारण है। क्या यह कथन ठीक है?

उत्तरः—मिथ्यात्व अविरति और प्रमाद कषायके उपभेद हैं किन्तु इससे यह मानना ठीक नहीं है कि कषाय चारित्रमोहनीयका भेद है। मिथ्यात्व महा कषाय है। जब 'कषाय' को सामान्य अर्थमें लेते हैं तब दर्शनमोह और चारित्रमोह दोनोंरूप माने जाते हैं, क्योंकि कषायमें मिथ्यादर्शनका समावेश हो जाता है जब कषायको विशेष अर्थमें प्रयुक्त करते हैं तब वह चारित्र मोहनीयका भेद कहलाता है। चारित्र मोहनीय कर्म उन सब कर्मोंका कारण नहीं है, किन्तु जीवका मोहभाव उन सात अथवा आठ कर्मोंके बंध का निमित्त है।

(९) प्रश्न—सात प्रकृतियोंका क्षय अथवा उपशमादि होता है सो वह व्यवहारसम्यग्दर्शन है या निश्चयसम्यग्दर्शन?

उत्तरः—वह निश्चयसम्यग्दर्शन है।

प्रश्न—सिद्ध भगवानके व्यवहारसम्यग्दर्शन होता है या निश्चय सम्यग्दर्शन?

उत्तर—सिद्धोंके निश्चयसम्यग्दर्शन होता है।

प्रश्न—व्यवहारसम्यग्दर्शन और निश्चयसम्यग्दर्शनमे क्या अन्तर है?

उत्तर—जीवादि नव तत्त्व और सच्चे देव गुरु शास्त्रकी सविकल्प श्रद्धाको व्यवहारसम्यक्त्व कहते हैं। जो जीव उस विकल्पका अभाव करके अपने शुद्धात्माकी ओर उन्मुख होकर निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट करता है उसे पहिले व्यवहारसम्यक्त्व था ऐसा कहा जाता है। जो जीव निश्चय-सम्यग्दर्शनको प्रगट नही करता उसका वह व्यवहाराभाससम्यक्त्व है। जो इसीका अभाव करके निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट करता है उसके व्यवहार-सम्यग्दर्शन उपचारसे (अर्थात् व्ययरूपमे-अभावरूपमे) निश्चयसम्यग्दर्शन का कारण कहा जाता है।

सम्यग्दृष्टि जीवको विपरीताभिनिवेश रहित जो आत्माका श्रद्धान है सो निश्चयसम्यग्दर्शन है, और देव, गुरु धर्मादिका श्रद्धान व्यवहारसम्यग्दर्शन है इसप्रकार एक कालमे सम्यग्दृष्टिके दोनो सम्यग्दर्शन होते हैं। कुछ मिथ्यादृष्टियोको द्रव्यलिंगी मुनियोको और कुछ अभव्य जीवोको देव गुरु धर्मादिका श्रद्धान होता है, किन्तु वह आभासमात्र होता है, क्योकि उनके निश्चय सम्यक्त्व नही है इसलिये उनका व्यवहार सम्यक्त्व भी आभासरूप है [देखो देहलीसे प्रकाशित—मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ ४८६—४९०]

देव गुरु धर्मके श्रद्धानमे प्रवृत्तिकी मुख्यता है। जो प्रवृत्तिमे अरह-तादिको देवादि मानता है और अन्यको नही मानता उसे देवादिका श्रद्धानी कहा जाता है। तत्त्व श्रद्धानमे विचारकी मुख्यता है। जो ज्ञानमे जीवादि तत्त्वोका विचार करता है उसे तत्त्वश्रद्धानी कहा जाता है। इन दोनोको समझनेके बाद कोई जीव स्वोन्मुख होकर रागका आंशिक अभाव करके सम्यक्त्वको प्रगट करता है, इसलिये यह दोनो (-व्यवहार श्रद्धान) इसी जीवके सम्यक्त्वके (उपचारसे) कारण कहे जाते हैं, किंतु उसका सद्भाव मिथ्यादृष्टिके भी सभव है इसलिये वह श्रद्धान व्यवहाराभास है।

—२३—

सम्यग्दर्शन और ज्ञानचेतनामें अन्तर

प्रश्न—जबतक आत्माकी शुद्धोपलब्धि है तबतक ज्ञान ज्ञानचेतना है और उतना ही सम्यग्दर्शन है, यह ठीक है ?

उत्तर—आत्माके अनुभवको शुद्धोपलब्धि कहते हैं, वह चारित्रगुण की पर्याय है। जब सम्यग्दृष्टि जीव अपने शुद्धोपयोगमें युक्त होता है अर्थात् स्वानुभवरूप प्रवृत्ति करता है तब उसे सम्यक्त्व होता है और जब शुद्धोपयोगमें युक्त नहीं होता तब भी उसे ज्ञानचेतना लब्धरूप होती है। जब ज्ञानचेतना अनुभवरूप होती है तभी सम्यग्दर्शन होता है और जब अनुभवरूप नहीं होती तब नहीं होता—इसप्रकार मानना बहुत बड़ी भूल है।

क्षायिक सम्यक्त्वमें भी जीव शुभाशुभरूप प्रवृत्ति करे या स्वानुभवरूप प्रवृत्ति करे किन्तु सम्यक्त्वगुण तो सामान्य प्रवर्तनरूप ही है। [देखो पं० टोडरमलजीकी रहस्यपूर्ण चिट्ठी]

सम्यग्दर्शन श्रद्धागुणकी शुद्ध पर्याय है। वह क्रमशः विकसित नहीं होता किन्तु अक्रमसे एकसमयमें प्रगट हो जाता है। और सम्यग्ज्ञानमें तो हीनाधिकता होती है किन्तु विभावभाव नहीं होता। चारित्रगुण भी क्रमशः विकसित होता है। वह अंशतः शुद्ध और अंशतः अशुद्ध (रागद्वेषवाला) निम्नदशामें होता है अर्थात् इसप्रकारसे तीनों गुणोंकी शुद्ध पर्यायके विकास में अंतर है।

—२४—

सम्यक्श्रद्धा करनी ही चाहिये

चारित्र न पले फिर भी उसकी श्रद्धा करनी चाहिए

दर्शन पाहुड़ की २२ वीं गाथामें भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने कहा है कि— यदि (हम करने हैं वह) करनेको समर्थ हो तो करना और यदि करनेमें समर्थ न हो तो सच्ची श्रद्धा अवश्य करना क्योंकि केवली भगवानने श्रद्धा करनेवालेको सम्यक्त्व कहा है।

यह गाथा बतलाती है कि–जिसने निजस्वरूपको उपादेय जानकर श्रद्धा की उसका मिथ्यात्व मिट गया किन्तु पुरुषार्थकी हीनतासे चारित्र अंगीकार करनेकी शक्ति न हो तो जितनी शक्ति हो उतना ही करे और शेष के प्रति श्रद्धा करे। ऐसी श्रद्धा करनेवालेके भगवानने सम्यक्त्व कहा है।

[अष्टपाहुड हिन्दीमे पृष्ठ ३३, दर्शन पाहुड़ गाथा २२]

इसी आशयकी बात नियमसारकी गाथा १५४ मे भी कही गई है क्योकि **सम्यग्दर्शन धर्मका मूल है।**

—२५—

निश्चय सम्यग्दर्शनका दूसरा अर्थ

मिथ्यात्वभावके दूर होनेपर सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थानमें प्रगट होता है। वह श्रद्धागुणकी शुद्ध पर्याय होनेसे निश्चयसम्यक्त्व है। किन्तु यदि उस सम्यग्दर्शनके साथके चारित्र गुणकी पर्यायका विचार किया जाय तो चारित्र गुणकी रागवाली पर्याय हो या स्वानुभवरूप निर्विकल्प पर्याय हो वहाँ चारित्र गुणकी निर्विकल्प पर्यायके साथके निश्चय सम्यग्दर्शनको वीत-राग सम्यग्दर्शन कहा जाता है, और सविकल्प (रागसहित) पर्यायके साथके निश्चय सम्यग्दर्शनको सराग सम्यग्दर्शन कहा जाता है। इस संबंधमे आगे (८ वें विभागमें) कहा जा चुका है।

जब सातवें गुणस्थानमे और उससे आगे बढनेवाली दशामें निश्चय सम्यग्दर्शन और वीतराग चारित्रका अविनाभावीभाव होता है तब उस अविनाभावीभावको बतानेके लिए दोनो गुणका एकत्व लेकर उस समयके सम्यग्दर्शनको उस एकत्वकी अपेक्षासे **'निश्चय सम्यक्त्व'** कहा जाता है। और निश्चय सम्यग्दर्शनके साथ की विकल्प दशा बतानेके लिये, उस समय यद्यपि निश्चय सम्यग्दर्शन है फिर भी उस निश्चय सम्यग्दर्शनको 'व्यवहार सम्यक्त्व' कहा जाता है। इसलिये जहाँ 'निश्चय सम्यग्दर्शन, शब्द आया हो वहाँ वह श्रद्धा और चारित्रकी एकत्वापेक्षासे है या मात्र श्रद्धागुणकी अपेक्षासे है, यह निश्चय करके उसका अर्थ समझना चाहिए।

प्रश्न—कुछ जीवोंको गृहस्थ दशामें मिथ्यात्व दूर होकर सम्यग्दर्शन हो जाता है, उसे कैसा सम्यग्दर्शन समझना चाहिए ?

उत्तर—केवल श्रद्धागुणकी अपेक्षासे निश्चयसम्यग्दर्शन और श्रद्धा तथा चारित्र गुणकी एकत्वकी अपेक्षासे व्यवहारसम्यग्दर्शन समझना चाहिये। इसप्रकार गृहस्थ दशामें जो निश्चयसम्यग्दर्शन है वह कथंचित् निश्चय और कथंचित् व्यवहार सम्यग्दर्शन है—ऐसा जानना चाहिए।

प्रश्न—उस निश्चय सम्यग्दर्शनको श्रद्धा और चारित्रकी एकत्वापेक्षासे व्यवहारसम्यग्दर्शन क्यों कहा है ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि जीव शुभरागको तोड़कर वीतराग चारित्रके साथ अल्प कालमें तन्मय हो जायगा इतना सम्बन्ध बतानेके लिये उस निश्चय सम्यग्दर्शनको श्रद्धा और चारित्रकी एकत्व अपेक्षासे व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

सातवें और आगेके गुणस्थानमें सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रकी एकता होती है इसलिये उस समयके सम्यक्त्वमें निश्चय और व्यवहार ऐसे दो भेद नहीं होते इसलिये वहाँ जो सम्यक्त्व होता है उसे निश्चयसम्यग्दर्शन' ही कहा जाता है।

(देखो परमात्मप्रकाश अध्याय १ गाथा ८५ नीचेकी संस्कृत तथा हिन्दी टीका दूसरी आवृत्ति पृष्ठ ९० तथा परमात्मप्रकाश अध्याय २ गाथा १७—१८ के नीचेकी संस्कृत तथा हिन्दी टीका दूसरी आवृत्ति पृष्ठ १४६—१४७ और हिन्दी समयसारमें श्रीजयसेनाचार्यकी संस्कृत टीका गाथा १२१—१२५ के नीचे पृष्ठ १८६ तथा हिन्दी समयसारकी टीकामें श्री जयसेनाचार्यकी टीकाका अनुवाद पृष्ठ ११६)

— अन्तमें —

पुण्यसे धर्म होता है और आत्मा पर द्रव्यका कुछ भी कर सकता है—यह बात भी वीतरागदेवके द्वारा प्ररूपित धर्मकी मर्यादाके बाहर है।

०

प्रथम अध्याय का परिशिष्ट

[२]

❀ निश्चय सम्यग्दर्शन ❀

निश्चय सम्यग्दर्शन क्या है और उसे किसका अवलम्बन है।

वह सम्यग्दर्शन स्वय आत्माके श्रद्धागुणकी निर्विकारी पर्याय है। अखण्ड आत्माके लक्षसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। सम्यग्दर्शनको किसी विकल्पका अवलम्बन नही है, किन्तु निर्विकल्प स्वभावके अवलम्बनसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। यह सम्यग्दर्शन ही आत्माके सर्व सुखका मूल है। 'मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ बन्ध रहित हूँ' ऐसा विकल्प करना भी शुभ राग है, उस शुभ राग का अवलम्बन भी सम्यग्दर्शनको नही है, उस शुभ विकल्पका अतिक्रम करने पर सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन स्वय रागादि विकल्प रहित निर्मल पर्याय है। उसे किसी निमित्त या विकारका अवलम्बन नही है,—किन्तु पूर्ण रूप आत्माका अवलम्बन है—यह सम्पूर्ण आत्माको स्वीकार करता है।

एक बार निर्विकल्प होकर अखण्ड ज्ञायक स्वभावको लक्षमें लिया कि वहाँ सम्यक्प्रतीति हो जाती है। अखण्ड स्वभावका लक्ष ही स्वरूपकी शुद्धिके लिये कार्यकारी है। अखण्ड सत्य स्वरूपको जाने बिना—श्रद्धा किये बिना, 'मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ अबद्धस्पृष्ट हूँ' इत्यादि विकल्प भी स्वरूप की शुद्धिके लिए कार्यकारी नही हैं। एक बार अखण्ड ज्ञायक स्वभावका सवेदन—लक्ष किया कि फिर जो वृत्ति उठती हैं वे शुभाशुभ वृत्तियाँ अस्थिरताका कार्य करती हैं, किन्तु वे स्वरूपके रोकनेमे समर्थ नही हैं, क्योकि श्रद्धा तो नित्य विकल्प रहित होनेसे जो वृत्ति उद्भूत होती है वह श्रद्धाको नही बदल सकती यदि विकल्पमे ही रुक गया तो वह मिथ्यादृष्टि है।

विकल्प रहित होकर अभेदका अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन है। इस सबधमे समयसारमें कहा है कि.—

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं ।
पक्खा तिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥१४२॥

'आत्मा कर्मसे बद्ध है या अबद्ध' ऐसे दो प्रकारके भेदोंके विचारमें रुकना सो नयका पक्ष है। मैं आत्मा हूँ परसे भिन्न हूँ' ऐसा विकल्प भी राग है इस रागकी वृत्तिको —नयके पक्षको —उल्लंघन करे तो सम्यग्दर्शन प्रगट हो। 'मैं बद्ध हूँ अथवा बन्ध रहित मुक्त हूँ' ऐसी विचार श्रेणीको लांघकर जो आत्मानुभव करता है वही सम्यग्दृष्टि है और वही शुद्धात्मा है।

'मैं अबन्ध हूँ बन्ध मेरा स्वरूप नहीं है' ऐसे भंगकी विचार श्रेणीके कार्यमें रुकना सो अज्ञान है। और उस भंगके विचारको लांघकर अभंगस्वरूपको स्पर्श कर लेना (अनुभव कर लेना) ही पहला आत्म-धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन है। 'मैं पराश्रय रहित, अबन्ध शुद्ध हूँ' निश्चयनयके पक्षका विकल्प राग है और जो उस रागमें अटक जाता है (—रागको ही सम्यग्दर्शन मानले और राग रहित स्वरूपका अनुभव न करे) तो वह मिथ्यादृष्टि है।

भेदके विकल्प उठते तो हैं किन्तु उनसे सम्यग्दर्शन नहीं होता

अनादिकालसे आत्मस्वरूपका अनुभव नहीं है परिचय नहीं है इसलिये आत्मानुभव करते समय तत्सम्बन्धी विकल्प आये बिना नहीं रहते। अनादिकालसे आत्मस्वरूपका अनुभव नहीं है इसलिये वृत्तियोंका उद्भव होता है कि—'मैं आत्मा कर्मोंके साथ संबंधवाला हूँ या कर्मोंके संबंधसे रहित हूँ' इसप्रकार नयोंके दो विकल्प उठते हैं परन्तु—'कर्मोंके साथ संबंधवाला या कर्मोंके संबंधसे रहित अर्थात् बद्ध हूँ या अबद्ध हूँ' ऐसे दो प्रकारके भेदोंका भी एक स्वरूपमें कहाँ अवकाश है? स्वरूप तो नयपक्षकी अपेक्षाओं से परे है। एक प्रकारके स्वरूपमें दो प्रकारकी अपेक्षाएँ नहीं होतीं। मैं शुभाशुभभावसे रहित हूँ ऐसे विचारमें उलझना भी पक्ष है। उससे भी परे स्वरूप है और स्वरूप तो पक्षातिक्रांत है यही सम्यग्दर्शनका विषय है अर्थात् उसीके सहारे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है उसके अतिरिक्त दूसरा कोई सम्यग्दर्शनका उपाय नहीं है।

सम्यग्दर्शनका स्वरूप क्या है ? किसी शारीरिक क्रियासे सम्यग्दर्शन नही होता जड कर्मोंसे भी नही होता, और अशुभ राग या शुभ रागके लक्षसे भी सम्यग्दर्शन नही होता। तथा 'मैं पुण्य-पापके परिणामोसे रहित ज्ञायक स्वरूप हूँ' ऐसा विचार भी स्वरूपका अनुभव करानेमे समर्थ नही है। मैं ज्ञायक हूँ 'ऐसे विचारमे उलझा कि भेदके विचारमे उलझ गया' किन्तु स्वरूप तो ज्ञातादृष्टा है' उसका अनुभव ही सम्यग्दर्शन है। भेदके विचारमे उलझना सम्यग्दर्शनका स्वरूप नही है।

जो वस्तु है सो स्वतः परिपूर्ण स्वभावसे भरी हुई है। आत्माका स्वभाव परापेक्षासे रहित एकरूप है। मैं कर्म-सबंधवाला हूँ या कर्मोंके सम्बन्ध से रहित हूँ, ऐसी अपेक्षाओसे उस स्वभावका आश्रय नही होता। यद्यपि आत्मस्वभाव तो अबन्ध ही है किन्तु 'मैं अबन्ध हूँ' ऐसे विकल्पको भी छोडकर निर्विकल्प ज्ञातादृष्टा निरपेक्ष स्वभावका आश्रय करते ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

आत्माकी प्रभुताकी महिमा भीतर परिपूर्ण है, अनादिकालसे उस की सम्यक् प्रतीतिके विना उसका अनुभव नही हुआ, अनादिकालसे पर लक्ष किया है किन्तु स्वभावका लक्ष नही किया। शरीरादिमे आत्माका सुख नही है, शुभरागमे भी सुख नही है, और 'मेरा स्वरूप शुभरागसे रहित है' ऐसे भेदके विचारमें भी आत्माका सुख नही है। इसलिये उस भेदके विचारमे उलझना भी अज्ञानीका कार्य है। इसलिये उस नयपक्षके भेदका आश्रय छोडकर अभेद ज्ञाता स्वभावका आश्रय करना ही सम्यग्दर्शन है और उसीमे सुख है। अभेद स्वभावका आश्रय कहो या ज्ञाता स्वरूपका अनुभव कहो अथवा सुख कहो, धर्म कहो या सम्यग्दर्शन कहो—सब यही है।

विकल्पको रखकर स्वरूपानुभव नहीं हो सकता

अखडानद अभेद आत्माका लक्ष नयपक्षके द्वारा नही होता। नयपक्षकी विकल्परूपी मोटर चाहे जितनी दौडाई जाय,—'मैं ज्ञायक हूँ, अभेद हूँ, शुद्ध हूँ,' ऐसे विकल्प करें फिर भी वे विकल्पस्वरूप तकके आगन तक ही ले जायेंगे, किन्तु स्वरूपानुभवके समय तो वे सब विकल्प छोड़ ही देने

पड़ेंगे। विकल्पको साथ लेकर स्वरूपानुभव नहीं हो सकता। नयपक्षोंका ज्ञान स्वरूपके आँगन तक पहुँचनेमें बीचमें आते हैं। मैं स्वाधीन ज्ञानस्वरूपी आत्मा हूँ, कर्म जड़ हैं, जड़ कर्म मेरे स्वरूपको नहीं रोक सकते, यदि मैं विकार करूं तो कर्म निमित्त कहलाते हैं किन्तु कर्म मुझे विकार नहीं कराते क्योंकि कर्म और आत्मामें परस्पर अत्यंत अभाव होनेसे दोनों द्रव्य भिन्न हैं वे कोई एक दूसरेका कुछ नहीं कर सकते। किसी अपेक्षा मैं जड़का कुछ नहीं करता, और जड़ मेरा कुछ नहीं करते जो राग-द्वेष होते हैं उन्हें भी कर्म नहीं कराता तथा वे परवस्तुमें नहीं होते किन्तु मेरी अवस्थामें होते हैं वे राग द्वेष मेरा स्वभाव नहीं हैं निश्चयसे मेरा स्वभाव राग रहित ज्ञानस्वरूप है इसप्रकार सभी पहलुओं (नयोंका) ज्ञान पहले करना चाहिये किन्तु इतना करने तक भी भेदका आश्रय है भेदके आश्रयसे अभेद आत्मस्वरूपका अनुभव नहीं होता फिर भी पहिले उन भेदोंको जानना चाहिये। जब इतना जान लेता है तब वह स्वरूपके आँगनतक पहुँचा हुआ कहलाता है। उसके बाद जब स्वसन्मुख अनुभव द्वारा अभेदका आश्रय करता है तब भेदका आश्रय छूट जाता है प्रत्यक्ष स्वरूपानुभव होनेसे अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इसप्रकार यद्यपि स्वरूपोन्मुख होनेसे पूर्व नय पक्षके विचार होते हैं किन्तु उस नयपक्षके कोई भी विचार स्वरूपानुभवमें सहायक नहीं हैं।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का संबंध किसके साथ है?

सम्यग्दर्शन निर्विकल्प सामान्य श्रद्धागुणकी शुद्ध पर्याय है उसका मात्र निश्चय-अखण्ड स्वभावके साथ ही संबंध है। अखण्ड द्रव्य जो कि भंगभेद रहित है वही सम्यग्दर्शनको मान्य है सम्यग्दर्शन पर्यायको स्वीकार नहीं करता किन्तु सम्यग्दर्शनके साथ रहनेवाला सम्यग्ज्ञान सम्यक् निश्चयव्यवहार दोनोंको साथ है अर्थात् निश्चय-अखण्ड स्वभावको तथा व्यवहारमें पर्यायके भंग भेद होते हैं उन सबको सम्यग्ज्ञान जान लेता है।

सम्यग्दर्शन एक निर्मल पर्याय है किन्तु मैं एक निर्मल पर्याय हूँ इस प्रकार सम्यग्दर्शन स्वयं अपनेको नहीं जानता। सम्यग्दर्शनका अखण्ड विषय एक द्रव्य ही है पर्याय नहीं।

प्रश्न—जब कि सम्यग्दर्शनका विषय अखण्ड है और वह पर्यायको स्वीकार नही करता तब फिर सम्यग्दर्शनके समय पर्याय कहाँ चली जाती है ? सम्यग्दर्शन स्वय ही पर्याय है, क्या पर्याय द्रव्यसे पृथक् होगई ?

उत्तर—सम्यग्दर्शनका विषय अखण्ड द्रव्य ही है। सम्यग्दर्शनके विषय द्रव्य–गुण–पर्यायके भेद नही है, द्रव्य-गुण-पर्यायसे अभिन्न वस्तु ही सम्यग्दर्शनको मान्य है। (अभिन्न वस्तुका लक्ष करने पर जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है वह सामान्य वस्तुके साथ अभिन्न हो जाती है)। सम्यग्दर्शन-रूप पर्यायको भी सम्यग्दर्शन स्वीकार नही करता, एक समयमे अभिन्न परिपूर्ण द्रव्य ही सम्यग्दर्शनको मान्य है, एक मात्र पूर्णरूप आत्माको सम्यग्दर्शन प्रतीतिमे लेता है, परन्तु सम्यग्दर्शनके साथ प्रगट होनेवाला सम्यग्ज्ञान सामान्य विशेष सबको जानता है, सम्यक्ज्ञान पर्यायको और निमित्तको भी जानता है। सम्यग्दर्शनको भी जाननेवाला सम्यक्ज्ञान ही है।

श्रद्धा और ज्ञान कब सम्यक् हुए ?

औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिकभाव–कोई भी सम्यग्दर्शनका विषय नही है क्योकि वे सब पर्याय हैं। सम्यग्दर्शनका विषय परिपूर्ण द्रव्य है, पर्यायको सम्यग्दर्शन स्वीकार नही करता, जब अकेली वस्तुका लक्ष किया जाता है तब श्रद्धा सम्यक् होती है।

प्रश्न—उस समय होनेवाला सम्यक्ज्ञान कैसा होता है ?

उत्तर—ज्ञानका स्वभाव सामान्य–विशेष सबको जानना है। जब ज्ञानने सपूर्ण द्रव्यको, विकसित पर्यायको और विकारको ज्यो का त्यो जानकर, यह विवेक किया कि–'जो परिपूर्ण स्वभाव है सो मैं हूँ और जो विकार रह गया है सो मैं नही हूँ' तब वह सम्यक् कहलाया। सम्यग्दर्शनरूप विकसित पर्यायको, सम्यग्दर्शनकी विषयभूत परिपूर्ण वस्तुको और अवस्था की कमीको इन तीनोको सम्यग्ज्ञान यथावत् जानता है, अवस्थाकी स्वीकृति ज्ञानमे है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन एक निश्चयको ही (अभेदस्व-रूपको ही) स्वीकार करता है, और सम्यग्दर्शनका अविनाभावी सम्यग्ज्ञान

निश्चय तथा व्यवहार दोनोंको यथावत् जानकर विवेक करता है। यदि निश्चय-व्यवहार दोनोंको न जाने तो ज्ञान प्रमाण (सम्यक) नहीं होता। यदि व्यवहारका आश्रय करे तो दृष्टि मिथ्या सिद्ध होती है और यदि व्यवहारको जाने ही नहीं तो ज्ञान मिथ्या सिद्ध होता है। ज्ञान निश्चय व्यवहारका विवेक करता है तब वह सम्यक कहलाता है। और दृष्टि व्यवहारका आश्रय छोड़कर निश्चयको अंगीकार करे तो वह सम्यक् कहलाती है।

सम्यग्दर्शनका विषय क्या है ?
मोक्षका परमार्थ कारण क्या है ?

सम्यग्दर्शनके विषयमें मोक्ष पर्याय और द्रव्य ऐसे भेद ही नहीं हैं। द्रव्य ही परिपूर्ण है जो कि सम्यग्दर्शनको मान्य है। बन्ध-मोक्ष भी सम्यग्दर्शनको मान्य नहीं है। बन्ध-मोक्षकी पर्याय साधक दशाके भंग-भेद इत्यादि सबको सम्यग्ज्ञान जानता है।

सम्यग्दर्शनका विषय परिपूर्ण द्रव्य है वही मोक्षका परमार्थ कारण है। पंच महाव्रतादि या विकल्पको मोक्षका कारण कहना स्थूल व्यवहार है और सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप साधक अवस्थाको मोक्षका कारण कहना भी व्यवहार है क्योंकि उस साधक अवस्थाका भी जब अभाव होता है तब मोक्ष दशा प्रगट होती है अर्थात् वह भी अभावरूप कारण है इसलिये व्यवहार है। त्रैकालिक अखण्ड वस्तु ही मोक्षका निश्चय कारण है। परमार्थसे वस्तुमें कारण-कार्यके भेद भी नहीं हैं कार्यकारणका भेद भी व्यवहार है। एक अखण्ड वस्तुमें कार्यकारणके भेदके विचारसे विकल्प होता है इसलिये वह भी व्यवहार है फिर भी व्यवहारनयसे भी कार्य-कारणके भेद जाना सही हो तो मोक्षकी प्रगट करनेका [illegible] जा सकेगी। अर्थात् परमार्थसे साधक साध्यके भेद [illegible] किन्तु अभेद [illegible] व्यवहारका आश्रय नहीं होता [illegible] और भेदके [illegible] विकल्पसे भी नहीं [illegible] अखण्ड वस्तु ही सम्यग्दर्शनका विषय है।

सम्यग्दर्शन ही शान्तिका उपाय है

अनादिकालसे आत्माके अखण्ड रसको सम्यक्दर्शनके द्वारा नहीं जाना है इसलिये जीव परमे और विकल्पमे रस मान रहा है। किन्तु मैं अखण्ड एकरूप स्वभाव हूँ उसीमे मेरा रस है, परमे कही मेरा रस नही है,—इसप्रकार स्वभाव दृष्टिके बलसे एकवार सबको नीरस बनादे! तुझे सहजानन्दस्वरूपके अमृत रसकी अपूर्व शान्तिका अनुभव प्रगट होगा। उसका उपाय सम्यग्दर्शन ही है।

संसारका अभाव सम्यग्दर्शनसे ही होता है

अनन्तकालसे अनन्तजीव ससारमे परिभ्रमण कर रहे हैं और अनंत कालमे अनन्तजीव सम्यग्दर्शनके द्वारा पूर्ण स्वरूपकी प्रतीति करके मोक्षको प्राप्त हुए हैं, जीवोने ससार पक्ष तो अनादिकालमे ग्रहण किया है किन्तु सिद्धोका पक्ष कभी ग्रहण नही किया। अब सिद्धोका पक्ष ग्रहण करके अपने सिद्ध स्वरूपको जानकर ससारका अभाव करनेका अवसर आया है, ...

और उसका उपाय एकमात्र सम्यग्दर्शन ही है—

प्रथम अध्याय का परिशिष्ट

[३]

जिज्ञासुको धर्म किसप्रकार करना चाहिए ?

जो जीव जिज्ञासु होकर स्वभावको समझना चाहता है वह अपने सुखको प्राप्त (-प्रगट अनुभवरूप) करना चाहता है और दुःखको दूर करना चाहता है तो सुख अपना नित्य स्वभाव है और वर्तमानमें जो दुःख है सो क्षणिक है इसलिये वह दूर हो सकता है। वर्तमान दुःख अवस्थाको दूर करके स्वयं सुखरूप अवस्थाको प्रगट कर सकता है—इतना तो जो सत्को समझना चाहता है उसने स्वीकार ही कर लिया है। आत्माको अपने भावमें अपूर्व तत्त्व विचाररूप पुरुषार्थ करके विकार रहित स्वरूपका निर्णय करना चाहिए। वर्तमान विकारके होने पर भी विकार रहित स्वभावकी श्रद्धा की जा सकती है अर्थात् यह विकार और दुःख मेरा स्वरूप नहीं है ऐसा निश्चय हो सकता है।

पात्र जीवका लक्षण

जिज्ञासु जीवोंको स्वरूपका निर्णय करनेके लिये शास्त्रोंने पहिले ही ज्ञान क्रिया बतलाई है। स्वरूपका निर्णय करनेके लिये दूसरा कोई दान-पूजा-भक्ति-व्रत तपादि करनेको नहीं कहा है, किन्तु श्रुतज्ञानसे ज्ञानस्वरूप आत्माका निर्णय करनेका ही कहा है। कुगुरु कुदेव और कुशास्त्रकी ओर का आदर और उस ओरका झुकाव तो हट ही जाना चाहिए तथा विषयादि परवस्तुओंमेंसे सुख बुद्धि दूर हो जानी चाहिए। सब ओरसे रुचि हटकर अपनी ओर रुचि ढलनी चाहिए। और देव शास्त्र-गुरुको यथार्थतया पहिचानकर उस ओर आदर करे और यह सब यदि स्वभावके लक्षसे हुआ हो तो उस जीवकी पात्रता हुई कहलाती है। इतनी पात्रता तो अभी सम्यग्दर्शनका मूल कारण नहीं है। सम्यग्दर्शनका मूल कारण चैतन्य स्वभावका आश्रय करना है किन्तु पहिले कुदेवादिका सबका त्याग तथा सच्चे देव गुरु शास्त्र और सत्समागमका प्रेम [illegible]

पात्र हुए जीवोको आत्माका स्वरूप समझनेके लिए क्या करना चाहिए सो यहाँ स्पष्ट बताया है।

सम्यग्दर्शनके उपायके लिये ज्ञानियोंके द्वारा बताई गई क्रिया

"पहिले श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निश्चय करके, फिर आत्माकी प्रगट प्रसिद्धिके लिए, पर पदार्थकी प्रसिद्धिकी कारण जो इन्द्रियोके द्वारा और मनके द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियाँ हैं उन्हे मर्यादामे लाकर जिसने मतिज्ञान-तत्त्वको आत्मसमुख किया है ऐसा, तथा नानाप्रकार के पक्षोके आलम्बनसे होनेवाले अनेक विकल्पोंके द्वारा आकुलताको उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञानकी बुद्धियोको भी मान मर्यादामे लाकर श्रुतज्ञान-तत्त्व को भी आत्मसन्मुख करता हुआ, अत्यन्त विकल्प रहित होकर, तत्काल परमात्मस्वरूप आत्माको जब आत्मा अनुभव करता है उसी समय आत्मा सम्यक्‌तया दिखाई देता है [अर्थात् श्रद्धा की जाती है] और ज्ञात होता है वही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।" [देखो समयसार गाथा १४४ की टीका]

उपरोक्त कथनका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है.—

श्रुतज्ञान किसे कहना चाहिए ?

"प्रथम श्रुतज्ञानके अवलबनसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निर्णय करना चाहिए।" ऐसा कहा है। श्रुतज्ञान किसे कहना चाहिए ? सर्वज्ञदेवके द्वारा कहा गया श्रुतज्ञान अस्ति-नास्ति द्वारा वस्तु स्वरूपको सिद्ध करता है। जो अनेकातस्वरूप वस्तुको 'स्वरूपसे है और पररूपसे नही है' इसप्रकार वस्तुको स्वतन्त्र सिद्ध करता है वह श्रुतज्ञान है।

एक वस्तु निजरूपसे है और वह वस्तु अनन्त पर द्रव्योसे पृथक् है इसप्रकार अस्ति-नास्तिरूप परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोको प्रकाशित करके जो वस्तु स्वरूपको बतावे—सिद्ध करे सो अनेकान्त है और वही श्रुतज्ञानका लक्षण है। वस्तु स्वापेक्षासे है और परापेक्षासे नही इसमे वस्तुकी नित्यता और स्वतन्त्रता सिद्ध की है।

श्रुतज्ञानका वास्तविक लक्षण—अनेकांत

एक वस्तुमें है और नहीं ऐसी परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोंको भिन्न २ अपेक्षासे प्रकाशित करके जो वस्तुस्वरूपको परसे भिन्न बताये सो श्रुतज्ञान है आत्मा सब परद्रव्योंसे भिन्न वस्तु है ऐसा पहिले श्रुतज्ञानसे निश्चित करना चाहिये।

अनंत परवस्तुसे यह आत्मा भिन्न है,—यह सिद्ध होने पर अब अपने द्रव्य–पर्यायमें देखना है। मेरा त्रैकालिक द्रव्य एक समयमात्रकी अवस्थारूप नहीं है अर्थात् विकार क्षणिक पर्यायरूपसे है और त्रैकालिक स्वरूपसे विकार नहीं है—इसप्रकार विकार रहित स्वभावकी सिद्धि भी अनेकांतके द्वारा ही होती है। भगवानके द्वारा कहे गये शास्त्रोंकी महत्ता अनेकांतसे ही है। भगवानने पर जीवोंकी दया पालनेको कहा है या अहिंसा बतलाई है अथवा कर्मोंका वर्णन किया है—इसप्रकार मानना न तो भगवानका पहिचाननेका वास्तविक लक्षण है और न भगवानके द्वारा कहे गये शास्त्रोंको ही पहिचाननेका।

भगवान भी दूसरेका कुछ नहीं कर सके

भगवानने अपना कार्य भली भांति किया किन्तु वे दूसरोंका कुछ नहीं कर सके क्योंकि एक तत्त्व स्वापेक्षासे है और परापेक्षासे नहीं है इसलिये कोई किसीका कुछ नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्य पृथक पृथक् स्वतंत्र है कोई किसीका कुछ नहीं कर सकता। इसप्रकार समझ लेना ही भगवानके द्वारा कहे गये शास्त्रोंकी पहिचान है और यही श्रुतज्ञान है।

प्रभावनाका सच्चा स्वरूप

कोई जीव पर द्रव्यकी प्रभावना नहीं कर सकता किन्तु जैनधर्म जो कि आत्माका वीतराग स्वभाव है उसकी प्रभावना धर्मी जीव करते हैं। आत्माको जाने बिना आत्म स्वभावकी वृद्धिरूप प्रभावना कैसे की जा सकती है? प्रभावना करनेका जो विकल्प उठता है सो भी परके कारणसे नहीं। दूसरेके लिये कुछ भी अपनेमें होता है यह कहना जैन शासनकी मर्यादामें नहीं है। जैन शासन तो वस्तुको स्वतंत्र स्वाधीन और परिपूर्ण स्थापित करता है।

भगवानके द्वारा कथित सच्ची दया (अहिंसा) का स्वरूप

यह बात मिथ्या है कि भगवानने दूसरे जीवोकी दया स्थापित की है। जब कि यह जीव पर जीवोकी क्रिया कर ही नही सकता तब फिर उसे बचा सकने की बात भगवान कैसे कहे ? भगवानने तो आत्माके स्वभावको पहिचान कर ज्ञातामात्र भावकी श्रद्धा और एकाग्रता द्वारा कषायभावसे अपने आत्माको बचानेकी बात कही है, और यही सच्ची दया है। अपने आत्माका निर्णय किए बिना जीव क्या कर सकता है ? भगवानके श्रुतज्ञानमे तो यह कहा है कि—तूं स्वत परिपूर्ण वस्तु है, प्रत्येक तत्त्व, स्वत स्वतत्र है किसी तत्त्वको दूसरे तत्त्वका आश्रय नही है,—इसप्रकार वस्तु स्वरूपको पृथक् स्वतत्र जानना सो अहिसा है और वस्तुको पराधीन मानना कि एक दूसरेका कुछ कर सकता है तथा रागसे धर्म मानना सो हिसा है। सरागीको दूसरे जीवको बचानेका राग तो होता है किन्तु उस शुभ रागसे पुण्य बधन होता है—धर्म नही होता है ऐसा समझना चाहिये।

आनन्दको प्रगट करनेवाली भावनावाला क्या करे ?

जगतके जीवोको सुख चाहिये है और सुखका दूसरा नाम धर्म है। धर्म करना है अर्थात् आत्म शाति चाहिए है अथवा अच्छा करना है। और वह अच्छा कहाँ करना है ? आत्माकी अवस्थामे दु खका नाश करके वीत-रागी आनन्द प्रगट करना है। वह आनन्द ऐसा चाहिए कि जो स्वाधीन हो—जिसके लिये परका अवलम्बन न हो। ऐसा आनन्द प्रगट करनेकी जिस की यथार्थ भावना हो सो वह जिज्ञासु कहलाता है। अपना पूर्णानन्द प्रगट करने की भावना वाला जिज्ञासु पहिले यह देखता है कि ऐसा पूर्णानद किसे प्रगट हुआ है ? अपनेको अभी ऐसा आनन्द प्रगट नही हुआ है किंतु अपनेको जिसकी चाह है ऐसा आनन्द अन्य किसीको प्रगट हुआ है और जिन्हे वह आनन्द प्रगट हुआ है उनके निमित्तसे स्वय उस आनन्दको प्रगट करनेका सच्चा मार्ग जानले। और ऐसा जान ले सो उसमे सच्चे निमित्तोकी पहि-चान भी आ गई। जब तक इतना करता है तब तक वह जिज्ञासु है।

अपनी अवस्थामें अधम–अशांति है उसे दूर करके धर्म–शांति प्रगट करना है। वह शांति अपने आधारसे और परिपूर्ण होनी चाहिये। जिसे ऐसी जिज्ञासा होती है वह पहिले यह निश्चय करता है कि–मैं एक आत्मा अपना परिपूर्ण सुख प्रगट करना चाहता हूँ। तो वैसा परिपूर्ण सुख किसी औरके प्रगट हुआ होना चाहिए, यदि परिपूर्ण सुख–आनंद प्रगट न हो तो दुखी कहलाये। जिसे परिपूर्ण और स्वाधीन आनंद प्रगट होता है वह सम्पूर्ण सुखी है और ऐसे सर्वज्ञ वीतराग हैं। इसप्रकार जिज्ञासु अपने ज्ञानमें सर्वज्ञ का निर्णय करता है। दूसरेका कुछ करने धरनेकी बात तो है ही नहीं। जब परसे कुछ पृथक् हुआ है तभी तो आत्माकी जिज्ञासा हुई है। जिसे परसे हटकर आत्महित करनेकी तीव्र आकांक्षा जाग्रत हुई है ऐसे जिज्ञासु जीवकी यह बात है। परद्रव्यके प्रति सुखबुद्धि और रुचिको दूर की वह पात्रता है। और स्वभावकी रुचि तथा पहिचान होना सो पात्रताका फल है।

दुखका मूल भूल है जिसने अपनी भूलसे दुख उत्पन्न किया है वह अपनी भूलको दूर करे तो उसका दुख दूर हो। अन्य किसीने भूल नहीं कराई इसलिये दूसरा कोई अपना दुख दूर करनेमें समर्थ नहीं है।

श्रुतज्ञानका अवलम्बन ही पहिली क्रिया है

जो आत्म कल्याण करनेको तैयार हुआ है ऐसे जिज्ञासुको पहिले क्या करना चाहिए,–यह बतलाया जाता है। आत्मकल्याण कहीं अपने आप नहीं हो जाता किंतु वह अपने ज्ञानमें रुचि और पुरुषार्थसे होता है। अपना कल्याण करनेके लिये पहिले अपने ज्ञानमें यह निर्णय करना होगा कि–जिन्हें पूर्ण कल्याण प्रगट हुआ है वे कौन हैं और वे क्या कहते हैं। तथा उन्होंने पहिले क्या किया था। अर्थात् सर्वज्ञका स्वरूप जानकर उनके द्वारा कहे गये श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे अपने आत्माका निर्णय करना चाहिये यही प्रथम कर्तव्य है। किसी परके अवलम्बनसे धर्म प्रगट नहीं होता फिर भी जब स्वयं अपने पुरुषार्थसे समझता है तब सन्मुख निमित्तरूपसे सच्चे–देव–गुरु ही होते हैं।

इसप्रकार प्रथम ही निर्णय यह हुआ कि कोई पूर्ण पुरुष सम्पूर्ण सुखी है और सम्पूर्ण ज्ञाता है, वही पुरुष पूर्ण सुखका पूर्ण सत्यमार्ग कह सकता है, स्वय उसे समझकर अपना पूर्ण सुख प्रगट कर सकता है और स्वय जब समझता है तब सच्चे देव गुरु शास्त्र ही निमित्तरूप होते है। जिसे स्त्री पुत्र पैसा इत्यादिकी अर्थात् ससारके निमित्तोके ओरकी तीव्र रुचि होगी उसे धर्मके निमित्तभूत देव शास्त्र गुरुके प्रति रुचि नही होगी अर्थात् उसे श्रुतज्ञानका अवलम्बन नही रहेगा और श्रुतज्ञानके अवलम्बनके विना आत्माका निर्णय नही होगा। क्योकि आत्माके निर्णयमे सत् निमित्त ही होते हैं, कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र इत्यादि कोई भी आत्माके निर्णयमे निमित्तरूप नही हो सकते। जो कुदेवादिको मानता है उसे आत्म निर्णय हो ही नही सकता।

जिज्ञासुकी यह मान्यता तो हो ही नही सकती कि दूसरेकी सेवा करेंगे तो धर्म होगा। किन्तु वह यथार्थ धर्म कैसे होता है इसके लिये पहिले पूर्णज्ञानी भगवान और उनके कथित शास्त्रोके अवलम्बनसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निर्णय करनेके लिये उद्यमी होगा। अनन्तभवमे जीवने धर्मके नामपर मोह किया किन्तु धर्मकी कलाको समझा ही नही है। यदि धर्मकी एक कला ही सीख ले तो उसका मोक्ष हुए बिना न रहेगा।

जिज्ञासु जीव पहिले कुदेवादिका और सुदेवादिका निर्णय करके कुदेवादिको छोडता है और फिर उसे सच्चे देव गुरुकी ऐसी लगन लग जाती है कि उसका एक मात्र यही लक्ष हो जाता है कि सत्पुरुष क्या कहते हैं उसे समझा जाय, अर्थात् वह अशुभसे तो अलग हो ही जाता है। यदि कोई सांसारिक रुचिसे पीछे न हटे तो वह श्रुतावलम्बनमे टिक नही सकेगा।

धर्म कहाँ है और वह कैसे होता है ?

बहुतसे जिज्ञासुओ को यही प्रश्न होता है कि धर्मके लिये पहिले क्या करना चाहिए ? क्या पर्वत पर चढना चाहिए, या सेवा-पूजा-ध्यान करते रहना चाहिए, या गुरुकी भक्ति करके उनकी कृपा प्राप्त करनी चाहिए अथवा दान देना चाहिए ? इन सबका उत्तर यह है कि इसमे कही भी

आत्माका धर्म नहीं है। धर्म तो अपना स्वभाव है धर्म पराधीन नहीं है। किसीके अवलम्बनसे धर्म नहीं होता। धर्म किसीके द्वारा दिया नहीं जाता किन्तु अपनी पहिचानसे ही धर्म होता है। जिसे अपना पूर्णानन्द चाहिये है उसे यह निश्चित करना चाहिए कि पूर्णानन्दका स्वरूप क्या है और वह किसे प्रगट हुआ है? जो आनन्द मैं चाहता हूँ वह पूर्ण अबाधित आनन्द चाहता हूँ। अर्थात् कोई आत्मा वैसे पूर्णानन्द दशाको प्राप्त हुए हैं और उन्हें पूर्णानन्द दशामें ज्ञान भी पूर्ण ही है क्योंकि यदि ज्ञान पूर्ण न हो तो राग-द्वेष रहेगा, उसके रहनेसे दुःख रहेगा और जहाँ दुःख होता है वहाँ पूर्णानन्द नहीं हो सकता इसलिए जिन्हें पूर्णानन्द प्रगट हुआ है ऐसे सर्वज्ञ भगवान हैं। उनका और वे क्या कहते हैं इसका जिज्ञासुको निर्णय करना चाहिए। इसीलिए कहा है कि 'पहिले श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे आत्माका—पूर्णरूपका निर्णय करना चाहिए'　　　　इसमें उपादान-निमित्तकी सन्धि विद्यमान है। ज्ञानी कौन है सत् बात कौन कहता है— यह सब निश्चय करनेके लिए निवृत्ति लेनी चाहिए। यदि स्त्री-कुटुम्ब लक्ष्मीका प्रेम और संसारकी रुचिमें कमी न आये तो वह सत् समागमके लिए निवृत्ति नहीं ले सकेगा। जहाँ श्रुतका अवलम्बन लेनेको कहा है वहीं तीव्र अशुभ भावका त्याग आ गया और सच्चे निमित्तोंकी पहिचान करना भी आ गया।

सुखका उपाय ज्ञान और सत् समागम

तुझे तो सुख चाहिए है? यदि तुझे सुख चाहिए है तो पहिले यह निर्णय कर कि सुख कहाँ है और वह कैसे प्रगट होता है। सुख कहाँ है और वह कैसे प्रगट होता है इसका ज्ञान किये बिना (बाह्याचार करके यदि) सूख जाय तब भी सुख नहीं मिलता—धर्म नहीं होता। सर्वज्ञ भगवानके द्वारा कथित श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे यह निर्णय होता है और इस निर्णयका करना ही प्रथम धर्म है। जिसे धर्म करना हो वह धर्मीको पहिचान कर वे क्या कहते हैं इसका निर्णय करनेके लिये सत् समागम करे। सत् समागमसे जिसे श्रुतज्ञानका अवलम्बन प्राप्त हुआ है कि अहो!

परिपूर्ण आत्मवस्तु ही उत्कृष्ट महिमावान है, मैंने ऐसा परमस्वरूप अनन्तकालमे पहिले कभी नही सुना था—ऐसा होनेपर उसे स्वरूपकी रुचि जाग्रत होती है और सत्समागमका रङ्ग लग जाता है अर्थात् उसे कुदेवादि या ससारके प्रति रुचि हो ही नही सकती ।

यदि अपनी वस्तुको पहिचाने तो प्रेम जाग्रत हो और उस तरफका पुरुषार्थ ढले । आत्मा अनादिकालसे स्वभावको भूलकर पुण्य-पापमय परभाव रूपी परदेशमे परिभ्रमण करता है, स्वरूपसे बाहर ससारमे परिभ्रमण करते करते परमपिता सर्वज्ञदेव और परम हितकारी श्री परमगुरुसे भेंट हुई और वे पूर्ण हित कैसे होता है यह सुनाते हैं तथा आत्मस्वरूपकी पहिचान कराते हैं । अपने स्वरूपको सुनते हुए किस धर्मीको उल्लास नही होता ? आत्मस्वभावकी बात सुनते ही जिज्ञासु जीवोको महिमा आती ही है कि—अहो ! अनन्तकालसे यह अपूर्व ज्ञान नही हुआ, स्वरूपके बाहर परभावमे भ्रमित होकर अनन्तकाल तक दुःखी हुआ, यदि यह अपूर्वज्ञान पहिले किया होता तो यह दुःख नही होता । इसप्रकार स्वरूपकी चाह जाग्रत हो, रस आवे, महिमा जागे और इस महिमाको यथार्थतया रटते हुए स्वरूपका निर्णय करे । इसप्रकार जिसे धर्म करके सुखी होना हो उसे पहिले श्रुतज्ञानका अवलम्बन लेकर आत्माका निर्णय करना चाहिये ।

भगवानकी श्रुतज्ञानरूपी डोरीको दृढतापूर्वक पकड कर उसके अवलम्बनसे-स्वरूपमे पहुँचा जाता है । श्रुतज्ञानके अवलम्बनका अर्थ क्या है ? सच्चे श्रुतज्ञानका ही रस है, अन्य कुश्रुतज्ञानका रस नही है, ससारकी बातोका तीव्र रस टल गया है और श्रुतज्ञानका तीव्र रस आने लगा है । इसप्रकार श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे ज्ञान स्वभाव आत्माका निर्णय करनेके लिये जो तैयार हुआ है उसे अल्पकालमे आत्म प्रतीति होगी ससारका तीव्र लोहरस जिसके हृदयमे घुल रहा हो उसे परमशान्त स्वभावकी बात समझनेकी पात्रता ही जाग्रत नही होती यहाँ जो 'श्रुतका अवलम्बन' शब्द दिया है सो वह अवलम्बन स्वभावके लक्षसे है, पीछे न हटनेके लक्षसे है, जिसने ज्ञानस्वभाव आत्माका निर्णय करनेके लिए श्रुतका अवलम्बन

लिया है वह आत्मस्वभावका निर्णय करता ही है। उसके पीछे हटनेकी बात शास्त्रमें नहीं की गई है।

संसारकी रुचिको घटाकर आत्म निर्णय करनेके लक्षसे जो यहाँतक आया है उसे श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे निर्णय अवश्य होगा यह हो ही नहीं सकता कि निर्णय न हो। सच्चे साहूकारके बहीखातेमें दिवालेकी बात ही नहीं हो सकती उसीप्रकार यहाँ दीर्घ संसारीकी बात ही नहीं है यहाँ तो सच्चे जिज्ञासु जीवों ही की बात है। सभी बातोंकी हाँ में हाँ भरे और एक भी बातका अपने ज्ञानमें निर्णय न करे ऐसे 'ध्वजपुच्छ' जैसे जीवोंकी बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो निश्चल और स्पष्ट बात है। जो अनन्तकालीन संसारका अन्त करनेके लिये पूर्ण स्वभावके लक्षसे प्रारम्भ करनेको निकले हैं ऐसे जीवों का प्रारम्भ किया हुआ कार्य फिर पीछे नहीं हटता —ऐसे जीवों की ही यहाँ बात है, यह तो अप्रतिहत मार्ग है। 'पूर्णताके लक्षसे किया गया प्रारम्भ ही वास्तविक प्रारम्भ है'। पूर्णताके लक्षसे किया गया प्रारम्भ पीछे नहीं हटता पूर्णता के लक्षसे पूर्णता अवश्य होती है।

जिस ओरकी रुचि उसी ओरकी रटन

एककी एक बात ही पुन: पुन: (बदल बदलकर) कही जा रही है किन्तु रुचिवान जीवको उकताहट नहीं होती। नाटकका रुचिवान मनुष्य नाटकमें वन्स मोर कहकर अपनी रुचिवाली वस्तुको वारंवार देखता है। इसीप्रकार जिन भव्य जीवोंको आत्मरुचि हुई है और जो आत्मकल्याण करने को निकले हैं वे बारम्बार रुचिपूर्वक प्रतिसमय—खाते पीते चलते फिरते सोते जागते उठते बैठते बोलते चालते विचार करते हुए निरंतर श्रुत का ही अवलंबन स्वभावके लगसे करते हैं उसमें किसी काल या क्षेत्रकी मर्यादा नहीं करते। उन्हें श्रुतज्ञानकी रुचि और जिज्ञासा ऐसी जम गई है कि वह कभी भी नहीं हटती। ऐसा नहीं कहा है कि अमुक समय तक अवलंबन करना चाहिए और फिर छोड़ देना चाहिए, किन्तु श्रुतज्ञानके अवलंबनसे आत्माका निर्णय करनेको कहा है। जिसे सच्चे तत्त्वकी रुचि हुई है वह दूसरे सब कार्योंकी प्रीति को गौण ही कर देता है।

प्रश्न—तब क्या सत्की प्रीति होती है इसलिये खाना-पीना और व्यापार धन्धा सब छोड देना चाहिए ? और श्रुतज्ञानको सुनते ही रहना चाहिए ? किन्तु उसे सुनकर भी क्या करना है ?

उत्तर—सत्की प्रीति होती है इसलिये तत्काल खाना पीना सब छूट ही जाय ऐसा नियम नही है, किन्तु उस ओरकी रुचि तो अवश्य कम हो ही जाती है। परमेसे सुख बुद्धि उड जाय और सबमें एक आत्मा ही आगे रहे इसका अर्थ यह है कि निरन्तर आत्मा ही की तीव्राकाक्षा और चाह होती है। ऐसा नही कहा है कि मात्र श्रुतज्ञानको सुना ही करे किन्तु श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माका निर्णय करना चाहिए।

श्रुतावलम्बनकी धुन लगनेपर वहाँ, देव-गुरु-शास्त्र, धर्म, निश्चय, व्यवहार, इत्यादि अनेक प्रकारसे बातें आती हैं उन सब प्रकारोको जानकर एक ज्ञान स्वभाव आत्माका निश्चय करना चाहिए। उसमें भगवान कैसे हैं उनके शास्त्र कैसे हैं और वे क्या कहते हैं, इन सबका अवलम्बन यह निर्णय कराता है कि तू ज्ञान है, आत्मा ज्ञान स्वरूपी ही है, ज्ञानके अतिरिक्त वह दूसरा कुछ नही कर सकता।

देव-गुरु-शास्त्र कैसे होते हैं और उन्हें पहिचानकर उनका अवलम्बन करनेवाला स्वय क्या समझा है,—यह इसमे बताया है। 'तू ज्ञान स्वभावी आत्मा है, तेरा स्वभाव जानना ही है, कुछ परका करना या पुण्य पापके भाव करना तेरा स्वभाव नही है' इसप्रकार जो बताते हो वे सच्चे देव-गुरु-शास्त्र हैं, और इसप्रकार जो समझता है वही देव-गुरु-शास्त्रके अवलम्बनसे श्रुतज्ञानको समझा है। किन्तु जो रागसे निमित्तसे धर्म-मनवाते हो और जो यह मनवाते हो कि आत्मा शरीराश्रित क्रिया करता है जडकर्म आत्माको हैरान करते हैं वे देव-गुरु-शास्त्र सच्चे नही हैं।

जो शरीरादि सर्व परसे भिन्न ज्ञान स्वभाव आत्माका स्वरूप बतलाता हो और यह बतलाता हो कि—पुण्य-पापका कर्तव्य आत्माका नही है वही सत् श्रुत है, वही सच्चा देव है और वही सच्चा गुरु है। और जो पुण्यसे धर्म बताये, शरीरकी क्रियाका कर्ता आत्माको बतावे और रागसे

धर्म बतावे वह कुगुरु–कुदेव–कुशास्त्र है क्योंकि वे यथावत् वस्तु स्वरूपके ज्ञाता नहीं हैं प्रत्युत उल्टा स्वरूप बतलाते हैं। जो वस्तु स्वरूपको यथावत् नहीं बतलाते और किंचित्मात्र भी विरुद्ध बतलाते हैं वे कोई देव, गुरु, या शास्त्र सच्चे नहीं हैं।

श्रुतज्ञानके अवलम्बनका फल–आत्मानुभव

'मैं आत्मा ज्ञायक हूँ' पुण्य पापकी प्रवृत्तियाँ मेरी ज्ञेय हैं वे मेरे ज्ञानसे पृथक हैं इसप्रकार पहिले विकल्पके द्वारा देव-गुरु-शास्त्रके अवलम्बन से यथार्थ निर्णय करना चाहिए। यह तो अभी ज्ञान स्वभावका अनुभव नहीं हुआ उससे पहिलेकी बात है। जिसने स्वभावके लक्षसे श्रुतका अवलम्बन लिया है वह अल्पकालमें आत्मानुभव अवश्य करेगा। प्रथम विकल्प में जिसने यह निश्चय किया कि मैं परसे भिन्न हूँ, पुण्य पाप भी मेरा स्वरूप नहीं है मेरे शुद्धस्वभावके आश्रयसे ही लाभ है देव गुरु शास्त्रका भी अवलम्बन परमार्थसे नहीं है मैं तो स्वाधीन ज्ञान स्वभाव हूँ, इसप्रकार निर्णय करनेवालेको अनुभव हुए बिना नहीं रहेगा।

पुण्य–पाप मेरा स्वरूप नहीं है मैं ज्ञायक हूँ–इसप्रकार जिसने निर्णयके द्वारा स्वीकार किया है उसका परिणमन पुण्य–पापकी ओरसे पीछे हटकर ज्ञायक स्वभावकी ओर ढल गया है अर्थात् उसे पुण्य–पापका आदर नहीं रहा इसलिये वह अल्पकालमें ही पुण्य-पाप रहित स्वभावका निर्णय करके और उसकी स्थिरता करके वीतराग होकर पूर्ण हो जायगा। यहाँ पूर्णकी ही बात है–प्रारम्भ और पूर्णताके बीच कोई भेद ही नहीं किया क्योंकि जो प्रारम्भ हुआ है वह पूर्णताको लक्षमें लेकर ही हुआ है। सत्यको सुनानेवाले और सुननेवाले दोनोंकी पूर्णता ही है। जो पूर्ण स्वभावकी बात करते हैं वे देव गुरु और शास्त्र-तीनों पवित्र ही हैं। उनके अवलम्बनसे जिसने हाँ कही है वह भी पूर्ण पवित्र हुए बिना नहीं रह सकता जो पूर्णकी हाँ कहकर आया है वह पूर्ण होगा ही इसप्रकार उपादान निमित्तकी संधि साथ ही है।

सम्यग्दर्शन होनेसे पूर्व.........

आत्मानद प्रगट करनेके लिये पात्रताका स्वरूप क्या है ? तुझे तो धर्म करना है न ! तो तू अपनेको पहिचान। सर्व प्रथम सच्चा निर्णय करने की वात है। अरे तू है कौन ? क्या क्षणिक पुण्य पापका करनेवाला तू ही है ? नही, नही। तू तो ज्ञानका करनेवाला ज्ञानस्वभाव है तू परको ग्रहण करने वाला या छोडनेवाला नही है, तू तो केवलज्ञान जाननेवाला ही है। ऐसा निर्णय ही धर्मके प्रारंभका (सम्यग्दर्शनका) उपाय है। प्रारभमे अर्थात् सम्यग्दर्शनसे पूर्व यदि ऐसा निर्णय न करे तो वह पात्रतामे भी नही है। मेरा सहज स्वभाव जाननेका है,—ऐसा श्रुतके अवलवनसे जो निर्णय करता है वह पात्र जीव है। जिसे पात्रता प्रगट हुई है उसे आतरिक अनुभव अवश्य होगा। सम्यग्दर्शन होनेसे पूर्व जिज्ञासु जीव—धर्म समुख हुआ जीव सत्समागममे आया हुआ जीव—श्रुतज्ञानके अवलवनसे ज्ञानस्वभाव आत्मा का निर्णय करता है।

मैं ज्ञानस्वभाव जाननेवाला हूँ, मेरा ज्ञानस्वभाव ऐसा नही है कि ज्ञेयमें कही राग—द्वेष करके अटक जाय, पर पदार्थ चाहे जैसा हो, मैं तो उसका मात्र ज्ञाता हूँ, मेरा ज्ञाता स्वभाव परका कुछ करनेवाला नही है, मैं जैसा ज्ञान स्वभाव हूँ उसी प्रकार जगतके सभी आत्मा ज्ञानस्वभाव हैं, वे स्वय अपने ज्ञानस्वभावका निर्णय (करना) चूक गये हैं इसलिये दु:खी हैं। यदि वे स्वय निर्णय करें तो उनका दु:ख दूर हो, मैं किसीको बदलनेमे समर्थ नही हूँ। मैं पर जीवोका दु ख दूर नही कर सकता, क्योकि उन्होने दु:ख अपनी भूलसे किया है यदि वे अपनी भूलको दूर करें तो उनका दु ख दूर हो।

पहिले श्रुतका अवलंबन बताया है, उसमे पात्रता हुई है, अर्थात् श्रुतावलबनसे आत्माका अव्यक्त निर्णय हुआ है, तत्पश्चात् प्रगट अनुभव कैसे होता है यह नीचे कहा जा रहा है—

सम्यग्दर्शनके पूर्व श्रुतज्ञानका अवलबनके बलसे आत्माके ज्ञान स्वभावको—अव्यक्तरूपसे लक्षमे लिया है। अब प्रगटरूप लक्षमे लेता है—

अनुभव करता है—आत्म साक्षात्कार अर्थात् सम्यग्दर्शन करता है। वह किस प्रकार ? उनकी रीति यह है कि–' बादमें आत्माकी प्रगट प्रसिद्धिके लिये पर पदार्थ की प्रसिद्धिके कारणभूत जो इन्द्रिय और मनके द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियोंको मर्यादामें लाकर जिसे मतिज्ञान—तत्त्वको (मतिज्ञानके स्वरूपको) आत्मसम्मुख किया है। ऐसा अप्रगटरूप निर्णय हुए थे वह अब प्रगटरूप कार्य में आता है जो निर्णय किया था उनका फल प्रगट होता है।

इस निर्णयको जगतके सब संज्ञी आत्मा कर सकते हैं सभी आत्मा परिपूर्ण भगवान ही हैं इसलिये सब अपने ज्ञान स्वभावका निर्णय कर सकनेमें समर्थ हैं। जो आत्महित करना चाहता है उसे वह हो सकता है किंतु अनादिकालसे अपनी चिंता नहीं की है। अरे भाई! तू कौन वस्तु है यह जाने बिना तू क्या करेगा ? पहिले इस ज्ञानस्वभाव आत्माका निर्णय करना चाहिये। इसके निर्णय होने पर अव्यक्तरूपसे आत्माका लक्ष हो जाता है, और फिर परके लक्षसे तथा विकल्पसे हटकर स्वका लक्ष—पूर्ण स्वरूपकी प्रतीति अनुभवरूपसे प्रगट करना चाहिये।

आत्माकी प्रगट प्रसिद्धिके लिये इंद्रिय और मनसे जो पर—लक्ष जाता है उसे बदलकर उस मतिज्ञानको निजमें एकाग्र करने पर आत्माका लक्ष होता है अर्थात् आत्माकी प्रगटरूपसे प्रसिद्धि होती है शुद्ध आत्माका प्रगटरूप अनुभव होना ही सम्यग्दर्शन है और सम्यक्दर्शन ही धर्म है।

धर्मके लिये पहिले क्या करना चाहिये ?

कोई लोग कहा करते हैं कि–यदि आत्माके संबंधमें कुछ समझमें न आये तो पुण्यके शुभ भाव करना चाहिये या नहीं ? इसका उत्तर यह है कि–पहिले आत्मस्वभावको समझना ही धर्म है। धर्मसे ही संसारका अन्त आता है। शुभभावसे धर्म नहीं होता और धर्मके बिना संसारका अंत नहीं होता धर्म तो अपना स्वभाव है इसलिये पहिले स्वभाव ही समझना चाहिये।

प्रश्न—यदि स्वभाव समझमें न आये तो क्या करना चाहिए ?

और यदि उसके समझनेमे देर लगे तो क्या अशुभ भाव करके दुर्गतिका बन्ध करना चाहिए ? क्योकि आप शुभ भावोसे धर्म होना तो मानते नही,—उसका निषेध करते हैं।

उत्तर—पहिले तो, यह हो ही नही सकता कि यह बात समझमे न आये। हाँ यदि समझनेमे देर लगे तो वहाँ निरन्तर समझनेका लक्ष मुख्य रखकर अशुभ भावोको दूर करके शुभभाव करनेका निषेध नही है, किन्तु मिथ्या श्रद्धाका निषेध है; यह समझना चाहिए कि शुभभावसे कभी धर्म नही होता। जबतक जीव किसी भी जड वस्तुकी क्रियाको और रागकी क्रियाको अपनी मानता है तथा प्रथम व्यवहार करते करते बादमे निश्चय धर्म होगा ऐसा मानता है तबतक वह यथार्थ समझके मार्ग पर नही है, किन्तु विरुद्धमे है।

सुखका मार्ग सच्ची समझ, विकारका फल जड़

यदि आत्माकी सच्ची रुचि हो तो समझका मार्ग लिये बिना न रहे। यदि सत्य चाहिए हो, सुख चाहिए हो तो यही मार्ग है। समझनेमे भले देर लगे किन्तु सच्ची समझका मार्ग तो ग्रहण करना ही चाहिए। यदि सच्ची समझका मार्ग ग्रहण करे तो सत्य समझमें आये बिना रह ही नही सकता। यदि इस मनुष्य देहमें और सत्समागमके इस सुयोगमें भी सत्य न समझे तो फिर ऐसे सत्यका सुअवसर नही मिलता। जिसे यह खबर नही है कि मैं कौन हूँ और जो यहाँ पर भी स्वरूपको चूक कर जाता है वह अन्यत्र जहाँ जायगा वहाँ क्या करेगा ? शान्ति कहाँसे लायगा ? कदाचित् शुभभाव किए हो तो उस शुभका फल जडमे जाता है, आत्मामे पुण्यका फल नही पहुँचता जिसने आत्माकी चिन्ता नही की और जो यहीसे मूढ हो गया है इसलिए उन रजकणोके फलमे भी रजकणोका सयोग ही मिलेगा। उन रजकणोके सयोगमे आत्माका क्या लाभ है ? आत्माकी शान्ति तो आत्मामें ही है किन्तु उसकी चिन्ता की नही है।

असाध्य कौन है ? और शुद्धात्मा कौन है ?

अज्ञानी जीव जडका लक्ष करके जडवत् हो गया है इसलिए मरते

समय अपनेको भूलकर संयोग दृष्टिको लेकर मरता है असाध्यतया प्रवृत्ति करता है अर्थात् चैतन्य स्वरूपका भान नहीं है। वह जीते जी ही असाध्य ही है। भले शरीर हिले डुले, बोले चाले; किन्तु वह तो जड़की क्रिया है। उसका स्वामी होगया किन्तु अंतरंगमें साध्यभूत ज्ञानस्वरूपकी जिसे खबर नहीं है वह असाध्य (जीवित मुर्दा) है, यदि सम्यग्दर्शनपूर्वक ज्ञानसे वस्तु स्वभावको यथार्थतया न समझे तो जीवको स्वरूपका किंचित् ज्ञान नहीं है। सम्यग्दर्शन ज्ञानके द्वारा स्वरूपकी पहिचान और निर्णय करके जो स्थिर हुआ उसीको 'शुद्धात्मा' नाम मिलता है और शुद्धात्मा ही सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है। 'मैं शुद्ध हूँ' ऐसा विकल्प छूटकर ज्ञान आत्मानुभव रह जाय सो यही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है वे कहीं आत्मासे भिन्न नहीं हैं।

जिसे सत्य चाहिए हो ऐसे जिज्ञासु—समझदार जीवको यदि कोई असत्य बतलाए तो वह असत्यको स्वीकार नहीं कर लेता, जिसे सत्स्वभावकी चाह है वह स्वभावसे विरुद्धभावको स्वीकार नहीं करता वस्तुका स्वरूप शुद्ध है इसका ठीक निर्णय किया और वृत्ति छूट गई, इसके बाद जो अभेद शुद्ध अनुभव हुआ वही धर्म है। ऐसा धर्म किसप्रकार होता है और धर्म करनेके लिए पहिले क्या करना चाहिए? तत्संबंधी यह कथन चल रहा है।

धर्मकी रुचिवाले जीव कैसे होते हैं?

धर्मके लिये सर्वप्रथम श्रुतज्ञानका अवलम्बन लेकर श्रवण—मननसे ज्ञान स्वभाव आत्माका निश्चय करना चाहिए कि मैं एक ज्ञान स्वभाव हूँ। ज्ञान स्वभावमें ज्ञानके अतिरिक्त अन्य कोई करने धरनेका स्वभाव नहीं है इसप्रकार सत्के समझनेमें जो काल व्यतीत होता है वह भी अनन्तकालमें पहिले कभी नहीं किया गया अपूर्व अभ्यास है। जीवको सत्की ओरकी रुचि होती है इसलिये वैराग्य जागृत होता है और समस्त संसारकी ओरकी रुचि उड़ जाती है चौरासीके अवतारके प्रति त्रास जागृत हो जाता है कि यह क्या विडंबना है? अब तो स्वरूपकी प्रतीति नहीं है और ऊपर प्रतिक्षण पराश्रयभावमें रच पच रहे हैं—भला यह भी कोई मनुष्यका जीवन है? तिर्यंच इत्यादि के दुःखोंकी तो बात ही क्या किन्तु इस नर देहमें भी ऐसा

जीवन ? और मरण समय स्वरूपका भान रहित असाध्य होकर ऐसा दयनीय मरण ? इसप्रकार ससार सबधी त्रास उत्पन्न होने पर स्वरूपको समझनेकी रुचि उत्पन्न होती है। वस्तुको समझनेके लिये जो काल व्यतीत होता है वह भी ज्ञानकी क्रिया है, सत् का मार्ग है।

जिज्ञासुओंको पहिले ज्ञान स्वभाव आत्माका निर्णय करना चाहिए कि "मैं सदा एक ज्ञाता हूँ, मेरा स्वरूप ज्ञान है, वह जाननेवाला है, पुण्य-पापके भाव, या स्वर्ग-नरक आदि कोई मेरा स्वभाव नही है,"—इसप्रकार श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माका प्रथम निर्णय करना ही प्रथम उपाय है।

उपादान-निमित्त और कारण-कार्य

१—सच्चे श्रुतज्ञानके अवलवनके विना और २—श्रुतज्ञानसे ज्ञान-स्वभाव आत्माका निर्णय किये विना आत्मा अनुभवमे नही आता। इसमे आत्माका अनुभव करना कार्य है, आत्माका निर्णय करना उपादान कारण है और श्रुतका अवलवन निमित्त कारण है। श्रुतके अवलवनसे ज्ञान स्वभावका जो निर्णय किया उसका फल उस निर्णयके अनुसार आचरण अर्थात् अनुभव करना है। आत्माका निर्णय कारण और आत्माका अनुभव कार्य है,—इसप्रकार यहाँ लिया गया है अर्थात् जो निर्णय करता है उसे अनुभव होता ही है,—ऐसी वात कही है।

अंतरंग अनुभवका उपाय अर्थात् ज्ञानकी क्रिया

अब यह बतलाते हैं कि आत्माका निर्णय करनेके बाद उसका प्रगट अनुभव कैसे करना चाहिये। निर्णयानुसार श्रद्धाका आचरण अनुभव है। प्रगट अनुभवमे शातिका वेदन लानेके लिए अर्थात् आत्माकी प्रगट प्रसिद्धिके लिए परपदार्थकी प्रसिद्धिके कारणोको छोड देना चाहिये। पहिले 'मैं ज्ञानानद स्वरूप आत्मा हूँ' ऐसा निश्चय करनेके बाद आत्माके आनन्दका प्रगट भोग करनेके लिये [वेदन या अनुभव करनेके लिये], परपदार्थकी प्रसिद्धि के कारण,—जो इद्रिय और मनके द्वारा पराश्रय मे प्रवर्तमान ज्ञान है उसे स्व की ओर लाना, देव-गुरु-शास्त्र इत्यादि परपदार्थोंकी ओरका लक्ष तथा मनके अवलबनसे प्रवर्तमान बुद्धि अर्थात् मतिज्ञानको सकुचित करके-मर्यादा

में लाकर स्वात्माभिमुख करना सो आंतरिक अनुभवका पंथ है सहज शीतल स्वरूप अनाकुल स्वभावकी छायामें प्रवेश करनेकी पहिली सीढ़ी है।

प्रथम आत्मा ज्ञान स्वभाव है ऐसा भलीभांति निश्चय करके फिर प्रगट अनुभव करनेके लिये परकी ओर जानेवाले भाव जो मति और श्रुत ज्ञान हैं उन्हें अपनी ओर एकाग्र करना चाहिए। जो ज्ञान पर में विकल्प करके रुक जाता है अथवा मैं ज्ञान हूं व मेरे ज्ञानादि हैं ऐसे विकल्पमें रुक जाता है उसी ज्ञानको वहाँसे हटाकर स्वभावकी ओर लाना चाहिए। मति और श्रुतज्ञानके जो भाव हैं वे तो ज्ञानमें ही रहते हैं किन्तु पहिले वे भाव परकी ओर जाते थे अब उन्हें आत्मोन्मुख करने पर स्वभावका लक्ष होता है। आत्माके स्वभावमें एकाग्र होनेकी यह क्रमिक सीढ़ी है।

ज्ञानमें भव नहीं है

जिसने मनके अवलम्बनसे प्रवर्तमान ज्ञानको मनसे छुड़ाकर अपनी ओर किया है अर्थात् पर पदार्थ की ओर जाते हुए मतिज्ञानको मर्यादा में लाकर आत्म सम्मुख किया है उसके ज्ञानमें अनंत संसारका नास्तिभाव और पूर्ण ज्ञानस्वभावका अस्ति भाव है। ऐसी समझ और ऐसा ज्ञान करने में अनंत पुरुषार्थ है। स्वभावमें भव नहीं है इसलिये जिसका स्वभावकी ओर का पुरुषार्थ उदित हुआ है उसे भवकी शंका नहीं रहती। जहाँ भवकी शंका है वहाँ सच्चा ज्ञान नहीं है, और जहाँ सच्चा ज्ञान है वहाँ भवकी शंका नहीं है। इस प्रकार ज्ञान और भवकी एक दूसरेमें नास्ति है।

पुरुषार्थके द्वारा सत्समागमसे अकेले ज्ञान स्वभाव आत्माका निर्णय करनेके बाद "मैं अबंध हूं या बंधवान, शुद्ध हूं या अशुद्ध है, त्रिकाल है या क्षणिक है" ऐसे जो वृत्तियाँ उठती हैं उनमें भी आत्म–शांति नहीं है वे वृत्तियाँ आकुलतामय–आत्म शांतिकी विरोधिनी हैं। नयपक्षोंके अवलंबनसे होनेवाले मन संबंधी अनेक प्रकारके विकल्पोंको भी मर्यादामें लाकर अर्थात् उन विकल्पोंको रोकनेके पुरुषार्थसे श्रुतज्ञानको भी आत्म सम्मुख करने पर शुद्धात्माका अनुभव होता है। इसप्रकार मति और श्रुतज्ञानको आत्मसन्मुख करना ही सम्यग्दर्शन है। इन्द्रिय और मनके अवलम्बनसे जो

मतिज्ञान शब्दादि विषयोमे प्रवृत्ति कर रहा था उसे, और मनके अवलंबन से जो श्रुतज्ञान अनेक प्रकारके नयपक्षोके विकल्पोमे उलझ रहा था उसे– अर्थात् परावलवनसे प्रवर्तमान मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको मर्यादामे लाकर –अतरस्वभाव समुख करके, उन ज्ञानोके द्वारा एक ज्ञानस्वभावको पकडकर (लक्षमे लेकर) निर्विकल्प होकर, तत्काल निज रससे ही प्रगट होनेवाले शुद्धात्माका अनुभव करना चाहिए, वह अनुभव ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

इसप्रकार अनुभवमें आनेवाला शुद्धात्मा कैसा है ?

शुद्धात्मा आदि मध्य और अन्त रहित त्रिकाल एकरूप पूर्ण ज्ञानघन है; उसमे बध–मोक्ष नहीं है, वह अनाकुलता स्वरूप है, 'मैं शुद्ध हूँ या अशुद्ध हूँ' ऐसे विकल्पोसे होनेवाली आकुलतासे रहित है। लक्षमेसे पुण्य–पापका आश्रय छूटकर मात्र आत्मा ही अनुभवरूप है। केवल एक ज्ञानमात्र आत्मा मे पुण्य–पापके कोई भाव नही हैं। मानो सम्पूर्ण विश्वके ऊपर तैर रहा हो अर्थात् समस्त विभावोसे पृथक् हो गया हो ऐसा चैतन्य स्वभाव पृथक् अखड प्रतिभासमय अनुभवमे आता है। आत्माका स्वभाव पुण्य–पापके ऊपर तैरता है, अर्थात् उनमे मिल नही जाता, एकमेक नही हो जाता या तद्रूप नही हो जाता, किन्तु उनसे अलगका अलग रहता है। वह अनन्त है, अर्थात् उसके स्वभावका कभी अन्त नही है' पुण्य–पाप अन्तवाले हैं, और ज्ञानस्वरूप अनत है तथा विज्ञानघन है। मात्र ज्ञानका ही पिण्ड है मात्र ज्ञान पिण्डमें राग-द्वेष किंचित् मात्र भी नहीं है। अज्ञानभावसे रागादिका कर्ता था किन्तु स्वभावभावसे रागका कर्ता नही है। अखंड आत्मस्वभावका अनुभव होने पर जो जो अस्थिरताके विभाव थे उन सबसे पृथक् होकर जब यह आत्मा, विज्ञानघन अर्थात् जिसमे कोई विकल्प प्रवेश नही कर सकते ऐसे ज्ञानके निविड पिण्डरूप परमात्म स्वरूप आत्माका अनुभव करता है तब वह स्वय ही सम्यग्दर्शन स्वरूप है।

निश्चय और व्यवहार

इसमे निश्चय और व्यवहार दोनो आ जाते हैं। अखड विज्ञानघन-स्वरूप ज्ञानस्वभाव आत्मा निश्चय है और परिणतिको स्वभाव समुख करना

व्यवहार है। मति-श्रुतज्ञानको अपनी ओर लगा लेनेकी पुरुषार्थरूप जो पर्याय है सो व्यवहार है, और अखंड आत्मस्वभाव निश्चय है। जब मति श्रुतज्ञानको स्वसन्मुख किया और आत्मानुभव किया कि उसी समय आत्मा सम्यक्तया दिखाई देता है—उसकी श्रद्धा की जाती है। यह सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके समयकी बात की है।

सम्यग्दर्शन होने पर क्या होता है ?

सम्यग्दर्शनके होने पर स्वरसका अपूर्व आनन्द अनुभवमें आता है। आत्माका सहज आनंद प्रगट होता है। आत्मिक आनन्द उछलने लगता है। अन्तरंगमें अपूर्व आत्मशांतिका वेदन होता है। आत्माका जो सुख अन्तरंगमें है वह अनुभवमें आता है। इस अपूर्व सुखका मार्ग सम्यग्दर्शन ही है। 'मैं भगवान आत्मा चैतन्य स्वरूप हूँ' इसप्रकार जो निर्विकल्प शांतरस अनुभवमें आता है वही शुद्धात्मा अर्थात् सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है यहाँ सम्यग्दर्शन और आत्मा दोनों अभेदरूप लिये गये हैं आत्मा स्वयं सम्यग्दर्शन स्वरूप है।

बारम्बार ज्ञानमें एकाग्रताका अभ्यास करना चाहिए

सर्व प्रथम आत्माका निर्णय करके फिर अनुभव करनेको कहा है। सबसे पहिले जबतक यह निर्णय नहीं होता कि—'मैं निश्चय ज्ञान स्वरूप हूँ दूसरा कोई रागादि मेरा स्वरूप नहीं है तबतक सच्चे श्रुतज्ञानको पहिचान कर उसका परिचय करना चाहिए।

सत् श्रुतके परिचयसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निर्णय करनेके बाद मति श्रुतज्ञानको उस ज्ञानस्वभावकी ओर ले जानेका प्रयत्न करना निर्विकल्प होनेका प्रयत्न करना ही प्रथम अर्थात् सम्यग्दर्शनका मार्ग है। इसमें तो बारबार ज्ञानमें एकाग्रताका अभ्यास ही करना है बाह्यमें कुछ करनेकी बात नहीं है किन्तु ज्ञानमें ही समझ और एकाग्रताका प्रयास करने की बात है। ज्ञानमें अभ्यास करते करते जहाँ एकाग्र हुआ वहाँ उसी समय सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूपमें यह आत्मा प्रगट होता है। यही जन्म-मरणको दूर करने का उपाय है। एकमात्र ज्ञाता स्वभाव है उसमें दूसरा कुछ करनेका स्वभाव नहीं है। निर्विकल्प अनुभव होनेसे पूर्व ऐसा निश्चय करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ माने तो समझना चाहिए कि उसे व्यवहारसे भी आत्माका निश्चय नही है। अनत उपवास करने पर भी आत्मज्ञान नही होता, बाहर की दौड धूपसे भी ज्ञान नही होता किंतु ज्ञानस्वभावकी पकड से ही ज्ञान होता है। आत्माकी ओर लक्ष और श्रद्धा किये बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहांसे हो सकता है? पहिले देव गुरु शास्त्रके निमित्तोंसे अनेकप्रकारसे श्रुतज्ञान जानता है और उन सबमेसे एक आत्माको निकाल लेता है, और फिर उसका लक्ष करके प्रगट अनुभव करनेके लिये, मति-श्रुतज्ञानके बाहिर झुकने वाली पर्यायोको स्वसन्मुख करता हुआ तत्काल निर्विकल्प निजस्वभाव-रस-आनदका अनुभव होता है। जब आत्मा परमात्मस्वरूपका अनुभव करता है उसी समय आत्मा स्वयं सम्यग्दर्शनरूप प्रगट होता है, उसे बादमे विकल्प उठने पर भी उसकी प्रतीति बनी रहती है, अर्थात् आत्मानुभवके बाद विकल्प उठे तो उससे सम्यग्दर्शन चला नही जाता। निज स्वरूप ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्दर्शनसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निश्चय करनेके बाद भी शुभ भाव आते तो हैं किन्तु आत्महित तो ज्ञानस्वभावका निश्चय और आश्रय करनेसे ही होता है। जैसे जैसे ज्ञानस्वभावकी दृढता बढती जाती है वैसे ही वैसे शुभभाव भी हटते जाते हैं। परोन्मुखतासे जो वेदन होता है वह सब दुःखरूप है, अतरगमे शांतरस की ही मूर्ति आत्मा है, उसके अभेद लक्ष से जो वेदन होता है वही सुख है। सम्यग्दर्शन आत्माका गुण है, गुण गुणी से अलग नही होता। ज्ञानादि अनत गुणोका पिंड एक अखड प्रतिभासमय आत्माका निःशक अनुभव ही सम्यग्दर्शन है।

अंतिम अभिप्राय

यह आत्म कल्याणका छोटेसे छोटा (जिसे सब कर सके ऐसा) उपाय है। दूसरे सब उपाय छोडकर यही एक करना है। हितका साधन बाह्यमे किंचित् मात्र नही है सत्समागमसे एक आत्माका ही निश्चय करना चाहिए। वास्तविक तत्त्वकी श्रद्धाके बिना आतरिक वेदनका आनन्द नही आ सकता। पहिले भीतरसे सत्की स्वीकृति आये बिना सत् स्वरूपका ज्ञान

नहीं होता और सत् स्वरूपके ज्ञानके बिना भव बन्धनकी बेड़ी नहीं टूटती। भव बंधनका अंत आये बिना यह जीवन किस कामका ? सचके सत्की श्रद्धाके बिना कदाचित् पुण्य करे तो उसका फल राजपद या इन्द्रपद मिलता है किंतु उसमें आत्माको क्या है ? आत्म प्रतीतिके बिना व्रत-तपकी प्रवृत्ति सब पुण्य और इन्द्रपद आदि व्यर्थ हैं उसमें आत्मशान्तिका अन्श तक नहीं होता इसलिये पहिले श्रुतज्ञानके द्वारा ज्ञानस्वभावका दृढ़ निश्चय करना चाहिये फिर प्रतीतिमें भवकी शंका ही नहीं रहती, और जितनी ज्ञानकी दृढ़ता होती है उतनी शान्ति बढ़ती जाती है।

प्रभो ! तू कैसा है तेरी प्रभुताकी महिमा कैसी है यह तूने नहीं जान पाया। अपनी प्रभुता की प्रतीति किये बिना तू बाहरमें चाहे जिसके गीत गाता फिरे तो इससे कहीं तुझे अपनी प्रभुताका लाभ नहीं हो सकता। अभी तक दूसरेके गीत गाये हैं किन्तु अपने गीत नहीं गाये। तू भगवानकी प्रतिमाके सन्मुख खड़ा होकर कहता है कि–हे भगवान् ! हे नाथ ! आप अनंत ज्ञानके धनी हो वहाँ सामनेसे भी ऐसी ही आवाज आती है–ऐसी ही प्रतिध्वनि होती है कि— हे भगवान् ! हे नाथ ! आप अनन्त ज्ञानके धनी हैं .. यदि अन्तरंगमें पहिचान हो तभी तो उसे समझेगा ? बिना पहिचानके भीतरमें सच्ची प्रतिध्वनि (निःशंकतारूप) नहीं पड़ती।

शुद्धात्मस्वरूपका वेदन कहो ज्ञान कहो श्रद्धा कहो चारित्र कहो, अनुभव कहो, या साक्षात्कार कहो –जो कहो सो यह एक आत्मा ही है। अधिक क्या कहें ? जो कुछ है सो यह एक आत्मा ही है उसीको भिन्न २ नामोंसे कहा जाता है। केवलीपद सिद्धपद या साधुपद यह सब एक आत्मा में ही समाविष्ट होते हैं। समाधिमरण, आराधना इत्यादि नाम भी स्वरूपकी स्थिरता ही है। इसप्रकार आत्मस्वरूपकी समझ ही सम्यग्दर्शन है और यह सम्यग्दर्शन ही सर्व धर्मोंका मूल है सम्यग्दर्शन ही आत्माका धर्म है।

★

प्रथम अध्याय का परिशिष्ट

[४]

मोक्षशास्त्र अध्याय एक (१), सूत्र २ में 'तत्त्वार्थ श्रद्धान' को सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा है; उस लक्षणमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव दोषका परिहार।

अव्याप्ति दोषका परिहार

(१) प्रश्न—तिर्यंचादि कितने ही तुच्छज्ञानी जीव सात तत्त्वोंके नाम तक नही जान सकते तथापि उनके भी सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति शास्त्रोमे कही गई है, इसलिये आपने जो सम्यग्दर्शनका लक्षण तत्त्वार्थ श्रद्धान (तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्) कहा है उसमे अव्याप्ति दोष आता है।

उत्तर—जीव-अजीवादिके नामादिको जाने या न जाने अथवा अन्यथा जाने, किन्तु उसके स्वरूपको यथार्थ जानकर श्रद्धान करने पर सम्यक्त्व होता है। उसमें कोई तो सामान्यतया स्वरूपको पहिचानकर श्रद्धान करता है और कोई विशेषतया स्वरूपको पहिचानकर श्रद्धान करता है। तिर्यंचादि तुच्छज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीवादिके नाम भी नही जानते तथापि वे सामान्यरूपसे उसका स्वरूप पहिचानकर श्रद्धान करते हैं इसलिये उन्हे सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। जैसे कोई तिर्यंच अपना या दूसरोका नामादि तो नही जानता किन्तु अपनेमे ही अपनापन तथापि अन्यको पर मानता है, इसीप्रकार तुच्छज्ञानी जीव–अजीवके नाम न जाने फिर भी वह ज्ञानादिस्वरूप आत्मामे स्वत्व मानता है तथापि शरीरादिको पर मानता है, ऐसा श्रद्धान उसे होता है और यही जीव–अजीवका श्रद्धान है। और फिर जैसे वही तिर्यंच सुखादिके नामादि तो नही जानता तथापि सुखावस्थाको पहिचानकर तदर्थ भावी दुःखोके कारणोको पहिचानकर उनका त्याग करना चाहता है तथा वर्तमानमे जो दुःखके कारण बने हुए हैं उनके

अभावका उपाय करता है, इसीप्रकार तुच्छज्ञानी मोक्षादिके नाम नहीं जानता फिर भी सवथा सुखरूप मोक्षअवस्थाका श्रद्धान करके उसके लिए भाविबन्धनके कारणरूप रागादि आस्रवभावके त्यागरूप संवरको करना चाहता है तथा जो संसार–दुःखके कारण हैं उनकी शुद्ध भावसे निर्जरा करना चाहता है। इसप्रकार उसे आस्रवादिका श्रद्धान है। इसीप्रकार उसे भी सात तत्त्वोंका श्रद्धान होता है यदि उसे ऐसा श्रद्धान न हो तो रागादिको छोड़कर शुद्धभाव करनेकी इच्छा नहीं हो सकती। सो ही यहाँ कहनेमें आता है।

यदि जीवकी जातिका न जाने—स्वपरको न पहिचाने तो वह परमें रागादि क्यों न करे? यदि रागादिको न पहिचाने तो वह उनका त्याग क्यों करना चाहेगा? और रागादि ही आस्रव है। तथा रागादिका फल बुरा है यह न जाने तो वह रागादिको क्यों छोड़ना चाहेगा? रागादिका फल ही बन्ध है। यदि रागादि रहित परिणामोंको पहिचानेगा तो तद्रूप होना चाहेगा। रागादि रहित परिणामका नाम ही संवर है। और पूर्व संसारावस्थाका जो कारण विभावभाव है उसकी हानिको वह पहिचानता है और तदर्थ वह शुद्धभाव करना चाहता है। पूर्व संसारावस्थाका कारण विभावभाव है और उसकी हानि होना ही निर्जरा है। यदि संसारावस्थाके अभावको न पहिचाने तो वह संवर निर्जरारूप प्रवृत्ति क्यों करे? और संसारावस्थाका अभाव ही मोक्ष है इसप्रकार सातों तत्त्वोंका श्रद्धान होते ही रागादिको छोड़कर शुद्धभावरूप होनेकी इच्छा उत्पन्न होती है यदि इनमेंसे एक भी तत्त्वका श्रद्धान न हो तो ऐसी इच्छा न हो। ऐसी इच्छा उन तुच्छज्ञानी तिर्यंचादिक सम्यग्दृष्टियोंके अवश्य होती है इसलिये यह निश्चय समझना चाहिए कि उनके सात तत्त्वोंका श्रद्धान होता है। यद्यपि ज्ञानावरणका क्षयोपशम अल्प होनेसे उन्हें विशेषरूपसे तत्त्वोंका ज्ञान नहीं होता फिर भी मिथ्यादर्शनके उपशमादिसे सामान्यतया तत्त्वश्रद्धानकी शक्ति प्रगट होती है। इसप्रकार इस लक्षणमें अव्याप्ति दोष नहीं आता।

(२) प्रश्न—जिस समय सम्यग्दृष्टि जीव विषय कार्योंमें प्रवृत्ति

करता है उस समय उसे सात तत्त्वोका विचार ही नही होता तब फिर वहाँ श्रद्धान कैसे सम्भव है ? और सम्यक्त्व तो उसे रहता ही है, इसलिए इस लक्षणमें अव्याप्ति दोष आता है।

उत्तर—विचार तो उपयोगाधीन होता है, जहाँ उपयोग जुडता है उसीका विचार होता है, किन्तु श्रद्धान तो निरन्तर शुद्ध प्रतीतिरूप है। इसलिए अन्य ज्ञेयका विचार होने पर, शयनादि क्रिया होने पर यद्यपि तत्त्वोका विचार नही होता तथापि उसकी प्रतीति तो सदा स्थिर बनी ही रहती है, नष्ट नही होती, इसलिये उसके सम्यक्त्वका सद्भाव है। जैसे किसी रोगी पुरुषको यह प्रतीति है कि–'मैं मनुष्य हूँ तिर्यंच नही, मुझे अमुक कारणसे रोग हुआ है, और अब मुझे यह कारण मिटाकर रोगको कम करके निरोग होना चाहिए'। वही मनुष्य जब अन्य विचारादिरूप प्रवृत्ति करता है तब उसे ऐसा विचार नही होता, किंतु श्रद्धान तो ऐसा ही बना रहता है, इसीप्रकार इस आत्माको ऐसी प्रतीति तो है कि–'मैं आत्मा हूँ–पुद्गलादि नही। मुझे आश्रवसे बध हुआ है किंतु अब मुझे सवरके द्वारा निर्जरा करके मोक्षरूप होना है,' अब वही आत्मा जब अन्य विचारादिरूप प्रवृत्ति करता है तब उसे वैसा विचार नही होता किन्तु श्रद्धान तो ऐसा ही रहा करता है।

प्रश्न—यदि उसे ऐसा श्रद्धान रहता है तो फिर वह बध होनेके कारणोमे क्यो प्रवृत्त होता है ?

उत्तर—जैसे कोई मनुष्य किसी कारणसे रोग बढनेके कारणोमे भी प्रवृत्त होता है, व्यापारादि कार्य या क्रोधादि कार्य करता है फिर भी उसके उस श्रद्धानका नाश नही होता, इसीप्रकार यह आत्मा पुरुषार्थकी अशक्तिके वशीभूत होनेसे बध होनेके कारणोमे भी प्रवृत्त होता है, विषय सेवनादि तथा क्रोधादि कार्य करता है तथापि उसके उस श्रद्धानका नाश नही होता। इसप्रकार सात तत्त्वोका विचार न होने पर भी उनमें श्रद्धानका सद्भाव है, इसलिये वहाँ अव्याप्ति दोष नही आता।

(३) **प्रश्न**—जहाँ उच्च दशामे निर्विकल्प आत्मानुभव होता है वहाँ सात तत्त्वादिके विकल्पका भी निषेध किया है। तब सम्यक्त्वके लक्षण

का निषेध करना कैसे संभव है और यदि वहाँ निषेध संभव है तो अव्याप्ति दोष आ जायगा।

उत्तर—निम्नदशामें सात तत्त्वोंके विकल्पमें उपयोग लगाकर प्रतीतिको दृढ़ किया तथा उपयोगको विषयादिसे छुड़ाकर रागादिक कम किये अब उस कार्यके सिद्ध होने पर उन्हीं कारणोंका निषेध करते हैं। क्योंकि जहाँ प्रतीति भी दृढ़ होगई तथा रागादि भी दूर होगये वहाँ अब उपयोगको घुमानेका खेद क्यों किया जाय ? इसलिये वहाँ उन विकल्पोंका निषेध किया है। और फिर सम्यक्त्वका लक्षण तो प्रतीति ही है उसका (उस प्रतीतिका) वहाँ निषेध तो किया नहीं है। यदि प्रतीति छुड़ाई होती तो उस लक्षणका निषेध किया कहलाता किन्तु ऐसा तो है नहीं। तत्त्वोंकी प्रतीति वहाँ भी स्थिर बनी रहती है इसलिये यहाँ अव्याप्ति दोष नहीं आता।

(४) प्रश्न—छद्मस्थके प्रतीति-अप्रतीति कहना संभवित है इस लिये वहाँ सात तत्त्वोंकी प्रतीतिको सम्यक्त्वका लक्षण कहा है—जिसे हम मानते हैं किन्तु केवली और सिद्ध भगवानको तो सबका ज्ञातृत्व समानरूपसे है इसलिये वहाँ सात तत्त्वोंकी प्रतीति कहना संभवित नहीं होती और उनके सम्यक्त्वगुण तो होता ही है इसलिये वहाँ इस लक्षण में अव्याप्ति दोष आता।

उत्तर—जैसे छद्मस्थको श्रुतज्ञानके अनुसार प्रतीति होती है उसीप्रकार केवली और सिद्धभगवान्को केवलज्ञानके अनुसार ही प्रतीति होती है। जिन सात तत्त्वोंका स्वरूप पहिले निर्णीत किया था वही अब केवलज्ञानके द्वारा जाना है इसलिये वहाँ प्रतीतिमें परम अवगाढ़त्व हुआ इसीलिये वहाँ परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहा है। किन्तु पहिले जो श्रद्धान किया था उसे यदि झूँठ जाना हो तो वहाँ अप्रतीति होती किन्तु जैसे सात तत्त्वों का श्रद्धान छद्मस्थको हुआ था वैसा ही केवली सिद्ध भगवानको भी होता है, इसलिये ज्ञानादिकी हीनाधिकता होने पर भी तिर्यंचादिक और केवली सिद्ध भगवानके सम्यक्त्वगुण तो समान ही कहा है। और पूर्वावस्थामें वह यह मानता था कि—'संवर निर्जराके द्वारा मोक्षका उपाय करना चाहिए और अब मुक्तावस्था होने पर यह मानने लगा कि—'संवर-निर्जराके द्वारा

मुझे मुक्तावस्था प्राप्त हुई है।' पहिले ज्ञानकी हीनतासे जीवादिके थोडे भेदोको जानता था और अब केवलज्ञान होने पर उसके सर्व भेदोको जानता है, किन्तु मूलभूत जीवादिके स्वरूपका श्रद्धान जैसा छद्मस्थको होता है वैसा ही केवलीको भी होता है। यद्यपि केवली-सिद्ध भगवान् अन्य पदार्थोंको भी प्रतीति सहित जानते हैं तथापि वे पदार्थ प्रयोजनभूत नही हैं इसलिये सम्यक्त्वगुणमे सात तत्त्वोका श्रद्धान ही ग्रहण किया है। केवली-सिद्ध भगवान रागादिरूप परिणमित नही होते और ससारावस्थाको नही चाहते सो यह श्रद्धानका ही बल समझना चाहिए।

प्रश्न—जब कि सम्यग्दर्शनको मोक्षमार्ग कहा है तब फिर उसका सद्भाव मोक्षमे कैसे हो सकता है?

उत्तर—कोई कारण ऐसे भी होते है जो कार्यके सिद्ध होने पर भी नष्ट नही होते। जैसे किसी वृक्षकी एक शाखासे अनेक शाखायुक्त अवस्था हुई हो, तो उसके होने पर भी वह एक शाखा नष्ट नही होती, इसीप्रकार किसी आत्माको सम्यक्त्वगुणके द्वारा अनेक गुणयुक्त मोक्ष अवस्था प्रगट हुई किंतु उसके होने पर भी सम्यक्त्वगुण नष्ट नही होता। इसप्रकार केवली सिद्धभगवान्के भी तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षण होता ही है। इसलिये वहाँ अव्याप्ति दोष नही आता।

अतिव्याप्ति दोष का परिहार

प्रश्न—शास्त्रोमे यह निरूपण किया गया है कि मिथ्यादृष्टिके भी तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षण होता है, और श्री प्रवचनसारमे आत्मज्ञानशून्य तत्त्वार्थश्रद्धान अकार्यकारी कहा है। इसलिए सम्यक्त्वका जो लक्षण 'तत्त्वार्थश्रद्धान' कहा है उसमे अतिव्याप्ति दोष आता है।

उत्तर—मिथ्यादृष्टिको जो तत्त्वार्थश्रद्धान बताया है वह मात्र नामनिक्षेपसे है। जिसमे तत्त्वश्रद्धानका गुण तो नही है किंतु व्यवहारमे जिसका नाम तत्त्वश्रद्धान कहते हैं वह मिथ्यादृष्टिके होता है, अथवा आगमद्रव्यनिक्षेपसे होता है,—अर्थात् तत्त्वार्थश्रद्धानके प्रतिपादक शास्त्रोका अभ्यास है किन्तु उसके स्वरूपका निश्चय करनेमे उपयोग नही लगाता ऐसा जानना

चाहिये। और यहाँ जो सम्यक्त्वका लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है सो वह तो भावनिक्षेपसे कहा है, अर्थात् गुणसहित सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान मिथ्यादृष्टिके कभी भी नहीं होता। और जो आत्मज्ञानशून्य तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है वहां भी यही अर्थ समझना चाहिये क्योंकि जिसे जीव अजीवादि का सच्चा श्रद्धान होता है उसे आत्मज्ञान क्यों न होगा ? अवश्य होगा। इसप्रकार किसी भी मिथ्यादृष्टिको सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान सर्वथा नहीं होता, इसलिये इस लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष नहीं आता।

असंभव दोषका परिहार

और जो यह 'तत्त्वार्थश्रद्धान' लक्षण कहा है सो असंभवदूषणयुक्त भी नहीं है। क्योंकि सम्यक्त्वका प्रतिपक्षी मिथ्यात्व ही है और उसका लक्षण इससे विपरीततायुक्त है।

इसप्रकार अव्याप्ति अतिव्याप्ति और असंभव दोषोंसे रहित तत्त्वार्थश्रद्धान सभी सम्यग्दृष्टियोंके होता है और किसी भी मिथ्यादृष्टिके नहीं होता इसलिये सम्यग्दर्शनका यथार्थ लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान ही है।

विशेष स्पष्टीकरण

(१) प्रश्न—यहाँ सात तत्त्वोंके श्रद्धानका नियम कहा है किन्तु वह ठीक नहीं बैठता क्योंकि कहीं कहीं परसे भिन्न अपने श्रद्धानको भी (आत्मश्रद्धानको भी) सम्यक्त्व कहा है। श्री समयसारमें 'एकत्वे नियतस्य' इत्यादि कलशमें यह कहा है कि—आत्माका परद्रव्यसे भिन्न अवलोकन ही नियमसे सम्यग्दर्शन है इसलिये नवतत्त्वकी संततिको छोड़कर हमें तो यह एक आत्मा ही प्राप्त हो। और कहीं कहीं एक आत्माके निश्चयको ही सम्यक्त्व कहा है। श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें 'दर्शनमात्मविनिश्चितिः' ऐसा पद है उसका भी यही अर्थ है इसलिये जीव अजीवका ही या केवल जीव का ही श्रद्धान होनेपर भी सम्यक्त्व होता है। यदि सात तत्त्वोंके श्रद्धानका ही नियम होता तो ऐसा क्यों लिखते ?

चाहिये। और यहाँ जो सम्यक्त्वका लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है सो वह तो भावनिक्षेपसे कहा है, अर्थात् गुणसहित सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान मिथ्यादृष्टिके कभी भी नहीं होता। और जो आत्मज्ञानशून्य तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है वहाँ भी यही अर्थ समझना चाहिये क्योंकि जिसे जीव अजीवादि का सच्चा श्रद्धान होता है उसे आत्मज्ञान क्यों न होगा? अवश्य होगा। इसप्रकार किसी भी मिथ्यादृष्टिको सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान सर्वथा नहीं होता, इसलिये इस लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष नहीं आता।

असंभव दोषका परिहार

और जो यह 'तत्त्वार्थश्रद्धान' लक्षण कहा है सो असंभवदूषणयुक्त भी नहीं है। क्योंकि सम्यक्त्वका प्रतिपक्षी मिथ्यात्व ही है और उसका लक्षण इससे विपरीततायुक्त है।

इसप्रकार अव्याप्ति अतिव्याप्ति और असंभव दोषोंसे रहित तत्त्वार्थश्रद्धान सभी सम्यग्दृष्टियोंके होता है और किसी भी मिथ्यादृष्टिके नहीं होता इसलिये सम्यग्दर्शनका यथार्थ लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान ही है।

विशेष स्पष्टीकरण

(१) प्रश्न—यहाँ सात तत्त्वोंके श्रद्धानका नियम कहा है किन्तु वह ठीक नहीं बनता क्योंकि कहीं कहीं परसे भिन्न अपने श्रद्धानको भी (आत्मश्रद्धानको भी) सम्यक्त्व कहा है। श्री समयसारमें 'एकत्वे नियतस्य' इत्यादि कलशमें यह कहा है कि—आत्माका परद्रव्यसे भिन्न अवलोकन ही नियमसे सम्यग्दर्शन है इसलिये नवतत्त्वकी संततिको छोड़कर हमें तो यह एक आत्मा ही प्राप्त हो। और कहीं कहीं एक आत्माके निश्चयको ही सम्यक्त्व कहा है। श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें 'दर्शनमात्मविनिश्चितिः' ऐसा पद है उसका भी यही अर्थ है इसलिये जीव अजीवका ही या केवल जीव का ही श्रद्धान होनेपर भी सम्यक्त्व होता है। यदि सात तत्त्वोंके श्रद्धानका ही नियम होता तो ऐसा क्यों लिखते?

उत्तर—परसे भिन्न जो अपना श्रद्धान होता है वह आश्रवादिके श्रद्धानसे रहित होता है या सहित होता है ? यदि रहित होता है तो मोक्ष के श्रद्धानके बिना वह किस प्रयोजनके लिये ऐसा उपाय करता है ? संवर-निर्जराके श्रद्धानके बिना रागादि रहित होकर अपने स्वरूपमे उपयोग लगानेका उद्यम क्यो करता है ? आश्रव-बंधके श्रद्धानके बिना वह पूर्वावस्था को क्यो छोडता है ? क्योकि आश्रवादिके श्रद्धानसे रहित स्व-परका श्रद्धान करना सम्भवित नही है, और यदि आस्रवादिके श्रद्धानसे युक्त है तो वहाँ स्वय साती तत्त्वोके श्रद्धानका नियम हुआ। और जहाँ केवल आत्माका निश्चय है वहाँ भी परका पररूपश्रद्धान हुए बिना आत्माका श्रद्धान नही होता। इसलिये अजीवका श्रद्धान होते ही जीवका श्रद्धान होता है, और पहिले कहे अनुसार आश्रवादिका श्रद्धान भी वहाँ अवश्य होता है, इसलिये यहा भी सातो तत्त्वोके ही श्रद्धानका नियम समझना चाहिये।

दूसरे, आश्रवादिके श्रद्धान बिना स्व-परका श्रद्धान अथवा केवल आत्माका श्रद्धान सच्चा नही होता क्योकि आत्मद्रव्य शुद्ध-अशुद्ध पर्याय सहित है इसलिये जैसे ततुके अवलोकनके बिना पटका अवलोकन नही होता उसी प्रकार शुद्ध-अशुद्ध पर्यायको पहिले पहिचाने बिना आत्मद्रव्यका श्रद्धान भी नही हो सकता, और शुद्ध-अशुद्ध अवस्थाकी पहिचान आस्रवादिकी पहिचानसे होती है। आस्रवादिके श्रद्धानके बिना स्व-परका श्रद्धान या केवल आत्माका श्रद्धान कार्यकारी नही है क्योकि ऐसा श्रद्धान करो या न करो, जो स्वय है सो स्वयं ही है और जो पर है सो पर ही है। और आस्र-वादिका श्रद्धान हो तो आस्रव-बंधका अभाव करके संवर-निर्जरारूप उपाय से वह मोक्षपदको प्राप्त हो, जो स्व-परका श्रद्धान कराया जाता है वह भी इसी प्रयोजनके लिये कराया जाता है, इसलिये आस्रवादिके श्रद्धानसे युक्त स्व-परका जानना या स्व का जानना कार्यकारी है।

(२) **प्रश्न**—यदि ऐसा है तो शास्त्रोमे जो स्व-परके श्रद्धानको या केवल आत्माके श्रद्धानको ही सम्यक्त्व कहा है और कार्यकारी कहा है और

कहा है कि नवतत्त्वोंकी संततिको छोड़कर हमें तो एक आत्मा ही प्राप्त हो, सो ऐसा क्यों कहा है ?

उत्तर—जिसे स्व-परका या आत्माका सत्य श्रद्धान होता है उसे सातों तत्त्वोंका श्रद्धान अवश्य होता है और जिसे सातों तत्त्वोंका सत्य श्रद्धान होता है उसे स्व-परका तथा आत्माका श्रद्धान अवश्य होता है, ऐसा परस्पर अविनाभावी सम्बन्ध जानकर स्व-परके श्रद्धानको तथा आत्मश्रद्धान होनेको सम्यक्त्व कहा है। किन्तु यदि कोई सामान्यतया स्व-परको जानकर या आत्माको जानकर कृत-कृत्यता समझ ले तो यह उसका कोरा भ्रम है क्योंकि ऐसा कहा है कि 'निर्विशेषो हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत्' अर्थात् विशेष रहित सामान्य गधेके सींगके समान है। इसलिये प्रयोजनभूत आस्रवादि विशेषोंसे युक्त स्व-परका या आत्माका श्रद्धान करना योग्य है अथवा सातों तत्त्वार्थोंके श्रद्धानसे जो रागादिको मिटानेके लिये पर द्रव्यों को भिन्न चिंतवन करता है या अपने आत्माका चिंतवन करता है उसे प्रयोजनकी सिद्धि होती है इसलिये मुख्यतया भेद विज्ञानको या आत्मज्ञानको कार्यकारी कहा है। तत्त्वार्थश्रद्धान किये बिना सब कुछ जानना कार्यकारी नहीं है क्योंकि प्रयोजन तो रागादिको मिटाना है इसलिये आस्रवादिके श्रद्धानके बिना जब यह प्रयोजन भासित नहीं होता तब केवल जाननेसे मान को बढ़ाये और रागादिको न छोड़े तो उसका कार्य कैसे सिद्ध होगा ? दूसरे जहाँ नवतत्त्वकी संतति छोड़नेको कहा है वहाँ पहिले नवतत्त्वके विचारसे सम्यग्दर्शन हुआ और फिर निर्विकल्प दशा होनेके लिए नवतत्त्वों का विकल्प भी छोड़नेकी इच्छा की किंतु जिसे पहिलेसे ही नवतत्त्वोंका विचार नहीं है उसे उन विकल्पोंको छोड़नेका क्या प्रयोजन है ? इससे तो अपनेको जो अनेक विकल्प होते हैं उन्हींका त्याग करो। इसप्रकार स्व-परके श्रद्धानमें या आत्म श्रद्धानमें अथवा नवतत्त्वोंके श्रद्धानमें सात तत्त्वोंके श्रद्धानकी सापेक्षता होती है इसलिये तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यक्त्वका लक्षण है।

(३) प्रश्न—तब फिर जो कहीं कहीं शास्त्रोंमें अरहंतदेव निर्ग्रंथ गुरु और हिंसादि रहित धर्मके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है सो कैसे ?

उत्तर—अरहन्त देवादिका श्रद्धान होनेसे और कुदेवादिका श्रद्धान दूर होनेसे गृहीत मिथ्यात्वका अभाव होता है, इस अपेक्षासे उसे सम्यग्दृष्टि कहा है, किन्तु सम्यक्त्वका सर्वथा लक्षण यह नही है, क्योकि–द्रव्यलिंगी मुनि आदि व्यवहार धर्मके धारक मिथ्यादृष्टियोको भी ऐसा श्रद्धान होता है। अरहन्त देवादिका श्रद्धान होनेपर सम्यक्त्व हो या न हो किन्तु अरहन्तादिका श्रद्धान हुए बिना तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्व कभी भी नही होता। इसलिए अरहन्तादिके श्रद्धानको अन्वयरूप कारण जानकर कारणमे कार्यका उपचार करके इस श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है। और इसीलिए उसका नाम व्यवहारसम्यक्त्व है। अथवा जिसे तत्त्वार्थश्रद्धान होता है उसे सच्चे अरहन्तादिके स्वरूपका श्रद्धान अवश्य होता है। तत्त्वार्थश्रद्धानके बिना अरहन्तादिका श्रद्धान पक्षसे करे तथापि यथावत् स्वरूपकी पहिचान सहित श्रद्धान नही होता, तथा जिसे सच्चे अरहन्तादिके स्वरूपका श्रद्धान हो उसे तत्त्वार्थश्रद्धान अवश्य ही होता है, क्योकि अरहन्तादिके स्वरूपको पहिचानने पर जीव–अजीव–आस्रवादिकी पहिचान होती है। इसप्रकार उसे परस्पर अविनाभावी जानकर कही कही अरहन्तादिके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है।

(४) **प्रश्न**—नरकादिके जीवोको देव–कुदेवादिका व्यवहार नही है फिर भी उनको सम्यक्त्व होता है, इसलिए सम्यक्त्वके होनेपर अरहतादिका श्रद्धान होता ही है, ऐसा नियम सभवित नही है।

उत्तर—सात तत्त्वोंके श्रद्धानमे अरहन्तादिका श्रद्धान गर्भित है, क्योकि वह तत्त्वश्रद्धानमे मोक्ष तत्त्वको सर्वोत्कृष्ट मानता है। और मोक्षतत्त्व अरहन्त सिद्धका ही लक्षण है, तथा जो लक्षणको उत्कृष्ट मानता है वह उसके लक्ष्यको भी उत्कृष्ट अवश्य मानेगा। इसलिये उन्हीको सर्वोत्कृष्ट माना और अन्यको नही माना यही उसे देवका श्रद्धान हुआ कहलाया। और मोक्षका कारण सवर-निर्जरा है इसलिये उसे भी वह उत्कृष्ट मानता है, तथा सवर-निर्जराके धारक मुख्यतया मुनिराज हैं इसलिये वह मुनिराजको उत्तम मानता है और अन्यको उत्तम नही मानता यही उसका

गुरुका श्रद्धान है। और रागादि रहित भावका नाम अहिंसा है, उसे वह उपादेय मानता है तथा अन्यको नहीं मानता यही उसका धर्मका श्रद्धान है। इसप्रकार तत्त्वार्थ-श्रद्धानमें अरहन्त देवादिका श्रद्धान भी गर्भित है। अथवा जिस निमित्तसे उसे तत्त्वार्थ श्रद्धान होता है उसी निमित्तसे अरहन्तदेवादिका भी श्रद्धान होता है इसलिये सम्यग्दर्शनमें देवादिके श्रद्धानका नियम है।

(५) प्रश्न—कोई जीव अरहन्तादिका श्रद्धान करता है, उनके गुणोंको पहिचानता है फिर भी उसे तत्त्व श्रद्धानरूप सम्यक्त्व नहीं होता इसलिये जिसे सच्चे अरहन्तादिका श्रद्धान होता है उसे तत्त्व श्रद्धान अवश्य होता ही है, ऐसा नियम संभवित नहीं होता।

उत्तर—तत्त्व श्रद्धानके बिना वह अरिहन्तादिके ४६ आदि गुणोंको जानता है, वहाँ पर्यायाश्रित गुणोंको भी नहीं जानता; क्योंकि जीव-अजीवकी जातिको पहिचाने बिना अरहन्तादिके आत्माश्रित और शरीराश्रित गुणोंको वह भिन्न नहीं जानता यदि जाने तो वह अपने आत्माको परद्रव्यसे भिन्न क्यों न माने ? इसलिये श्री प्रवचनसारमें कहा है कि—

सो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥८०॥

अर्थ—जो अरहन्तको द्रव्यत्व गुणत्व और पर्यायत्वसे जानता है वह आत्माको जानता है और उसका मोह नाशको प्राप्त होता है इसलिये जिसे जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान नहीं है उसे अरहन्तादिका भी सच्चा श्रद्धान नहीं है। और वह मोक्षादि तत्त्वोंके श्रद्धानके बिना अरहन्तादिका माहात्म्य भी यथार्थ नहीं जानता। मात्र लौकिक अतिशयादिसे अरहन्तका तपश्चरणादिसे गुरुका और परजीवोंकी अहिंसादिसे धर्मका माहात्म्य जानता है किन्तु यह तो पराश्रितभाव है और अरिहन्तादिका स्वरूप तो आत्माश्रित भावों द्वारा तत्त्वश्रद्धान होते ही ज्ञात होता है इसलिये जिसे अरहन्तादिका सच्चा श्रद्धान होता है उसे तत्त्व श्रद्धान अवश्य होता है, ऐसा नियम समझना चाहिए। इसप्रकार सम्यक्त्वका लक्षण निर्देश किया है।

प्रश्न ६—यथार्थ तत्त्वार्थ श्रद्धान, स्व-परका श्रद्धान, आत्मश्रद्धान, तथा देव गुरु धर्मका श्रद्धान सम्यक्त्वका लक्षण कहा है और इन सब लक्षणोकी परस्पर एकता भी बताई है सो वह तो जान लिया, किन्तु इसप्रकार अन्य अन्य प्रकारसे लक्षण करनेका क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—जो चार लक्षण कहे है उनमे सच्ची दृष्टि पूर्वक कोई एक लक्षण ग्रहण करने पर चारो लक्षणोका ग्रहण होता है तथापि मुख्य प्रयोजन भिन्न २ समझ कर अन्य अन्य प्रकारसे यह लक्षण कहे हैं।

१—जहाँ तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण कहा है वहाँ यह प्रयोजन है कि-यदि इन तत्त्वोको पहिचाने तो वस्तुके यथार्थ स्वरूपका व हिताहित का श्रद्धान करके मोक्षमार्गमे प्रवृत्ति करे।

२—जहाँ स्व-पर भिन्नताका श्रद्धानरूप लक्षण कहा है वहाँ जिससे तत्त्वार्थश्रद्धानका प्रयोजन सिद्ध हो उस श्रद्धानको मुख्य लक्षण कहा है, क्योकि जीव अजीवके श्रद्धानका प्रयोजन स्व-परका भिन्न श्रद्धान करना है, और आश्रवादिके श्रद्धानका प्रयोजन रागादि छोडना है, अर्थात् स्व-परकी भिन्नताका श्रद्धान होनेपर परद्रव्योमे रागादि न करनेका श्रद्धान होता है। इसप्रकार तत्त्वार्थश्रद्धानका प्रयोजन स्व-परके भिन्न श्रद्धानसे सिद्ध हुआ जानकर यह लक्षण कहा है।

३—जहाँ आत्मश्रद्धान लक्षण कहा है वहाँ—स्व-परके भिन्न-श्रद्धानका प्रयोजन इतना ही है कि-अपनेको अपनेरूप जानना। अपनेको अपनेरूप जाननेपर परका भी विकल्प कार्यकारी नही है ऐसे मूलभूत प्रयोजनकी प्रधानता जानकर आत्मश्रद्धानको मुख्य लक्षण कहा है। तथा—

४—जहाँ देव गुरु धर्मकी श्रद्धारूप लक्षण कहा है वहाँ बाह्य साधनकी प्रधानता की है, क्योकि-अरहन्त देवादिका श्रद्धान सच्चे तत्त्वार्थश्रद्धानका कारण है तथा कुदेवादिका श्रद्धान कल्पित अतत्त्वार्थ-श्रद्धानका कारण है। इस बाह्य कारणकी प्रधानतासे कुदेवादिका श्रद्धान छुडाकर सुदेवादिका श्रद्धान करानेके लिए देव गुरु धर्मके श्रद्धानको मुख्य

लक्षण कहा है। इसप्रकार भिन्न भिन्न प्रयोजनोंकी मुख्यतासे भिन्न भिन्न लक्षण कहे हैं।

(७) प्रश्न—यह जो भिन्न २ चार लक्षण कहे हैं उनमेंसे इस जीवको कौनसे लक्षणको अंगीकार करना चाहिये?

उत्तर—जहाँ पुरुषार्थके द्वारा सम्यग्दर्शनके प्रगट होने पर विपरीताभिनिवेशका अभाव होता है वहाँ यह चारों लक्षण एक साथ होते हैं तथा विचार अपेक्षासे मुख्यतया तत्त्वार्थोंका विचार करता है या स्व-परका भेद विज्ञान करता है या आत्मस्वरूपको ही सँभालता है अथवा देवादिके स्वरूपका विचार करता है। इसप्रकार ज्ञानमें नाना प्रकारके विचार होते हैं किन्तु श्रद्धानमें सर्वत्र परस्पर सापेक्षता होती है। जैसे तत्त्वविचार करता है तो भेद विज्ञानादिके अभिप्राय सहित करता है इसीप्रकार अन्यत्र भी परस्पर सापेक्षता है। इसलिये सम्यकदृष्टिके श्रद्धानमें तो चारों लक्षणोंका अंगीकार है किन्तु जिसे विपरीताभिनिवेश होता है उसे यह लक्षण आभासमात्र होते हैं यथार्थ नहीं होते। वह जिनमतके जीवादि तत्त्वोंको मानता है अन्यको नहीं तथा उनके नाम भेदादिको सीखता है। इसप्रकार उसे तत्त्वार्थ श्रद्धान होता है किन्तु उसके यथार्थभावका श्रद्धान नहीं होता। और वह स्व-परके भिन्नत्वकी बातें करता है तथा वस्त्रादिमें परबुद्धिका चिंतवन करता है परन्तु उसे जैसी पर्यायमें अहंबुद्धि है तथा वस्त्रादिमें परबुद्धि है वैसी आत्मामें अहंबुद्धि और शरीरमें परबुद्धि नहीं होती। वह आत्माका जिनवचनानुसार चिंतवन करता है किन्तु प्रतीतरूपसे निजको निजरूप श्रद्धान नहीं करता तथा वह अरहन्तादिके अतिरिक्त अन्य कुदेवादिको नहीं मानता किन्तु उनके स्वरूपको यथार्थ पहिचान कर श्रद्धान नहीं करता। इसप्रकार यह लक्षणाभास मिथ्यादृष्टिके होते हैं। उसमें कोई हो या न हो किन्तु उसे यहाँ भिन्नत्व भी सम्भवित नहीं है।

दूसरे इन लक्षणाभासोंमें इतनी विशेषता है कि—पहिले तो देवादिका श्रद्धान होता है फिर तत्त्वोंका विचार होता है पश्चात् स्व-परका चिंतवन करता है और फिर केवल आत्माका चिंतवन करता है। यदि इस

क्रमसे जीव साधन करे तो परम्परासे सच्चे मोक्षमार्गको पाकर सिद्ध पदको भी प्राप्त कर ले, और **जो इस क्रमका उलंघन करता है उसे देवादिकी मान्यताका भी कोई ठिकाना नहीं रहता**। इसलिये जो जीव अपना भला करना चाहता है उसे जहाँ तक सच्चे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति न हो वहाँ तक इसे भी क्रमशः अंगीकार करना चाहिये।

[सम्यग्दर्शनके लिये अभ्यासका क्रम] पहिले आज्ञादिके द्वारा या किसी परीक्षाके द्वारा कुदेवादिकी मान्यताको छोडकर अरहन्त देवादिका श्रद्धान करना चाहिये, क्योंकि इनका श्रद्धान होने पर ग्रहीतमिथ्यात्वका अभाव होता है, कुदेवादिका निमित्त दूर होता है और अरहंन्त देवादिका निमित्त मिलता है, इसलिये पहिले देवादिका श्रद्धान करना चाहिये और फिर जिनमतमें कहे गये जीवादितत्त्वोका विचार करना चाहिये, उनके नाम-लक्षणादि सीखना चाहिये, क्योंकि इसके अभ्याससे तत्त्वश्रद्धानकी प्राप्ति होती है। इसके बाद जिससे स्व-परका भिन्नत्व भासित हो ऐसे विचार करते रहना चाहिये, क्योंकि इस अभ्याससे भेद विज्ञान होता है। इसके बाद एक निजमे निजत्व माननेके लिये स्वरूपका विचार करते रहना चाहिए। क्योंकि-इस अभ्याससे आत्मानुभवकी प्राप्ति होती है। इसप्रकार क्रमश उन्हे अगीकार करके, फिर उसमेसे ही कभी देवादिके विचारमे, कभी तत्त्व विचारमे, कभी स्व-परके विचारमे तथा कभी आत्मविचारमे उपयोगको लगाना चाहिए। **इसप्रकार अभ्याससे सत्य सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है।**

(८) **प्रश्न**—सम्यक्त्वके लक्षण अनेक प्रकारके कहे गये हैं, उनमेसे यहाँ तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षणको ही मुख्य कहा है, सो इसका क्या कारण है?

उत्तर—तुच्छ बुद्धिवालेको अन्य लक्षणोमे उसका प्रयोजन प्रगट भासित नही होता या भ्रम उत्पन्न होता है तथा इस तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षण में प्रयोजन प्रगटरूपसे भासित होता है और कोई भी भ्रम उत्पन्न नहो होता, इसलिये इस लक्षणको मुख्य किया है। यही यहाँ दिखाया जा रहा है—

देवगुरुधर्मके श्रद्धानमें तुच्छ बुद्धिको ऐसा भासित होता है कि अरहंतदेवादिको ही मानना चाहिए और अन्यको नहीं मानना चाहिये, इतना ही सम्यक्त्व है किन्तु वहाँ उसे जीव-अजीवके बंध मोक्षके कारण-कार्यका स्वरूप भासित नहीं होता और उससे मोक्षमार्गरूप प्रयोजनकी सिद्धि नहीं होती है, और जीवादिका श्रद्धान हुए बिना मात्र इसी श्रद्धानमें सन्तुष्ट होकर अपनेको सम्यकदृष्टि माने या एक कुदेवादिके प्रति द्वेष तो रक्खे *किंतु अन्य रागादि छोड़नेका उद्यम न करे, ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है।*

और स्व-परके श्रद्धानमें तुच्छ बुद्धिवालेको ऐसा भासित होता है कि—एक स्व-परको जानना ही कार्यकारी है और उसीसे सम्यक्त्व होता है। किन्तु उसमें आस्रवादिका स्वरूप भासित नहीं होता और उससे मोक्षमार्गरूप प्रयोजनकी सिद्धि भी नहीं होती। और आस्रवादिका श्रद्धान हुए बिना मात्र इतना ही जाननेमें संतुष्ट होकर अपनेको सम्यकदृष्टि मान कर स्वच्छन्दी हो जाता है किन्तु रागादिके छोड़नेका उद्यम नहीं करता ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है।

तथा आत्मश्रद्धान लक्षणमें तुच्छबुद्धि वालेको ऐसा भासित होता है कि—एक आत्माका ही विचार कार्यकारी है और उसीसे सम्यक्त्व होता है किन्तु वहाँ जीव-अजीवादिके विशेष तथा आस्रवादिका स्वरूप भासित नहीं होता और इसलिये मोक्षमार्गरूप प्रयोजनकी सिद्धि भी नहीं होती और जीवादिके विशेषोंका तथा आस्रवादिके स्वरूपका श्रद्धान हुए बिना मात्र इतने ही विचारसे अपनेको सम्यग्दृष्टि मानकर स्वच्छन्दी होकर रागादिको छोड़नेका उद्यम नहीं करता ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है। ऐसा जानकर इन लक्षणोंको मुख्य नहीं किया।

और तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणमें—जीव अजीवादि व आस्रवादिका श्रद्धान हुआ वहाँ यदि उन सबका स्वरूप ठीक ठीक भासित हो तो मोक्ष मार्गरूप प्रयोजनकी सिद्धि हो। और इस श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनके होनेपर भी स्वयं संतुष्ट नहीं होता परन्तु आस्रवादिका श्रद्धान होनेसे रागादिको

छोडकर मोक्षका उद्यम करता है। इसप्रकार उसे भ्रम उत्पन्न नहीं होता। इसीलिये तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षणको मुख्य किया है।

अथवा तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षणमें देवादिका श्रद्धान, स्व-परका श्रद्धान, तथा आत्मश्रद्धान गर्भित होता है, और वह तुच्छबुद्धिवाले को भी भासित होता है किन्तु अन्य लक्षणोंमें तत्त्वार्थश्रद्धान गर्भित है यह विशेष बुद्धिवान्‌को ही भासित होता है, तुच्छबुद्धिवालेको नहीं। इसलिये तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षणको मुख्य किया है। तथा मिथ्यादृष्टि को यह आभासमात्र होता है; वहाँ तत्त्वार्थोंका विचार विपरीताभिनिवेशको दूर करनेमें शीघ्र कारणरूप होता है किन्तु अन्य लक्षण शीघ्र कारणरूप नहीं होते या विपरीताभिनिवेशके भी कारण हो जाते हैं, इसलिये वहाँ सर्व प्रकारसे प्रसिद्ध जानकर विपरीताभिनिवेशरहित जीवादितत्त्वार्थोंका श्रद्धान ही सम्यक्त्वका लक्षण है ऐसा निर्देश किया है। ऐसा लक्षण जिस आत्माके स्वभावमें हो उसीको सम्यग्दृष्टि समझना चाहिए।

मोक्षशास्त्र प्रथम अध्यायका परिशिष्ट

[५]

केवलज्ञानका स्वरूप

(१) षटखंडागम-धवलाटीका पुस्तक १३ सूत्र ८१-८२ द्वारा आचार्यदेवने कहा है कि'—

'वह केवलज्ञान सकल है संपूर्ण है, और असपत्न है ॥ ८१ ॥

अखंड होनेसे वह सकल है।

शंका—यह अखंड कैसे है?

समाधान—समस्त बाह्य अर्थमें प्रवृत्ति नहीं होने पर ज्ञानमें खण्डपना आता है सो वह इस ज्ञानमें सम्भव नहीं है क्योंकि इस ज्ञानके विषय त्रिकालगोचर अशेष बाह्य पदार्थ हैं।

अथवा द्रव्य गुण और पर्यायोंके भेदका ज्ञान अन्यथा नहीं बन सकनेके कारण जिनका अस्तित्व निश्चित है ऐसे ज्ञानके अवयवोंका नाम कला है इन कलाओंके साथ वह अवस्थित रहता है इसलिये सकल है। 'सम' का अर्थ सम्यक् है, सम्यक् अर्थात् परस्पर परिहार लक्षण विरोधके होने पर भी सहानवस्थान लक्षण विरोधकके न होनेसे चूंकि वह अनन्तदर्शन अनंत वीर्य विरति एवं क्षायिकसम्यक्त्व आदि अनंत गुणोंसे पूर्ण है इसीलिये इसे सम्पूर्ण कहा जाता है। वह सकल गुणोंका निधान है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। सपत्नका अर्थ शत्रु है केवलज्ञानके शत्रु कर्म हैं। वे इसके नहीं रहे हैं इसलिये केवलज्ञान असपत्न है। उसने अपने प्रतिपक्षि घातिचतुष्क का समूल नाश कर दिया है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। यह केवलज्ञान स्वयं ही उत्पन्न होता है इस बातका ज्ञान करानेके लिये और उसके विषयका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—

स्वयं उत्पन्न हुए ज्ञान और दर्शनसे युक्त भगवान् देवलोक और असुर लोकके साथ मनुष्यलोककी आगति गति चयन उपपाद बंध, मोक्ष ऋद्धि

स्थिति, युति, अनुभाग, तर्क, कल, मन, मानसिक, भुक्त, कृत, प्रतिसेवित, आदिकर्म, अरह कर्म, सबलोको, सब जीवो और सब भावोको सम्यक् प्रकारसे युगपत् जानते हैं, देखते हैं और विहार करते हैं ॥ ८२ ॥

ज्ञान-धर्मके माहात्म्योका नाम भग है, वह जिनके है वे भगवान् कहलाते हैं। उत्पन्न हुए ज्ञानके द्वारा देखना जिसका स्वभाव है उसे उत्पन्न ज्ञानदर्शी कहते हैं। स्वय उत्पन्न हुए ज्ञान-दर्शन स्वभाववाले भगवान् सब लोकको जानते हैं।

शका—ज्ञानकी उत्पत्ति स्वय कैसे हो सकती है ?

समाधान—नही, क्योकि कार्य और कारणका एकाधिकरण होनेसे इनमे कोई भेद नही है।

[देवादि लोकमें जीवकी गति, आगति तथा चयन और उपपादको भी सर्वज्ञ भगवान जानते हैं;—]

सौधर्मादिक देव, और भवनवासी असुर कहलाते हैं। यहाँ देवासुर वचन देशामर्शक है इसलिये इससे ज्योतिषी, व्यन्तर और तिर्यंचोका भी ग्रहण करना चाहिये। देवलोक और असुरलोकके साथ मनुष्यलोककी आगतिको जानते हैं। अन्य गतिसे इच्छित गतिमे आना आगति है। इच्छित गतिसे अन्य गतिमे जाना गति है। सौधर्मादिक देवोका अपनी सम्पदासे विरह होना चयन है। विवक्षित गतिसे अन्य गतिमे उत्पन्न होना उपपाद है। जीवोके विग्रहके साथ तथा विना विग्रहके आगमन, गमन चयन और उपपादको जानते हैं;

[पुद्गलोंके आगमन, गमन, चयन और उपपाद संबंधी]

तथा पुद्गलोके आगमन, गमन, चयन और उपपादको जानते हैं, पुद्गलोमे विवक्षित पर्यायका नाश होना चयन है। अन्य पर्यायरूपसे परिणमना उपपाद है।

[धर्म, अधर्म, काल और आकाशके च्यवन और उपपाद,]

धर्म अधर्म काल और आकाशके च्यवन और उपपादको जानते हैं क्योंकि इनका गमन और आगमन नहीं होता। जिसमें जीवादि पदार्थ लोके जाते हैं अर्थात् उपलब्ध होते हैं उसकी लोक संज्ञा है। यहाँ लोक शब्दसे आकाश लिया गया है। इसलिये आधेयमें आधारका उपचार करनेसे धर्मादिक भी लोक सिद्ध होते हैं।

[बन्धको भी भगवान् जानते हैं;]

बन्धनेका नाम बन्ध है। अथवा जिसके द्वारा या जिसमें बंधते हैं उसका नाम बन्ध है। यह बन्ध तीन प्रकारका है—जीवबन्ध पुद्गलबन्ध और जीव-पुद्गल बन्ध। एक शरीरमें रहनेवाले अनन्तानंत निगोद जीवोंका जो परस्पर बन्ध है वह जीवबन्ध कहलाता है। दो तीन आदि पुद्गलोंका जो समवाय सम्बन्ध होता है वह पुद्गलबन्ध कहलाता है। तथा औदारिक वर्गणाएं वैक्रियिक वर्गणाएं आहारक वर्गणाएं तैजस वर्गणाएं और कार्मण वर्गणाएं इनका और जीवोंका जो बन्ध होता है वह जीव-पुद्गल बन्ध कहलाता है। जिस कर्मके कारण अनन्तानन्त जीव एक शरीरमें रहते हैं उस कर्मको जीवबन्ध संज्ञा है। जिस स्निग्ध और रूक्ष आदि गुणोंके कारण पुद्गलोंका बन्ध होता है उसको पुद्गलबन्ध संज्ञा है। जिन मिथ्यात्व असंयम कषाय और योग आदिके निमित्तसे जीव और पुद्गलोंका बन्ध होता है वह जीव-पुद्गलबन्ध कहलाता है। इस बन्धको भी वे भगवान् जानते हैं।

[मोक्ष ऋद्धि, स्थिति तथा युति और उनके कारणोंको भी जानते हैं,]

छूटनेका नाम मोक्ष है अथवा जिसके द्वारा या जिसमें मुक्त होते हैं वह मोक्ष कहलाता है। वह मोक्ष तीन प्रकारका है—जीवमोक्ष पुद्गल मोक्ष और जीव-पुद्गलमोक्ष।

इसी प्रकार मोक्षका कारण भी तीन प्रकार कहना चाहिए। बंध बंधका कारण बन्धप्रदेश बद्ध एवं बध्यमान जीव और पुद्गल, तथा मोक्ष,

मोक्षका कारण, मोक्षप्रदेश, मुक्त एवं मुच्यमान जीव और पुद्गल, इन सब त्रिकाल विषयक अर्थोंको जानता है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

भोग और उपभोगरूप घोडा, हाथी, मणि व रत्न, रूप, सम्पदा तथा उस सम्पदा की प्राप्तिके कारणका नाम ऋद्धि है। तीन लोकमे रहने वाली सब सम्पदाओको तथा देव, असुर और मनुष्य भवकी सम्प्राप्तिके कारणोको भी जानता है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। छह द्रव्योका विवक्षित भावसे अवस्थान और अवस्थानके कारणका नाम स्थिति है। द्रव्य-स्थिति, कर्मस्थिति, कायस्थिति, भवस्थिति और भावस्थिति आदि स्थिति को सकारण जानता है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

[त्रिकाल विषयक सब प्रकारके संयोग या समीपताके सब भेदको जानते हैं:-]

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके साथ जीवादि द्रव्योके सम्मेलनका नाम युति है।

शका—युति और बन्धमे क्या भेद है?

समाधान—एकीभावका नाम बन्ध है और समीपता या सयोगका नाम युति है।

यहाँ द्रव्ययुति तीन प्रकारकी है—जीवयुति, पुद्गलयुति और जीव-पुद्गलयुति। इनमेसे एक कुल, ग्राम, नगर, बिल, गुफा या अटवीमे जीवो का मिलना जीवयुति है। वायुके कारण हिलनेवाले पत्तोके समान एक स्थानपर पुद्गलोका मिलना पुद्गलयुति है। जीव और पुद्गलोका मिलना जीव-पुद्गलयुति है। अथवा जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश इनके एक आदि सयोगके द्वारा द्रव्ययुति उत्पन्न करानी चाहिए। जीवादि द्रव्योका नारकादि क्षेत्रोके साथ मिलना क्षेत्रयुति है। उन्ही द्रव्योका दिन, महिना और वर्ष आदि कालोके साथ मिलाप होना कालयुति है। क्रोध, मान, माया और लोभादिकके साथ उनका मिलाप होना भावयुति है। त्रिकालविषयक इन सब युतियोके भेदको वे भगवान जानते हैं।

[छह द्रव्योंके अनुभाग तथा.... घटोत्पादनरूप
अनुभागको भी जानते हैं ।]

छह द्रव्योंकी शक्तिका नाम अनुभाग है वह अनुभाग छह प्रकारका है—जीवानुभाग पुद्गलानुभाग, धर्मास्तिकायानुभाग, अधर्मास्तिकायानुभाग, आकाशास्तिकायानुभाग और कालद्रव्यानुभाग। इनमेंसे समस्त द्रव्योंका जानना जीवानुभाग है। ज्वर कुष्ठ और क्षयादिका विनाश करना और उनका उत्पन्न कराना इसका नाम पुद्गलानुभाग है। योनि प्राभृतमें कहे गए मन्त्र-तंत्ररूप शक्तियोंका नाम पुद्गलानुभाग है ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए। जीव और पुद्गलोंके गमन और आगमनमें हेतु होना धर्मास्तिकायानुभाग है। उन्हींके अवस्थानमें हेतु होना अधर्मास्तिकायानुभाग है। जीवादि द्रव्योंका आधार होना आकाशास्तिकायानुभाग है। अन्य द्रव्योंके क्रम और अक्रमसे× परिणमनमें हेतु होना कालद्रव्यानुभाग है। इसी प्रकार द्विसंयोगादि रूपसे अनुभागका कथन करना चाहिए। जैसे—मृत्तिकापिण्ड दण्ड, चक्र, चीवर जल और कुम्हार आदिका घटोत्पादनरूप अनुभाग। इस अनुभागको भी जानते हैं।

[तर्क, कला, मन, मानसिक ज्ञान और मनसे चिन्तित
पदार्थोंको भी जानते हैं।]

तर्क हेतु और ज्ञापक ये एकार्थवाची शब्द हैं। इसे भी जानते हैं। चीत्रकर्म और पत्र छेदन आदिका नाम कला है। कलाको भी वे जानते हैं। मनोवर्गणासे बने हुये हृदय-कमलका नाम मन है अथवा मनसे उत्पन्न हुए ज्ञानको मन कहते हैं। मनसे चिन्तित पदार्थोंका नाम मानसिक है। उन्हें भी जानते हैं।

[भुक्त, कृत, प्रतिसेवित, आदिकर्म, अरहःकर्म, सब लोकों, सब
जीवों और सब भावोंको सम्यक् प्रकारसे युगपत् जानते हैं।]

राज्य और महाव्रतादिका परिपालन करनेका नाम भुक्ति है। उस भुक्तको जानते हैं। जो कुछ तीनों ही कालोंमें अन्यके द्वारा निष्पन्न होता

× एक साथ अनन्त द्रव्यके अनन्त गुणोंके परिणमनको यहाँ अक्रम (युगपत्) कहा है।

है उसका नाम कृत है। पाचो इन्द्रियोके द्वारा तीनों ही कालोंमे जो सेवित होता है उसका नाम प्रतिसेवित है। आद्यकर्मका नाम आदिकर्म है। अर्थ-पर्याय और व्यजन पर्यायरूपसे सब द्रव्योकी आदिको जानता है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। रहस् शब्दका अर्थ अतर और अरहस् शब्दका अर्थ अनन्तर है। अरहस् ऐसा जो कर्म वह अरहःकर्म कहलाता है। उनको जानते हैं। शुद्ध द्रव्यार्थिक नयके विषयरूपसे सब द्रव्योकी अनादिताको जानते हैं, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। सम्पूर्ण लोकमे सब जीवो और सब भावो को जानते है।

शका—यहाँ 'सर्वजीव' पदको ग्रहण नही करना चाहिए, क्योकि, बद्ध और मुक्त पदके द्वारा उसके अर्थका ज्ञान हो जाता है।

समाधान—नही, क्योकि एक सख्या विशिष्ट बद्ध और मुक्तका ग्रहण वहाँ पर न होवे, इसलिए इसका प्रतिषेध करनेके लिए 'सर्वजीव' पदका निर्देश किया है।

जीव दो प्रकारके हैं—ससारी और मुक्त। इनमे मुक्त जीव अनत प्रकारके हैं, क्योकि, सिद्धलोकका आदि और अन्त नही पाया जाता।

शका—सिद्ध लोकके आदि और अन्तका अभाव कैसे है?

समाधान—क्योकि, उसकी प्रवाह स्वरूपसे अनुवृत्ति है, तथा 'सब सिद्ध जीव सिद्धिकी अपेक्षा सादि है और सतानकी अपेक्षा अनादि है,' ऐसा सूत्र वचन भी है।

[सब जीवोंको जानते हैं]

ससारी जीव दो प्रकारके हैं—त्रस और स्थावर। त्रस जीव चारप्रकार के हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय। पचेन्द्रियजीव दो प्रकारके हैं—सज्ञी और असज्ञी। ये सब जीव त्रस पर्याप्त और अपर्याप्तके भेद से दो प्रकारके हैं। अपर्याप्त जीव लब्ध्यपर्याप्त और निर्वृत्यपर्याप्तके भेदसे दो प्रकारके हैं। स्थावर जीव पाच प्रकारके हैं—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। इन पाचो ही स्थावर-कायिक जीवोमे प्रत्येक दो प्रकारके हैं—बादर और सूक्ष्म। इनमे बादर वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके हैं—प्रत्येक शरीर और साधारण शरीर।

यहाँ प्रत्येक शरीर जीव दो प्रकारके हैं—बादर निगोद प्रतिष्ठित और बादर निगोद अप्रतिष्ठित। ये सब स्थावरकायिक जीव भी प्रत्येक दो प्रकारके हैं–पर्याप्त और अपर्याप्त। अपर्याप्त दो प्रकारके हैं—लब्ध्यपर्याप्त और निर्वृत्त्यपर्याप्त। इनमेंसे वनस्पतिकायिक अनन्त प्रकारके और शेष असंख्यात प्रकारके हैं। केवली भगवान् समस्त लोकमें स्थित इन सब जीवोंको जानते हैं, यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

[सर्व भावोंको जानते हैं –]

जीव अजीव पुण्य पाप आस्रव संवर, बन्ध और मोक्षके भेदसे पदार्थ नौ प्रकारके हैं। उनमेंसे जीवोंका कथन कर आये हैं। अजीव दोप्रकार के हैं–मूर्त और अमूर्त। इनमें से मूर्त पुद्गल उन्नीस प्रकारके हैं। यथा–एक प्रदेशीवर्गणा सख्यातप्रदेशीवर्गणा असंख्यातप्रदेशीवर्गणा अनंतप्रदेशी वर्गणा आहारवर्गणा अग्रहणवर्गणा तैजसशरीरवर्गणा अग्रहणवर्गणा भाषावर्गणा अग्रहणवर्गणा मनोवर्गणा अग्रहणवर्गणा कर्मणशरीर वर्गणा स्कन्धवर्गणा सान्तर निरन्तरवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा प्रत्येकशरीर वर्गणा ध्रुवशून्यवर्गणा बादरनिगोदवर्गणा ध्रुवशून्यवर्गणा सूक्ष्मनिगोद वर्गणा ध्रुवशून्यवर्गणा और महास्कन्धवर्गणा। इन तेईस वर्गणाओंमेंसे चार ध्रुवशून्यवर्गणाओंके निकाल देनेपर उन्नीस प्रकारके पुद्गल होते हैं और वे प्रत्येक अनन्त भेदोंको लिये हुए हैं। अमूर्त चार प्रकारके हैं–धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय और काल। काल अनलोक प्रमाण है शेष एक एक हैं। आकाश अनन्तप्रदेशी है काल अप्रदेशी है और शेष असख्यात प्रदेशी हैं।

[सर्व भावोंके अन्तर्गत—शुभाशुभ कर्म प्रकृतियों, पुण्य–पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष इन सबको केवली जानते हैं।]

शुभ प्रकृतियोंका नाम पुण्य है और अशुभ प्रकृतियोंका नाम पाप है। यहाँ घातिचतुष्क पापरूप हैं। अघातिचतुष्क मिश्ररूप हैं, क्योंकि इन में शुभ और अशुभ दोनों प्रकृतियाँ सम्भव हैं। मिथ्यात्व असंयम कषाय और योग ये आस्रव हैं। इनमेंसे मिथ्यात्व पाँच प्रकारका है। असंयम

ब्यालीस प्रकारका है। कहा भी है—

पाचरस, पाच वर्ण, दो गध आठ स्पर्श, सात स्वर, मन और चौदह प्रकारके जीव, इनकी अपेक्षा अविरमण अर्थात् इन्द्रिय व प्राणीरूप असयम ब्यालीस प्रकारका है ॥ ३३ ॥

अनतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, और लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, और लोभ, अप्रत्याख्यानावरण, क्रोध, मान, माया और लोभ, संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, तथा स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपु सकवेदके भेदसे कषाय पच्चीस प्रकारकी है। योग पन्द्रह प्रकारका है। आस्रवके प्रतिपक्षका नाम सवर है। ग्यारह भेदरूप गुण श्रेणिके द्वारा कर्मोंका गलना निर्जरा है। जीवों और कर्म—पुद्गलोके समवायका नाम बध है। जीव और कर्मका नि शेष विश्लेष होना मोक्ष है। इन **सबभावोंको** केवली जानते हैं।

सम अर्थात् अक्रमसे (-युगपत्)। यहाँ जो 'सम' पदका ग्रहण किया है वह केवलज्ञान अतीन्द्रिय है और व्यवधान आदिसे रहित है इस बातको सूचित करता है, क्योकि, अन्यथा सब पदार्थोंका युगपत् ग्रहण करना नही बन सकता, संशय, विपर्यय और अनध्यवसायका अभाव होनेसे अथवा त्रिकाल गोचर समस्त द्रव्यो और उनकी पर्यायोका ग्रहण होनेसे केवली भगवान् सम्यक् प्रकारसे जानते हैं।

केवली द्वारा अशेष बाह्य पदार्थोंका ग्रहण होनेपर भी उनका सर्वज्ञ होना सम्भव नही है, क्योकि उनके स्वरूप परिच्छित्ति अर्थात् स्वसवेदनका अभाव है, ऐसी आशका होने पर सूत्रमें 'पश्यति' कहा है। अर्थात् वे त्रिकालगोचर अनन्त पर्यायोसे उपचित आत्माको भी देखते हैं।

केवलज्ञान की उत्पत्ति **होनेके** बाद सब कर्मोंका क्षय हो जाने पर शरीर रहित हुए केवलो उपदेश नही दे सकते, इसलिये तीर्थका अभाव प्राप्त होता है, ऐसा कहने पर सूत्रमे 'विहरदि' कहा है। अर्थात् चार अघाति कर्मोंका सत्व होनेसे वे कुछ कम एक पूर्व कोटिकाल तक विहार करते हैं।

यहाँ प्रत्येक शरीर जीव दो प्रकारके हैं—बादर निगोद प्रतिष्ठित और बादर निगोद अप्रतिष्ठित। ये सब स्थावरकायिक जीव भी प्रत्येक दो प्रकारके हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। अपर्याप्त दो प्रकारके हैं—लब्ध्यपर्याप्त और निवृत्यपर्याप्त। इनमेंसे वनस्पतिकायिक अनन्त प्रकारके और शेष असंख्यात प्रकारके हैं। केवली भगवान् समस्त लोकमें स्थित इन सब जीवोंको जानते हैं, यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

[सर्व भावोंको जानते हैं—]

जीव अजीव पुण्य पाप आस्रव संवर बन्ध और मोक्षके भेदसे पदार्थ नौ प्रकारके हैं। उनमेंसे जीवोंका कथन कर आये हैं। अजीव दोप्रकार के हैं—मूर्त और अमूर्त। इनमें से मूल पुद्गल उन्नीस प्रकारके हैं। यथा—एक प्रदेशीवर्गणा संख्यातप्रदेशीवर्गणा असंख्यातप्रदेशीवर्गणा अनंतप्रदेशी वर्गणा आहारवर्गणा अग्रहणवर्गणा तैजसशरीरवर्गणा अग्रहणवर्गणा भाषावर्गणा अग्रहणवर्गणा मनोवर्गणा अग्रहणवर्गणा कर्मणशरीर वर्गणा ध्रुववर्गणा सान्तर निरन्तरवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा प्रत्येकशरीर वर्गणा ध्रुवशून्यवर्गणा बादरनिगोदवर्गणा ध्रुवशून्यवर्गणा सूक्ष्मनिगोद वर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा और महास्कन्धवर्गणा। इन तेईस वर्गणाओंमेंसे चार ध्रुवशून्यवर्गणाओंके निकाल देनेपर उन्नीस प्रकारके पुद्गल होते हैं और वे प्रत्येक अनन्त भेदोंको लिये हुए हैं। अमूर्त चार प्रकारके हैं—धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय और काल। काल अनलोक प्रमाण है शेष एक एक हैं। आकाश अनन्तप्रदेशी है काल अप्रदेशी है और शेष असंख्यात प्रदेशी हैं।

[सर्व भावोंके अन्तर्गत—शुभाशुभ कर्म प्रकृतियों, पुण्य—पाप, आस्रव, संवर निर्जरा, बंध और मोक्ष इन सबको केवली जानते हैं।]

शुभ प्रकृतियोंका नाम पुण्य है और अशुभ प्रकृतियोंका नाम पाप है। यहाँ घातिचतुष्क पापरूप हैं। अघातिचतुष्क मिश्ररूप हैं क्योंकि इन में शुभ और अशुभ दोनों प्रकृतियां सम्भव हैं। मिथ्यात्व असंयम कषाय और योग ये आस्रव हैं। इनमेंसे मिथ्यात्व पाँच प्रकारका है। असंयम

व्यालीस प्रकारका है। कहा भी है—

पाचरस, पाच वर्ण, दो गध आठ स्पर्श, सात स्वर, मन और चौदह प्रकारके जीव, इनकी अपेक्षा अविरमण अर्थात् इन्द्रिय व प्राणीरूप असंयम व्यालीस प्रकारका है ॥ ३३ ॥

अनतानुवन्धी क्रोध, मान, माया, और लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, और लोभ, अप्रत्याख्यानावरण, क्रोध, मान, माया और लोभ, संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, तथा स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपु सकवेदके भेदसे कषाय पच्चीस प्रकारकी है। योग पन्द्रह प्रकारका है। आस्रवके प्रतिपक्षका नाम सवर है। ग्यारह भेदरूप गुण श्रेणिके द्वारा कर्मोंका गलना निर्जरा है। जीवो और कर्म–पुद्गलोके समवायका नाम वध है। जीव और कर्मका नि शेष विश्लेष होना मोक्ष है। इन सवभावोंको केवली जानते हैं।

सम अर्थान् अक्रमसे (-युगपत्)। यहाँ जो 'सम' पदका ग्रहण किया है वह केवलज्ञान अतीन्द्रिय है और व्यवधान आदिसे रहित है इस बातको सूचित करता है, क्योकि, अन्यथा सब पदार्थोंका युगपत् ग्रहण करना नही वन सकता, संशय, विपर्यय और अनध्यवसायका अभाव होनेसे अथवा त्रिकाल गोचर समस्त द्रव्यो और उनकी पर्यायोका ग्रहण होनेसे केवली भगवान् सम्यक् प्रकारसे जानते हैं।

केवली द्वारा अशेष बाह्य पदार्थोंका ग्रहण होनेपर भी उनका सर्वज्ञ होना सम्भव नही है, क्योकि उनके स्वरूप परिच्छित्ति अर्थात् स्वसवेदनका अभाव है, ऐसी आशका होने पर सूत्रमें 'पश्यति' कहा है। अर्थात् वे त्रिकालगोचर अनन्त पर्यायोसे उपचित आत्माको भी देखते हैं।

केवलज्ञान की उत्पत्ति होनेके बाद सब कर्मोंका क्षय हो जाने पर शरीर रहित हुए केवली उपदेश नही दे सकते, इसलिये तीर्थका अभाव प्राप्त होता है, ऐसा कहने पर सूत्रमे 'विहरदि' कहा है। अर्थात् चार अघाति कर्मोंका सत्त्व होनेसे वे कुछ कम एक पूर्व कोटिकाल तक विहार करते हैं।

ऐसा केवलज्ञान होता है ॥८२॥
इस प्रकारके गुणोंवाला केवलज्ञान होता है।

शंका—गुणमें गुण कैसे हो सकता है?

समाधान—यहाँ केवलज्ञानके द्वारा केवलज्ञानीका निर्देश किया गया है। इस प्रकारके केवली होते हैं यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

(२) श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत प्रवचनसार गाथा ३७ में कहा है—

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टन्ते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ॥ ३७ ॥

अर्थ—"उन (जीवादी) द्रव्य जातियोंकी समस्त विद्यमान और अविद्यमान पर्यायें तात्कालिक (वर्तमान) पर्यायोंकी भाँति विशिष्टतापूर्वक (अपने-अपने भिन्न भिन्न स्वरूपसे) ज्ञानमें वर्तती हैं।"

इस श्लोक की श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत टीकामें कहा है कि—

"टीका—(जीवादी) समस्तद्रव्य जातियों की पर्यायों की उत्पत्ति की मर्यादा तीनों कालकी मर्यादा जितनी होनेसे (वे तीनों कालमें उत्पन्न हुआ करती हैं इसलिये) उनकी (-उन समस्त द्रव्य जातियोंकी) क्रम पूर्वक तपती हुई स्वरूप सम्पदावाली, (एकके बाद दूसरी प्रगट होनेवाली), विद्यमानता और अविद्यमानताको प्राप्त जो जितनी पर्यायें हैं, वे सब तात्कालिक (वर्तमान कालीन) पर्यायों की भाँति, अत्यन्त मिश्रित होने पर भी, सर्व पर्यायोंके विशिष्ट लक्षण स्पष्ट ज्ञात हो इसप्रकार, एक क्षणमें ही ज्ञान मंदिरमें स्थितिको प्राप्त होती हैं।

इस गाथा की सं टीकामें श्री जयसेनाचार्यने कहा है कि— '.... ज्ञानमें समस्त द्रव्यों की तीनों कालकी पर्यायें एक साथ ज्ञात होने पर भी प्रत्येक पर्यायका विशिष्ट स्वरूप, प्रदेश, काल, आकारादि विशेषताएँ स्पष्ट ज्ञात होती हैं; संकर—व्यतिकर नहीं होते..

"उनको (केवली भगवान्को) समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका अक्रमिक ग्रहण होनेसे समक्ष सवेदनकी (प्रत्यक्ष ज्ञानकी) आलम्बन भूत समस्त द्रव्य-पर्याये प्रत्यक्ष ही हैं।"

(प्रवचनसार गाथा २१ की टीका)

"जो (पर्याये) अभी तक भी उत्पन्न नही हुई हैं, तथा जो उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हैं, वे (पर्याये) वास्तवमे अविद्यमान होने पर भी ज्ञानके प्रति नियत होनेसे (ज्ञानमे निश्चित्-स्थिर-लगी हुई होनेसे, ज्ञानमे सीधे ज्ञात होनेसे) ज्ञान प्रत्यक्ष वर्तती हुई, पत्थरके स्तम्भमे अकित भूत और भावी देवोकी (तीर्थंकर देवोकी) भाँति अपने स्वरूपको अकपतया (ज्ञानको) अर्पित करती हुई (वे पर्यायें) विद्यमान ही है।"

(प्र० सा० गाथा-३८ की टीका)

(५) "टीका—क्षायिक ज्ञान वास्तवमे एक समयमे ही सर्वत (सर्व आत्म प्रदेशोसे), वर्तमानमे वर्तते तथा भूत-भविष्य कालमे वर्तते उन समस्त पदार्थोंको जानता है जिनमे पृथक्रूपसे* वर्तते स्वलक्षणरूप लक्ष्मीसे आलोकित अनेक प्रकारोके कारण वैचित्र्य प्रगट हुआ है और जिनमे परस्पर विरोधसे उत्पन्न होनेवाली असमान जातीयताके कारण वैषम्य प्रगट हुआ है उन्हे जानता है। जिनका अनिवार फैलाव है, ऐसा प्रकाशमान होनेसे क्षायिकज्ञान अवश्यमेव, सर्वदा, सर्वत्र, सर्वथा, सर्वको (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूपसे) जानता है।"

(प्र० सार गाथा ४७ की टीका)

(६) "जो एक ही साथ (-युगपत्) त्रैकालिक त्रिभुवनस्थ (तीनो काल और तीनो लोकके) पदार्थोंको नही जानता उसे पर्याय सहित एक द्रव्य भी जानना शक्य नही है।" (प्र सार गाथा ४८)

(७) " एक ज्ञायक भावका समस्त ज्ञेयको जाननेका स्वभाव होनेसे क्रमश प्रवर्तमान, अनन्त, भूत-वर्तमान-भावी विचित्र पर्याय समूह-

[* द्रव्योके भिन्न-भिन्न वर्तनेवाले निज निज लक्षण—उन द्रव्योकी लक्ष्मी-सपत्ति—शोभा है]

जाते अगाध स्वभाव और गंभीर** समस्त द्रव्यमात्रको–मानों वे द्रव्य ज्ञायकमें उत्कीर्ण हो गये हों चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों प्रतिबिम्बित हुये हों, इस प्रकार–एक क्षणमें ही जो शुद्धात्मा प्रत्यक्ष करता है, " (प्र सार गाथा २०० की टीका)

(८) "घातिकर्मका नाश होने पर अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य–यह अनन्त चतुष्टय प्रगट होते हैं। वहाँ अनन्तदर्शनज्ञानसे तो छह द्रव्योंसे भरपूर जो यह लोक है उसमें जीव अनन्तानन्त और पुद्गल उनसे भी अनन्तगुने हैं, और धर्म अधर्म तथा आकाश यह तीन द्रव्य एवं असंख्य कालद्रव्य हैं—उन सर्व द्रव्योंकी भूत–भविष्य–वर्तमान काल सम्बन्धी अनन्त पर्यायोंको भिन्न–भिन्न एक समयमें देखते और जानते हैं।

[अष्टपाहुड–भावपाहुड गा १५० की पं जयचन्दजी कृत टीका]

(९) श्री पंचास्तिकायकी श्री जयसेनाचार्य कृत सं टीका पृष्ठ ८७ गाथा ५ में कहा है कि—

णाणाणाणं च णत्थि केवलिणो–गाथा ५।

'केवली भगवान्‌को ज्ञानाज्ञान नहीं होता अर्थात् उन्हें किसी विषयमें ज्ञान और किसी विषयमें अज्ञान वर्तता है–ऐसा नहीं होता, किन्तु सर्वत्र ज्ञान ही वर्तता है।"

(१०) भगवन्त भूतबलि आचार्य प्रणीत महाबन्ध प्रथम भाग प्रकृति बन्धाधिकार पृष्ठ २७-२८ में केवलज्ञानका स्वरूप निम्नोक्त कहा है:—

"केवली भगवान् त्रिकालावच्छिन्न लोक अलोक सम्बन्धी सम्पूर्ण गुण पर्यायोंसे समन्वित अनन्त द्रव्योंको जानते हैं। ऐसा कोई ज्ञेय नहीं हो सकता है, जो केवली भगवान् के ज्ञानका विषय न हो।

[** जिसका स्वभाव अगाध है और गम्भीर है ऐसे समस्त द्रव्योंको–भूत वर्तमान तथा भावी कालका क्रमसे होनेवाली अनेक प्रकारकी अनन्त पर्यायोंसे युक्त एक समयमें ही प्रत्यक्ष जानना आत्माका स्वभाव है।]

ज्ञानका धर्म ज्ञेयको जानना है और ज्ञेयका धर्म है ज्ञानका विषय होना। इनमे विषयविषयिभाव सम्बन्ध है। जब मति और श्रुतज्ञानके द्वारा भी यह जीव वर्तमानके सिवाय भूत तथा भविष्यत कालकी बातोका परिज्ञान करता है, तब केवली भगवान्‌के द्वारा अतीत, अनागत, वर्तमान सभी पदार्थोंका ग्रहण (-ज्ञान) करना युक्तियुक्त ही है। **यदि क्रम पूर्वक केवली भगवान् अनन्तानन्त पदार्थोंको जानते तो सम्पूर्ण पदार्थोंका साक्षात्कार न हो पाता।** अनन्त काल व्यतीत होने पर भी पदार्थोंकी अनन्त गणना अनन्त ही रहती। आत्माकी असाधारण निर्मलता होनेके कारण एक समयमे ही सकल पदार्थोंका ग्रहण (-ज्ञान) होता है।

जब ज्ञान एक समयमे सम्पूर्ण जगत्‌का या विश्वके तत्त्वोका बोध कर चुकता है, तब आगे वह कार्यहीन हो जायगा' यह आशङ्का भी युक्त नही है, कारण कालद्रव्यके निमित्तसे तथा अगुरुलघु गुणके कारण समस्त वस्तुओमे क्षण क्षणमे परिणमन-परिवर्तन होता है। जो कल भविष्यत् था वह आज वर्तमान बनकर आगे अतीतका रूप धारण करता है। इसप्रकार परिवर्तनका चक्र सदा चलनेके कारण ज्ञेयके परिणमनके अनुसार ज्ञानमे भी परिणमन होता है। **जगतके जितने पदार्थ हैं, उतनी ही केवलज्ञानकी शक्ति या मर्यादा नहीं है। केवलज्ञान अनन्त है। यदि लोक अनन्त गुणित भी होता, तो केवलज्ञान सिंधुमें वह बिन्दु तुल्य समा जाता।**......अनन्त केवलज्ञानके द्वारा अनन्त जीव तथा अनन्त आकाशादिका ग्रहण होने पर भी वे पदार्थ सान्त नही होते हैं। अनन्तज्ञान अनन्त पदार्थ या पदार्थोंको अनन्तरूपसे बताता है, इस कारण ज्ञेय और ज्ञानकी अनन्तता अबाधित रहती है।

[महाबन्ध प्रथम भाग पृष्ठ २७ तथा धवला पुस्तक १३ पृष्ठ ३४६ से ३५३]

उपरोक्त आधारोंसे निम्नोक्त मंतव्य मिथ्या सिद्ध होते हैं—

(१) केवली भगवान् भूत और वर्तमान कालवर्ती पर्यायोको ही जानते हैं और भविष्यत् पर्यायोको वे हो तब जानते हैं।

वाले अगाध स्वभाव और गंभीर* समस्त द्रव्यमात्रको–मानों वे द्रव्य ज्ञायकमें उत्कीर्ण हो गये हों चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हों समा गये हों प्रतिबिम्बित हुये हों, इस प्रकार–एक क्षणमें ही जो शुद्धात्मा प्रत्यक्ष करता है, " (प्र सार गाथा २०० की टीका)

(८) "घातिकर्मका नाश होने पर अनन्तदर्शन अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य–यह अनन्त चतुष्टय प्रगट होते हैं। वहाँ अनन्तदर्शनज्ञानसे तो छह द्रव्योंसे भरपूर जो यह लोक है उसमें जीव अनन्तानन्त और पुद्गल उससे भी अनन्तगुने हैं, और धर्म अधर्म तथा आकाश यह तीन द्रव्य एवं असंख्य कालद्रव्य हैं—उन सर्व द्रव्योंकी भूत–भविष्य–वर्तमान काल सम्बन्धी अनन्त पर्यायोंको भिन्न–भिन्न एक समयमें देखते और जानते हैं।

[अष्टपाहुड–भावपाहुड गा १५० की पं जयचन्द्रजी कृत टीका]

(९) श्री पचास्तिकायकी श्री जयसेनाचार्य कृत सं टीका पृष्ठ ८७ गाथा ५ में कहा है कि—

णाणाणाण च णत्थि केवलिणो–गाथा ५।

'केवली भगवान्को ज्ञानाज्ञान नहीं होता अर्थात् उन्हें किसी विषयमें ज्ञान और किसी विषयमें अज्ञान वर्तता है–ऐसा नहीं होता, किन्तु सर्वत्र ज्ञान ही वर्तता है।"

(१०) भगवन्त भूतबलि आचार्य प्रणीत महाबन्ध प्रथम भाग प्रकृति बन्धाधिकार पृष्ठ २७-२८ में केवलज्ञानका स्वरूप निम्नोक्त कहा है:—

"केवली भगवान् त्रिकालावच्छिन्न लोक अलोक सम्बन्धी सम्पूर्ण गुण पर्यायोंसे समन्वित अनन्त द्रव्योंको जानते हैं। ऐसा कोई ज्ञेय नहीं हो सकता है, जो केवली भगवान् के ज्ञानका विषय न हो।

[* जिसका स्वभाव अगाध है और गम्भीर है ऐसे समस्त द्रव्योंको–भूत वर्तमान तथा भावी कालका क्रमसे होनेवाली अनेक प्रकारकी अनन्त पर्यायोंसे युक्त एक समयमें ही प्रत्यक्ष जानना आत्माका स्वभाव है।]

ज्ञानका धर्म ज्ञेयको जानना है और ज्ञेयका धर्म है ज्ञानका विषय होना। इनमे विषयविषयिभाव सम्बन्ध है। जब मति और श्रुतज्ञानके द्वारा भी यह जीव वर्तमानके सिवाय भूत तथा भविष्यत कालकी बातोका परिज्ञान करता है, तब केवली भगवान्के द्वारा अतीत, अनागत, वर्तमान सभी पदार्थोंका ग्रहण (–ज्ञान) करना युक्तियुक्त ही है। **यदि क्रम पूर्वक केवली भगवान् अनन्तानन्त पदार्थोंको जानते तो सम्पूर्ण पदार्थोंका साक्षात्कार न हो पाता।** अनन्त काल व्यतीत होने पर भी पदार्थोंकी अनन्त गणना अनन्त ही रहती। आत्माकी असाधारण निर्मलता होनेके कारण एक समयमे ही सकल पदार्थोंका ग्रहण (–ज्ञान) होता है।

जब ज्ञान एक समयमे सम्पूर्ण जगत्का या विश्वके तत्त्वोका बोध कर चुकता है, तब आगे वह कार्यहीन हो जायगा' यह आशङ्का भी युक्त नही है, कारण कालद्रव्यके निमित्तसे तथा अगुरुलघु गुणके कारण समस्त वस्तुओमे क्षण क्षणमे परिणमन–परिवर्तन होता है। जो कल भविष्यत् था वह आज वर्तमान बनकर आगे अतीतका रूप धारण करता है। इसप्रकार परिवर्तनका चक्र सदा चलनेके कारण ज्ञेयके परिणमनके अनुसार ज्ञानमें भी परिणमन होता है। **जगतके जितने पदार्थ हैं, उतनी ही केवलज्ञानकी शक्ति या मर्यादा नहीं है। केवलज्ञान अनन्त है। यदि लोक अनन्त गुणित भी होता, तो केवलज्ञान सिंधुमें वह बिन्दु तुल्य समा जाता।.....** अनन्त केवलज्ञानके द्वारा अनन्त जीव तथा अनन्त आकाशादिका ग्रहण होने पर भी वे पदार्थ सान्त नही होते हैं। अनन्तज्ञान अनन्त पदार्थ या पदार्थोंको अनन्तरूपसे बताता है, इस कारण ज्ञेय और ज्ञानकी अनन्तता अबाधित रहती है।

[महाबन्ध प्रथम भाग पृष्ठ २७ तथा धवला पुस्तक १३ पृष्ठ ३४६ से ३५३]

उपरोक्त आधारोंसे निम्नोक्त मंतव्य मिथ्या सिद्ध होते हैं—

(१) केवली भगवान् भूत और वर्तमान कालवर्ती पर्यायोको ही जानते हैं और भविष्यत् पर्यायोको वे हो तब जानते हैं।

(२) सर्वज्ञ भगवान् अपेक्षित धर्मोंको नहीं जानते ।

(३) केवली भगवान् भूत भविष्यत् पर्यायोंको सामान्यरूपसे जानते हैं किन्तु विशेषरूपसे नहीं जानते ।

(४) केवली भगवान् भविष्यत् पर्यायोंको समग्ररूपसे (समूहरूपसे) जानते हैं भिन्न भिन्नरूपसे नहीं जानते ।

(५) ज्ञान सिर्फ ज्ञानको ही जानता है ।

(६) सर्वज्ञके ज्ञानमें पदार्थ झलकते हैं किन्तु भूतकाल तथा भविष्यकालकी पर्यायें स्पष्टरूपसे नहीं झलकतीं ।—इत्यादिक मन्तव्य सर्वज्ञको अल्पज्ञ मानने समान हैं ।

[केवलज्ञान (–सर्वज्ञका ज्ञान) द्रव्य-पर्यायोंका शुद्धत्व अशुद्धत्व आदि अपेक्षित धर्मोंको भी जानता है ।]

(११) श्री समयसारजीमें अमृतचन्द्राचार्य कृत कलश नं० २ में केवलज्ञानमय सरस्वतीका स्वरूप इसप्रकार कहा है वह मूर्ति ऐसी है कि जिसमें अनन्त धर्म हैं ऐसा और प्रत्यक–परद्रव्योंसे परद्रव्योंके गुण पर्यायोंसे भिन्न तथा परद्रव्यके निमित्तसे हुए अपने विकारोंसे कथंचित् भिन्न एकाकार ऐसा जो आत्मा उसके तत्त्वको अर्थात् असाधारण सजातीय विजातीय द्रव्योंसे विलक्षण निजस्वरूपको पश्यंती–देखती है ।

भावार्थ—××× उनमें अनन्त धर्म कौन कौन हैं ? उसका उत्तर कहते हैं—जो वस्तुमें सत्पना वस्तुपना प्रमेयपना प्रदेशपना चेतनपना अचेतनपना मूर्तिकपना अमूर्तिकपना इत्यादि धर्म तो गुण हैं और उन गुणोंका तीनों कालोंमें समय समयवर्ती परिणमन होना पर्याय है वे अनन्त हैं । तथा एकपना अनेकपना नित्यपना अनित्यपना भेदपना अभेदपना शुद्धपना अशुद्धपना आदि अनेक धर्म हैं वे सामान्यरूप तो वचन गोचर हैं और विशेषरूप वचनके अविषय हैं ऐसे वे अनन्त हैं सो ज्ञानगम्य हैं (–अर्थात् केवलज्ञानके विषय हैं ।)

[श्री रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला मु बईसे प्रकाशित स सार पत्र ४]

सर्वज्ञ व्यवहारसे परको जानता है उसका अर्थ

(१२) परमात्मप्रकाश शास्त्र गा ५२ की स टीकामे (पत्र नं. ५५) कहा है कि "यह आत्मा व्यवहार नयसे केवलज्ञान द्वारा लोकालोकको जानता है और शरीरमे रहने पर भी निश्चयनयसे अपने आत्मस्वरूपको जानता है, इसकारण ज्ञानकी अपेक्षा तो व्यवहारनयसे सर्वगत है, प्रदेशोकी अपेक्षा नही है। जैसे रूपवाले पदार्थोंको नेत्र देखते हैं, परन्तु उनसे तन्मय नही होता। यहाँ कोई प्रश्न करता है कि—जो व्यवहारनयसे लोकालोकको जानता है, और निश्चयनयसे नही, तो सर्वज्ञपना व्यवहारनयसे हुआ निश्चयकर न हुआ ? उसका समाधान करते हैं—जैसे अपनी आत्माको तन्मयी होकर जानता है, उसी तरह परद्रव्यको तन्मयीपनेसे नही जानता, भिन्नस्वरूप जानता है, इस कारण व्यवहारनयसे कहा, [न च परिज्ञानाभावात्।] **कुछ परिज्ञानके अभावसे नहीं कहा**। (ज्ञानकर जानपना तो निज और परका समान है) यदि जिस तरह निजको तन्मयी होकर निश्चयसे जानता है, उसी तरह यदि परको भी तन्मयी होकर जाने, तो परके सुख दु ख, राग, द्वेषके ज्ञान होने पर सुखी दु'खी, रागी, द्वेषी होवे, यह वडा दूषण प्राप्त हो।"

(१३) इस प्रकार समयसारजी पत्र, ४६६–६७, गाथा ३५६ से ३६५ की स टीकामे श्री जयसेनाचार्यने भी कहा है ". यदि व्यवहारेण परद्रव्य जानाति तर्हि निश्चयेन सर्वज्ञो न भवतीति पूर्वपक्षे परिहारमाह यथा स्वकीय सुखादिक तन्मयो भूत्वा जानाति तथा बहिर्द्रव्य न जानाति तेन कारणेन व्यवहार'। यदि पुन परकीय सुखादिकमात्मसुखादिवत्तन्मयो भूत्वा जानाति तर्हि यथा स्वकीय सवेदने सुखी भवति तथा परकीय सुख दु'ख सवेदनकाले सुखी दु खी च प्राप्नोति न च तथा। व्यवहारस्तथापि–छद्मस्थ जनापेक्षया सोऽपि निश्चय एवेति।"

केवलज्ञान नामक पर्यायका निश्चय स्वभाव

(१४) पचास्तिकाय शास्त्रकी गाथा ४९ की टीकामे श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि– . "तथा जीवे निश्चयनयेन क्रम करण व्यव-

धाम रहित त्रलोक्योदर विवरण वर्ति समस्त वस्तुगतानंत धर्म प्रकाशक सखड प्रतिभासमय केवलज्ञान पूर्वमेव तिष्ठति" । तथा गा २६ की टीका में भी कहा है कि "- अत्र स्वय जातमिति वचनेन पूर्वोक्तमेव निरुपाधित्व समर्थितं । तथा च स्वयमेव सर्वज्ञो जात' सर्वदर्शी च जातो निश्चयनयेनेति पूर्वोक्तमेव सर्वज्ञत्व सवदर्शीत्व च समर्थितमिति ।' तथा गाथा १५४ की टीकामें कहा है कि -''समस्त वस्तुगतानत धर्माणां युगपद्विशेष परि च्छित्ति समर्थ केवलज्ञान

(५) परमात्मप्रकाश अ० २ गा १०१ की स टीकामें कहा है कि-''जगत्त्रय कालत्रयवर्ति समस्त द्रव्यगुण पर्यायाणांक्रमकरण व्यवधान रहितत्वेन परिच्छित्ति समर्थ विशुद्ध दर्शन ज्ञान च ।

(६) समयसारजी शास्त्रमें आत्म द्रव्यकी ४७ शक्ति कही है उनमें सर्वज्ञत्वशक्तिका स्वरूप ऐसा कहा है कि 'विश्वविश्व विशेष भाव परिण तात्मज्ञानमयी सर्वज्ञशक्तिः । अर्थ —समस्त विश्वके (छहों द्रव्यके) विशेष भावोंको जानने रूपसे परिणमित आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्ति ॥१०॥'

नोंध—सर्वज्ञ मात्र आत्मज्ञ ही है ऐसा कहना ठीक नहीं है कारण कि—संपूर्ण आत्मज्ञ होनेवाला परद्रव्योंको भी सर्वथा सर्व विशेष भावों सहित जानता है । विशेषके लिये देखो—आत्मधर्म मासिक वर्ष ६ अंक में ८ सर्वज्ञत्व शक्तिका वर्णन' कोई असत् कल्पना द्वारा सर्वज्ञका स्वरूप अन्यथा मानते हैं उसका तथा सर्वज्ञ वस्तुओंके अनंतधर्म को नहीं जानते ऐसा मानते हैं उनका उपरोक्त कथनके आधारसे निराकरण हो जाता है ।

मोक्षशास्त्र-अध्याय दूसरा

पहिले अध्यायमें सम्यग्दर्शनके विषयका उपदेश देते हुए प्रारम्भमें [अ० १ सू० ४ में] जीवादिक तत्त्व कहे थे। उनमेंसे जीव तत्त्वके भाव, उनका लक्षण और शरीरके साथके सम्बन्धका वर्णन इस दूसरे अध्यायमें है। पहिले जीवके स्वतत्त्व (निजभाव) बतानेके लिए सूत्र कहते हैं:—

जीवके असाधारण भाव

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥ १ ॥

अर्थ—[**जीवस्य**] जीवके [**औपशमिकक्षायिकौ**] औपशमिक और क्षायिक [**भावौ**] भाव [**च मिश्रः**] और मिश्र तथा [**औदयिक-पारिणामिकौ च**] औदयिक और पारिणामिक यह पाँच भाव [**स्वतत्त्वम्**] निजभाव हैं अर्थात् यह जीवके अतिरिक्त दूसरेमे नही होते।

टीका

पाँच भावोंकी व्याख्या

(१) **औपशमिकभाव**—आत्माके पुरुषार्थ द्वारा अशुद्धताका प्रगट न होना अर्थात् दब जाना। आत्माके इस भावको औपशमिकभाव कहते हैं, यह जीवकी एक समयमात्रकी पर्याय है, वह एक एक समय करके अत-र्मुहूर्त तक रहती है, किन्तु एक समयमे एक ही अवस्था होती है। और उसी समय आत्माके पुरुषार्थका निमित्त पाकर जड कर्मका प्रगटरूप फल जड़ कर्ममे न आना सो कर्मका उपशम है।

(२) **क्षायिकभाव**—आत्माके पुरुषार्थसे किसी गुणकी शुद्ध अवस्थाका प्रगट होना सो क्षायिकभाव है। यह भी जीवकी एक समयमात्रकी

अवस्था है। एक एक समय करके यह सादि अनंत रहती है तथापि एक समयमें एक ही अवस्था होती है सादि अनंत अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाववाले केवलज्ञान-केवलदर्शन-केवलसुख-केवलवीर्य युक्त फलरूप अनंत चतुष्टयके साथ रहनेवाली परम उत्कृष्ट क्षायिकभावकी शुद्ध परिणति जो कार्यशुद्धपर्याय है उसे क्षायिकभाव भी कहते हैं। और उसी समय आत्माका पुरुषार्थका निमित्त पाकर कर्मावरणका नाश होना सो कर्मका क्षय है।

(३) क्षायोपशमिकभाव—आत्माके पुरुषार्थका निमित्त पाकर जो कर्मका स्वयं आंशिक क्षय और आंशिक उपशम वह कर्मका क्षयोपशम है और क्षायोपशमिकभाव आत्माकी पर्याय है। यह भी आत्माकी एक समय की अवस्था है वह उसकी योग्यताके अनुसार उत्कृष्ट कालतक भी रहती है किन्तु प्रति समय बदलकर रहती है।

(४) औदयिकभाव—कर्मोंके निमित्तसे आत्मा अपनेमें जो विकारभाव करता है सो औदयिकभाव है। यह भी आत्माकी एक समय की अवस्था है।

(५) पारिणामिकभाव—'पारिणामिक' का अर्थ है सहजस्वभाव उत्पाद-व्यय रहित ध्रुव-एकरूप स्थिर रहनेवाला भाव पारिणामिकभाव है। पारिणामिकभाव सभी जीवोंके सामान्य होता है। औदयिक औपशमिक क्षायोपशमिक और क्षायिक-इन चार भावोंसे रहित जो भाव है सो पारिणामिक भाव है। 'पारिणामिक' कहते ही ऐसा ध्वनित होता है कि द्रव्य-गुण का नित्य वर्तमानरूप निर्पेक्षता है, ऐसी द्रव्यकी पूर्णता है। द्रव्य गुण और निर्पेक्ष पर्यायरूप वस्तुकी जो पूर्णता है उसे पारिणामिकभाव कहते हैं।

जिसका निरंतर सद्भाव रहता है उसे पारिणामिकभाव कहते हैं। जिसमें सब भेद गर्भित हैं ऐसा चैतन्यभाव ही जीवका पारिणामिकभाव है। मतिज्ञानादि तथा केवलज्ञानादि जो अवस्थाएँ हैं वे पारिणामिकभाव नहीं हैं।

मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान (यह अवस्थाएँ) क्षायोपशमिकभाव हैं केवलज्ञान (अवस्था) क्षायिकभाव है। केवलज्ञान प्रगट होनेसे पूर्व ज्ञानका विकासका जितना अभाव है वह औदयिकभाव है।

ज्ञान-दर्शन और वीर्यगुणकी अवस्थामे औपशमिकभाव होता ही नही। मोहका ही उपशम होता है, उसमे प्रथम मिथ्यात्वका (दर्शनमोहका) उपशम होने पर जो निश्चय सम्यक्त्व प्रगट होता है वह श्रद्धागुणका औपशमिक भाव है।

(ज्ञान, दर्शन और वीर्य गुणकी पर्यायमे पूर्ण विकासका जितना अभाव है वह भी औदयिकभाव है, वह १२ वें गुणस्थान तक है)

२. यह पाँच भाव क्या बतलाते हैं ?

(१) जीवमें एक अनादि अनत शुद्ध चैतन्य स्वभाव है, यह पारिणामिकभाव सिद्ध करता है।

(२) जीवमे अनादि अनत शुद्ध चैतन्यस्वभाव होनेपर भी उसकी अवस्थामे विकार है, ऐसा औदयिकभाव सिद्ध करता है।

(३) जडकर्मके साथ जीवका अनादिकालीन सबध है और जीव अपने ज्ञाता स्वभावसे च्युत होकर जडकर्मकी ओर झुकाव करता है जिससे विकार होता है किन्तु कर्मके कारण विकार-भाव नही होता, यह भी औदयिकभाव सिद्ध करता है।

(४) जीव अनादिकालसे विकार करता हुआ भी जड नही हो जाता और उसके ज्ञान, दर्शन तथा वीर्यका आशिक विकास सदा बना रहता है, यह क्षायोपशमिकभाव सिद्ध करता है।

(५) आत्माका स्वरूप यथार्थतया समझकर जब जीव अपने पारिणामिकभावका आश्रय लेता है तब औदयिकभावका दूर होना प्रारभ होता है, और पहिले श्रद्धागुणका औदयिक-भाव दूर होता है, यह औपशमिकभाव सिद्ध करता है।

(६) सच्ची समझके बाद जीव जैसे २ सत्यपुरुषार्थको बढाता है वैसे २ मोह अशतः दूर होता जाता है यह क्षायोपशमिक भाव सिद्ध करता है।

(७) यदि जीव प्रतिहतभावसे पुरुषार्थमे आगे बढता है तो चारित्रमोह स्वय दब जाता है [-उमशमको प्राप्त होता है]

यह औपशमिकभाव सिद्ध करता है।

(८) अप्रतिहत पुरुषार्थसे पारिणामिकभावका अच्छी तरह आश्रय बढ़ाने पर विकारका नाश हो सकता है ऐसा क्षायिकभाव सिद्ध करता है।

(९) यद्यपि कर्मोंके साथका सम्बंध प्रवाहसे अनादिकालीन है तथापि प्रतिसमय पुराने कर्म जाते हैं और नये कर्मोंका सम्बंध होता रहता है, इस अपेक्षासे कर्मोंके साथका यह सम्बन्ध सर्वथा दूर हो जाता है यह क्षायिकभाव सिद्ध करता है।

(१०) कोई निमित्त विकार नहीं करता किन्तु जीव स्वयं निमित्ताधीन होकर विकार करता है। जब जीव पारिणामिक भावरूप अपने द्रव्य स्वभाव सन्मुख हो करके स्वाधीनताको प्रगट करता है तब अशुद्धता दूर होकर शुद्धता प्रगट होती है ऐसा औपशमिकभाव, साधकदशाका क्षायोपशमिकभाव और क्षायिकभाव तीनों सिद्ध करते हैं।

३ पाँच भावोंके सम्बन्धमें कुछ प्रश्नोत्तर

(१) प्रश्न—भावनाके समय इन पाँचमेंसे कौनसा भाव ध्यान करने योग्य है अर्थात् ध्येय है?

उत्तर—भावनाके समय पारिणामिकभाव ध्यान करने योग्य है अर्थात् ध्येय है। ध्येयभूत द्रव्यरूप शुद्ध पारिणामिकभाव त्रिकाल रहते हैं इसलिये वे ध्यान करने योग्य हैं।

(२) प्रश्न—पारिणामिकभावके आश्रयसे होनेवाला ध्यान भावनाके समय ध्येय क्यों नहीं है?

उत्तर—यह ध्यान स्वयं पर्याय है इसलिये विनश्वर है पर्यायके आश्रयसे शुद्ध अवस्था प्रगट नहीं होती इसलिये वह ध्येय नहीं है।

[समयसारमें जयसेनाचार्य कृत टीकाका अनुवाद पृ० ३३० ३३१]

(३) प्रश्न—शुद्ध और अशुद्धभेदसे पारिणामिकभावके दो प्रकार नहीं हैं किन्तु पारिणामिकभाव शुद्ध ही है, क्या यह कहना ठीक है?

उत्तर—नही, यह ठीक नही है। यद्यपि सामान्यरूपसे (द्रव्यार्थिक नयसे अथवा उत्सर्ग कथनसे) पारिणामिकभाव शुद्ध हैं तथापि विशेषरूपसे (पर्यायार्थिकनयसे अथवा अपवाद कथनसे) अशुद्ध पारिणामिकभाव भी हैं। इसलिये 'जीवभव्याभव्यत्वानि च' इस (सातवे सूत्र) से पारिणामिकभावको जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व–तीन प्रकारका कहा है, उनमेसे जो शुद्ध चैतन्यरूप जीवत्व है वह अविनाशी शुद्ध द्रव्याश्रित है, इसलिये उसे शुद्ध द्रव्याश्रित नामका शुद्ध पारिणामिकभाव समझना चाहिए। और जो दश प्रकारके द्रव्य–प्राणोसे पहिचाना जाता है ऐसा जीवत्व और मोक्षमार्गकी योग्यता–अयोग्यतासे भव्यत्व, अभव्यत्व यह तीन प्रकार पर्यायाश्रित हैं इसलिये उन्हे पर्यायार्थिक नामके अशुद्ध पारिणामिकभाव समझना चाहिये।

(४) **प्रश्न**—इन तीन भावोकी अशुद्धता किस अपेक्षासे है ?

उत्तर—यह अशुद्ध पारिणामिकभाव व्यवहारनयसे सासारिक जीवोमे हैं फिर भी "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" अर्थात् सब जीव शुद्धनयसे शुद्ध है, इसलिये यह तीनो भाव शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे किसी जीवको नही हैं, ससारी जीवोमे पर्यायकी अपेक्षा अशुद्धत्व है। [भव्य जीवमे अभव्यत्व गुण नही है और अभव्य जीवमे भव्यत्व गुण नही है तथा वे दोनो गुण जीवके अनुजीवी गुण है, तथा वे श्रद्धा गुणकी पर्याय नही, देखो "अनुजीवीगुण" जैन सि० प्रवेशिका।]

प्रश्न—इन शुद्ध और अशुद्ध पारिणामिकभावोमेसे कौनसा भाव ध्यानके समय ध्येयरूप है ?

उत्तर—द्रव्यरूप शुद्ध पारिणामिकभाव अविनाशी है इसलिये वह ध्येयरूप है, अर्थात् वह त्रैकालिक शुद्ध पारिणामिकभावके लक्षसे शुद्ध अवस्थाको प्रगट करता है। [बृहत् द्रव्यसग्रह पृष्ठ ३४–३५]

४. औपशमिकभाव कब होता है ?

अध्याय १ सूत्र ३२ मे कहा गया है कि जीवके सत् और असत्के विवेकसे रहित जो दशा है सो उन्मत्त जैसी है। मिथ्या अभिप्रायसे अपनी

ऐसी दशा अनादिकालसे है यह अ० १ सूत्र ४ में कथित तत्त्वोंका विचार करनेपर जीवको ज्ञानमें आता है। और उसे यह भी ज्ञानमें आता है कि जीवका पुद्गलकर्म तथा शरीरके साथ प्रवाहरूपसे अनादिकालीन सम्बन्ध है अर्थात् जीव स्वयं वह का वही है किन्तु कर्म और शरीर पुराने जाते हैं तथा नये आते हैं। और यह संयोग सम्बन्ध अनादिकालसे चला आ रहा है। जीव इस संयोग सम्बन्धको एकरूप (तादात्म्यसम्बन्धरूपसे) मानता है और इसप्रकार जीव अज्ञानतासे शरीरको अपना मानता है इसलिये शरीरके साथ मात्र निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध होने पर भी उसके साथ कर्ता-कर्म सम्बन्ध मानता है इसलिये वह यह मानता आ रहा है कि मैं शरीरके कार्य कर सकता हूँ और जड़ कर्म शरीरादि मुझको कुछ करता है। तत्त्व विचार करते २ जीवको ऐसा समता है कि यह मेरी भूल है मैं जीवतत्त्व हूँ और शरीर तथा जड़ कर्म मुझसे सर्वथा भिन्न अजीवतत्त्व है मैं अजीवमें और अजीव मुझमें नहीं है इसलिये मैं अजीवका कुछ नहीं कर सकता मैं अपने ही भाव कर सकता हूँ, तथा अजीव अपने भाव (उसीके भाव) कर सकता है मेरे नहीं।

इसप्रकार जिज्ञासु आत्मा प्रथम रागमिश्रित विचारके द्वारा जीव अजीव तत्त्वोंका स्वरूप जानकर, यह निश्चय करते हैं कि अपनेमें जो कुछ विकार होते हैं वे अपने ही दोषके कारण होते हैं। इतना जानलेपर उसे यह भी ज्ञात हो जाता है कि अविकारी भाव क्या है। इसप्रकार विकार भाव (पुण्य पाप आस्रव बन्ध) का तथा अविकारभाव (संवर निर्जरा मोक्ष) का स्वरूप वे जिज्ञासु आत्मा निश्चित् करते हैं। पहिले रागमिश्रित विचारोंके द्वारा इन तत्त्वोंका ज्ञान करके फिर अब जीव उन भेदोंकी ओरका लक्ष दूर करके अपने त्रैकालिक पारिणामिकभावका ज्ञायकभावका यथार्थ आश्रय लेते हैं तब उन्हें श्रद्धागुणका औपशमिकभाव प्रगट होता है। श्रद्धागुणके औपशमिकभावको उपशम सम्यग्दर्शन कहा जाता है। इस निश्चय सम्यग्दर्शनके प्रगट होने पर जीवके धर्मका प्रारम्भ होता है तब जीवकी अनादिकालसे चली आनेवाली श्रद्धागुणकी मिथ्या दशा दूर होकर

सम्यक् दशा प्रगट होती है। यह औपशमिकभावसे मिथ्यात्वादिके संवर होते हैं।

५. औपशमिकभावकी महिमा

इस औपशमिकभाव अर्थात् सम्यग्दर्शनकी ऐसी महिमा है कि जो जीव पुरुषार्थके द्वारा उसे एक वार प्रगट कर लेता है उसे अपनी पूर्ण पवित्र दशा प्रगट हुए विना नही रह सकती। प्रथम–औपशमिकभावके प्रगट होने पर अ० १ सूत्र ३२ मे कथित 'उन्मत्तदशा' दूर हो जाती है अर्थात् जीवकी मिथ्याज्ञानदशा दूर होकर वह सम्यक्मति–श्रुतज्ञानरूप हो जाती है, और यदि उस जीवको पहिले मिथ्या अवधिज्ञान हो तो वह भी दूर होकर सम्यक् अवधिज्ञानरूप हो जाता है।

सम्यग्दर्शनकी महिमा वतानेके लिये आचार्यदेवने अ० १ के पहिले सूत्रमे पहिला ही शब्द **सम्यग्दर्शन** कहा है, और प्रथम सम्यग्दर्शन औपशमिकभावसे ही होता है इसलिये औपशमिकभावकी महिमा वतानेके लिये यहाँ भी यह दुसरा अध्याय प्रारम्भ करते हुए वह भाव पहिले सूत्रके पहिले ही शब्दमें वताया है।

६. पाँच भावोंके सम्बन्धमें कुछ स्पष्टीकरण

(१) प्रश्न—प्रत्येक जीवमे अनादिकालसे पारिणामिकभाव है फिर भी उसे औपशमिकभाव अर्थात् सम्यग्दर्शन क्यो प्रगट नही हुआ ?

उत्तर—जीवको अनादिकालसे अपने स्वरूपकी प्रतीति नही है और इसलिये वह यह नही जानता कि मैं स्वयं पारिणामिकभाव स्वरूप हूँ, और वह अज्ञान दशामे यह मानता रहता है कि 'शरीर मेरा है और शरीरके अनुकूल, ज्ञात होनेवाली पर वस्तुएँ मुझे लाभकारी हैं तथा शरीरके प्रतिकूल, ज्ञात होनेवाली वस्तुएँ हानिकारी हैं' इसलिये उसका झुकाव पर वस्तुओं, शरीर, और विकारी भावोकी ओर बना ही रहता है। यहाँ जो किसीसे उत्पन्न नही किया गया है और कभी किसीसे जिसका विनाश नही होता ऐसे पारिणामिकभावका ज्ञान कराकर, अपने गुण-पर्यायरूप भेदोको और परवस्तुओको गौण करके आचार्यदेव उन परसे लक्ष छुड़वाते हैं।

भेददृष्टिमें निर्विकल्पदशा नहीं होती इसलिये अभेददृष्टि कराई है कि जिससे निर्विकल्पदशा प्रगट हो। औपशमिकभाव भी एक प्रकारकी निर्विकल्प दशा है।

(२) प्रश्न—इस सूत्रमें कथित पाँच भावोंमेंसे किस भावकी ओर के लक्षसे धर्मका प्रारम्भ और पूर्णता होती है ?

उत्तर—पारिणामिकभावोंके अतिरिक्त चारों भाव क्षणिक हैं—एक समय मात्रके हैं और उनमें भी क्षायिकभाव तो वर्तमान नहीं है औपशमिकभाव भी होता है सो अल्प समय ही टिकता है और औदयिक-क्षायोपशमिकभाव भी समय २ पर बदलते रहते हैं इसलिये उन भावों पर लक्ष किया जाय तो वहाँ एकाग्रता नहीं हो सकती और धर्म प्रगट नहीं हो सकता। त्रैकालिक पूर्ण स्वभावरूप पारिणामिकभावकी महिमाको जानकर उस ओर जीव अपना लक्ष करे तो धर्मका प्रारम्भ होता है और उस भावकी एकाग्रताके बलसे ही धर्मकी पूर्णता होती है।

(३) प्रश्न—पंचास्तिकायमें कहा है कि—

मोक्षं कुर्वन्ति मिश्रौपशमिकक्षायिकाभिधाः।
बंधमौदयिका भावा निःक्रियाः पारिणामिकाः॥

[गाथा ५६ जयसेनाचार्य कृत टीका]

अर्थ—मिश्र औपशमिक और क्षायिक ये तीन भाव मोक्षकर्ता हैं औदयिकभाव बन्ध करते हैं और पारिणामिकभाव बन्ध मोक्षकी क्रियासे रहित हैं।

प्रश्न—उपरोक्त कथनका क्या आशय है ?

उत्तर—इस श्लोकमें यह नहीं कहा है कि कौनसा भाव उपादेय अर्थात् आश्रय करने योग्य है किन्तु इसमें मोक्ष जो कि कर्मके अभावरूप निमित्तकी अपेक्षा रखता है वह भाव जब प्रगट होता है तब जीवका कौनसा भाव होता है यह बताया है अर्थात् मोक्ष जो कि सापेक्ष पर्याय है उसका प्रगट होते समय तथा पूर्व सापेक्ष पर्याय कौनसी थी इसका स्वरूप बताया है। यह श्लोक बतलाता है कि क्षायिकभाव मोक्षको करता है अर्थात् उस

भावका निमित्त पाकर आत्म प्रदेशमे द्रव्यकर्मका स्वयं अभाव होता है। मोक्ष इस अपेक्षासे क्षायिक पर्याय है और क्षायिकभाव जडकर्मका अभाव सूचित करता है। क्षायिकभाव होनेसे पूर्व मोहके औपशमिक तथा क्षायोपशमिकभाव होना ही चाहिये और तत्पश्चात् क्षायिकभाव प्रगट होते हैं और क्षायिकभावके प्रगट होने पर ही कर्मोका स्वयं अभाव होता है-तथा ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सबध बतानेके लिये यह कहा है कि 'यह तीनो भाव मोक्ष करते हैं'। इस श्लोकमे यह प्रतिपादन नही किया गया है कि-किस भावके आश्रयसे धर्म प्रगट होता है। ध्यान रहे कि पहिले चारो भाव स्व अपेक्षासे पारिणामिकभाव हैं। (देखो जयधवल ग्रथ पृष्ठ ३१९, धवला भाग ५ पृष्ठ १९७)

४. **प्रश्न**—ऊपरके श्लोकमे कहा गया है कि—औदयिकभाव बधका कारण है। यदि यह स्वीकार किया जाय तो गति, जाति, आदि नामकर्म सबधी-औदयिक भाव भी बंधके कारण क्यो नही होगे ?

उत्तर—श्लोकमे कहे गये औदयिकभावमे सर्व औदयिकभाव बधके कारण हैं ऐसा नही समझना चाहिये, किन्तु यह समझना चाहिये कि मात्र मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग यह चार भाव बधके कारण हैं। (श्री धवला पुस्तक ७ पृष्ठ ९-१०)

५. **प्रश्न**—'**औदयिका भावाःबंधकारणम्**' इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर—इसका यही अर्थ है कि यदि जीव मोहके उदयमे युक्त होता है तो बध होता है। द्रव्य मोहका उदय होनेपर भी यदि जीव शुद्धात्मभावनाके बलसे **भाव मोहरूप** परिणमित न हो तो बध नही होता। यदि जीवको कर्मोदयके कारण बध होता हो तो ससारीके सर्वदा कर्मोदय विद्यमान हैं इसलिये उसे सर्वदा बध होगा, कभी मोक्ष होगा ही नही। इसलिये यह समझना चाहिये कि कर्मका उदय बधका कारण नही है, किंतु जीवका **भावमोहरूपसे परिणमन** होना बधका कारण है।

(हिन्दी प्रवचनसार पृष्ठ ५८-५९ जयसेनाचार्य कृत टीका)

६ प्रश्न—पारिणामिकभावको कहीं किसी गुणस्थानमें पर्यायरूपसे वर्णन किया है ?

उत्तर—हाँ दूसरा गुणस्थान दर्शन मोहनीयकर्मकी उदय, उपशम, क्षयोपशम, या क्षय इन चार अवस्थाओंमेंसे किसी भी अवस्थाकी अपेक्षा नहीं रखता, इतना बताने के लिये वहाँ श्रद्धाकी पर्याय अपेक्षासे पारिणामिकभाव कहा गया है। यह जीव जो चारित्रमोहके साथ युक्त होता है सो वह तो औदयिकभाव है, उस जीवके ज्ञानदर्शन और वीर्यका क्षायोपशमिक भाव है और सर्व जीवोंके (द्रव्यार्थिकनय से) अनादि अनंत पारिणामिक भाव होता है वह इस गुणस्थानमें रहनेवाले जीवके भी होता है।

७ प्रश्न—सम्यग्दृष्टि जीव विकारीभावोंको—अपूर्णदशाको आत्माका स्वरूप नहीं मानते और इस सूत्रमें ऐसे भावोंको आत्माका स्वतत्त्व कहा है इसका क्या कारण है ?

उत्तर—विकारीभाव और अपूर्ण अवस्था आत्माकी वर्तमान भूमिका में आत्माके अपने दोषके कारण होती है, किसी जड़कर्म अथवा परद्रव्यके कारण नहीं यह बतानेके लिये इस सूत्रमें उस भावको स्वतत्त्व कहा है।

७ जीवका कर्तव्य

जीवको तत्त्वादिका निश्चय करनेका उद्यम करना चाहिये उससे औपशमिकादि सम्यक्त्व स्वयं होता है। द्रव्यकर्मके उपशमादि पुद्गलकी शक्ति (पर्याय) है जीव उसका कर्ता हर्ता नहीं है। पुरुषार्थ पूर्वक उद्यम करना जीवका काम है। जीवको स्वयं तत्त्व निर्णय करनेमें उपयोग लगाना चाहिये। इस पुरुषार्थसे मोक्षके उपायकी सिद्धि अपने आप होती है। जब जीव पुरुषार्थके द्वारा तत्त्व निर्णय करनेमें उपयोग लगानेका अभ्यास करता है तब उसकी विशुद्धता बढ़ती है, कर्मोंका रस स्वयं हीन होता है और कुछ समयमें जब अपने पुरुषार्थ द्वारा प्रथम औपशमिकभावसे प्रतीति प्रगट करता है तब दर्शनमोहका स्वयं उपशम हो जाता है। जीवका कर्तव्य तो तत्त्व निर्णयका अभ्यास है। जब जीव तत्त्वनिर्णयमें उपयोग लगाता है

तब दर्शनमोहका उपशम स्वयमेव हो जाता है; कर्मके उपशममे जीवका कोई भी कर्तव्य नही है।

८. पॉच भावोंके संबंधमें विशेष स्पष्टीकरण

कुछ लोग आत्माको सर्वथा (एकान्त) चैतन्यमात्र मानते हैं अर्थात् सर्वथा शुद्ध मानते है, वर्तमान अवस्थामे अशुद्धताके होनेपर भी उसे स्वीकार नही करते। और कोई आत्माका स्वरूप सर्वथा आनंदमात्र मानते हैं, वर्तमान अवस्थामे दु ख होने पर भी उसे स्वीकार नही करते। यह सूत्र सिद्ध करता है कि उनकी वे मान्यताएँ और उन जैसी दूसरी मान्यताएँ ठीक नही हैं। यदि आत्मा सर्वथा शुद्ध ही हो तो संसार, बध, मोक्ष और मोक्षका उपाय इत्यादि सब मिथ्या हो जायेंगे। आत्माका त्रैकालिक स्वरूप और वर्तमान अवस्थाका स्वरूप (अर्थात् द्रव्य और पर्यायसे आत्माका स्वरूप) कैसा होता है सो यथार्थतया यह पाँच भाव बतलाते हैं। यदि इन पाँच भावोमेसे एक भी भावका अस्तित्त्व स्वीकार न किया जाय तो आत्मा के शुद्ध–अशुद्ध स्वरूपका सत्य कथन नही होता, और उससे ज्ञानमे दोप आता है। यह सूत्र ज्ञानका दोष दूर करके, आत्माके त्रैकालिक स्वरूप और निगोदसे सिद्धतककी उसको समस्त अवस्थाओको अत्यल्प शब्दोमें चमत्कारिक रीतिसे बतलाता है। उन पाँच भावोमें चौदह गुणस्थान तथा सिद्ध दशा भी आ जाती है।

इस शास्त्रमे अनादिकालसे चला आनेवाला–औदयिकभाव प्रथम नही लिया है किन्तु औपशमिकभाव पहिले लिया गया है, यह ऐसा सूचित करता है कि इस शास्त्रमे स्वरूपको समझानेके लिये भेद बतलाये गये हैं तथापि भेदके आश्रयसे अर्थात् औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिकभावोके आश्रयसे विकल्प चालू रहता है अर्थात् अनादिकालसे चला आनेवाला औदयिकभाव ही चालू रहता है, इसलिये उन भावोकी ओरका आश्रय छोडकर ध्रुवरूप पारिणामिकभावकी ओर लक्ष करके एकाग्र होना चाहिए। ऐसा करने पर पहिले औपशमिकभाव प्रगट होता है, और क्रमश शुद्धताके बढनेपर क्षायिकभाव प्रगट होता है।

९ इस सूत्रमें नय–प्रमाणकी विवक्षा

वर्तमान पर्याय[१] और उसके अतिरिक्त जो द्रव्य सामान्य तथा उसके गुणोंका सादृश्यतया त्रिकाल ध्रुवरूपसे बने रहना[२] –ऐसे २ पहलू प्रत्येक द्रव्यमें हैं, आत्मा भी एक द्रव्य है इसलिए उसमें भी ऐसे दो पहलू हैं उनमें से वर्तमान पर्यायका विषय करनेवाला पर्यायार्थिकनय है। इस सूत्रमें कथित पाँच भावोंमेंसे औपशमिक क्षायिक, क्षायोपमिक और औदयिक यह चार भाव पर्यायरूप–वर्तमान अवस्थामात्रके लिये हैं इसलिये ये पर्यायार्थिकनयका विषय हैं उस वर्तमान पर्यायको छोड़कर द्रव्य-सामान्य तथा उसके अनंतगुणोंका जो सादृश्यता त्रिकाल ध्रुवरूप स्थिर रहना है उसे पारिणामिकभाव कहते हैं उस भावको कारणपरमात्मा कारणसमयसार या ज्ञायकभाव भी कहा जाता है यह त्रिकाल सादृश्यरूप होनेसे द्रव्यार्थिकनयका विषय है यह दोनों पहलू (पर्यायार्थिकनयका विषय और द्रव्यार्थिकनयका विषय दोनों) एक होकर सपूर्ण जीव द्रव्य है इसलिये ये दोनों पहलू प्रमाणके विषय हैं।

इन दोनों पहलुओंका नय और प्रमाणके द्वारा यथार्थ ज्ञान करके जो जीव अपनी वर्तमान पर्यायको अपने अभेद त्रकालिक पारिणामिकभावकी ओर ले जाता है उसे सम्यग्दर्शन होता है और वह क्रमश: स्वभावके अवलंबनसे आगे बढ़कर मोक्षदशारूप क्षायिकभावको प्रगट करता है ॥ १ ॥

भावोंके भेद

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥ २ ॥

अर्थ—उपरोक्त पाँच भाव [यथाक्रमम्] क्रमश: [द्वि नव अष्टादश एकविंशति त्रिभेदा] दो नव अट्ठारह इक्कीस और तीन भेदवाले हैं। इन भेदोंका वर्णन आगेके सूत्रोंके द्वारा करते हैं ॥ २ ॥

औपशमिकभावके दो भेद

सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥

अर्थ—[सम्यक्त्व] औपशमिक सम्यक्त्व और [चारित्रे] औपशमिक चारित्र–इसप्रकार औपशमिकभावके दो भेद हैं।

टीका

(१) **औपशमिकसम्यक्त्व**—जब जीवके अपने सत्यपुरुषार्थसे औपशमिक सम्यक्त्व प्रगट होता है तब जडकर्मोंके साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध ऐसा है कि वे मिथ्यात्वकर्मका और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभका स्वय उपशम हो जाता है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीवोके तथा किसी सादिमिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्वकी एक और अनन्तानुबन्धीकी चार इसप्रकार कुल पाँच प्रकृतियाँ उपशमरूप होती हैं, और शेप सादि मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्व सम्यक्‌मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति–यह तीन तथा अनन्तानुबन्धीकी चार, यो कुल सात प्रकृतियोका उपशम होता है। जीवके इस भावको औपशमिक सम्यक्त्व कहा जाता है।

(२) **औपशमिक चारित्र**—जब जिस चारित्रभावसे उपशम श्रेणीके योग्य भाव प्रगट करता है उसे औपशमिक चारित्र कहते हैं। उस समय मोहनीय कर्मकी अप्रत्याख्यानावरणादि २१ प्रकृतियोका स्वय उपशम हो जाता है।

प्रश्न—जडकर्म प्रकृतिका नाम 'सम्यक्त्व' क्यो है ?

उत्तर—सम्यग्दर्शनके साथ–सहचरित उदय होनेसे उपचारसे कर्मप्रकृतिको 'सम्यक्त्व' नाम दिया गया है ॥३॥

[श्री धवला पुस्तक ६ पृष्ठ ३९]

क्षायिकभावके नव भेद

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥४॥

अर्थ—[ज्ञान दर्शन दान लाभ भोग उपभोग वीर्याणि] केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिकउपभोग, क्षायिकवीर्य, तथा [च] च कहने पर, क्षायिकसम्यक्त्व और क्षायिकचारित्र–इसप्रकार क्षायिकभावके नव भेद हैं।

टीका

जीव जब ये केवलज्ञानादिभाव प्रगट करता है तब द्रव्यकर्म स्वयं आत्मप्रदेशोंसे अत्यन्त वियोगरूप हो जाते हैं अर्थात् कर्म क्षयको प्राप्त होते हैं इसलिये इन भावोंको 'क्षायिकभाव' कहा जाता है।

(१) केवलज्ञान—सम्पूर्ण ज्ञानका प्रगट होना केवलज्ञान है तब ज्ञानावरणीय कर्मकी अवस्था क्षयरूप स्वयं होती है।

(२) केवलदर्शन—सम्पूर्ण दर्शनका प्रगट होना केवलदर्शन है, उस समय दर्शनावरणीय कर्मका स्वयं क्षय होता है।

क्षायिक दानादि पाँच भाव—इसप्रकार अपने गुणकी निर्मल पर्याय अपने लिये दानादि पाँच भावरूपसे—सम्पूर्णतया प्रगटता होती है उस समय दानांतराय इत्यादि पाँच प्रकारके अन्तरायकर्मका स्वयं क्षय होता है।

(३) क्षायिकदान—अपने शुद्ध स्वरूपका अपनेको दान देना सो उपादानरूप निश्चय क्षायिकदान है और अनंत जीवोंको शुद्ध स्वरूपकी प्राप्तिमें जो निमित्तपनाकी योग्यता सो व्यवहार क्षायिक अभयदान है।

(४) क्षायिकलाभ—अपने शुद्धस्वरूपका अपनेको लाभ होना सो निश्चय क्षायिक लाभ है उपादान है और निमित्तरूपसे शरीरके बलको स्थिर रखनेमें कारणरूप अन्य मनुष्योंको न हों ऐसे अत्यन्त शुभ सूक्ष्म नोकर्मरूप परिणमित होनेवाले अनन्त पुद्गल परमाणुओंका प्रतिसमय सम्बन्ध होना क्षायिकलाभ है।

(५) क्षायिक भोग—अपने शुद्धस्वरूपका भोग क्षायिक भोग है और निमित्तरूपसे पुष्पवृष्टि आदिक विशेषोंका प्रगट होना क्षायिक भोग है।

(६) क्षायिक उपभोग—अपने शुद्धस्वरूपका प्रतिसमय उपभोग होना सो क्षायिक उपभोग है और निमित्तरूपसे छत्र चमर सिंहासनादि विभूतियोंका होना क्षायिक उपभोग है।

(७) क्षायिक वीर्य—अपने शुद्धात्म स्वरूपमें उत्कृष्ट सामर्थ्यरूपसे प्रवृत्तिका होना सो क्षायिक वीर्य है।

(८) क्षायिकसम्यक्त्व—अपने मूलस्वरूपकी दृढतम प्रतीतिरूप पर्याय क्षायिक सम्यक्त्व है, जब वह प्रगट होती है तब मिथ्यात्वकी तीन और अनतानुबधीकी चार, इसप्रकार कुल सात कर्म प्रकृतियोंका स्वयं क्षय होता है।

(९) क्षायिकचारित्र—अपने स्वरूपका पूर्ण चारित्र प्रगट होना सो क्षायिकचारित्र है। उस समय मोहनीय कर्मकी शेष २१ प्रकृतियोका क्षय होता है। इस प्रकार जब कर्मका स्वय क्षय होता है तब मात्र उपचारसे यह कहा जाता है कि 'जीवने कर्मका क्षय किया है' परमार्थसे तो जीवने अपनी अवस्थामे पुरुषार्थ किया है, जड़ प्रकृतिमे नही।

इन नव क्षायिकभावोको नव लब्धि भी कहते हैं ॥४॥

क्षायोपशमिकभावके १८ भेद

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपंचभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥५॥

अर्थ—[**ज्ञान-अज्ञान**] मति, श्रुत, अवधि और मन पर्यय यह चार ज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ये तीन अज्ञान [**दर्शन**] चक्षु, अचक्षु और अवधि ये तीन दर्शन [**लब्धयः**] क्षायोपशमिकदान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य ये पाँच लब्धियाँ [**चतुः त्रि त्रि भेदाः**] इस प्रकार ४ + ३ + ३ + ५ = (१५) भेद तथा [**सम्यक्त्व**] क्षायोपशमिक सम्यक्त्व [**चारित्र**] क्षायोपशमिक चारित्र [**च**] और [**संयमासंयमाः**] सयमासयम इसप्रकार क्षायोपशमिकभावके १८ भेद हैं।

टीका

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—मिथ्यात्वकी तथा अनंतानुबधीकी कर्म प्रकृतियोंके उदयाभावी क्षय तथा उपशमकी अपेक्षासे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है और सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयकी अपेक्षासे उसीको वेदक सम्यक्त्व कहा जाता है।

क्षायोपशमिक चारित्र—सम्यग्दर्शन पूर्वक-चारित्रके समय जो राग है उसकी अपेक्षासे वह सराग चारित्र कहलाता है किन्तु उसमें जो राग है वह चारित्र नहीं है, जितना वीतरागभाव है उतना ही चारित्र है। इस चारित्रको क्षायोपशमिक चारित्र कहते हैं।

संयमासंयम—इस भावको देशव्रत अथवा विरताविरत चारित्र भी कहते हैं।

मतिज्ञान इत्यादिका स्वरूप पहिले अध्यायमें कहा जा चुका है।

दान, लाभ इत्यादि लब्धिका स्वरूप ऊपरके सूत्रमें कहा गया है। वहाँ क्षायिकभावसे वह लब्धि थी और यहाँ वह लब्धि क्षायोपशमिकभावसे है ऐसा समझना चाहिए ॥ ५ ॥

औदयिकभावके २१ भेद

गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्या श्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥६॥

अर्थ—[गति] तिर्यंच, नरक मनुष्य और देव यह चार गतियाँ [कषाय] क्रोध मान माया लोभ यह चार कषायें [लिंग] स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुंसकवेद यह तीन लिंग [मिथ्यादर्शन] मिथ्यादर्शन [अज्ञान] अज्ञान [असंयत] असंयम [असिद्ध] असिद्धत्व तथा [लेश्याः] कृष्ण नील कापोत पीत पद्म और शुक्ल यह छह लेश्याएँ इसप्रकार [चतु चतुः त्रि एक एक एक एक षड्भेदा] ४ + ४ + ३ + १ + १ + १ + १ + ६ (२१) इसप्रकार सब मिलाकर औदयिक भावके २१ भेद हैं।

टीका

प्रश्न—गति अघातिकर्मके उदयसे होती है जीवके अनुजीवीगुणके घातका वह निमित्त नहीं है तथापि उसे औदयिकभावमें क्यों गिना है ?

उत्तर—जीवके जिस प्रकारकी गतिका संयोग होता है उसीमें वह

ममत्व करने लगता है, जैसे वह यह मानता है कि मैं मनुष्य हूँ, मैं पशु हूँ, मैं देव हूँ, मैं नारकी हूँ'। इसप्रकार जहाँ मोहभाव होता है वहाँ वर्तमान गतिमे जीव अपनेपनकी कल्पना करता है, इसलिये तथा चारित्र मोहकी अपेक्षासे गतिको औदयिक भावमे गिन लिया गया है। [सिर्फ गति को उदय भाव मे लिया जाय तो १४ गुणस्थान तक है]

लेश्या—कषायसे अनुरंजित योग को लेश्या कहते हैं। लेश्याके दो प्रकार हैं–द्रव्यलेश्या तथा भावलेश्या। यहाँ भावलेश्याका विषय है। भाव-लेश्या छह प्रकारकी है। ऐसा नही समझना चाहिए कि लेश्याके समय आत्मामे उस उस प्रकारका रग होता है किंतु जीवके विकारी कार्य भावा-पेक्षासे ६ प्रकारके होते हैं, उस भावमे विकारका तारतम्य बतानेके लिये ६ प्रकार कहे हैं। लोकमे यदि कोई व्यक्ति खराब काम करता है तो कहा जाता है कि इसने काला काम किया है, वहाँ उसके कामका रग काला नही होता किंतु उस काममे उसका तीव्र बुरा भाव होनेसे उसे काला कहा जाता है, और इस भावापेक्षासे उसे कृष्णलेश्या कहते हैं। जैसे जैसे विकार की तीव्रतामे हलकापन होता है उसीप्रकार भावको 'नील लेश्या' इत्यादि नाम दिये जाते हैं। शुक्ललेश्या भी शुभ औदयिकभावमे होती है। शुक्ललेश्या कही धर्म नही है क्योकि वह मिथ्यादृष्टियोके भी होती है। पुण्यके तारतम्य मे जब उच्च पुण्यभाव होता है तब शुक्ललेश्या होती है। वह औदयिक-भाव है और इसलिये वह ससारका कारण है, धर्मका नही।

प्रश्न—भगवानको तेरहवें गुणस्थानमे कषाय नही होती फिर भी उनके शुक्ललेश्या क्यो कही है ?

उत्तर—भगवानके शुक्ललेश्या उपचारसे कही है। पहिले योगके साथ लेश्याका सहकारित्व था, वह योग तेरहवें गुणस्थानमें विद्यमान होनेसे वहाँ उपचारसे लेश्या भी कह दी गई है। लेश्याका कार्य कर्मबंध है। भगवान के कषाय नही है फिर भी योगके होनेसे एक समयका बंध है यह अपेक्षा लक्षमें रखकर उपचारसे शुक्ललेश्या कही गई है।

अज्ञान—ज्ञानका अभाव अज्ञान है, इस अर्थमे यहाँ अज्ञान लिया

गया है, कुज्ञानको यहाँ नहीं लिया है, कुज्ञानको क्षायोपशमिकभावमें लिया है ॥ ६ ॥

[औदयिकभाव की विशेष चर्चा देखो—पंचाध्यायी भा० २ गा० ९७७ से १०५२—सि० शास्त्री प० फूलचन्द्रजी कृत टीका पृ० ३२०–२९, ३०७ से ३२१ तथा प० देवकीनन्दनजी टीका गा० ९८० से १०२६ पत्र ४१५–४४४ ।]

पारिणामिकभावके तीन भेद

जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥ ७ ॥

अर्थ—[जीवभव्याभव्यत्वानि च] जीवत्व भव्यत्व और अभव्यत्व—इसप्रकार पारिणामिकभाव के तीन भेद हैं।

टीका

१ सूत्रके अतमें 'च' शब्दसे अस्तित्व वस्तुत्व प्रमेयत्व आदि सामान्य गुणोंका भी ग्रहण होता है।

भव्यत्व—मोक्ष प्राप्त करने योग्य जीवके 'भव्यत्व' होता है।

अभव्यत्व—जो जीव कभी भी मोक्ष प्राप्त करनेके योग्य नहीं होते उनके 'अभव्यत्व' होता है।

भव्यत्व और अभव्यत्व गुण है, वे दोनों अनुजीवी गुण हैं कर्मके सद्भाव या अभाव की अपेक्षासे ये नाम नहीं दिये गये हैं।

जीवत्व—चैतन्यत्व जीवनत्व ज्ञानादि गुणयुक्त रहना सो जीवन है।

पारिणामिक भावका अर्थ—कर्मोदयकी अपेक्षाके बिना आत्मामें जो गुण मूलतः स्वभावमात्र ही हों उन्हें 'पारिणामिक' कहते हैं। अथवा—

'द्रव्यात्म लाभमात्र हेतुकः परिणामः'

अर्थ—जो वस्तुके निजस्वरूपकी प्राप्ति मात्रमें ही हेतु हो सो पारिणामिक है। (सर्वार्थसिद्धि टीका)

२. विशेष स्पष्टीकरण

(१) पांच भावोमे ओपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक यह चार भाव पर्यायरूप (वर्तमानमें विद्यमान दशारूप) हैं और पाँचवाँ शुद्ध पारिणामिकभाव है वह त्रिकाल एकरूप ध्रुव है इसलिये वह द्रव्यरूप है। इसप्रकार आत्मपदार्थ द्रव्य और पर्याय सहित (जिस समय जो पर्याय हो उस सहित) है।

(२) जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व-इन तीन पारिणामिक भावोमे जो शुद्ध जीवत्वभाव है वह शुद्ध द्रव्यार्थिक नयके आश्रित होनेसे नित्य निरावरण शुद्ध पारिणामिकभाव है और वह बन्ध-मोक्ष पर्याय (-परिणति) से रहित है।

(३) जो दश प्राणरूप जीवत्व तथा भव्यत्व, अभव्यत्व है उसे वर्तमानमें होनेवाले अवस्थाके आश्रित होनेसे (पर्यायार्थिक नयाश्रित होनेसे) अशुद्ध पारिणामिकभाव समझना चाहिए। जैसे सर्व ससारी जीव शुद्धनयसे शुद्ध हैं उसीप्रकार यदि अवस्था दृष्टिसे भी शुद्ध है ऐसा माना जाय तो दश प्राणरूप जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्वका अभाव ही हो जाय।

(४) भव्यत्व और अभव्यत्वमेसे भव्यत्वनामक अशुद्ध पारिणामिक भाव भव्यजीवोंके होता है। यद्यपि वह भाव द्रव्यकर्मकी अपेक्षा नही रखता तथापि जीवके सम्यक्त्वादि गुण जब मलिनतामे रुके होते हैं तब उसमें जड़ कर्म जो निमित्त है उसे भव्यत्वकी अशुद्धतामे उपचारसे निमित्त कहा जाता है। वह जीव जब अपनी पात्रताके द्वारा ज्ञानीकी देशनाको सुनकर सम्यक्-दर्शन प्रगट करता है और अपने चारित्रमें स्थिर होता है तब उसे भव्यत्व शक्ति प्रगट (व्यक्त) होती है। वह जीव सहज शुद्ध पारिणामिकभाव जिसका लक्षण है ऐसे अपने परमात्म द्रव्यमय सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान और अनुचरणरूप अवस्था (पर्याय) को प्रगट करता है।

(देखो समयसार हिन्दी जयसेनाचार्यकृत सस्कृत टीका पृष्ठ ४२३)

(५) पर्यायार्थिक नयसे कहा जानेवाला लाभ—भव्यत्वभावका अभाव मोक्षदशामें होता है अर्थात् जीवमे जब सम्यग्दर्शनादि गुणकी पूर्णता

हो जाती है तब सम्यक्त्वका व्यवहार मिट जाता है।

(देखो अध्याय १० सूत्र ३)

३ अनादि अज्ञानी जीवके कौनसे भाव कभी नहीं हुए ?

(१) यह बात लक्षमें रखना चाहिए कि जीवके अनादिकालसे ज्ञान दर्शन और वीर्य क्षायोपशमिकभावरूपसे हैं किन्तु वे कहीं धर्मके कारण नहीं हैं।

(२) अपने स्वरूपकी असावधानी—जो मिथ्यादर्शनरूप मोह उसका अभावरूप औपशमिकभाव अनादि अज्ञानी जीवके कभी प्रगट नहीं हुआ। जब जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करता है तब दर्शनमोहका (मिथ्यात्वका) उपशम होता है। सम्यग्दर्शन अपूर्व है, क्योंकि जीवके कभी भी पहले यह भाव नहीं हुआ था। इस औपशमिकभावके होनेके बाद मोहसे सम्बन्ध रखनेवाले क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव उस जीवके प्रगट हुये बिना नहीं रहते वह जीव अवश्य ही मोक्षावस्थाको प्रगट करता है।

४ उपरोक्त औपशमिकादि तीन भाव किस विधिसे प्रगट होते हैं ?

(१) जब जीव अपने इन भावोंका स्वरूप समझकर त्रिकाल ध्रुव रूप (सकलनिरावरण) अखण्ड एक अविनश्वर शुद्ध पारिणामिकभावकी ओर अपना लक्ष स्थिर करता है तब उपरोक्त तीन भाव प्रगट होते हैं।

'मैं खण्ड–ज्ञानरूप हूँ' ऐसी भावनासे औपशमिकादिभाव प्रगट नहीं होते।

[श्री समयसार हिन्दी जयसेनाचार्यकृत टीका पृष्ठ ४८५]

(२) अपने अविनश्वर शुद्ध पारिणामिकभावकी ओरके झुकावको अध्यात्म भाषामें 'निश्चयनयका आश्रय' कहा जाता है। निश्चयनयके आश्रयसे शुद्ध पर्याय प्रगट होती है। निश्चयका विषय अखण्ड अविनश्वर शुद्ध पारिणामिकभाव अर्थात् ज्ञायकभाव है। व्यवहारनयके आश्रयसे शुद्धता प्रगट नहीं होती किन्तु अशुद्धता प्रगट होती है (श्री समयसार गाथा ११)

५. पाँच भावोंमेंसे कौनसे भाव बन्धरूप हैं और कौनसे नहीं ?

(१) इन पांच भावोंमेसे एक औदयिकभाव (मोहके साथका संयुक्तभाव) बन्धरूप है। जब जीव मोहभाव करता है तब कर्मका उदय उपचारसे बन्धका कारण कहलाता है। द्रव्य मोहका उदय होने पर भी यदि जीव मोहभावरूपसे परिणमित न हो तो बन्ध न हो और तब वही जडकर्मकी निर्जरा कहलाये।

(२) जिसमें पुण्य-पाप, दान, पूजा, व्रतादि भावोका समावेश होना है ऐसे आश्रव और बन्ध दो औदयिकभाव है; संवर और निर्जरा मोहके औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव हैं; वे शुद्धताके अंश होनेसे बन्धरूप नही है, और मोक्ष क्षायिकभाव है, वह सर्वथा पूर्ण पवित्र पर्याय है इसलिये वह भी बन्धरूप नही है।

(३) शुद्ध त्रैकालिक पारिणामिकभाव बन्ध और मोक्षसे निर्पेक्ष है ॥ ७ ॥

जीवका लक्षण

उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥

अर्थ—[लक्षणम्] जीवका लक्षण [उपयोगः] उपयोग है।

टीका

लक्षण—बहुतसे मिले हुए पदार्थोंमेसे किसी एक पदार्थको अलग करनेवाले हेतु (साधन) को लक्षण कहते हैं।

उपयोग—चैतन्यगुणके साथ सम्बन्ध रखनेवाले जीवके परिणाम को उपयोग कहते हैं।

उपयोगको 'ज्ञान-दर्शन' भी कहते हैं वह सभी जीवोमे होता है और जीवके अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्यमे नही होता, इसलिये उसे जीवका असाधारण गुण अथवा लक्षण कहते हैं। और वह सद्भूत (आत्मभूत) लक्षण है इसलिये सब जीवोंमें सदा होता है। इस सूत्रमें ऐसा सामान्य

लक्षण दिया है जो सब जीवों पर लागू होता है। (तत्त्वार्थसार पृष्ठ ५४)

जैसे सोने चाँदीका एक पिंड होने पर भी उसमें सोना अपने पीले पन आदि लक्षणसे और चाँदी अपने शुक्लादि लक्षणसे दोनों अलग २ हैं ऐसा उनका भेद जाना जा सकता है इसीप्रकार जीव और कर्म–नोकर्म (शरीर) एक क्षेत्रमें होने पर भी जीव अपने उपयोग लक्षणके द्वारा कर्म–नोकर्मसे अलग है और द्रव्यकर्म–नोकर्म अपने स्पर्शादि लक्षणके द्वारा जीवसे अलग है इसप्रकार उनका भेद प्रत्यक्ष जाना जा सकता है।

जीव और पुद्गलका अनादिकालसे एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध है इसलिये अज्ञानदशामें वे दोनों एकरूप भासित होते हैं। जीव और पुद्गल एक आकाश क्षेत्रमें होने पर भी यदि उनके यथार्थ लक्षणोंसे निर्णय किये जांय तो वे दोनों भिन्न हैं ऐसा ज्ञान होता है। बहुतसे मिले हुए पदार्थोंमें से किसी एक पदार्थको अलग करनेवाले हेतुको लक्षण कहते हैं। अनन्त परमाणुओंसे बना हुआ शरीर और जीव इसप्रकार बहुतसे मिले हुए पदार्थ हैं उनमें अनन्त पुद्गल हैं और एक जीव है। उसे अलग करनेके लिये यहाँ जीवका लक्षण बताया गया है। 'जीवका लक्षण उपयोग है' इसप्रकार यहाँ कहा है।

प्रश्न—उपयोगका अर्थ क्या है?

उत्तर—चैतन्य आत्माका स्वभाव है उस चैतन्य स्वभावको अनुसरण करनेवाले आत्माके परिणामको उपयोग कहते हैं। उपयोग जीवका अबाधित लक्षण है।

आठवें सूत्रका सिद्धान्त

मैं शरीरादिके कार्य कर सकता हूँ और मैं उन्हें हिला-डुला सकता हूँ ऐसा जो जीव मानते हैं वे चेतन और जड़ द्रव्यको एकरूप मानते हैं। उनकी इस मिथ्या मान्यताको छुड़ानेके लिये और जीवद्रव्य जड़से सर्वथा भिन्न है यह बतानेके लिये इस सूत्रमें जीवका असाधारण लक्षण उपयोग है—ऐसा बताया गया है।

निज उपयोग लक्षणवाला जीवद्रव्य कभी पुद्गल द्रव्यरूप (शरीर

दिरूप) होता हुआ देखनेमे नही आता और नित्य जड लक्षणवाला शरीरादि पुद्गलद्रव्य कभी जीवद्रव्यरूप होता हुआ देखनेमे नही आता, क्योंकि उपयोग और जडत्वके एकरूप होनेमे प्रकाश और अंधकारकी भाँति विरोध है। जड और चैतन्य कभी भी एक नही हो सकते। वे दोनो सर्वथा भिन्न २ हैं, कभी भी, किसी भी प्रकारसे एकरूप नही होते, इसलिये हे जीव तू सब प्रकारसे प्रसन्न हो ! अपना चित्त उज्ज्वल करके सावधान हो और स्वद्रव्य को ही 'यह मेरा है' ऐसा अनुभव कर। ऐसा श्री गुरु का उपदेश है। (समयसार)

जीव शरीर और द्रव्यकर्म एक आकाश प्रदेशमे बंधरूप रहते है इसलिये वे बहुतसे मिले हुये पदार्थोंमेसे एक जीव पदार्थको अलग जाननेके लिये इस सूत्रमे जीवका लक्षण कहा गया है ॥ ८ ॥

(सर्वार्थसिद्धि भाग २ पृष्ठ २७–२८)

उपयोगके भेद

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९ ॥

अर्थ—[सः] वह उपयोग [**द्विविधः**] ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगके भेदसे दो प्रकारका है, और वे क्रमशः [**अष्ट चतुः भेदः**] आठ और चार भेद सहित हैं अर्थात् ज्ञानोपयोगके मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल (यह पाँच सम्यग्ज्ञान) और कुमति, कुश्रुत तथा कुअवधि (यह तीन मिथ्याज्ञान) इसप्रकार आठ भेद हैं। तथा दर्शनोपयोगके चक्षु, अचक्षु, अवधि तथा केवल इसप्रकार चार भेद हैं। इसप्रकार ज्ञानके आठ और दर्शनके चार भेद मिलकर उपयोगके कुल बारह भेद हैं।

टीका

१ इस सूत्रमें उपयोगके भेद बताये हैं, क्योंकि यदि भेद बताये हो तो जिज्ञासु जल्दी समझ लेता है, इसलिये कहा है कि—"सामान्य शास्त्रतोनून, विशेषो बलवान् भवेत्" अर्थात् सामान्यशास्त्रसे विशेष बलवान् है। यहाँ सामान्यका अर्थ है संक्षेपमें कहनेवाला और विशेषका अर्थ है भेद-

विस्तार करके बतानेवाला। साधारण मनुष्य विशेषसे भलीभाँति निर्णय कर सकते हैं।

(२) दर्शन शब्दके यहाँ लागू होनेवाला अर्थ—

शास्त्रोंमें एक ही शब्दका कहीं कोई अर्थ होता है और कहीं कोई। 'दर्शन' शब्दके भी अनेक अर्थ हैं।

(१) अध्याय १ सूत्र १–२ में मोक्षमार्ग सम्बन्धी कथन करते हुये 'सम्यग्दर्शन' शब्द कहा है वहाँ दर्शन शब्दका अर्थ श्रद्धा है। (२) उपयोग के वर्णनमें 'दर्शन' शब्दका अर्थ वस्तुका सामान्य ग्रहणमात्र है। और (३) इन्द्रियके वर्णनमें 'दशन' शब्दका अर्थ नेत्रोंके द्वारा देखना मात्र है। इन तीन अर्थोंमें से यहाँ प्रस्तुत सूत्रमें दूसरा अर्थ लागू होता है।

(मोक्षमार्ग प्रकाशक)

दर्शनोपयोग—किसी भी पदार्थको जाननेकी योग्यता (लब्धि) होने पर उस पदाथकी ओर सन्मुखता प्रवृत्ति अथवा दूसरे पदार्थोंकी ओर से हटकर विवक्षित पदार्थकी ओर उत्सुकता प्रगट होती है सो दर्शन है। वह उत्सुकता चेतना में ही होती है। जबतक विवक्षित पदार्थको थोड़ा भी नहीं जाना जाता तबतकके चेतनाके व्यापारको 'दर्शनोपयोग' कहा जाता है। जैसे एक मनुष्य का उपयोग भोजन करनेमें लगा हुआ है और उसे एकदम इच्छा हुई कि बाहर मुझे कोई बुलाता तो नहीं है ? मैं यह जान लूं। अथवा किसीकी आवाज कानमें आने पर उसका उपयोग भोजनसे हट कर शब्दकी ओर लग जाता है इसमें चेतनाके उपयोगका भोजनसे हटना और शब्दकी ओर लगना किन्तु जबतक शब्दकी ओरका कोई भी ज्ञान नहीं होता तबतकका व्यापार दर्शनोपयोग' है।

पूर्व विषय से हटना और बाद के विषय की ओर उत्सुक होना ज्ञान की पर्याय नहीं है इसलिये उस चेतना पर्याय को दर्शनोपयोग' कहा जाता है।

आत्माके उपयोग का पदार्थोन्मुख होना दर्शन है।

द्रव्यसंग्रहकी ४३ वी गाथाकी टीकामे 'सामान्य' शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसका अर्थ 'आत्मा' है सामान्य ग्रहणका मतलब है आत्मग्रहण, और आत्मग्रहण दर्शन है।

३. साकार और निराकार

ज्ञानको साकार और दर्शनको निराकार कहा जाता है। उसमेसे 'आकार' का अर्थ लम्बाई चौडाई और 'मोटाई' नही है, किन्तु जिसप्रकार का पदार्थ होता है उसीप्रकार ज्ञानमे ज्ञात हो उसे आकार कहते हैं। अमूर्तित्व आत्माका गुण होनेसे ज्ञान स्वय वास्तवमे अमूर्त है। जो स्वय अमूर्त हो और फिर द्रव्य न हो, मात्र गुण हो उसका अपना पृथक् आकार नही हो सकता। अपने अपने आश्रयभूत द्रव्यका जो आकार होता है वही आकार गुणोका होता है। ज्ञान गुणका आधार आत्मद्रव्य है इसलिये आत्माका आकार ही ज्ञानका आकार है। आत्मा चाहे जिस आकारके पदार्थको जाने तथापि आत्माका आकार तो (समुद्घातको छोड़कर) शरीराकार रहता है, इसलिये वास्तविकतया ज्ञान ज्ञेयपदार्थके आकाररूप नही होता किन्तु आत्माके आकाररूप होता है, जैसा ज्ञेय पदार्थ होता है वैसा ही ज्ञान जान लेता है इसलिये ज्ञानका आकार कहा जाता है (तत्त्वार्थसार पृष्ठ ३०८–३०९) दर्शन एक पदार्थसे दूसरे पदार्थको पृथक् नही करता, इसलिये उसे **निराकार** कहा जाता है।

पचाध्यायी भाग २ के श्लोक ३९१ मे आकारका अर्थ निम्नप्रकार कहा गया है:—

आकारोर्थविकल्पः स्यादर्थः स्वपरगोचरः।
सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्धि लक्षणम् ॥

अर्थ— अर्थ, विकल्पको आकार कहते हैं, स्व–पर पदार्थको अर्थ कहा जाता है, उपयोगावस्थाको विकल्प कहते हैं, और यही ज्ञानका लक्षण है।

भावार्थ—आत्मा अथवा अन्य पदार्थका उपयोगात्मक भेदविज्ञान

होना ही आकार है पदार्थोंके भेदाभेदके लिये होनेवाले निश्चयात्मक बोध को ही आकार कहते हैं अर्थात् पदार्थोंका जानना ही आकार है, और वही ज्ञानका स्वरूप है।

अर्थ=स्व और पर विषय विकल्प=व्यवसाय; अर्थविकल्प=स्व-पर व्यवसायात्मकज्ञान। इस ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। (प देवकीनन्दन कृत पंचाध्यायी टीका भाग १ श्लोक ६६१ का फुटनोट)

आकार सम्बन्धी विशेष स्पष्टीकरण

ज्ञान अमूर्तिक आत्माका गुण है, उसमें ज्ञेय पदार्थका आकार नहीं उतरता। मात्र विशेष पदार्थ उसमें भासने लगते हैं—यही उसकी आकृति माननेका मतलब है। सारांश—ज्ञानमें पर पदार्थकी आकृति वास्तवमें नहीं मानी जा सकती किन्तु ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्धके कारण ज्ञेयका आकृति धर्म उपचार नयसे ज्ञानमें कल्पित किया जाता है इस उपचारका फलितार्थ इतना ही समझना चाहिए कि पदार्थोंका विशेष आकार (—स्वरूप) निश्चय करानेवाले जो चैतन्य परिणाम हैं वे ज्ञान कहलाते हैं किन्तु साकारका यह अर्थ नहीं है कि उस पदार्थके विशेष आकार तुल्य ज्ञान स्वयं हो जाता है।

(तत्त्वार्थसार पृष्ठ ५४)

४ दर्शन और ज्ञानके बीचका भेद

अंतर्मुख चित्प्रकाशको दर्शन और बहिर्मुख चित्प्रकाशको ज्ञान कहा जाता है। सामान्य-विशेषात्मक बाह्य पदार्थको ग्रहण करनेवाला ज्ञान है और सामान्य विशेषात्मक आत्मस्वरूपको ग्रहण करनेवाला दर्शन है।

शंका—इसप्रकार दर्शन और ज्ञानका स्वरूप माननेसे शास्त्रके इस वचनके साथ विरोध आता है कि—'वस्तुके सामान्य ग्रहणको दर्शन कहते हैं।

वचनमे जहाँ 'सामान्य' सज्ञा दी गई है वहाँ सामान्यपद से आत्मा को ही ग्रहण करना चाहिए।

शंका—यह किस पर से जाना जाय कि सामान्य पदसे आत्मा ही समझना चाहिए ?

समाधान—यह शका ठीक नही है, क्योकि "पदार्थ के आकार अर्थात् भेद किये विना" इस शास्त्र वचनसे उसकी पुष्टि हो जाती है। इसी को स्पष्ट कहते है–वाह्य पदार्थोंका आकाररूप प्रतिकर्म व्यवस्थाको न करने पर (अर्थात् भेदरूप से प्रत्येक पदार्थको ग्रहण किये विना) जो सामान्य ग्रहण होता है उसे 'दर्शन' कहते है। और इस अर्थको दृढ करने के लिये कहते हैं कि "यह अमुक पदार्थ है" यह कुछ है इत्यादिरूपसे पदार्थों को विशेपता किये विना जो ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते हैं।

शंका— यदि दर्शन का लक्षण ऊपर कहे अनुसार मानोगे तो 'अनध्यवसाय' को दर्शन मानना पडेगा।

समाधान—नही, ऐसा नही हो सकता, क्योकि दर्शन वाह्य पदार्थों का निश्चय न करके भी स्वरूपका निश्चय करनेवाला है, इसलिये अनध्यवसायरूप नही है। विषय और विषयिके योग्यदेशमे होनेसे पूर्वकी अवस्थाको दर्शन कहते हैं।

[श्री धवला भाग १ पृष्ठ १४५ से १४८, ३८० से ३८३ तथा वृहत्द्रव्यसग्रह हिन्दी टीका पृष्ठ १७० से १७५ गाथा ४४ की टीका]

ऊपर जो दर्शन और ज्ञानके बीच भेद बताया गया है वह किस अपेक्षा से है ?

आत्माके ज्ञान और दर्शन दो भिन्न गुण बताकर उस ज्ञान और दर्शन का भिन्न भिन्न कार्य क्या है यह ऊपर बताया है, इसलिये एक गुण से दूसरे गुणके लक्षण भेदकी अपेक्षासे (भेद नयसे) वह कथन है ऐसा समझना चाहिए।

५. अभेदापेक्षासे दर्शन और ज्ञानका अर्थ

दर्शन और ज्ञान दोनो आत्माके गुण हैं और वे आत्मासे अभिन्न

हैं इसलिये अभेदापेक्षासे आत्मा दर्शनज्ञानस्वरूप है अर्थात् दर्शन आत्मा है और ज्ञान आत्मा है ऐसा समझना चाहिए। द्रव्य और गुण एक दूसरे से अलग नहीं हो सकते और द्रव्य का एक गुण उसके दूसरे गुणसे अलग नहीं हो सकता। यह अपेक्षा लक्षमें रखकर दर्शन स्व–पर दर्शक है और ज्ञान स्व–पर ज्ञायक है। अभेददृष्टिकी अपेक्षासे इसप्रकार अर्थ होता है।

[देखो श्री नियमसार गाथा १७१ तथा श्री समयसारमें दर्शन तथा ज्ञान का निश्चयनयसे अर्थ पृष्ठ ४२० से ४२७]

६ दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग केवली भगवान् को युगपत् होता है

केवली भगवान् को दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग एक ही साथ होता है और छद्मस्थको क्रमशः होता है। केवली भगवान्को उपचारसे उपयोग कहा जाता है ॥ ९ ॥

जीवके भेद

संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥

अर्थ—जीव [संसारिणः] संसारी [च] और [मुक्ताः] मुक्त ऐसे दो प्रकारके हैं। कर्म सहित जीवोंको संसारी और कर्म रहित जीवोंको मुक्त कहते हैं।

टीका

१ जीवोंकी वर्तमान दशाके ये भेद हैं ये भेद पर्यायदृष्टिसे हैं। द्रव्यदृष्टिसे सब जीव एक समान हैं। पर्यायोंके भेद दिखानेवाला व्यवहार, परमार्थको समझानेके लिये कहा जाता है उसे पकड़ रखनेके लिये नहीं। इससे यह समझना चाहिए कि पर्यायमें चाहे जैसे भेद हो तथापि त्रैकालिक ध्रुवस्वरूपमें कभी भेद नहीं होता। 'सर्व जीव हैं सिद्ध सम, जो समझे सो होय।' [आत्मसिद्धि शास्त्र गाथा १३५]

२ संसारी जीव अनंतानंत हैं। मुक्त शब्द बहुवचनसूचक है इससे यह समझना चाहिये कि मुक्त जीव अनन्त हैं। 'मुक्ताः' शब्द यह भी

सूचित करता है कि पहिले उन जीवोंको ससारी अवस्था थी और फिर उन्होने यथार्थ समझ करके उस अशुद्ध अवस्थाका व्यय करके मुक्तावस्था प्रगट की है।

३. संसारका अर्थ—'सं'= भलीभाति, 'सृ+घञ् = खिसक जाना। अपने शुद्ध स्वरूपसे भलीभांति खिसक जाना (हट जाना) सो ससार है। जीवका ससार स्त्री, पुत्र, लक्ष्मी, मकान इत्यादि नही हैं वे तो जगत् के स्वतन्त्र पदार्थ हैं। जीव उन पदार्थोंमे अपनेपनकी कल्पना करके उन्हें इष्ट अनिष्ट मानता है इत्यादि अशुद्धभावको संसार कहते हैं।

४ सूत्रमे 'च' शब्द है, च शब्दके समुच्चय और अन्वाचय ऐसे दो अर्थ हैं, उनमेसे यहाँ अन्वाचयका अर्थ बतानेके लिये च शब्द का प्रयोग किया है। (एक को प्रधानरूपसे और दूसरेको गौणरूपसे बताना 'अन्वाचय' शब्दका अर्थ है) ससारी और मुक्त जीवोमेसे संसारी जीव प्रधानता से उपयोगवान् है और मुक्त जीव गौणरूपसे उपयोगवान् है,—यह बतानेके लिये इस सूत्रमे 'च' शब्दका प्रयोग किया है।

(उपयोग का अनुसधान सू० ८–९ से चला आता है।)

५ जीवकी ससारी दशा होनेका कारण आत्मस्वरूप सबंधी भ्रम है, उस भ्रमको मिथ्यादर्शन कहते हैं। उस भूलरूप मिथ्यादर्शनके कारणसे जीव पाँच प्रकारके परिवर्तन किया करते हैं—ससार चक्र चलता रहता है।

६ जीव अपनी भूलसे अनादिकालसे मिथ्यादृष्टि है, वह स्वतः अपनी पात्रताका विकास करके सत्समागमसे सम्यग्दृष्टि होता है। मिथ्यादृष्टिरूप अवस्थाके कारण परिभ्रमण अर्थात् परिवर्तन होता है, उस परिभ्रमणको संसार कहते हैं, जीवको परके प्रति एकत्वबुद्धि होनेसे मिथ्यादृष्टित्व है। जब तक जीवका लक्ष पर पदार्थ पर है अर्थात् वह यह मानता है कि परसे मुझे हानि–लाभ होता है, राग करने लायक है तबतक उसे परवस्तुरूप द्रव्यकर्म और नोकर्मके साथ निमित्त नैमित्तिक सबंध होता है। उस परिवर्तनके पाँच भेद होते हैं–(१) द्रव्यपरिवर्तन, (२) क्षेत्रपरिवर्तन, (३) कालपरिवर्तन, (४) भावपरिवर्तन, और (५) भावपरिवर्तन। परिवर्तनको ससरण अथवा परिवर्तन भी कहते हैं।

७ द्रव्यपरिवर्तनका स्वरूप

यहाँ द्रव्यका अर्थ पुद्गलद्रव्य है। जीवका विकारी अवस्थामें पुद्गलोंके साथ जो संबंध होता है उसे द्रव्यपरिवर्तन कहते हैं। उसके दो भेद हैं-(१) नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन और (२) कर्मद्रव्यपरिवर्तन।

(१) नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनका स्वरूप—औदारिक तैजस और कार्मण अथवा वैक्रियक, तैजस और कार्मण इन तीन शरीर और छह पर्याप्तिके योग्य जो पुद्गलस्कंध एक समय में एक जीवने ग्रहण किये वह जीव पुनः उसीप्रकारके स्निग्ध-रूक्ष स्पर्श, वर्ण रस गंध आदिसे तथा तीव्र मंद या मध्यमभाववाले स्कंधोंको ग्रहण करता है तब एक नोकर्म द्रव्यपरिवर्तन होता है। (बीचमें जो अन्य नोकर्मका ग्रहण किया जाता है उन्हें गणनामें नहीं लिया जाता।) उसमें पुद्गलोंकी संख्या और जाति (Quality) बराबर उसीप्रकारके नोकर्मोंकी होनी चाहिये।

२ कर्मद्रव्यपरिवर्तनका स्वरूप

एक जीवने एक समयमें आठ प्रकारके कर्मस्वभाववाले जो पुद्गल ग्रहण किये थे वैसे ही कर्मस्वभाववाले पुद्गलोंको पुनः ग्रहण करे तब एक कर्म द्रव्यपरिवर्तन होता है। (बीचमें उन भावोंमें किंचित् मात्र अन्य प्रकारके दूसरे जो जो रजकण ग्रहण किये जाते हैं उन्हें गणनामें नहीं लिया जाता) उन आठ प्रकारके कर्म पुद्गलोंकी संख्या और जाति बराबर उसीप्रकारके कर्मपुद्गलोंकी होनी चाहिए।

स्पष्टीकरण—माना एक समयमें शरीर धारण करते हुए नोकर्म और द्रव्यकर्मके पुद्गलोंका संबंध एक अज्ञानी जीवको हुआ तत्पश्चात् नोकर्म और द्रव्यकर्मोंका संबंध उस जीवसे बदलता रहता है। इसप्रकार परिवर्तन होनेपर वह जीव जब पुनः वैसे ही शरीर धारण करके वैसे ही नोकर्म और द्रव्यकर्मोंको प्राप्त करता है तब एक द्रव्यपरिवर्तन पूरा किया कहलाता है। (नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन और कर्मद्रव्यपरिवर्तनका काल समान ही होता है)।

८. क्षेत्रपरिवर्तनका स्वरूप

जीवकी विकारी अवस्थामे आकाशके क्षेत्रके साथ होनेवाले सबध को क्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं। लोकके आठ मध्य प्रदेशोको अपने शरीरके आठ मध्यप्रदेश बनाकर कोई जीव सूक्ष्मनिगोदमे अपर्याप्त सर्व जघन्य शरीर वाला हुआ और क्षुद्रभव (श्वासके अठारहवें भागकी स्थिति) को प्राप्त हुआ, तत्पश्चात् उपरोक्त आठ प्रदेशोसे लगे हुए एक एक अधिक प्रदेशको स्पर्श करके समस्त लोकको जब अपने जन्मक्षेत्रके रूपमे प्राप्त करता है तब एक क्षेत्र परिवर्तन पूर्ण हुआ कहलाता है। (बीचमे क्षेत्रका क्रम छोडकर अन्यत्र जहाँ २ जन्म लिया उन क्षेत्रोको गणनामे नही लिया जाता।)

स्पष्टीकरण—मेरुपर्वतके नीचेसे प्रारभ करके क्रमश· एक २ प्रदेश आगे बढते हुये सपूर्ण लोकमे जन्म धारण करनेमे एक जीवको जितना समय लगे उतने समयमे एक क्षेत्रपरिवर्तन पूर्ण हुआ कहलाता है।

९. कालपरिवर्तनका स्वरूप

एक जीवने एक अवसर्पिणीके पहिले समयमे जन्म लिया, तत्पश्चात् अन्य अवसर्पिणीके दूसरे समयमे जन्म लिया, पश्चात् अन्य अवसर्पिणीके तीसरे समयमे जन्म लिया, इसप्रकार एक २ समय आगे बढते हुए नई अवसर्पिणीके अतिम समयमे जन्म लिया, तथा उसीप्रकार उत्सर्पिणी कालमे उसी भाँति जन्म लिया, और तत्पश्चात् ऊपरकी भाँति ही अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीके प्रत्येक समयमे क्रमश मरण किया। इसप्रकार भ्रमण करते हुए जो काल लगता है उसे कालपरिवर्तन कहते हैं। (इस कालक्रमसे रहित बीचमे जिन २ समयोमे जन्म-मरण किया जाता है वे समय गणनामें नही आते।) अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालका स्वरूप अध्याय ३ सूत्र २७ में कहा है।

१०. भवपरिवर्तनका स्वरूप

नरकमे सर्वजघन्य आयु दश हजार वर्षकी है। उतनी आयुवाला एक जीव पहिले नरकके पहिले पटलमे जन्मा, पश्चात् किसी अन्य समय मे उतनी ही आयु प्राप्त करके उसी पटलमें जन्मा, (बीचमें अन्य गतियोमे

भ्रमण किया सो वे भव गणनामें नहीं लिये जाते) इसप्रकार दश हजार वर्षके जितने समय होते हैं उतनी ही बार वह जीव उसनी (दश हजार वर्षकी) ही आयु सहित वहीं जन्मा (बीचमें अन्य स्थानोंमें जो जन्म लिया सो गणनामें नहीं आता) तत्पश्चात् दश हजार वर्ष और एक समयकी आयुसहित जन्मा उसके बाद दश हजार वर्ष और दो समय — यों क्रमशः एक एक समयकी आयु बढ़ते २ अन्तमें तेतीस सागरकी आयु सहित नरकमें जन्मा (और मरा) (इस क्रमसे रहित जो जन्म होते हैं वे गणनामें नहीं आते) नरककी उत्कृष्ट आयु ३३ सागरकी है उतनी आयु सहित जन्म ग्रहण करे—इसप्रकार गिनने पर जो काल होता है उतने काल में एक नारकभवपरिवर्तन पूर्ण होता है ।

और फिर वहाँसे निकलकर तिर्यंचगतिमें अंतर्मुहूर्तकी आयुसहित उत्पन्न होता है अर्थात् जघन्य अंतर्मुहूर्तकी आयु प्राप्त करके उसे पूर्ण करके उस अंतर्मुहूर्तके जितने समय हैं उतनी बार जघन्य आयु धारण करे, फिर क्रमशः एक एक समय अधिक आयु प्राप्त करके तीन पल्यतक सभी स्थितियों (आयु) में जन्म धारण करके उसे पूर्ण करे तब एक तिर्यंचगतिभवपरिवर्तन पूर्ण होता है । (इस क्रमसे रहित जो जन्म होता है वह गणनामें नहीं लिया जाता) तिर्यंचगतिमें जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट आयु तीन पल्यकी होती है ।

मनुष्यगति भव परिवर्तनके सम्बन्धमें भी तिर्यंचगतिकी भाँति ही समझना चाहिये ।

देवगतिमें नरकगतिकी भाँति है किन्तु उसमें इतना अन्तर है कि–देवगतिमें उपरोक्त क्रमानुसार ३१ सागर तक आयु धारण करके उसे पूर्ण करता है । इस प्रकार जब चारों गतियोंमें परिवर्तन पूर्ण करता है तब एक भवपरिवर्तन पूर्ण होता है ।

नोट—३१ सागरसे अधिक आयुके धारक नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर ऐसे १४ विमानोंमें उत्पन्न होनेवाले देवोंके परिवर्तन नहीं होता क्योंकि वे सब सम्यग्दृष्टि हैं ।

भवभ्रमणका कारण मिथ्यादृष्टित्व है

इस सम्बन्धमे कहा है कि—

णिरयादि जहण्णादिसु जावदु उवरिल्लिया दु गेवेज्जा ।
मिच्छत्त संसिदेण हु बहुसो वि भवट्ठिदी भमिदो ॥१॥

अर्थ—मिथ्यात्वके संसर्ग सहित नरकादि की जघन्य आयुसे लेकर उत्कृष्ट ग्रैवेयक (नवमे ग्रैवेयक) तकके भवोकी स्थिति (आयु) को यह जीव अनेक बार प्राप्त कर चुका है ।

११. भावपरिवर्तनका स्वरूप

(१) असख्यात योगस्थान एक अनुभागबन्ध (अध्यवसाय) स्थान को करता है । [कषायके जिसप्रकार(Degree) से कर्मोंके बन्धमे फलदानशक्तिकी तीव्रता आती है उसे अनुभागबन्धस्थान कहा जाता है ।]

(२) असंख्यात × असख्यात अनुभागबन्ध अध्यवसायस्थान एक कषायभाव (अध्यवसाय) स्थानको करते हैं । [कषायका एक प्रकार (Degree) जो कर्मोंकी स्थितिको निश्चित करता है उसे कषायअध्यवसाय स्थान कहते हैं ।]

(३) असख्यात × असख्यात कषायअध्यवसायस्थान * पचेन्द्रिय सज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीवके कर्मोंकी जघन्यस्थितिबन्ध करते हैं, यह स्थिति-अंतःकोडाकोडीसागरकी होती है, अर्थात् कोडाकोडीसागरसे नीचे और कोडीसे ऊपर उसकी स्थिति होती है ।

(४) एक जघन्यस्थितिबन्ध होनेके लिये यह आवश्यक है कि-जीव असख्यात योगस्थानोमेसे (एक २ योगस्थानमेसे) एक अनुभागबन्धस्थान

---

* जघन्यस्थितिबन्धके कारण जो कषायभावस्थान है उनकी सख्या असख्यात लोकके प्रदेशोंके बराबर है, एक २ स्थानमें अनतानत अविभाग प्रतिच्छेद हैं, जो अनतभाग हानि, असख्यातभाग हानि, सख्यातभाग हानि, सख्यातगुण हानि, असख्यातगुण हानि, अनन्तगुण हानि तथा अनन्तभाग वृद्धि, असख्यातभाग वृद्धि, सख्यातभाग वृद्धि, सख्यातगुण वृद्धि, असख्यातगुण वृद्धि और अनतगुण वृद्धि इसप्रकार छह स्थान वाली हानि वृद्धि सहित होता है ।

होनेके लिये पार हो' और तत्पश्चात् एक २ अनुभागबन्धस्थानमेंसे एक कषायस्थान होनेके लिये पार होना चाहिये, और एक जघन्यस्थितिबन्ध होनेके लिये एक २ कषायस्थानमेंसे पार होना चाहिये।

(५) तत्पश्चात् उस जघन्यस्थितिबन्धमें एक एक समय अधिक करके (छोटेसे छोटे जघन्यबन्धसे आगे प्रत्येक अंशसे) बढ़ते जाना चाहिये। इसप्रकार आठों कर्म और (मिथ्यादृष्टिके योग्य) सभी उत्तर कर्मप्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति पूरी हो तब एक भावपरिवर्तन पूर्ण होता है।

(६) उपरोक्त पैरा ३ में कथित जघन्यस्थितिबंधको तथा पैरा २ में कथित सर्वजघन्य कषायभावस्थानको और पैरा १ में कथित अनुभागबन्धस्थानको प्राप्त होनेवाला उसके योग्य सर्वजघन्य योगस्थान होता है। अनुभाग A कषाय B और स्थिति C इन तीनोंका तो जघन्य ही बंध होता है किन्तु योगस्थान बदलकर जघन्य योगस्थानके बाद तीसरा योगस्थान होता है और अनुभागस्थान A कषायस्थान B तथा स्थितिस्थान C, जघन्य ही बंधते हैं, पश्चात् चौथा पाँचवाँ छट्ठा सातवाँ आठवाँ इत्यादि योगस्थान होते २ क्रमशः असंख्यात प्रमाणतक बदले फिर भी उन्हें इसी गणना में नहीं लेना चाहिये अथवा किसी दो जघन्ययोग स्थानके बीचमें अन्य कषायस्थान A अन्य अनुभागस्थान B या अन्य योगस्थान C आ जाय तो उसे भी गणनामें नहीं लेना चाहिये। *

भाव परिवर्तनका कारण मिथ्यात्व है

इस सम्बन्धमें कहा है कि—

सव्वा पयडिट्ठिदिओ अणुभाग पदेस बंधठाणादि।
मिच्छत्त संसिदेण य भमिदा पुण भाव संसार ॥१॥

अर्थ—समस्त प्रकृतिबंध स्थितिबंध अनुभागबंध और प्रदेशबंधके स्थानरूप मिथ्यात्वके संसर्गसे जीव निश्चयसे (वास्तवमें) भावसंसारमें भ्रमण करता है।

१२—संसारके भेद करने पर भावपरिभ्रमण उपादान अर्थात् निश्चय संसार है और द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भव परिभ्रमण निमित्तमात्र है अर्थात् व्यवहार ससार है क्योकि वह परवस्तु है, निश्चयका अर्थ है वास्तविक और व्यवहारका अर्थ है कथनरूप निमित्तमात्र। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके प्रगट होने पर भाव ससार दूर हो जाता है और तत्पश्चात् अन्य चार अघाति कर्मरूप निमित्तोका स्वय अभाव हो जाता है।

१३—मोक्षका उपदेश ससारीके लिये होता है। यदि संसार न हो तो मोक्ष, मोक्षमार्ग, या उसका उपदेश ही नही होता, इसलिये इस सूत्रमे पहिले ससारी जीव और फिर मुक्त जीवका क्रम लिया गया है।

१४—असख्यात और अनतसंख्याको समझनेके लिये गणित शास्त्र उपयोगी है। उसमे १०/३ अर्थात् दशमे तीनका भाग देने पर=३ ३ ३ ३ इसप्रकार तीनके अक चलते ही हैं किन्तु उसका अत नही आता। यह 'अनत' का दृष्टात है। और असंख्यातकी सख्या समझनेके लिये एक गोलाकारकी परिधि और व्यासका प्रमाण २२/७ होता है [व्यास करनेपर परिधि २२/७ गुणी होती है] उसका हिसाब शतांश (Decimal) मे करने पर जो सख्या आती है वह असख्यात है। गणित शास्त्रमे इस सख्याको 'Irrational' कहते हैं।

१५. व्यवहारराशिके जीवोको यह पाँच परिवर्तन लागू होते हैं। प्रत्येक जीवने ऐसे अनत परिवर्तन किये हैं। और जो जीव मिथ्यादृष्टित्व वनाये रखेंगे उनके अभी भी वे परिवर्तन चलते रहेगे। नित्य-निगोदके जीव अनादि निगोदमेंसे निकले ही नही हैं, उनमें इन पाँच परिवर्तनोकी शक्ति विद्यमान है इसलिये उनके भी उपचारसे यह पाँच परिवर्तन लागू होते हैं। व्यवहार राशिके जो जीव अभीतक सभी गतियोमे नही गये, उन्हें भी उप-

---

(२४८ वें पेज की टिप्पणी)

* योगस्थानोंमें भी अविभागप्रतिच्छेद होते हैं, उनमें असख्यातभाग वृद्धि, सख्यातभाग वृद्धि, सख्यातगुण वृद्धि और असख्यातगुण वृद्धि इसप्रकार चार स्थानरूप ही होते हैं।

रोक्त प्रकारसे उपचारसे यह परिवर्तन लागू होते हैं । नित्यनिगोदको अव्यवहार राशिके (निश्चय राशिके) जीव भी कहते हैं ।

१६ मनुष्यभव सफल करनेके लिये विशेष लक्षमें लेने योग्य विषय—

१ अनादिकालसे लेकर पहिले तो इस जीवको नित्य निगोदरूप शरीरका संबंध होता था उस शरीरकी आयु पूर्ण होने पर जीव मरकर पुन पुन नित्यनिगोद शरीरको ही धारण करता है । इसप्रकार अनंतानंत जीवराशि अनादिकालसे निगोदमें ही जन्म मरण करती है ।

२ निगोदमेंसे ६ महिना और आठ समयमें ६०८ जीव निकलते हैं । वे पृथ्वी जल, अग्नि वायु और प्रत्येक वनस्पतिरूप एकेन्द्रिय पर्यायोंमें अथवा दो से चार इन्द्रियरूप शरीरोंमें या चार गतिरूप पंचेन्द्रिय शरीरोंमें भ्रमण करते हैं और फिर पुन' निगोद शरीरको प्राप्त करते हैं (यह इतर निगोद है)

३ जीवको त्रसमें एक ही साथ रहनेका उत्कृष्ट काल मात्र दो हजार सागर है । जीवको अधिकांश एकेन्द्रिय पर्याय और उसमें भी अधिक समय निगोदमें ही रहना होता है वहाँसे निकलकर त्रसशरीरको प्राप्त करना 'काकतालीयन्यायवत्' होता है । त्रसमें भी मनुष्यभव पाना तो क्वचित् ही होता है ।

४ इसप्रकार जीवकी मुख्य दो स्थितियाँ हैं—निगोद और सिद्ध । बीचका त्रस पर्यायका काल तो बहुत ही थोड़ा और उसमें भी मनुष्यत्वका काल तो अत्यन्त स्वल्पातिस्वल्प है ।

५ (अ) संसारमें जीवको मनुष्यभवमें रहनेका काल सबसे थोड़ा है । (ब) नारकीके भवोंमें रहनेका काल उससे असंख्यातगुणा है (क) देवके भवोंमें रहनेका काल उससे (नारकीसे) असंख्यातगुणा है । और (ड)-तिर्यंचभवोंमें (मुख्यतया निगोदमें) रहनेका काल उससे (देवसे) अनंतगुणा है ।

इससे सिद्ध होता है कि जीव अनादिकालसे मिथ्यात्वदशामें पुन

तथा अशुभभाव करता रहता है, उसमे भी जीवनें नरकके योग्य तीव्र अशुभभावकी अपेक्षा देवके योग्य शुभभाव असख्यात गुणे किये हैं। शुभ-भाव कर के यह जीव अनत वार स्वर्गमे देव होकर नवमे ग्रैवेयक तक जा चुका है,—यह सब पहिले पैरा १० मे कहा जा चुका है।

६ नवमे ग्रैवेयकके योग्य शुभभाव करनेवाला जीव गृहीतमिथ्या-त्व छोड देता है, सच्चे देव, गुरु, शास्त्रको निमित्तरूपसे स्वीकार करता है, पांच महाव्रत, तीन गुप्ति और पांच समिति आदिके उत्कृष्ट शुभभाव अतिचार रहित पालन करता है। इतना करनेपर ही जीवको नवमे ग्रैवेयकमे जानेके योग्य शुभभाव होते हैं। आत्मप्रतीतिके विना **मिथ्यादृष्टिके योग्य उत्कृष्ट शुभभाव** जीवने अनन्त वार किये हैं फिर भी मिथ्यात्व नही गया। इसलिये **शुभभाव—पुण्य करते करते धर्म—सम्यग्दर्शन हो या मिथ्यात्व दूर हो जाय, यह अशक्य है।** इसलिये—

७. इस मनुष्य भवमें ही जीवोंको आत्माका सच्चा स्वरूप समझ कर सम्यक्त्व प्राप्त करना चाहिए। 'Strike the iron while it is hot' जवतक लोहा गर्म है तवतक उसे पीट लो—गढ लो, इस कहावतके अनुसार इसी मनुष्यभवमे जल्दी आत्मस्वरूपको समझ लो, अन्यथा थोडे ही समयमें त्रस काल पूरा हो जायगा और एकेन्द्रिय-निगोदपर्याय प्राप्त होगी और उसमे अनतकाल तक रहना होगा॥ १०॥

संसारी जीवोंके भेद—

समनस्काऽमनस्काः ॥ ११ ॥

अर्थ—ससारी जीव [**समनस्काः**] मनसहित-सैनी [**अमनस्काः**] मनरहित असैनी, यो दो प्रकारके हैं।

टीका

१ एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रिय तकके जीव नियमसे असैनी ही होते हैं। पचेन्द्रियोमे तिर्यंच सैनी और असैनी दो प्रकारके होते हैं, शेष मनुष्य देव और नारकी जीव नियमसे सैनी ही होते हैं।

२ मनवाले सैनीजीव सत्य-असत्यका विवेक कर सकते हैं।

३ मन दो प्रकार के होते हैं—द्रव्यमन और भावमन। पुद्गल द्रव्यके मनोवर्गणा नामक स्कन्धोंसे बना हुआ आठ पाँखुड़ीवाले फूल्या कमलके आकाररूप मन हृदयस्थानमें है वह द्रव्यमन है। वह सूक्ष्मपुद्गल स्कन्ध होने से इन्द्रियग्राही नहीं है। आत्माकी विशेष प्रकारकी विशुद्धि भावमन है उससे जीव शिक्षा ग्रहण करने क्रिया (कृत्य) को समझने, उपदेश तथा आलाप (Recitation) के योग्य होता है, उसके नामसे बुलाने पर वह निकट आता है।

४ जो हितमें प्रवृत्त होने की अथवा अहितसे दूर रहने की शिक्षा ग्रहण करता है वह सैनी है, और जो हित—अहितकी शिक्षा क्रिया उपदेश इत्यादि को ग्रहण नहीं करता वह असैनी है।

५ सैनी जीवोंके भावमनके योग्य निमित्तरूप वीर्यान्तराय तथा मन-नो इन्द्रियावरण नामक ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम स्वयं होता है।

६ द्रव्यमन—वह पुद्गल है वह पुद्गल विपाकीकर्म-उदयके फल रूप है। जीवकी विचारादि क्रियामें भावमन उपादान है और द्रव्यमन निमित्तमात्र है। भावमनवाले प्राणी मोक्षके उपदेशके लिये योग्य हैं। तीर्थंकर भगवान या सम्यग्ज्ञानियोंसे उपदेश सुनकर सैनी मनुष्य सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं सैनी तिर्यंच भी तीर्थंकर भगवानका उपदेश सुनकर सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं देव भी तीर्थंकर भगवानका तथा सम्यग्ज्ञानियोंका उपदेश सुनकर सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं नरकके किसी जीवके पूर्वभवके मित्रादि सम्यग्ज्ञानी देव होते हैं वे तीसरे नरक तक जाते हैं और उनके उपदेशसे तीसरे नरक तकके जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं।

चौथेसे सातवें नरकतकके जीव पहिलेके सत्समागमके संस्कारोंको याद करके सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं वह निसर्गज सम्यग्दर्शन है। पहिले सत्समागमके संस्कार प्राप्त मनुष्य सैनीतिर्यंच और देव भी निसर्गज सम्यग्दर्शन प्रगट कर सकते हैं॥ ११॥

संसारी जीवोंके अन्य प्रकारसे भेद

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ १२ ॥

अर्थ—[ससारिणः] संसारीजीव [त्रस] त्रस और [स्थावराः] स्थावरके भेदसे दो प्रकारके है।

टीका

१—जीवोंके यह भेद भी अवस्थादृष्टिसे किये गये हैं।

२—जीवविपाकी त्रस नामकर्मके उदयसे जीव त्रस कहलाता है और जीवविपाकी स्थावर नामकर्मके उदयसे जीव स्थावर कहलाता है। त्रसजीवोके दो से लेकर पांच इन्द्रियां तक होती है और स्थावर जीवोके मात्र एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है। (यह परिभाषा ठीक नही है कि—जो स्थिर रहता है सो स्थावर है और जो चलता फिरता है सो त्रस है)

३—दो इन्द्रियसे अयोग केवली गुणस्थान तकके जीव त्रस हैं, मुक्तजीव त्रस या स्थावर नही हैं क्योकि यह भेद ससारी जीवोके हैं।

४—**प्रश्न**—यह अर्थ क्यो नही करते कि—जो डरे—भयभीत हो अथवा हलन चलन करे सो त्रस है और जो स्थिर रहे सो स्थावर है ?

उत्तर—यदि हलन चलनकी अपेक्षासे त्रसत्व और स्थिरताकी अपेक्षासे स्थावरत्व हो तो (१) गर्भमे रहनेवाले, अडेमें रहनेवाले, मूर्छित और सोये हुए जीव हलन चलन रहित होनेसे त्रस नही कहलांयगे, और (२) वायु, अग्नि तथा जल एक स्थानसे दूसरे स्थान पर जाते हुए दिखाई देते हैं तथा भूकप इत्यादिके समय पृथ्वी कांपती है और वृक्ष भी हिलते है, वृक्षके पत्ते हिलते हैं इसलिये उनके स्थावरत्व नही रहेगा, और ऐसा होनेसे कोई भी जीव स्थावर नही माना जायगा, और कोई भी जीव स्थावर नही रहेगा ॥ १२ ॥

स्थावर जीवोंके भेद

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥ १३ ॥

अर्थ—[पृथिवी अप् तेजः वायुः वनस्पतयः] पृथ्वीकायिक, जल-

कायिक, अग्निकायिक वायुकायिक और वनस्पतिकायिक यह पाँच प्रकारके [स्थावरा:] स्थावर जीव हैं [इन जीवोंके मात्र एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है]

टीका

१—आत्मा ज्ञानस्वभाव है किन्तु जब उसे अपनी वर्तमान योग्यता के कारण एक स्पर्शनेन्द्रियके द्वारा ज्ञान कर सकने योग्य विकास होता है तब पृथ्वी, जल अग्नि, वायु और वनस्पतिरूपमें परिणमित रजकणों (पुद्गलस्कन्धों) के द्वारा बने हुये जड़ शरीरका संयोग होता है।

२—पृथिवी जल, अग्नि और वायुकायिक जीवोंके शरीरका माप (अवगाहना) अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण है इसलिये वह दिखाई नहीं देता, हम उसके समूह (Mass) को देख सकते हैं। पानीको प्रत्येक बून्दमें बहुतसे जलकायिक जीवोंका समूह है। सूक्ष्मदर्शक यन्त्रके द्वारा पानी में जो सूक्ष्म जीव देखे जाते हैं वे जलकायिक नहीं किन्तु त्रसजीव हैं।

३—इन पृथिवी आदिकोंके चार चार भेद कहे गये हैं—

(१) जहाँ अचेतन स्वभाव सिद्ध परिणाम से रचित अपने कठिनता गुणसहित जड़पनासे पृथिवीकायनामा नामकर्म के उदय न होने पर भी प्रथन (फैलाव) आदिसे युक्त है वह पृथिवी है या पृथिवी सामान्य है।

(२) जिस कायमें से पृथिवीकायिक जीव मरकर निकल गया है सो पृथिवीकाय है।

(३) जिनने पृथिवी का शरीर धारण किया है वे पृथिवी कायिक जीव हैं।

(४) पृथिवीके शरीरको धारण करनेसे पूर्व विग्रहगतिमें जो जीव है उसे पृथिवीजीव कहते हैं। इसप्रकार जलकायिक इत्यादि अन्य चार स्थावर जीवोंके सम्बन्धमें भी समझ लेना चाहिए।

४—स्थावरजीव उसी भवमे सम्यग्दर्शन प्राप्त करने योग्य नही होते क्योकि संज्ञी पर्याप्तक जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करने योग्य होते हैं।

५—पृथिवीकायिकका शरीर मसूरके दानेके आकारका लब गोल, जलकायिकका शरीर पानीकी बून्दके आकारका गोल, अग्निकायिकका शरीर सुइयोके समूहके आकारका और वायुकायिकका शरीर ध्वजाके आकार का लंबा-तिरछा होता है। वनस्पतिकायिक और त्रसजीवोके शरीर अनेक भिन्न भिन्न आकारके होते हैं।

(गोमट्टसार जीवकांड गाथा २०१) ॥ १३ ॥

त्रस जीवोंके भेद

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥ १४ ॥

अर्थ—[**द्वि इन्द्रिय आदयः**] दो इन्द्रिय से लेकर अर्थात् दो इन्द्रिय तीन इन्द्रिय चार इन्द्रिय और पाँच इन्द्रिय जीव [**त्रसाः**] त्रस कहलाते हैं।

टीका

१—एकेन्द्रिय जीव स्थावर हैं और उनके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है। उनके स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास यह चार प्राण होते हैं।

२—दो इन्द्रिय जीवके स्पर्शन और रसना यह दो इन्द्रियाँ ही होती हैं। उनके रसना और वचनबल बढनेसे कुल छह प्राण होते हैं।

३—तीन इन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना और घ्राण यह तीन इन्द्रियाँ ही होती हैं। उनके घ्राण इन्द्रिय अधिक होनेसे कुल सात प्राण होते हैं।

४—चार इन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ होती हैं। उनके चक्षु इन्द्रिय अधिक होनेसे कुल आठ प्राण होते हैं।

५—पचेन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र यह पाँच इन्द्रिया होती हैं। उनके कर्ण इन्द्रिय अधिक होनेसे कुल ९ प्राण असैनियोके होते हैं। इन पाँच इन्द्रियोका ऊपर जो क्रम बताया है उससे

उल्टी सुल्टी इन्द्रियाँ किसी जीवके नहीं होती हैं। जैसे केवल स्पर्शन और चक्षु, यह दो इन्द्रियाँ किसी जीवके नहीं हो सकती किन्तु यदि दो होंगी तो वे स्पर्शन और रसना ही होंगी। सैनी जीवोंके मनबल होता है इसलिये उनके दश प्राण होते हैं ॥ १४ ॥

इन्द्रियोंकी संख्या

पचेन्द्रियाणि ॥ १५ ॥

अर्थ—[इन्द्रियाणि] इन्द्रियाँ [पंच] पाँच हैं।

टीका

१—इन्द्रियाँ पाँच हैं। अधिक नहीं। 'इन्द्र' अर्थात् आत्माकी अर्थात् संसारी जीवकी पहिचान करानेवाला जो चिह्न है उसे इन्द्रिय कहते हैं। प्रत्येक द्रव्येन्द्रिय अपने अपने विषयका ज्ञान उत्पन्न होनेमें निमित्त कारण हैं। कोई एक इन्द्रिय किसी दूसरी इन्द्रियके आधीन नहीं है। भिन्न भिन्न एक एक इन्द्रिय परकी अपेक्षासे रहित है अर्थात् अहमिन्द्रकी भाँति प्रत्येक अपने अपने आधीन है ऐसा ऐश्वर्य धारण करती हैं।

प्रश्न—वचन हाथ पर, गुदा और लिंगको भी इन्द्रिय क्यों नहीं कहा ?

उत्तर—यहाँ उपयोगका प्रकरण है। उपयोगमें स्पर्शादि इंद्रियाँ निमित्त हैं इसलिये उन्हें इन्द्रिय मानना ठीक है। वचन इत्यादि उपयोगमें निमित्त नहीं हैं वे मात्र 'जड़' क्रियाके साधन हैं और यदि क्रियाके कारण होनेसे उन्हें इन्द्रिय कहा जाय तो मस्तक इत्यादि सभी अंगोपांग (क्रियाके साधन) हैं उन्हें भी इंद्रिय कहना चाहिये। इसलिये यह मानना ठीक है कि जो उपयोगमें निमित्त कारण है वह इंद्रियका लक्षण है।

२—जड़ इंद्रियाँ इंद्रियज्ञानमें निमित्त मात्र हैं किन्तु ज्ञान उन इंद्रियोंसे नहीं होता ज्ञान तो आत्मा स्वयं स्वतः करता है। क्षायोपशमिक-ज्ञानका स्वरूप ऐसा है कि वह ज्ञान जिस समय जिसप्रकारका उपयोग करनेके योग्य होता है तब उसके योग्य इंद्रियादि बाह्य निमित्त स्वयं स्वतः

उपस्थित होते हैं, निमित्तकी राह नही देखनी पडती। ऐसा निमित्त नैमित्तिक सवंघ है। 'इंद्रियाँ है इसलिये ज्ञान हुआ है' ऐसा अज्ञानी मानता है, किन्तु ज्ञानी यह मानता है कि ज्ञान स्वत' हुआ है और जड इन्द्रियाँ उस समय सयोगरूप (उपस्थित) स्वय होती ही है।

[देखो अध्याय १ सूत्र १४ की टीका] ॥ १५ ॥

इन्द्रियोंके मूल भेद

द्विविधानि ॥ १६ ॥

अर्थ—सव इन्द्रियाँ [द्विविधानि] द्रव्येन्द्रिय और भाव इद्रियके भेदसे दो दो प्रकारकी है।

नोट—द्रव्येन्द्रिय सम्वन्धी सूत्र १७ वाँ और भावेन्द्रिय सम्बन्धी १८ वाँ है॥ १६ ॥

द्रव्येन्द्रियका स्वरूप

निर्वृ त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥ १७ ॥

अर्थ—[निर्वृ ति उपकरणे] निर्वृ ति और उपकरणको [द्रव्येन्द्रियम्] द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।

टीका

निर्वृति—पुद्गलविपाकी नामकर्मके उदयसे प्रतिनियत स्थानमे होनेवाली इन्द्रियरूप पुद्गलकी रचना विशेषको बाह्य निर्वृ ति कहते हैं, और उत्सेधागुलके असख्यातवें भागप्रमाण आत्माके विशुद्ध प्रदेशोका चक्षु आदि इन्द्रियोके आकार जो परिणमन होता है उसे आभ्यन्तर निर्वृ ति कहते हैं। इसप्रकार निर्वृ तिके दो भेद हैं। [देखो अध्याय २ सूत्र ४४ की टीका]

जो आत्मप्रदेश नेत्रादि इन्द्रियाकार होते हैं वह—अभ्यन्तर निर्वृ ति हैं और उसी आत्मप्रदेशके साथ नेत्रादि आकाररूप जो पुद्गल समूह रहते हैं वह बाह्य निर्वृ ति हैं, कर्णेन्द्रियके आत्मप्रदेश जवकी नलीके समान और नेत्रेन्द्रियके आत्मप्रदेश मसूरके आकारके होते हैं और पुद्गल इन्द्रियाँ भी उसी आकारकी होती हैं।

२ उपकरण—निर्वृत्तिका उपकार करनेवाला पुद्गल समूह उपकरण है। उसके बाह्य और अभ्यंतर दो भेद हैं। जैसे नेत्रमें सफेद और काला मंडल आभ्यन्तर उपकरण है और पलक तथा गट्टा इत्यादि बाह्य उपकरण हैं। उपकरणका अर्थ निमित्तमात्र समझना चाहिये किन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि यह लाभ करता है।
[देखो अर्थप्रकाशिका पृष्ठ २०२ २०३] यह दोनों उपकरण जड़ हैं ॥१७॥

भावेन्द्रियका स्वरूप

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥ १८ ॥

अर्थ—[लब्धि उपयोगौ] लब्धि और उपयोगको [भावेन्द्रियम्] भावेन्द्रिय कहते हैं।

टीका

१ लब्धि—लब्धिका अर्थ प्राप्ति अथवा लाभ होता है। आत्माके चैतन्यगुणका क्षयोपशम हेतुक विकास लब्धि है। (देखो सूत्र ४५ की टीका)

उपयोग—चैतन्यके व्यापारको उपयोग कहते हैं। आत्माके चैतन्य गुणका जो क्षयोपशम हेतुक विकास है उसके व्यापारको उपयोग कहते हैं।

२—आत्मा ज्ञेय पदार्थ के सन्मुख होकर अपने चैतन्य व्यापारको उस ओर जोड़े सो उपयोग है। उपयोग चैतन्यका परिणमन है। यह किसी अन्य ज्ञेय पदार्थकी ओर लग रहा हो तो आत्माकी सुनने की शक्ति होने पर भी सुनता नहीं है। लब्धि और उपयोग दोनोंके मिलनेसे ज्ञानकी सिद्धि होती है।

३ प्रश्न—उपयोग तो लब्धिरूप भावेन्द्रियका फल (कार्य) है, तब फिर उसे भावेन्द्रिय क्यों कहा है?

उत्तर—कार्यमें कारणका उपचार करके उपयोगको (उपचारसे) भावेन्द्रिय कहा जाता है। घटाकार परिणमित ज्ञानको घट कहा जाता है इस न्यायसे लोकमें कार्यको भी कारण माना जाता है। आत्माका लिंग इन्द्रिय (भावेन्द्रिय) है, आत्मा यह स्व अर्थ है उसमें उपयोग मुख्य है

और वह जीवका लक्षण है, इसलिये उपयोगको भावेन्द्रियत्व कहा जा सकता है।

४. उपयोग और लब्धि दोनोको भावेन्द्रिय इसलिये कहते हैं कि वे द्रव्यपर्याय नही किन्तु गुणपर्याय हैं, क्षयोपशमहेतुक लब्धि भी एक पर्याय या धर्म है और उपयोग भी एक धर्म है, क्योंकि वह आत्माका परिणाम है। वह उपयोग दर्शन और ज्ञानके भेदसे दो प्रकारका है।

५ धर्म, स्वभाव, भाव, गुणपर्याय और गुण शब्द एकार्थ वाचक हैं।

६. प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वोका श्रद्धान करने योग्य ज्ञानकी क्षयोपशमलब्धि तो सभी सैनी पचेन्द्रिय जीवोके होती है, किन्तु जो जीव पराश्रयकी रुचि छोडकर परकी ओरसे झुकाव हटाकर, निज (आत्मा) की ओर उपयोगको लगाते है उन्हे आत्मज्ञान (सम्यग्ज्ञान) होता है। और जो जीव पर की ओर ही उपयोग लगाये रहते हैं उन्हे मिथ्याज्ञान होता है, और इससे दुःख ही होता है कल्याण नही होता।

इस सूत्रका सिद्धांत

जीवको छद्मस्थदशामें ज्ञानका विकास अर्थात् क्षयोपशमहेतुक लब्धि वहुत कुछ हो तथापि वह सब विकासका उपयोग एक साथ नही कर सकता, क्योंकि उसका उपयोग रागमिश्रित है इसलिये रागमे अटक जाता है, इसलिये ज्ञानका लब्धिरूप विकास वहुत कुछ हो फिर भी व्यापार (उपयोग) अल्प ही होता है। ज्ञानगुण तो प्रत्येक जीवके परिपूर्ण है, विकारीदशामे उसकी (ज्ञानगुणकी) पूर्ण पर्याय प्रगट नही होती, इतना ही नही किन्तु पर्यायमे जितना विकास होता है उतना भी व्यापार एक साथ नही कर सकता। जबतक आत्माका आश्रय परकी ओर होता है तवतक उसकी ऐसी दशा होती है। इसलिये जीवको स्व और परका यथार्थ भेद-विज्ञान करना चाहिये। भेदविज्ञान होनेपर वह अपने पुरुषार्थको अपनी ओर लगाया ही करता है, और उससे क्रमश रागको दूर करके बारहवे गुण-स्थानमें सर्वथा राग दूर हो जानेपर वीतरागता प्रगट हो जाती है। तत्प-श्चात् थोडे ही समयमे पुरुषार्थ बढने पर ज्ञान गुण जितना परिपूर्ण है उतनी

परिपूर्ण उसकी पर्याय प्रगट होती है। ज्ञानपर्याय पूर्ण प्रगट (विकसित) हो जाने पर ज्ञानके व्यापारको एक ओरसे दूसरी ओर ले जाने की आव श्यकता नहीं रहती। इसलिये प्रत्येक मुमुक्षुको यथार्थ भेदविज्ञान प्राप्त करना चाहिये; जिसका फल केवलज्ञान है॥ १८॥

पाँच इन्द्रियोंके नाम और उनका क्रम

स्पर्शनरसनाघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥१६॥

अर्थ—[स्पर्शन] स्पर्शन [रसना] रसना [घ्राण] नाक [चक्षु] चक्षु और [श्रोत्र] कान—यह पाँच इन्द्रियाँ हैं।

टीका

(१) यह इन्द्रियाँ भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय यों दोनों प्रकारकी समझना चाहिये। एकेन्द्रिय जीवके पहिली (स्पर्शन) इन्द्रिय दो इन्द्रिय जीवके पहिली दो क्रमशः होती हैं। इस अध्यायके चौदहवें सूत्र की टीकामें इस सम्बन्धसे सविवरण कहा गया है।

(२) इन पाँच भावेन्द्रियोंमें भावश्रोत्रेन्द्रियको अति लाभदायक माना गया है क्योंकि उस भावेन्द्रियके बलसे जीव सम्यग्ज्ञानी पुरुषका उप देश सुनकर और तत्पश्चात् विचार करके—यथार्थ निर्णय करके हितकी प्राप्ति और अहितका त्याग कर सकता है। जड़ इन्द्रिय तो ज्ञानमें निमित्त मात्र है।

१ (अ)—श्रोत्रेन्द्रिय (कान) का आकार जवकी नीचकी नालीके समान (ब)—नेत्रका आकार मसूर जैसा (क)—नाकका आकार तिलके फूल जैसा (ड)—रसनाका आकार अर्धचन्द्रमा जैसा और (इ)—स्पर्श नेन्द्रियका आकार शरीराकार होता है,—स्पर्शनेन्द्रिय सारे शरीरमें होती है॥ १६॥

इन्द्रियोंके विषय

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥२०॥

अर्थ—[स्पर्शरसगंधवर्णशब्दाः] स्पर्श रस गंध वर्ण (रंग)

और शब्द यह पांच क्रमश [तत् अर्थाः] उपरोक्त पांच इन्द्रियोके विषय है अर्थात् उपरोक्त पांच इन्द्रियां उन उन विषयोको जानती हैं।

टीका

१ जाननेका काम भावेन्द्रियका है, पुद्गल इन्द्रिय निमित्त है। प्रत्येक इन्द्रियका विषय क्या है सो यहाँ कहा गया है। यह विषय जड-पुद्गल है।

२. **प्रश्न**—यह जीवाधिकार है फिर भी पुद्गलद्रव्यकी वात क्यो ली गई है ?

उत्तर—जीवको भावेन्द्रियसे होनेवाले उपयोगरूपज्ञानमे ज्ञेय क्या है यह जाननेके लिये कहा है। ज्ञेय निमित्त मात्र है, ज्ञेयसे ज्ञान नही होता किंतु उपयोगरूप भावेन्द्रियसे ज्ञान होता है अर्थात् ज्ञान विषयी है और ज्ञेय विषय, यह वतानेके लिये यह सूत्र कहा है।

३. **स्पर्श**—आठ प्रकारका है शीत, उष्ण, रूखा, चिकना, कोमल, कठोर, हलका और भारी।

रस–पांच प्रकारका है खट्टा, मीठा, कडुवा, कषायला, चिरपरा।

गंध–दो प्रकारकी हैं सुगन्ध और दुर्गन्ध।

वर्ण–पांच प्रकारका है काला, पीला, नीला, लाल और सफेद।

शब्द–सात प्रकारका है षडज, रिषभ, गधार, मध्यम, पचम, धैवत, निवाध।

इसप्रकार कुल २७ भेद हैं उनके सयोगसे असख्यात भेद हो जाते हैं।

४—सैनो जीवोके इन्द्रिय द्वारा होनेवाले चैतन्य व्यापारमे मन निमित्त रूप होता है।

५—स्पर्श, रस, गध और शब्द विषयक ज्ञान उस २ विषयोको जाननेवाली इन्द्रियके साथ उस विषयका संयोग होनेसे ही होता है। आत्मा चक्षुके द्वारा जिस रूपको देखता है उसके योग्य क्षेत्रमे दूर रहकर उसे देख सकता है॥ २०॥

मनका विषय

श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥ २१ ॥

अर्थ—[अनिन्द्रियस्य] मनका विषय [श्रुतम्] श्रुतज्ञानगोचर पदार्थ है अथवा, मनका प्रयोजन श्रुतज्ञान है।

टीका

१—द्रव्यमन आठ पाँखुड़ीवाले खिले हुए कमलके आकार है।

[देखो अध्याय २ सूत्र ११ की टीका]

श्रवण किये गये पदार्थका विचार करनेमें मन द्वारा जीवकी प्रवृत्ति होती है। कर्णेन्द्रियसे श्रवण किये गये शब्दका ज्ञान मतिज्ञान है उस मति ज्ञानपूर्वक किये गये विचारको श्रुतज्ञान कहते हैं। सम्यग्ज्ञानी पुरुषका उप देश श्रवण करनेमें कर्णेन्द्रिय निमित्त है और उसका विचार करके यथार्थ निर्णय करनेमें मन निमित्त है। *हितकी प्राप्ति और अहितका त्याग मनके* द्वारा होता है। (देखो अध्याय २ सूत्र ११ तथा १९ की टीका) पहिले राग सहित मनके द्वारा आत्माका व्यवहार सच्चा ज्ञान किया जा सकता है और फिर (रागको अंशतः अभाव करने पर) मनके अवलम्बनके बिना *सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है इसलिये सैनी जीव ही धर्म प्राप्त करनेके योग्य* हैं। (देखो अध्याय २ सूत्र २४ की टीका)

२—मनरहित (असैनी) जीवोंके भी एक प्रकारका श्रुतज्ञान होता है। (देखो अध्याय १ सूत्र ११ तथा ३ की टीका)

उन्हें आत्मज्ञान नहीं होता इसलिये उनके ज्ञानको 'कुश्रुत' कहा जाता है।

३—श्रुतज्ञान जिस विषयको जानता है उसमें मन निमित्त है किसी इन्द्रियके आधीन मन नहीं है। अर्थात् श्रुतज्ञानमें किसी भी इन्द्रियका निमित्त नहीं है ॥२१॥

इन्द्रियोंके स्वामी

वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥ २२ ॥

अर्थ—[वनस्पति अंताना] वनस्पतिकाय जिसके अतमे है ऐसे जीवोके अर्थात् पृथ्वीकायिक जलकायिक अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवोके [एकम्] एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है।

टीका

इस सूत्रमें कथित जीव एक स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा ही ज्ञान करते हैं। इस सूत्रमे इन्द्रियोके 'स्वामी' ऐसा शीर्षक दिया है, उसमे इन्द्रियके दो प्रकार हैं—जड इन्द्रिय और भावेन्द्रिय। जड इन्द्रियके साथ जीवका निमित्त-नैमित्तिक सबंध बतानेके लिए व्यवहारसे जीवको स्वामी कहा है, वास्तवमे तो कोई द्रव्य किसी द्रव्यका स्वामी है ही नही। और भावेन्द्रिय उस आत्माकी उस समयकी पर्याय है अर्थात् अशुद्धनयसे उसका स्वामी आत्मा है॥ २२ ॥

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादिनामेकैकवृद्धानि ॥ २३ ॥

अर्थ—[कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादिनाम्] कृमि इत्यादि, चीटी इत्यादि, भ्रमर इत्यादि तथा मनुष्य इत्यादिके [एकैक वृद्धानि] क्रमसे एक एक इन्द्रिय, बढती अधिक अधिक है अर्थात् कृमि इत्यादिके दो, चीटी इत्यादिके तीन, भोरा इत्यादिके चार और मनुष्य इत्यादिके पाँच इन्द्रियाँ होती हैं।

टीका

प्रश्न—यदि कोई मनुष्य जन्मसे ही अधा और बहरा हो तो उसे तीन इन्द्रिय जीव कहना चाहिये या पचेन्द्रिय ?

उत्तर—वह पचेन्द्रिय जीव ही है, क्योकि उसके पांचो इन्द्रियाँ हैं किन्तु उपयोगरूप शक्ति न होनेसे वह देख और सुन नही सकता।

नोट—इसप्रकार ससारी जीवोके इन्द्रियद्वारका वर्णन हुआ, अब उनके मनद्वारका वर्णन २४ वें सूत्रमें किया जाता है॥ २३ ॥

सैनी किसे कहते हैं ?

संज्ञिन. समनस्काः ॥ २४ ॥

अर्थ—[समनस्काः] मनसहित जीवोंको [संज्ञिन] सैनी कहते हैं ।

टीका

सैनी जीव पचेन्द्रिय ही होते हैं (देखो अध्याय २ सूत्र ११ तथा २१ की टीका) जीवके हिताहितकी प्रवृत्ति मनके द्वारा होती है। पंचेन्द्रिय जीवोंमें सैनी और असैनी ऐसे दो भेद होते हैं सनी अर्थात् संज्ञी=संज्ञावाला प्राणी समझना चाहिये । संज्ञा के अनेक अर्थ हैं उनमें से यहाँ मन' अर्थ लेना चाहिए ॥ २४ ॥

मनके द्वारा हिताहितकी प्रवृत्ति होती है किन्तु शरीर के छूट जाने पर विग्रहगतिमें [नये शरीरकी प्राप्ति के लिये गमन करते हुए जीवको] मन नहीं है फिर भी उसे कर्मका आश्रय होता है इसका क्या कारण है ?

विग्रहगतौ कर्मयोग ॥ २५ ॥

अर्थ—[विग्रहगतौ] विग्रहगतिमें अर्थात् नये शरीरके लिये गमनमें [कर्मयोग] कार्मणकाययोग होता है ।

टीका

(१) विग्रहगति—एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरकी प्राप्ति के लिये गमन करना विग्रहगति है । यहाँ विग्रहका अर्थ शरीर है ।

कर्मयोग—कर्मोंके समूहको कार्मण शरीर कहते हैं । आत्म प्रदेशोंके परिस्पन्दनको योग कहते हैं इस परिस्पन्दनके समय कार्मण शरीर निमित्तरूप है इसलिये उसे कर्मयोग अथवा कार्मणकाययोग कहते हैं और इसलिये विग्रहगतिमें भी नये कर्मोंका आश्रव होता है । [देखो सूत्र ४८ की टीका]

२—मरण होने पर नवीन शरीरको ग्रहण करनेके लिये जीव जब

गमन करता है तब मार्गमे एक दो या तीन समय तक अनाहारक रहता है। उस समयमे कार्मणयोगके कारण पुद्गलकर्मका तथा तैजसवर्गणाका ग्रहण होता है, किन्तु नोकर्म–पुद्गलोका ग्रहण नही होता ॥ २५ ॥

विग्रहगतिमें जीव और पुद्गलोंका गमन कैसे होता है ?

अनुश्रेणि गतिः ॥ २६ ॥

अर्थ—[गति]जीव पुद्गलोका गमन [अनुश्रेणि] श्रेणीके अनुसार ही होता है।

टीका

१. श्रेणि—लोकके मध्यभागसे ऊपर, नीचे तथा तिर्यक् दिशामे क्रमश हारवद्ध रचनावाले प्रदेशोकी पक्ति (Line) को श्रेणि कहते हैं।

२–विग्रहगतिमें आकाश प्रदेशोकी सीधी पक्ति पर ही गमन होता है। विदिशामे गमन नही होता। जब पुद्गलका शुद्ध परमाणु अति शीघ्र गमन करके एक समयमे १४ राजु गमन करता है तब वह श्रेणिवद्ध सीधा ही गमन करता है।

३. उपरोक्त श्रेणिकी छह दिशाएँ होती हैं (१)–पूर्वसे पश्चिम, (२)–उत्तरसे दक्षिण, (३)–ऊपरसे नीचे, तथा अन्य तीन उससे उल्टेरूप मे अर्थात् (४)–पश्चिमसे पूर्व, (५)–दक्षिणसे उत्तर और (६)–नीचेसे ऊपर।

४. प्रश्न—यह जीवाधिकार है, तव फिर इसमें पुद्गलका विषय क्यो लिया गया है ?

उत्तर—जीव और पुद्गलका निमित्त नैमित्तिक सम्वन्ध वतानेके लिये तथा यह वतानेके लिये कि जीव और पुद्गल दोनो अपनी स्वतत्र योग्यतासे गमन करते हैं,–पुद्गलका भी विषय लिया गया है ॥ २६ ॥

मुक्त जीवोंकी गति कैसी होती है ?

अविग्रहा जीवस्य ॥ २७ ॥

अर्थ—[जीवस्य] मुक्त जीवकी गति [अविग्रहा] वक्रता रहित सीधी होती है।

टीका

सूत्रमें 'जीवस्य' शब्द कहा गया है किंतु पिछले सूत्रमें संसारी जीव का विषय था इसलिये यहाँ 'जीवस्य' का अर्थ 'मुक्त जीव' होता है।

इस अध्यायके पच्चीसवें सूत्रमें विग्रहका अर्थ 'शरीर' किया था और यहाँ उसका अर्थ 'वक्रता' किया गया है; विग्रह शब्दके यह दोनों अर्थ होते हैं। पच्चीसवें सूत्रमें श्रेणिका विषय नहीं था इसलिये वहाँ 'वक्रता' अर्थ लागू नहीं होता किंतु इस सूत्रमें श्रेणिका विषय होनेसे अविग्रहा' का अर्थ वक्रता रहित (मोड़ रहित) होता है ऐसा समझना चाहिये। मुक्त जीव श्रेणिबद्धगतिसे एक समयमें सीधे सात राजू ऊपर गमन करके सिद्ध क्षेत्रमें जाकर स्थिर होते हैं ॥ २७ ॥

संसारी जीवोंकी गति और उसका समय

विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः ॥ २८ ॥

अर्थ—[संसारिणः] संसारी जीवकी गति [चतुर्भ्यः प्राक्] चार समयसे पहिले [विग्रहवती च] वक्रता—मोड़ सहित तथा रहित होती है।

टीका

१—संसारी जीवकी गति मोड़ासहित और मोड़ारहित होती है। यदि मोड़ारहित होती है तो उसे एक समय लगता है; एक मोड़ा लेना पड़े तो दो समय; दो मोड़ा लेना पड़े तो तीन समय और तीन मोड़ा लेना पड़े तो चार समय लगते हैं। जीव चौथे समयमें तो कहीं न कहीं नया शरीर नियमसे धारण कर लेता है; इसलिये विग्रहगतिका समय अधिकसे अधिक चार समय तक होता है। इन गतियोंके नाम यह हैं—१—ऋजुगति (इषु गति) २—पाणिमुक्तागति ३—लांगलिकागति और ४—गोमूत्रिकागति।

२—एक परमाणुको मंदगतिसे एक आकाशप्रदेशसे उसीके निकट

के दूसरे आकाश प्रदेश तक जानेमे जो समय लगता है वह एक समय है। यह छोटेसे छोटा काल है।

३—लोकमे ऐसा कोई स्थान नही है जहाँ जानेमे जीवको तीन से अधिक मोडा लेना पडते हो।

४—विग्रहगतिमे जीवको चैतन्यका उपयोग नही होता। जब जीव की उसप्रकारकी योग्यता नही होती तब द्रव्येन्द्रियाँ भी नही होती। ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। जब जीवको भावइन्द्रियके उपयोगरूप परिणमित होनेकी योग्यता होती है तब द्रव्येन्द्रियाँ अपने कारणसे स्वय उपस्थित होती हैं। वह यह सिद्ध करता है कि जब जीवकी पात्रता होती है तब उसके अनुसार निमित्त स्वय उपस्थित होता है, निमित्तके लिये राह नही देखनी पडती ॥ २८ ॥

अविग्रहगतिका समय

एकसमयाऽविग्रहा ॥ २९ ॥

अर्थ—[अविग्रहा] मोडरहित गति [एकसमया] एक समय मात्र ही होती है, अर्थात् उसमे एक समय ही लगता है।

टीका

१—जिस समय जीवका एक शरीरके साथ का संयोग छूटता है उसी समय, यदि जीव अविग्रह गतिके योग्य हो तो दूसरे क्षेत्रमे रहनेवाले अन्य शरीरके योग्य पुद्गलोके साथ (शरीरके साथ) सम्बन्ध प्रारम्भ होता है। मुक्त जीवोको भी सिद्धगतिमें जानेमे एक ही समय लगता है यह गति सीधी पक्ति मे ही होती है।

२—एक पुद्गलको उत्कृष्ट वेगपूर्वक गति करनेमे चौदह राजू लोक अर्थात् लोकके एक छोरसे दूसरे छोर तक (सीधी पक्तिमे ऊपर या नीचे) जाने मे एक समय ही लगता है ॥ २९ ॥

विग्रहगतिमें आहारक–अनाहारककी व्यवस्था

एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः ॥ ३० ॥

अर्थ—विग्रहगतिमें [एकं द्वौ वा त्रीन्] एक दो अथवा तीन समय तक [अनाहारक] जीव अनाहारक रहता है।

टीका

१ आहार—औदारिक वैक्रियिक, और आहारकशरीर तथा छह पर्याप्तिके योग्य पुद्गल परमाणुओंके ग्रहणको आहार कहा जाता है।

२—उपरोक्त आहारको जीव जब तक ग्रहण नहीं करता तब तक वह अनाहारक कहलाता है। संसारी जीव अविग्रहगतिमें आहारक होता है, परन्तु एक दो या तीन मोड़ावाली गतिमें एक दो या तीन समयतक अनाहारक रहता है चौथे समयमें नियमसे आहारक हो जाता है।

३—यह ध्यानमें रखना चाहिये कि इस सूत्रमें नोकर्मकी अपेक्षासे अनाहारकत्व कहा है। कर्मग्रहण तथा तैजस परमाणुओंका ग्रहण तेरहवें गुणस्थानतक होता है। यदि इस कर्म और तैजस परमाणुके ग्रहणको आहारकत्व माना जाय तो वह अयोगी गुणस्थानमें नहीं होता।

४—विग्रहगति से अतिरिक्त समयमें जीव प्रतिसमय नोकर्मरूप आहार ग्रहण करता है।

५—यहाँ आहार—अनाहार और ग्रहण शब्दोंका प्रयोग हुआ है वह मात्र निमित्त नैमित्तिक संबंध बतानेके लिये है। वास्तवमें (निश्चय दृष्टिसे) आत्माके किसी भी समय किसी भी परद्रव्यका ग्रहण या त्याग नहीं होता, भले ही वह निगोदमें हो या सिद्धमें ॥ ३ ॥

जन्मके भेद

सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म ॥ ३१ ॥

अर्थ—[सम्मूर्च्छनगर्भउपपादाः] सम्मूर्च्छन गर्भ और उपपाद तीन प्रकारका [जन्म] जन्म होता है।

टीका

१ जन्म—नवीन शरीरको धारण करना जन्म है।

सम्मूर्च्छनजन्म—अपने शरीरके योग्य ... (...)ओंके

माता–पिताके रज और वीर्यके विना ही शरीरकी रचना होना सो सम्मूर्च्छन जन्म है।

गर्भजन्म—स्त्रीके उदरमे रज और वीर्यके मेलसे जो जन्म [Conception] होता है उसे गर्भजन्म कहते हैं।

उपपादजन्म—माता पिताके रज और वीर्यके विना देव और नारकियोके निश्चित स्थान–विशेषमे उत्पन्न होनेको उपपादजन्म कहते है। यह उपपादजन्मवाला शरीर वैक्रियिक रजकणोका बनता है।

२—समन्तत + मूर्च्छन–से समूर्च्छन शब्द बनता है। यहाँ समन्तत'का अर्थ चारो ओर अथवा जहाँ–तहाँसे होता है और मूर्च्छनका अर्थ शरीरका बन जाना है।

३ जीव अनादि अनंत है, इसलिये उसका जन्म–मरण नही होता किन्तु जीवको अनादिकालसे अपने स्वरूपका भ्रम (मिथ्यादर्शन) बना हुआ है इसलिये उसका शरीरके साथ एक क्षेत्रावगाह सवध होता है, और वह अज्ञानसे शरीरको अपना मानता है। और अनादिकालसे जीवकी यह विपरीत मान्यता चली आ रही है कि मैं शरीरकी हलन–चलन आदि क्रिया कर सकता हूँ, शरीरकी क्रियासे धर्म हो सकता है, शरीरसे मुझे सुख दु.ख होते हैं इत्यादि जबतक यह मिथ्यात्वरूप विकारभाव जीव करता रहता है तब तक जीवका नये नये शरीरोंके साथ सम्बन्ध होता रहता है। उस नये शरीर के संबध [सयोग] को जन्म कहते हैं और पुराने शरीरके वियोगको मरण कहते हैं। सम्यग्दृष्टि होनेके बाद जब तक चारित्र की पूर्णता नही होती तब तक जीवको नया शरीर प्राप्त होता है। उसमें जीवका कषायभाव निमित्त है॥ ३१ ॥

योनियोंके भेद

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥३२॥

अर्थ—[सचित्त शीत सवृताः] सचित्त, शीत, सवृत [सेतरा] उससे उल्टी तीन–अचित्त, उष्ण, विवृत्त [च एकशः मिश्राः] और क्रमसे

अर्थ—विग्रहगतिमें [एकं द्वौ वा त्रीन्] एक दो अथवा तीन समय तक [अनाहारक] जीव अनाहारक रहता है।

टीका

१ आहार—औदारिक वैक्रियिक और आहारकशरीर तथा छह पर्याप्तिके योग्य पुद्गल परमाणुओंके ग्रहणको आहार कहा जाता है।

२—उपरोक्त आहारको जीव जब तक ग्रहण नहीं करता तब तक वह अनाहारक कहलाता है। संसारी जीव अविग्रहगतिमें आहारक होता है परन्तु एक दो या तीन मोड़ावाली गतिमें एक दो या तीन समयतक अनाहारक रहता है चौथे समयमें नियमसे आहारक हो जाता है।

३—यह ध्यानमें रखना चाहिये कि इस सूत्रमें नोकर्मकी अपेक्षासे अनाहारकत्व कहा है। कर्मग्रहण तथा तैजस परमाणुओंका ग्रहण तेरहवें गुणस्थानतक होता है। यदि इस कर्म और तैजस परमाणुके ग्रहणको आहारकत्व माना जाय तो वह अयोगी गुणस्थानमें नहीं होता।

४—विग्रहगति से अतिरिक्त समयमें जीव प्रतिसमय नोकर्मरूप आहार ग्रहण करता है।

५—यहाँ आहार-अनाहार और ग्रहण शब्दोंका प्रयोग हुआ है वह मात्र निमित्त नैमित्तिक संबंध बतानेके लिये है। वास्तवमें (निश्चय दृष्टिसे) आत्माके किसी भी समय किसी भी परद्रव्यका ग्रहण या त्याग नहीं होता भले ही वह निगोदमें हो या सिद्धमें ॥ ३० ॥

जन्मके भेद

सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म ॥ ३१ ॥

अर्थ—[सम्मूर्च्छनगर्भउपपादाः] सम्मूर्च्छन गर्भ और उपपाद तीन प्रकारका [जन्म] जन्म होता है।

टीका

१ जन्म—नवीन शरीरको धारण करना जन्म है।

सम्मूर्च्छनजन्म—अपने शरीरके योग्य पुद्गल परमाणुओंके द्वारा,

कोई उत्पन्न नहीं होता। वशपत्रयोनिमे शेष गर्भजन्मवाले सब जीव उत्पन्न होते हैं ॥३२॥

गर्भजन्म किसे कहते हैं ?

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥ ३३ ॥

अर्थ—[जरायुज अंडज पोतानां] जरायुज, अडज और पोतज इन तीन प्रकारके जीवोके [गर्भः] गर्भजन्म ही होता है अर्थात् उन जीवोके ही गर्भजन्म होता है।

टीका

१. **जरायुज**—जालीके समान मांस और खूनसे व्याप्त एक प्रकारकी थैलीसे लिपटा हुआ जो जीव जन्म लेता है उसे जरायुज कहते हैं। जैसे—गाय, भैंस, मनुष्य इत्यादि।

अंडज—जो जीव अडोमें जन्म लेते हैं उनको अडज कहते हैं, जैसे—चिडिया, कबूतर, मोर वगैरह पक्षी।

पोतज—उत्पन्न होते समय जिन जीवोके शरीरके ऊपर किसी प्रकारका आवरण नहीं होता उन्हे पोतज कहते हैं जैसे—सिंह, बाघ, हाथी, हिरण, बन्दर इत्यादि।

२—असाधारण भाषा और अध्ययनादि जरायुज जीवोमे ही होता है, चक्रधर, वासुदेवादि, महाप्रभावशाली जीव जरायुज होते हैं, मोक्ष भी जरायुजको प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥

उपपादजन्म किसे कहते हैं ?

देवनारकाणामुपपादः ॥ ३४ ॥

अर्थ—[देवनारकाणां] देव और नारकी जीवोके [उपपादः] उपपाद जन्म ही होता है अर्थात् उपपाद जन्म उन जीवोके ही होता है।

टीका

१—देवोके प्रसूतिस्थानमे शुद्ध सुगंधित कोमल संपुटके आकार शय्या होती है उसमे उत्पन्न होकर अंतर्मुहूर्तमे परिपूर्ण जवान हो जाता

एक एकको मिली हुई तीन अर्थात् सचित्ताचित्त शीतोष्ण, और संवृत विवृत [तद् योनयः] ये नव जन्मयोनियाँ हैं।

टीका

जीवोंके उत्पत्तिस्थानको योनि कहते हैं, योनि आधार है और जन्म आधेय है।

२. सचित्तयोनि—जीव सहित योनिको सचित्त योनि कहते हैं।

संवृतयोनि—जो किसीके देखनेमें न आवे ऐसे उत्पत्तिस्थान को संवृत (ढकी हुई) योनि कहते हैं।

विवृतयोनि—जो सबके देखनेमें आवे ऐसे उत्पत्ति स्थानको विवृत (खुली) योनि कहते हैं।

१ मनुष्य या अन्य प्राणीके पेटमें जीव (कृमि इत्यादि) उत्पन्न होते हैं उनको सचित्तयोनि है।

२ दीवालमें मेज, कुर्सी इत्यादिमें जीव उत्पन्न हो जाते हैं, उनकी अचित्तयोनि है।

३ मनुष्यकी पहिनी हुई टोपी इत्यादिमें जीव उत्पन्न हो जाते हैं उनकी सचित्ताचित्तयोनि है।

४ सर्दीमें जीव उत्पन्न होते हैं उनकी शीतयोनि है। ५–गर्मीमें जीव उत्पन्न होते हैं उनकी उष्ण योनि है। ६–पानीके तालाबमें सूर्यकी गर्मी से पानीके गर्म हो जाने पर जो जीव उत्पन्न हो जाते हैं उनकी शीतोष्ण योनि है। ७–बन्द पेटीमें रखे हुए फलोंमें जो जीव उत्पन्न हो जाते हैं उनकी संवृतयोनि है। ८–पानीमें जो काई इत्यादि जीव उत्पन्न होते हैं उनकी विवृतयोनि है और ९–थोड़ा भाग खुला हुआ और थोड़ा ढका हुआ हो ऐसे स्थानमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंकी संवृतविवृतयोनि होती है।

५ गर्भयोनिके आकारके तीन भेद हैं–१–शंखावर्त २–कूर्मोन्नत और ३–वंशपत्र। शंखावर्तयोनिमें गर्भ नहीं रहता कूर्मोन्नतयोनिमें तीर्थंकर चक्रवर्ती वासुदेव प्रतिवासुदेव और बलभद्र उत्पन्न होते हैं उनके अतिरिक्त

इसलिये उदार कहलाता है, सूक्ष्म निगोदियोका शरीर इन्द्रियोंके द्वारा न तो दिखाई देता है न मुडता है और न काटनेसे कटता है, फिर भी वह स्थूल है, क्योकि दूसरे शरीर उससे क्रमशः सूक्ष्म हैं [देखो इसके बादका सूत्र]

वैक्रियिक शरीर—जिसमे हलके भारी तथा अनेक प्रकारके रूप बनानेकी शक्ति हो उसे वैक्रियिक शरीर कहते हैं वह देव और नारकियोके ही होता है।

नोट—यह बात ध्यानमें रखना चाहिये कि औदारिक शरीरवाले जीव के ऋद्धिके कारण जो विक्रिया होती है वह औदारिक शरीरका ही प्रकार है।

आहारकशरीर—सूक्ष्म पदार्थोंके निर्णयके लिये अथवा सयमकी रक्षा इत्यादिके लिये छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिके मस्तकसे जो एक हाथका पुतला निकलता है, उसे आहारक शरीर कहते हैं। (तत्त्वोमे कोई शका होने पर केवली अथवा श्रुतकेवलीके पास जानेके लिए ऐसे मुनिके मस्तकसे एक हाथका पुतला निकलता है उसे आहारक शरीर कहते हैं।)

तैजस शरीर—औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरोको कान्ति देनेवाले तैजस वर्गणासे बने हुए शरीरको तैजस शरीर कहते हैं।

कार्मण शरीर—ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके समूहको कार्मण शरीर कहते हैं।

नोट—पहिले तीन शरार आहार वर्गणामें से बनते हैं।

शरीरोंकी सूक्ष्मताका वर्णन

परं परं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—पहिले कहे हुए शरीरोकी अपेक्षा [परं परं] आगे आगेके शरीर [सूक्ष्मम्] सूक्ष्म सूक्ष्म होते हैं अर्थात् औदारिककी अपेक्षा वैक्रियिक सूक्ष्म, वैक्रियिककी अपेक्षा आहारक सूक्ष्म, आहारककी अपेक्षा तैजस सूक्ष्म और तैजसकी अपेक्षासे कार्मण शरीर सूक्ष्म होता है ॥ ३७ ॥

पहिले पहिले शरीरकी अपेक्षा आगेके शरीरोंके प्रदेश थोड़े होंगे ऐसी विरुद्ध मान्यता दूर करनेके लिये सूत्र कहते हैं।

है जैसे कोई जीव शय्यासे सोकर जागता है उसीप्रकार आनन्द सहित यह जीव उठा होता है। यह देवोंका उपपाद जन्म है।

२—नारकी जीव बिलोंमें उत्पन्न होते हैं मधुमक्खीके छत्तेकी भाँति ओंधा मुख किये हुये इत्यादि आकारके विविध मुखवाले उत्पत्तिस्थान हैं उनमें नारकी जीव उत्पन्न होते हैं और वे उल्टा सिर ऊपर पर किये हुए अनेक कष्ट कर वेदनाओंसे निकलकर विलाप करते हुए धरती पर गिरते हैं यह नारकीका उपपादजन्म है ॥ ३४ ॥

सम्मूर्च्छन जन्म किसके होता है ?

शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—[शेषाणां] गर्भ और उपपाद जन्मवाले जीवोंके अतिरिक्त शेष जीवोंके [सम्मूर्च्छनम्] सम्मूर्च्छन जन्म ही होता है अर्थात् सम्मूर्च्छन जन्म शेष जीवोंके ही होता है।

टीका

एकेन्द्रियसे असैनी चतुरिन्द्रिय जीवोंके नियमसे सम्मूर्च्छन जन्म होता है और असैनी तथा सैनी पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंके गर्भ और सम्मूर्च्छन दोनों प्रकारके जन्म होते हैं अर्थात् कुछ गर्भज होते हैं और कुछ सम्मूर्च्छन होते हैं। लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्योंके भी सम्मूर्च्छनजन्म होता है ॥ ३५ ॥

शरीरके नाम तथा भेद

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ॥ ३६ ॥

अर्थ—[औदारिक-वैक्रियिक आहारक तैजस कार्मणानि] औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस और कार्मण [शरीराणि] यह पाँच शरीर हैं।

औदारिक शरीर—मनुष्य और तिर्यंचोंका शरीर जो कि सड़ता है गलता है तथा झरता है वह—औदारिक शरीर है। यह शरीर स्थूल होता है

इसलिये उदार कहलाता है, सूक्ष्म निगोदियोका शरीर इन्द्रियोके द्वारा न तो दिखाई देता है न मुटता है और न काटनेसे कटता है, फिर भी वह स्थूल है, क्योकि दूसरे शरीर उससे क्रमश' सूक्ष्म हैं [देखो इसके बादका सूत्र]

वैक्रियिक शरीर—जिसमे हलके भारी तथा अनेक प्रकारके रूप बनानेकी शक्ति हो उसे वैक्रियिक शरीर कहते हैं वह देव और नारकियोके ही होता है।

नोट—यह बात ध्यानमें रखना चाहिये कि औदारिक शरीरवाले जीव के ऋद्धिके कारण जो विक्रिया होती है वह औदारिक शरीरका ही प्रकार है।

आहारकशरीर—सूक्ष्म पदार्थोंके निर्णयके लिये अथवा सयमकी रक्षा इत्यादिके लिये छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिके मस्तकसे जो एक हाथका पुतला निकलता है, उसे आहारक शरीर कहते हैं। (तत्त्वोमे कोई शका होने पर केवली अथवा श्रुतकेवलीके पास जानेके लिए ऐसे मुनिके मस्तकसे एक हाथका पुतला निकलता है उसे आहारक शरीर कहते हैं।)

तैजस शरीर—औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरोको कान्ति देनेवाले तैजस वर्गणासे बने हुए शरीरको तैजस शरीर कहते हैं।

कार्मण शरीर—ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके समूहको कार्मण शरीर कहते हैं।

नोट—पहिले तीन शरीर आहार वर्गणामें से बनते हैं।

शरीरोंकी सूक्ष्मताका वर्णन

परं परं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—पहिले कहे हुए शरीरोकी अपेक्षा [परं परं] आगे आगेके शरीर [सूक्ष्मम्] सूक्ष्म सूक्ष्म होते हैं अर्थात् औदारिकको अपेक्षा वैक्रियिक सूक्ष्म, वैक्रियिककी अपेक्षा आहारक सूक्ष्म, आहारककी अपेक्षा तैजस सूक्ष्म और तैजसकी अपेक्षासे कार्मण शरीर सूक्ष्म होता है ॥ ३७ ॥

पहिले पहिले शरीरकी अपेक्षा आगेके शरीरोंके प्रदेश थोड़े होंगे ऐसी विरुद्ध मान्यता दूर करनेके लिये सूत्र कहते हैं।

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तैजसात् ॥ ३८ ॥

अर्थ—[प्रदेशतः] प्रदेशोंकी अपेक्षासे [तैजसात् प्राक्] तैजस शरीरसे पहिलेके शरीर [असंख्येयगुण] असंख्यातगुणे हैं।

टीका

औदारिक शरीरके प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यातगुणे प्रदेश वैक्रियिक शरीरके हैं, और वैक्रियिक शरीरकी अपेक्षा, असंख्यातगुणे प्रदेश आहारक शरीरके हैं ॥ ३८ ॥

अनन्तगुणे परे ॥ ३९ ॥

अर्थ—[परे] शेष दो शरीर [अनन्तगुण] अनन्तगुणे परमाणु (प्रदेश) वाले हैं अर्थात् आहारक शरीरकी अपेक्षा अनन्तगुणे प्रदेश तैजस शरीरमें होते हैं और तैजस शरीरकी अपेक्षा अनन्तगुणे प्रदेश कार्मण शरीर में होते हैं।

टीका

आगे आगेके शरीरोंमें प्रदेशोंकी संख्या अधिक होने पर भी उनका मिलाप लोहेके पिंडके समान सघन होता है इसलिये वे अल्परूप होते हैं यहाँ प्रदेश कहनेका अर्थ परमाणु समझना चाहिये ॥ ३९ ॥

तैजस और कार्मणशरीरकी विशेषता

अप्रतिघाते ॥ ४० ॥

अर्थ—तैजस और कार्मण ये दोनों शरीर [अप्रतिघाते] अप्रतिघात अर्थात् बाधा रहित हैं।

टीका

ये दोनों शरीर लोकके अन्त तक हर जगह जा सकते हैं और चाहे जहाँसे निकल सकते हैं। वैक्रियिक और आहारक शरीर हर किसीमें प्रवेश कर सकता है परन्तु वैक्रियिक शरीर त्रसनाली तक ही गमन कर सकता है। आहारक शरीरका गमन अधिकसे अधिक अढ़ाई द्वीप पर्यंत यानी केवली और श्रुतकेवली हों वहाँ तक होता है। मनुष्यका वैक्रियिक शरीर

मनुष्यलोक (अढ़ाई द्वीप) तक जाता है उससे अधिक नही जा सकता ॥ ४० ॥

तैजस और कार्मण शरीरकी अन्य विशेषता

अनादिसम्बन्धे च ॥ ४१ ॥

अर्थ—[च] और यह दोनो शरीर [**अनादिसम्बन्धे**] आत्माके साथ अनादिकालसे सम्बन्धवाले हैं।

टीका

१. यह कथन सामान्य तैजस और कार्मणशरीरकी अपेक्षासे है। विशेष अपेक्षासे इसप्रकारके पहिले पहिले शरीरोका सम्बन्ध छूटकर नये नये शरीरोके सम्बन्ध होता रहता है, अर्थात् अयोगी गुणस्थानसे पहिले–प्रति समय जीव इस तैजस और कार्मण शरीरके नये नये रजकणोको ग्रहण करता है और पुरानेको छोडता है। (१४ वाँ गुणस्थानके अन्तिम समय इन दोनो का अभाव हो जाता है उसी समय जीव सीधी श्रेणीसे सिद्धस्थानमें पहुँच जाता है) सूत्रमे 'च' शब्द दिया है उससे यह अर्थ निकलता है।

२ जीवके इन शरीरोका सबध प्रवाहरूपसे अनादि नही है परन्तु नया (सादि) है ऐसा मानना गलत है, क्योकि जो ऐसा होता तो पहिले जीव अशरीरी था अर्थात् शुद्ध था और पीछे वह अशुद्ध हुआ ऐसा सिद्ध होगा, परन्तु शुद्ध जीवके अनन्त पुरुषार्थ होनेसे उसके अशुद्धता आ नही सकती और जहाँ अशुद्धता नही होती है वहाँ ये शरीर हो ही नही सकते। इसप्रकार जीवके इन शरीरोका सम्बन्ध सामान्य अपेक्षासे (–प्रवाहरूपसे) अनादिसे है। और यदि इन तैजस और कार्मण शरीरोका सम्बन्ध अनादिसे प्रवाहरूप नही मानकर वहीका वही अनादिसे जीवसे सम्बन्धित है ऐसा माना जाय तो उनका सम्बन्ध अनन्तकाल तक रहेगा और तब जीवके विकार न करने पर भी उसे मोक्ष कभी भी नही होगा। अवस्थादृष्टिसे जीव अनादिकालसे अशुद्ध है ऐसा इस सूत्रसे सिद्ध होता है। (देखो इसके बादके सूत्रकी टीका)

ये शरीर अनादिकालसे सब जीवोंके होते हैं

सर्वस्य ॥ ४२ ॥

अर्थ—ये तैजस और कार्मण शरीर [सर्वस्य] सब संसारी जीवोंके होते हैं।

टीका

जिन जीवोंके इन शरीरोंका सम्बन्ध नहीं होता है उनके संसार अवस्था नहीं होती है सिद्ध अवस्था होती है। यह बात ध्यानमें रखना चाहिए कि—किसी भी जीवके वास्तवमें (परमार्थसे) शरीर होता नहीं है। यदि जीवके वास्तव शरीर माना जाय तो जीव जड़ शरीररूप हो जायगा परन्तु ऐसा होता नहीं है। जीव और शरीर दोनों एक आकाश क्षेत्रमें (एक क्षेत्रावगाह सम्बन्धरूप) रहते हैं इसलिये अज्ञानी जीव शरीरको अपना मानते हैं अवस्था दृष्टिसे जीव अनादिकालसे अज्ञानी है इसलिये 'अज्ञानीके इस प्रतिभास' को व्यवहार बतलाकर उसे 'जीवका शरीर' कहा जाता है।

इसप्रकार जीवके विकारीभावका और इस शरीरका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताया है किन्तु जीव और शरीर एक द्रव्यरूप, एक क्षेत्ररूप एक पर्यायरूप या एक भावरूप हो जाते हैं—यह बतानेका शास्त्रोंका हेतु नहीं है इसलिये आगेके सूत्रमें सम्बन्ध' शब्दका प्रयोग किया है यदि इसप्रकार (—व्यवहार कथनानुसार) जीव और शरीर एकरूप हो जांय तो दोनों द्रव्योंका सर्वथा नाश हो जायगा ॥ ४२ ॥

एक जीवके एक साथ कितने शरीरोंका सम्बन्ध होता है ?

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥४३॥

अर्थ—[तदादीनि] उन तैजस और कार्मण शरीरोंसे प्रारम्भ करके [युगपत्] एक साथ [एकस्मिन्] एक जीवके [आचतुर्भ्यः] चार शरीर तक [भाज्यानि] विभक्त करना चाहिये अर्थात् जानना चाहिये।

टीका

जीवके यदि दो शरीर हों तो तैजस और कार्मण तीन हों तो

तैजस, कार्मण और औदारिक अथवा तैजस कार्मण और वैक्रियिक, चार हो तो तैजस, कार्मण औदारिक और आहारक, अथवा तैजस कार्मण औदारिक और (लब्धिवाले जीवके) वैक्रियिक शरीर होते हैं। इसमे (लब्धिवाले जीवके) औदारिकके साथ जो वैक्रियिक शरीर होना बतलाया है वह शरीर औदारिक की जातिका है, देवके वैक्रियिक शरीरके रजकणो की जातिका नही ॥ ४३ ॥ (देखो सूत्र ३६ तथा ४७ की टीका)

कार्मण शरीर की विशेषता

निरुपभोगमन्त्यम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—[**अन्त्यम्**] अंतका कार्मण शरीर [**निरुपभोगम्**] उपभोग रहित होता है।

टीका

१. उपभोग—इन्द्रियोके द्वारा शब्दादिकके ग्रहण करना (-जानना) सो उपभोग है।

२ विग्रहगतिमें जीवके भावेन्द्रियाँ होती हैं (देखो सूत्र १८) वहाँ जड इन्द्रियोकी रचनाका अभाव है [देखो सूत्र १७] उस स्थितिमे शब्द, रूप, रस, गंध या स्पर्शका अनुभव (-ज्ञान) नही होता, इसलिये कार्मण शरीरको निरुपभोग ही कहा है।

प्रश्न—तैजस शरीर भी निरुपभोग ही है तथापि उसे यहाँ क्यो नही गिना है ?

उत्तर—तैजसशरीर तो किसी योगका भी कारण नही है इसलिये निरुपभोगके प्रकरणमे उसे स्थान नही है। विग्रहगतिमे कार्मण शरीर कार्मण योगका कारण है (देखो सूत्र २५) इसलिये वह उपभोगके योग्य है या नही—यह प्रश्न उठ सकता है। उसका निराकरण करनेके लिये यह सूत्र कहा है। तैजसशरीर उपभोगके योग्य है या नही यह प्रश्न ही नही उठ सकता, क्योकि वह तो निरुपभोग ही है, इसलिये यहाँ उसे नही लिया गया है।

४ जीवकी अपनी पात्रता–योग्यता (उपादान) के अनुसार बाह्य निमित्त संयोगरूप (उपस्थितरूप) होते हैं, और जब अपनी पात्रता नहीं होती तब वे उपस्थित नहीं होते, यह बात इस सूत्रमें बतलाई गई है। जब जीव शब्दादिकका ज्ञान करने योग्य नहीं होता तब जड़ शरीररूप इन्द्रियाँ उपस्थित नहीं होती, और जब जीव वह ज्ञान करने योग्य होता है तब जड़ शरीररूप इन्द्रियाँ स्वयं उपस्थित होती हैं ऐसा समझना चाहिये।

५ पच्चीसवाँ सूत्र और यह सूत्र बतलाता है कि–परवस्तु जीवको विकारभाव नहीं कराती क्योंकि विग्रहगतिमें स्थूल शरीर स्त्री पुत्र इत्यादि कोई नहीं होते द्रव्यकर्म जड़ हैं उनके ज्ञान नहीं होता और वे अपना–स्वक्षेत्र छोड़कर जीवके क्षेत्रमें नहीं जा सकते इसलिये वे कर्म जीव में विकारभाव नहीं करा सकते। जब जीव अपने दोषसे अज्ञानदशामें प्रतिक्षण नया विकारभाव किया करता है तब जो कर्म प्रसग होते हैं उनपर उदयका आरोप होता है और जीव जब विकारभाव नहीं करता तब पृथक होनेवाले कर्मोंपर निर्जरा का आरोप होता है अर्थात् उसे 'निर्जरा' नाम दिया जाता है ॥ ४४ ॥

औदारिक शरीर का लक्षण

गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—[गर्भ] गर्भ [सम्मूर्च्छनजम्] और सम्मूर्च्छन जन्मसे उत्पन्न होनेवाला शरीर [आद्य] पहिला–औदारिक शरीर कहलाता है।

टीका

प्रश्न—शरीर तो जड़ पुद्गल द्रव्य है और यह जीवका अधिकार है फिर भी उसमें यह विषय क्यों लिया गया है ?

उत्तर— जीवके भिन्न भिन्न प्रकारके विकारीभाव होते हैं तब उसको भिन्न भिन्न प्रकारके शरीरोंके साथ एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होता है यह बतानेके लिये शरीरोंका विषय यहाँ (इस सूत्रमें तथा इस अध्याय के अन्य कई सूत्रोंमें) लिया गया है ॥ ४५ ॥

वैक्रियिक शरीरका लक्षण

औपपादिकं वैक्रियिकम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—[औपपादिकम्] उपपाद जन्मवाले अर्थात् देव और नारकियोके शरीर [वैक्रियिक] वैक्रियिक होते हैं।

नोट—उपपाद जन्मका विषय ३४ वें सूत्रमें और वैक्रियिक शरीरका विषय ३६ वें सूत्रमें आ चुका है, उन सूत्रोंको और उनकी टीकाको यहाँ भी पढ लेना चाहिए।

देव और नारकियोंके अतिरिक्त दूसरोंके वैक्रियिक शरीर होता है या नहीं ?

लब्धिप्रत्ययं च ॥ ४७ ॥

अर्थ—वैक्रियिकशरीर [लब्धिप्रत्ययं च] लब्धिनैमित्तिक भी होता है।

टीका

वैक्रियिक शरीरके उत्पन्न होनेमे ऋद्धिका निमित्त है, साधुको तपकी विशेषतासे प्राप्त होनेवाली ऋद्धिको 'लब्धि' कहा जाता है। प्रत्ययका अर्थ निमित्त है। किसी तिर्यंचको भी विक्रिया होती है। विक्रिया शुभभावका फल है, धर्मका नहीं। धर्मका फल तो शुद्ध असगभाव है और शुभभावका फल बाह्य सयोग है। मनुष्य तथा तिर्यंचोका वैक्रियिक शरीर देव तथा नारकियोके शरीरसे भिन्न जातिका होता है, वह औदारिक शरीरका ही एक प्रकार है॥ ४७ ॥ [देखो सूत्र ३६ तथा ४३ की टीका]

वैक्रियिकके अतिरिक्त किसी अन्य शरीरको भी लब्धिका निमित्त है ?

तैजसमपि ॥ ४८ ॥

अर्थ—[तैजसम्] तैजसशरीर [अपि] भी लब्धिनिमित्तक है।

टीका

१—तैजसशरीरके दो भेद हैं–अनिःसरण और निःसरण। अनिःसरण सर्व ससारी जीवोके शरीरकी दीप्तिका कारण है, वह लब्धिप्रत्यय नही है। उसका स्वरूप सूत्र ३६ की टीकामें आ चुका है।

२—निःसरण—तैजस शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारका है। यदि किसी क्षेत्रमें रोग, अकाल आदि पड़े तो उससे लोगोंको दुःखी देखकर तपस्याके धारी मुनिके अत्यन्त करुणा उत्पन्न हो जाय तो उनके दाहिने कन्धेमें से एक तैजसपिंड निकलकर १२ योजन तक जीवोंका दुःख मिटाकर मूलशरीरमें प्रवेश करता है उसे निःसरणशुभतैजसशरीर कहते हैं। और किसी क्षेत्रमें मुनि अत्यन्त क्रोधित हो जाय तो ऋद्धिके प्रभावसे उनके बायें कंधेसे सिंदूरके समान लाल अग्निरूप कान्तिवाला बिलावके आकार एक शरीर निकलकर (यह शरीर बढ़कर १२ योजन लंबा और ९ योजन विस्तारवाला होकर) १२ योजन तकके सब जीवोंके शरीरको तथा अन्य पुद्गलों को जलाकर भस्म करके मूलशरीरमें प्रवेश करके उस मुनिको भी भस्म कर देता है (वह मुनि नरक को प्राप्त होता है।) उसे निःसरणअशुभतैजसशरीर कहते हैं॥ ४८॥

आहारक शरीरका स्वामी तथा उसका लक्षण

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥४९॥

अर्थ—[आहारकं] आहारक शरीर [शुभम्] शुभ है अर्थात् वह शुभ कार्य करता है [विशुद्धम्] विशुद्ध है अर्थात् वह विशुद्धकर्म (मंद कषाय से बंधनेवाले कर्म) का कार्य है। [च अव्याघाति] और व्याघात—बाधारहित है तथा [प्रमत्तसंयतस्यैव] प्रमत्तसंयत (छठवें गुणस्थानवर्ती) मुनिके ही वह शरीर होता है।

टीका

१—यह शरीर चन्द्रकान्तमणिके समान सफेद रंगका एक हाथ प्रमाणका पुरुषाकार होता है वह पर्वत अथवा इत्यादिसे नहीं रुकता इसलिये अव्याघाति है। यह शरीर प्रमत्तसंयमी मुनिके मस्तकमें से निकलता है प्रमत्तसंयत गुणस्थानमें ही यह शरीर होता है अन्यत्र नहीं होता और यह शरीर सभी प्रमत्तसंयत मुनियोंके भी नहीं होता।

२—यह आहारकशरीर (१) कदाचित् लब्धि विशेषके सद्भाव जाननेके लिये (२) कदाचित् सूक्ष्मपदार्थके निर्णयके लिये तथा (३) कदाचित् तीर्थगमनके या संयमकी रक्षाके निमित्त उसका प्रयोजन है, केवली

भगवान् अथवा श्रुतकेवली भगवान्के पास जाते हो स्वय निर्णय करके अंतर्मुहूर्तमे वापिस आकर सयमी मुनिके शरीरमे प्रवेश करता है।

३—जिससमय भरत-ऐरावत क्षेत्रोमे तीर्थंकर भगवान्की, केवली की, या श्रुतकेवलीकी उपस्थिति नही होती और उनके विना मुनिका समाधान नही हो पाता तब महाविदेह क्षेत्रमे जहाँ तीर्थंकर भगवान इत्यादि विराजमान होते हैं वहाँ उन (भरत या ऐरावत क्षेत्रके) मुनिका आहारक शरीर जाता है और भरत-ऐरावत क्षेत्रमे तीर्थंकरादि होते हैं तब वह निकट के क्षेत्रमे जाता है। महा विदेहमे तीर्थंकर त्रिकाल होते हैं इसलिये वहांके मुनिके ऐसा प्रसग आये तो उनका आहारक शरीर उस क्षेत्रके तीर्थंकरादिके पास जाता है।

४-(१) देव अनेक वैक्रियिक शरीर कर सकते हैं, मूलशरीर सहित देव स्वर्गलोकमे विद्यमान रहते हैं और विक्रियाके द्वारा अनेक शरीर करके दूसरे क्षेत्रमे जाते हैं जैसे कोई सामर्थ्यका धारक देव अपना एक हजार रूप किये परन्तु उन हजारो शरीरोमे उस देवकी आत्माके प्रदेश होते हैं। मूल वैक्रियिक शरीर जघन्य दश हजार वर्ष तक रहता है अर्थात् अधिक जितनी आयु होती है उतने समय तक रहता है। उत्तर वैक्रियिक शरीरका काल जघन्य तथा उत्कृष्ट अतर्मुहूर्त ही है। तीर्थंकर भगवानके जन्मके समय और नदीश्वरादिके जिनमदिरोकी पूजाके लिये देव जाते हैं तब बारबार विक्रिया करते हैं।

(२) प्रमत्तसयत मुनिका आहारक शरीर दूर क्षेत्र-विदेहादिमेंजाता है।

(३) तैजसशरीर १२ योजन (४८ कोस) तक जाता है।

(४) आत्मा अखड है उसके खण्ड नही होते। आत्माके असख्यात प्रदेश हैं वे कार्मण शरीरके साथ निकलते हैं मूलशरीर ज्योका त्यो बना रहता है, और उसमे भी प्रत्येक स्थलमे आत्माके प्रदेश अखण्ड रहते हैं।

(५)—जैसे अन्नको प्राण कहना उपचार है उसीप्रकार इस सूत्रमे आहारक शरीरको उपचारसे ही 'शुभ' कहा है। दोनो स्थानोमें कारणमे

कार्य का उपचार (व्यवहार) किया गया है। जैसे प्राणका फल प्राण है उसी प्रकार शुभका फल आहारक शरीर है, इसलिये यह उपचार है ॥४९॥

लिंग अर्थात् वेदके स्वामी।

नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥

अर्थ—[नारकसम्मूर्च्छिनो] नारकी और सम्मूर्च्छन जन्मवाले [नपुंसकानि] नपुंसक होते हैं।

टीका

१–लिंग अर्थात् वेद दो प्रकारके हैं—(१) द्रव्यलिंग=पुरुष स्त्री या नपुंसकत्व बतानेवाला शरीरका चिह्न और (२) भावलिंग=स्त्री, पुरुष अथवा स्त्री पुरुष दोनोंके भोगनेकी अभिलाषारूप आत्माके विकारी परिणाम। नारकी और सम्मूर्च्छन जीवोंके द्रव्यलिंग और भावलिंग दोनों नपुंसक होते हैं।

२–नारकी और सम्मूर्च्छन जीव नपुंसक ही होते हैं, क्योंकि उन जीवोंके स्त्री-पुरुष सबंधी मनोज्ञ शब्दका सुनना, मनोज्ञगंधका सूंघना, मनोज्ञरूपका देखना मनोज्ञरसका चखना या मनोज्ञस्पर्शका स्पर्शन करना इत्यादि कुछ नहीं होता इसलिये थोड़ासा कल्पित सुख भी उन जीवोंके नहीं होता अतः निश्चय किया जाता है कि वे जीव नपुंसक ही हैं ॥ ५० ॥

देवोंके लिंग

न देवा ॥ ५१ ॥

अर्थ—[देवा] देव [न] नपुंसक नहीं होते अर्थात् देवोंके पुरुषलिंग और देवियोंके स्त्रीलिंग होता है।

टीका

१—देवगतिमें द्रव्यलिंग तथा भावलिंग एकसे होते हैं। २–भोग भूमि म्लेच्छखण्डके मनुष्य स्त्रीवेद और पुरुषवेद दोनोंको धारण करते हैं, वहाँ नपुंसक उत्पन्न नहीं होते ॥ ५१ ॥

अन्य कितने लिंगवाले हैं ?

शेषास्त्रिवेदाः ॥ ५२ ॥

अर्थ—[**शेषाः**] शेषके गर्भज मनुष्य और तिर्यंच [**त्रिवेदाः**] तीनो वेदवाले होते हैं।

टीका

भाववेदके भी तीन प्रकार है–(१) पुरुषवेदकी कामाग्नि तृणकी अग्निके समान जल्दी शात हो जाती है, (२) स्त्रीवेदकी कामाग्नि अगारके समान गुप्त और कुछ समयके बाद शात होती है, और (३) नपु सकवेदकी कामाग्नि ईंटकी आगके समान बहुत समयतक बनी रहती है ॥५२॥

किनकी आयु अपवर्तन (-अकालमृत्यु) रहित है ?

औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥५३॥

अर्थ—[**औपपादिक**] उपपाद जन्मवाले देव और नारकी, [**चरम उत्तम देहाः**] चरम उत्तम देहवाले अर्थात् उसी भवमें मोक्ष जाने वाले तथा [**असख्येयवर्ष आयुषः**] असख्यात वर्ष आयुवाले भोगभूमिके जीवोकी [**आयुषः अनपवर्ति**] आयु अपवर्तन रहित होती है।

टीका

१–आठ कर्मोंमे आयुनामका एक कर्म है। भोग्यमान (भोगी जानेवाली) आयु कर्मके रजकरण दो प्रकारके होते हैं–सोपक्रम और निरुपक्रम। उनमेंसे आयुके प्रमाणमे प्रतिसमय समान निषेक निर्जरित होते हैं, उस प्रकारका आयु निरुपक्रम अर्थात् अपवर्तन रहित है, और जिस आयुकर्मके भोगनेमें पहिले तो समय समयमे समान निषेक निर्जरित होते हैं परन्तु उसके अतिमभागमें बहुतसे निषेक एकसाथ निर्जरित हो जाये उसीप्रकारकी आयु सोपक्रम कहलाती है। आयुकर्मके बधमें ऐसी विचित्रता है कि जिसके निरुपक्रम आयुका उदय हो उसके समय समय समान निर्जरा होती है इस-

लिये यह उदय कहलाता है और सोपक्रम आयुवालेके पहिले अमुक समय तो उपरोक्त प्रकारसे ही निर्जरा होती है तब उसे उदय कहते हैं परन्तु अन्तिम अन्तर्मुहूर्तमें सभी निषेक एक साथ निर्जरित हो जाते हैं इसलिये उसे उदीरणा कहते हैं वास्तवमें किसी की आयु बढ़ती या घटती नहीं है परन्तु निरुपक्रम आयुका सोपक्रम आयुसे भेद बतानेके लिये सोपक्रम आयु वाले जीवकी 'अकाल मृत्यु हुई' ऐसा व्यवहारसे कहा जाता है।

२—उत्तम अर्थात् उत्कृष्ट चरमदेह उत्कृष्ट होती है क्योंकि जो जो जीव केवलज्ञान पाते हैं उनका शरीर केवलज्ञान प्रगट होने पर परं औदारिक हो जाता है। जिस शरीरसे जीवको केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता वह शरीर चरम नहीं होता और परमौदारिक भी नहीं होता। मोक्ष प्राप्त करनेवाले जीवका शरीरके साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध केवलज्ञान प्राप्त होने पर कैसा होता है यह बतानेके लिये इस सूत्रमें चरम और उत्तम, ऐसे दो विशेषण दिये गये हैं जब केवलज्ञान प्रगट होता है तब उस शरीर को 'चरम' संज्ञा प्राप्त होती है और वह परमौदारिकरूप हो जाता है इसलिये उसे उत्तम' संज्ञा प्राप्त होती है परन्तु वज्रवृषभनाराचसंहनन तथा समचतुरस्रसंस्थानके कारण शरीरको उत्तम' संज्ञा नहीं दी जाती।

३—सोपक्रम-कदलीघात अर्थात् वर्तमानके लिये अपवर्तन होने-वाली आयुवालेके बाह्यमें विष वेदना रक्तक्षय भय शस्त्राघात श्वासा वरोध अग्नि जल सर्प अजीर्णभोजन वज्रपात शूली हिंसकजीव, तीव्र भूख या प्यास आदि कोई निमित्त होते हैं। (कदलीघातके अर्थके लिये देखो अ० ४ सूत्र २१ की टीका)

४—कुछ अंतःकृत केवली ऐसे होते हैं कि जिनका शरीर उपसर्गसे विदीर्ण हो जाता है परन्तु उनकी आयु अपवर्तनरहित है। चरमदेहधारी गुरुदत्त पांडव इत्यादिको उपसर्ग हुआ था परन्तु उनकी आयु अपवर्तन-रहित थी।

५— उत्तम पदका अर्थ त्रेसठ शलाका पुरुष अथवा कामदेवादि महापुरुष ऐसा करना ठीक नहीं है। क्योंकि सुभौमचक्रवर्ती अंतिम

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती तथा अन्तिम अर्धचक्रवर्ती वासुदेव आयुके अपवर्तन होने पर मरणको प्राप्त हुये थे।

६—भरत और बाहुबलि तद्भवमोक्षगामी जीव हुये हैं, इसलिये परस्परमें लडने पर भी उनकी आयु बिगड सकती नही—ऐसा कहा है वह बताता है कि 'उत्तम' शब्दका तद्भवमोक्षगामो जीवोके लिये ही प्रयोग किया गया है।

७—सभी सकलचक्रवर्ती और अर्धचक्रवर्ती, अनपवर्तन आयुवाले होते हैं ऐसा नियम नही है।

८—सर्वार्थसिद्धि टीकामें श्री पूज्यपाद आचार्य देवने 'उत्तम' शब्दका अर्थ किया है, इसलिये मूल सूत्रमे वह शब्द है यह सिद्ध होता है। श्री अमृतचन्द्राचार्य देवने तत्त्वार्थसारके दूसरे अध्यायकी १३५ वी गाथामे उत्तम शब्दका प्रयोग किया है, वह गाथा निम्नप्रकार है—

असंख्येय समायुक्ताश्चरमोत्तममूर्तयः
देवाश्च नारकाश्चैषाम् अपमृत्युर्नविद्यते ॥१३५॥

उपसंहार

(१) इस अध्यायमें जीवतत्त्वका निरूपण है, उसमे प्रथम ही जीव के औपशमिकादि पाँच भावोका वर्णन किया है [सूत्र १] पाँच भावोके ५३ भेद सात सूत्रोमे कहे हैं [सूत्र ७ तक] तत्पश्चात् जीवका प्रसिद्ध लक्षण उपयोग बतलाकर उसके भेद कहे हैं [सूत्र ९] जीवके ससारी और मुक्त दो भेद कहे हैं [सूत्र १०] उनमेसे ससारी जीवोके भेद सैनी असैनी तथा त्रस स्थावर कहे हैं, और त्रसके भेद दो इन्द्रियसे पचेन्द्रिय तक बतलाये हैं, पाँच इन्द्रियोके द्रव्येन्द्रिय, और भावेन्द्रिय ऐसे दो भेद कहे हैं, और उसके विषय बतलाये हैं [सूत्र २१ तक] एकेन्द्रियादि जीवोके कितनी इन्द्रियाँ होती हैं इसका निरूपण किया है [सूत्र २३ तक] और फिर सैनी जीवोका तथा जीव परभवगमन करता है। उसका (गमनका) स्वरूप कहा है [सूत्र ३० तक] तत्पश्चात् जन्मके भेद, योनिके भेद, तथा गर्भज देव, नारकी और सम्मूर्छन जीव कैसे —— होते हैं इसका

निर्णय किया है। [सूत्र ३५ तक] पाँच शरीरोंके नाम बतलाकर उनकी सूक्ष्मता और स्थूलताका स्वरूप कहा है, और वे कैसे उत्पन्न होते हैं इसका निरूपण किया है [सूत्र ४९ तक] फिर किस जीवके कौनसा वेद होता है यह कहा है [सूत्र ५२ तक] फिर उदयमरण और उदीरणामरणका नियम बताया है [सूत्र ५३]

जबतक जीवकी अवस्था विकारी होती है तबतक ऐसे परवस्तुके संयोग होते हैं यहाँ उनका ज्ञान कराया है, और सम्यग्दर्शन प्राप्त करके, वीतरागता प्राप्त करके संसारी मिटकर मुक्त होनेके लिये बतलाया है।

२ पारिणामिकभावके सम्बन्धमें

जीव और उसके अनन्तगुण त्रिकाल अखण्ड अभेद हैं इसलिये वे पारिणामिकभावसे हैं। प्रत्येक द्रव्यके प्रत्येकगुणका प्रतिक्षण परिणमन होता है और जीव भी द्रव्य है इसलिए तथा उसमें द्रव्यत्व नामका गुण है इसलिए प्रतिसमय उसके अनन्तगुणोंका परिणमन होता रहता है उस परिणमनको पर्याय कहते हैं। उसमें जो पर्यायें अनादिकालसे शुद्ध हैं वे भी पारिणामिक भावसे हैं।

जीवकी अनादिकालसे संसारी अवस्था है यह बात इस अध्यायके १० वें सूत्रमें कही है क्योंकि जीव अपनी अवस्थामें अनादिकालसे प्रतिक्षण नया विकार करता आ रहा है किन्तु यह ध्यान रहे कि उसके सभी गुणोंकी पर्यायोंमें विकार नहीं होता किन्तु अनन्त गुणोंमेंसे बहुतसे कम गुणोंकी अवस्थामें विकार होता है। जितने गुणोंकी अवस्थामें विकार नहीं होता उतनी पर्यायें शुद्ध हैं।

प्रत्येक द्रव्य सत् है इसलिए उसकी पर्यायमें प्रतिसमय उत्पाद व्यय और ध्रौव्यत्वको पर्याय अवलम्बन करती है। उन तीन अंशोंमेंसे जो सदृशतारूप ध्रौव्य अंश है वह अंश अनादि अनन्त एक प्रवाहरूप है ध्रौव्य पर्याय भी पारिणामिकभावसे है।

इससे निम्नप्रकार पारिणामिकभाव सिद्ध हुआ—

द्रव्यका चिरन्तनत्व तथा अनन्तगुण और उनकी पर्यायोंका एक

प्रवाहरूपसे रहनेवाला अनादि अनन्त ध्रौव्यांश यह तीनो अभेदरूपसे पारिणामिकभाव है, और उसे द्रव्यदृष्टिसे परमपारिणामिकभाव कहा जाता है।

३. उत्पाद और व्यय पर्याय—

अब उत्पाद और व्ययपर्यायके सम्बन्धमे कहते हैं:—व्ययपर्याय अभावरूप है और वह पारिणामिक भावसे है।

द्रव्यके अनन्त गुणोकी प्रतिसमय उत्पादपर्याय होती रहती है, उसमे जिन गुणोकी पर्याय अनादिकालसे अविकारी है वह पारिणामिकभावसे है और वह पर्याय है इसलिए पर्यायार्थिकनयसे पारिणामिकभाव है।

परकी अपेक्षा रखनेवाले जीवके भावोंके चार विभाग होते हैं—१—औपशमिकभाव, २—क्षायोपशमिकभाव, ३—क्षायिकभाव और ४—औदयिकभाव। इन चार भावोका स्वरूप पहिले इस अध्यायके सूत्र १ की टीकामे कहा है।

४. धर्म करनेके लिये पाँच भावोंका ज्ञान कैसे उपयोगी है ?

यदि जीव इन पांच भावोके स्वरूपको जान ले तो वह स्वय यह समझ सकता है कि—किस भावके आधारसे धर्म होता है। पाँच भावोमेसे पारिणामिकभावके अतिरिक्त शेष चार भावोमेंसे किसीके लक्ष्यसे धर्म नही होता, और जो पर्यायार्थिकनयसे पारिणामिकभाव है उसके आश्रयसे भी धर्म नही होता—यह वह समझ सकता है।

जब कि अपने पर्यायार्थिकनयसे वर्तनेवाले पारिणामिकभावके आश्रयसे भी धर्म नही होता तब फिर निमित्त जो कि परद्रव्य है—उसके आश्रयसे या लक्ष्यसे तो धर्म हो ही नही सकता, यह भी वह समझता है। और परमपारिणामिकभावके आश्रयसे ही धर्म होता है ऐसा वह समझता है।

५. उपादानकारण और निमित्तकारणके सम्बन्धमें—

प्रश्न—जैनधर्मने वस्तुका स्वरूप अनेकान्त कहा है, इसलिए किसी समय उपादान (परमपारिणामिकभाव) की मुख्यतासे धर्म हो और किसी समय निमित्त (परद्रव्य) की मुख्यतासे धर्म हो, ऐसा होना चाहिए।

उपरोक्त प्रकारसे मात्र उपादान (परमपारिणामिकभाव) से धर्म होता है ऐसा कहनेसे एकान्त हो जायगा।

उत्तर—यह प्रश्न सम्यक्अनेकान्त मिथ्याअनेकान्त, और सम्यक् और मिथ्या एकान्तके स्वरूपकी अज्ञानता बतलाता है। परमपारिणामिक भावके आश्रयसे धर्म हो और दूसरे किसी भावके आश्रयसे धर्म न हो इस प्रकार अस्तिनास्ति स्वरूप सम्यक् अनेकान्त है। प्रश्नमें बतलाया गया अनेकान्त मिथ्याअनेकान्त है। और यदि इस प्रश्नमें बतलाया गया सिद्धान्त स्वीकार किया जाय तो वह मिथ्याएकान्त होता है क्योंकि यदि किसी समय निमित्तकी मुख्यतासे (अर्थात् परद्रव्यकी मुख्यतासे) धर्म हो तो परद्रव्य और स्वद्रव्य दोनों एक हो जाँय जिससे मिथ्याएकान्त होता है।

जिससमय उपादान कार्य परिणत होता है उसी कार्यके समय निमित्त कारण भी स्वयं उपस्थित होता है लेकिन निमित्तकी मुख्यतासे किसी भी कार्य किसी भी समय नहीं होता, ऐसा नियम दिखानेके लिए श्री बनारसीदासजीने कहा है कि—

'उपादान निज गुण जहाँ तहाँ निमित्त पर होय
भेदज्ञान परवान विधि विरला बूझे कोय,
उपादान बल जहँ तहाँ नहीं निमित्तको दाव
एक चक्रसों रथ चले रविको यहै स्वभाव
सधै वस्तु असहाय जहँ तहँ निमित्त है कौन
ज्यों जहाज परवाहमें तिरे सहज विन पौन

प्रश्न—तब फिर शास्त्रमें यह तो कहा है कि सच्चे देव शास्त्र गुरु और भगवानकी दिव्यध्वनिसे आश्रयसे धर्म होता है इसलिए कभी उन निमित्तोंकी मुख्यतासे धर्म होता है ऐसा माननेमें क्या दोष है ?

उत्तर—सच्चे देव शास्त्र गुरु आदिसे धर्म होता है ऐसा कथन व्यवहारनयका है उसका परमार्थ तो ऐसा है कि-परमशुद्धनिश्चय नयसे परमपारिणामिकभावके आश्रयसे (अर्थात् निज त्रिकाल शुद्ध चैतन्य परमात्मभाव-ज्ञायकभावसे) धर्म होता है और शुभभावरूप राग

का अवलम्बन लेता है उसमे सत्‌देव, सत्‌गुरु, सत्‌शास्त्र तथा भगवान की दिव्यध्वनि निमित्तमात्र है, तथा उस ओरका राग विकल्पको टाल करके जीव जब परमपारिणामिकभावका (ज्ञायकभावका) आश्रय लेता है तब उसके धर्म प्रगट होता है और उस समय रागका अवलम्बन छूट जाता है। धर्म प्रगट होनेके पूर्व राग किस दिशामे ढला था यह बतानेके लिए देवगुरु-शास्त्र या दिव्यध्वनि इत्यादिक निमित्त कहनेमे आते हैं, परन्तु निमित्त की मुख्यतासे किसी भी समय धर्म होता है यह बतानेके लिये निमित्त का ज्ञान नही कराया जाता।

(२) किसी समय उपादान कारणकी मुख्यतासे धर्म होता है और किसी समय निमित्तकारणकी मुख्यतासे धर्म होता है–अगर ऐसा मान लिया जाय तो धर्म करनेके लिये कोई त्रिकालवर्ती अबाधित नियम नही रहेगा; और यदि कोई नियमरूप सिद्धान्त न हो तो धर्म किस समय उपादान कारणकी मुख्यतासे होगा और किस समय निमित्तकारणकी मुख्यतासे होगा यह निश्चित् न होनेसे जीव कभी धर्म नही कर सकेगा।

(३) धर्म करनेके लिये त्रैकालिक एकरूप नियम न हो ऐसा नही हो सकता, इसलिये यह समझना चाहिये कि जो जीव पहिले धर्मको प्राप्त हुए हैं, वर्तमान मे धर्मको प्राप्त हो रहे हैं और भविष्यमे धर्मको प्राप्त करेंगे उन सबके पारिणामिकभावका ही आश्रय है, किसी अन्यका नही।

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि जीव ही सम्यग्दर्शन होनेके बाद सच्चे देव गुरु शास्त्रका अवलबन लेते हैं और उसके आश्रयसे उन्हे धर्म प्राप्त होता है तो वहाँ निमित्तकी मुख्यतासे धर्मका कार्य हुआ या नही ?

उत्तर—नही, निमित्तकी मुख्यता से कही भी कोई कार्य होता ही नही है। सम्यग्दृष्टिके जो राग और रागका अवलबन है उसका भी खेद रहता है, सच्चे देव गुरु या शास्त्रका भी कोई जीव अवलबन ले ही नही सकता, क्योकि वह भी परद्रव्य है, फिर भी जो यह कहा जाता है कि–ज्ञानीजन सच्चे देवगुरु शास्त्रका अवलबन लेते हैं वह उपचार है, कथनमात्र है, वास्तव मे परद्रव्यका अवलबन नही, किन्तु वहाँ अपनी अशुद्ध अवस्थारूप रागका ही अवलबन है।

अब जो उस शुभभावके समय सम्यग्दृष्टिके शुद्ध भाव बढ़ता है वह अभिप्रायमें परमपारिणामिकभावका आश्रय है उसीके बलसे बढ़ता है। अन्य प्रकारसे कहा जाय तो सम्यग्दर्शनके बलसे वह शुद्धभाव बढ़ते हैं किन्तु शुभराग या परद्रव्यके अवलम्बनसे शुद्धता नहीं बढ़ती।

प्रश्न—देव गुरु शास्त्रको निमित्तमात्र कहा है और उनके अवलंबन को उपचारमात्र कहा है, इसका क्या कारण है?

उत्तर—इस विश्वमें अनन्त द्रव्य हैं उनमेंसे रागके समय अपना जीवका झुकाव किस द्रव्यकी ओर हुआ यह बतानेके लिये उस द्रव्यको 'निमित्त' कहा जाता है। जीव अपनी योग्यतानुसार जैसा परिणाम (-कार्य) करता है वैसा अनुकूल निमित्तपनेका परद्रव्यमें उपचार किया जाता है इसप्रकार जीव शुभरागका आलंबन करे तो देव-गुरु-शास्त्र निमित्तमात्र हैं और उसका आलम्बन उपचारमात्र है।

निमित्त-नैमित्तिक संबंध जीवको सच्चा ज्ञान करनेके लिये है ऐसी मिथ्या मान्यता करनेके लिये नहीं कि—'धर्म करनेमें किसीसमय निमित्त की मुख्यता होती है। जो जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहते हैं उन्हें स्वतन्त्रतारूप निमित्त नैमित्तिक संबंधके स्वरूपका यथार्थज्ञान कर लेना चाहिये। उस ज्ञानकी आवश्यकता इसलिये है कि—यदि वह ज्ञान न हो तो जीवका ऐसा अन्यथा झुकाव बना रह सकता है कि—किसीसमय निमित्तकी मुख्यतासे भी काम होता है और इससे उसका अज्ञानपना दूर नहीं होगा। और इस निमित्ताधीनदृष्टि पराधीनता स्वीकार करनेवाली संयोगदृष्टि है जो संसारका मूल है इससे उसके अपार संसार भ्रमण चलता रहेगा।

६. इन पाँच भावोंके साथ इस अध्यायके सूत्र कैसे संबंध रखते हैं, इसका स्पष्टीकरण

सूत्र—१ यह सूत्र पाँचों भाव बतलाता है, उसमें शुद्ध द्रव्यार्थिक नयके विषयरूप अपने पारिणामिक भावके आश्रयसे ही धर्म होता है।

सूत्र २–६ यह सूत्र पहिले चार भावोंके भेद बतलाते हैं। उनमें से दोसरे सूत्रमें औपशमिकभावके भेदोंका वर्णन करते हुए पहिले सम्यक्त्व

लिया है, क्योंकि धर्मका प्रारंभ औपशमिक सम्यक्त्वसे होता है; सम्यक्त्व प्राप्त होनेके बाद आगे बढने पर कुछ जीवोंके औपशमिक चारित्र होता है इसलिए दूसरा औपशमिक चारित्र कहा है। इन दो के अतिरिक्त अन्य कोई औपशमिक भाव नहीं है। [सूत्र ३]

जो जो जीव धर्मके प्रारम्भमें प्रगट होनेवाले औपशमिक सम्यक्त्व को पारिणामिकभावके आश्रयसे प्राप्त करते हैं वे अपनेमें शुद्धिको बढाते बढाते अन्तमें संपूर्ण शुद्धता प्राप्त कर लेते हैं, इसलिये उन्हे सम्यक्त्व और चारित्र की पूर्णता होनेके अतिरिक्त ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य—गुणोंकी पूर्णता प्रगट होती है। इन नौ भावोंकी प्राप्ति क्षायिकभाव से पर्याय में होती है, इसलिये फिर कभी विकार नहीं होता और वे जीव अनन्त काल तक प्रतिसमय सम्पूर्ण आनन्द भोगते हैं, इसलिये चौथे सूत्रमे यह नौ भाव बतलाये हैं। उन्हे नव लब्धि भी कहते हैं।

सम्यक्ज्ञानका विकास कम होनेपर भी सम्यग्दर्शन—सम्यग्चारित्र के बलसे वीतरागता प्रगट होती है, इसलिये उन दो शुद्ध पर्यायोंके प्रगट होनेके बाद शेष सात क्षायिक पर्यायें एक साथ प्रगट होती हैं, तब सम्यग्ज्ञानके पूर्ण होनेपर केवलज्ञान भी प्रगट होता है। [सूत्र ४]

जीवमे अनादिकालसे विकार बना हुआ है फिर भी उसके ज्ञान, दर्शन और वीर्य गुण सर्वथा नष्ट नही होते, उनका विकास कम बढ अंशतः रहता है। उपशम सम्यक्त्व द्वारा अनादिकालीन अज्ञान को दूर करने के बाद साधक जीवको क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है, और उन्हे क्रमशः चारित्र प्रगट होता है, वे सब क्षायोपशमिकभाव हैं। [सूत्र ५]

जीव अनेक प्रकारका विकार करता है और उसके फलस्वरूप चतुर्गतिमे भ्रमण करता है, उसमें उसे स्वस्वरूपकी विपरीत श्रद्धा, विपरीतज्ञान और विपरीत प्रवृत्ति होती है, और इससे उसे कषाय भी होती है। और फिर सम्यग्ज्ञान होनेके बाद पूर्णता प्राप्त करनेसे पूर्व आंशिक कषाय होती है जिससे उसकी भिन्न २ लेश्याएँ होती हैं। जीव स्वरूपका आश्रय छोड़ कर पराश्रय करता है इसलिये रागादि विकार होते हैं, उसे औदयिकभाव कहते हैं। मोह सम्बन्धी यह भाव ही संसार है। [सूत्र ६]

सूत्र ७—जीवमें शुद्ध और अशुद्ध ऐसे दो प्रकारके पारिणामिक भाव हैं। [सूत्र ७ तथा उसके नीचेकी टीका]

सूत्र ८–९—जीवका लक्षण उपयोग है छद्मस्थ जीवका ज्ञान दर्शन का उपयोग क्षायोपशमिक होनेसे अनेकरूप और कम बढ़ होता है और केवलज्ञान क्षायिकभावसे प्रगट होनेसे एकरूप और पूर्ण होता है। [सूत्र ८–९]

सूत्र १०—जीवके दो भेद हैं संसारी और मुक्त। उनमेंसे अनादि अज्ञानी संसारी जीवके तीन भाव (औदयिक क्षायोपशमिक और पारिणामिक) होते हैं। प्रथम धर्म प्राप्त करने पर चार (औदयिक क्षायोपशमिक औपशमिक और पारिणामिक) भाव होते हैं। क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करनेके बाद उपशमश्रेणी मांडनेवाले जीवके पाँचों भाव होते हैं और मुक्त जीवों के क्षायिक तथा पारिणामिक दो ही भाव होते हैं। [सूत्र १०]

सूत्र ११—जीवने स्वयं जिसप्रकारके ज्ञान, वीर्यादिके विकासकी योग्यता प्राप्त की होती है उस क्षायोपशमिकभावके अनुक्रम जड़ मनका सद्भाव या अभाव होता है। जब जीव मनकी ओर अपना उपयोग लगाते हैं तब उन्हें विकार होता है क्योंकि मन पर वस्तु है। और जब जीव अपना पुरुषार्थ मनकी ओर लगाकर ज्ञान या दर्शन का व्यापार करते हैं तब द्रव्यमनपर निमित्तपनेका आरोप आता है। जैसे द्रव्यमन कोई हानि या लाभ नहीं करता क्योंकि वह परद्रव्य है। [सूत्र ११]

सूत्र १२–२०—अपने क्षायोपशमिक ज्ञानादिके अनुसार और नामकर्मके उदयानुसार ही जीव संसारमें त्रस या स्थावर दशाको प्राप्त होता है। इसप्रकार क्षायोपशमिकभावके अनुसार जीवकी दशा होती है। पहिले जो नामकर्म बँधा था उसका उदय होनेपर त्रस स्थावरत्वका तथा पाँच इन्द्रियों और मनका संयोग होता है। [सूत्र १२ से १७ तथा १९ से २०]

ज्ञानके क्षायोपशमिकभावके लब्धि और उपयोग दो प्रकार हैं। [सूत्र १८]

सूत्र २१ से ५३—ससारी जीवोंके औदयिकभाव होने पर जो कर्म एक क्षेत्रावगाहरूपसे बँधते हैं उनके उदयका निमित्त-नैमित्तिक सबंध-जीवके क्षायोपशमिक तथा औदयिकभावके साथ तथा मन, इन्द्रिय, शरीर, कर्म, नये भवके लिये क्षेत्रान्तर, आकाशकी श्रेणी, गति, नो कर्मका समय समय ग्रहण, तथा उनका अभाव, जन्म, योनि, तथा आयुके साथ-कैसा होता है यह वताया है। [सूत्र २१ से २६ तथा २८ से ५३]

सिद्धदशाके होनेपर जीवका आकाशकी किसी श्रेणीके साथ निमित्त-नैमित्तिक सबध है यह २७ वें सूत्रमे बताया है [सूत्र २७]

इससे यह समझना चाहिये कि जीवको विकारी या अविकारी अवस्थामे जिन परवस्तुओके साथ सबध होता है उन्हे जगतकी अन्य पर-वस्तुओसे पृथक् समझनेके लिये उतने ही समयके लिये उन्हे 'निमित्त' नाम देकर सबोधित किया जाता है, **किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि निमित्त की मुख्यतासे किसी भी समय कार्य होता है।** इस अध्यायका २७ वाँ सूत्र इस सिद्धातको स्पष्टतया सिद्ध करता है। मुक्त जीव स्वय लोकाकाशके अग्रभागमे जानेकी योग्यता रखते हैं और तब आकाशकी जिस श्रेणीमेसे वे जीव पार होते हैं उस श्रेणीको-आकाशके अन्य भागो से तथा जगतके दूसरे समस्त पदार्थोंसे पृथक् करके पहिचाननेके लिये 'निमित्त' नाम (आरोपित करके) दिया जाता है।

७. निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध

यह सम्बन्ध २६-२७ वें सूत्रमें चमत्कारिक ढंगसे अत्यल्प शब्दोंमें कहा गया है। वह यहाँ बतलाया जाता है—

१—जीवकी सिद्धावस्थाके प्रथम समयमे वह लोकके अग्रभागमे सीधी आकाश श्रेणीसे मोड़ा लिये बिना ही जाता है यह सूत्र २६-२७ में प्रतिपादन किया गया है। जिस समय जीव लोकाग्रमें जाता है उस समय वह जिस आकाश श्रेणीमेसे जाता है उसी क्षेत्रमें धर्मास्तिकायके और अधर्मास्तिकायके प्रदेश हैं, अनेक प्रकारकी पुद्गल वर्गणाए हैं, पृथक् पर-माणु हैं, सूक्ष्म स्कंध हैं, कालाणुद्रव्य हैं, महास्कन्धके प्रदेश हैं, निगोदके जीवोके तथा उनके शरीरके प्रदेश हैं तथा लोकान्तमें (सिद्धशिलासे ऊपर)

पहिले मुक्त हुए जीवोंके कितने ही प्रदेश हैं उन सबमेंसे पार होकर जीव लोकके अग्रभागमें जाता है। इसलिये अब उसमें उस आकाश श्रेणीमें निमित्तत्वका आरोप आया और दूसरोंमें नहीं आया, इसके कारणकी खोज करने पर मालूम होता है कि वह मुक्त होनेवाला जीव किस आकाशश्रेणीमें से होकर जाता है इसका ज्ञान करानेके लिए उस 'आकाशश्रेणी' को निमित्त संज्ञा दी गई है क्योंकि पहिले समयकी सिद्धदशाको आकाशके साथका सम्बन्ध बतानेके लिये उस श्रेणीका भाग ही अनुकूल है, अन्य द्रव्य, गुण या पर्याय उसके लिये अनुकूल नहीं है।

२—सिद्धभगवानके उस समयके ज्ञानके व्यापारमें संपूर्ण—आकाश तथा दूसरे सब द्रव्य उसके गुण तथा उसकी त्रिकालवर्ती पर्यायें ज्ञेय होती हैं इसलिये उसी समय ज्ञानमात्रके लिये वे सब ज्ञेय निमित्त संज्ञाको प्राप्त होते हैं।

३—सिद्धभगवानके उस समयके परिणमनको काल द्रव्यकी वही समयकी पर्याय निमित्त' संज्ञाको प्राप्त होती है क्योंकि परिणमनमें वह अनुकूल है, दूसरे अनुकूल नहीं हैं।

४—सिद्धभगवानकी उस समयकी क्रियावतीशक्तिके गति परिणाम को तथा ऊर्ध्वगमन स्वभावको धर्मास्तिकायके किसी आकाश क्षेत्रमें रहने वाले प्रदेश उसी समय 'निमित्त' संज्ञाको प्राप्त होते हैं क्योंकि गतिमें वही अनुकूल हैं दूसरे नहीं।

५—सिद्धभगवानके ऊर्ध्वगमनके समय दूसरे द्रव्य (जो कि आकाश क्षेत्रमें हैं वे तथा शेष द्रव्य) भी निमित्त' संज्ञाको प्राप्त होते हैं क्योंकि उन सब द्रव्योंका यद्यपि सिद्धावस्थाके साथ कोई संबंध नहीं है तथापि विश्व को सदा शाश्वत रखता है इतना बतानेके लिये वह अनुकूल निमित्त है।

६—सिद्धभगवानकी संपूर्ण शुद्धताके साथ कर्मोंका अभावसंबंध है इतनी अनुकूलता बतानेके लिये कर्मोंका अभाव भी 'निमित्त संज्ञाको प्राप्त होता है, इसप्रकार अस्ति और नास्ति दोनों प्रकारसे निमित्तपनेका आरोप

किया जाता है। किन्तु निमित्तको किसी भी प्रकारसे मुख्यरूपसे या गौण-रूपसे कार्यसाधक मानना गभीर भूल है। शास्त्रीय परिभाषामे उसे मिथ्या-त्व और अज्ञान कहा जाता है।

७—निमित्त जनक और नैमित्तिक—जन्य है, इसप्रकार जीव अज्ञान दशामे मानता है, इसलिये अज्ञानियोकी कैसी मान्यता होती है यह बताने के लिये व्यवहारसे निमित्तको जनक और नैमित्तिकको जन्य कहा जाता है किन्तु सम्यग्ज्ञानी जीव ऐसा नही मानते। उनका वह ज्ञान सच्चा है यह उपरोक्त पाँचवाँ पैरा बतलाते हैं, क्योकि उसमे बताये गये अनत निमित्त या उनमेका कोई अश भी सिद्ध दशाका जनक नही हुआ। और वे निमित्त या उनमेसे किसीके अनतवें अंशसे भी नैमित्तिक सिद्ध दशा जन्य नही हुई।

८—ससारी जीव भिन्न २ गतिके क्षेत्रोमे जाते हैं वे भी अपनी क्रियावतीशक्तिके उस उस समयके परिणमनके कारणसे जाते हैं, उसमे भी उपरोक्त पैरा १ से ५ मे बताये गये अनुसार निमित्त होते हैं। किन्तु क्षेत्रान्तरमें धर्मास्तिकायके प्रदेशोकी उस समयकी पर्यायके अतिरिक्त दूसरा कोई द्रव्य, गुण या पर्याय निमित्त सज्ञाको प्राप्त नही होता। उस समय अनेक कर्मोंका उदय होने पर भी एक विहायोगति नामकर्मका उदय ही 'निमित्त' सज्ञा पाता है। गत्यानुपूर्वी कर्मके उदयको जीवके प्रदेशोके उस समयके आकारके साथ क्षेत्रान्तरके समय निमित्तपना है और जब जीव जिस क्षेत्रमें स्थिर हो जाता है उस समय अधर्मास्तिकायके उस क्षेत्रके प्रदेशोकी उस समयकी पर्याय 'निमित्त' सज्ञाको प्राप्त होती है।

सूत्र २५ बतलाता है कि क्रियावती शक्तिके उस समयके परिण-मनके समय योग गुणकी जो पर्याय पाई जाती है उसमे कार्मण शरीर निमित्त है, क्योकि कार्मण शरीरका उदय उसके अनुकूल है। कार्मण शरीर और तैजस शरीर अपनी क्रियावतीशक्तिके उस समयके परिणमनके कारण जाता है, उसमे धर्मास्तिकाय निमित्त है।

९—इस शास्त्रमें निमित्तको किसी स्थान पर 'निमित्त' नामसे ही कहा गया है। [देखो अ० १ सू० १४] और किसी स्थान पर उपकार, उपग्रह, इत्यादि नामसे कहा गया है [देखो अ० ५ सू० १७ से २०], भावअपेक्षामें उसका एक ही अर्थ होता है किन्तु अज्ञानी जीव यह मानते हैं कि एक वस्तुसे दूसरी वस्तुका भला–बुरा होता है, यह बतानेके लिये उसे 'उपकार' सहायक बलाधान, बहिरंगसाधन बहिरंगकारण निमित्त और निमित्तकारण इत्यादि नामसे सम्बोधित करते हैं किन्तु इससे यह नहीं मान लेना चाहिये कि वे वास्तविक कारण या साधन हैं। एक द्रव्य को उसके गुणोंको या उसकी पर्यायोंको दूसरेसे पृथक करके दूसरेके साथ का उसका संयोगमात्र सम्बन्ध बतानेके लिये उपरोक्त नामोंसे सम्बोधित किया जाता है। इन्द्रियोंको धर्मास्तिकायको अधर्मास्तिकाय इत्यादिको बलाधानकारणके नामसे भी पहिचाना जाता है किन्तु वह कोई भी सच्चा कारण नहीं है फिर भी किसी भी समय उनकी मुख्यतासे कोई कार्य होता है' ऐसा मानना निमित्तको ही उपादान माननेके बराबर अथवा व्यवहार को ही निश्चय माननेके बराबर है।

१०—उपादानकारणके योग्य निमित्त संयोगरूपसे उस उस समय अवश्य होते हैं। ऐसा सम्बन्ध उपादान कारणकी उस समयकी परिणमन शक्तिको जिस पर निमित्तत्वका आरोप आता है उसके साथ है। उपादान को अपने परिणमनके समय उन उन निमित्तोंके आनेके लिये राह देखनी पड़े और वे न आयें तब तक उपादान नहीं परिणमता ऐसी मान्यता उपा दान और निमित्त इन दो द्रव्योंको एकरूप माननेके बराबर है।

११—इसीप्रकार घड़ेका कुम्भकारके साथ और रोटीका अग्नि रसोइया इत्यादिके साथका निमित्त नैमित्तिक सबंध समझ लेना चाहिये। सम्यग्ज्ञान प्रगट करनेके लिये जीवने स्वयं अपने पुरुषार्थसे पात्रता प्राप्त की हो फिर भी उसे सम्यग्ज्ञान प्रगट करनेके लिये सद्गुरुकी राह देखनी पड़े ऐसा नहीं होता किन्तु वह संयोगरूपसे उपस्थित होता ही है इसलिये जब बहुतसे जीव धर्म प्राप्त करनेके लिये तैयार होते हैं तब तीर्थंकर भगवान

का जन्म होता है और वे योग्य समयमे केवलज्ञानको प्राप्त करते हैं तथा उनकी दिव्यध्वनि स्वयं प्रगट होती है, ऐसा समझना चाहिये।

८. तात्पर्य

तात्पर्य यह है कि–इस अध्यायमे कहे गये पाँच भाव तथा उनके दूसरे द्रव्योके साथके निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धका ज्ञान करके अन्य सब परसे लक्ष हटाकर परमपारिणामिकभावकी ओर अपनी पर्यायको उन्मुख करने पर सम्यग्दर्शन होता है और फिर उस ओर बल बढाने पर सम्यग्चारित्र होता है, यही धर्ममार्ग (मोक्षमार्ग) है।

इसप्रकार श्री उमास्वामी विरचित
मोक्षशास्त्रके दूसरे अध्यायकी
टीका समाप्त हुई।

मोक्षशास्त्र अध्याय तीसरा

भूमिका

इस शास्त्रके पहिले अध्यायके पहिले सूत्रमें निश्चय 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकता मोक्षमार्ग है' यह बतलाया है,—दूसरा कोई मोक्ष मार्ग नहीं है। इससे यहाँ यह भी बतलाया है कि पुण्यसे-शुभभावसे अथवा परवस्तु अनुकूल हो तो धर्म हो सकता है ऐसा मानना भूल है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्माकी शुद्ध पर्याय है। यदि उसे एक शब्दमें कहा जाय तो सत्य पुरुषार्थ मोक्षमार्ग है। इससे सिद्ध हुआ कि आत्माकी अपनी अपनी शुद्ध परिणति ही धर्म है यह बतलाकर अनेकान्त स्वरूप बतलाया है। प्रथम सूत्रमें जो पहिला शब्द 'सम्यग्दर्शन' कहा है वह सूचित करता है कि धर्मका प्रारम्भ निश्चय सम्यग्दर्शनसे ही होता है। उस अध्यायमें निश्चय सम्यग्दर्शनका लक्षण तत्त्वार्थ श्रद्धान कहा है। तत्पश्चात् तत्त्वार्थका स्वरूप समझाया है और सम्यग्ज्ञानके अनेक प्रकार बतलाकर मिथ्याज्ञानका स्वरूप भी समझाया है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता (-एक ही) मोक्षमार्ग है-इसप्रकार पहिले सूत्रमें स्पष्टतया बतलाकर घोषित किया है कि-किसी समय उपादानकी परिणतिकी मुख्यतासे कार्य होता है और किसी समय संयोगरूप बाह्य अनुकूल निमित्तकी (जिसे उपचार कारण कहा जाता है उसकी) मुख्यतासे कार्य होता है-ऐसा अनेकांतका स्वरूप नहीं है।

दूसरे अध्यायसे जीव तत्त्वका अधिकार प्रारम्भ किया है उसमें जीवके स्वतत्त्वरूप-निजस्वरूप पाँच भाव बतलाये हैं। उन पाँच भावोंमेंसे सकलनिरावरण अखंड एक प्रत्यक्षप्रतिभासमय अविनश्वर शुद्धपारिणामिक परमभाव (ज्ञायकभाव) के आश्रयसे धर्म होता है यह बतलानेके लिये औपशमिकभाव जो कि धर्मका प्रारम्भ है उसे पहिले भावके रूपमें वर्णन किया है। तत्पश्चात् जीवका लक्षण उपयोग है यह बतलाकर उसके

भेद बतलाये हैं, और यह बतलाया है कि पांच भावोंके साथ परद्रव्योका—इन्द्रिय इत्यादिका कैसा सम्बन्ध होता है।

जीवको औदयिकभाव ही ससार है। शुभभावका फल देवत्व है, अशुभभावकी तीव्रताका फल नारकीपन है, शुभाशुभभावोकी मिश्रताका फल मनुष्यत्व है, और मायाका फल तिर्यंचपना है, जीव अनादिकालसे अज्ञानी है इसलिये अशुद्धभावोके कारण उसका भ्रमण हुआ करता है वह भ्रमण कैसा होता है यह तीसरे और चौथे अध्यायमे बतलाया है। उस भ्रमणमे (भवोमें) शरीरके साथ तथा क्षेत्रके साथ जीवका किस प्रकारका सयोग होता है वह यहाँ बताया जा रहा है। मांस, शराब, इत्यादिके खान-पानके भाव, कठोर झूंठ, चोरी, कुशील, तथा लोभ इत्यादिके तीव्र अशुभभावके कारण जीव नरकगतिको प्राप्त करता है उसका इस अध्यायमे पहिले वर्णन किया है और तत्पश्चात् मनुष्य तथा तिर्यंचोंके क्षेत्रका वर्णन किया है।

चौथे अध्यायमे देवगतिसे सम्बन्ध रखनेवाले विवरण बताये गये हैं।

इन दो अध्यायोका सार यह है कि—जीवके शुभाशुभ विकारीभावो के कारण जीवका अनादिकालसे परिभ्रमण हो रहा है उसका, मूलकारण मिथ्यादर्शन है, इसलिये भव्यजीवोको मिथ्यादर्शन दूर करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये। सम्यग्दर्शनका बल ऐसा है कि उससे क्रमशः सम्यग्चारित्र बढ़ता जाता है और चारित्रकी पूर्णता करके परम यथाख्यात-चारित्रकी पूर्णता करके, जीव सिद्ध गतिको प्राप्त करता है। अपनी भूलके कारण जीवकी कैसी कैसी गति हुई तथा उसने कैसे कैसे दुःख पाये और बाह्य सयोग कैसे तथा कितने समय तक रहे यह बतानेके लिये अध्याय २–३–४ कहे गये हैं। और उस भूलको दूर करनेका उपाय पहिले अध्यायके पहिले सूत्रमे बतलाया गया है।

★

अधोलोकका वर्णन

सात नरक-पृथिवियाँ

रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताऽधोऽधः ॥ १ ॥

* **अर्थः**—अधोलोकमें रत्नप्रभा शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा तमप्रभा और महातमप्रभा ये सात भूमियाँ हैं और क्रमसे नीचे २ घनोदधिवातवलय घनवातवलय तनुवातवलय तथा आकाशका आधार है।

टीका

१ रत्नप्रभा पृथ्वीके तीन भाग हैं—खरभाग पंकभाग और अब्बहुलभाग। उनमेंसे ऊपरके पहिले दो भागोंमें व्यन्तर तथा भवनवासी देव रहते हैं और नीचेके अब्बहुलभागमें नारकी रहते हैं। इस पृथ्वीका कुल विस्तार एक लाख अस्सी हजार योजन है। [२००० कोसका एक योजन होता है।]

२ इन पृथ्वियोंके रूढ़िगत नाम ये हैं—१ घम्मा, २—वंशा ३—मेघा ४—अंजना, ५—अरिष्टा ६—मघवी और ७—माघवी है।

३—अम्बु (घनोदधि) वातवलय=बाष्पका घना वातावरण
घनवातवलय=घनी हवाका वातावरण।
तनुवातवलय=पतली हवाका वातावरण।
वातवलय=वातावरण।
आकाश कहनेसे यहाँ अलोकाकाश समझना चाहिए ॥१॥

---

* इस अध्यायमें भूगोल संबंधी वर्णन होनेसे पहिले दो अध्यायोंकी भाँति सूत्रके पद पृथक् करके अर्थ नहीं दिया गया है किन्तु पूरे सूत्रका सीधा अर्थ दिया गया है।

तीन लोक की रचना
अ लो का का श
एक राजू
आरण
अच्युत
आनत
प्राणत
शतार
सहस्रार
शुक्र
महाशुक्र
लान्तव
कापिष्ट
ब्रह्म
ब्रह्मोत्तर
सानत्कुमार
महेन्द्र
सौधर्म
ऐशान
ऊर्ध्व लोक
मध्य लोक
एक राजू
अधो लोक
शर्करा प्रभा
बालुका प्रभा
पङ्क प्रभा
धूम प्रभा
तमः प्रभा
महातमः प्रभा
निगोद
सात नरक
अ लो का का श
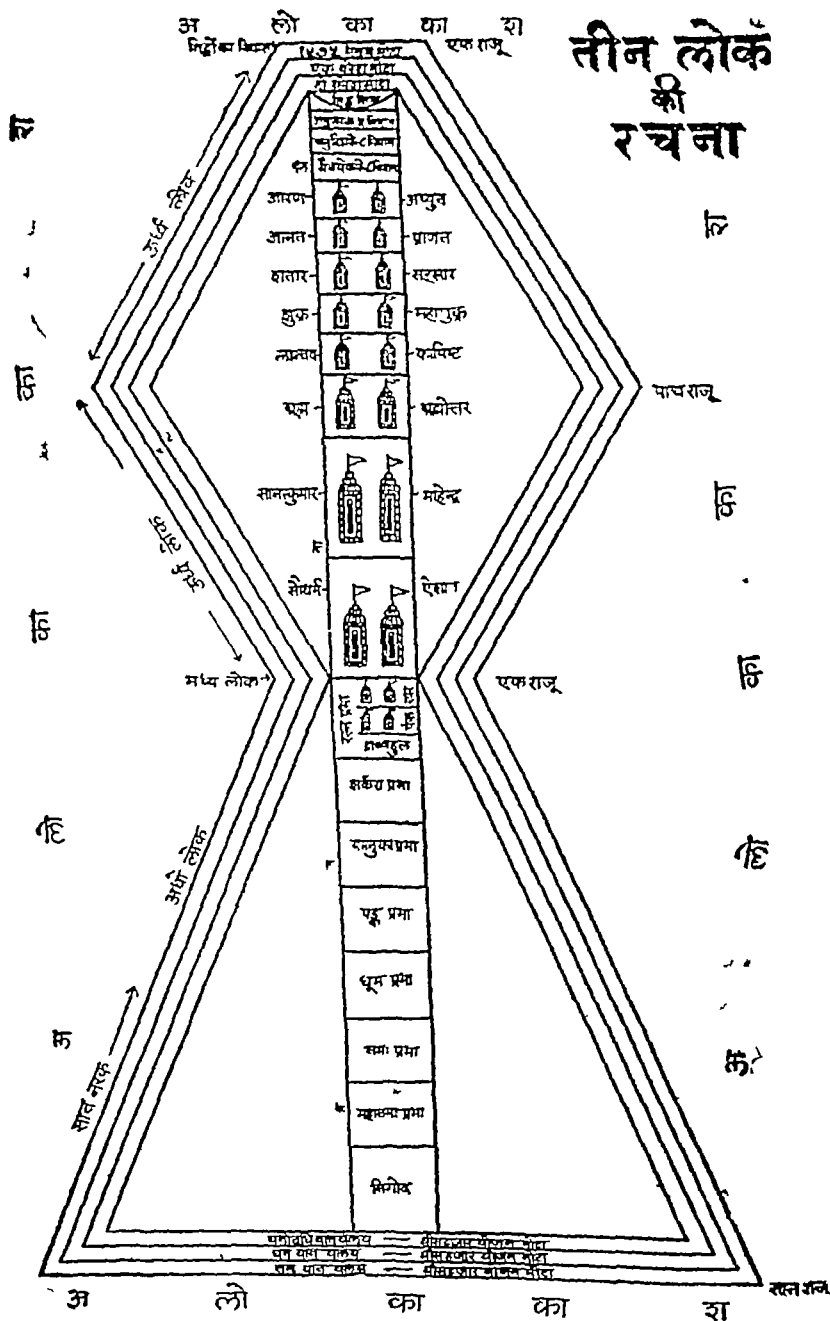
सात पृथ्वियोंके बिलोंकी संख्या

तासु त्रिंशत्पचविंशतिपचदशदशत्रिपंचोनैकनरक-शतसहस्राणि पंच चैव यथाक्रमम् ॥ २ ॥

अर्थः—उन पृथ्वियोमे क्रमसे पहिली पृथ्वीमे तीस लाख, दूसरीमे २५ लाख, तीसरीमे १५ लाख, चौथीमे १० लाख, पाँचवीमे ३ लाख, छठवीमे पाँच कम एक लाख (९९९९५) और सातवीमे ५ ही नरक बिले हैं। कुल ८४ लाख नरकवास बिल हैं।

टीका

कुछ लोग मनुष्यगति और तिर्यंचगति यह दो ही गतियाँ मानते हैं, क्योकि वे दो प्रकारके जीवोको ही देखते हैं। उनका ज्ञान सकुचित होनेसे वे ऐसा मानते हैं कि मनुष्य और तिर्यंचगतिमे जो तीव्र दुःख है वही नरक गति है दूसरी कोई नरकगति वे लोग नही मानते। परन्तु उनकी यह मान्यता मिथ्या है, क्योकि मनुष्य और तिर्यंचगतिसे जुदी ऐसी नरकगति उन जीवोके अशुभभावका फल है। उसके अस्तित्वका प्रमाण निम्नप्रकार है—

नरकगतिका प्रमाण

जो जीव अति कठोर भयकर दुष्कृत्य करते हैं और यह देखने की आवश्यकता नही समझते कि स्वयं पाप कार्य करते समय दूसरे जीवोको क्या दुःख होता है तथा जो अपनी अनुकूलतावाली एक पक्षकी दुष्ट बुद्धिमे एकाग्र रहते हैं उन जीवोको उन क्रूर परिणामोंके फलरूप निरतर अनंत प्रतिकूलताएँ भोगनेके स्थान अधोलोकमें हैं, उसे नरकगति कहते हैं।

देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक, यह चार गतियाँ सदा विद्यमान हैं, वे कल्पित नही किंतु जीवोंके परिणामका फल हैं। जिसने दूसरेको मार-डालनेके क्रूरभाव किये उसके भावमें, अपनी अनुकूलताके सिद्ध करनेमें बाधा डालनेवाले कितने जीव मार डाले जायें जिनकी सख्याकी कोई मर्यादा नही है, तथा कितने काल तक मारे जायें उसकी भी मर्यादा नही है इसलिये उसका फल भी अपार अनत दुःख भोगनेका ही है, ऐसा स्थान नरक है,

मनुष्यलोकमें ऐसा कोई स्थान नहीं है।

जो दूसरोंको मारकर प्रतिकूलताको दूर करना चाहते हैं वे जितने विरोधी मालूम होते हैं उन सबको मारना चाहते हैं, फिर चाहे प्रतिकूलता करनेवाले दो चार हों या बहुत हों उन सबका नाश करनेकी भावनाका सेवन निरंतर करता है। उसके अभिप्रायमें अनंतकाल तक अनंतभव धारण करने के भाव भरे पड़े हैं। उस भवकी अनंतसंख्याके कारणमें अनंत जीवोंको मारनेका संहार करनेका अमर्यादित पाप भाव है। जिस जीवने कारणमें अनन्तकाल तक अनन्त जीवोंको मारनेके बाधा डालनेके भाव सेये हैं उसके फलमें उस जीवको तीव्र दुःखोंके संयोगमें जाना पड़ता है और वह नरकगति है। लाखों खून (–हत्या) करनेवालेको लाखों बार फाँसी मिलती हो ऐसा इस लोकमें नहीं होता इसलिये उसे अपने क्रूर भावोंके अनुसार पूरा फल नहीं मिलता उसे अपने भावोंका पूरा फल मिलनेका स्थान–बहुतकाल तक अनन्त दुःख भोगनेका क्षेत्र नरक है वह नीचे शाश्वत है ॥ २ ॥

नारकियोंके दुःखोंका वर्णन

नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणाम देहवेदनाविक्रिया ॥ ३ ॥

अर्थ—नारकी जीव सदैव ही अत्यन्त अशुभ लेश्या परिणाम शरीर, वेदना और विक्रियाको धारण करते हैं।

टीका

१ लेश्या—यह द्रव्यलेश्याका स्वरूप है जो कि आयु पर्यंत रहती है। यहाँ शरीरके रंगको द्रव्यलेश्या कहा है। भावलेश्या अंतर्मुहूर्तमें बदल जाती है उसका वर्णन यहाँ नहीं है। अशुभलेश्याके भी तीन प्रकार हैं कापोत नील और कृष्ण। पहिली और दूसरी पृथ्वीमें कापोतलेश्या तीसरी पृथ्वीमें ऊपरके भागमें कापोत और नीचेके भागमें नील चौथीमें

नील, पाँचवीमे ऊपरके भागमे नील और नीचेके भागमे कृष्ण और छठवी तथा सातवी पृथ्वीमे कृष्णलेश्या होती है।

२. परिणाम—यहाँ स्पर्श, रस, गध, वर्ण और शब्दको परिणाम कहा है।

३. शरीर—पहिली पृथ्वीमे शरीरकी ऊँचाई ७ धनुष्य ३ हाथ और ६ अगुल है, वह हुंडक आकारमे होता है। तत्पश्चात् नीचे २ की पृथ्वीके नारकियोके शरीर की ऊँचाई क्रमश दूनी दूनी है।

४. वेदना—पहिलेसे चौथे नरक तक उष्ण वेदना है, पाँचवेंके ऊपरी भागमे उष्ण और नीचले भागमे शीत है, तथा छट्ठे और सातवेंमे महाशीत वेदना है। नारकियो का शरीर वैक्रियिक होनेपर भी उसके शरीरके वैक्रियिक पुद्गल मल, मूत्र, कफ, वमन, सडा हुआ मास, हाड और चमडी वाले औदारिक शरीरसे भी अत्यन्त अशुभ होता है।

५. विक्रिया—उन नारकियोके क्रूर सिंह व्याघ्रादिरूप अनेक प्रकारके रूप धारण करनेकी विक्रिया होती है ॥ ३ ॥

नारकी जीव एक दूसरेको दुःख देते हैं

परस्परोदीरितदुःखाः ॥ ४ ॥

अर्थ—नारकी जीव परस्पर एक दूसरेको दु ख उत्पन्न करते हैं (–वे कुत्तेकी भाँति परस्पर लड़ते हैं) ॥ ४ ॥

विशेष दुःख

संक्लिष्टाऽसुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥५॥

अर्थ—और उन नारकियोके चौथी पृथ्वीसे पहिले पहिले (अर्थात् तीसरी पृथ्वी पर्यंत) अत्यन्त सक्लिष्ट परिणामके धारक अब अबरिष आदि जातिके असुरकुमार देवोके द्वारा दु ख पाते हैं अर्थात् अब-अंबरिष असुर-कुमारदेव तीसरे नरक तक जाकर नारकी जीवोको दु ख देते हैं तथा उनके

पूर्वके वैरका स्मरण करा कराके परस्परमें लड़ाते हैं। और दुःखी देख राजी होते हैं।

सूत्र ३ ४ ५ में नारकियोंके दुःखोंका वर्णन करते हुए उनके शरीर, उनका रंग, स्पर्श इत्यादि तथा दूसरे नारकियों और देवोंके दुःखका कारण कहा है वह उपचार कथन है वास्तवमें वे कोई परपदार्थ दुःखोंके कारण नहीं हैं तथा उनका संयोगसे दुःख नहीं होता। परपदार्थोंके प्रति जीवकी एकत्वबुद्धि ही वास्तवमें दुःख है उस दुःखके समय, नरकगतिमें निमित्तरूप बाह्यसयोग कैसा होता है उसका ज्ञान करानेके लिए यहाँ तीन सूत्र कहे हैं, परंतु यह नहीं समझना चाहिये कि—ये शरीरादि वास्तवमें दुःखके कारण हैं।

नारकोंकी उत्कृष्ट आयु का प्रमाण

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रय स्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थिति ॥ ६ ॥

अर्थ—उन नरकोंके नारकी जीवोंकी उत्कृष्ट आयुस्थिति क्रमसे पहिलेमें एक सागर, दूसरेमें तीन सागर, तीसरेमें सात सागर चौथेमें दश सागर, पाँचवेंमें सत्रह सागर छट्ठेमें बावीस सागर और सातवेंमें तेतीस सागर है।

टीका

१ नारक गतिमें भयानक दुःख होनेपर भी नारकियों की आयु निरुपक्रम है—उनकी अकालमृत्यु नहीं होती।

२ आयु का यह काल वर्तमान मनुष्योंकी आयुकी अपेक्षा लम्बा लगता है परन्तु जीव अनादिकालसे है और मिथ्यादृष्टिपनके कारण यह नारकीपणा जीवने अनन्तवार भोगा है। अध्याय २ सूत्र १० की टीकामें द्रव्य क्षेत्र काल भव और भावपरिभ्रमण (परावर्तन) का जो स्वरूप दिया गया है उसके देखनेसे मालूम होगा कि यह काल तो महासागर की एक बूंदसे भी बहुत कम है।

३ नारकी जीवोको जो भयानक दु ख होते हैं उसके वास्तविक कारण, भयानक शरीर, वेदना, मारपीट, तीव्र उष्णता तीव्र शीतलता इत्यादि नही हैं, परन्तु मिथ्यात्वके कारण उन सयोगोके प्रति अनिष्टपनेकी खोटी कल्पना करके जीव तीव्र आकुलता करता है उसका दु.ख है। परसंयोग अनुकूल-प्रतिकूल होता ही नही, परन्तु वास्तवमे जीवके ज्ञानके क्षयोपशम उपयोगके अनुसार ज्ञेय (–ज्ञानमे ज्ञात होने योग्य) पदार्थ हैं, उन पदार्थोंको देखकर जब अज्ञानी जीव दु खकी कल्पना करता है तब परद्रव्योपर यह आरोप होता है कि—वे दु खमे निमित्त हैं।

४ शरीर चाहे जितना खराब हो, खानेको भी न मिलता हो, पीनेको पानी भी न मिलता हो, तीव्र गर्मी या ठण्ड हो, और बाह्य सयोग (अज्ञानदृष्टिसे) चाहे जितने प्रतिकूल हो परन्तु वे संयोग जीवको सम्यग्दर्शन (धर्म) करनेमे बाधक नही होते, क्योकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमे कभी बाधा नही डाल सकता, नरकगतिमे भी पहिलेसे सातवें नरक तक ज्ञानी पुरुषके सत्समागमसे पूर्वभवमे सुने गये आत्मस्वरूपके सस्कार ताजे करके नारकी जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं। तीसरे नरकतकके नारकी जीवोको पूर्वभवका कोई सम्यग्ज्ञानी मित्र देव आत्मस्वरूप समझाता है तो उसके उपदेशको सुनकर यथार्थ निर्णय करके वे जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं।

५ इससे सिद्ध होता है कि—"जीवोका शरीर अच्छा हो, खाना पीना ठीक मिलता हो और बाह्य सयोग अनुकूल हो, तो धर्म हो सकता है और उनकी, प्रतिकूलता होने पर जीव धर्म नही कर सकता"—यह मान्यता ठीक नहीं है। परको अनुकूल करनेमे प्रथम लक्ष रोकना और उसके अनुकूल होनेपर धर्मको समझना चाहिये,—इस मान्यतामे भूल है, क्योकि धर्म पराधीन नही किन्तु स्वाधीन है और वह स्वाधीनतापूर्वक प्रगट किया जा सकता है।

६. **प्रश्न**—यदि बाह्य सयोग और कर्मोंका उदय धर्ममे बाधक नही है तो नारकी जीव चौथे गुणस्थानसे ऊपर क्यो नही जाते ?

उत्तर—पहिले उन जीवोंने अपने पुरुषार्थकी बहुत विपरीतता की है और वे वर्तमानमें अपनी भूमिकाके अनुसार मंद पुरुषार्थ करते हैं इस लिये उन्हें ऊपर चढ़नेमें विलम्ब होता है।

७ प्रश्न—सम्यग्दृष्टिको नरकमें कैसा दुःख होता है ?

उत्तर—नरक या किसी क्षेत्रके कारण किसी भी जीवको सुख दुःख नहीं होता किंतु अपनी नासमझीके कारण दुःख और अपनी सच्ची समझके कारण सुख होता है किसी को पर वस्तुके कारण सुख दुःख या हानि लाभ हो ही नहीं सकता। अज्ञानी नारकी जीवको जो दुःख होता है वह अपनी विपरीत मान्यतारूप दोषके कारण होता है बाह्य-संयोगके अनुसार या संयोगके कारण दुःख नहीं होता। अज्ञानी जीव परवस्तुको कभी प्रतिकूल मानते हैं और इसलिये वे अपनी अज्ञानताके कारण दुःखी होते हैं और कभी पर वस्तुएँ अनुकूल हैं ऐसा मानकर सुखकी कल्पना करते हैं इसलिये अज्ञानी जीव परद्रव्योंके प्रति इष्टत्व-अनिष्टत्वकी कल्पना करते हैं।

सम्यग्दृष्टि नारकी जीवोंके अनंत संसारका बंधन करनेवाली कषाय दूर होगई है स्वरूपाचरणकी आंशिक शांति निरंतर है इसलिये उतना सच्चा सुख उन्हें नरकमें भी निरन्तर मिलता है। जितनी कषाय है उतना अल्प दुःख होता है किंतु वह दुःख वर्षोंके बाद ही उस अल्प दुःखका भी नाश कर देंगे। वे परको दुःखदायक नहीं मानते किंतु अपनी असावधानी को दुःखका कारण मानते हैं इसलिये वे अपनी असावधानीको दूर करते जाते हैं। असावधानी दो प्रकार की है—स्वरूपकी मान्यताकी और स्वरूप के आचरणकी। उनमेंसे पहिले प्रकारकी असावधानी सम्यग्दर्शनके प्रगट होने पर दूर हो जाती है और दूसरे प्रकारकी असावधानीको वे टालते जाते हैं।

८. सम्यग्दर्शन प्रगट करके—सम्यग्दृष्टि होनेके बाद जीव नरक आयुका बंध नहीं करता किंतु सम्यग्दर्शनके प्रगट करनेसे पूर्व उस जीवने

नरकायुका बंध किया हो तो वह पहिले नरकमे जाता है, किंतु वहाँ उसकी अवस्था पैरा ७ मे बताये गये अनुसार होती है।

९ पहिले से चौथे नरक तक से निकलकर मनुष्य हुए जीवोमेसे योग्य जीव उसी भवमे मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। पाचवें नरकसे निकलकर मनुष्य हुए पात्रजीव सच्चा मुनित्व धारण कर सकते हैं, छट्ठे नरकसे निकलकर मनुष्य हुए पात्रजीव पाचवें गुणस्थान तक जा सकते हैं और सातवे नरकसे निकले हुए जीव क्रूर तिर्यंचगतिमे ही जाते हैं। यह भेद जीवोके पुरुषार्थकी तारतम्यताके कारण होते है।

१०. प्रश्न—सम्यग्दृष्टि जीवोका अभिप्राय नरकमे जानेका नही होता फिर भी यदि कोई सम्यग्दृष्टि नरकमे पहुँच जाय तो वहाँ तो जड़ कर्म का जोर है और जडकर्म जीवको नरकमे ले जाता है इसलिये जाना पडता है,—यह बात ठीक है या नही ?

उत्तर—यह बात ठीक नही है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नही कर सकता, इसलिये जडकर्म जीवको नरकमे ले जाता हो ऐसा नही होता। सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि कोई जीव नरकमे जाना नही चाहता तो भी जो जो जीव नरकमे जाने लायक होते हैं वे वे जीव अपनी क्रियावती शक्तिके परिणमनके कारण वहाँ जाते हैं, उस समय कार्मण और तैजस-शरीर भी उनकी अपनी (पुद्गल परमाणुओकी) क्रियावती शक्तिके परि-णमनके कारण उस क्षेत्रमे जीवके साथ जाते हैं।

और अभिप्राय तो श्रद्धागुणकी पर्याय है और इच्छा चारित्रगुणकी विकारी पर्याय है। द्रव्यका हरएक गुण स्वतत्र और असहाय है। इसलिये जीवकी इच्छा अथवा अभिप्राय चाहे जैसा हो फिर भी जीवकी क्रियावती शक्तिका परिणमन उससे (अभिप्राय और इच्छासे) स्वतत्ररूपसे और उस समयकी उस पर्यायके धर्मानुसार होता है। वह क्रियावती शक्ति ऐसी है कि—जीवको किस क्षेत्रमे ले जाना चाहिये इसका ज्ञान होने की उसे आवश्य-कता नह है। नरकमे जानेवाले वे जीव उनकी आयुपर्यंत उस क्षेत्रके सयोग

के योग्य होते हैं, और तब उन जीवोंके ज्ञानका विकास भी उस उस क्षेत्रमें रहनेवाले जीवों तथा पदार्थोंके जाननेके योग्य होता है। नरकगतिका भव अपने पुरुषार्थके दोष से बँधा था इसलिये योग्य समयमें उसके फलरूपसे जीवकी अपनी योग्यताके कारण नारकीका क्षेत्र संयोगरूपसे होता है' कर्म उसे नरकमें नहीं ले जाता। कर्मके कारण जीव नरकमें जाता है यह कहना मात्र उपचार कथन है, जीवका कर्मके साथका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध बताने के लिये शास्त्रोंमें यह कथन किया गया है नहीं कि वास्तवमें जड कर्म जीवको नरकमें ले जाते हैं। वास्तवमें कर्म जीवको नरकमें ले जाते हैं यह मानना मिथ्या है।

११ सागर-काल का परिमाण

१—सागर=दश×करोड़×करोड़=अद्धापल्य।

१ अद्धापल्य=एक गोल खड्डा जिसका व्यास (Diametre) एक योजन (=२००० कोस) और गहराई भी उतनी ही हो उसमें उत्तम भोगभूमिके सात दिन के भेड़े के बच्चे के बालोंसे ठसाठस भरकर के उसमें से प्रति सौ वर्षमें एक बाल निकालने पर जितने समयमें गड्ढा खाली हो जाय उतने समयका एक व्यवहारकल्प है ऐसे असंख्यात व्यवहारकल्प= एक उद्धारपल्य। असंख्यात उद्धार पल्य=एक अद्धापल्य।

इसप्रकार अधोलोकका वर्णन पूरा हुआ ॥ ६ ॥

मध्यलोकका वर्णन

कुछ द्वीप समुद्रों के नाम

जम्बूद्वीपलवणोदादय शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥७॥

अर्थ—इस मध्यलोकमें अच्छे अच्छे नाम वाले जम्बूद्वीप इत्यादि द्वीप और लवणसमुद्र इत्यादि समुद्र हैं।

टीका

सबसे बीचमे थालीके आकार जम्बूद्वीप है जिसमे हम लोग और श्री सीमधरप्रभु इत्यादि रहते है। उसके बाद लवणसमुद्र है। उसके चारो ओर घातकीखंड द्वीप है उसके चारो ओर कालोदधि समुद्र है उसके चारो ओर पुष्करवर द्वीप है और उसके चारो ओर पुष्करवर समुद्र है इस तरह एक दूसरेको घेरे हुए असख्यात द्वीप समुद्र है, सबसे अंतिम द्वीप स्वयभूरमणद्वीप है और अतिम समुद्र स्वयभूरमणसमुद्र है।

द्वीप और समुद्रों का विस्तार और आकार

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥८॥

अर्थ—प्रत्येक द्वीप-समुद्र दूने दूने विस्तारवाले और पहिले पहिलेके द्वीप समुद्रोको घेरे हुए चूडीके आकार वाले हैं ॥ ८ ॥

जम्बूद्वीप का विस्तार तथा आकार

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशत-
सहस्रविष्कम्भो जम्बुद्वीपः ॥ ९ ॥

अर्थ—उन सब द्वीप-समुद्रोके बीचमे जम्बूद्वीप है उसकी नाभिके समान सुदर्शनमेरु है, तथा जम्बूद्वीप थालीके समान गोल है और एक लाख योजन उसका विस्तार है।

टीका

१ सुदर्शनमेरुकी ऊंचाई एक लाख योजन की है, उसमेसे वह एक हजार योजन नीचे जमीनमे और निन्यानवें हजार योजन जमीनके ऊपर है। इसके अतिरिक्त ४० योजनकी चूलिका है [सभी अकृत्रिम वस्तुवोके मापमें २००० कोसका योजन लिया जाता है उसके अनुसार यहाँ समझना चाहिये।]

—ोई भी गोल वस्तुकी परिधि उसके व्याससे, तिगुनेसे कुछ) होती है। जम्बूद्वीपकी परिधि ३१६२२७ योजन ३ १३॥ अगुलसे कुछ अधिक है।

कुलाचलों का विशेष स्वरूप

मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ॥१३॥

अर्थ—इन पर्वतोका तट चित्र–विचित्र मणियोका है और ऊपर नीचे तथा मध्यमे एक समान विस्तारवाला है ॥ १३॥

कुलाचलोंके ऊपर स्थित सरोवरोंके नाम

पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेशरिमहापुण्डरीक-पुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि ॥ १४ ॥

अर्थ—इन पर्वतोके ऊपर क्रमसे १–पद्म, २–महापद्म, ३–तिगिञ्छ, ४–केशरि, ५–महापुण्डरीक और ६–पुण्डरीक नामके ह्रद सरोवर हैं ॥१४॥

प्रथम सरोवर की लम्बाई-चौड़ाई

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो ह्रदः ॥ १५ ॥

अर्थ—पहिला पद्म सरोवर एक हजार योजन लम्बा और लबाई से आधा अर्थात् पांचसौ योजन चौडा है ॥ १५ ॥

प्रथम सरोवर की गहराई (ऊँडाई)

दशयोजनावगाहः ॥ १६ ॥

अर्थ—पहिला सरोवर दश योजन अवगाह (गहराई-ऊँडाई) वाला है ॥ १६ ॥

उसके मध्यमें क्या है ?

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥ १७ ॥

अर्थ—उसके बीचमें एक योजन विस्तारवाला कमल है ॥ १७ ॥

महापद्मादि सरोवरों तथा उनमें रहनेवाले कमलोंका प्रमाण

तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदा पुष्कराणि च ॥ १८ ॥

अर्थ—आगेके सरोवर तथा कमल पहिलेके सरोवर तथा कमलों से क्रमसे दूने २ विस्तारवाले हैं।

टीका

यह दूना २ क्रम तिगिञ्छनामके तीसरे सरोवर तक है बादमें उसके आगेके तीन सरोवर तथा उनके तीन कमल दक्षिणके सरोवर और कमलोंके समान विस्तारवाले हैं ॥ १८ ॥

ह्रदोंका विस्तार आदि

नं	ह्रद नाम	स्थान	लम्बाई योजन	चौड़ाई योजन	गहराई योजन	कमल योजन	देवी
१	पद्म	हिमवन्	१०००	५००	१०	१	श्री
२	महापद्म	महाहिमवन्	२० ०	१०००	२०	२	ह्री
३	तिगिञ्छ	निषध	४०००	२०००	४०	४	धृति
४	केशरी (केशरिन)	नील	४०००	२०००	४०	४	कीर्ति
५	महापुण्डरीक	रुक्मिन्	२०००	१००	२०	२	बुद्धि
६	पुण्डरीक	शिखरिन्	१०००	५००	१०	१	लक्ष्मी

छह कमलोंमें रहनेवाली छह देवियाँ

तन्निवासिन्यो देव्य श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्य पल्योपमस्थितय ससामानिकपरिषत्का ॥ १९ ॥

अर्थ—एक पल्योपम आयुवाली और सामानिक तथा पारिषद् जातिके देवो सहित श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नामकी देवियाँ क्रमसे उन सरोवरोके कमलो पर निवास करती हैं।

टीका

ऊपर कहे हुए कमलोकी कर्णिकाके मध्यभागमे एक कोस लम्बे, आधा कोस चौडे और एक कोससे कुछ कम ऊचे सफेद रगके भवन हैं उसमे वे देवियाँ रहती हैं और उन तालावोमे जो अन्य परिवार कमल है उनके ऊपर सामानिक तथा पारिषद देव रहते हैं ॥ १९ ॥

चौदह महा नदियोंके नाम

गंगासिंधुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदा नारीनरकांतासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥ २० ॥

अर्थ—(भरतमे) गगा, सिन्धु, (हैमवतमे) रोहित, रोहितास्या, (हरिक्षेत्रमें) हरित्, हरिकान्ता, (विदेहमे) सीता, सीतोदा, (रम्यक्में) नारी, नरकान्ता, (हैरण्यवत्मे) स्वर्णकूला, रूप्यकूला और (ऐरावतमे) रक्ता-रक्तोदा इस प्रकार ऊपर कहे हुए सात क्षेत्रोमे चौदह नदियाँ बीचमें बहती हैं।

टीका

पहिले पद्म सरोवरमेंसे पहिली तीन, छट्ठे पुडरीक नामक सरोवरसे अंतिम तीन तथा बाकीके सरोवरोमेंसे दो दो नदियाँ निकलती है॥२०॥

नदियोंके बहनेका क्रम—

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥ २१ ॥

अर्थ—(ये चौदह नदियाँ दोके समूहमे लेना चाहिये) हरएक दोके समूहमेसे पहिली नदी पूर्वकी ओर बहती है (और उस दिशाके समुद्रमे मिलती है।) ॥ २१ ॥

शेषास्त्वपरगा. ॥ २२ ॥

अर्थ—बाकी रही सात नदियाँ पश्चिमकी ओर जाती हैं (और उस तरफके समुद्रमें मिलती हैं।) ॥ २२ ॥

इन चौदह महा नदियों की सहायक नदियाँ

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गंगासिन्ध्वादयो नद्य ॥२३॥

अर्थ—गंगा सिन्धु आदि नदियोंके युगल चौदह हजार सहायक नदियोंसे घिरे हुए हैं।

टीका

सहायक नदियोंकी सख्याका क्रम भी विदेह क्षेत्रतक आगेके युग लोंमें पहिले पहिले युगलोंसे दूना २ है, और उत्तरके तीन क्षेत्रोंमें दक्षिण के तीन क्षेत्रोंके समान है।

नदी युगल	सहायक नदियोंकी संख्या
गगा–सिंधु	१४ हजार
रोहित रोहितास्या	२८ हजार
हरित–हरिकान्ता	५६ हजार
सीता–सीतोदा	१ लाख १२ हजार
नारी–नरकान्ता	५६ हजार
स्वर्णकूला–रूप्यकूला	२८ हजार
रक्ता–रक्तोदा	१४ हजार

भरतक्षेत्रका विस्तार

भरत षड्विंशतिपंचयोजनशतविस्तार षट् चैकोनविंशतिभागा योजनस्य ॥ २४ ॥

अर्थ—भरतक्षेत्रका विस्तार, पाँचसौ छब्बीस योजन और एक योजनके उन्नीस भागोमेसे ६ भाग अधिक है।

टीका

१ भरत क्षेत्रका विस्तार ५२६$\frac{६}{१९}$ योजन है। (देखो सूत्र ३२)

२ भरत और ऐरावत क्षेत्रके वीचमे पूर्व पश्चिम तक लबा विजयार्ध पर्वत है जिनसे गगा-सिन्धु और रक्ता-रक्तोदा नदियोके कारण दोनो क्षेत्रोंके छह छह खड हो जाते हैं उनमे वीचका आर्यखंड और वाकीके पाँच म्लेच्छ खड हैं। तीर्थंकरादि पदवीधारी पुरुष भरत-ऐरावतके आर्यखडमें, तथा विदेह क्षेत्रोमे ही जन्म लेते हैं ॥ २४ ॥

आगेके क्षेत्र और पर्वतोंका विस्तार

तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः॥२५॥

अर्थ—विदेहक्षेत्र तकके पर्वत और क्षेत्र भरतक्षेत्रसे दूने २ विस्तारवाले हैं ॥ २५ ॥

विदेह क्षेत्रके आगेके पर्वत और क्षेत्रोंका विस्तार

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥ २६ ॥

अर्थ—विदेह क्षेत्रसे उत्तरके तीन पर्वत और तीन क्षेत्र दक्षिणके पर्वत और क्षेत्रोके समान विस्तारवाले हैं।

टीका

क्षेत्रो और पर्वतोंका प्रकार नीचे प्रमाण है—

क्षेत्र और पर्वत	विस्तार-योजन		ऊंचाई	ऊंडाई
१. भरतक्षेत्र	५२६$\frac{६}{१९}$	”	×	×
२ हिमवत् कुलाचल	१०५२$\frac{१२}{१९}$	”	१०० यो०	२५ यो०

३	हैमवत्क्षेत्र	२१०५ $\frac{५}{१९}$	"	×	×
४	महा हिमवत् कुलाचल	४२१० $\frac{१०}{१९}$	"	२०० यो०	५० यो०
५	हरिक्षेत्र	८४२१ $\frac{१}{१९}$	"	×	×
६	निषध कुलाचल	१६८४२ $\frac{२}{१९}$	"	४०० यो०	१०० यो०
७	विदेहक्षेत्र	३३६८४ $\frac{४}{१९}$	"	×	×
८	नील कुलाचल	१६८४२ $\frac{२}{१९}$	"	४०० यो०	१०० यो०
९.	रम्यक् क्षेत्र	८४२१ $\frac{१}{१९}$	"	×	×
१०	रुक्मिकुलाचल	४२१० $\frac{१०}{१९}$	"	२०० यो०	५० यो०
११	हैरण्यक्षेत्र	२१०५ $\frac{५}{१९}$	"	×	×
१२.	शिखरीकुलाचल	१०५२ $\frac{१२}{१९}$	"	१०० यो०	२५ यो०
१३	ऐरावतक्षेत्र	५२६ $\frac{६}{१९}$	"	×	×

[कुलाचलका अर्थ पर्वत समझना चाहिये]

भरत और ऐरावतक्षेत्र में कालचक्रका परिवर्तन

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥ २७ ॥

अर्थ—छह कालोंसे युक्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के द्वारा भरत और ऐरावत क्षेत्रमें जीवोंके अनुभवादि की वृद्धि-हानि होती रहती है।

टीका

१ बीस कोड़ा कोड़ी सागरका एक कल्पकाल होता है उसके दो भेद हैं (१)–उत्सर्पिणी—जिसमें जीवोंके ज्ञानादि की वृद्धि होती है, और (२)–अवसर्पिणी–जिसमें जीवोंके ज्ञानादिका ह्रास होता है।

अवसर्पिणीके छह भेद हैं—(१) सुषमसुषमा, (२) सुषमा, (३) सुषमदुःषमा, (४) दुःषमसुषमा, (५) दुःषमा और (६) दुःषमदुःषमा, इसी तरह उत्सर्पिणीके भी दुःषमदुःषमासे प्रारंभ करके सुषमसुषमा तक छह भेद समझना चाहिये।

२ (१) सुषमसुषमाका काल चार कोड़ाकोड़ीसागर, (२) सुषमा तीन कोड़ाकोड़ीसागर, (३) सुषमदुःषमा दो कोड़ाकोड़ीसागर, (४) दुःषमसुषमा एक कोड़ाकोड़ी सागरमें ४२ हजार वर्ष कम, (५) दुःषमा २१ हजार वर्ष और (६) दुःषमदुःषमा (-अतिदुःषमा) २१ हजार वर्ष का है।

भरत-ऐरावत क्षेत्रमें यह छह भेद सहित परिवर्तन हुआ करता है। असंख्यात अवसर्पिणी बीत जानेके बाद एक हुंडावसर्पिणीकाल आता है। इस समय हुंडावसर्पिणीकाल चलता है।

३. भरत ऐरावत क्षेत्रके म्लेच्छखंडो तथा विजयार्धपर्वतकी श्रेणियोमें अवसर्पिणीकालके चतुर्थ (दुःषमसुषमा) कालके प्रारम्भसे अवसर्पिणी कालके अंततक परिवर्तन हुआ करता है और उत्सर्पिणीकालके तीसरे (दुःषमसुषमा) कालके आदिसे उत्सर्पिणीके अंततक परिवर्तन हुआ करता है, इनमें आर्यखण्डोकी तरह छहो कालोका परिवर्तन नहीं होता और उनमे प्रलयकाल भी नही होता।

४. भरत–ऐरावत क्षेत्रके मनुष्योकी आयु तथा ऊंचाई।

आरा (काल)	आयु		ऊँचाई	
	प्रारंभमें	अन्तमें	प्रारम्भमें	अन्तमे
१	३ पल्य	२ पल्य	३ कोस	२ कोस
२	२ पल्य	१ पल्य	२ कोस	१ कोस
३	१ पल्य	१ कोटी पूर्व	१ कोस	५०० धनुष
४	१ कोटी पूर्व	१२० वर्ष	५०० धनुष	७ हाथ

५	१२० वर्ष	२० वर्ष	७ हाथ	२ हाथ
६	२० वर्ष	१५ वर्ष	२ हाथ	१ हाथ

मनुष्यों का आहार

काल	आहार	
१	चौथे दिन बेर के बराबर	
२	एक दिनके अंतरसे बहेड़ा (फल) के बराबर	तीसरे काल तक भरत ऐरावत क्षेत्रमें भोगभूमि रहती है।
३	एक दिनके अंतरसे आंवला बराबर	
४	रोज एक बार	
५	कई बार	
६	अति प्रचुरवृत्ति मनुष्य नग्न मछली इत्यादिके आहार, मुनि श्रावकोंका अभाव धर्मका नाश ॥ २७ ॥	

अन्य भूमियोंकी व्यवस्था

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिता ॥ २८ ॥

अर्थ—भरत और ऐरावत क्षेत्रको छोड़कर दूसरे क्षेत्रोंमें एक ही अवस्था रहती है—उनमें कालका परिवर्तन नहीं होता ॥ २८ ॥

हैमवतक इत्यादि क्षेत्रोंमें आयु

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदेव कुरवकाः ॥ २९ ॥

अर्थ—हैमवतक हारिवर्षक और देवकुरु (विदेहक्षेत्रके अन्तर्गत एक विशेष स्थान) के मनुष्य तिर्यंच क्रमसे एक पल्य दो पल्य और तीन पल्यकी आयुवाले होते हैं।

टीका

इन तीन क्षेत्रोके मनुष्योकी ऊँचाई क्रमसे एक, दो और तीन कोस की होती है। शरीरका रग नील, शुक्ल और पीत होता है ॥ २९ ॥

हैरण्यवतकादि क्षेत्रोंमें आयु

तथोत्तराः ॥ ३० ॥

अर्थ—उत्तरके क्षेत्रोमे रहनेवाले मनुष्य भी हैमवतकादिकके मनुष्यो.के समान आयुवाले होते हैं।

टीका

१. हैरण्यवतक क्षेत्रकी रचना हैमवतकके समान, रम्यक्क्षेत्रकी रचना हरिक्षेत्रके समान और उत्तरकुरु (विदेहक्षेत्रके अंतर्गत स्थान विशेष) की रचना देवकुरुके समान है।

२ भोगभूमि–इस तरह उत्तम, मध्यम, और जघन्यरूप तीन भोगभूमिके दो दो क्षेत्र हैं। जम्बूद्वीपमें छह भोगभूमियाँ और अढाई द्वीपमें कुल ३० भोगभूमियाँ हैं जहाँ सर्वप्रकारकी सामग्री कल्पवृक्षोसे प्राप्त होती है उन्हे भोगभूमि कहते हैं ॥ ३० ॥

विदेहक्षेत्रमें आयु की व्यवस्था

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥ ३१ ॥

अर्थ—विदेहक्षेत्रोमे मनुष्य और तिर्यंचोकी आयु संख्यात वर्षकी होती है।

टीका

विदेहक्षेत्रमे ऊँचाई पाँचसो धनुष और आयु एक करोड वर्ष पूर्वको होती है ॥ ३१ ॥

भरतक्षेत्रका दूसरी तरहसे विस्तार

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥३२॥

अर्थ—भरतक्षेत्रका विस्तार जम्बूद्वीपके एक सौ नब्बेवां (१९०) भागके बराबर है।

टीका

२४ वें सूत्रमें भरतक्षेत्रका विस्तार बताया है उसमें और इसमें कोई अंतर नहीं है मात्र कहनेका प्रकार भिन्न है जो एक लाखके १९० हिस्से किये जांय तो हरएक हिस्सेका प्रमाण ५२६$\frac{6}{19}$ योजन होता है ॥३२॥

धातकीखंडका वर्णन

द्विर्धातकीखण्डे ॥ ३३ ॥

अर्थ—धातकीखंड नामके दूसरे द्वीपमें क्षेत्र कुलाचल मेरु नदी इत्यादि सब पदार्थोंकी रचना जम्बूद्वीपसे दूनी दूनी है।

टीका

धातकीखण्ड लवणसमुद्रको घेरे हुए है। उसका विस्तार चार लाख योजन है। उसके उत्तरकुरु प्रान्तमें धातकी (आंवले) के वृक्ष हैं इसलिये उसे धातकीखण्ड कहते हैं ॥ ३३ ॥

पुष्करार्ध द्वीप का वर्णन

पुष्करार्द्धे च ॥ ३४ ॥

अर्थ—पुष्करार्द्ध द्वीपमें भी सब रचना जम्बूद्वीपकी रचनासे दूना दूनी है।

टीका

पुष्करवरद्वीपका विस्तार १६ लाख योजन है उसके बीचमें चूड़ीके आकार मानुषोत्तर पर्वत पड़ा हुआ है। जिससे उस द्वीपके दो हिस्से होगये

। पूर्वार्धमे सारी रचना धातकी खडके समान है और जम्बूद्वीपसे दूनी। इस द्वीपके उत्तरकुरुप्रान्तमे एक पुष्कर (-कमल) है। इसलिये उसे ुष्करवरद्वीप कहते है ॥ ३४ ॥

मनुष्य क्षेत्र—

प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥ ३५ ॥

अर्थ—मानुपोत्तर पर्वत तक अर्थात् अढाई द्वीपमे ही मनुष्य होते हैं,-मानुषोत्तर पर्वतसे परे ऋद्धिधारी मुनि या विद्याधर भी नही जा सकते।

टीका

१. जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि और पुष्करार्ध इतना क्षेत्र अढाई द्वीप है, इसका विस्तार ४५ लाख योजन है।

२. केवल समुद्घात और मारणातिक समुद्घातके प्रसगके अतिरिक्त मनुष्यके आत्मप्रदेश ढाई द्वीपके वाहर नही जा सकते।

३ आगे चलकर आठवाँ नन्दीश्वर द्वीप है उसकी चारो दिशामे चार अंजनगिरि पर्वत, सोलह दधिमुखपर्वत और बत्तीस रतिकर पर्वत हैं। उनके ऊपर मध्यभागमे जिन मदिर हैं। नन्दीश्वर द्वीपमे इसप्रकार वावन जिन मदिर हैं। बारहवाँ कुण्डलवर द्वीप है उसमें चार दिशाके मिलाकर चार जिनमदिर हैं। तेरहवाँ रुचकवर नामका द्वीप है उसके बीचमे रुचकनामका पर्वत है, उस पर्वतके ऊपर चारो दिशामें चार जिन मन्दिर हैं वहाँ पर देव जिन पूजनके लिये जाते हैं इस पर्वतके ऊपर अनेक कूट हैं उनमे अनेक देवियोके निवास हैं। वे देवियाँ तीर्थंकरप्रभुके गर्भ और जन्मकल्याणकमे प्रभुकी माताकी अनेक प्रकारसे सेवा करती हैं ॥ ३५ ॥

मनुष्योंके भेद

आर्या म्लेच्छाश्च ॥ ३६ ॥

अर्थ—आर्य और म्लेच्छके भेदसे मनुष्य दो प्रकार के हैं।

टीका

१ आर्यों के दो भेद हैं—ऋद्धिप्राप्त आर्य और अनऋद्धिप्राप्त आर्य।

ऋद्धिप्राप्तआर्य=जिन आर्य जीवोंको विशेष शक्ति प्राप्त हो।
अनऋद्धिप्राप्तआर्य=जिन आर्य जीवोंको विशेष शक्ति प्राप्त नहीं हो।

ऋद्धिप्राप्त आर्य

२ ऋद्धिप्राप्तआर्य के आठ भेद हैं—(१) बुद्धि, (२) क्रिया (३) विक्रिया (४) तप (५) बल (६) औषध (७) रस और (८) क्षेत्र इन आठ ऋद्धियोंका स्वरूप कहते हैं।

३ बुद्धिऋद्धि—बुद्धिऋद्धिके अठारह भेद हैं—(१) केवलज्ञान (२) अवधिज्ञान (३) मनःपर्ययज्ञान (४) बीजबुद्धि (५) कोष्ठबुद्धि (६) पदानुसारिणी (७) संभिन्नश्रोतृत्व (८) दूरास्वादनसमर्थता (९) दूरदर्शनसमर्थता (१०) दूरस्पर्शनसमर्थता (११) दूरघ्राणसमर्थता (१२) दूरश्रोत्रसमर्थता (१३) दशपूर्वित्व (१४) चतुर्दशपूर्वित्व (१५) अष्टांगनिमित्तता (१६) प्रज्ञाश्रमणत्व (१७) प्रत्येकबुद्धता और (१८) वादीत्व इनका स्वरूप निम्नप्रकार है—

(१ २ ३) केवलज्ञान,-अवधिज्ञान,-मनःपर्ययज्ञान इन तीनोंका स्वरूप अध्याय १ सूत्र २१ से २५ तथा २७ से ३० तक में आ गया है।

(४) बीजबुद्धि—एक बीजपदके (मूलपदके) ग्रहण करनेसे अनेकपद और अनेक अर्थोंका जानना सो बीजबुद्धि है।

(५) कोष्ठबुद्धि— जैसे कोठारमें रखे हुए धान्य बीज इत्यादि बहुत समय तक जैसेके तैसे बने रहते हैं घटते बढ़ते नहीं हैं परस्परमें

इत्यादि स्वप्न अशुभ स्वप्न हैं, उसके दर्शनसे आगामी कालमें जीवन-मरण, सुख-दुःखादिका ज्ञान होना सो स्वप्ननिमित्तज्ञान है। इन आठ प्रकारके निमित्तज्ञानका जो ज्ञाता हो उसके अष्टांगनिमित्तबुद्धिऋद्धि है।

(१६) प्रज्ञाश्रमणत्वबुद्धि—किसी अत्यन्त सूक्ष्म अर्थके स्वरूप का विचार जैसाका तैसा, चौदहपूर्वधारी हो निरूपण कर सकते हैं दूसरे नही कर सकते, ऐसे सूक्ष्म अर्थका जो संदेहरहित निरूपण करे ऐसी प्रकृष्ट श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे प्रगट होनेवाली प्रज्ञाशक्ति प्रज्ञाश्रवणत्वबुद्धि है।

(१७) प्रत्येकबुद्धितावुद्धि—परके उपदेशके बिना अपनी शक्ति-विशेषसे ज्ञान-सयमके विधानमें निपुण होना प्रत्येकबुद्धतावुद्धि है।

(१८) वादित्वबुद्धि—इन्द्र इत्यादि आकर वाद-विवाद करे उसे निरुत्तर करदे, स्वयं रुके नही और सामनेवाले वादीके छिद्रको जान लेना ऐसी शक्ति वादित्वबुद्धि है।

इसप्रकार ८ ऋद्धियोमेसे पहिली बुद्धिरिद्धिके अठारह प्रकार हैं। यह बुद्धिरिद्धि सम्यग्ज्ञानकी महान् महिमाको बताती है।

४. दूसरी क्रियाऋद्धिका स्वरूप

१ क्रियाऋद्धि दो प्रकारकी है आकाशगामित्व और चारण।

(१) चारण ऋद्धि अनेक प्रकार की है—जलके ऊपर पैर रखने या उठाने पर जलकायिक जीवोको बाधा न उत्पन्न हो सो जलचारणरिद्धि है। भूमिसे चार अगुल ऊपर आकाशमे शीघ्रतासे सैकडों योजन गमन करनेमें समर्थ होना सो जघाचारणरिद्धि है। उसीप्रकार ततुचारण, पुष्प-चारण, पत्रचारण, श्रेणिचारण, अग्निशिखाचारण इत्यादि चारण रिद्धियाँ हैं। पुष्प, फल इत्यादिके ऊपर गमन करनेसे उन पुष्प फल इत्यादि के जीवोंको बाधा नही होना सो समस्तचारणरिद्धि है।

(२) आकाशगामित्व विक्रियाऋद्धि—पर्यंकासन अथवा कायो-त्सर्गासन करके पगके उठाये धरे बिना ही आकाशमें गमन करनेमे निपुण होना सो आकाशगामित्वक्रियाऋद्धि है।

(१४) चतुर्दशपूर्वित्वबुद्धि—संपूर्ण श्रुतकेवलित्वका होना चतुर्दशपूर्वित्वबुद्धि है।

(१५) अष्टांगनिमित्तताबुद्धि—अन्तरिक्ष, भौम, अंग स्वर, व्यंजन, लक्षण छिन्न और स्वप्न यह आठ प्रकारका निमित्तज्ञान है उसका स्वरूप निम्नप्रकार है:—

सूर्य चन्द्र नक्षत्रके उदय-अस्तादिको देखकर अतीत अनागतफल को जानना सो अन्तरिक्षनिमित्तज्ञान है॥ १॥

पृथ्वीकी कठोरता कोमलता चिकनाहट या रूखापन देखकर विचार करके अथवा पूर्वादि दिशामें सूत्र पड़ते हुए देखकर हानि-वृद्धि जय-पराजय इत्यादि को जानना तथा भूमिगत स्वर्ण चांदी इत्यादिको प्रगट जानना सो भौमनिमित्तज्ञान है॥ २॥

अंगोपांगादिके दर्शन-स्पर्शादिसे त्रिकालभावी सुख दुःखादि को जानना सो अंगनिमित्तज्ञान है॥ ३॥

अक्षर-अनक्षररूप तथा शुभाशुभको सुनकर इष्टानिष्टफलको जानना सो स्वरनिमित्तज्ञान है॥ ४॥

मस्तक मुख, गर्दन इत्यादिमें तिल मूसल लास इत्यादि लक्षण देखकर त्रिकाल सम्बन्धी—हित—अहित को जान लेना सो व्यंजननिमित्त ज्ञान है॥ ५॥

शरीरके ऊपर श्रीवृक्ष स्वस्तिक, कलश इत्यादि चिह्न देखकर त्रिकाल सम्बन्धी पुरुषोंके स्थान मान ऐश्वर्यादि विशेषको जानना सो लक्षणनिमित्तज्ञान है॥ ६॥

वस्त्र शस्त्र आसन शयनादिसे देव-मनुष्य राक्षसादिसे तथा शस्त्र कंटकादि से छिदे हुएको देखकर त्रिकाल सम्बन्धी लाभ अलाभ सुख दुःखको जानना सो छिन्ननिमित्तज्ञान है॥ ७॥

वात पित्त कफ रहित पुरुषके मुखमें पिछली रात्रिमें चन्द्रमा सूर्य पृथ्वी पर्वत या समुद्रका प्रवेशादिका स्वप्न होना सो शुभस्वप्न है और तेलसे अपनी देह लिप्त और गधा ऊँट पर चढ़कर दक्षिण दिशामें गमन

इत्यादि स्वप्न अशुभ स्वप्न हैं, उसके दर्शनसे आगामी कालमे जीवन-मरण, सुख-दुःखादिका ज्ञान होना सो स्वप्ननिमित्तज्ञान है। इन आठ प्रकारके निमित्तज्ञानका जो ज्ञाता हो उसके अष्टांगनिमित्तबुद्धिऋद्धि है।

(१६) प्रज्ञाक्षमणत्वबुद्धि—किसी अत्यन्त सूक्ष्म अर्थके स्वरूप का विचार जैसाका तैसा, चौदहपूर्वधारी ही निरूपण कर सकते हैं दूसरे नही कर सकते, ऐसे सूक्ष्म अर्थका जो सदेहरहित निरूपण करे ऐसी प्रकृष्ट श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे प्रगट होनेवाली प्रज्ञाशक्ति प्रज्ञाश्रवणत्वबुद्धि है।

(१७) प्रत्येकबुद्धिताबुद्धि—परके उपदेशके बिना अपनी शक्ति-विशेषसे ज्ञान-सयमके विधानमे निपुण होना प्रत्येकबुद्धताबुद्धि है।

(१८) वादित्वबुद्धि—इन्द्र इत्यादि आकर वाद-विवाद करे उसे निरुत्तर करदे, स्वय रुके नही और सामनेवाले वादीके छिद्रको जान लेना ऐसी शक्ति वादित्वबुद्धि है।

इसप्रकार ८ ऋद्धियोमेसे पहिली बुद्धिरिद्धिके अठारह प्रकार है। यह बुद्धिरिद्धि सम्यग्ज्ञानकी महान् महिमाको बताती है।

४. दूसरी क्रियाऋद्धिका स्वरूप

१ क्रियाऋद्धि दो प्रकारकी है आकाशगामित्व और चारण।

(१) चारण ऋद्धि अनेक प्रकार की है—जलके ऊपर पैर रखने या उठाने पर जलकायिक जीवोको बाधा न उत्पन्न हो सो जलचारणरिद्धि है। भूमिसे चार अगुल ऊपर आकाशमे शीघ्रतासे सैकड़ो योजन गमन करनेमे समर्थ होना सो जघाचारणरिद्धि है। उसीप्रकार तंतुचारण, पुष्प-चारण, पत्रचारण, श्रेणिचारण, अग्निशिखाचारण इत्यादि चारण रिद्धियाँ हैं। पुष्प, फल इत्यादिके ऊपर गमन करनेसे उन पुष्प फल इत्यादि के जीवोको बाधा नही होना सो समस्तचारणरिद्धि है।

(२) आकाशगामित्व विक्रियाऋद्धि—पर्यंकासन अथवा कायो-त्सर्गासन करके पगके उठाये धरे बिना ही आकाशमें गमन करनेमें निपुण होना सो आकाशगामित्वक्रियाऋद्धि है।

५ तीसरी विक्रियाऋद्धिका स्वरूप

विक्रिया ऋद्धि अनेक प्रकारकी है—(१) अणिमा, (२) महिमा (३) लघिमा (४) गरिमा (५) प्राप्ति (६) प्राकाम्य, (७) ईशित्व (८) वशित्व (९) अप्रतिघात, (१०) अन्तर्धान, (११) कामरूपित्व इत्यादि अनेक भेद हैं उनका स्वरूप निम्न प्रकार है।

अणुमात्र शरीर करनेकी सामर्थ्य को अणिमाऋद्धि कहते हैं वह कमलके छिद्रमें प्रवेश करके वहाँ बैठकर चक्रवर्तीकी विभूति रचता है। १। मेरुसे भी महान शरीर करनेकी सामर्थ्यको महिमाऋद्धि कहते हैं। २। पवनसे भी हलका शरीर बनानेकी सामर्थ्यको लघिमाऋद्धि कहते हैं। ३। वज्रसे भी अतिभारी शरीर करने की सामर्थ्यको गरिमाऋद्धि कहते हैं। ४। भूमिमें बैठकर उँगलीको आगे करके मेरुपर्वतके शिखर तथा सूर्यविमानादिको स्पर्श करनेकी शक्तिको प्राप्तिऋद्धि कहते हैं। ५। जलमें जमीनको उन्मज्जन (ऊपर लाना) तथा निमज्जन (डुबा देना) करनेकी शक्तिको प्राकाम्यऋद्धि कहते हैं। ६। त्रिलोकका प्रभुत्व रचनेकी सामर्थ्यको ईशित्व ऋद्धि कहते हैं। ७। देव दानव मनुष्य इत्यादिको वशीकरण करनेकी सामर्थ्यको वशित्वऋद्धि कहते हैं। ८। पर्वतादिकके अन्दर आकाशकी भाँति गमन आगमन करनेकी सामर्थ्यको अप्रतिघातऋद्धि कहते हैं। ९। अदृश्य होनेकी सामर्थ्यको अन्तर्धानऋद्धि कहते हैं। १ । एक साथ अनेक आकाररूप शरीर करने की सामर्थ्यको कामरूपित्वऋद्धि कहते हैं। ११। इत्यादि अनेक प्रकार की विक्रिया ऋद्धि हैं।

नोट—यहाँ निमित्तनैमित्तिकसंबंध समझाया है किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि जीव शरीरका या अन्य किसी द्रव्यका कुछ करता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता। शरीरादि परद्रव्यकी जब उस प्रकारकी होने योग्य अवस्था होती है तब जीवके भाव तदनुकूल अपने कारण होते हैं। इतना निमित्त-नैमित्तिकसंबंध यहाँ बतलाया गया है।

६. चौथी तप ऋद्धि

तपऋद्धि सात प्रकारकी है—(१) उग्रतप, (२) दीप्ततप, (३) निहारतप, (४) महानतप, (५) घोरतप, (६) घोरपराक्रमतप और (७) घोर ब्रह्मचर्यतप। उसका स्वरूप निम्नप्रकार है।

एक उपवास या दो-तीन-चार-पांच इत्यादि उपवास के निमित्तसे किसी योगका आरंभ हुआ तो मरणपर्यंत उपवासके उन दिनोंसे कम दिनो में पारणा नही करता, किसी कारणसे अधिक उपवास हो जाय तो मरण-पर्यंत उससे कम उपवास करके पारणा नही करता, ऐसी सामर्थ्य प्रगट होना सो उग्रतप ऋद्धि है ॥ १ ॥ महान उपवासादिक करते हुए मन-वचन-कायका बल बढता ही रहे, मुख दुर्गंध रहित रहे, कमलादिककी सुगध जैसी सुगंधित श्वास निकले और शरीर को महान् दीप्ति प्रगट हो जाय सो दीप्तिऋद्धि है ॥ २ ॥ तपे हुए लोहेकी कढाईमे पानी की बून्दें पडते ही जैसे सूख जाय, तैसे आहार पच जाय, सूख जाय और मल रुधिरादिरूप न परिणमे तथा निहार भी न हो सो निहारतपऋद्धि है ॥३॥ सिहक्रीडितादि महान तप करनेमे तत्पर होना सो महानतपऋद्धि है ॥ ४ ॥ वात, पित्त, श्लेष्म इत्यादिसे उत्पन्न हुए ज्वर, खासी, श्वास, शूल, कोढ, प्रमेहादिक अनेक प्रकारके रोगवाला शरीर होने पर भी अनशन, कायक्लेशादि न छूटें और भयानक स्मशान, पर्वतका शिखर, गुफा, खण्डहर, ऊजड ग्राम इत्यादि मे दुष्ट राक्षस, पिशाचादि प्रवर्तित हो और बुरे विकार धारण करें तथा गीदडोका कठोर रुदन, सिह-व्याघ्र इत्यादि दुष्ट जीवोका भयानक शब्द जहाँ निरतर होता हो ऐसे भयंकर स्थानमे भी निर्भय होकर रहे सो घोरतपऋद्धि है ॥ ५ ॥ पूर्वोक्त रोगसहित शरीर होने पर भी अति भय-कर स्थानमे रहकर योग (स्वरूपकी एकाग्रता) बढानेकी तत्परताका होना सो घोरपराक्रमतपऋद्धि है ॥ ६ ॥ बहुत समयसे ब्रह्मचर्यके धारक मुनिके अतिशय चारित्रके बलसे (मोहनीयकर्मके क्षयोपशम होने पर) खोटे स्व-प्नोका नाश होना सो घोर ब्रह्मचर्यतपऋद्धि है ॥ ७ ॥ इसप्रकार सात प्रकारकी तप ऋद्धि है।

नोट—सम्यग्दर्शन ज्ञानपूर्वक चारित्रधारी जीवोंके कैसा उग्र पुरुषार्थ होता है सो यहाँ बताया है। तपऋद्धिके पाँचवें और छट्ठे भेदमें अनेक प्रकारके रोगोंवाला शरीर कहा है उससे यह सिद्ध होता है कि-शरीर परवस्तु है, चाहे जैसा खराब हो फिर भी वह आत्माको पुरुषार्थ करनेमें बाधक नहीं होता। 'शरीर निरोग हो और बाह्य अनुकूलता हो तो धर्म हो सकता है' ऐसी मान्यता मिथ्या है ऐसा सिद्ध होता है।

७ पाँचवीं बलऋद्धिका स्वरूप

बल ऋद्धि तीन प्रकार की है—(१) मनोबलऋद्धि (२) वचनबलऋद्धि और (३) कायबलऋद्धि, उनका स्वरूप निम्नप्रकार है। प्रकर्ष पुरुषार्थसे मन-श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशम होने पर अंतर्मुहूर्तमें संपूर्ण श्रुत अर्थके चिंतवन करनेकी सामर्थ्य सो मनोबलऋद्धि है ॥ १ ॥ अतिशय पुरुषार्थसे मन-इन्द्रिय श्रुतावरण तथा जिह्वा श्रुत ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशम होने पर अंतर्मुहूर्तमें सकल श्रुत को उच्चारण करने की सामर्थ्य होना तथा निरंतर उच्च स्वरसे बोलने पर खेद नहीं उत्पन्न हो कंठ या स्वरभंग नहीं हो सो वचनबलऋद्धि है ॥२॥ वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे असाधारण कायबल प्रगट हो और एक मास चार मास या बारहमास प्रतिमायोग धारण करने पर भी खेदरूप नहीं होना सो कायबलऋद्धि है ॥ ३ ॥

८ छट्ठी औषधिऋद्धिका स्वरूप

औषधिऋद्धि आठ प्रकार की है—(१) आमर्ष (२) क्ष्वेल (३) जल्ल (४) मल (५) विट (६) सर्व (७) आस्याविष (८) दृष्टिविष उनका स्वरूप निम्नप्रकार है।

असाध्य रोग हो तो भी जिनके हाथ चरणादिके स्पर्श होने से ही सब रोग नष्ट हो जाँय सो आमर्षऔषधऋद्धि है ॥ १ ॥ जिनके थूक लार कफादिकके स्पर्श होने से ही रोग नष्ट हो जाय सो क्ष्वेलऔषधऋद्धि है ॥ २ ॥ जिनके देहके पसीनेका स्पर्श होनेसे रोग मिट जाय सो जल्ल

औषधिऋद्धि है ॥ ३ ॥ जिनके कान दांत, नाक और नेत्रका मल ही सब रोगोंके निराकरण करनेमे समर्थ हो सो मलऔषधिऋद्धि है ॥ ४ ॥ जिनकी बीट–टट्टी तथा मूत्र ही औषधिरूप हो सो बीटऔषधिऋद्धि है ॥ ५ ॥ जिनका अग उपाग नख, दांत, केशादिकके स्पर्श होनेसे ही सब रोगोंको दूर कर देता है सो सर्वौषधिऋद्धि है ॥ ६ ॥ तीव्र जहरसे मिला हुआ आहार भी जिनके मुखमे जाते ही विष रहित हो जाय तथा विषसे व्याप्त जीवका जहर जिनके वचनसे ही उतर जाय वो आस्याविषऔषधिऋद्धि है ॥ ७ ॥ जिनके देखनेसे महान विषधारी जीवका विष जाता रहे तथा किसी के विष चढा हो तो उतर जाय ऐसी ऋद्धि सो दृष्टिविषऋद्धि है ॥ ८ ॥

९. सातवीं रसऋद्धिका स्वरूप

रसऋद्धि ६ प्रकार की है। (१) आस्यविष (२) दृष्टिविष (३) क्षीर (४) मधुस्रावी (५) घृतस्रावी और (६) अमृतस्रावी उनका स्वरूप निम्नप्रकार है—

प्रकृष्ट तपवाले योगी कदाचित् क्रोधी होकर कहे कि 'तू मर जा' तो उसी समय विष चढने से मर जाय सो आस्यविषरसऋद्धि है ॥ १ ॥ कदाचित् क्रोधरूपी दृष्टिके देखने से मर जावे सो दृष्टिविषऋद्धि है ॥ २ ॥ वीतरागी मुनिके ऐसी सामर्थ्य होय कि उनके क्रोधादिक उत्पन्न न हो और उनके हाथमे प्राप्त हुआ नीरस भोजन क्षीररसरूप हो जाय तथा जिनके वचन दुर्बलको क्षीरके समान पुष्ट करे सो क्षीररसऋद्धि है ॥ ३ ॥ ऊपर कहा हुआ भोजन, मिष्ट रसरूप परिणमित हो जाय सो मधुस्रावीरसऋद्धि है ॥ ४ ॥ तथा वह भोजन, घृतरसरूप परिणमित हो जाय सो घृतस्रावीरसऋद्धि है ॥ ५ ॥ भोजन अमृत रसरूप परिणमित हो जाय सो अमृतस्रावीरसऋद्धि है ॥ ६ ॥ इसप्रकार ६ प्रकार की रसऋद्धि है।

१०. आठवीं क्षेत्रऋद्धिका स्वरूप

क्षेत्रऋद्धि दो प्रकार की है। (१) अक्षीणमहान और (२)

अक्षीणमहालय । उनका स्वरूप निम्नप्रकार है ।

लाभांतरायके उत्कृष्ट क्षयोपशमसे अति संयमवान मुनिको जिस भाजनमेंसे जो भोजन दे उस भाजनमेंसे चक्रवर्ती की समस्त सैन्य भोजन करले तो भी उस दिन भोजन सामग्री न घटे सो अक्षीणमहानसक्षेत्रऋद्धि है ॥ १ ॥ ऋद्धिसहितमुनि जिस स्थानमें बैठे वहाँ देव राजा मनुष्यादिक बहुतसे आकर बैठें तो भी क्षेत्रमें कमी न पड़े आपसमें बाधा न होय सो अक्षीणमहालयक्षेत्रऋद्धि है ॥२॥ इसप्रकार दो प्रकारकी क्षेत्रऋद्धि है ।

इसप्रकार पहिले आर्य और म्लेच्छ ऐसे मनुष्योंके दो भेद किये थे उनमेंसे आर्यके ऋद्धिप्राप्त और अनऋद्धिप्राप्त ऐसे दो भेद किये। उनमेंसे ऋद्धिप्राप्त आर्योंके ऋद्धिके भेदोंका स्वरूप वर्णन किया अब अन ऋद्धिप्राप्त आर्योंका भेद वर्णन करते हैं ।

११ अनऋद्धिप्राप्त आर्य

अनऋद्धिप्राप्त आर्योंके पाँच भेद हैं—(१) क्षेत्रआर्य (२) जातिआर्य (३) कर्मआर्य (४) चारित्रआर्य और (५) दर्शनआर्य उनका स्वरूप निम्नप्रकार है ।

(१) क्षेत्रआर्य—जो मनुष्य आर्य देशमें उत्पन्न हों उन्हें क्षेत्र आर्य कहते हैं ।

(२) जातिआर्य—जो मनुष्य इक्ष्वाकुवंश भोजवंशादिकमें उत्पन्न हों उन्हें जातिआर्य कहते हैं ।

(३) कर्मआर्य—उनके तीन भेद होते हैं—सावद्यकर्मआर्य, अल्पसावद्यकर्मआर्य और असावद्यकर्मआर्य । उनमेंसे सावद्यकर्मआर्योंके ६ भेद हैं—असि मसि कृषि विद्या शिल्प और वाणिज्य ।

जो तलवार इत्यादि आयुध धारण करके आजीविका करते हैं उन्हें असिकर्मआर्य कहते हैं । जो द्रव्य की आय तथा खर्च लिखनेमें निपुण हों उन्हें मसिकर्मआर्य कहते हैं । जो हल बखर इत्यादि खेतीके साधनोंसे खूब खेती करके आजीविकामें प्रवीण हों उन्हें कृषिकर्मआर्य कहते हैं । आलेख्य गणितादि बहत्तर कलाओं प्रवीण हों उन्हें विद्याकर्मआर्य कहते हैं ।

धोबी, हजाम, कुम्हार, लुहार, सुनार इत्यादिके कार्यमें प्रवीण हो उन्हें शिल्पकर्मआर्य कहते हैं। जो चन्दनादि गंध, घी इत्यादि रस, धान्य, कपास, वस्त्र, मोती-माणिक इत्यादि अनेक प्रकारकी वस्तुओंका सग्रह करके व्यापार करते हैं उन्हे वाणिज्यकर्मआर्य कहते हैं।

ये ६ प्रकारके कर्म जीवकी अविरतदशामे (पहिलेसे चौथे गुण-स्थान तक) होते हैं इसलिये उन्हें सावद्यकर्मआर्य कहते हैं।

विरताविरतरूप परिणत जो श्रावक (पाँचवें गुणस्थानवर्ती) हैं उन्हें अल्पसावद्यकर्मआर्य कहते हैं।

जो सकलसयमी साधु हैं उन्हे असावद्यकर्मआर्य कहते हैं।

(असावद्यकर्मआर्य और चारित्रआर्यके बीच क्या भेद है सो बताया जायगा)

(४) **चारित्रआर्य**—के दो भेद है—अभिगतचारित्रआर्य और अनभिगतचारित्रआर्य।

जो उपदेशके बिना ही चारित्रमोहके उपशम तथा क्षयसे आत्माकी उज्ज्वलतारूप चारित्रपरिणामको धारण करें, ऐसे उपशातकषाय और क्षीणकषायगुणस्थानधारकमुनि अभिगतचारित्रआर्य हैं। और जो अतरगमे चारित्रमोहके क्षयोपशमसे तथा बाह्यमे उपदेशके निमित्तसे सयमरूप परि-णाम धारण करें वे अनभिगतचारित्रआर्य हैं।

असावद्यआर्य और चारित्रआर्य ये दोनो साधु ही होते हैं, परन्तु वे साधु जब पुण्यकर्मका बंध करते हैं तब (छट्ठे गुणस्थानमें) उन्हें असाव-द्यकर्मआर्य कहते हैं, और जब कर्मकी निर्जरा करते हैं तब (छट्ठे गुणस्थान से ऊपर) उन्हें चारित्रआर्य कहते हैं।

(५ **दर्शनआर्य**—के देश भेद हैं—आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, सक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ और परमावगाढ [इन दश भेद सबधी विशेष खुलासा मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ९ में से जानना चाहिये]

इसप्रकार अनऋद्धिप्राप्तआर्यके भेदोका स्वरूप कहा। इसप्रकार ार्य मनुष्योका वर्णन पूरा हुआ।

अब म्लेच्छ मनुष्योंका वर्णन करते हैं।

१२ म्लेच्छ

म्लेच्छ मनुष्य दो प्रकारके हैं—कर्मभूमिज और अन्तर्द्वीपज (१) पाँच भरतके पाँच खंड पाँच ऐरावतके पाँच खंड और विदेहके आठसौ खंड, इसप्रकार (२५+२५+८००) आठसौ पचास म्लेच्छ क्षेत्र हैं उनमें उत्पन्न हुए मनुष्य कर्मभूमिज हैं (२) लवणसमुद्रमें अड़तालीस द्वीप तथा कालोदधि समुद्रमें अड़तालीस द्वीप दोनों मिलकर छियानवे द्वीपोंमें कुभोगभूमियाँ मनुष्य हैं उन्हें अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ कहते हैं। उन अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ मनुष्योंके चेहरे विचित्र प्रकारके होते हैं उनके मनुष्योंके शरीर (धड़) और उनके ऊपर हाथी रीछ, मछली इत्यादिकोंका सिर बहुत लम्बे कान एक पग पूँछ इत्यादि होती है। उनकी आयु एक पल्यकी होती है और वृक्षोंके फल मिट्टी इत्यादि उनका भोजन है ॥ ३६ ॥

कर्मभूमिका वर्णन

भरतैरावतविदेहा कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्य ॥ ३७ ॥

अर्थ—पाँच मेरु संबंधी पाँच भरत पाँच ऐरावत देवकुरु तथा उत्तरकुरु ये दोनों छोड़कर पाँच विदेह इसप्रकार अढ़ाईद्वीपमें कुल पन्द्रह कर्मभूमियाँ हैं।

टीका

१ जहाँ असि मसि कृषि वाणिज्य विद्या और शिल्प इन छह कर्मकी प्रवृत्ति हो उसे कर्मभूमि कहते हैं। विदेहके एक मेरु संबंधी बत्तीस भेद हैं और पाँच विदेह हैं उनके ३२×५=१६० क्षेत्र पाँच विदेहके हुए, और पाँच भरत तथा पाँच ऐरावत ये दस मिलकर कुल पन्द्रह कर्मभूमियोंके १७० क्षेत्र हैं। ये पवित्रताके धर्मके क्षेत्र हैं और मुक्ति प्राप्त करनेवाले मनुष्य वहाँ ही जन्म लेते हैं।

एक मेरुसम्बन्धी हिमवत्, हरिक्षेत्र, रम्यक्, हिरण्यवत्, देवकुरु और उत्तरकुरु ऐसी छह भोगभूमियाँ हैं। इसप्रकार पाँच मेरु सम्बन्धी तीस भोगभूमियाँ हैं। उनमेसे दश जघन्य, दश मध्यम, और दश उत्कृष्ट हैं। उनमें दश प्रकारके कल्पवृक्ष हैं। उनके भोग भोगकर जीव सक्लेश रहित—सातारूप रहते हैं।

२. प्रश्न—कर्मके आश्रय तो तीनलोकका क्षेत्र है तो कर्मभूमिके एकसौ सत्तर क्षेत्र ही क्यो कहते हो, तीनलोकको कर्मभूमि क्यो नही कहते ?

उत्तर—सर्वार्थसिद्धि पहुँचनेका शुभकर्म और सातवे नरक पहुँचने का पापकर्म इन क्षेत्रोमे उत्पन्न हुए मनुष्य उपार्जन करते हैं। असि, मसि, कृषि आदि छहकर्म भी इन क्षेत्रोमे ही होते हैं, तथा देवपूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये छह प्रकार के शुभ (प्रशस्त) कर्म भी इन क्षेत्रोमें ही उत्पन्न हुए मनुष्य करते हैं; इसीलिये इन क्षेत्रोको ही कर्मभूमि कहते हैं ॥ ३७ ॥

मनुष्यों की उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु

नृस्थिती पराऽवरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥ ३८ ॥

अर्थ—मनुष्योंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य और जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त की है।

टीका

यह ध्यान रखना चाहिये कि—मनुष्यभव एक प्रकारकी त्रसगति है, दो इद्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय तक त्रसगति है। उसका एक साथ उत्कृष्टकाल दो हजार सागरोपमसे कुछ अधिक है। उसमे सज्ञी पर्याप्तक मनुष्यत्वका काल तो बहुत ही थोडा है। मनुष्यभवमें जो जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करके धर्मका प्रारभ न करे तो मनुष्यत्व मिटने के बाद कदाचित् त्रसमें ही रहे तो भी नारकी—देव—तिर्यंच और बहुत थोड़े मनुष्यभव करके

प्रसमें त्रस पर्यायका काल (—दो हजार सागरोपम) पूरा करके एकेंद्रिय पावेगा। वहां अधिकसे अधिक काल (उत्कृष्ट रूपसे असंख्यात पुद्गलपरावर्तन काल) तक रहकर एकेन्द्रियपर्याय (शरीर) धारण करेगा ॥ ३८ ॥

तिर्यंचों की आयुस्थिति

तिर्यग्योनिजाना च ॥ ३९ ॥

अर्थ—तिर्यंचोंकी आयु की उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थिति उतनी ही (मनुष्यों जितनी) है।

टीका

तिर्यंचोंकी आयुके उपविभाग निम्नप्रकार हैं —

जीवकी जाति	उत्कृष्ट आयु
(१) पृथ्वीकाय	२२००० वर्ष
(२) वनस्पतिकाय	१०००० वर्ष
(३) अपकाय	७००० वर्ष
(४) वायुकाय	३० ० वर्ष
(५) अग्निकाय	३ दिवस
(६) दो इन्द्रिय	१२ वर्ष
(७) तीन इन्द्रिय	४९ दिवस
(८) चतुरिन्द्रिय	६ मास
(९) पंचेन्द्रिय	
१ कर्मभूमिके पशु असंज्ञी पंचेन्द्रिय मछली इत्यादि	१ करोड़ पूर्व वर्ष
२ परिसर्प जातिके सर्प	९ पूर्वांग वर्ष
३ सर्प	४२००० वर्ष
४ पक्षी	७२००० वर्ष
५ भोगभूमिके चौपाये प्राणी	३ पल्य

भोगभूमियोंको छोडकर इन सब की जघन्य आयु एक अंतर्मुहूर्तकी है ॥ ३६ ॥

क्षेत्रके नापका कोष्टक

—अ—

(१) अनंत पुद्गल×अनन्त पुद्गल=१ उत्सज्ञासज्ञा,
(२) ८ उत्सज्ञासज्ञा= १ संज्ञासज्ञा,
(३) ८ संज्ञासज्ञा= १ त्रटरेणु,
(४) ८ त्रटरेणु= १ त्रसरेणु,
(५) ८ त्रसरेणु= १ रथरेणु,
(६) ८ रथरेणु= १ उत्तम भोगभूमियाके बालका अग्रभाग,
(७) ८ वैसे (बालके) अग्रभाग= १ मध्यम भोगभूमियांके बालका अग्रभाग,
(८) ८ वैसे (बालके) अग्रभाग= १ जघन्य भोगभूमियांके बालका अग्रभाग,
(९) ८ वैसे (बालके) अग्रभाग= १ कर्मभूमियाके बालका अग्रभाग,
(१०) ८ वैसे (बालके) अग्रभाग= १ लीख,
(११) ८ लीख= १ जू (यूक) सरसो,
(१२) ८ यूक= १ यव (जवके बीजका व्यास)
(१३) ८ यव= १ उत्सेध अगुल (छोटी अगुलीकी चौडाई)
(१४) ५०० उत्सेध अगुल= १ प्रमाणअंगुल अर्थात् अवसर्पिणीके प्रथम चक्रवर्तीकी अंगुलीकी चौडाई,

—ब—

(१) ६ अगुल = १ पाद
(२) २ पाद (१२ अंगुल) = १ विलस्त
(३) २ विलस्त = १ हाथ
(४) २ हाथ = १ गज (ईषु)

(५) २ गज	=	१ धनुष (Bow)
(६) २००० धनुष	=	१ कोष
(७) ४ कोस	=	१ योजन

जहाँ जो अंगुल लागू पड़ता हो वहाँ उस प्रमाण (—नाप) समझना चाहिये।

नोट—१ प्रमाणअंगुल उत्सेधांगुलसे ५०० गुणा है, उससे द्वीप समुद्र पर्वत, द्वीप समुद्रकी वेदी विमान नरकोंका प्रस्तार इत्यादि अकृत्रिम वस्तुओं की लम्बाई चौड़ाई नापी जाती है।

२ उत्सेध अंगुलसे देव—मनुष्य—तिर्यंच और नारकियोंका शरीर तथा अकृत्रिम जिन प्रतिमाओंके देहका नाप किया जाता है। देवोंके नगर तथा मंदिर भी इस ही नापसे नापे जाते हैं।

३ जिस कालमें जैसा मनुष्य हो उस कालमें उसका अंगुल आत्मांगुल कहलाता है। पल्यके अर्धच्छेदका असंख्यातमें भागप्रमाण घनांगुल मांडकर गुणा करनेसे एक जगतश्रेणी होती है।

जगतश्रेणी= ७ राजू लोककी लम्बाई जो उसके अंतमें नीचे है वह।

जगतप्रतर=७ राजु×७ राजु=४९ राजुक्षेत्र उस लोकके नीचे भागका क्षेत्रफल (लम्बाई×चौड़ाई) है।

जगतघन (लोक)=$७^३$ राजु अर्थात् ७ राजु×७ राजु×७ राजु =३४३ राजु यह सम्पूर्णलोकका माप (लम्बाई चौड़ाई मोटाई) है॥ ३८॥

मध्यलोकके वर्णनका संक्षिप्त अवलोकन

जम्बूद्वीप

(१) मध्यलोकके अत्यन्त बीचमें एक लाख ० योजन चौड़ा गोल

० एक योजन=दो हजार कोस

(थाली जैसा) जम्बूद्वीप है। जम्बूद्वीपके वीचमे एक लाख योजन सुमेरु-पर्वत है, जिसकी एक हजार योजन जमीनके अन्दर जड है नव्वे हजार योजन जमीनके ऊपर है, और उसकी चालीस योजन की चूलिका (चोटी) है।

जम्बूद्वीपके वीचमे पश्चिम पूर्व लम्वे छह कुलाचल (पर्वत) हैं उनसे जम्बूद्वीपके सात खण्ड होगये हैं, उन सात खण्डोके नाम भरत, हैमवत्, हरि, विदेह, रम्यक्, हैरण्यवत् और ऐरावत हैं।

(२) उत्तरकुरु–देवकुरु

विदेहक्षेत्रमे मेरुके उत्तरदिशामे उत्तरकुरु तथा दक्षिणदिशामे देव-कुरुक्षेत्र हैं।

(३) लवणसमुद्र

जम्बूद्वीपके चारो तरफ खाईके माफक घेरे हुए दो लाख योजन चौडा लवणसमुद्र है।

(४) धातकीखंडद्वीप

लवणसमुद्रके चारो ओर घेरे हुए चार लाख योजन चौडा धातकी-खण्डद्वीप है। इस द्वीपमे दो मेरु पर्वत हैं, इसलिये क्षेत्र तथा कुलाचल (पर्वत) इत्यादि की सभी रचना जम्बूद्वीपसे दूनी है।

(५) कालोदधिसमुद्र

घातकीखण्डके चारो ओर घेरे हुए आठ लाख योजन चौडा कालो-दधिसमुद्र है।

(६) पुष्करद्वीप

कालोदधिसमुद्रके चारो ओर घेरे हुए सोलह लाख योजन चौड़ा पुष्करद्वीप है। इस द्वीपके बीचोबीच वलय (चूडीके) के आकार, पृथ्वी पर एक हजार बावीस (१०२२) योजन चौडा, सत्रहसौ इक्कीस योजन (१७२१) ऊँचा और चारसौ सत्तावीस (४२७) योजन जमीनके अन्दर जड़वाला, मानुषोत्तर पर्वत है और उससे पुष्करद्वीपके दो खण्ड होगये हैं।

पुष्करद्वीपके पहिले अर्धभागमें जम्बूद्वीपसे दूनी अर्थात् धातकीखण्ड बराबर सब रचना है।

(७) नरलोक (मनुष्यक्षेत्र)

जम्बूद्वीप धातकीखण्ड, पुष्करार्ध (पुष्करद्वीपका आधाभाग) सवणसमुद्र और कालोदधिसमुद्र इतना क्षेत्र नरलोक कहलाता है।

(८) दूसरे द्वीप तथा समुद्र

पुष्करद्वीपसे आगे परस्पर एक दूसरेसे घिरे हुए दूने दूने विस्तार वाले मध्यलोकके अन्ततक द्वीप और समुद्र हैं।

(९) कर्मभूमि और भोगभूमिकी व्याख्या

जहाँ असि मसि कृषि सेवा शिल्प और वाणिज्य इन छह कर्मों की प्रवृत्ति हो वे कर्मभूमियाँ हैं। जहाँपर उनकी प्रवृत्ति न हो वे भोग भूमियाँ कहलाती हैं।

(१०) पन्द्रह कर्मभूमियाँ

पाँच मेरुसम्बन्धी पाँच भारत पाँच ऐरावत और (देवकुरु उत्तर कुरुको छोड़कर) पाँच विदेह इसप्रकार कुल पन्द्रह कर्मभूमियां हैं।

(११) भोगभूमियाँ

पाँच हैमवत और पाँच हैरण्यवत् ये दश क्षेत्र जघन्य भोगभूमियाँ हैं। पाँच हरि और पाँच रम्यक् ये दश क्षेत्र मध्यमभोगभूमियाँ हैं और पाँच देवकुरु और पाँच उत्तरकुरु ये दश क्षेत्र उत्कृष्ट भोगभूमियाँ हैं।

(१२) भोगभूमि और कर्मभूमि जैसी रचना

मनुष्यक्षेत्रसे बाहरके सभी द्वीपोंमें जघन्य भोगभूमि जैसी रचना है परन्तु स्वयंभूरमणद्वीपके उत्तरार्धमें तथा समस्त स्वयंभूरमण समुद्रमें और चारों कोनेकी पृथ्वियोंमें कर्मभूमि जैसी रचना है। लवणसमुद्र और कालोदधिसमुद्रमें ९६ अन्तर्द्वीप हैं। वहां कुभोगभूमिकी रचना है और वहाँ पर मनुष्य ही रहते हैं। उन मनुष्योंकी आकृतियां अनेक प्रकारकी कुत्सित हैं।

स्वयंभूरमणद्वीपके उत्तरार्धकी, स्वयभूरमणसमुद्रकी और चारों कोनो की रचना कर्मभूमि जैसी कही जाती है; क्योकि कर्मभूमिमें और वहा विकलत्रय (दो इन्द्रियसे चार इन्द्रिय) जीव हैं, और भोगभूमिमे विकलत्रय जीव नही हैं। तिर्यक्‌लोकमे पंचेन्द्रिय तिर्यंच रहते हैं, किंतु जलचर तिर्यंच लवणसमुद्र, कालोदधिसमुद्र, और स्वयभूरमणसमुद्रको छोडकर अन्य समुद्रोमे नही हैं।

स्वयभूरमणसमुद्रके चारो ओर के कोनेके अतिरिक्त भागको तिर्यक्‌लोक कहा जाता है।

उपसंहार

लोकके इन क्षेत्रोको किसीने बनाये नही है, किन्तु अनादि अनंत हैं। स्वर्ग-नरक और द्वीपसमुद्र आदि जो है वे अनादिसे इसीप्रकार हैं, और सदा ऐसे ही रहेगे। जैसे जीवादिक पदार्थं इस लोकमें अनादिनिधन हैं उसी प्रकार यह भी अनादिनिधन समझना चाहिये।

इसप्रकार यथार्थ श्रद्धानके द्वारा लोकमे सभी पदार्थं अकृत्रिम भिन्न-भिन्न अनादिनिधन समझना चाहिये। जो कुछ कृत्रिम घरबार आदि इद्रियगम्य वस्तुएँ नवीन दिखाई देती हैं वे सब अनादि निधन पुद्गलद्रव्यकी सयोगी पर्यायें हैं। वे पुद्गल कुछ नये नहीं बने हैं। इसलिये यदि जीव निरर्थक भ्रमसे सच्चे-झूठेका ही निश्चय न करे तो वह सच्चा स्वरूप नही जान सकता। प्रत्येक जीव अपने श्रद्धानका फल प्राप्त करता है इसलिये योग्य जीवोंको सम्यक् श्रद्धा करनी चाहिये।

सात नरकभूमियो, बिल, लेश्या, आयु, द्वीप, समुद्र, पर्वत, सरोवर, नदी, मनुष्य–तिर्यंचकी आयु इत्यादिका वर्णन करके श्री आचार्यदेवने तीसरा अध्याय पूर्ण किया।

इसप्रकार तीसरे अध्यायमे अधोलोक और मध्यलोकका वर्णन किया है, अब ऊर्ध्वलोकका वर्णन चौथे अध्यायमे किया जायगा, इसप्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्रके तीसरे अध्यायकी टीका समाप्त हुई।

★

मोक्षशास्त्र अध्याय चौथा

भूमिका

इस शास्त्रके पहिले अध्यायके पहिले सूत्रमें यह बतलाया गया है कि सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकता ही मोक्षमार्ग है। तत्पश्चात् दूसरे सूत्रमें सम्यग्दर्शनका लक्षण 'तत्त्वार्थ श्रद्धान' कहा गया है। पश्चात् जिन तत्त्वोंकि यथार्थ श्रद्धानसे सम्यग्दर्शन होता है उनके नाम देकर चौथे सूत्रमें सात तत्त्व बताये गये हैं। उन सात तत्त्वोंमें पहिला जीवतत्त्व है। उस जीवका स्वरूप समझनेके लिए दूसरे अध्यायमें यह बताया गया है कि जीवके भाव जीवका लक्षण इन्द्रियाँ—जन्म-शरीर इत्यादिके साथ संसारी जीवोंका निमित्तनैमित्तिक संबंध कैसा होता है। तीसरे अध्यायमें चार प्रकारके संसारी जीवोंमेंसे नारकी जीवोंका वर्णन किया है तथा जीवोंके निवास-स्थान बतलाये हैं और बतलाया है कि मनुष्य तथा अन्य जीवोंके रहनेके क्षेत्र कौनसे हैं तथा मनुष्य और तिर्यंचोंकी आयु इत्यादिके संबंधमें कुछ बातें बताई गई हैं।

इसप्रकार संसारकी चार गतियोंके जीवोंमेंसे मनुष्य तिर्यंच और नरक इन तीनका वर्णन तीसरे अध्यायमें हो चुका है अब देवाधिकार शेष रहता है जो कि इस चौथे अध्यायमें मुख्यतासे निरूपित किया गया है। इसप्रकार अध्याय २ सूत्र १० में जीवके दो भेद (संसारी और मुक्त) बतलाये थे उनमेंसे संसारी जीवोंसे संबंध रखनेवाला अधिकार वर्णित हो जाने पर मुक्त जीवोंका अधिकार शेष रह जाता है जो कि दसवें अध्यायमें वर्णित किया जायगा।

ऊर्ध्वलोक वर्णन

देवोंके भेद

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥ १ ॥

अर्थ—देव चार समूहवाले हैं अर्थात् देवोके चार भेद हैं—१. भवनवासी, २. व्यतर, ३. ज्योतिषी और ४ वैमानिक ।

टीका

देव—जो जीव देवगतिनामकर्मके उदयसे अनेक द्वीप, समुद्र तथा पर्वतादि रमणीक स्थानोमे क्रीडा करें उन्हे देव कहते हैं ॥ १ ॥

भवनत्रिक देवोंमें लेश्याका विभाग

आदितस्त्रिषु पीतांतलेश्याः ॥ २ ॥

अर्थ—पहिलेके तीन निकायोमे पीत तक अर्थात् कृष्ण, नील, कापोत और पीत ये चार लेश्याएँ होती हैं ।

टीका

(१) कृष्ण=काली, नील=नीले रगकी, कापोत=चितकबरी-कबूतरके रग जैसी, पीत=पीली ।

(२) यह वर्णन भावलेश्याका है । वैमानिक देवोकी भावलेश्याका वर्णन इस अध्यायके २२ वें सूत्रमे दिया है ॥ २ ॥

चार निकायके देवोंके प्रभेद

दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यंताः ॥ ३ ॥

अर्थ—कल्पोपपन्न (सोलहवें स्वर्गतकके देव) पर्यन्त इन चारप्रकार के देवोके क्रमसे दश, आठ, पाच, और बारह भेद हैं ।

टीका

भवनवासियोंके दश, व्यन्तरोके आठ, ज्योतिषियोंके पाँच, और

कल्पोपपन्नोंके बारह भेद हैं [कल्पोपपन्न देव वैमानिक जातिके ही हैं] ॥३॥

चार प्रकारके देवोंके सामान्य भेद

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीक-प्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाश्चैकशः ॥ ४ ॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए चार प्रकारके देवोंमें हरएकके दश भेद हैं- १-इन्द्र, २-सामानिक, ३-त्रायस्त्रिंश ४-पारिषद ५-आत्मरक्ष ६-लोकपाल, ७-अनीक, ८-प्रकीर्णक, ९-आभियोग्य और १०-किल्विषिक।

टीका

१ इन्द्र—जो देव दूसरे देवोंमें नहीं रहनेवाली अणिमादिक ऋद्धियोंसे सहित हों उन्हें इन्द्र कहते हैं वे देव राजाके समान होते हैं। [Like a King]

२ सामानिक—जिन देवोंकि आयु, वीर्य, भोग उपभोग इत्यादि इन्द्रसमान होते हैं तो भी आज्ञारूपी ऐश्वर्यसे रहित होते हैं, वे सामानिक देव कहलाते हैं। वे देव पिता या गुरुके समान होते हैं [Like father teacher]

३ त्रायस्त्रिंश—जो देव मन्त्री-पुरोहितके स्थान योग्य होते हैं उन्हें त्रायस्त्रिंश कहते हैं। एक इन्द्रकी सभामें ऐसे देव तेतीस ही होते हैं [Ministers]

४ पारिषद्—जो देव इन्द्रकी सभामें बैठनेवाले होते हैं उन्हें पारिषद कहते हैं। [Courtiers]

५ आत्मरक्ष—जो देव अंगरक्षकके समान होते हैं उन्हें आत्मरक्ष कहते हैं। [Bodyguards]

नोट—देवोंमें घात इत्यादि नहीं होता तो भी ऋद्धिमहिमाके प्रदर्शन आत्मरक्ष देव होते हैं।

६ लोकपाल—जो देव कोतवाल (फौजदार) के समान लोगोंका पालन करें उन्हें लोकपाल कहते हैं। [Police]

७. अनीक—जो देव पैदल इत्यादि सात प्रकारकी सेनामे विभक्त रहते हैं उन्हे अनीक कहते है। [Army]

८. प्रकीर्णक—जो देव नगरवासियोके समान होते हैं उन्हे प्रकीर्णक कहते हैं। [People]

९. आभियोग्य—जो देव दासोकी तरह सवारी आदिके काम आते हैं उन्हे आभियोग्य कहते हैं। इसप्रकारके देव घोडा, सिह, हस इत्यादि प्रकारके वाहनरूप (दूसरे देवोके उपयोग लिये) अपना रूप बनाते हैं। [Conveyances]

१०. किल्विषिक—जो देव चाडालादिकी भाँति हलके दरजेके काम करते हैं उन्हे किल्विषिक कहा जाता है [Servile grade] ॥४॥

व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंमें इन्द्र आदि भेदों की विशेषता

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ॥५॥

अर्थ—ऊपर जो दश भेद कहे हैं उनमेसे त्रायस्त्रिंश और लोकपाल ये भेद व्यन्तर और ज्योतिषी देवोमे नही होते अर्थात् उनमें दो भेदोको छोडकर बाकीके आठ भेद होते हैं ॥५॥

देवोंमें इन्द्रोंकी व्यवस्था

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥ ६ ॥

अर्थ—भवनवासी और व्यन्तरोमे प्रत्येक भेदमे दो दो इन्द्र होते हैं।

टीका

भवनवासियोके दश भेद हैं इसलिये उनमे बीस इन्द्र होते हैं। व्यन्तरोके आठ भेद हैं इसलिये उनमे सोलह इन्द्र होते हैं, और दोनोमे इतने ही (इन्द्र जितने ही) प्रतीन्द्र होते हैं।

२ जो देव युवराजसमान अथवा इन्द्र समान होते हैं अर्थात् जो देव इन्द्र जैसा कार्य करते हैं उन्हें प्रतीन्द्र कहते हैं।

[त्रिलोकप्रज्ञप्ति, पृष्ठ ११८–११९]

३ श्री तीर्थंकरभगवान सौ इन्द्रोंसे पूज्य होते हैं वे सौ इन्द्र निम्नलिखित हैं।

४० भवनवासियोंके—बीस इन्द्र और बीस प्रतीन्द्र।
३२ व्यन्तरोंके—सोलह इन्द्र और सोलह प्रतीन्द्र।
२४ सोलह स्वर्गोंमेंसे—प्रथमके चार देवलोकोंके चार, मध्यमके आठ देवलोकोंके चार और अन्तके चार देवलोकोंके चार इसप्रकार बारह इन्द्र और बारह प्रतीन्द्र।
२ ज्योतिषी देवोंके—चन्द्रमा इन्द्र और सूर्य प्रतीन्द्र।
१ मनुष्योंके—चक्रवर्ती इन्द्र।
१ तिर्यंचोंके—अष्टापद सिंह इन्द्र।
१००

देवोंका काम सेवन संबंधी वर्णन

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥ ७ ॥

अर्थ—ऐशानस्वर्गतकके देव (अर्थात् भवनवासी व्यन्तर, ज्योतिषी और पहिले तथा दूसरे स्वर्गके देव) मनुष्योंकी भाँति शरीरसे काम सेवन करते हैं।

टीका

देवोंमें संततिकी उत्पत्ति गर्भद्वारा नहीं होती तथा वीर्य और दूसरी धातुओंसे बना हुआ शरीर उनके नहीं होता उनका शरीर वैक्रियिक होता है। केवल मनकी कामभोगरूप वासना तृप्त करनेके लिये वे यह उपाय करते हैं। उसका वेग उत्तरोत्तर मंद होता है इसलिये थोड़े ही साधनोंसे यह वेग मिट जाता है। नीचेके देवोंकी वासना तीव्र होती है इसलिये वीर्य

स्खलनका संबंध नही होने पर भी शरीर संबंध हुए विना उनकी वासना दूर नही होती। उनसे भी आगे के देवोकी वासना कुछ मंद होती है इसलिये वे आलिंगनमात्रसे ही संतोष मानते हैं। आगे आगेके देवोकी वासना उनसे भी मद होती है इसलिये वे रूप देखनेसे तथा शब्द सुननेसे ही उनके मनकी वासना शात हो जाती है। उनसे भी आगेके देवोके चिंतवनमात्रसे कामशाति हो जाती है। कामेच्छा सोलहवें स्वर्गतक है उसके आगेके देवोंके कामेच्छा उत्पन्न ही नही होती ॥ ७ ॥

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनः प्रवीचाराः ॥ ८ ॥

अर्थ—शेष स्वर्गके देव, देवियोके स्पर्शसे, रूप देखने से, शब्द सुनने से और मनके विचारोंसे काम सेवन करते है।

टीका

तीसरे और चौथे स्वर्गके देव, देवियोंके स्पर्शसे, पाँचवेंसे आठवें स्वर्ग तकके देव, देवियोके रूप देखनेसे, नवमेसे बारहवें स्वर्ग तकके देव, देवियोंके शब्द सुननेसे, और तेरहवेंसे सोलहवें स्वर्ग तकके देव, देवियो सबधी मनके विचारमात्रसे तृप्त हो जाते हैं—उनकी कामेच्छा शांत हो जाती है ॥ ८ ॥

परेऽप्रवीचाराः ॥ ९ ॥

अर्थ—सोलहवें स्वर्गसे आगेके देव कामसेवन रहित हैं (उनके कामेच्छा उत्पन्न ही नही होती तो फिर उसके प्रतिकारसे क्या प्रयोजन ?)

टीका

१ इस सूत्रमें 'परे' शब्दसे कल्पातीत (सोलहवें स्वर्गसे ऊपरके) सब देवोका सग्रह किया गया है, इसलिये यह समझना चाहिये कि अच्युत (सोलहवें) स्वर्गके ऊपर नवग्रैवेयिकके ३०९ विमान, नव अनुदिश विमान और पाँच अनुत्तर विमानोमें बसनेवाले अहमिन्द्र हैं, उनके कामसेवनके भाव नहीं हैं वहाँ देवागनाएँ नही हैं। (सोलहवें स्वर्गसे ऊपरके देवोमे भेद नही है, सभी समान होते हैं इसलिये उन्हें अहमिन्द्र कहते हैं)

२ नवग्रैवेयिकके देवोंमेंसे कुछ सम्यग्दृष्टि होते हैं और कुछ मिथ्या दृष्टि होते हैं। यथाजात द्रव्यलिंगी जैन मुनिके रूपमें अतिचार रहित पाँच महाव्रत इत्यादि पालन किये हों ऐसे मिथ्यादृष्टि भी नववें ग्रैवेयिक तक उत्पन्न होते हैं मिथ्यादृष्टियोंके ऐसा उत्कृष्ट शुभभाव है। ऐसा शुभभाव मिथ्यादृष्टि जीवने अनंतबार किया [देखो अध्याय २ सूत्र १० की टीका पैरा १०] फिर भी वह जीव धर्मके अंशको या प्रारंभको प्राप्त नहीं कर सका। आत्मप्रतीति हुए बिना समस्त व्रत और तप बालव्रत और बाल तप कहलाते हैं। जीव ऐसे बालव्रत और बालतप चाहे जितने बार (अनंता नंत बार) करे तो भी उससे सम्यग्दर्शन अथवा धर्मका प्रारंभ नहीं हो सकता इसलिये जीवको पहिले आत्मज्ञानके द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की विशेष आवश्यकता है। मिथ्यादृष्टिके उत्कृष्ट शुभभावके द्वारा प्रथमांश धर्म नहीं हो सकता। शुभभाव विकार है और सम्यग्दर्शन आत्माकी अविकारी अवस्था है। विकारसे या विकारभावके बढ़नेसे अविकारी अवस्था नहीं प्रगट होती परन्तु विकार के दूर होनेसे ही प्रगट होती है। शुभभावसे धर्म कभी नहीं होता ऐसी मान्यता पहिले करना चाहिये इसप्रकार जीव पहिले मान्यताकी भूलको दूर करता है और पीछे क्रमक्रमसे चारित्रके दोष दूर करके संपूर्ण शुद्धताको प्राप्त करता है।

३ नवग्रैवेयिकके सम्यग्दृष्टि देव और उससे ऊपरके देव (सबके सब सम्यग्दृष्टि ही हैं) उनके चौथा गुणस्थान ही होता है। उनके देशांग भावोंका संयोग नहीं होता फिर भी पाँचवें गुणस्थानवर्ती स्त्रीवाले मनुष्य और तिर्यंचोंकी अपेक्षा उनके अधिक कषाय होती है ऐसा समझना चाहिये।

४ किसी जीवके कषायकी बाह्य प्रवृत्ति तो बहुत होती है और अंतरंग कषायशक्ति कम होती है-(१) तथा किसीके अंतरंग कषायशक्ति तो बहुत हो और बाह्य प्रवृत्ति थोड़ी हो उसे तीव्र कषायवान् कहा जाता है। (२) दृष्टांत—

(१) पहिले भागका दृष्टांत इसप्रकार है—व्यन्तरादि देव कषायसे नगर नाशादि कार्य करते हैं तो भी उनके कषाय शक्ति थोड़ी होनेसे पीत लेश्या कही गई है। एकेन्द्रियादि जीव (बाह्यमें) कषाय-कार्य करते हुए

मालुम नही होते फिर भी उनके तीव्रकषायशक्ति होनेसे कृष्णादि लेश्याएँ कही गई हैं।

(२) दूसरे भागका दृष्टांत यह सूत्र ही है, जो यह बतलाता है कि सर्वार्थसिद्धिके देव कषायरूप अल्प प्रवृत्त होते हैं। वे अब्रह्मचर्यका सेवन नही करते, उनके देवांगनाएँ नही होती, फिर भी पंचमगुणस्थानवर्ती (देशसंयमी) की अपेक्षा उनके कषायशक्ति अधिक होनेसे वे चतुर्थगुण-स्थानवर्ती असंयमी हैं। पंचमगुणस्थानवर्ती जीव व्यापार और अब्रह्मचर्यादि कषायकार्यरूप बहुत प्रवृत्ति करते हैं फिर भी उनको मंदकषायशक्ति होनेसे देशसंयमी कहा है, और यह सूत्र यह भी बतलाता है कि नवग्रैवेयकके मिथ्यादृष्टि जीवोंके बाह्यब्रह्मचर्य है फिर भी वे पहिले गुणस्थानमे हैं, और पंचमगुणस्थानवर्ती जीव विवाहादि करते हैं तथा अब्रह्मचर्यादिकार्यरूप प्रवृत्ति करते है फिर भी वे देशसंयमी सम्यग्दृष्टि है।

५. इस सूत्रका सिद्धांत

बाह्य संयोगोके सद्भाव या असद्भावका और बाह्य प्रवृत्ति या निवृत्ति को देख करके बाह्य स्वांगके अनुसार जीवकी अपवित्रता या पवित्रता का निर्णय करना न्यायविरुद्ध है, और अंतरंग मान्यता तथा कषाय-शक्ति परसे ही जीव की पवित्रता या अपवित्रता का निर्णय करना न्याय-पूर्ण है। मिथ्यादृष्टि जीव बहिरात्मा (बाहरसे आत्माका नाप करनेवाला) होता है इसलिये वह यथार्थ निर्णय नही कर सकता, क्योकि उसका लक्ष बाह्य संयोगोके सद्भाव या असद्भाव पर तथा बाह्य-प्रवृत्ति या निवृत्ति पर होता है इसलिये उसका निर्णय बाह्य स्थितिके आधारसे होता है। सम्यग्दृष्टि जीव अन्तरात्मा (अन्तर्दृष्टिसे आत्माका नाप करनेवाला) होता है इसलिये उसका निर्णय अंतरंग स्थिति पर अवलंबित होता है, इसलिये वह अन्तरंगमान्यता और कषायशक्ति कैसी है इसपरसे निर्णय करता है, इसलिये उसका निर्णय यथार्थ होता है ॥ ९ ॥

भवनवासी देवोंके दश भेद

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितो-

दधिद्वीपदिक्कुमाराः ॥ १० ॥

अर्थ—भवनवासी देवोंके दश भेद हैं—१—असुरकुमार, २—नागकुमार, ३—विद्युत्कुमार, ४—सुपर्णकुमार ५—अग्निकुमार, ६—वातकुमार ७—स्तनितकुमार, ८—उदधिकुमार ९—द्वीपकुमार और १० दिक्कुमार।

टीका

१ २० वर्षके नीचेके युवकके जैसा जीवन और आदत होती है वैसा ही जीवन और आदत इन देवोंकी भी होती है इसलिये उन्हें कुमार कहते हैं।

२ उनके रहनेका स्थान निम्नप्रकार है—

प्रथम पृथ्वी–रत्नप्रभामें तीन भूमियाँ (Stages) हैं उसमें पहिली भूमिको 'खरभाग' कहते हैं उसमें असुरकुमारको छोड़कर नवप्रकारके भवनवासी देव रहते हैं।

जिस भूमिमें असुरकुमार रहते हैं उस भागको 'पंकभाग' कहते हैं उसमें राक्षस भी रहते हैं। पंकभाग' रत्नप्रभा पृथ्वीका दूसरा भाग है।

रत्नप्रभाका तीसरा (सबसे नीचा) भाग 'अब्बहुल' कहलाता है वह पहिला नरक है।

३ भवनवासी देवोंकी यह असुरकुमारादि दश प्रकारकी संज्ञा उन उन प्रकारके नामकर्मके उदयसे होती है ऐसा जानना चाहिये। 'जो देव युद्ध करें प्रहार करें वे असुर हैं ऐसा कहना ठीक नहीं है अर्थात् यह देवोंका अवर्णवाद है और उससे मिथ्यात्वका बन्ध होता है।

४ दश जातिके भवनवासी देवोंके सात करोड़ बहत्तर लाख भवन हैं वे भवन महासुगन्धित अत्यंत रमणीक और अत्यंत उद्योतरूप हैं और उतनी ही संख्या (७७२, ० ००) जिन चैत्यालयोंकी है। दशप्रकारके चैत्यवृक्ष जिनप्रतिमासे विराजित होते हैं।

५. भवनवासी देवोंका आहार और श्वासका काल

१—असुरकुमार देवोके एक हजार वर्ष वाद आहारकी इच्छा उत्पन्न होती है और मनमे उसका विचार आते ही कंठसे अमृत झरता है, वेदना व्याप्त नही होती, पन्द्रह दिन बीत जाने पर श्वास लेते हैं।

२–४ नागकुमार, सुपर्णकुमार और द्वीपकुमार ये तीनप्रकारके देवो के साडे बारह दिन वाद आहारकी इच्छा होती है और साढे बारह मुहूर्त बीत जाने पर श्वास लेते हैं।

५–७ उदधिकुमार, विद्युतकुमार और स्तनितकुमार इन तीन प्रकारके देवोंके बारह दिन वाद आहारकी इच्छा होती है और बारह मुहूर्त वाद श्वास लेते है।

८–१० दिक्कुमार, अग्निकुमार और वातकुमार इन तीनप्रकारके देवोंके साढे सात दिन वाद आहारकी इच्छा होती है और साढे सात मुहूर्त बाद श्वास लेते हैं।

देवोके कवलाहार नही होता उनके कठमेसे अमृत झरता है, और उनके वेदना व्यापती नही है।

इस अध्यायके अतमें देवोकी व्यवस्था बतानेवाला कोष्टक है उससे दूसरी बातें जान लेना चाहिये ॥ १० ॥

व्यन्तर देवोंके आठ भेद

व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षस-भूतपिशाचाः ॥ ११ ॥

अर्थ—व्यन्तर देवोके आठ भेद हैं—१–किन्नर, २–किंपुरुष, ३–महोरग, ४–गन्धर्व, ५–यक्ष, ६–राक्षस, ७–भूत और ८–पिशाच।

टीका

१ कुछ व्यन्तरदेव जम्बूद्वीप तथा दूसरे असख्यात द्वीप समुद्रोमें रहते हैं। राक्षस रत्नप्रभा पृथ्वीके 'पकभागमे' रहते हैं और राक्षसोंको

छोड़कर दूसरे सात प्रकारके व्यन्तरदेव 'खरभागमें' रहते हैं।'

२ जुदी जुदी दिशाओंमें इन देवोंका निवास है इसलिये उन्हें व्यन्तर कहते हैं, उपरोक्त आठ संज्ञाएँ जुदे २ नामकर्मके उदयसे होती हैं। उन संज्ञाओंका कुछ लोग व्युत्पत्तिके अनुसार अर्थ करते हैं किन्तु ऐसा अर्थ गलत है अर्थात् ऐसा कहनेसे देवोंका अवर्णवाद होता है और मिथ्यात्वके बंधका कारण है।

३ पवित्र वैक्रियिक शरीरके धारी देव कभी भी मनुष्योंके अपवित्र औदारिक शरीरके साथ कामसेवन करते ही नहीं देवोंके मांस भक्षण कभी होता ही नहीं देवोंको कंठसे झरनेवाला अमृतका आहार होता है, किन्तु कवलाहार नहीं होता।

४ व्यन्तर देवोंके स्थानमें जिनप्रतिमासहित आठ प्रकारके चैत्य वृक्ष होते हैं और वे मानस्तंभादिक सहित होते हैं।

५ व्यन्तर देवोंका आवास—द्वीप पर्वत समुद्र देश ग्राम नगर त्रिराहा, चौराहा घर आँगन रास्ता गली पानीका घाट बाग वन देवकुल इत्यादि असंख्यात स्थान हैं॥ ११॥

ज्योतिषी देवोंके पाँच भेद

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्र- प्रकीर्णकतारकाश्च ॥ १२ ॥

अर्थ—ज्योतिषी देवोंके पाँच भेद हैं—१–सूर्य २–चन्द्रमा ३–ग्रह ४–नक्षत्र और ५– प्रकीर्णक तारे।

टीका

ज्योतिषी देवोंका निवास मध्यलोकमें सम धरातलसे ७९० योजनकी ऊंचाईसे लेकर ९०० योजनकी ऊंचाई तक आकाशमें है सबसे नीचे तारे हैं उनसे १० योजन ऊपर सूर्य है, सूर्यसे ८० योजन ऊपर चन्द्रमा हैं

चन्द्रमासे चार योजन ऊपर २७ नक्षत्र है, नक्षत्रोसे ४ योजन ऊपर बुधका ग्रह, उससे ३ योजन ऊपर शुक्र, उससे ३ योजन ऊपर वृहस्पति, उससे ३ योजन ऊपर मगल, और उससे ३ योजन ऊपर शनि है, इस-प्रकार पृथ्वीसे ऊपर ९०० योजन तक ज्योतिपी मडल है। उनका आवास मध्यलोकमे है। [यहाँ २००० कोसका योजन जानना चाहिये] ॥१२॥

ज्योतिपी देवोंका विशेप वर्णन

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १३ ॥

अर्थः—ऊपर कहे हुए ज्योतिपी देव मेरुपर्वतकी प्रदक्षिणा देते हुए मनुष्यलोकमे हमेशा गमन करते है।

(अढाई द्वीप और दो समुद्रोको मनुष्यलोक कहते हैं) ॥ १३ ॥

उनसे होनेवाला कालविभाग

तत्कृतः कालविभागः ॥ १४ ॥

अर्थः—घडी, घटा, दिवस, रात, इत्यादि व्यवहारकालका विभाग है वह गतिशील ज्योतिषीदेवोंके द्वारा किया जाता है।

टीका

काल दो प्रकारका है–निश्चयकाल और व्यवहारकाल। निश्चय कालका स्वरूप पांचवें अध्यायके २२ वें सूत्रमें किया जायगा। यह व्यव-हार काल निश्चयकालका बतानेवाला है ॥ १४ ॥

बहिरवस्थिताः ॥ १५ ॥

अर्थः—मनुष्यलोक (अढाई द्वीप) के बाहरके ज्योतिषी देव स्थिर है।

टीका

अढाईद्वीपके बाहर असख्यात द्वीप समुद्र है उनके ऊपर (सबसे अतिम स्वयभूरमण समुद्रतक) ज्योतिषीदेव स्थिर हैं ॥ १५ ॥

इसप्रकार भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी इन तीन प्रकारके देवों का वर्णन पूरा हुआ, अब चौथे प्रकारके—वैमानिक देवोंका स्वरूप कहते हैं।

वैमानिक देवोंका वर्णन

वैमानिकाः ॥ १६ ॥

अर्थ—अब वैमानिक देवोंका वर्णन शुरू करते हैं।

टीका

विमान—जिस स्थानोंमें रहनेवाले देव अपनेको विशेष पुण्यात्मा समझें उन स्थानोंको विमान कहते हैं।

वैमानिक—उन विमानोंमें पैदा होनेवाले देव वैमानिक कहे जाते हैं।

वहाँ सब चौरासी लाख सत्तानवे हजार तेवीस विमान हैं। उनमें उत्तम मंदिर कल्पवृक्ष वन-बाग बावड़ी नगर इत्यादि अनेक प्रकारकी रचना होती है। उनके मध्यमें जो विमान हैं वे इंद्रक विमान कहे जाते हैं उन की पूर्वादि चारों दिशाओंमें पंक्तिरूप (सीधी लाइनमें) जो विमान हैं उन्हें श्रेणिबद्ध विमान कहते हैं। चारों दिशाओंके बीच अंतरालमें—विदिशाओंमें जहाँ तहाँ बिखरे हुए फूलोंकी तरह जो विमान हैं उन्हें प्रकीर्णक विमान कहते हैं। इसप्रकार इन्द्रक श्रेणिबद्ध और प्रकीर्णक ये तीनप्रकारके विमान हैं ॥ १६ ॥

वैमानिक देवोंके भेद—

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १७ ॥

अर्थ—वैमानिक देवोंके दो भेद हैं—१ कल्पोपपन्न और २ कल्पातीत।

टीका

जिनमें इंद्रादि दशप्रकारके भेदोंकी कल्पना होती है ऐसे सोलह स्वर्गोंको कल्प कहते हैं, और उन कल्पोंमें जो देव पैदा होते हैं उन्हें कल्पो

पपन्न कहते हैं, तथा सोलहवें स्वर्गसे ऊपर जो देव उत्पन्न होते हैं उन्हे कल्पातीत कहते है ।। १७ ।।

कल्पोंकी स्थितिका क्रम

उपर्युपरि ।। १८ ।।

अर्थ—सोलह स्वर्गके आठ युगल, नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाच अनुत्तर ये सब विमान क्रमसे ऊपर ऊपर है ।। १८ ।।

वैमानिक देवोंके रहनेका स्थान

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठ-शुक्रमहाशुक्रसतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युत-योर्नवसुग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ।। १९ ।।

अर्थ—सौधर्म-ऐशान, सनत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लातव-कापिष्ट, शुक्र-महाशुक्र, सतार-सहस्रार इन छह युगलोके बारह स्वर्गोमे, आनत-प्राणत ये दो स्वर्गोमे, आरण-अच्युत ये दो स्वर्गोमे, नव ग्रैवेयक विमानोमे, नव अनुदिश विमानोमे और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि इन पाच अनुत्तर विमानोमें वैमानिक देव रहते हैं।

टीका

१. नव ग्रैवेयको के नाम—(१) सुदर्शन, (२) अमोघ, (३) सुप्रबुद्ध, (४) यशोधर, (५) सुभद्र, (६) विशाल, (७) सुमन, (८) सौमन और (९) प्रीतिंकर ।

२ नव अनुदिशोंके नाम—(१) आदित्य, (२) अर्चि, (३) अर्चिमाली, (४) वैरोचन, (५) प्रभास, (६) अर्चिप्रभ, (७) अर्चि-र्मध्य (८) अर्चिरावर्त और (९) अर्चिविशिष्ठ ।

सूत्रमें अनुदिश नाम नहीं है परन्तु 'नवसु' पदसे उसका ग्रहण हो जाता है। नव और ग्रैवेयक इन दोनोंमें सातवीं विभक्ति लगाई गई है वह बताती है कि ग्रैवेयकसे नव ये जुदे स्वर्ग हैं।

३ सौधर्मादिक एक एक विमानमें एक एक जिनमन्दिर अनेक विभूति सहित होते हैं। और इंद्रके नगरके बाहर अशोकवन आम्रवन इत्यादि होते हैं। उन वनमें एक हजार योजन ऊँचा और पाँचसौ योजन चौड़ा एक चैत्यवृक्ष है उसकी चारों दिशामें पर्य्यंकासन जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा है।

४ इन्द्रके इस स्थानमण्डपके अग्रभागमें मानस्थंभ होता है उस मानस्थंभमें तीर्थंकर देव जब गृहस्थदशामें होते हैं, उनके पहिनने योग्य आभरणोंका रत्नमई पिटारा होता है। उसमेंसे इन्द्र आभरण निकालकर तीर्थंकर देवको पहुँचाता है। सौधर्मके मानस्थंभके रत्नमई पिटारेमें भरत क्षेत्रके तीर्थंकरोंके आभरण होते हैं। ऐशान स्वर्गके मानस्थंभके पिटारेमें ऐरावतक्षेत्रके तीर्थंकरोंके आभरण होते हैं। सानत्कुमारके मानस्थम्भके पिटारेमें पूर्व विदेहके तीर्थंकरोंके आभरण होते हैं। महेन्द्रके मानस्थम्भके पिटारेमें पश्चिम विदेहके तीर्थंकरोंके आभरण होते हैं। इसलिये वे मान स्थम्भ देवोंसे पूज्यनीय हैं। इन मानस्थम्भोंके पास ही आठ योजन चौड़ा आठ योजन लम्बा तथा ऊंचा उपपाद गृह है। उस उपपादगृहमें एक रत्न मई शय्या होती है वह इन्द्रका जन्म स्थान है। उस उपपादगृहके पासमें ही अनेक शिखरवाले जिनमंदिर हैं। उनका विशेष वर्णन त्रिलोकसारादि ग्रंथों मेंसे जानना चाहिये ॥ १९ ॥

वैमानिक देवोंमें उत्तरोत्तर अधिकता

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधि विषयतोऽधिकाः ॥ २० ॥

अर्थ—आयु, प्रभाव सुख द्युति लेश्याकी विशुद्धि इन्द्रियोंका विषय और अवधिज्ञानका विषय ये सब ऊपर ऊपरके विमानोंमें (वैमानिक देवोंके) अधिक हैं।

टीका

स्थिति—आयुकर्मके उदयसे जो भवमे रहना होता है उसे स्थिति कहते हैं।

प्रभाव—परका उपकार तथा निग्रह करनेवाली शक्ति प्रभाव है।

सुख—सातावेदनीयके उदयसे इन्द्रियोंके इष्ट विषयोंकी अनुकूलता सो सुख है। यहाँ पर 'सुख' का अर्थ बाहरके सयोगकी अनुकूलता किया है, निश्चयसुख (आत्मीक सुख) यहाँ नही समझना चाहिये। निश्चयसुख का प्रारम्भ सम्यग्दर्शनसे होता है, यहाँ सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टिके भेदकी अपेक्षासे कथन नही है किन्तु सामान्य कथन है ऐसा समझना चाहिये।

द्युति—शरीरकी तथा वस्त्र आभूषण आदिकी दीप्ति सो द्युति है।

लेश्याविशुद्धि—लेश्या की उज्ज्वलता सो विशुद्धि है, यहाँ भाव-लेश्या समझना चाहिये।

इन्द्रियविषय—इन्द्रियद्वारा (मतिज्ञानसे) जानने योग्य पदार्थोंको इन्द्रियविषय कहते हैं।

अवधिविषय—अवधिज्ञानसे जानने योग्य पदार्थ सो अवधिविषय है ॥ २० ॥

वैमानिक देवोंमें उत्तरोत्तर हीनता

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥२१॥

अर्थ—गति, शरीर, परिग्रह, और अभिमान की अपेक्षासे ऊपर ऊपरके वैमानिक देव हीन हीन हैं।

टीका

१. गति—यहाँ 'गति' का अर्थ गमन है, एक क्षेत्रको छोडकर अन्य क्षेत्रमे जाना सो गमन (गति) है। सोलहवें स्वर्गसे आगेके देव अपने विमानोको छोड दूसरी जगह नही जाते।

शरीर—शरीरका विस्तार सो शरीर है।

परिग्रह—लोभ कषायके कारण ममतापरिणाम सो परिग्रह है।

अभिमान—मानकषायके कारण अहंकार सो अभिमान है।

२ प्रश्न—ऊपर ऊपरके देवोंके विक्रिया आदि की अधिकताके कारण गमन इत्यादि विशेष रूपसे होना चाहिये फिर भी उसकी हीनता कैसे कही ?

उत्तर—गमनकी शक्ति तो ऊपर ऊपरके देवोंमें अधिक है किन्तु अन्य क्षेत्रमें गमन करनेके परिणाम अधिक नहीं हैं इसलिये गमनहीन हैं ऐसा कहा है। सौधर्म-ऐशानके देव क्रीड़ादिकके निमित्तसे महान् विषयानुरागसे बारम्बार अनेक क्षेत्रोंमें गमन करते हैं। ऊपरके देवोंके विषयकी उत्कट (तीव्र) वाञ्छाका अभाव है इसलिये उनकी गति हीन है।

३ शरीरका प्रमाण चालू अध्यायके अन्तिम कोष्ठकमें बताया है वहाँ से जानना चाहिये।

४ विमान-परिवारादिरूप परिग्रह ऊपर ऊपरके देवोंमें थोड़ा २ होता है। कषायकी मंदतासे अवधिज्ञानादिमें विशुद्धता बढ़ती है और अभिमान कमती होता है। जिनके मंद कषाय होती है वे ऊपर ऊपर उत्पन्न होते हैं।

५ शुभ परिणामके कारण कौन जीव किस स्वर्गमें उत्पन्न होता है उसका स्पष्टीकरण

कौन उपजे ?	कहाँ उपजे ?
(१) असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच—	भवनवासी तथा व्यन्तर······
(२) कर्मभूमिके संज्ञी पर्याप्त तिर्यंचमिथ्यादृष्टि या सासादन गुणस्थानवाले	बारहवें स्वर्ग पर्यंत

(३) ऊपरके तिर्यंच-सम्यग्दृष्टि (स्वयंप्रभाचलसे बाहरके भागमे रहनेवाले)	सौधर्मादिसे अच्युत स्वर्ग पर्यंत
(४) भोगभूमिके मनुष्य, तिर्यंच-मिथ्यादृष्टि या सासादन गुणस्थानवाले	ज्योतिषियोमें
(५) तापसी	ज्योतिषियोमे
(६) भोगभूमिके सम्यग्दृष्टि मनुष्य या तिर्यंच	सौधर्म और ऐशानमें
(७) कर्मभूमिके मनुष्य— मिथ्यादृष्टि अथवा सासादन	भवनवासीसे उपरिम ग्रैवेयक तक
(८) कर्मभूमिके मनुष्य— जिनके द्रव्य (बाह्य) जिनलिंग और भाव मिथ्यात्व या सासादन होते हैं ऐसे—	ग्रैवेयक पर्यन्त
(९) जो अभव्यमिथ्यादृष्टि निर्ग्रंथलिंग धारण करके महान् शुभभाव और तप सहित हो वे—	उपरिम (नवमें) ग्रैवेयकमें।
(१०) परिव्राजक तापसियोका उत्कृष्ट उपपाद	ब्रह्म (पंचम) स्वर्गपर्यंत
(११) आजीवक (काजीके अहारी) का उपपाद	बारहवें स्वर्ग पर्यन्त
(१२) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी प्रकर्षतावाले श्रावक	सौधर्मादिसे अच्युत तक (उससे नीचे या ऊपर नही)

(१३) भावलिंगी निर्ग्रन्थ साधु	सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त
(१४) अढ़ाईद्वीपके अणुव्रतधारी तिर्यन्च	सौधर्मसे लेकर बारहवें स्वर्ग पर्यन्त।
(१५) पाँच मेरु संबंधी तीस भोगभूमिके मनुष्य-तिर्यन्च मिथ्यादृष्टि	भवनत्रिकमें
(१६) „ „ सम्यग्दृष्टि	सौधर्म ऐशानमें
(१७) छ्यानवें अंतर्द्वीप कुभोगभूमिके म्लेच्छ मनुष्य मानुषोत्तर और स्वयंप्रभाचल पर्वतके बीचके असंख्यात द्वीपोंमें उत्पन्न हुए तिर्यन्च	भवनत्रिकमें

नोट—एकेन्द्रिय, विकलत्रय, देव तथा नारकी ये देवोंमें उत्पन्न नहीं होते क्योंकि उनके देवोंमें उत्पन्न होनेके योग्य शुभभाव होते ही नहीं।

६ देव पर्यायसे च्युत होकर कौनसी पर्याय धारण करता है उसकी विगत

कहाँसे आता है ?	कौनसी पर्याय धारण करे ?
(१) भवनत्रिक देव और सौधर्म ऐशानसे	एकेन्द्रिय बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय अपकाय प्रत्येकवनस्पति मनुष्य तथा पंचेन्द्रिय तिर्यन्चमें उपजै (विकलत्रयमें नहीं आता)
(२) सनत्कुमारादिकसे	स्थावर नहीं होता।
(३) बारहवें स्वर्ग पर्यन्तसे	पंचेन्द्रिय तिर्यन्च तथा मनुष्य होता है।
(४) आनत प्राणतादिकसे (बारहवें स्वर्गके ऊपरसे)	नियमसे मनुष्यमें ही उत्पन्न होता है तिर्यन्चोंमें नहीं होता।

(५) सौधर्मसे प्रारम्भ करके नवग्रैवेयक पर्यन्तके देवो मेसे कोई	त्रेसठ शलाका पुरुष भी हो सकते है।
(६) अनुदिश और अनुत्तरसे आये हुये।	तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र इत्यादिमे उत्पन्न हो सकते हैं किंतु अर्धचक्री नही हो सकते।
(७) भवनत्रिकसे	त्रेसठ शलाका पुरुषोंमे नही उत्पन्न होते।
(८) देव पर्यायसे (समुच्चयसे)	समस्त सूक्ष्मोमे, तैजसकायोमे, वातकायोमे उत्पन्न नही होते। तथा विकलत्रयोमे, असज्ञियो या लब्धिअपर्याप्तकोमे नही उत्पन्न होते और भोगभूमियोमे, देवोमे तथा नारकियोमे भी उत्पन्न नही होते।

७. इस सूत्रका सिद्धांत

(१) जब जीव मिथ्यादृष्टिके रूपमे उत्कृष्ट शुभभाव करता है तब नवमे ग्रैवेयक तक जाता है, परन्तु वे शुभभाव सम्यग्दर्शनके या धर्मके कारण नही हैं, मिथ्यात्वके कारण अनन्त ससारमे परिभ्रमण करता है इसलिये शुभ भावको धर्म या धर्मका कारण नही मानना चाहिये।

(२) मिथ्यादृष्टिको उत्कृष्ट शुभभाव होते हैं तब उसके गृहीत–मिथ्यात्व छूट जाता है अर्थात् देव-गुरु-शास्त्रकी रागमिश्रित व्यवहार श्रद्धा तो ठीक होती है, उसके बिना उत्कृष्ट शुभभाव हो ही नही सकते। नवमे ग्रैवेयक जानेवाला मिथ्यादृष्टि जीव देव–गुरु शास्त्रके व्यवहारसे (राग-मिश्रित विचारसे) सच्चा निर्णय करता है किन्तु निश्चयसे अर्थात् रागसे पर हो सच्चा निर्णय नही करता है तथा उसके 'शुभ भावसे धर्म होता है'

ऐसी सूक्ष्म मिथ्यामान्यता रह जाती है इसलिये वह मिथ्यादृष्टि बना रहता है।

(३) सच्चे देव-गुरु शास्त्रकी व्यवहार श्रद्धाके बिना उच्च शुभ भाव भी नहीं हो सकते इसलिये जिन जीवोंको सच्चे देव-गुरु शास्त्रका संयोग प्राप्त हो जाता है। फिर भी यदि वे उसका रागमिश्रित व्यवहारिक यथार्थ निर्णय नहीं करते तो गृहीतमिथ्यात्व बना रहता है और जिसे कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्रकी मान्यता होती है उसके भी गृहीतमिथ्यात्व होता ही है और जहाँ गृहीतमिथ्यात्व होता है वहाँ अगृहीतमिथ्यात्व भी अवश्य होता है इसलिए ऐसे जीवको सम्यग्दर्शनादि धर्म तो होता नहीं प्रत्युत मिथ्यादृष्टिके होने वाला उत्कृष्ट शुभभाव भी उसके नहीं होता ऐसे जीवों के जैन धर्मकी श्रद्धा व्यवहारसे भी नहीं मानी जा सकती।

(४) इसी कारणसे अन्यमतकी मान्यतावालोंके सच्चे धर्मका प्रारम्भ अर्थात् सम्यग्दर्शन तो होता ही नहीं है और मिथ्यादृष्टिके योग्य उत्कृष्ट शुभभाव भी वे नहीं कर सकते वे अधिकसे अधिक बारहवें देवलोक की प्राप्तिके योग्य शुभभाव कर सकते हैं।

(५) बहुतसे अज्ञानी लोगोंकी यह मान्यता है कि 'देवगतिमें सुख है किन्तु यह उनकी भूल है। बहुतसे देव तो मिथ्यात्वके कारण अतत्त्व-श्रद्धानयुक्त ही हैं। भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंके अति मंद कषाय नहीं होती उपयोग भी बहुत चपल होता है तथा कुछ शक्ति है इस लिये कौतूहल तथा विषयादि कार्योंमें ही लगे रहते हैं और इसलिये वे अपनी उस व्याकुलतासे दुःखी ही हैं। वहाँ माया-लोभ कषायके कारण होनेसे ऐसे कार्योंकी मुख्यता है। वहाँ विषयसामग्रीकी इच्छा करना छल करना इत्यादि कार्य विशेष होते हैं किन्तु वैमानिक देवोंमें ऊपर ऊपरके देवोंके ये कार्य अल्प होते हैं। वहाँ हास्य और रति कषायके कारण होनेसे ऐसे कार्योंकी मुख्यता होती है। इसप्रकार देवोंको कषायभाव होता है और कषायभाव दुःख ही है। ऊपरके देवोंके उत्कृष्ट पुण्यका उदय है और कषाय अति मंद है तथापि उनके भी इच्छाका अभाव नहीं है इसलिये वास्तवमें वे दुःखी ही हैं।

जो देव सम्यग्दर्शनको प्राप्त हुए हैं वे ही जितने दरजेमे वीतरागभावरूप रहते है उतने दरजेमे सच्चे सुखी हैं। सम्यग्दर्शनके विना कही भी सुखका अश प्रारभ नही होता, और इसीलिये ही इसी शास्त्रके पहिले ही सूत्रमे मोक्ष का उपाय बतलाते हुए उसमे सम्यग्दर्शन पहिला बताया है। इसलिये जीवोको प्रथम ही सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका उपाय करना आवश्यक है।

(६)—उत्कृष्ट देवत्वके योग्य सर्वोत्कृष्ट शुभभाव सम्यग्दृष्टिके ही होते हैं। अर्थात् शुभभावके स्वामित्वके निषेधकी भूमिकामे ही वैसे उत्कृष्ट शुभभाव होते है, मिथ्यादृष्टिके वैसे उच्च शुभभाव नही होते ॥ २१ ॥

वैमानिक देवोंमें लेश्या का वर्णन

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥ २२ ॥

अर्थ—दो युगलोमे पीत, तीन युगलोमे पद्म और बाकीके सब विमानोमे शुक्ललेश्या होती हैं।

टीका

१३ पहिले और दूसरे स्वर्गमे पीतलेश्या, तीसरे और चौथेमे पीत तथा पद्मलेश्या, पाचवेंसे आठवें तक पद्मलेश्या, नववेंसे बारहवें तक पद्म और शुक्ललेश्या और बाकीके सब वैमानिक देवोंके शुक्ललेश्या होती है, नव अनुदिश और पाच अनुत्तर इन चौदह विमानोके देवोके परमशुक्ल-लेश्या होती है। भवनत्रिक देवोकी लेश्याका वर्णन इस अध्यायके दूसरे सूत्रमे आगया है। यहाँ भावलेश्या समझना चाहिये।

२. प्रश्न—सूत्रमे मिश्रलेश्याओंका वर्णन क्यों नही किया ?

उत्तर—जो मुख्य लेश्याएँ हैं उन्हे सूत्रमे बतलाया है जो गौण लेश्याएँ है उन्हे नही कहा है, गौण लेश्याओका वर्णन उसीमे गर्भित है। इसलिये वे उसमे अविवक्षितरूपसे हैं। इस शास्त्रमे सक्षिप्त सूत्ररूपसे मुख्य वर्णन किया है, दूसरा उसमे गर्भित है। इसलिये यह गर्भित कथन परम्परा के अनुसार समझ लेना चाहिये ॥ २२ ॥

कल्पसंज्ञा कहाँ तक है?

प्राग्ग्रैवेयकेभ्य: कल्पा: ॥ २३ ॥

अर्थ—ग्रैवेयकोंसे पहिलेके सोलह स्वर्गोंको कल्प कहते हैं। उससे आगेके विमान कल्पातीत हैं।

टीका

सोलह स्वर्गोंके बाद नवग्रैवेयक इत्यादिके देव एक समान वैभवके धारी होते हैं इसलिये उन्हें अहमिन्द्र कहते हैं वहाँ इन्द्र इत्यादि भेद नहीं हैं, सभी समान हैं ॥ २३ ॥

लौकान्तिक देव

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिका: ॥ २४ ॥

अर्थ—जिनका निवास स्थान पाँचवें स्वर्ग (ब्रह्मलोक) है उन्हें लौकान्तिक देव कहते हैं।

टीका

ये देव ब्रह्मलोकके अंतमें रहते हैं तथा एक भवावतारी (एकावतारी) हैं तथा लोकका अंत (संसारका नाश) करनेवाले हैं इसलिये उन्हें लौकान्तिक कहते हैं। ये द्वादशांगके पाठी होते हैं चौदह पूर्वके धारक होते हैं ब्रह्मचारी रहते हैं और तीर्थंकर प्रभुके मात्र तप कल्याणकमें आते हैं। ये देवर्षि भी कहे जाते हैं ॥ २४ ॥

लौकान्तिक देवोंके नाम

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ॥ २५ ॥

अर्थ—लौकान्तिक देवोंके आठ भेद हैं—१-सारस्वत २-आदित्य ३-वह्नि ४-अरुण ५-गर्दतोय ६-तुषित ७-अव्याबाध और ८-अरिष्ट ये देव ब्रह्मलोककी ईशान इत्यादि आठ दिशाओंमें रहते हैं।

टीका

इन देवोंके ये आठ मूल भेद हैं और उन आठोंके रहनेके स्थानके बीच के भागमे रहनेवाले देवोंके दूसरे सोलह भेद हैं; इसप्रकार कुल २४ भेद हैं इन देवोंके स्वर्गके नाम उनके नामके अनुसार ही हैं। उनमे सभी समान हैं, उनमे कोई छोटा बडा नही है सभी स्वतन्त्र है उनकी कुल सख्या ४०७८२० है। सूत्रमे आठ नाम बतलाकर अतमे 'च' शब्द दिया है उससे यह मालूम होता है कि इन आठ के अतिरिक्त दूसरे भेद भी हैं ॥ २५ ॥

अनुदिश और अनुत्तरवासी देवोंके अवतारका नियम

विजयादिषु द्विचरमाः ॥ २६ ॥

अर्थ—विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और अनुदिश विमानो के अहमिन्द्र द्विचरमा होते हैं अर्थात् मनुष्यके दो जन्म (भव) धारण करके अवश्य ही मोक्ष जाते है (ये सभी जीव सम्यग्दृष्टि ही होते हैं।)

टीका

१ सर्वार्थसिद्धिके देव उनके नामके अनुसार एकावतारी ही होते हैं। विजयादिकमे रहनेवाले जीव एक मनुष्यभव अथवा दो भव भी धारण करते हैं।

२ सर्वार्थसिद्धिके देव, दक्षिणके छह इन्द्र (–सौधर्म, सानत्कुमार, ब्रह्म, शुक्र, आनत, आरण) सौधर्मके चारो लोकपाल, सौधर्म इन्द्रकी 'शचि' नामकी इन्द्राणी और लौकान्तिक देव–ये सभी एक मनुष्य जन्म धारण करके मोक्ष जाते हैं [सर्वा० एटा, पृ० ८७—८८ की फुटनोट] ॥ २६ ॥

[तीसरे अध्यायमें नारकी और मनुष्य संबधी वर्णन किया था और इस चौथे अध्यायमें यहाँ तक देवोका वर्णन किया। अब एक सूत्र द्वारा तिर्यंचोकी व्याख्या बतानेके बाद देवोकी उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु

किसकी है यह बतावेंगे तथा नारकियोंकी जघन्य आयु कितनी है यह बतावेंगे। मनुष्य तथा तिर्यंचोंकी आयुकी स्थितिका वर्णन तीसरे अध्यायके सूत्र ३८–३९ में कहा गया है।

इसप्रकार, दूसरे अध्यायके दसवें सूत्रमें जीवोंके संसारी और मुक्त ऐसे जो दो भेद कहे थे उनमेंसे संसारी जीवोंका वर्णन चौथे अध्याय तक पूरा हुआ। तत्पश्चात् पाँचवें अध्यायमें अजीव तत्त्वका वर्णन करेंगे। छठवें तथा सातवें अध्यायमें आस्रव तथा आठवें अध्यायमें बन्ध तत्त्वका वर्णन करेंगे तथा नवमें अध्यायमें संवर और निर्जरा तत्त्वका वर्णन करेंगे और मुक्त जीवों का (मोक्ष तत्त्वका) वर्णन दसवें अध्यायमें करके ग्रन्थ पूर्ण करेंगे।]

तिर्यंच कौन हैं ?

औपपादिकमनुष्येभ्य शेषास्तिर्यग्योनय ॥ २७ ॥

अर्थ—उपपाद जन्मवाले (देव तथा नारकी) और मनुष्योंके अतिरिक्त बाकी बचे हुए तिर्यंच योनिवाले ही हैं।

टीका

देव नारकी और मनुष्योंके अतिरिक्त सभी जीव तिर्यंच हैं उनमेंसे सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव तो समस्त लोकमें व्याप्त हैं। लोकका एक भी प्रदेश सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवोंसे रहित नहीं है। बादर एकेन्द्रिय जीवोंको पृथ्वी इत्यादिका आधार होता है।

विकलत्रय (दो तीन और चार इन्द्रिय) और संज्ञी–असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव त्रसनालीमें कहीं कहीं होते हैं त्रसनालीके बाहर त्रसजीव नहीं होते। तिर्यंच जीव समस्त लोकमें होनेसे उनका क्षेत्र विभाग नहीं है ॥ २७ ॥

भवनवासी देवोंकी उत्कृष्ट आयुका वर्णन

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्धहीनमिता ॥ २८ ॥

अर्थ—भवनवासी देवोमे असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार और बाकीके छह कुमारोकी आयु क्रमसे एक सागर, तीन पल्य, अढाई पल्य, दो पल्य, और डेढ पल्य है ॥ २८ ॥

वैमानिक देवोंकी उत्कृष्ट आयु

सौधर्मैशानयोः सागरोपमे अधिके ॥२९॥

अर्थ—सौधर्म और ईशान स्वर्गके देवोकी आयु दो सागरसे कुछ अधिक है।

टीका

१, भवनवासी देवोके बाद व्यतर और ज्योतिषी देवोकी आयु बतानेका क्रम है तथापि वैमानिक देवोकी आयु बतानेका कारण यह है कि ऐसा करनेसे बादके सूत्रोमे लघुता (सक्षेपता) आ सकती है।

२. 'सागरोपमे' यह शब्द द्विवचनरूप है उसका अर्थ 'दो सागर' होता है।

३. 'अधिके' यह शब्द घातायुष्क जीवोकी अपेक्षासे है, उसका खुलासा यह है कि कोई सम्यग्दृष्टि मनुष्यने शुभ परिणामोसे दश सागर प्रमाण ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर स्वर्गकी आयु बाधली तत्पश्चात् उसने ही मनुष्य भव मे सक्लेश परिणामसे उस आयुकी स्थितिका घात किया और सौधर्म-ईशान में उत्पन्न हुआ तो वह जीव घातायुष्क कहलाता है, सौधर्म ईशानके दूसरे देवोकी अपेक्षा उसकी आधा सागरमे एक अतमुर्हूर्त कम आयु अधिक होती है। ऐसा घातायुष्कपना पूर्वमे मनुष्य तथा तिर्यंच भवमे होता है।

४ आयुका घात दो प्रकारका है—एक अपवर्तनघात और दूसरा कदलीघात। बध्यमान आयुका घटना सो अपवर्तनघात है। और भूज्यमान (भोगनेमें आनेवाली) आयुका घटना सो कदलीघात है। देवोमें कदलीघात आयु नही होती।

५ घातायुष्क जीवका उत्पाद बारहवें देवलोक पर्यन्त ही होता है ॥ २९ ॥

सानत्कुमारमाहेंद्रयोः सप्त ॥ ३० ॥

अर्थ—सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गके देवोंकी आयु सात सागरसे कुछ अधिक है।

नोट—इस सूत्रमें अधिक शब्द की अनुवृत्ति पूर्व सूत्रसे आयी है॥ ३०॥

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानितु ॥ ३१ ॥

अर्थ—पूर्व सूत्रमें कहे हुए युगलोंकी आयु (सात सागर) से क्रमपूर्वक, तीन सात, नव ग्यारह तेरह और पन्द्रह सागर अधिक आयु (उसके बादके स्वर्गोंमें) है।

१ ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्गमें दश सागरसे कुछ अधिक, लांतव और कापिष्ट स्वर्गमें चौदह सागरसे कुछ अधिक शुक्र और महाशुक्र स्वर्गमें सोलह सागरसे कुछ अधिक सतार और सहस्रार स्वर्गमें अठारह सागरसे कुछ अधिक आनत और प्राणत स्वर्गमें बीस सागर तथा आरण और अच्युत स्वर्गमें बावीस सागर उत्कृष्ट आयु है।

२ 'तु' शब्द होनेके कारण 'अधिक' शब्दका सम्बन्ध बारहवें स्वर्ग तक ही होता है क्योंकि घातायुष्क जीवोंकी उत्पत्ति वहाँ तक ही होती है॥ ३१॥

कल्पोपपन्न देवोंकी आयु कह करके अब कल्पातीत देवोंकी आयु कहते हैं।

कल्पातीत देवोंकी आयु

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ ३२॥

अर्थ—आरण और अच्युत स्वर्गसे ऊपरके नव ग्रैवेयकोंमें नव अनुदिशोंमें विजय इत्यादि विमानोंमें और सर्वार्थसिद्धि विमानमें देवोंकी आयु—एक एक सागर अधिक है।

टीका

१ पहिले ग्रैवेयकमें २३, दूसरेमे २४, तीसरेमें २५, चौथेमे २६, पाँचवेंमे २७, छठवेंमे २८, सातवेंमे २९, आठवेंमे ३०, नववेमे ३१, नव अनुदिशोमे ३२, विजय आदिमे ३३ सागर की उत्कृष्ट आयु है। सर्वार्थसिद्धिके सभी देवोकी ३३ सागर की ही स्थिति होती है इससे कम किसी की नही होती।

२. मूल सूत्रमें 'अनुदिश' शब्द नही है किन्तु 'आदि' शब्दसे अनुदिशोका भी ग्रहण हो जाता है ॥ ३२ ॥

स्वर्गोंकी जघन्य आयु

अपरा पल्योपमधिकम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—सौधर्म और ईशान स्वर्गमे जघन्य आयु एक पल्यसे कुछ अधिक है।

टीका

सागर और पल्यका नाप तीसरे अध्यायके छठवें सूत्रकी टीकामें दिया है। वहाँ अद्धापल्य लिखा है उसे ही पल्य समझना चाहिये ॥३३॥

परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनंतरा ॥ ३४ ॥

अर्थ—जो पहिले पहिलेके युगलोकी उत्कृष्ट आयु है वह पीछे पीछेके युगलोकी जघन्य आयु होती है।

टीका

सौधर्म और ईशानस्वर्गकी उत्कृष्टआयु दो सागरसे कुछ अधिक है, उतनी ही सानत्कुमार और माहेन्द्रकी जघन्य आयु है। इसी क्रमके अनुसार आगेके देवोकी जघन्य आयु समझना चाहिये। सर्वार्थसिद्धिमे जघन्य आयु नही होती ॥ ३४ ॥

नारकियों की जघन्य आयु

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥ ३५ ॥

अर्थ—दूसरे इत्यादि नरकके नारकियोंकी जघन्य आयु भी देवोंकी जघन्य आयुके समान है-अर्थात् जो पहिले नरककी उत्कृष्ट आयु है वही दूसरे नरककी जघन्य आयु है। इसप्रकार आगेके नरकोंमें भी जघन्य आयु जानना चाहिये ॥ ३५ ॥

पहिले नरककी जघन्य आयु

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ३६ ॥

अर्थः—पहिले नरकके नारकियोंकी जघन्य आयु दस हजार वर्षकी है।

(नारकियोंकी उत्कृष्ट आयुका वर्णन तीसरे अध्यायके छठवें सूत्रमें किया है।) ॥ ३६ ॥

भवनवासी देवोंकी जघन्य आयु

भवनेषु च ॥ ३७ ॥

अर्थः—भवनवासी देवोंकी भी जघन्य आयु दस हजार वर्षकी है ॥

व्यन्तर देवोंकी जघन्य आयु

व्यन्तराणां च ॥ ३८ ॥

अर्थः—व्यन्तर देवोंकी भी जघन्य आयु दस हजार वर्षकी है ॥३८॥

व्यन्तर देवोंकी उत्कृष्ट आयु

परा पल्योपममधिकम् ॥३९॥

अर्थः—व्यन्तर देवोंकी उत्कृष्ट आयु एक पल्योपमसे कुछ अधिक है ॥

ज्योतिषी देवोंकी उत्कृष्ट आयु

ज्योतिष्काणां च ॥ ४० ॥

अर्थ—ज्योतिषी देवोंकी भी उत्कृष्ट आयु एक पल्योपमसे कुछ अधिक है ॥ ४ ॥

ज्योतिषी देवोंकी जघन्य आयु

तदष्टभागोऽपरा ॥ ४१ ॥

अर्थः—ज्योतिषी देवोंकी जघन्य आयु एक पल्योपमके आठवें भाग है ॥ ४१ ॥

लौकान्तिक देवोंकी आयु

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—समस्त लौकान्तिक देवोकी उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु आठ सागरकी है ॥ ४२ ॥

उपसंहार

इस चौथे अध्याय तक सात तत्त्वोमेसे जीव तत्त्वका अधिकार पूर्ण हुआ ।

पहिले अध्यायके पहिले सूत्रमें मोक्षमार्गकी व्याख्या करते हुए सम्यग्दर्शनसे ही धर्मका प्रारभ होता है ऐसा वतलाया है । दूसरे ही सूत्रमे सम्यग्दर्शनकी व्याख्या करते हुए वताया है कि–तत्त्वार्थश्रद्धा सो सम्यग्दर्शन है । तत्पश्चात् चौथे सूत्रमे तत्त्वोके नाम वतलाये और तत्त्व सात हैं यह वताया । सात नाम होने पर भी वहुवचनका प्रयोग नही करते हुए 'तत्त्व' इसप्रकार एक वचनका प्रयोग किया है–उससे यह मालूम होता है कि इन सातो तत्त्वोके राग मिश्रित विचारसे ज्ञान करने के बाद भेदका आश्रय दूर करके जीवके त्रिकालिक अभेद ज्ञायक भावका आश्रय करने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है ।

सूत्र ५ तथा ६ मे वताया है कि इन तत्त्वोको निक्षेप, प्रमाण तथा नयोंके द्वारा जानना चाहिये, इसमे सप्तभगीका समावेश हो जाता है। इन सबको सक्षेपमे सामान्यरूपसे कहना हो तो तत्त्वोका स्वरूप जो अनेकान्तरूप है, और जिसका द्योतक स्याद्वाद है उनका स्वरूप भलोभाति समझ लेना चाहिये ।

जीवका यथार्थज्ञान करने के लिये स्याद्वाद पद्धतिसे अर्थात् निक्षेप, प्रमाण, नय और सप्तभगीसे जीवका स्वरूप सक्षेपमे कहा जाता है, उसमें पहिले सप्तभगीके द्वारा जीवका स्वरूप कहा जाता है—सप्तभगीका स्वरूप जीवमें निम्नप्रकारसे लगाया जाता है ।

सप्तभंगी

[स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति]

'जीव है' यह कहते ही जीव जीवस्वरूपसे है और जीव जड़स्वरूप से (अजीवस्वरूपसे) नहीं है—यदि यह समझा जा सके तो ही जीवको जाना कहलाता है, अर्थात् 'जीव है' यह कहते ही यह निश्चित् हुआ कि 'जीव जीवस्वरूपसे है और उसमें यह गर्भित होगया कि जीव परस्वरूप से नहीं है'। वस्तु के इस धर्मको 'स्यात् अस्ति' कहा जाता है' उसमें 'स्यात्' का अर्थ किसी एक अपेक्षासे' है और अस्तिका अर्थ 'है' होता है। इसप्रकार स्यात् अस्ति' का अर्थ अपनी अपेक्षासे है यह होता है उसमें 'स्यात् नास्ति अर्थात् 'परकी अपेक्षासे नहीं है' ऐसा गर्भितरूपसे आ जाता है जो इसप्रकार जानता है वही जीवका 'स्यात् अस्ति' भंग अर्थात् जीव है इसप्रकार यथार्थ जानता है किन्तु यदि 'परकी अपेक्षासे नहीं है' ऐसा उसके लक्षमें गर्भितरूपसे न आये तो जीवका 'स्यात् अस्ति' स्वरूपको भी वह जीव भलीभाँति नहीं समझा है और इसलिये वह अन्य छह भंगोंको भी नहीं समझा है इसलिये उसने जीवका यथार्थ स्वरूप नहीं समझा है। यह ध्यान रखना चाहिये कि—'हर समय बोलनेमें स्यात्' शब्द बोलना ही चाहिये' ऐसी आवश्यकता नहीं है किन्तु 'जीव है' ऐसा कहनेवालेके 'स्यात्' पदके भावका यथार्थ ख्याल होना चाहिये यदि ऐसा न हो तो 'जीव है' इस पदका यथार्थ ज्ञान उस जीवके है ही नहीं।

'जीवका अस्तित्व पर स्वरूपसे नहीं है यह पहले 'स्यात् अस्ति' भंगमें गर्भित था वह दूसरे 'स्यात् नास्ति' भंगमें प्रगटरूपसे बतलाया जाता है। स्यात् नास्तिका अर्थ ऐसा है कि पर अपेक्षासे जीव नहीं है। स्यात्' अर्थात् किसी अपेक्षासे और 'नास्ति' अर्थात् न होना। जीवका पर अपेक्षासे नास्तित्व है अर्थात् जीव परके स्वरूपसे नहीं है इसलिये पर अपेक्षासे जीवका नास्तित्व है अर्थात् जीव और पर एक दूसरेके प्रति अवस्तु है—ऐसा 'स्यात् नास्ति' भंगका अर्थ समझना चाहिये।

इससे यह समझना चाहिये कि—जैसे 'जीव' शब्द कहनेसे जीवका अस्तित्व (जीवकी सत्ता) भासित होता है वह जीवका स्वरूप

है उसी प्रकार उसीसमय उस जीवको छोडकर दूसरेका निषेध भासित होता है वह भी जीवका स्वरूप है।

इससे सिद्ध हुआ कि स्वरूपसे जीवका स्वरूप है और पररूपसे न होना भी जीवका स्वरूप है। यह जीवमे स्यात् अस्ति तथा स्यात् नास्ति का स्वरूप बतलाया है।

इसीप्रकार परवस्तुओका स्वरूप उन वस्तुरूपसे है और परवस्तुओ का स्वरूप जीवरूपसे नही है,—इसप्रकार सभी वस्तुओमे अस्ति-नास्ति स्वरूप समझना चाहिये। शेष पाँच भग इन दो भगोके ही विस्तार हैं।

"आप्तमीमासाकी १११ वी कारिकाकी व्याख्यामे अकलकदेव कहते हैं कि-वचनका ऐसा स्वभाव है कि स्वविषयका अस्तित्व दिखानेसे वह उससे इतरका (परवस्तुका) निराकरण करता है, इसलिये अस्तित्व और नास्तित्व—इन दो मूल धर्मोके आश्रयसे सप्तभगीरूप स्याद्वाद की सिद्धि होती है।" [तत्वार्थसार पृष्ठ १२५ का फुट नोट]

साधक जीवको अस्ति-नास्तिके ज्ञानसे होनेवाला फल

जीव अनादि अविद्याके कारण शरीरको अपना मानता है और इसलिये वह शरीरके उत्पन्न होने पर अपनी उत्पत्ति तथा शरीर का नाश होने पर अपना नाश होना मानता है पहिली भूल 'जीवतत्त्वकी विपरीत श्रद्धा है और दूसरी भूल 'अजीवतत्त्व' की विपरीत श्रद्धा है। [जहाँ एक तत्त्वकी विपरीत श्रद्धा होती है वहाँ दूसरे तत्त्वोकी भी विपरीत श्रद्धा होती ही है।]

इस विपरीत श्रद्धाके कारण जीव यह मानता रहता है कि वह शारीरिक क्रिया कर सकता है, उसे हिला डुला सकता है, उठा बैठा सकता है, सुला सकता है और शरीरकी सँभाल कर सकता है इत्यादि। जीव-तत्त्व सबधी यह विपरीत श्रद्धा अस्ति-नास्ति भगके यथार्थ ज्ञानसे दूर होती है।

यदि शरीर अच्छा हो तो जीवको लाभ होता है, और खराब हो तो हानि होती है, शरीर अच्छा हो तो जीव धर्म कर सकता है और

खराब हो तो धर्म नहीं कर सकता, इत्यादि प्रकारसे अजीवतत्त्व सम्बन्धी विपरीत श्रद्धा किया करता है। वह भूल भी अस्ति-नास्ति भंगके यथार्थ ज्ञानसे दूर होती है।

जीव जीवसे अस्तिरूपसे है और परसे अस्तिरूपसे नहीं है—किन्तु नास्तिरूपसे है इसप्रकार जब यथार्थतया ज्ञानमें निश्चय करता है तब प्रत्येक तत्त्व यथार्थतया भासित होता है' इसीप्रकार जीव परद्रव्योंके प्रति सम्पूर्णतया अकिंचित्कर है तथा परद्रव्य जीवके प्रति सम्पूर्णतया अकिंचित्कर है, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूपसे नास्ति है ऐसा विश्वास होता है और इससे जीव पराश्रयी—परावलम्बित्वको मिटा कर स्वाश्रयी—स्वावलम्बी हो जाता है यही धर्मका प्रारम्भ है।

जीवका परके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कैसा है इसका ज्ञान इन दो भंगोंसे किया जा सकता है। निमित्त परद्रव्य है इसलिये वह नैमित्तिक जीवका कुछ नहीं कर सकता वह मात्र आकाश प्रदेशमें एक क्षेत्रावगाहरूपसे या संयोग अवस्थारूपसे उपस्थित होता है किन्तु नैमित्तिक-निमित्तसे पर है और निमित्त नैमित्तिकसे पर है इसलिये एक दूसरेका कुछ नहीं कर सकता। निमित्त तो परज्ञेयरूपसे ज्ञान में ज्ञात होता है इतना मात्र व्यवहार सम्बन्ध है।

दूसरेसे चौथे अध्याय तक यह अस्ति-नास्ति स्वरूप कहाँ कहाँ बताया है उसका वर्णन

अध्याय २ सूत्र १ से ७—जीवके पाँचभाव अपमें अस्तिरूपसे हैं और परसे नास्तिरूप हैं ऐसा बताया है।

अ० २ सूत्र ८-९ जीवका लक्षण अस्तिरूपसे क्या है यह बताया है उपयोग जीवका लक्षण है ऐसा कहनेसे दूसरा कोई लक्षण जीवका नहीं है ऐसा प्रतिपादित हुआ। जीव अपने लक्षणसे अस्तिरूप है और इसीलिये उसमें परकी नास्ति आगई—ऐसा बताया है।

अ २ सू १ —जीवकी विकारी तथा शुद्ध पर्याय जीवसे अस्ति रूपसे है और परसे नास्तिरूपसे अर्थात् परसे नहीं है ऐसा बताया है।

अ० २ सूत्र ११ से १७–जीवके विकारीभावोका पर वस्तुओसे –कर्म, मन, वचन, शरीर, इन्द्रिय, परक्षेत्र इत्यादिके साथ–कैसा निमित्त -नैमित्तिकभाव है यह बतलाकर यह बताया है कि–जीव पराश्रयसे जीवके विकारीभाव करता है किंतु परनिमित्तसे विकारीभाव नही होते अर्थात् पर निमित्त विकारीभाव नही कराता यह अस्ति-नास्तिपन बतलाता है।

अ० २ सूत्र १८–जीवकी क्षयोपशमरूप पर्याय अपने अस्तिरूपसे है, परसे नहीं है (नास्तिरूपसे है) अर्थात् परसे–कर्मसे जीवकी पर्याय नही होती यह बताया है।

अ० २ सूत्र २७ जीवका सिद्धक्षेत्रके साथ कैसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है उसे बताते हैं।

अ० २ सू० ५० से ५२–जीवकी वेदरूप (भाववेदरूप) विकारी पर्याय अपनी योग्यतासे-अस्तिरूपसे है परसे नही है यह बताया है।

अ० २ सू० ५३–जीवका आयुकर्मके साथ निमित्त-नैमित्तिकभाव बताया है, उसमे जीवका नैमित्तिकभाव जीव की अपनी योग्यतासे है और आयुकर्मसे अथवा परसे नही है ऐसा बताया है तथा निमित्त आयुकर्मका निश्चय सम्बन्ध जीव या किसी दूसरे परके साथ नही है ऐसा अस्ति-नास्ति भगसे सिद्ध होता है।

अ० ३ सू० १ से ६ नारकीभावके भोगनेके योग्य होनेवाले जीवके किस प्रकारके क्षेत्रोका सबध निमित्तरूपसे होता है तथा उत्कृष्ट आयुका निमित्तपना किसप्रकारसे होता है यह बताकर, निमित्तरूप, क्षेत्र या आयु वह जीव नही है किन्तु जीवसे भिन्न है ऐसा सिद्ध होता है।

अ० ३ सू० ७ से ३९ मनुष्यभाव या तिर्यंचभावको भोगनेके योग्य जीव के किसप्रकार के क्षेत्रोका तथा आयु का संबध निमित्तरूपसे होता है यह बताकर जीव स्व है और निमित्त पर है ऐसा अस्ति-नास्ति स्वरूप बतलाया है।

अ० ४ सू० १ से ४२ देवभाव और तिर्यंचभाव होनेपर तथा सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिरूप अवस्थामे जीवके कैसे परक्षेत्रोका तथा

आयुका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है यह बताकर अस्ति नास्ति स्वरूप बताया है ।

सप्तभंगी के शेष पाँच भंगोंका विवेचन

१ २—अस्ति और नास्ति यह दो जीवके स्वभाव सिद्ध कर दिया ।

३—जीवके अस्ति और नास्ति इन दोनों-स्वभावोंको क्रमसे कहना हो तो 'जीव अस्ति नास्ति-दोनों धर्ममय है' ऐसा कहा जाता है इसलिये जीव 'स्यात् अस्ति-नास्ति' है यह तीसरा भंग हुआ ।

४—अस्ति और नास्ति ये दोनों जीवके स्वभाव हैं तो भी वे दोनों एक साथ नहीं कहे जा सकते हैं इस अपेक्षासे जीव 'स्यात अवक्तव्य' है यह चौथा भंग हुआ ।

५—जीवका स्वरूप जिस समय अस्तिरूपसे कहा जाता है उसी समय नास्ति तथा दूसरे गुण इत्यादि नहीं कहे जा सकते-अवक्तव्य हैं इस लिये जीव स्यात् अस्ति अवक्तव्य' है यह पाँचवां भंग हुआ ।

६—जीवका स्वरूप जिस समय नास्तिसे कहा जाता है उस समय अस्ति तथा अन्यगुण इत्यादि नहीं कहे जा सकते—अवक्तव्य हैं, इसलिये जीव 'स्यात् नास्ति अवक्तव्य' है यह छट्ठा भंग हुआ ।

७—स्यात् अस्ति और स्यात् नास्ति यह दोनों भंग क्रमशः वक्तव्य हैं किन्तु युगपत् वक्तव्य नहीं हैं इसलिये जीव स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य' है, यह सातवां भंग हुआ ।

जीवमें अवतरित सप्तभंगी

१—जीव स्यात् अस्ति ही है । २—जीव स्यात् नास्ति ही है । ३—जीव स्यात् अस्ति-नास्ति ही है । ४—जीव स्यात् अवक्तव्य ही है । ५—जीव स्यात् अस्ति अवक्तव्य ही है । ६—जीव स्यात् नास्ति अवक्तव्य ही है । ७—जीव स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य ही है ।

स्यात्का अर्थ कुछ लोग 'संशय' करते हैं किन्तु यह उनकी भूल है 'कथंचित् किसी अपेक्षासे ऐसा उसका अर्थ होता है । स्यात् कथनसे (स्याद्वादसे) वस्तु स्वरूपके ज्ञानकी विशेष दृढ़ता होती है ।

सप्तभंगीमें लागू होनेवाले नय

'अस्ति' स्वरूपसे है इसलिये निश्चयनयका विषय है, और नास्ति पर रूपसे है इसलिये व्यवहारनयका विषय है। शेष पांच भंग व्यवहार-नयसे हैं क्योंकि वे कुछ या अधिक अंशमे परकी अपेक्षा रखते है।

अस्तिमें लागू पडनेवाले नय

अस्तिके निश्चय अस्ति और व्यवहार अस्ति ये दो भेद हो सकते हैं। जीवकी शुद्ध पर्याय निश्चयनयसे अस्ति है क्योकि वह जीवका स्वरूप है। और विकारी पर्याय व्यवहारनयसे अस्तिरूप है क्योकि वह जीवका स्वरूप नही है। विकारी पर्याय अस्तिरूप है अवश्य किन्तु वह टालने योग्य है; व्यवहारनयसे वह जीवका है और निश्चयनयसे जीवका नही है।

अस्तिमें दूसरे प्रकारसे लागू पड़नेवाले नय

अस्तिका अर्थ 'सत्' होता है, सत् उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्त होता है उसमे ध्रौव्य निश्चयनयसे अस्ति है और उत्पाद-व्यय व्यवहारनयसे है। जीवका ध्रौव्य स्वरूप त्रिकाल अखण्ड शुद्ध चैतन्य चमत्कार मात्र है, वह कभी विकारको प्राप्त नही हो सकता, मात्र उत्पादरूप पर्यायमें पराश्रयसे क्षणिक विकार होता है। जीव जब अपना स्वरूप समझनेके लिये अपने अखण्ड ध्रौव्य स्वरूपकी ओर उन्मुख होता है तब शुद्ध पर्याय प्रगट होती है।

प्रमाण

श्रुतप्रमाणका एक अंश नय है। जहाँ श्रुतप्रमाण नही होता वहाँ नय नही होता, जहाँ नय होता है वहाँ श्रुतप्रमाण होता ही है। प्रमाण उन दोनो नयोके विषयका यथार्थ ज्ञान करता है इसलिये अस्तिनास्तिका एक साथ ज्ञान प्रमाण ज्ञान है।

निक्षेप

यहाँ जीव ज्ञेय है ज्ञेयका अंश निक्षेप है। अस्ति, नास्ति इत्यादि धर्म जीवके अंश हैं। जीव स्वज्ञेय है और अस्तिनास्ति इत्यादि स्वज्ञेयके अंशरूप निक्षेप हैं, यह भाव निक्षेप है। उसका यथार्थ ज्ञान नय है। निक्षेप विषय है और नय उसका विषय करनेवाला (विषयी) है।

स्वज्ञेय

जीव स्वज्ञेय है तथा स्वयं ज्ञान स्वरूप है। द्रव्य-गुण-पर्याय ज्ञेय

है और उनका त्रिकाल जाननेका स्वभाव गुण है तथा ज्ञानकी वर्तमान पर्याय स्वज्ञेयको जानती है। स्वज्ञेयके जाननेमें यदि स्व परका भेद विज्ञान हो तब ही ज्ञानकी सच्ची पर्याय है।

अनेकांत

[स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३११–३१२ पृष्ठ ११८ से १२० के आधारसे]

१—वस्तुका स्वरूप अनेकान्त है। जिसमें अनेक अंत अर्थात् धर्म हो उसे अनेकान्त कहते हैं। उन धर्मोंमें अस्तित्व नास्तित्व, एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व अनित्यत्व भेदत्व अभेदत्व अपेक्षात्व, अनपेक्षात्व दैवसाध्यत्व पौरुषसाध्यत्व हेतुसाध्यत्व, आगमसाध्यत्व अतरंगत्व बहिरंगत्व द्रव्यत्व पर्यायत्व, इत्यादि सामान्य धर्म हैं। और जीवत्व अजीवत्व स्पर्शत्व, रसत्व गंधत्व, वर्णत्व, शब्दत्व, शुद्धत्व अशुद्धत्व मूर्तत्व अमूर्तत्व संसारीत्व सिद्धत्व अवगाहहेतुत्व गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व इत्यादि विशेष धर्म हैं। वस्तुको समझनेके लिये प्रश्न उठने पर प्रश्नके वशसे उन धर्मोंके सम्बन्धमें विधिनिषेधरूप वचनोंके सात भंग होते हैं। उन सात भंगोंमें 'स्यात्' यह पद लगाया है। 'कथंचित् किसीप्रकार इस अर्थमें स्यात्' शब्द है उसके द्वारा वस्तुका अनेकान्त स्वरूप सिद्ध करना चाहिये।

सप्तभंगी और अनेकांत

(१) १ वस्तु स्यात् अस्तिरूप है अर्थात् किसीप्रकार अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावरूपसे अस्तिरूप कही जाती है। २ वस्तु स्यात् नास्तिरूप है अर्थात् परवस्तुके द्रव्य क्षेत्र काल भावरूपसे नास्तिस्वरूप कही जाती है। ३ वस्तु स्यात् अस्तित्व नास्तित्वरूप है—यह वस्तुमें अस्ति नास्ति दोनों धर्म रहते हैं उसे वचनके द्वारा क्रमसे कह सकते हैं। ४ और वस्तु स्यात् अवक्तव्य है क्योंकि वस्तुमें अस्ति-नास्ति दोनों धर्म एक ही समय रहते हैं किन्तु वचनके द्वारा एक साथ दोनों धर्म कहे नहीं जा सकते इसलिये किसी प्रकारसे वस्तु अवक्तव्य है। ५ अस्तित्वरूपसे वस्तु स्वरूप कहा जा सकता है, किन्तु अस्ति-नास्ति दोनों धर्म वस्तुमें एक साथ

रहते हैं, इसलिये वस्तु एक साथ कही नही जा सकती इसप्रकार वस्तु वक्तव्य भी है और अवक्तव्य भी है, इसलिये स्यात् अस्ति-अवक्तव्य है। ६. इस ही प्रकार (अस्तित्वकी भाति) वस्तुके स्यात् नास्ति अवक्तव्य कहना चाहिये। ७ और दोनो धर्मोको क्रमसे कह सकते हैं किन्तु एक साथ नही कह सकते इसलिये वस्तु स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य कहना चाहिये। ऊपर कहे अनुसार सात भंग वस्तुमे सभव हैं।

(२) इसप्रकार एकत्व, अनेकत्व इत्यादि सामान्य धर्म पर सात भग विधि-निषेधसे लगाना चाहिये। जहाँ जो अपेक्षा सभव हो उसे लगाना चाहिये और उसीप्रकारसे जीवत्व, अजीवत्व आदि विशेष धर्मोमे वे भग लगाना चाहिये। जैसे कि—जीव नाम की वस्तु है वह स्यात् जीवत्व है स्यात् अजीवत्व है इत्यादि प्रकारसे लगाना चाहिये। वहाँ पर इसप्रकार अपेक्षा पूर्वक समझना कि जीवका अपना जीवत्वधर्म जीवमे है इसलिये जीवत्व है, पर-अजीवका अजीवत्वधर्म जीवमें नही है तो भी जीवके दूसरे (ज्ञानको छोड कर) धर्मोकी मुख्यता करके कहा जावे तो उन धर्मोकी अपेक्षासे अजीवत्व है; इत्यादि सात भग लगाना चाहिये। तथा जीव अनंत हैं उसकी अपेक्षासे अर्थात् अपना जीवत्व अपनेमे है परका जीवत्व अपनेमे नही है इसलिये पर जीवोकी अपेक्षासे अजीवत्व है, इस प्रकार से भी अजीवत्व धर्म प्रत्येक जीव मे सिद्ध हो सकता है—कह सकते हैं। इसप्रकार अनादिनिधन अनंत जीव अजीव वस्तुए हैं। उनमें प्रत्येक अपना अपना द्रव्यत्व, पर्यायत्व इत्यादि अनत धर्म हैं। उन धर्मों सहित सात भगोसे वस्तु की सिद्धि करना चाहिये।

(३) वस्तुकी स्थूल पर्याय है वह भी चिरकाल स्थाई अनेक धर्म-रूप होती है। जैसे कि जीवमें ससारीपर्याय और सिद्धपर्याय। और ससारी मे त्रस, स्थावर, उसमे मनुष्य, तिर्यंच इत्यादि। पुद्गलमे अणु, स्कन्ध तथा घट, पट इत्यादि। वे पर्यायें भी कथचित् वस्तुपना सिद्ध करती हैं। उन्हें भी उपरोक्त प्रकारसे ही सात भगसे सिद्ध करना चाहिये, तथा जीव और पुद्गल के सयोगसे होनेवाले आश्रव, बध, सवर, निर्जरा, पुण्य, पाप, मोक्ष इत्यादि भावोमें भी, बहुतसे धर्मपनाकी अपेक्षासे तथा परस्पर विधि—निषेध

से अनेक धर्मरूप कथंचित् वस्तुपना संभवित है उसे सप्त भंगसे सिद्ध करना चाहिये।

(४) यह नियमपूर्वक जानना चाहिये कि प्रत्येक वस्तु अनेक धर्म स्वरूप है उन सबको अनेकान्त स्वरूप जानकर जो श्रद्धा करता है और उसी प्रमाणसे ही संसारमें व्यवहारकी प्रवृत्ति करता है सो सम्यग्दृष्टि है। जीव अजीव, आस्रव, बंध, पुण्य पाप, संवर निर्जरा और मोक्ष ये सब पदार्थ हैं उनको भी उसीप्रकारसे सप्त भंगसे सिद्धि करना चाहिये। उसका साधन श्रुतज्ञान प्रमाण है।

नय

(१) श्रुतज्ञान प्रमाण है। और श्रुतज्ञान प्रमाणके अंशको नय कहते हैं। नय के दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। और उनके (द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके) नैगम, संग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूतनय, ये सात भेद हैं, उनमेंसे पहिलेके तीन भेद द्रव्यार्थिकके हैं और बाकीके चार भेद पर्यायार्थिकके हैं। और उनके भी उत्तरोत्तर भेद, जितने वचनके भेद हैं उतने हैं। उन्हें प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगीके विधानसे सिद्ध किया जाता है। इसप्रकार प्रमाण और नय के द्वारा जीवादि पदार्थोंको जानकर श्रद्धान करे तो शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है।

(२) और यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि नय वस्तुके एक एक धर्मका ग्राहक है। वह प्रत्येक नय अपने अपने विषयरूप धर्मके ग्रहण करने में समान है। तथापि वक्ता अपने प्रयोजनवश उन्हें—मुख्य-गौण करके कहता है।

जैसे जीव नामक वस्तु है, उसमें अनेक धर्म हैं तथापि चेतनत्व प्राणधारणत्व इत्यादि धर्मोंको अजीवसे असाधारण देखकर जीवको अजीव से भिन्न दर्शानेके लिये उन धर्मोंको मुख्य करके वस्तुका नाम जीव रखा है इसी प्रकार वस्तुके सर्व धर्मोंमें प्रयोजनवश मुख्य गौण समझना चाहिये।

अध्यात्मक नय

(१) इसी भावपदसे अध्यात्मकथनीमें मुख्यको निश्चय और गौण

को व्यवहार कहा है, उसमे अभेद धर्मको मुख्य करके उसे निश्चयका विषय कहा है और भेदको गौण करके उसे व्यवहार नयका विषय कहा है। द्रव्य तो अभेद है इसलिये निश्चयका आश्रय द्रव्य है; और पर्याय भेदरूप है, इस लिये व्यवहार का आश्रय पर्याय है उसमे प्रयोजन इसप्रकार है कि भेदरूप वस्तुको सर्वलोक जानता है उसके भेदरूप वस्तु ही प्रसिद्ध है इसलिये लोक पर्यायबुद्धि है। जीवकी नर-नारकादि पर्यायें हैं तथा राग द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि पर्यायें हैं तथा ज्ञानके भेदरूप मतिज्ञानादि पर्यायें हैं। लोग उन पर्यायोको ही जीव समझते हैं इसलिये (अर्थात् उस पर्यायबुद्धिको छुडानेके प्रयोजनसे) उस पर्यायमे अभेदरूप अनादि अनत एक भाव जो चेतना धर्म है उसे ग्रहण करके निश्चयनयका विषय कहकर जीवद्रव्यका ज्ञान कराया है, और पर्यायाश्रित भेदनयको गौण किया है, तथा अभेद दृष्टिमे वे भेद दिखाई नही देते इसलिये अभेदनयकी दृढ श्रद्धा करानेके लिये कहा है कि जो पर्यायनय है सो व्यवहार है, अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। यह कथन भेदबुद्धिके एकांतका निराकरण करनेके लिये समझना चाहिये।

(२) यहाँ यह नही समझना चाहिये कि जो भेद है उसे असत्यार्थ कहा है; इसलिये भेद वस्तुका स्वरूप ही नही है। यदि कोई सर्वथा यह माने कि 'भेद नही है' तो वह अनेकातको समझा ही नही है और वह सर्वथा एकांत श्रद्धाके कारण मिथ्यादृष्टि है। अध्यात्मशास्त्रोमे जहाँ निश्चय–व्यवहार नय कहे हैं वहाँ भी उन दोनोंके परस्पर विधि–निषेधके द्वारा सप्तभगीसे वस्तुको साधना चाहिये, यदि एक नयको सर्वथा सत्यार्थ माने और एकको सर्वथा असत्यार्थ माने तो मिथ्या–श्रद्धा होती है, इस-लिये वहाँ भी 'कथचित्' जानना चाहिये।

उपचार नय

(१) एक वस्तुका दूसरी वस्तुमें आरोप करके प्रयोजन सिद्ध किया जाता है उसे उपचारनय कहते हैं। वह भी व्यवहारमे ही गर्भित है ऐसा कहा है। जहाँ प्रयोजन या निमित्त होता है वहाँ उपचारकी प्रवृत्ति होती है। घीका घडा ऐसा कहनेपर मिट्टीके घडेके आश्रयसे घी भरा है उसमे व्यवहारी मनुष्योको आधार-आधेयभाव भासित होता है उसे प्रधान करके

(घीका घड़ा) कहनेमें आता है। जो 'घीका घड़ा है' ऐसा ही कहा जाय तो लोग समझ जाते हैं और 'घीका घड़ा' मगावे तब उसे ले आते हैं इसलिये उपचारमें भी प्रयोजन सघन है। तथा जहाँ अभेदनयकी मुख्यता की जाती है वहाँ अभेद दृष्टिमें भेद दिखता नहीं है फिर भी उस समय उसमें (अभेदनयकी मुख्यता में) ही भेद कहा है वह असत्यार्थ है। वहाँ भी उपचार की सिद्धि गौणरूपसे होती है।

सम्यग्दृष्टिका और मिथ्यादृष्टिका ज्ञान

(१)—इस मुख्य-गौणके भेदको सम्यग्दृष्टि जानता है मिथ्यादृष्टि अनेकांत वस्तुको नहीं जानता और जब सर्वथा एक धर्म पर दृष्टि पड़ती है तब उस एक धर्मको ही सर्वथा वस्तु मानकर वस्तुके अन्य धर्मोंको सर्वथा गौण करके असत्यार्थ मानता है अथवा अन्य धर्मोंका सर्वथा अभाव ही मानता है। ऐसा माननेसे मिथ्यात्व दृढ़ होता है जहाँ तक जीव यथार्थ वस्तुस्वरूप को जाननेका पुरुषार्थ नहीं करता तब तक यथार्थश्रद्धा नहीं होती। इस अनेकांत वस्तुको प्रमाण-नय द्वारा सात भंगोंसे सिद्ध करना सम्यक्त्वका कार्य है इसलिये उसे भी सम्यक्त्व ही कहते हैं ऐसा जानना चाहिये। जिनमत की कथनी अनेक प्रकारसे है, उसे अनेकांतरूपसे समझना चाहिये।

(२) इस सप्तभंगीके अस्ति और नास्ति ऐसे दो प्रथमभेद विशेष लक्षमें लेने योग्य हैं वे दो भेद यह सूचित करते हैं कि जीव अपनेमें उल्टे या सीधे भाव कर सकता है किंतु परका कुछ नहीं कर सकता तथा पर द्रव्यरूप अन्य जीव या जड़ कर्म इत्यादि सब अपने अपनेमें कार्य कर सकते हैं किन्तु वे कोई इस जीवका भला बुरा कुछ नहीं कर सकते इसलिये परवस्तुओंकी ओरसे लक्ष हटाकर और अपनेमें होनेवाले भेदोंको गौण करनेके लिये उन भेदोंपरसे भी लक्ष हटाकर अपने त्रिकाल अभेद शुद्ध चैतन्यस्वरूपपर दृष्टि डालनेसे—उसके आश्रयसे निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। उसका फल अज्ञानका नाश होकर उपादेय की बुद्धि और वीतरागता की प्राप्ति है।

अनेकांत क्या बतलाता है ?

(१) अनेकात वस्तुको परसे असग (भिन्न) बतलाता है। असगत्वकी (स्वतत्र की) श्रद्धा असगत्वके विकासका उपाय है, तीनोकाल परसे भिन्नत्व वस्तुका स्वभाव है।

(२) अनेकात वस्तुको 'स्वरूपसे है और पररूपसे नही है' इसप्रकार बतलाता है। पररूप आत्मा नही है इसलिये वह परवस्तुका कुछ भी करनेके लिये समर्थ नही है। और किसीका सयोग-वियोगसे मेरा कुछ भी इष्ट-अनिष्ट नही हो सकता ऐसे सच्चे ज्ञानसे आत्मा सुखी होता है।

'तू निजरूपसे है' अतः पररूपसे नही है और परवस्तु अनुकूल हो या प्रतिकूल उसे वदलनेमे तू समर्थ नही है। बस, इतना निश्चय कर तो श्रद्धा, ज्ञान और शाति तेरे पास ही है।

(३) अनेकान्त वस्तुको निजरूपसे सत् बतलाता है। सत्को पर सामग्री की आवश्यकता नही है, सयोग की आवश्यकता नही है; किन्तु सत्को सत्के निर्णय की आवश्यकता है कि 'मैं स्वरूपसे हूँ और पररूपसे नही।'

(४) अनेकान्त वस्तुको एक-अनेक स्वरूप बतलाता है। 'एक' कहने पर ही 'अनेक' की अपेक्षा आती है। तू अपनेमे एक है और अपनेमें ही अनेक है। तू अपने गुण-पर्यायसे अनेक है और वस्तुसे एक है।

(५) अनेकात वस्तुको नित्य-अनित्यस्वरूप बतलाता है। स्वयं नित्य है और स्वय ही पर्यायसे अनित्य है। उसमे जिस ओरकी रुचि होती है उसी ओर परिणमन होता है। नित्यवस्तुकी रुचि करनेपर नित्य रहनेवाली वीतरागता होती है और अनित्य पर्यायकी रुचि हो तो क्षणिक रागद्वेष होते हैं।

(६) अनेकात प्रत्येक वस्तुकी स्वतन्त्रताको घोषित करता है। वस्तु परसे नही है और स्वसे है ऐसा जो कहा है उसमे 'स्व अपेक्षासे प्रत्येक वस्तु परिपूर्ण ही है' यह आ जाता है। वस्तुको परकी आवश्यकता नही है वह स्वत स्वय स्वाधीन–परिपूर्ण है।

(७) अनेकान्त प्रत्येक वस्तुमें अस्ति-नास्ति आदि दो विरुद्ध शक्तियोंको बतलाता है। एक वस्तुमें वस्तुत्वकी उत्पादक दो विरुद्ध शक्तियोंका एक साथ रहना ही तत्त्वकी पूर्णता है ऐसी दो विरुद्ध शक्तियोंका होना वस्तुका स्वभाव है।

शास्त्रोंके अर्थ करने की पद्धति

व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्यको या उसके भावोंको अथवा कारण कार्यादिको किसीको किसीमें मिलाकर निरूपण करता है इसलिए ऐसे ही श्रद्धानसे मिथ्यात्व है अतः उसका त्याग करना चाहिए। और निश्चयनय उसीको यथावत् निरूपण करता है तथा किसीको किसीमें नहीं मिलाता, अतः ऐसे ही श्रद्धानसे सम्यक्त्व होता है इसलिए उसका श्रद्धान करना चाहिए।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो जिनमार्गमें जो दोनों नयोंका ग्रहण करने को कहा है उसका क्या कारण है?

उत्तर—जिनमार्गमें कहीं कहीं निश्चयनयकी मुख्यतासे जो कथन है उसे यह समझना चाहिए कि—'सत्यार्थ ऐसा ही है' तथा कहीं कहीं व्यवहारनयकी मुख्यतासे जो कथन है उसे यह समझना चाहिए कि ऐसा नहीं है किन्तु निमित्तादिकी अपेक्षासे यह उपचार किया है। और इस प्रकार जाननेका नाम ही दोनों नयोंका ग्रहण है। किन्तु दोनों नयोंके कथनको समान सत्यार्थ जानकर इसप्रकार भी है और इसप्रकार भी है ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तनसे दोनों नयोंका ग्रहण करनेको नहीं कहा है।

प्रश्न—यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है तो फिर जिनमार्गमें उसका उपदेश क्यों दिया गया है? एक निश्चयनयका ही निरूपण करना चाहिए था।

उत्तर—यही तर्क श्री समयसारमें भी किया गया है वहाँ यह उत्तर दिया गया है कि—जैसे कोई अनार्य म्लेच्छको म्लेच्छ भाषाके बिना अर्थ ग्रहण करानेमें कोई समर्थ नहीं है उसीप्रकार व्यवहारके बिना परमार्थका उपदेश अशक्य है इसलिये व्यवहारका उपदेश है। और इसी

सूत्रकी व्याख्यामें यह कहा है कि—इसप्रकार निश्चयको अंगीकार कराने के लिए व्यवहारसे उपदेश देते हैं किन्तु व्यवहारनय अंगीकार करने योग्य नही है। —मोक्षमार्ग प्रकाशक।

मुमुक्षुओंका कर्त्तव्य

आजकल इस पंचमकालमें इस कथनको समझनेवाले सम्यग्ज्ञानी गुरुका निमित्त सुलभ नही है, किन्तु जहाँ वे मिल सकें वहाँ उनके निकट से मुमुक्षुओको यह स्वरूप समझना चाहिए और जहाँ वे न मिल सकें वहाँ शास्त्रोके समझनेका निरतर उद्यम करके इसे समझना चाहिए। सत् शास्त्रो का श्रवण, पठन, चितवन करना, भावना करना, धारण करना, हेतु युक्ति के द्वारा नय विवक्षाको समझना, उपादान निमित्तका स्वरूप समझना और वस्तुके अनेकान्त स्वरूपका निश्चय करना चाहिए। वह सम्यग्दर्शन की प्राप्तिका मुख्य कारण है, इसलिये मुमुक्षु जीवोको उसका निरंतर उपाय करना चाहिये।

इसप्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्र
के चौथे अध्यायकी टीका
समाप्त हुई।

देवगति की व्यवस्था [भवनत्रिक]

देव	निवास	भेद	इन्द्र	लेश्या	शरीर की ऊंचाई	उत्कृष्ट आयु	जघन्य आयु	प्रवीचार
भवनवासी		१०	४०	कृष्ण, नील कापोत तथा जघन्य पीत				काय प्रवीचार
१ असुरकुमार	रत्नप्रभा के पंक भागमें			„	२५ धनुष	१ सागर	१० हजार वर्ष	„
२ नागकुमार	रत्नप्रभा पृथ्वीके ऊपर नीचे एक एक हजार योजन छोड़कर खर भागमें			„	१० „	३ पल्य	„	„
३ विद्युत्कुमार				„	१० „	१॥ पल्य	„	„
४ सुपर्णकुमार				„	१० „	२॥ पल्य	„	„
५ अग्निकुमार				„	१० „	१॥ पल्य	„	„
६ वातकुमार				„	१० „		„	„
७ स्तनितकुमार				„	१० „	१॥ पल्य	„	„
८ उदधिकुमार				„	१० „	१॥ पल्य	„	„
९ द्वीपकुमार				„	१० „	२ पल्य	„	„
१० दिक्कुमार				„	१० „	१॥ पल्य	„	„

व्यन्तर		८	३२			एक पल्य से कुछ अधिक		काय प्रवीचार
१ किन्नर	ऊपरके खरभागमें			”	१० धनुप			”
२ किंपुरुष	”			”	”			”
३ महोरग	”			”	”			”
४ गधर्व	”			”	”			”
५ यक्ष	”			”	”			”
६ राक्षस	पंकभागमें			”	”			”
त	ऊपरके खरभागमें			”	”			”
८ पिशाच	”			”	”			”
ज्योतिषी	समान धरातलसे ७९० योजन की ऊचाईसे प्रा-रम्भ करके ९०० योजन ऊचाई तक के मध्य-लोकमें	५	२			एक पल्य से कुछ अधिक	टे	काय प्रवीचार
१ सूर्य				”	७ धनुप			”
२ चन्द्रमा				”	”			”
३ ग्रह				”	”			”
४ नक्षत्र				”	”			”
५ प्रकीर्णक				”	”			”

देवगति की व्यवस्था [वैमानिक देव]

देव	निवास	भेद	इन्द्र	लेश्या	शरीर की ऊंचाई	उत्कृष्ट आयु	जघन्य आयु	प्रवीचार
कल्प								
सौधर्म-ईशान	ऊर्ध्वलोक	१२	२४	पीत	७ हाथ	२ सागर से अधिक	१ पल्य से अधिक	काय
सानत्कुमार माहेंद्र	"			पीत-पद्म	६ हाथ	७ " "	२ सागर "	स्पर्श
ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर	"			पद्म	५ हाथ	१० " "	७ सागर "	रूप
लान्तव-कापिष्ठ	"			पद्म	५ हाथ	१४ सागर से कुछ अधिक	१० सागर से कुछ अधिक	रूप
शुक्र-महाशुक्र	"			पद्म-शुक्ल	४ हाथ	१६ सागर "	१४ " "	शब्द
सतार-सहस्रार	"			"	४ हाथ	१८ सागर "	१६ " "	शब्द
आनत-प्राणत	"			शुक्ल	३॥ हाथ	२० सागर	१८ " "	मन
आरण-अच्युत	"			"	३ हाथ	२२ सागर	२० " "	मन
ग्रैवेयक			अह मिन्द्र					
सुदर्शन	"			शुक्ल	२॥ हाथ	२३ सागर	२२ सागर	१६ स्वर्ग से
अमोघ	"			"	२॥ हाथ	२४ सागर	२३ सागर	ऊपरके सभी
सुप्रबुद्ध	"			"	२॥ हाथ	२५ सागर	२४ सागर	देव अप्रवी-
यशोधर	"			"	२ हाथ	२६ सागर	२५ सागर	चारी हैं क्योंकि
सुभद्र	"			"	२ हाथ	२७ सागर	२६ सागर	उनके काम
विशाल	"			"	२ हाथ	२८ सागर	२७ सागर	वासना ही

सुमन	”			”	१॥ हाथ	२६ सागर	२८ सागर	उत्पन्न नहीं होती
सौमन	”			”	”	३० सागर	२९ सागर	”
प्रीतिकर	”			”	”	३१ सागर	३० सागर	”
अनुदिश			अहमिंद्र	परमशुक्ल	”	३२ सागर	३१ सागर	”
आदित्य	”			”	”	”	”	”
अर्चि	”			”	”	”	”	”
अर्चिमाली	”			”	”	”	”	”
वैरोचन	”			”	”	”	”	”
प्रभास	”			”	”	”	”	”
अर्चिप्रभ	”			”	”	”	”	”
अर्चिमध्य	”			”	”	”	”	”
अर्चिरावर्त	”			”	”	”	”	”
अर्चिविशिष्ट	”			”	”	”	”	”
अनुत्तर				”	१ हाथ	३३ सागर	३२ सागर	”
विजय	”			”	”	”	”	”
वैजयन्त	”			”	”	”	”	”
जयन्त	”			”	”	”	”	”
अपराजित	”			”	”	”	”	”
सर्वार्थसिद्धि	”			”	”	”	जघन्य आयु नहीं होती	”

नोट:—१ वैमानिक देवोंके स्वर्ग १६ हैं, परन्तु उनके इन्द्र १२ हैं। यहाँ इन्द्रोंकी अपेक्षा में १२ भेद कहे हैं। पहिले के चार तथा अन्तके चार, स्वर्गोंमें प्रत्येकके एक इन्द्र है और बीचके आठ स्वर्गोंमें दो दो स्वर्गोंके एक इन्द्र हैं।

२. पाँचवें स्वर्गमें जो लौकान्तिक देव रहते हैं उनके आयु ८ सागर की होती है।

मोक्षशास्त्र अध्याय पाँचवाँ

भूमिका

इस शास्त्रके प्रारम्भ करते ही आचार्य भगवानने प्रथम अध्यायके पहले ही सूत्रमें बताया है कि सच्चे सुखका एक ही मार्ग है और वह मार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता है। इसके बाद यह बताया है कि जो तत्त्वार्थका श्रद्धान है सो सम्यग्दर्शन है। फिर सात तत्त्व बताये हैं। उन तत्त्वोंमें पहला जीव तत्त्व है उसका निरूपण पहले दूसरे तीसरे और चौथे अध्यायमें किया है।

दूसरा अजीव तत्त्व है—उसका ज्ञान इस पाँचवें अध्यायमें कराया गया है। पुद्गल धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाश और कालमें पाँच अजीव द्रव्य हैं ऐसा निरूपण करनेके बाद उनकी पहचान करनेके लिये उनके खास लक्षण तथा उनका क्षेत्र बताया है। जीव सहित छह द्रव्य हैं यह कहकर द्रव्य गुण, पर्याय नित्य अवस्थित तथा अनेकांत आदिका स्वरूप बतलाया है।

यह मान्यता भ्रमपूर्ण है कि ईश्वर इस जगत्का कर्ता है। जगत्के सभी द्रव्य स्व की अपेक्षा सत् हैं, उन्हें किसीने नहीं बनाया ऐसा बतानेके लिए 'सत् द्रव्य लक्षणं' द्रव्यका लक्षण सत् है इसप्रकार २९ वें सूत्रमें कहा है। जगत्के सभी पदार्थ क्षण-क्षणमें स्वमें ही स्व की अवस्था स्वसे बदलती रहती है, इसी प्रकार सत्का स्वरूप निरूपण करनेके लिये ३० वाँ सूत्र कहा है। प्रत्येक वस्तु द्रव्यकी अपेक्षासे नित्य और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है ऐसा निरूपण करनेके लिए गुण—पर्यायवाला द्रव्य है ऐसा द्रव्यका दूसरा लक्षण ३८ वें सूत्रमें कहा है। प्रत्येक द्रव्य स्वयं स्वसे परिणमन करता है अन्य तो निमित्तमात्र व्यवहार कारण है इसलिये एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता ऐसा प्रतिपादन करनेके लिये ४२ वाँ सूत्र कहा है। वस्तुका स्वरूप अनेकांतात्मक है, किन्तु वह एक साथ नहीं

कहा जा सकता, इसलिए कथनमे मुख्य और गौणपनेकी अपेक्षा होती है, इसप्रकार ३२ वें सूत्रमे बताया है। इसतरह बहुतसे उपयोगी सिद्धांत इस अध्यायमे लिए गए हैं।

इस अध्यायमे 'सद्द्रव्यलक्षण', 'उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्त सत्,' 'गुण पर्ययवद्द्रव्य,' 'अर्पितानर्पित सिद्धेः' और 'तद्भाव परिणाम' ये पाँच (२९, ३०, ३८, ३२ और ४२) सूत्र वस्तु स्वरूपके नीवरूप हैं–विश्वधर्म के नीवरूप हैं। यह अध्याय सिद्ध करता है कि सर्वज्ञके बिना दूसरा कोई, जीव और अजीवका सत्य स्वरूप नही कह सकता। जीव और दूसरे पाँच अजीव (पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल) द्रव्यो का स्वरूप जैसा इस शास्त्रमे निरूपित है वैसा ही दि० जैन शास्त्रोमे बताया है। और वह अद्वितीय है। इससे विरुद्ध मान्यता यदि जगतके किसी भी जीव की हो तो वह असत्य है-मिथ्या है। इसलिए जिज्ञासुओको यथार्थ समझकर सत्यस्वरूपको ग्रहण करना और झूठी मान्यता तथा अज्ञान छोडना चाहिए।

धर्मके नाम पर ससारमे जैनके अतिरिक्त दूसरी भी अनेक मान्यतायें प्रचलित हैं, किन्तु उनमे वस्तुका यथार्थ कथन नही मिलता, वे जीव अजीव आदि तत्त्वोका स्वरूप अन्य प्रकारसे कहते हैं, आकाश और काल का जैसा स्वरूप वे कहते हैं वह स्थूल और अन्यथा है और धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकायके स्वरूप से तो वे बिल्कुल अज्ञात हैं। इस उपरोक्त कथनसे सिद्ध होता है कि वस्तुके सत्य स्वरूपसे विरुद्ध चलती हुई वे सभी मान्यताएँ मिथ्या हैं, तत्त्वसे विरुद्ध हैं।

अजीव तत्त्वका वर्णन

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥१॥

अर्थः—[धर्माधर्माकाश पुद्गला] धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश और पुद्गल मे चार [अजीवकायाः] अजीव तथा बहु प्रदेशी हैं।

टीका

(१) सम्यग्दर्शन की व्याख्या करते हुए तत्त्वार्थका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है ऐसा प्रथम अध्यायके दूसरे सूत्रमें कहा है फिर तीसरे सूत्रमें तत्त्वोंके नाम बताये हैं उनमेंसे जीवका अधिकार पूर्ण होने पर अजीव तत्त्वका कथन करना चाहिये इसलिये इस अध्यायमें मुख्य रूपसे अजीव का स्वरूप कहा है।

(२) जीव अनादिसे स्व स्वरूप नहीं जानता और इसीलिये उसे सात तत्त्व सम्बन्धी अज्ञान रहता है। शरीर जो पुद्गल पिंड है उसे वह अपना मानता है इसलिए यहाँ यह बताया है कि यह पुद्गल तत्त्व जीवसे बिल्कुल भिन्न है और जीव रहित है अर्थात् अजीव है।

(३) जीव अनादिसे यह मान रहा है कि शरीरके जन्म होने पर मैं उत्पन्न हुआ और शरीरके वियोग होने पर मेरा नाश हुआ यह उसकी मुख्य रूपसे अजीव तत्त्व सम्बन्धी विपरीत श्रद्धा है। आकाशके स्वरूपका भी उसे भ्रम है और स्वयं उसका स्वामी है ऐसा भी यह जीव मानता है। यह विपरीत श्रद्धा दूर करनेके लिए इस सूत्रमें यह कहा गया है कि ये द्रव्य अजीव हैं। धर्म और अधर्म द्रव्यको भी वह नहीं जानता इसीलिए वस्तुके होते हुए भी उसे उसका निषेध है यह दोष भी इस सूत्रसे दूर होता है। आकाशका स्वरूप ४, ६, ७ ६ १८ वें सूत्रोंमें बताया है धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यका स्वरूप ४-६-७-८-१२ और १७ वें सूत्रोंमें बताया गया है। दिशा आकाशका भाग है।

(४) प्रश्न—'काय' का अर्थ तो शरीर है तथापि यहाँ धर्मादि द्रव्यको काय क्यों कहा है?

उत्तर—यहाँ उपचारसे उन्हें (धर्मादि द्रव्यको) काय कहा है। जैसे शरीर पुद्गल द्रव्यका समूहरूप है उसी प्रकार धर्मादि द्रव्योंको भी प्रदेशोंके समूहरूप कायके समान व्यवहार है। यहाँ कायका अर्थ बहुप्रदेशी समझना चाहिये।

(५) प्रश्न—पुद्गल द्रव्य तो एक प्रदेशी हैं, उसे काय शब्द कैसे लागू होगा ?

उत्तर—उसमे दूसरे पुद्गलोंके साथ मिलने की और इसलिए बहु-प्रदेशी होने की शक्ति है, इसी अपेक्षासे उसे काय कहा जाता है।

(६) धर्म और अधर्म ये दो द्रव्य सर्वज्ञ प्रणीत शास्त्रोमे हैं। ये नाम शास्त्र रूढ़िसे दिए गए हैं ॥ १ ॥

ये अजीवकाय क्या हैं ?

द्रव्याणि ॥ २ ॥

अर्थ—ये चार पदार्थ [द्रव्याणि] द्रव्य हैं, (द्रव्यका लक्षण २९, ३०, ३८, वें सूत्रोमें आयगा)।

टीका

(१) जो त्रिकाल अपने गुण पर्यायको प्राप्त होता है उसे द्रव्य कहते हैं।

(२) द्रव्य अपने गुण पर्यायको प्राप्त होता है, अर्थात् परके गुण पर्यायको कोई प्राप्त नही होता, ऐसा (अस्ति-नास्तिरूप) अनेकात दृष्टिसे अर्थ होता है। पुद्गल अपने पर्यायरूप शरीरको प्राप्त होता है, किन्तु जीव या दूसरा कोई द्रव्य शरीरको प्राप्त नही होता। यदि जीव शरीरको प्राप्त हो तो शरीर जीव की पर्याय हो जाय, इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव और शरीर अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं और इसीलिए जीव शरीरको प्राप्त न होनेसे त्रिकालमें भी शरीरका कुछ कर नही सकता ॥ २ ॥

द्रव्यमें जीव की गिनती

जीवाश्च ॥ ३ ॥

अर्थ—[जीवाः] जीव [च] भी द्रव्य है।

टीका

(१) यहाँ 'जीवा' शब्द बहुवचन है वह यह बतलाता है कि जीव अनेक हैं। जीवका व्याख्यान पहले (पहले चार अध्यायोंमें) हो चुका है इसके अतिरिक्त ३९ वें सूत्रमें 'काल' द्रव्य बतलाया है अतः सब मिल कर छह द्रव्य हुए।

(२) जीव बहुतसे हैं और प्रत्येक जीव 'द्रव्य' है ऐसा इस सूत्रमें प्रतिपादन किया है इसका क्या अर्थ है यह विचार करते हैं। जीव अपने ही गुण पर्यायको प्राप्त होता है इसलिये उसे भी द्रव्य कहा जाता है। शरीर तो जीव द्रव्यकी पर्याय नहीं किन्तु पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है, क्योंकि उसमें स्पर्श रस गन्ध और वर्ण पाया जाता है और चेतन नहीं। कोई द्रव्य दूसरे द्रव्यके गुण पर्यायको प्राप्त ही नहीं होता, इसलिये पुद्गल द्रव्य या उसकी शरीरादि पर्याय चेतन रूपको (जीवत्वको या जीवके किसी गुण पर्यायको) कभी भी प्राप्त नहीं होता। इस नियमके अनुसार जीव वास्तवमें शरीरको प्राप्त होता है यह बनता ही नहीं। जीव प्रत्येक समय अपनी पर्यायको प्राप्त होता है और शरीरको प्राप्त नहीं होता। इसलिये जीव शरीरका कुछ कर नहीं सकता यह निष्कास अबाधित सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तको समझे बिना जीव अजीव तत्त्वकी अनादिसे चली आई भूल कभी दूर नहीं हो सकती।

(३) जीवका शरीरके साथ जो सम्बन्ध दूसरे तीसरे और चौथे अध्यायोंमें बताया है वह एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध मात्र बताया है तादात्म्य सम्बन्ध नहीं बताया अतः यह व्यवहार कथन है। जो व्यवहार के वचनोंको वास्तव में निश्चयके वचन मानते हैं वे 'घी का घड़ा' ऐसा कहनेसे घड़ेको वास्तवमें घी का बना हुआ मानते हैं मिट्टी या धातुका बना हुआ नहीं मानते इसलिये वे लौकिक मिथ्यादृष्टि हैं। शास्त्रोंमें ऐसे जीवोंको 'व्यवहार विमूढ़' कहा है। जिज्ञासुओंके अतिरिक्त जीव इस व्यवहार भ्रमणाको नहीं छोड़ेंगे और व्यवहार विमूढ़ जीवोंकी संख्या निरन्तर बहुत ज्यादा रहेगी। इसलिए धर्मप्रेमी जीव (दुःखको दूर करनेवाले

सच्चे उम्मेदवार) इस अध्यायके १-२-३ सूत्रोकी टीकामे जो स्वरूप बताया है उसे लक्ष्यमे लेकर इस स्वरूपको यथार्थ समझकर जीव और अजीव तत्त्वके स्वरूपकी अनादिसे चली आई भ्रांति दूर करें।

पुद्गल द्रव्यसे अतिरिक्त द्रव्योंकी विशेषता

नित्यावस्थितान्य रूपाणि ॥ ४ ॥

अर्थ.—ऊपर कहे गये द्रव्योमेसे चार द्रव्य [अरूपाणि] रूप रहित [नित्यावस्थितानि] नित्य और अवस्थित हैं।

टीका

(१) नित्यः—जो कभी नष्ट न हो उसे नित्य कहते है। (देखो सूत्र ३१ और उसकी टीका)

अवस्थितः—जो अपनी सख्याको उल्लघन न करे उसे अवस्थित कहते हैं।

अरूपीः—जिसमे स्पर्श, रस, गध और वर्ण न पाया जाय उसे अरूपी कहते हैं।

(२) पहले दो स्वभाव समस्त द्रव्योमे होते है। ऊपर जो आसमानी रग दिखाई देता है उसे लोग आकाश कहते हैं किन्तु यह तो पुद्गल का रग है आकाश तो सर्व व्यापक, अरूपी, अजीव एक द्रव्य है।

'नित्य' और 'अवस्थित' का विशेष स्पष्टीकरण

(३) 'अवस्थित' शब्द यह बतलाता है कि प्रत्येक द्रव्य स्वय परिणमन करता है। परिणाम और परिणामित्व अन्य किसी तरह नही बन सकता। यदि एक द्रव्य, उसका गुण या पर्याय दूसरे द्रव्यका कुछ भी करे या करावे तो वह तन्मय (परद्रव्यमय) हो जाय। किन्तु कोई द्रव्य परद्रव्यमय तो नही होता। यदि कोई द्रव्य अन्य द्रव्यरूप हो जाये तो उस द्रव्यका नाश हो जाय और द्रव्योका 'अवस्थितपन' न रहेगा। और फिर द्रव्योका नाश होने पर उनका 'नित्यत्त्व' भी न रहेगा।

(४) प्रत्येक द्रव्य अनंत गुणोंका पिण्ड है। द्रव्यकी नित्यतासे उसका प्रत्येक गुण नित्य रहता है पुनरपि एक गुण उसी गुणरूप रहता है दूसरे गुणरूप नहीं होता। इस तरह प्रत्येक गुणका अवस्थितत्व है, यदि ऐसा न हो तो गुणका नाश हो जायगा और गुणके नाश होनेसे सम्पूर्ण द्रव्यका नाश हो जायगा और ऐसा होने पर द्रव्यका 'नित्यत्व' नहीं रहेगा।

(५) जो द्रव्य अनेक प्रदेशी है उसका भी प्रत्येक प्रदेश नित्य और अवस्थित रहता है। उनमेंसे एक भी प्रदेश अन्य प्रदेशरूप नहीं होता। यदि एक प्रदेशका स्थान अन्य प्रदेशरूप हो तो प्रदेशोंका अवस्थित पन न रहे। यदि एक प्रदेशका नाश हो तो सम्पूर्ण द्रव्यका नाश हो और ऐसा हो तो उसका नित्यत्व न रहे।

(६) प्रत्येक द्रव्यकी पर्याय अपने-अपने समय पर प्रगट होती है और फिर तत्पश्चात् अपने अपने समय पर बादकी पर्यायें प्रगट होती हैं और पहले पहलेकी पर्याय प्रगट नहीं होती इस तरह पर्यायका अवस्थित पन सिद्ध होता है। यदि पर्याय अपने-अपने समय पर प्रगट न हो और दूसरी पर्यायके समय प्रगट हो तो पर्यायका प्रवाह अवस्थित न रहे और ऐसा होनेसे द्रव्यका अवस्थितपन भी न रहे।

एक पुद्गल द्रव्यका ही रूपित्व बतलाते हैं

रूपिणः पुद्गलाः ॥ ५ ॥

अर्थः—[पुद्गलाः] पुद्गल द्रव्य [रूपिणः] रूपी अर्थात् मूर्तिक हैं।

टीका

(१) 'रूपी' का अर्थ स्पर्श रस गंध और वर्ण सहित है। (देखो सूत्र २३) पुद्×गल ये दो पद मिलकर पुद्गल शब्द बना है। पुद् अर्थात् इकट्ठे होना—मिल जाना और गल अर्थात् बिछुड़ जाना। स्पर्श गुणकी पर्याय की विचित्रताके कारण मिलना और बिछुड़ना पुद्गलमें ही होता है इसी लिए जब उसमें स्थूलता आती है तब पुद्गल द्रव्य इन्द्रियोंका विषय बनता

है। रूप, रस, गध, स्पर्शका गोल, त्रिकोण, चौकोर, लम्बे इत्यादि रूपसे जो परिणमन है सो मूर्ति है।

(२) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और द्रव्यमन ये वर्ण, गध, रस और स्पर्शवाले हैं, इसीसे ये पाचो पुद्गल द्रव्य हैं। द्रव्यमन सूक्ष्म पुद्गल के प्रचयरूप आठ पांखुडीके खिले हुए कमलके आकारमे हृदय स्थानमे रहता है, वह रूपी अर्थात् स्पर्श, रस, गध और वर्णवाला होनेसे पुद्गल द्रव्य है। (देखो इस अध्यायके १९ वें सूत्रकी टीका)

(३) नेत्रादि इद्रिय सदृश मन स्पर्श, रस, गंध और वर्णवाला होनेसे रूपी है, मूर्तिक है, ज्ञानोपयोगमे वह निमित्त कारण है।

शंका:—शब्द अमूर्तिक है तथापि ज्ञानोपयोगमे निमित्त है इसलिए जो ज्ञानोपयोगका निमित्त हो सो पुद्गल है ऐसा कहनेमें हेतु व्यभिचारित होता है (अर्थात् शब्द अमूर्तिक है तथापि ज्ञानोपयोगका निमित्त देखा जाता है इसलिये यह हेतु पक्ष, सपक्ष और विपक्षमें रहनेसे व्यभिचारी हुआ) सो मन मूर्तिक है ऐसा किस कारणसे मानना ?

समाधान—शब्द अमूर्तिक नही है। शब्द पुद्गलजन्य है अतः उसमे मूर्तिकपन है, इसलिए ऊपर दिया हुआ हेतु व्यभिचारी नही है किंतु सपक्षमे ही रहनेवाला है, इससे यह सिद्ध हुआ कि द्रव्यमन पुद्गल है।

(४) उपरोक्त कथनसे यह नही समझना कि इन्द्रियोसे ज्ञान होता है। इन्द्रियाँ तो पुद्गल हैं, इसलिये ज्ञान रहित हैं, यदि इन्द्रियोसे ज्ञान हो तो जीव चेतन न रहकर जड-पुद्गल हो जाय, किन्तु ऐसा नही है। जीवके ज्ञानोपयोगकी जिसप्रकार की योग्यता होती है उसीप्रकार पुद्-गल इन्द्रियोंका सयोग होता है, ऐसा उनका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, किन्तु निमित्त परद्रव्य होनेसे उनका आत्मामें अत्यन्त अभाव है और उससे वह–आत्मामे कुछ कर सकता है या सहायता कर सकता है ऐसा मानना सो विपरीतता है।

(५) सूत्रमें पुद्गला' बहुवचन है वह यह बतलाता है कि पुद्गलोंकी संख्या बहुत है तथा पुद्गलके अणु स्कंधादि भेदके कारण कई भेद हैं।

(६) मन तथा सूक्ष्म पुद्गल इन्द्रियों द्वारा नहीं जाने जा सकते किन्तु जब वह सूक्ष्मता छोड़कर स्थूलता धारण करते हैं तब इन्द्रियों द्वारा जाने जा सकते हैं और सभी उनमें स्पर्श रस गंध और वर्णकी अवस्था प्रत्यक्ष दिखाई देती है इसलिए यह निश्चित होता है कि सूक्ष्म अवस्थामें भी वह स्पर्श रस, गंध और वर्णवाले हैं।

(७) पुद्गल परमाणुओंका एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें परिवर्तन हुआ करता है। जैसे मिट्टीके परमाणुओंमेंसे जल होता है पानीसे बिजली–अग्नि होती है, वायुके मिश्रणसे जल होता है। इसलिये यह मान्यता ठीक नहीं कि पृथ्वी जल अग्नि वायु मन इत्यादिके परमाणु भिन्न भिन्न प्रकारके होते हैं क्योंकि पृथ्वी आदि समस्त पुद्गलके ही विकार हैं।

अब धर्मादि द्रव्योंकी संख्या बतलाते हैं

आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ६ ॥

अर्थ:—[आ आकाशात्] आकाश पर्यन्त [एक द्रव्याणि] एक एक द्रव्य हैं अर्थात् धर्म द्रव्य अधर्म द्रव्य और आकाश द्रव्य एक एक हैं।

टीका

जीव द्रव्य अनन्त हैं पुद्गल द्रव्य अनंतानन्त हैं और काल द्रव्य असंख्यात अणुरूप हैं। पुद्गल द्रव्य एक नहीं है यह बताने के लिए, इस सूत्रमें पहले सूत्रकी संधि करनेके लिये 'आ' शब्दका प्रयोग किया है।

अब इनका गमन रहितत्व सिद्ध करते हैं

निष्क्रियाणि च ॥ ७ ॥

अर्थ:—[च] और फिर यह धर्म द्रव्य अधर्म द्रव्य और आकाश

द्रव्य [निष्क्रियाणि] किया रहित है अर्थात् ये एक स्थानसे दूसरे स्थानको प्राप्त नही होते ।

टीका

(१) क्रिया शब्दके कई अर्थ हैं—जैसे-गुणकी परिणति, पर्याय, एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमे गमन । इन अर्थोंमेसे अतिम अर्थ यहाँ लागू होता है । काल द्रव्य भी क्षेत्रके गमनागमनसे रहित है, किन्तु यहाँ उसके बतलाने का प्रकरण नही है, क्योकि पहिले सूत्रमे कहे गए चार द्रव्योका प्रकरण चल रहा है, जीव और कालका विषय नही चल रहा है । पुद्गल द्रव्य अणु और स्कध दोनो दशाओमे गमन करता है अर्थात् एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमे गमन करता है इसलिये उसे यहाँ छोड दिया है । इस सूत्रमे तीन द्रव्योमे क्रियाका अभाव बताया और बाकी रहे पुद्गल द्रव्यमे क्रिया—हलन चलनका अस्तित्व बतानेको अनेकान्त सिद्धातके अनुसार क्रियाका स्वरूप सिद्ध किया है ।

(२) उत्पाद व्ययरूप क्रिया प्रत्येक द्रव्यमे समय समय पर होती है, वह इन द्रव्योमें भी है ऐसा समझना चाहिये ।

(३) द्रव्योमें दो तरह की शक्ति होती है एक भाववती और दूसरी क्रियावती, उनमेंसे भाववती शक्ति समस्त द्रव्योमे है और उससे उस शक्ति का परिणमन—उत्पाद व्यय प्रत्येक द्रव्यमे द्रव्यत्वको कायम रख कर होता है । क्रियावती शक्ति जीव और पुद्गल इन दो ही द्रव्योमे होती है । यह दोनो द्रव्य एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमे जाते हैं, किन्तु इतनी विशेषता है कि जीव जब विकारी हो तब और सिद्धगति मे जाते समय क्रियावान होता है और सिद्धगतिमें वह स्थिररूपसे रहता है । (सिद्धगतिमें जाते समय जीव एक समयमें सात राजू जाता है) सूक्ष्म पुद्गल भी शीघ्रगतिसे एक समयमे १४ राजू जाता है अर्थात् पुद्गलमे मुख्य रूपसे हलन चलन-रूप क्रिया है, जब कि जीव द्रव्यमे ससारी अवस्थामें किसी किसी समय गमनरूप क्रिया होती है ।

अब धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और एक जीव द्रव्य के प्रदेशोंकी संख्या बताते हैं

असंख्येया: प्रदेशा: धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥ ८ ॥

अर्थ—[धर्माधर्मैकजीवानाम्] धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और एक जीव द्रव्यके [असंख्येयाः] असंख्यात [प्रदेशा:] प्रदेश हैं।

टीका

(१) प्रदेश—आकाशके जितने क्षेत्रको एक पुद्गल परमाणु रोके उतने क्षेत्रको एक प्रदेश कहते हैं।

(२) ये प्रत्येक द्रव्य द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे अखण्ड, एक निरंश हैं। पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे असंख्यात प्रदेशी हैं। उसके असंख्यात प्रदेश हैं इससे कुछ उसके असंख्य खण्ड या टुकड़े नहीं हो जाते। और पृथक् २ एक २ प्रदेश जितने टुकड़ोंके मिलनेसे बना हुआ भी वह द्रव्य नहीं है।

(३) आकाश भी द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे अखण्ड निरंश, सर्वगत एक और भिन्नता रहित है। पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे जितने भाग को परमाणु रोके उतने भागको प्रदेश कहते हैं। आकाशमें कोई टुकड़े नहीं हैं या उसके टुकड़े नहीं हो जाते। टुकड़ा तो संयोगी पदार्थका होता है पुद्गलका स्कंध संयोगी है इसलिये जब वह खण्ड होने योग्य हो तब वह खण्ड टुकड़े रूपमें परिणमन करता है।

(४) आकाशको इस सूत्रमें नहीं लिया क्योंकि उसके अनन्त प्रदेश हैं, इसलिये वह नवमें सूत्रमें कहा जायगा।

(५) धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय और जीवके प्रदेश असंख्यात हैं और वे संख्याकी अपेक्षासे लोक प्रमाण असंख्यात हैं तथापि उनके प्रदेशों की व्यापक अवस्थामें अन्तर है। धर्म और अधर्म द्रव्य सम्पूर्ण लोकमें व्याप्त हैं। यह बारहवें और तेरहवें सूत्रोंमें कहा है और जीवके प्रदेश उस उस समय के जीवके शरीरके प्रमाणसे चौड़े या छोटे होते हैं (यह सोलहवें सूत्रमें कहा है) जीव जब केवलि-समुद्घात अवस्था धारण करता है तब उसके प्रदेश सम्पूर्ण लोकाकाशमें व्याप्त होते हैं तथा समुद्घातके समय उस

उस शरीरमे प्रदेश रहकर कितने ही प्रदेश वाहर निकलते हैं, वीचमे खण्ड नही पडते ।

(६) दूसरे समुद्घातका स्वरूप अध्याय २ सूत्र ४८-४९ की टीकामे कहा जा चुका है और विशेष-बृहद् द्रव्यसंग्रह गा० १० की टीका मे देखो ।

अब आकाशके प्रदेश बतलाते हैं

आकाशस्यानन्ताः ॥ ९ ॥

अर्थ—[**आकाशस्य**] आकाशके [**अनंताः**] अनन्त प्रदेश हैं।

टीका

(१) आकाशके दो विभाग हैं—अलोकाकाश और लोकाकाश। उसमेसे लोकाकाशके असख्यात प्रदेश हैं। जितने प्रदेश धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके हैं उतने ही प्रदेश लोकाकाशके हैं फिर भी उनका विस्तार एक सरीखा है। लोकाकाश छहो द्रव्योका स्थान है। इस बारेमें बारहवें सूत्रमे कहा है। आकाशके जितने हिस्सेको एक पुद्गल परमाणु रोके, उसे प्रदेश कहते हैं।

(२) दिशा, कौना, ऊपर, नीचे ये सब आकाशके विभाग हैं।

अब पुद्गलके प्रदेशोंकी संख्या बताते हैं

संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥

अर्थ—[**पुद्गलानाम्**] पुद्गलोंके [**संख्येयाऽसंख्येयाः च**] सख्यात, असख्यात और अनन्त प्रदेश हैं।

टीका

(१) इसमे पुद्गलोकी सयोगी पर्याय (स्कध) के प्रदेश बताये हैं। प्रत्येक अणु स्वतत्र पुद्गल है। उसके एक ही प्रदेश होता है ऐसा ११ वें सूत्रमें कहा है।

(२) स्कंध दो परमाणुओंसे लेकर अनन्त परमाणुओंका होता है, इसका कारण ३३ वें सूत्रमें दिया गया है (बताया गया है)

(३) शंका—जब कि लोकाकाशके असंख्यात ही प्रदेश हैं तो उसमें अनंत प्रदेशवाला पुद्गल द्रव्य तथा दूसरे द्रव्य कैसे रह सकते हैं ?

समाधान—पुद्गल द्रव्यमें दो तरहका परिणमन होता है एक सूक्ष्म और दूसरा स्थूल। जब उसका सूक्ष्म परिणमन होता है तब लोकाकाशके एक प्रदेशमें भी अनन्त प्रदेशवाला पुद्गल स्कंध रह सकता है। और फिर सब द्रव्योंमें एक दूसरेको अवगाहन देनेकी शक्ति है इस लिये अल्पक्षेत्रमें ही समस्त द्रव्योंके रहनेमें कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। आकाशमें सब द्रव्योंको एक साथ स्थान देनेकी सामर्थ्य है इस लिये एक प्रदेशमें अनंतानन्त परमाणु रह सकते हैं जैसे एक कमरेमें एक दीपकका प्रकाश रह सकता है और उसी कमरेमें उतने ही विस्तारमें पचास दीपकोंका प्रकाश रह सकता है।

अब अणुको एक प्रदेशी बतलाते हैं।

नाणोः ॥ ११ ॥

अर्थ—[अणोः] पुद्गल परमाणुके [न] दो इत्यादि प्रदेश नहीं हैं अर्थात् एक प्रदेशी है।

टीका

१ अणु एक द्रव्य है उसके एक ही प्रदेश है क्योंकि परमाणुओं का खंड नहीं होता।

२ द्रव्योंके अनेकांत स्वरूपका वर्णन

(१) द्रव्य मूर्तिक और अमूर्तिक दो प्रकारके हैं।
(२) अमूर्तिक द्रव्य चेतन और जड़के भेदसे दो प्रकारके हैं।
(३) मूर्तिक द्रव्य दो तरहके हैं, एक अणु और दूसरा स्कंध।

(४) मूर्तिक द्रव्यके सूक्ष्म और बादर इसतरह दो भेद हैं।

(५) सूक्ष्म मूर्तिक द्रव्य दो तरहका है एक सूक्ष्मसूक्ष्म और दूसरा सूक्ष्म।

(६) स्कंध, सूक्ष्म और बादरके भेदसे दो प्रकारका है।

(७) सूक्ष्म अणु दो तरहके हैं–१–पुद्गल अणु और २–कालाणु

(८) अक्रिय (गमनागमनसे रहित चार द्रव्य) और सक्रिय (गमनागमन सहित जीव और पुद्गल) के भेदसे द्रव्य दो तरहके हैं।

(९) द्रव्य दो तरहके हैं—१–एक प्रदेशी और २–बहुप्रदेशी।

(१०) बहुप्रदेशी द्रव्य दो भेदरूप हैं सख्यात प्रदेशवाला और सख्यासे पर प्रदेशवाला।

(११) सख्यातीत बहुप्रदेशी द्रव्य दो भेदरूप है, असंख्यात प्रदेशी और अनन्त प्रदेशी।

(१२) अनन्त प्रदेशी द्रव्य दो तरहका है ?—अखड आकाश और २—अनन्त प्रदेशी पुद्गल स्कघ।

(१३) लोकके असख्यात प्रदेशोको रोकनेवाले द्रव्य दो तरह के हैं —अखण्ड द्रव्य (धर्म, अधर्म तथा केवल समुद्घात करनेवाला जीव) और पुद्गल महा स्कन्ध यह सयोगी द्रव्य है।

(१४) अखण्ड लोक प्रमाण असख्यात प्रदेशी द्रव्य दो प्रकारका है, १–धर्म तथा अधर्म (लोक व्यापक) और २–जोव (लोक-प्रमाण) सख्यासे असख्यात प्रदेशी और विस्तारमे शरीरके प्रमाणसे व्यापक है।

(१५) अमूर्त बहुप्रदेशी द्रव्य दो भेदरूप हैं—सकोच—विस्तार रहित (आकाश, धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य तथा सिद्ध जीव) और संकोच विस्तार सहित (ससारी जीवके प्रदेश सकोच–विस्तार सहित हैं)

[सिद्ध जीव चरमशरीरसे किंचित् न्यून होते हैं]

(१६) द्रव्य दो तरहके हैं—सर्वगत (आकाश) और देशगत (अवशिष्ट पाँच द्रव्य)

(१७) सर्वगत दो प्रकारसे है—क्षेत्र सर्वगत (आकाश) और भावसे सर्वगत (ज्ञानशक्ति)

(१८) देशगत दो भेद रूप है—एक प्रदेशगत (परमाणु, कालाणु तथा एक प्रदेश स्थित सूक्ष्म स्कंध) और अनेक देशगत (धर्म, अधर्म, जीव और पुद्गल स्कंध)

(१९) द्रव्योंमें अस्ति दो प्रकारसे है—अस्तिकाय (आकाश, धर्म, अधर्म, जीव तथा पुद्गल), और काय रहित अस्ति (कालाणु)

(२०) अस्तिकाय दो तरहसे है—अखण्ड अस्तिकाय (आकाश, धर्म अधर्म तथा जीव) और उपचरित अस्तिकाय (संयोगी पुद्गल स्कंध पुद्गलमें ही समूहरूप—स्कन्धरूप होने की शक्ति है)

(२१) प्रत्येक द्रव्यके गुण तथा पर्यायमें अस्तित्व दो तरहसे है—स्वसे अस्तित्व और परकी अपेक्षासे नास्तित्वरूपका अस्तित्व।

(२२) प्रत्येक द्रव्यमें अस्तित्व दो तरहसे है—ध्रुव और उत्पाद व्यय।

(२३) द्रव्योंमें दो तरहकी शक्ति है एक भाववती दूसरी क्रियावती।

(२४) द्रव्योंमें सम्बन्ध दो तरहका है—विभाव सहित (जीव और पुद्गलके अशुद्ध दशामें विभाव होता है) और विभाव रहित (दूसरे द्रव्य त्रिकाल विभाव रहित हैं)

(२५) द्रव्योंमें विभाव दो तरहसे है—१-जीवके विजातीय पुद्गलके साथ २-पुद्गलके सजातीय एक दूसरेके साथ तथा सजातीय पुद्गल और विजातीय जीव इन दोनोंके साथ।

नोट—स्याद्वाद समस्त वस्तुओंके स्वरूपका साधनेवाला अर्हंत सर्वज्ञ का एक अस्खलित शासन है। यह यह बतलाता है कि सभी अनेकान्तात्मक है। स्याद्वाद वस्तुके यथार्थ स्वरूपका निर्णय कराता है। यह संशय वाद नहीं है। कितने ही लोग कहते हैं कि स्याद्वाद प्रत्येक वस्तुको नित्य और अनित्य आदि दो तरहसे बतलाता है, इसलिए संशयका कारण है

किन्तु उनका यह कथन मिथ्या है। अनेकांतमे दोनो पक्ष निश्चित हैं, इसलिए वह संशयका कारण नही है।

३. द्रव्य परमाणु तथा भाव परमाणुका दूसरा अर्थ, जो यहाँ उपयुक्त नही है।

प्रश्न—'चारित्रसार' इत्यादि शास्त्रोमें कहा है कि यदि द्रव्य परमाणु और भाव परमाणुका ध्यान करे तो केवलज्ञान हो, इसका क्या अर्थ है।

उत्तर—वहाँ द्रव्य परमाणुसे आत्म द्रव्यकी सूक्ष्मता और भाव परमाणुसे भावकी सूक्ष्मता बतलाई है। वहाँ पुद्गल परमाणुका कथन नही है। रागादि विकल्पकी उपाधिसे रहित आत्मद्रव्यको सूक्ष्म कहा जाता है। क्योंकि निर्विकल्प समाधिका विषय आत्मद्रव्य मन और इन्द्रियोंके द्वारा नही जाना जाता। भाव शब्दका अर्थ स्वसंवेदन परिणाम है। परमाणु शब्दसे भावकी सूक्ष्म अवस्था समझना चाहिए क्योंकि वीतराग, निर्विकल्प, समरसीभाव पाँचो इन्द्रियो और मनके विषयसे परे है। (देखो परमात्मप्रकाश अध्याय २ गाथा ३३ को टीका, पृष्ठ १६८–१६९) यह अर्थ यहाँ लागू नही होता है?

प्रश्न—द्रव्य परमाणुका यह अर्थ यहाँ क्यो लागू (उपयुक्त) नही है।

उत्तर—इस सूत्रमे जिस परमाणुका वर्णन है वह पुद्गल परमाणु है, इसलिये द्रव्य परमाणुका उपरोक्त अर्थ यहाँ लागू नही होता।

अब समस्त द्रव्योंके रहनेका स्थान बतलाते हैं

लोकाकाशेऽवगाहः ॥१२॥

अर्थ—[**अवगाहः**] उपरोक्त समस्त द्रव्योका अवगाह (स्थान) [**लोकाकाशे**] लोकाकाशमे है।

टीका

(१) आकाशके जितने हिस्सेमें जीव आदि छहों द्रव्य हैं उतने हिस्सेको लोकाकाश कहते हैं और अवशिष्ट आकाशको अलोकाकाश कहते हैं।

(२) आकाश एक अखण्ड द्रव्य है। उसमें कोई भाग नहीं होते, किन्तु परद्रव्यके अवगाह की अपेक्षासे यह भेद होता है—अर्थात् निश्चय से आकाश एक अखण्ड द्रव्य है, व्यवहारसे परद्रव्यके निमित्त की अपेक्षासे ज्ञानमें उसके दो भाग होते हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश।

(३) प्रत्येक द्रव्य वास्तवमें अपने अपने क्षेत्रमें रहता है; लोकाकाशमें रहता है, यह परद्रव्यकी अपेक्षासे निमित्तका कथन है उसमें पर क्षेत्रकी अपेक्षा आती है इसलिये वह व्यवहार है। ऐसा नहीं है कि आकाश पहले हुआ हो तथा दूसरे द्रव्य उसमें बादमें उत्पन्न हुए हों क्योंकि सभी द्रव्य अनादि अनन्त हैं।

(४) आकाश स्वयं अपनेको अवगाह देता है, वह अपनेको निश्चय अवगाहरूप है। दूसरे द्रव्य आकाशसे बड़े नहीं हैं और न हो ही सकते हैं इसलिये उसमें व्यवहार अवगाह की कल्पना नहीं हो सकती।

(५) सभी द्रव्योंमें अनादि पारिणामिक युगपत्त्व है आगे पीछे का भेद नहीं है। जैसे युतसिद्धके व्यवहारसे आधार–आधेयत्व होता है उसीप्रकार अयुतसिद्धके भी व्यवहारसे आधार–आधेयत्व होता है।

युतसिद्ध=बादमें मिले हुए, अयुतसिद्ध=मूलसे एकमेक। दृष्टान्त–'टोकरीमें बेर' बादमें मिले हुए का दृष्टान्त है और 'खम्भेमें सार मूलसे' एकत्वका दृष्टान्त है।

(६) एवंभूत नयकी अपेक्षासे अर्थात् जिस स्वरूपसे पदार्थ है उस स्वरूपके द्वारा निश्चय करनेवाले नयकी अपेक्षासे सभी द्रव्योंके निज निज का आधार है। जैसे—किसीसे प्रश्न किया कि तुम कहाँ हो? तो वह कहता है कि मैं निजमें हूँ। इसी तरह निश्चय नयसे प्रत्येक द्रव्यको स्व स्व

का आधार है। आकाशसे दूसरे कोई द्रव्य वडे नही हैं। आकाश सभी ओरसे अनत है इसलिये व्यवहार नयसे यह कहा जा सकता है कि वह धर्मादिका आधार है। धर्मादिक द्रव्य लोकाकाशके बाहर नही है यही सिद्ध करनेके लिये यह आधार—आधेय सम्बन्ध माना जाता है।

(७) जहाँ धर्मादिक द्रव्य देखे जाते हैं उस आकाशका भाग लोक कहलाता है और जहाँ धर्मादिक द्रव्य नही देखे जाते उस भागको अलोक कहते हैं। यह भेद—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीव, पुद्गल और कालके कारण होता है, क्योकि धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य सम्पूर्ण लोकाकाशमे व्याप्त हैं। समस्त लोकाकाशमे ऐसा कोई भी प्रदेश नही है (एक भी प्रदेश नही है) जहाँ जीव न हो। तथापि जीव जब केवल समुद्घात करता है तब समस्त लोकाकाशमे व्याप्त हो जाता है। पुद्गलका अनादि अनन्त एक महा स्कन्ध है, जो लोकाकाशव्यापी है और सारा ही लोक भिन्न २ पुद्गलोसे भी भरा हुआ है। कालाणु एक एक अलग अलग रत्नोकी राशि की तरह समस्त लोकाकाशमे भरे हुए हैं।

अब धर्म अधर्म द्रव्यका अवगाहन बतलाते हैं

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥

अर्थ—[धर्माधर्मयोः] धर्म और अधर्म द्रव्यका अवगाह [कृत्स्ने] तिलमें तेलकी तरह समस्त लोकाकाशमें है।

टीका

(१) लोकाकाशमे द्रव्यके अवगाहके प्रकार पृथक् पृथक् हैं, ऐसा यह सूत्र बतलाता है। इस सूत्रमें धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्यके अवगाहका प्रकार बतलाया है। पुद्गलके अवगाहका प्रकार १४ वें सूत्रमे और जीवके अवगाहका प्रकार १५ वें तथा १६ वें सूत्रमे दिया गया है। कालद्रव्य असख्याते अलग अलग हैं, इसलिए उसका प्रकार स्पष्ट है अर्थात् कहनेमे नही आया, किन्तु इसी सूत्र परसे उसका गर्भित कथन समझ लेना चाहिए।

(२) यह सूत्र यह भी बतलाता है कि धर्म द्रव्यके प्रत्येक प्रदेशका अधर्म द्रव्यके प्रत्येक प्रदेशमें व्याघात रहित (व रोक टोक) प्रवेश है और अधर्म द्रव्यके प्रत्येक प्रदेशका धर्म द्रव्यके प्रत्येक प्रदेशमें व्याघात रहित प्रवेश है। यह परस्परमें प्रवेशपना धर्म–अधर्मकी अवगाहन शक्तिके निमित्त से है।

(३) भेद–संघातपूर्वक आदि सहित जिसका सम्बन्ध है ऐसे प्रति स्थूल स्कंधमें जैसे किसीके स्थूल प्रदेश रहनेमें विरोध है और धर्मादिक द्रव्योंकि आदि मान सम्बन्ध नहीं है किंतु पारिणामिक अनादि सम्बन्ध है इसलिए परस्परमें विरोध नहीं हो सकता। जल भस्म शक्कर आदि मूर्तिक संयोगी द्रव्य भी एक क्षेत्रमें विरोध रहित रहते हैं तो फिर अमूर्तिक धर्म अधर्म और आकाशके साथ रहनेमें विरोध कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

अब पुद्गलका अवगाहन बतलाते हैं

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥१४॥

अर्थ—[पुद्गलानाम्] पुद्गल द्रव्यका अवगाह [एक प्रदेशादिषु] लोकाकाशके एक प्रदेशसे लेकर संख्यात और असंख्यात प्रदेश पर्यंत [भाज्यः] विभाग करने योग्य है—जानने योग्य है।

टीका

समस्त लोक सूक्ष्म और सूक्ष्म और बादर अनेक प्रकारके अनन्तानन्त पुद्गलोंसे अगाढ रूपसे भरा हुआ है। इसप्रकार सम्पूर्ण पुद्गलोंका अवगाहन सम्पूर्ण लोकमें है। अनन्तानन्त पुद्गल लोकाकाशमें कैसे रह सकते हैं, इसका स्पष्टीकरण इस अध्यायके १० वें सूत्रकी टीकामें किया गया है, उसे समझ लेना चाहिए।

अब जीवोंका अवगाहन बतलाते हैं

असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥१५॥

अर्थ—[**जीवानाम्**] जीवोका अवगाह [**असंख्येय भागादिषु**] लोकाकाशके असंख्यात भागसे लेकर संपूर्ण लोक क्षेत्रमें है।

टीका

जीव अपनी छोटीसे छोटी अवगाहनरूप अवस्थामे भी असंख्यात प्रदेश रोकता है। जीवोके सूक्ष्म अथवा बादर शरीर होते हैं। सूक्ष्म शरीर वाले एक निगोद जीवके अवगाहन योग्य क्षेत्रमे साधारण शरीरवाला (-निगोद) जीव अनंतानंत रहते है तो भी परस्पर बाधा नही पाते। (-सर्वार्थसिद्धि टीका) जीवोका जघन्य अवगाहन घनांगुलके असंख्यातवाँ भाग कहा है। (धवला पु ४ पृ २२, सर्वा. अ. ८ सूत्र २४ की टीका-) सूक्ष्म जीव तो समस्त लोकमे हैं। लोकाकाशका कोई प्रदेश ऐसा नही है जिसमे जीव न हो।

जीवका अवगाहन लोकके असंख्यात भागमें कैसे है ?

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥१६॥

अर्थः—[**प्रदीपवत्**] दीपकके प्रकाशकी भाँति [**प्रदेशसंहार-विसर्पाभ्यां**] प्रदेशोके संकोच और विस्तारके द्वारा जीव लोकाकाशके असंख्यातादिक भागोमे रहता है।

टीका

जैसे एक बडे मकानमें दीपक रखनेसे उसका प्रकाश समस्त मकान में फैल जाता है और उसी दीपकको एक छोटे घडेमे रखनेसे उसका प्रकाश उसीमें मर्यादित हो जाता है, उसीप्रकार जीव भी छोटे या बडे जैसे शरीरको प्राप्त होता है उसमे उतना ही विस्तृत या संकुचित होकर रह जाता है, परन्तु केवलीके प्रदेश समुद्घात—अवस्थामे सम्पूर्ण लोकाकाशमे व्याप्त हो जाते हैं और सिद्ध अवस्थामे अंतिम शरीरसे कुछ न्यून रहता है।

(२) बडेसे बडा शरीर स्वयंभूरमण समुद्रके महामत्स्यका है जो १००० योजन लम्बा है। छोटेसे छोटा शरीर (अंगुलके असंख्यातवें भाग

प्रमाण) लब्ध्यपर्याप्तक सूक्ष्म निगोदिया जीवका है, जो एक श्वासमें १८ बार जन्म लेता है तथा मरण करता है।

(३) स्वभावसे जीव अमूर्तिक है किन्तु अनादिसे कर्मके साथ एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है और इसप्रकार छोटे बड़े शरीरके साथ जीवका संबंध रहता है। शरीरके अनुसार जीवके प्रदेशोंका संकोच विस्तार होता है ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

(४) प्रश्न—धर्मादिक छहों द्रव्योंके परस्परमें प्रवेशके अनुप्रवेशम होनेसे क्या एकता प्राप्त होती है ?

उत्तर—उनके एकता प्राप्त नहीं होती। आपसमें अत्यन्त मिलाप होनेपर भी द्रव्य अपने अपने स्वभावको नहीं छोड़ते। कहा है कि— छहों द्रव्य परस्पर प्रवेश करते हैं एक दूसरेको अवकाश देते हैं और नित्य मिलाप होनेपर भी अपने स्वभावको नहीं छोड़ते। [पंचास्तिकाय गाथा ७] द्रव्य बदलकर परस्परमें एक नहीं होते क्योंकि उनमें प्रदेशसे भेद है, स्वभावसे भेद है और लक्षणसे भेद है।

(५) १२ से १६ तकके सूत्र द्रव्योंके अवगाह (स्थान देने) के संबंधमें सामान्य-विशेषात्मक अर्थात् अनेकांत स्वरूपको कहते हैं।

अब धर्म और अधर्म द्रव्यका जीव और पुद्गलके साथका विशेष सम्बन्ध बतलाते हैं

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥१७॥

अर्थः—[गतिस्थित्युपग्रहौ] स्वयमेव गमन तथा स्थितिको प्राप्त हुए जीव और पुद्गलोंके गमन तथा ठहरनेमें जो सहायक है सो [धर्माधर्मयो उपकारः] क्रमसे धर्म और अधर्म द्रव्यका उपकार है।

टीका

१ उपकार सहायकता उपग्रहका विषय १७ से २२ तकके सूत्रोंमें दिया गया है। वे भिन्न भिन्न द्रव्योंका भिन्न भिन्न प्रकारका निमित्तत्व

बतलाते हैं। उपकार, सहायकता या उपग्रहका अर्थ ऐसा नही होता कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका भला करता है, क्योंकि २० वें सूत्रमें यह बताया है कि जीवको दुःख और मरण होनेमें पुद्गल द्रव्यका उपकार है, यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि लोक व्यवहारमे जब किसीके द्वारा किसीको कोई सुविधा दी जाती है तब व्यवहार भाषामे यह कहा जाता है कि एक जीवने दूसरेका उपकार किया—भला किया; किंतु यह मात्र निमित्त सूचक भाषा है। एक द्रव्य न तो अपने गुण पर्यायको छोड सकता है और न दूसरे द्रव्यको दे सकता है। प्रत्येकके प्रदेश दूसरे द्रव्योंके प्रदेशोसे अत्यन्त भिन्न है, परमार्थसे—निश्चयसे एक दूसरेके क्षेत्रमे प्रवेश नही कर सकते, एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमे त्रिकाल अभाव है, इसलिये कोई द्रव्य दूसरे द्रव्यका वास्तवमे लाभ या हानि नही कर सकता। एक द्रव्यको अपने कारणसे लाभ या हानि हुई तब उस समय दूसरे कौन द्रव्य निमित्तरूपमे मौजूद हुए, यह बतलानेके लिए १७ से २२ वें तकके सूत्रोमे 'उपकार' शब्दका प्रयोग किया है (इस सम्बन्धमे प्रथम अध्यायके १४ वें सूत्रकी जो टीका दी गई है वह तथा इस अध्यायके २२ वें सूत्रकी टीका यहाँ देखना चाहिए।

(२) यह सूत्र धर्म और अधर्म द्रव्यका लक्षण बतलाता है।

(३) उपग्रह, निमित्त, अपेक्षा, कारण हेतु ये सभी निमित्त बताने के लिये प्रयोग किये जाते हैं। "उपकार शब्दका अर्थ भला करना नही लेना कछु कार्य को निमित्त होय तिसको उपकारो कहिये है" अर्थात् किसी कार्यमे जो निमित्त हो उसे उपकार कहते है।

(देखो प० जयचन्दजीकृत सर्वार्थसिद्धि वचनिका पृष्ठ ४३४ अर्थ-प्रकाशिका सूत्र १९ की टीका प्रथमावृत्ति पृष्ठ ३०६ और सूरतसे प्रकाशित द्वितीयावृत्ति पृष्ठ २०२)

(४) **प्रश्न**—धर्म और अधर्म द्रव्य किसीके देखनेमे नही आते, इसलिये वे हैं ही नही ?

उत्तर—सर्वज्ञ वीतरागने प्रत्यक्ष देखकर कहा है इसलिये यह कहना ठीक नही है कि धर्म और अधर्म द्रव्य किसीको दिखाई नही देते। जो नेत्रसे न देखा जाय उसका अभाव बतलाना ठीक नही है। जो इन्द्रि-

योंके द्वारा ग्रहण न किया जाय यदि उसका अभाव मानेंगे तो बहुत सी वस्तुओंका अभाव मानना पड़ेगा। जैसे अमुक पेढ़ीके बुजुर्ग, दूरवर्ती देश, भूतकालमें हुए पुरुष भविष्यमें होनेवाले पुरुष ये कोई आंखसे नहीं देखे जाते इसलिये उनका भी अभाव मानना पड़ेगा' अतः यह तर्क यथार्थ नहीं है। अमूर्तिक पदार्थोंका सम्यग्ज्ञानी छद्मस्थ अनुमान प्रमाणसे निश्चय कर सकता है और इसीलिए उसका यहाँ लक्षण कहा है।

अब आकाश और दूसरे द्रव्योंके साथका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध बताते हैं

आकाशस्यावगाहः ॥ १८ ॥

अर्थ—[अवगाहः] समस्त द्रव्योंको अवकाश-स्थान देना यह [आकाशस्य] आकाशका उपकार है।

टीका

(१) जो समस्त द्रव्योंको रहनेको स्थान देता है उसे आकाश कहते हैं। 'उपकार' शब्दका अध्याहार पहले सूत्रसे होता है।

(२) यद्यपि अवगाह गुण समस्त द्रव्योंमें है तथापि आकाशमें यह गुण सबसे बड़ा है, क्योंकि यह समस्त पदार्थोंको साधारण एक साथ अवकाश देता है। अलोकाकाशमें अवगाह हेतु है किन्तु वहाँ अवगाह लेने वाले कोई द्रव्य नहीं हैं इसमें आकाश का क्या दोष है? आकाशका अवगाह देनेका गुण इससे बिगड़ या नष्ट नहीं हो जाता क्योंकि द्रव्य अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता।

(३) प्रश्न—जीव और पुद्गल क्रियावाले हैं और क्रियापूर्वक अवगाह करनेवालोंको अवकाश देना ठीक है किन्तु यह कैसे कहते हो कि धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय और कालाणु तो क्षेत्रांतर की क्रिया रहित हैं और आकाशके साथ नित्य सबंधरूप हैं फिर भी उन्हें अवकाश दान देता है?

उत्तर—उपचारसे अवकाश दान देता है ऐसा कहा जाता है। जैसे—आकाश गति रहित है तो भी उसे सर्वगत कहा जाता है। उसीप्रकार

ऊपर कहे गये द्रव्य गति रहित है तो भी लोकाकाशमे उनकी व्याप्ति है इसलिये यह उपचार किया जाता है कि आकाश उन्हे अवकाश देता है।

(४) प्रश्न—आकाशमे अवगाहन हेतुत्व है तथापि वज्र इत्यादिसे गोले आदिका और भीत (दीवाल) आदिसे गाय आदिका रुकना क्यो होता है।

उत्तर—स्थूल पदार्थोंका ही पारस्परिक व्याघात हो ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, इसीलिये आकाशके गुणमे कोई दूषण नही आता।

अब पुद्‌गल द्रव्यका जीवके साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध बताते हैं

शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्‌गलानाम् ॥ १९ ॥

अर्थ—[शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः] शरीर, वचन, मन तथा श्वासोच्छ्‌वास ये [पुद्‌गलानाम्] पुद्‌गल द्रव्यके उपकार हैं अर्थात् शरीरादिकी रचना पुद्‌गलसे ही होती है।

टीका

(१) यहाँ 'उपकार' शब्दका अर्थ भला करना नही, किन्तु किसी कार्यमें निमित्त होय तिसको उपकारी कहिये है। (देखो १७ वें सूत्रकी टीका)

(२) शरीरमे कार्माण शरीरका समास होता है। वचन तथा मन पुद्‌गल हैं, यह पाँचवें सूत्रकी टीकामें बताया गया है। प्राणापान (श्वासोच्छ्‌वास) पुद्‌गल है।

(३) भावमन लब्धि तथा उपयोगरूप है। यह अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे जीव की अवस्था है। यह भावमन जब पौद्‌गलिक मनकी ओर झुकाव करता है तब कार्य करता है इसलिये निश्चय (परमार्थ, शुद्ध) नयसे यह जीवका स्वरूप नही है, निश्चय नयसे वह पौद्गलिक है।

(४) भाववचन भी जीव की अवस्था है। वह अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे जीवकी अवस्था है। उसके कार्यमें पुद्गलका निमित्त होता

है इसलिये निश्चय नयसे वह जीव की अवस्था नहीं है। यह निश्चय नयसे, जीवका स्वरूप नहीं है इसलिये पौद्‌गलिक है। यदि वह जीवका त्रिकाली स्वभाव हो तो वह दूर न हो किन्तु वह भावबन्धनरूप अवस्था जीवमेंसे दूर हो सकती है—अलग हो सकती है–इसी अपेक्षाको लक्ष्यमें रखकर उसे पौद्‌गलिक कहा जाता है।

(५) भावमन सम्बन्धी अध्याय २ सूत्र ११ की टीका पढ़ें। वहाँ जीवकी विशुद्धिको भावमन कहा है सो वह अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टि से कहा है ऐसा समझना।

अब पुद्‌गलका जीवके साथका निमित्त नैमित्तिक संबन्ध बताते हैं

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥

अर्थ—[सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च] इंद्रियजन्य सुख दुःख जीवन मरण ये भी पुद्‌गलके उपकार हैं।

टीका

(१) उपकार (-उपग्रह) शब्दका अर्थ किसी का भला करना नहीं किन्तु निमित्त मात्र ही समझना चाहिये नहीं तो यह नहीं कहा जा सकता कि "जीवोंको दुःख मरणादिके उपकार" पुद्‌गल द्रव्यके हैं।

(२) सूत्रमें 'च' शब्दका प्रयोग यह बतलाता है कि जैसे शरीरादिक निमित्त हैं वैसे ही पुद्‌गल कृत इंद्रियाँ भी जीवको अन्य उपकाररूप से हैं।

(३) सुख दुःखका संवेदन जीवको है, पुद्‌गल अचेतन-जड़ है उसे सुख दुःखका संवेदन नहीं हो सकता।

(४) निमित्त उपादानका कुछ कर नहीं सकता। निमित्त अपने में पूरा पूरा कार्य करता है और उपादान अपने में पूरा पूरा कार्य करता है। यह मानना कि निमित्त पर द्रव्यका वास्तवमें कुछ असर प्रभाव करता है सो दो द्रव्योंको एक माननेरूप असत् निर्णय है।

(५) प्रश्न—निमित्त उपादानका कुछ भी कर नहीं सकता तो सूई

शरीरमे घुस जानेसे जीवको दु ख क्यो होता है ?

समाधान—१. अज्ञानी जीवको शरीरमे एकत्व बुद्धि होनेसे शरीर की अवस्थाको अपनी मानता है और अपनेको प्रतिकूलता हुई ऐसा मानता है, और ऐसी ममत्व बुद्धिके कारण दु ख होता है, परन्तु सूईके प्रवेशके कारण दुःख नही हुआ है।

२. मुनिओको उपसर्ग आने पर भी निर्मोही पुरुषार्थकी वृद्धि करता है, दु खी नही होता है और।

३. केवली-तीर्थंकरोको कभी और किसी प्रकार उपसर्ग नही होता [त्रिलोक प्रज्ञप्ति भाग—१—पृ० ८ श्लो० ५६—६४]

४ ज्ञानीको निम्न भूमिकामे अल्प राग है वह शरीरके साथ एकत्व बुद्धिका राग नही है, परतु अपनी सहन शक्तिकी कमजोरीसे जितना राग हो उतना ही दु ख होता है,—सूईसे किंचित् भी दुःख होना मानता नही है।

५ विशेष ऐसा समझना चाहिये कि सूई और शरीर भिन्न भिन्न द्रव्य हैं, सूईका शरीरके परमाणुओमे प्रवेश नही हो सकता 'एक परमाणु दूसरेको परस्पर चुबन भी नही करते' तो सूईका प्रवेश शरीरमें कैसे हो सकता है ? सचमुच तो सूईका शरीरके परमाणुओमे प्रवेश नही हुआ है, दोनो की सत्ता और क्षेत्र भिन्न २ होने से, आकाश क्षेत्रमें दोनोका सयोग हुआ कहना वह व्यवहारमात्र है।

जीवका उपकार

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥

अर्थ—[जीवानाम्] जीवोके [परस्परोपग्रहः] परस्परमे उपकार हैं।

टीका

(१) एक जीव दूसरे को सुखका निमित्त, दु खका निमित्त, जीवन का निमित्त, मरणका निमित्त, सेवा सुश्रुषा आदिका निमित्त होता है।

(२) यहाँ 'उपग्रह' शब्द है। दुःख और मरणके साथ भी उसका

सम्बन्ध है, किन्तु उसका अर्थ 'भला करना' नहीं होता किन्तु निमित्तमात्र है ऐसा समझना चाहिये।

(३) बीसवें सूत्रमें कहे गये सुख दुःख जीवन, मरणके साथ इसका संबंध बतानेके लिये 'उपग्रह' शब्दका प्रयोग इस सूत्रमें किया है।

(४) जहाँ 'सहायक' शब्दका प्रयोग हुआ है वहाँ भी निमित्त मात्र अर्थ है। प्रेरक या अप्रेरक चाहे जैसा निमित्त हो किन्तु वह परमें कुछ करता नहीं है ऐसा समझना चाहिये और यह भेद निमित्तकी ओर से निमित्त के हैं किन्तु उपादानकी अपेक्षा दोनों प्रकारके निमित्त उदासीन (अप्रेरक) माना है, श्री पूज्यपादाचार्यने इष्टोपदेशकी गाथा ३४ में भी कहा है कि जो सत् कल्याणका वांछक है वह आप ही मोक्ष सुखका बतलानेवाला तथा मोक्ष सुखके उपायोंमें अपने आपको प्रवर्तन करानेवाला है इसलिये अपना (आत्माका) गुरु आप ही (आत्मा ही) है इसपर शिष्यने आक्षेप सहित प्रश्न किया कि अगर आत्मा ही आत्माका गुरु है तो गुरु शिष्यके उपकार सेवा आदि व्यर्थ ठहरेंगे" उसको आचार्य गाथा ३५ से जवाब देते हैं कि—

"नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञोनाज्ञत्व मृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥ ३५ ॥

अर्थ—अज्ञानी किसी द्वारा ज्ञानी नहीं हो सकता तथा ज्ञानी किसीके द्वारा अज्ञानी नहीं किया जा सकता अन्य सब कोई तो गति (गमन) में धर्मास्तिकायके समान निमित्तमात्र हैं अर्थात् जब जीव और पुद्गल स्वयं गति करे उस समय धर्मास्तिकायको निमित्तमात्र कारण कहा जाता है उसी प्रकार जिस समय शिष्य स्वयं अपनी योग्यतासे ज्ञानी होता है तो उस समय गुरुको निमित्तमात्र कहा जाता है उसीप्रकार जीव जिस समय मिथ्यात्व रागादिरूप परिणमता है उस समय द्रव्यकर्म और नोकर्म (-कुदेवादिको) आदिको निमित्तमात्र कहा जाता है जो कि उपचार कारण है, (-अभूतार्थ कारण है) उपादान स्वयं अपनी योग्यतासे जिस समय कार्यरूप परिणमता है तो ही उपस्थित क्षेत्र-काल-संयोग आदिमें निमित्तकारणपनेका उपचार किया जाता है अन्यथा निमित्त किसका?

ऐसा किसी को कभी नही हो सकता कि द्रव्यकी जिस समय जैसा परिण-मन करने की योग्यता हो उस समय उसके अनुकूल निमित्त न हो और उसका उसरूप परिणमन होना रुक जावे, अथवा किसी क्षेत्र, काल, संयोगकी बाट (-राह) देखनी पडे अथवा निमित्त को जुटाना पडे ऐसा निमित्त नैमित्तिक सबधका स्वरूप नही है।

उपादानके परिणमनमे सर्व प्रकारका निमित्त अप्रेरक है ऐसा समयसार नाटक सर्व विशुद्ध द्वार काव्य ६१ मे कहा है देखो इस अध्याय के सू० ३० की टीका।

अब काल द्रव्यका उपकार बतलाते हैं

वर्तनापरिणामक्रियाःपरत्वापरत्वे च कालस्य ॥२२॥

अर्थ—[**वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च**] वर्तना, परि-णाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व [**कालस्य**] काल द्रव्यके उपकार हैं।

(१) सत् अवश्य उपकार सहित होने योग्य है और काल सत्ता स्वरूप है इसलिये उसका क्या उपकार (निमित्तत्व) है सो इस सूत्रमे बताते हैं। (यहाँ भी उपकारका अर्थ निमित्तमात्र होता है।)

(२) **वर्तनाः**—सर्व द्रव्य अपने अपने उपादान कारणसे अपनी पर्यायके उत्पादरूप वर्तता है, उसमे बाह्य निमित्तकारण कालद्रव्य है इस-लिये वर्तना कालका लक्षण या उपकार कहा जाता है।

परिणाम—जो द्रव्य अपने स्वभावको छोडे बिना पर्यायरूपसे पल्टे (बदले) सो परिणाम है। धर्मादि सर्व द्रव्योंके अगुरुलघुत्व गुणके अविभाग प्रतिच्छेदरूप अनन्त परिणाम (षट्गुण हानि वृद्धि सहित) है, वह अति सूक्ष्म स्वरूप है। जीवके उपशमादि पाच भावरूप परिणाम हैं और पुद्गलके वर्णादिक परिणाम हैं तथा घटादिक अनेकरूप परिणाम हैं। द्रव्य की पर्याय—परिणतिको परिणाम कहते हैं।

क्रिया—एक क्षेत्र अन्य क्षेत्रको गमन करना क्रिया है। वह क्रिया जीव और पुद्गल दोनोके होती है, दूसरे चार द्रव्योके क्रिया नही होती।

परत्व—जिसे बहुत समय लगे उसे परत्व कहते हैं।

अपरत्व—जिसे थोड़ा समय लगे उसे अपरत्व कहते हैं।

इन सभी कार्योंका निमित्त कारण काल द्रव्य है। ये कार्य कालको बताते हैं।

(३) प्रश्न—परिणाम आदि चार भेद वर्तनाके ही हैं इसलिये एक वर्तना कहना चाहिये ?

उत्तर—काल दो तरहका है, निश्चयकाल और व्यवहारकाल। उनमें जो वर्तना है सो तो निश्चयकालका लक्षण है और जो परिणाम आदि चार भेद हैं वो व्यवहारकालके लक्षण हैं। यह दोनों प्रकारके काल इस सूत्रमें बताये हैं।

(४) व्यवहारकाल—जीव पुद्गलके परिणामसे प्रगट होता है। व्यवहारकालके तीन भेद हैं भूत भविष्यत् और वर्तमान। लोकाकाशके एक एक प्रदेशमें एक २ भिन्न भिन्न असंख्यात कालाणु द्रव्य हैं वह परमार्थ काल—निश्चयकाल है। वह कालाणु परिणति सहित रहता है।

(५) उपकारके सूत्र १७ से २२ तकका सिद्धांत

कोई द्रव्य परद्रव्यकी परिणतिरूप नहीं वर्तता स्वयं अपनी परिणतिरूप ही प्रत्येक द्रव्य वर्तता है। परद्रव्य तो बाह्य निमित्तमात्र है कोई द्रव्य दूसरे द्रव्यके क्षेत्रमें प्रवेश नहीं करता (अर्थात् निमित्त परका कुछ कर नहीं सकता) ये सूत्र निमित्त—नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाता है। धर्म अधर्म आकाश पुद्गल जीव और कालके परके साथके निमित्त सम्बन्ध बतानेवाले लक्षण यहाँ पर कहे हैं।

(६) प्रश्न—'काल वर्तानेवाला है' ऐसा कहनेसे उसमें क्रियावानपना प्राप्त होता है ? (अर्थात् काल पर द्रव्यको परिणमाता है क्या ऐसा उसका अर्थ हो जाता है ?)

उत्तर—यह दूषण नहीं आता। निमित्तमात्रमें सहकारी हेतुका कथन (व्यपदेश) किया जाता है, जैसे यह कथन किया जाता है कि जाड़ेमें

कडोकी अग्नि शिष्यको पढाती है; वहाँ शिष्य स्वयं पढता है किन्तु अग्नि (ताप) उपस्थित रहती है इसलिये उपचारसे यह कथन किया जाता है कि 'अग्नि पढाती है।' इसी तरह पदार्थोंके वर्तानेमे कालका प्रेरक हेतुत्व कहा है वह उपचारसे हेतु कहा जाता है। और अन्य पाँचो द्रव्य भी वहाँ उपस्थित हैं किन्तु उनको वर्तनामे निमित्त नही कहा जा सकता, क्योंकि उनमे उस तरहका हेतुत्व नही है।

अब पुद्गल द्रव्यका लक्षण कहते हैं

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥२३॥

अर्थः—[स्पर्श रस गंध वर्णवतः] स्पर्श, रस, गध और वर्णवाले [पुद्गलाः] पुद्गल द्रव्य हैं।

टीका

(१) सूत्रमे 'पुद्गला.' यह शब्द बहुवचनमे है, इससे यह कहा है कि बहुतसे पुद्गल हैं और प्रत्येक पुद्गलमे चार लक्षण हैं, किसीमे भी चारसे कम नही हैं, ऐसा समझाया गया है।

(२) सूत्र १९ वें, २० वें मे पुद्गलोका जीवके साथका निमित्तत्व बताया था और यहाँ पुद्गलका तद्भूत (उपादान) लक्षण बताते हैं। जीवका तद्भूत लक्षण उपयोग, अध्याय २ सूत्र आठमें बताया गया था और यहाँ पुद्गलके तद्भूत लक्षण कहे हैं।

(३) इन चार गुणोकी पर्यायोके भेद निम्नप्रकार हैं,—स्पर्श गुण की आठ पर्यायें हैं १—स्निग्ध, २—रूक्ष, ३—शीत, ४—उष्ण, ५—हल्का, ६—भारी, ७—मृदु और ८—कर्कश।

रस गुणकी दो पर्यायें हैं १—खट्टा, २—मीठा, ३—कडुवा, ४—कषायला और ५—चर्परा। इन पाँचोंमेसे परमाणुमे एक कालमे एक रस पर्याय प्रगट होती है।

गध गुणकी दो पर्यायें हैं:—१—सुगध और २—दुर्गंध। इन दोनो मेंसे एक कालमें एक गध पर्याय प्रगट होती है।

वर्ण गुणकी पाँच पर्यायें हैं—१–काला, २–नीला ३–पीला ४–लाल और ५–सफेद। इन पाँचोंमेंसे परमाणुके एक कालमें एक वर्ण पर्याय प्रगट होती है।

इस तरह चार गुणके कुल २० भेद–पर्याय हैं। प्रत्येक पर्यायके दो तीन, चारसे लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद होते हैं।

(४) कोई कहता है कि पृथ्वी जल वायु तथा अग्निके परमाणुओंमें जाति भेद है किंतु यह कथन यथार्थ नहीं है। पुद्गल सब एक जातिका है। चारों गुण प्रत्येकमें होते हैं और पृथ्वी आदि अनेकरूपसे उसका परिणाम है। पाषाण और लकड़ीरूपसे जो पृथ्वी है वह अग्निरूपसे परिणमन करती है। अग्नि काजल रासादि पृथ्वीरूपमें परिणमते हैं। चन्द्रकांत मणि पृथ्वी है उसे चन्द्रमाके सामने रखने पर वह जलरूपमें परिणमन करती है। जल मोती नमक आदि पृथ्वीरूपसे उत्पन्न होते हैं। जौ नामका अनाज (जो पृथ्वीकी जातिका है) खानेसे वायु उत्पन्न होती है क्योंकि पृथ्वी जल अग्नि और वायु पुद्गल द्रव्यके ही विकार हैं (पर्याय हैं)।

(५) प्रश्न—इस अध्यायके ५ वें सूत्रमें पुद्गलका लक्षण रूपित्व कहा है तथापि इस सूत्रमें पुद्गलका लक्षण क्यों कहा ?

उत्तर—इस अध्यायके चौथे सूत्रमें द्रव्योंकी विशेषता बतानेके लिये नित्य अवस्थित और अरूपी कहा था और उसमें पुद्गलोंको अमूर्तिकत्व प्राप्त होता था उसके निराकरणके लिए पाँचवाँ सूत्र कहा था और यह सूत्र तो पुद्गलोंका स्वरूप बतानेके लिए कहा है।

(६) इस अध्यायके पाँचवें सूत्रकी टीका यहाँ पढ़नी चाहिए।

(७) विदारणादि कारणसे जो टूट फूट होती है तथा संयोगके कारणसे मिलना होता है—उसे पुद्गलके स्वरूपको जाननेवाले सर्वज्ञदेव पुद्गल कहते हैं। (देखो तत्त्वार्थसार अध्याय ३ गाथा ५५)

(८) प्रश्न—हरा रंग मूल रंगोंके मेलसे बनता है इसलिए रंगके जो पाँच भेद बताये हैं वे मूल भेद कैसे रह सकते हैं ?

उत्तर—मूल सत्ताकी अपेक्षासे ये भेद नही कहे गये किन्तु परस्पर के स्थूल अन्तरकी अपेक्षासे कहे हैं। रसादिके सम्बन्धमे यही बात समझनी चाहिए। रगादिको नियत सख्या नही है। (तत्त्वार्थ सार पृष्ठ १५८)

अब पुद्गलकी पर्याय बतलाते हैं

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योत-वन्तश्च ॥ २४ ॥

अर्थ—उक्त लक्षणवाले पुद्गल [**शब्द बंध सौक्ष्म्य स्थौल्य संस्थान भेद तमश्छायातपोद्योतवतः च**] शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान (आकार), भेद, अघकार, छाया, आतप और उद्योतादिवाले होते हैं, अर्थात् ये भी पुद्गलकी पर्यायें हैं।

टीका

(१) इन अवस्थाओमेसे कितनी तो परमाणु और स्कध दोनोमें होती हैं और कई स्कधमें ही होती हैं।

(२) शब्द दो तरहका है—१-भाषात्मक और २-अभाषात्मक। इनमें से भाषात्मक दो तरहका है—१—अक्षरात्मक और २—अनक्षरात्मक। उनमें अक्षरात्मक भाषा सस्कृत और देशभाषारूप है। यह दोनो शास्त्रोको प्रगट करनेवाली और मनुष्यके व्यवहारका कारण है। अनक्षरात्मक भाषा दो इन्द्रियसे लेकर चार इन्द्रियवालो तथा कितनेक पंचेन्द्रिय जीवोके होती है और अतिशय रूप ज्ञानको प्रकाशित करनेकी कारण केवली भगवानकी दिव्य ध्वनि—ये सभी अनक्षरात्मक भाषा हैं। यह पुरुष निमित्तक है, इसलिए प्रायोगिक है।

अभाषात्मक शब्द भी दो भेद रूप हैं। एक प्रायोगिक दूसरा वैस्रसिक। जिस शब्दके उत्पन्न होनेमें पुरुष निमित्त हो वह प्रायोगिक है और जो पुरुष को बिना अपेक्षाके स्वभावरूप उत्पन्न हो वह वैस्रसिक है, जैसे मेघ गर्जनादि। प्रायोगिक भाषा चार तरहकी है—१—तत २—वितत ३—घन और ४—सुषिर। जो चमडेके ढोल, नगाड़े आदिसे उत्पन्न हो वह तत

है। तारवाली वीणा, सितार तम्बूरादिसे उत्पन्न होनेवाली भाषाको वितत कहते हैं। घंटा आदिके बजानेसे उत्पन्न होनेवाली भाषा घन कहलाती है और जो बाँसुरी शंखादिकसे उत्पन्न हो उसे सुषिर कहते हैं।

जो कानसे सुना जाय उसे शब्द कहते हैं। जो मुखसे उत्पन्न हो सो भाषात्मक शब्द है। जो दो वस्तुके आघातसे उत्पन्न हो उसे अभाषात्मक शब्द कहते हैं। अभाषात्मक शब्द उत्पन्न होनेमें प्राणी तथा जड़ पदार्थ दोनों निमित्त हैं। जो केवल जड़ पदार्थोंके आघातसे उत्पन्न हो उसे वैस्रसिक कहते हैं जिसके प्राणियोंका निमित्त होता है उसे प्रायोगिक कहते हैं।

मुखसे निकलनेवाला जो शब्द अक्षर पद वाक्यरूप है उसे साक्षर भाषात्मक कहते हैं उसे वर्णात्मक भी कहते हैं।

तीर्थंकर भगवानके सर्व प्रदेशोंसे जो निरक्षर ध्वनि निकलती है उसे अनक्षर भाषात्मक कहा जाता है—ध्वन्यात्मक भी कहा जाता है।

बंध दो तरहका है—१–वैस्रसिक और दूसरा प्रायोगिक। पुरुष की अपेक्षासे रहित जो बंध होता है उसे वैस्रसिक कहते हैं। यह वैस्रसिक दो तरहका है १–आदिमान २–अनादिमान। उसमें स्निग्ध रूक्षादि के कारण से जो बिजली उल्कापात बादल आग, इन्द्रधनुष आदि होते हैं उसे आदिमान वस्रसिक-बंध कहते हैं। पुद्गलका अनादिमान बंध महास्कंध आदि हैं। (अमूर्तिक पदार्थोंमें भी वैस्रसिक अनादिमान बंध उपचारसे कहा जाता है। यह धर्म अधर्म तथा आकाशका है एवं अमूर्तिक और मूर्तिक पदार्थका अनादिमान बंध–धर्म अधर्म, आकाश और जगद्व्यापी महास्कंधका है)

जो पुरुषकी अपेक्षा सहित हो वह प्रायोगिक बंध है। उसके दो भेद हैं—१–अजीव विषय २–जीवाजीव विषय। लाखका लकड़ीका जो बंध है सो अजीव विषयक प्रायोगिक बंध है। जीवके जो कर्म और नोकर्म बंध है सो जीवाजीव विषयक प्रायोगिक बंध है।

सूक्ष्म—दो तरह का है—१–अंत्य २–आपेक्षिक। परमाणु अंत्य सूक्ष्म है। आंवलेसे बेर सूक्ष्म है, वह आपेक्षिक सूक्ष्म है।

स्थूल—दो तरहका है (१) अन्त्य, (२) आपेक्षिक । जो जगद्-व्यापी महास्कध है सो अन्त्य स्थूल है, उससे बडा दूसरा कोई स्कंध नही है । 'बेर' आँवला आदि आपेक्षिक स्थूल हैं ।

संस्थान—आकृतिको सस्थान कहते हैं उसके दो भेद हैं (१) इत्थ लक्षण सस्थान और (२) अनित्थलक्षण सस्थान । उसमे गोल, त्रिकोण, चौरस, लम्बा, चौडा, परिमडल ये इत्थलक्षण सस्थान है । बादल आदि जिसकी कोई आकृति नही वह अनित्थलक्षण सस्थान है ।

भेद—छह तरहका है । (१) उत्कर, (२) चूर्ण, (३) खड, (४) चूर्णिका, (५) प्रतर और (६) अनुचटन । आरे आदिसे लकडी आदिका विदारण करना सो उत्कर है । जौ, गेहूँ, बाजरा आदिका आटा चूर्ण है । घडे आदिके टुकडे खण्ड हैं । उडद, मूग, चना, चोला आदि दालको चूर्णिका कहते हैं । तप्त्यमान लोहेको घन इत्यादिसे पीटने पर जो स्फुलिंग (चिन्गारियाँ) निकलते हैं उसे अनुचटन कहते हैं ।

अन्धकार—जो प्रकाशका विरोधी है सो अन्धकार है ।

छाया—प्रकाश (उजेले) को ढकनेवाली छाया है । वह दो प्रकारकी है (१) तद्वर्णपरिणति (२) प्रतिबिम्बस्वरूप । रगीन कांचमेसे देखनेपर जैसा कांचका रग हो वैसा ही दिखाई देता है यह तद्वर्णपरिणति कहलाती है । और दर्पण, फोटो आदिमे जो प्रतिबिंब देखा जाता उसे प्रतिबिम्ब स्वरूप कहते हैं ।

आतप—सूर्य विमानके द्वारा जो उत्तम प्रकाश होता है उसे आतप कहते हैं ।

उद्योत—चन्द्रमा, चन्द्रकान्त मणि, दीपक आदिके प्रकाशको उद्योत कहते हैं ।

सूत्रमे जो 'च' शब्द कहा है उसके द्वारा प्रेरणा, अभिघात (मारना) आदि जो पुद्गलके विकार हैं उनका समावेश किया गया है ।

उपरोक्त भेदोंमें 'सूक्ष्म' तथा 'संस्थान' (ये दो भेद) परमाणु और स्कंध दोनोंमें होते हैं और अन्य सब स्कंधके प्रकार हैं।

(३) दूसरी तरहसे पुद्गलके छह भेद हैं १—सूक्ष्म सूक्ष्म, २—सूक्ष्म ३—सूक्ष्मस्थूल, ४—स्थूलसूक्ष्म ५—स्थूल और ६—स्थूलस्थूल।

१—सूक्ष्म-सूक्ष्म—परमाणु सूक्ष्म-सूक्ष्म है।

२—सूक्ष्म—कार्माणवर्गणा सूक्ष्म है।

३—सूक्ष्म-स्थूल स्पर्श रस गंध और शब्द ये सूक्ष्मस्थूल हैं। क्योंकि ये आँखसे दिखाई नहीं देते इसलिये सूक्ष्म हैं और चार इन्द्रियोंसे जाने जाते हैं इसलिये स्थूल हैं।

४—स्थूल-सूक्ष्म—छाया परछाँई, प्रकाश आदि स्थूलसूक्ष्म हैं क्योंकि वह आँखसे दिखाई देती है इसलिये स्थूल है और उसे हाथसे पकड़ नहीं सकते इसलिये सूक्ष्म हैं।

५—स्थूल—जल तेल आदि सब स्थूल हैं क्योंकि छेदन, भेदनसे वे अलग हो जाते हैं और इकट्ठे करनेसे मिल जाते हैं।

६—स्थूल-स्थूल—पृथ्वी पर्वत काष्ठ आदि स्थूल-स्थूल हैं वे पृथक् करनेसे पृथक् तो हो जाते हैं किन्तु फिर मिल नहीं सकते।

परमाणु इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है तो इन्द्रिय ग्राह्य होनेकी उसमें योग्यता है। इसीतरह सूक्ष्म स्कंधको भी समझना चाहिये।

(४) शब्दको आकाशका गुण मानना भूल है, क्योंकि आकाश अमूर्तिक है और शब्द मूर्तिक है इसलिये शब्द आकाशका गुण नहीं हो सकता। शब्दका मूर्तिकत्व साक्षात् है क्योंकि शब्द कर्ण इन्द्रियसे ग्रहण होता है, हस्तादिसे तथा दीवाल आदिसे रोका जाता है और हवा आदि मूर्तिक वस्तुसे उसका तिरस्कार होता है दूर जाता है। शब्द पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है इसलिये मूर्तिक है। यह प्रमाणसिद्ध है। पुद्गलस्कंधके परस्पर भिड़नेसे—टकरानेसे शब्द प्रगट होता है॥ २४॥

अब पुद्‌गलके भेद बतलाते हैं

अणवः स्कन्धाश्च ॥ २५ ॥

अर्थ—पुद्गल द्रव्य [अणवः स्कन्धाः च] अणु और स्कंध के भेदसे दो प्रकारके हैं।

टीका

(१) अणु—जिसका विभाग न हो सके ऐसे पुद्‌गलको अणु कहते हैं। पुद्‌गल मूल (Simple) द्रव्य है।

स्कंध—दो तीन से लेकर संख्यात, असख्यात और अनन्त परमाणुओके पिण्डको स्कंध कहते हैं।

(२) स्कध पुद्‌गल द्रव्यकी विशेषता है। स्पर्श गुणके कारणसे वे स्कंधरूपसे परिणमते हैं। स्कधरूप कब होता है यह इस अध्यायके २६, ३३, ३६ और ३७ वें सूत्रमें कहा है और वह कब स्कधरूपमे नही होता यह सूत्र ३४ व ३५ मे बताया है।

(३) ऐसी विशेषता अन्य किसी द्रव्यमे नही है, क्योकि दूसरे द्रव्य अमूर्तिक हैं। यह सूत्र मिलापके सबधमे द्रव्योका अनेकान्तत्व बतलाता है।

(४) परमाणु स्वय ही मध्य और स्वय ही अत है, क्योकि वह एक प्रदेशी और अविभागी है ॥ २५ ॥

अब स्कंधोंकी उत्पत्तिका कारण बतलाते हैं

भेदसंघातेभ्यः उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥

अर्थ—परमाणुओंके [भेदसघातेभ्यः] भेद (अलग होनेसे) सघात (मिलने से) अथवा भेद सघात दोनो से [उत्पद्यन्ते] पुद्‌गल स्कधोकी उत्पत्ति होती है।

टीका

(१) पिछले सूत्रोमे (पूर्वोक्त सूत्रोमें) पुद्गलद्रव्यकी विशिष्टता बत-

जाते हुए अणु और स्कंध ये दो भेद बताए; तब प्रश्न यह उठता है कि स्कंधोंकी उत्पत्ति किस तरह होती है? उसके स्पष्टरूपसे तीन कारण बतलाए हैं। सूत्रमें द्विवचनका प्रयोग न करते हुए बहुवचन (संघातेभ्य') प्रयोग किया है, इससे भेद-संघातका तीसरा प्रकार व्यक्त होता है।

(२) दृष्टान्त—१०० परमाणुओंका स्कंध है उसमेंसे दस परमाणु अलग हो जानेसे ९० परमाणुओंका स्कंध बना' यह भेदका दृष्टान्त है। उसमें (सौ परमाणुके स्कंधमें) दस परमाणुओंके मिलनेसे एक सौ दस परमाणुओंका स्कंध हुआ' यह संघातका दृष्टान्त है। उसीमें ही एक साथ दस परमाणुओंके अलग होने और पन्द्रह परमाणुओंके मिल जानेसे एक सौ पाँच परमाणुओंका स्कंध हुआ, यह भेद संघातका उदाहरण है॥२६॥

अब अणुकी उत्पत्तिका कारण बतलाते हैं

भेदादणु ॥ २७ ॥

अर्थ—[अणु] अणुकी उत्पत्ति [भेदात्] भेदसे होती है॥२७॥

दिखाई देने योग्य स्थूल स्कन्धकी उत्पत्तिका कारण बतलाते हैं

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुष ॥ २८ ॥

अर्थ—[चाक्षुष] चक्षुइन्द्रियसे देखनेयोग्य स्कंध [भेदसंघाताभ्याम्] भेद और संघात दोनोंके एकत्र रूप होनेसे उत्पन्न होता है, अकेले भेद से नहीं।

टीका

(१) प्रश्न—जो चक्षुइन्द्रियके गोचर न हो ऐसा स्कंध चक्षुगोचर कैसे होता है?

उत्तर—जिस समय सूक्ष्म स्कंधका भेद हो उसी समय चक्षुइंद्रिय गोचर स्कंधमें वह संघातरूप हो तो वह चक्षुगोचर हो जाता है। सूत्रमें 'चाक्षुष' शब्दका प्रयोग किया है उसका अर्थ चक्षु इंद्रियगोचर होता है। चक्षुइंद्रियगोचर स्कंध अकेले भेदसे या अकेले संघातसे नहीं होता।

(देखो राजवार्तिक सूत्र २८ की टीका, पृष्ठ ३९१, अर्थ प्रकाशिका पृष्ठ २१०)

(2) Marsh-gas treated with chlorine gives Methyl Chloride and Hydrochloric acid the formula is:—
CH 4 + cl2 = CH3 cl + H + cl.

अर्थ—सडे पानीमे उत्पन्न गैसको 'मार्श गैस' कहते हैं। उसकी गंध नही आती, रग भी मालूम नही होता, किन्तु वह जल सकता है। उसे एक क्लोरीन नामक गैस जो हरिताभ पीले रंगका है उसके साथ मिलाने पर वह नेत्र इन्द्रियसे दिखाई देनेवाला एक तीसरा एसिड पदार्थ होता है, उसे मैथील क्लोराइड हाइड्रोक्लोरिक एसिड कहते हैं। (इंग्लिश तत्त्वार्थसूत्रके इस सूत्रके नीचेकी टीका)

(३) ओक्सीजन और हाइड्रोजन दो वायु हैं, दोनो नेत्र इन्द्रियसे अगोचर स्कध हैं। दोनोके मिलाप होनेपर नेत्र इन्द्रिय गोचर जल हो जाता है। इसलिये नेत्रइन्द्रियगोचर स्कध होनेके लिए जिसमे मिलाप हो वह नेत्रइन्द्रियगोचर होना ही चाहिये ऐसा नियम नही है और सूत्रमे भी नेत्रइन्द्रियगोचर स्कंध चाहिए ही ऐसा कथन नही है। सूत्रमे सामान्य कथन है ॥ २८ ॥

इसतरह छहों द्रव्योंके विशेष लक्षणोंका कथन किया जा चुका।
अब द्रव्योंका सामान्य लक्षण कहते हैं

सद्द्रव्य लक्षणम् ॥ २९ ॥

अर्थः—[द्रव्यलक्षणम्] द्रव्यका लक्षण [सत] सत् (अस्तित्व) है।

टीका

(१) वस्तु स्वरूपके बतलानेवाले ५ महासूत्र इस अध्यायमें दिए गए हैं। वे २९-३०-३२-३८ और ४२ वें सूत्र हैं। उनमें भी यह सूत्र मूलनीवरूप है, क्योंकि किसी भी वस्तुके विचार करनेके लिए सबसे पहले यह

निश्चय होना चाहिये कि यह वस्तु है या नहीं। इसलिये जगत्‌में जो जो वस्तु हो वह सत्‌रूपसे होनी ही चाहिये। जो वस्तु है उसीका विशेष विचार किया जाता है।

(२) इस सूत्रमें 'द्रव्य' शब्दका प्रयोग किया है, वह ऐसा भी बत लाता है कि उसमें द्रव्यत्व गुण है 'कि जिस शक्तिके कारण द्रव्य सदा एक रूपसे न रहने पर उसकी अवस्था (-पर्याय) हमेशा बदलती रहती है।

(३) अब प्रश्न यह उठता है कि जब कि द्रव्य हमेशा अपनी पर्याय बदलता है तब क्या वह द्रव्य बदलकर दूसरे द्रव्यरूप हो जाता है? इस प्रश्नका उत्तर इस सूत्रमें प्रयोग किया गया सत्' शब्द देता है 'सत्' शब्द बतलाता है कि द्रव्यमें अस्तित्व गुण है और इस शक्तिके कारण द्रव्यका कभी नाश नहीं होता।

(४) इससे यह सिद्ध हुआ कि द्रव्यकी पर्याय समय समय पर बदलती है तो भी द्रव्य त्रिकाल कायम (मौजूद) रहता है। यह सिद्धान्त सूत्र ३० और ३८ में दिया गया है।

(५) जिसके है' पन (अस्तित्व) हो वह द्रव्य है। इसतरह अस्तित्व' गुणके द्वारा द्रव्यकी रचना की जा सकती है। इसलिए इस सूत्रमें द्रव्यका लक्षण 'सत्' कहा है। यह सूत्र बतलाता है कि जिसका अस्तित्व हो वह द्रव्य है।

(६) अब यह सिद्ध हुआ कि 'सत् लक्षण द्वारा द्रव्य पहचाना जा सकता है। उपरोक्त कथनसे दो सिद्धांत निकले कि द्रव्यमें प्रमेयत्व (ज्ञानमें ज्ञात होने योग्य—Knowable) गुण है और वह द्रव्य स्वयं स्व को जाननेवाला हो अथवा दूसरे द्रव्य उसे जाननेवाला हो। यदि ऐसा न हो तो निश्चित ही नहीं होता कि 'द्रव्य' है। इसलिये यह भी सिद्ध होता है कि द्रव्यमें प्रमेयत्व' गुण है और द्रव्य या तो जाननेवाला (चेतन) अथवा नहीं जाननेवाला (अचेतन) है। जाननेवाला द्रव्य 'जीव' है और नहीं जाननेवाला अजीव है।

(७) प्रत्येक द्रव्य अपनी प्रयोजनभूत अर्थक्रिया (Functionality) करता ही है। यदि द्रव्य अर्थ क्रिया न करे तो वह कार्य रहित हो

जाय अर्थात् व्यर्थ हो जाय किन्तु व्यर्थका (अपने कार्य रहित)कोई द्रव्य होता ही नही। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक द्रव्यमे 'वस्तुत्व' नामका गुण है।

(८) और वस्तुत्व गुणके कारण जो स्वयं अपनी क्रिया करे वही वस्तु कही जाती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ कर नही सकता।

(९) पुनरपि जो द्रव्य है उसका 'द्रव्यत्व'—'गुणत्व' जिस रूपमे हो वैसा कायम रहकर परिणमन करता है किन्तु दूसरेमें प्रवेश नही कर सकता, इस गुणको 'अगुरुलघुत्व' गुण कहते हैं। इसी शक्तिके कारण द्रव्य का द्रव्यत्व रहता है और एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणमित नही होता, और एक गुण दूसरे गुणरूप परिणमित नही होता, तथा एक द्रव्यके अनेक (अनन्त) गुण विखर कर अलग अलग नही हो जाते।

(१०) इस तरह प्रत्येक द्रव्यमें सामान्य गुण बहुत से होते हैं किंतु मुख्य रूपसे छह सामान्य गुण हैं १-अस्तित्व (जो इस सूत्रमे 'सत्' शब्द के द्वारा स्पष्ट रूपसे बतलाया है), २-वस्तुत्व ३-द्रव्यत्व ४-प्रमेयत्व ५-अगुरुलघुत्व और ६-प्रदेशत्व।

(११) प्रदेशत्व गुणकी ऐसी व्याख्या है कि जिस शक्ति के कारण द्रव्यका कोई न कोई आकार अवश्य हो।

(१२) इन प्रत्येक सामान्य गुणोमे 'सत्' (अस्तित्व) मुख्य है क्योकि उसके द्वारा द्रव्यका अस्तित्व (होने रूप—सत्ता) निश्चित होता है। यदि द्रव्य हो तो ही दूसरे गुण हो सकते हैं, इसलिये यहाँ 'सत्' को द्रव्यका लक्षण कहा है।

(१३) प्रत्येक द्रव्यके विशेष लक्षण पहले कहे जा चुके हैं वे निम्न प्रकार हैं—(१) जीव—अध्याय २, सूत्र १ तथा ८ (२) अजीवके पाँच भेदोमेसे पुद्गल अध्याय ५ सूत्र २३। धर्म और अधर्म—अध्याय ५ सूत्र १७ आकाश—अध्याय ५, सूत्र १८ और काल—अध्याय ५ सूत्र २२।

जीव तथा पुद्गलकी विकारी अवस्थाका निमित्त नैमित्तिक सबंध इस अध्यायके सूत्र १९, २०, २१, २४, २५, २६, २७, २८, ३२, ३५,

३६, ३८ में दिया है, उनमें जीवका एक दूसरेका सम्बन्ध सूत्र २०-में बताया। जीवका पुद्गलके साथका सम्बन्ध सूत्र १९, २० में बताया और पुद्गलका परस्परका सम्बन्ध बाकीके सूत्रोंमें बताया गया है।

(१४) सत् लक्षण कहनेसे यह सिद्ध हुआ कि स्व की अपेक्षासे 'द्रव्य सत्' है। इसका यह अर्थ हुआ कि वह स्वरूपसे है पर रूपसे नहीं। अस्तित्व' प्रगट रूपसे और नास्तित्व' गर्भित रूपसे (इस सूत्रमें) कहकर यह बतलाया है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं स्वसे है और पर रूपसे न होनेसे एक द्रव्य अपना सब कुछ कर सकता है किंतु दूसरे द्रव्यका कभी कुछ नहीं कर सकता। इस सिद्धान्तका नाम अनेकांत' है और वह इस अध्यायके ३२ वें सूत्रमें बतलाया गया है ॥ २९ ॥

अब सत्का लक्षण बताते हैं

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत् ॥३०॥

अर्थ—[उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त] जो उत्पाद-व्यय ध्रौव्य सहित हो [सत्] सो सत् है।

टीका

(१) जगत्में सत्के संबंधमें कई असत् मान्यतायें चल रहीं हैं। कोई सत्' को सर्वथा कूटस्थ—जो कभी न बदले ऐसा मानते हैं कोई ऐसा कहते हैं कि सत् ज्ञान गोचर नहीं है, इसलिए सत्' का यथार्थ त्रिकाली अबाधित स्वरूप इस सूत्रमें कहा है।

(२) प्रत्येक वस्तुका स्वरूप स्थायी रहते हुये बदलता है' उसे इंग्लिशमें Permanancy with a change (बदलनेके साथ स्थायित्व) कहा है। उसे दूसरी तरह यों भी कहते हैं कि—No substance is destr oyed every substance changes its form (कोई वस्तु नाश नहीं होती प्रत्येक वस्तु अपनी अवस्था बदलती है)।

(३) उत्पाद्—चेतन अथवा अचेतन द्रव्यमें नवीन अवस्थाका प्रगट होना सो उत्पाद है। प्रत्येक उत्पाद होने पर पूर्वकालसे चला आया जो स्वभाव या स्वजाति है वह कभी छूट नहीं सकती।

व्यय—स्वजाति यानी मूल स्वभावके नष्ट हुए बिना जो चेतन तथा अचेतन द्रव्यमे पूर्व अवस्थाका विनाश (उत्पादके समय ही) होना सो व्यय है।

ध्रौव्य—अनादि अनन्तकाल तक सदा बना रहनेवाला मूल स्वभाव जिसका व्यय या उत्पाद नही होता उसे ध्रौव्य कहते हैं (देखो तत्त्वार्थसार अध्याय ३ गाथा ६ से ८)

(४) सर्वार्थसिद्धिमे ध्रौव्यकी व्याख्या इस सूत्र की टीकामे पृष्ठ १०५ मे सास्कृतमे निम्नप्रकार दी है:—

"अनादिपारिणामिकस्वभावेन व्ययोदयाभावात्ध्रुवति स्थिरीभवतीति ध्रुवः ।"

अर्थः—जो अनादि पारिणामिक स्वभावके द्वारा व्यय तथा उत्पाद के अभावसे ध्रुव रहता है—स्थिर रहता है वह ध्रुव है।

(५) इस सूत्रमें 'सत्' का अनेकांत रूप बतलाया है। यद्यपि त्रिकालापेक्षासे सत् 'ध्रुव' है तो भी समय समय पर नवीन पर्याय उत्पन्न होती है और पुरानी पर्याय नष्ट होती है अर्थात् द्रव्यमें समा जाती है, वर्तमान काल की अपेक्षासे अभावरूप होता है—इस तरह कथचित् नित्यत्व और कथचित् अनित्यत्व द्रव्यका अनेकातपन है।

(६) इस सूत्रमे पर्यायका भी अनेकातपन बतलाया है। जो उत्पाद है सो अस्तिरूप पर्याय है और जो व्यय है सो नास्तिरूप पर्याय है। स्वकी पर्याय स्वसे होती है परसे नही होती ऐसा 'उत्पाद' से बताया। स्व पर्यायकी नास्ति—अभाव भी स्वसे ही होता है, परसे नही होता। "प्रत्येक द्रव्यका उत्पाद व्यय स्वतन्त्र उस द्रव्यसे है" ऐसा बताकर द्रव्य, गुण तथा पर्यायकी स्वतन्त्रता बतलाई—परका असहायकपन बतलाया।

(७) धर्म (शुद्धता) आत्मामे द्रव्यरूपसे त्रिकाल भरपूर है, अनादिसे जीवके पर्याय रूपमे धर्म प्रगट नही हुआ, किंतु जीव जब पर्याय मे धर्म व्यक्त करे तब व्यक्त होता है, ऐसा उत्पाद शब्दका प्रयोग बताया और उसी समय विकारका व्यय होता है ऐसा व्यय शब्दको कहकर बताया।

उस अविकारी भावके प्रगट होने और विकारीभावके व्ययका लाभ विकास मौजूद रहनेवाले ऐसे ध्रुव द्रव्यके प्राप्त होता है ऐसा ध्रौव्य शब्द अन्तमें देकर बतलाया है।

(८) प्रश्न—"युक्तं" शब्द एक पदार्थसे दूसरे पदार्थका पृथक्त्व बतलाता है—जैसे—दण्ड युक्त दण्डी। ऐसा होनेसे उत्पाद व्यय और ध्रौव्य का द्रव्यसे भिन्न होना समझा जाता है अर्थात् द्रव्यके उत्पाद व्यय और ध्रौव्यका द्रव्यमें अभावका प्रसंग आता है उसका क्या स्पष्टीकरण है ?

उत्तर—'युक्त' शब्द जहाँ अभेदकी अपेक्षा हो वहाँ भी प्रयोग किया जाता है जैसे—सार युक्त स्तंभ। यहाँ युक्त शब्द अभेदनयसे कहा है। यहाँ युक्त शब्द एकमेकतारूप अर्थमें समझना।

(९) सत् स्वतंत्र और स्व सहायक है अतः उत्पाद और व्यय भी प्रत्येक द्रव्यमें स्वतन्त्ररूपसे होते हैं। श्री कुन्दकुन्दाचार्यने प्र० सार गा० १०७ में पर्यायको भी सत्पना कहा है— सद्द्रव्यं सच्च गुणः सच्चैव च पर्याय इति विस्तारः।"

प्रश्न—जीवमें होनेवाली विकारी पर्याय पराधीन कही जाती है इसका क्या कारण है ?

उत्तर—पर्याय भी एक समय स्थायी अनित्य सत् होनेसे विकारी पर्याय भी जीव जब स्वतन्त्ररूपसे अपने पुरुषार्थके द्वारा करे तब होती है। यदि वैसा न माना जाय तो द्रव्यका लक्षण 'सत्' सिद्ध न हो और इस लिए द्रव्यका नाश हो जाय। जीव स्वयं स्वतंत्ररूपसे अपने भावमें परके आधीन होता है इसलिए विकारी पर्यायको पराधीन कहा जाता है। किन्तु ऐसा मानना न्याय संगत नहीं है कि 'परद्रव्य जीवको आधीन करता है इसलिये विकारी पर्याय होती है।

प्रश्न—क्या यह मान्यता ठीक है कि 'जब द्रव्य कर्मका बल होता है तब कर्म जीवको आधीन कर लेते हैं क्योंकि कर्ममें महान शक्ति है ?

उत्तर—नहीं ऐसा नहीं है। प्रत्येक द्रव्यका प्रभाव और शक्ति

उसके क्षेत्रमें रहती है। जीवमे कर्मकी शक्ति नही जा सकती इसलिए कर्म जीवको कभी भी आधीन नही कर सकता। यह नियम श्रीसमयसार नाटकमे दिया गया है वह उपयोगी होनेसे यहाँ दिया जाता है:—

१—अज्ञानियोके विचारमें रागद्वेषका कारण:—

-दोहा-

कोई मूरख यो कहै, राग द्वेष परिणाम।
पुद्गलकी जोरावरी, वरतै आतमराम ॥६२॥
ज्यो ज्यो पुद्गल वल करे धरि धरि कर्मज भेष।
रागदोषको परिणमन, त्यौ त्यौ होइ विशेष ॥६३॥

अर्थः—कोई कोई मूर्ख ऐसा कहते हैं कि आत्मामे राग-द्वेष भाव पुद्गलकी जबरदस्तीमे होता है ॥६२॥ पुद्गल कर्मरूप परिणमनके उदय में जितना जितना वल करता है उतनी उतनी बाहुल्यतासे राग-द्वेष परिणाम होते है ॥६३॥

—अज्ञानीको सत्य मार्गका उपदेश—

—दोहा—

इहि विध जो विपरीत पख, गहै सद्दहै कोइ।
सो नर राग विरोध सो, कबहूँ भिन्न न होइ ॥६४॥
सुगुरु कहैं जगमे रहै, पुद्गल सग सदीव।
सहज शुद्ध परिणमनिको, औसर लहै न जीव ॥६५॥
तातै चिद्भावनि विषै, समरथ चेतन राउ।
राग विरोध मिथ्यातमे, समकितमें सिव भाउ ॥६६॥

(देखो समयसार नाटक पृष्ठ ३५३)

अर्थः—ऊपर जो रीति कही है वह तो विपरीत पक्ष है। जो कोई उसे ग्रहण करता है या श्रद्धान करता है उस जीवके राग द्वेष और मोह कभी पृथक होते ही नही। श्री गुरु कहते हैं कि जीवके पुद्गलका साथ सदा (अनादिका) रहता है तो फिर सहज शुद्ध परिणमनका अवसर जीवको कभी मिले-ही नही। इसलिये चैतन्यका भाव करनेमें चेतन राजा ही समर्थ

है, वह मिथ्यात्वदशामें स्व से राग द्वेषरूप होता है और सम्यक्त्वदशामें—शिव भाव अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप होता है।

२—जीवको कर्मका उदय कुछ असर नहीं कर सकता अर्थात् निमित्त उपादानको कुछ कर नहीं सकता। इन्द्रियोंके भोग, लक्ष्मी सगे सम्बन्धी या मकान आदिके सम्बन्धमें भी यही नियम है। यह नियम श्री समयसार नाटकके सर्वविशुद्धि द्वारमें निम्नरूपसे दिया है—

—सवैया—

कोऊ शिष्य कहै स्वामी राग रोष परिनाम
ताको मूल प्रेरक कहहु तुम कौन है ?
पुद्गल करम जोग किधौं इन्द्रिनिको भोग
किधौं धन किधौं परिजन किधौं भौन है॥
गुरु कहैं छहों दर्व अपने अपने रूप
सबनिको सदा असहाई परिनौन है।
कोउ दरब काहुको न प्रेरक कदापि तातैं,
राग दोष मोह मृषा मदिरा अचौन है॥६१॥

अर्थ—शिष्य कहता है—हे स्वामी! राग द्वेष परिणामका मूल प्रेरक कौन है सो आप कहो पुद्गल कर्म या इन्द्रियोंके भोग या धन या घरके मनुष्य या मकान? श्री गुरु समाधान करते हैं कि छहों द्रव्य अपने अपने स्वरूपमें सदा असहाय परिणमते हैं। कोई द्रव्य किसी द्रव्यका कभी भी प्रेरक नहीं है। राग द्वेषका कारण मिथ्यात्वरूपी मदिराका पान है।

(१०) पंचाध्यायी अ० १ गा० ८९ में भी वस्तुकी हरएक अवस्था (-पर्याय भी) 'स्वतः सिद्ध' एवं 'स्वसहाय' है ऐसा कहा है—

यस्त्वस्ति स्वतः सिद्धं यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि।
तस्मादुत्पादस्थिति भंगमयं तत् सदेतदिह नियमात्॥ ८९॥

अर्थ—जैसे वस्तु स्वतः सिद्ध है वैसे ही वह स्वतः परिणमन शील भी है इसलिये यहाँ पर यह सत् नियमसे उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वरूप है। इसप्रकार किसी भी वस्तुकी कोई भी अवस्था किसी भी

समय, परके द्वारा नही की जा सकती, वस्तु सदा स्वतः परिणमनशील होनेसे अपनी पर्याय यानी अपने हरएक गुणके वर्तमान (अवस्था विशेष) का वह स्वय ही स्रष्टा-रचयिता है ॥ ३० ॥

अब नित्यका लक्षण कहते हैं

तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—[तद्भावाव्ययं] तद्भावसे जो अव्यय है-नाश नहीं होना सो [नित्यम्] नित्य है।

टीका

(१) जो पहले समयमे हो वही दूसरे समयमे हो उसे तद्भाव कहते हैं, वह नित्य होता है—अव्यय=अविनाशी होता है।

(२) इस अध्यायके चौथे सूत्रमे कहा है कि द्रव्यका स्वरूप नित्य है। उसकी व्याख्या इस सूत्रमे दी गई है।

(३) प्रत्यभिज्ञानके हेतु को तद्भाव कहते हैं। जैसे कि द्रव्यको पहले समयमें देखनेके बाद दूसरे आदि समयोमे देखनेसे "यह वही है जिसे मैंने पहले देखा था" ऐसा जो जोडरूपज्ञान है वह द्रव्यका द्रव्यत्व बतलाता है, परन्तु यह नित्यता कथचित् है क्योंकि यह सामान्य स्वरूप की अपेक्षासे होती है। पर्यायकी अपेक्षासे द्रव्य अनित्य है। इसतरह जगत मे समस्त द्रव्य नित्यानित्यरूप हैं। यह प्रमाण दृष्ट है।

(४) आत्मामें सर्वथा नित्यता मानने से मनुष्य, नरकादिकरूप ससार तथा ससारसे अत्यन्त छूटनेरूप मोक्ष नही बन सकता। सर्वथा नित्यता माननेसे ससार स्वरूपका वर्णन और मोक्ष-उपायका कथन करने मे विरोधता आती है, इसलिये सर्वथा नित्य मानना न्याय सगत नही है ॥ ३१ ॥

एक वस्तुमें दो विरुद्ध धर्म सिद्ध करने की रीति बतलाते हैं

अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥ ३२ ॥

अर्थ—[अर्पितानर्पितसिद्धेः] प्रधानता और गौणतासे पदार्थों की सिद्धि होती है।

टीका

(१) प्रत्येक वस्तु अनेकान्त स्वरूप है यह सिद्धान्त इस सूत्रमें स्याद्वाद द्वारा कहा है। नित्यता और अनित्यता परस्पर विरोधी धर्म हैं, तथापि वे वस्तुको वस्तुपनमें निष्पन्न (सिद्ध) करनेवाले हैं इसीलिये वे प्रत्येक द्रव्यमें होते ही हैं। उनका कथन मुख्य गौणरूपसे होता है क्योंकि सभी धर्म एक साथ नहीं कहे जा सकते। जिस समय जिस धर्मको सिद्ध करना हो उस समय उसकी मुख्यता की जाती है। उस मुख्यता–प्रधानता को 'अर्पित' कहा जाता है और उस समय जिस धर्मको गौण रखा हो उसे अनर्पित कहा जाता है। ज्ञानी पुरुष जानता है कि अनर्पित किया हुआ धर्म यद्यपि उस समय कहनेमें नहीं आया तो भी वह धर्म रहते ही हैं।

(२) जिस समय द्रव्यको द्रव्यकी अपेक्षासे नित्य कहा है उसी समय वह पर्यायकी अपेक्षासे अनित्य है। सिर्फ उस समय 'अनित्यता' कही नहीं गई किन्तु गर्भित रखी है। इसी प्रकार जब पर्यायकी अपेक्षासे द्रव्यको अनित्य कहा है उसी समय वह द्रव्यकी अपेक्षासे नित्य है सिर्फ उस समय नित्यता कही नहीं है क्योंकि दोनों धर्म एक साथ कहे नहीं जा सकते।

(३) अर्पित और अनर्पित के द्वारा अनेकान्त स्वरूप का कथन—

अनेकान्त की व्याख्या निम्न प्रमाण है—

"एक वस्तुमें वस्तुत्वकी निष्पादक परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोंका एक ही साथ प्रकाशित होना सो अनेकान्त है। जैसे कि जो वस्तु सत् है वही असत् है अर्थात् जो अस्ति है वही नास्ति है जो एक है वही अनेक है जो नित्य है वही अनित्य है इत्यादि। (स० सार सर्व विशुद्धिज्ञाना धिकार पृ २६५)

अर्पित और अनर्पितका स्वरूप समझनेके लिये यहाँ कितने ही

दृष्टान्तोकी जरूरत है, वे नीचे दिये जाते हैं—

(१) 'जीव चेतन है' ऐसा कहने से 'जीव अचेतन नही है' ऐसा उसमे स्वयं गर्भितरूपसे आगया। इसमे 'जीव चेतन है' यह कथन अर्पित हुआ और 'जीव अचेतन नहीं है' यह कथन अनर्पित हुआ।

(२) 'अजीव जड है' ऐसा कहने से 'अजीव चेतन नही है' ऐसा उसमे स्वय गर्भित रूपसे आगया। इसमे पहला कथन अर्पित है और उसमे 'अजीव चेतन नही है' यह भाव अनर्पित—गौणरूपसे आगया, अर्थात् विना कहे भी उसमे गर्भित है ऐसा समझ लेना चाहिये।

(३) 'जीव अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सत् है' ऐसा कहने पर 'जीव पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे असत् है' ऐसा विना कहे भी आगया। पहला कथन 'अर्पित' है और दूसरा 'अनर्पित' है।

(४) 'जीव द्रव्य एक है' ऐसा कहने पर उसमे यह आगया कि 'जीव गुण और पर्यायसे अनेक है।' पहला कथन 'अर्पित' है और दूसरा 'अनर्पित' है।

(५) 'जीव द्रव्य-गुणसे नित्य है' ऐसा कहनेसे उसमे यह कथन आगया कि 'जीव पर्यायसे अनित्य है।' पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(६) 'जीव स्व से तत् (Identical) है' ऐसा कहनेसे उसमें यह कथन आगया कि 'जीव परसे अतत् है।' इसमे पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(७) 'जीव अपने द्रव्य—गुण—पर्यायसे अभिन्न है' ऐसा कहनेसे उसमे यह कथन आगया कि 'जीव परद्रव्य—उसके गुण और पर्यायसे भिन्न है। पहला कथन अर्पित और दूसरा कथन अनर्पित है।

(८) 'जीव अपनी पर्यायका कर्ता हो सकता है' ऐसा कहने पर 'जीव परद्रव्यका कुछ कर नही सकता' यह आगया। इसमे पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(९) 'प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायका भोक्ता हो सकता है' ऐसा

कहनेसे यह भी आगया कि 'कोई पर द्रव्यका भोक्ता नहीं हो सकता।' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१०) 'कर्मका विपाक कर्ममें आ सकता है' ऐसा कहनेसे यह कथन भी आगया कि 'कर्मका विपाक जीवमें नहीं आ सकता, इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(११) 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकता मोक्षमार्ग है' ऐसा कहनेपर यह कथन भी आगया कि 'पुण्य पाप, आस्रव बंध ये मोक्षमार्ग नहीं हैं इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१२) 'शरीर परद्रव्य है' ऐसा कहने पर यह कथन भी आ गया कि 'जीव शरीरकी कोई क्रिया नहीं कर सकता, उसे हला चला नहीं सकता, उसकी समाल नहीं रख सकता उसका कुछ कर नहीं सकता वैसे ही शरीरकी क्रियासे जीवको राग द्वेष मोह सुख, दुःख वगैरह नहीं हो सकता। इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१३) 'निमित्त पर द्रव्य है ऐसा कहने पर उसमें यह कथन भी आगया कि निमित्त पर द्रव्यका कुछ कर नहीं सकता उसे सुधार या बिगाड़ नहीं सकता, सिर्फ वह अनुकूल संयोगरूपसे होता है इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१४) 'घीका घड़ा' कहनेसे उसमें यह कथन भी आगया कि 'घड़ा घीमय नहीं किन्तु मिट्टीमय है घीका घड़ा है यह तो मात्र व्यवहार कथन है इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१५) मिथ्यात्व कर्मके उदयसे जीव मिथ्यादृष्टि होता है। इस कथनसे यह भी आगया कि 'जीव उस समयकी अपनी विपरीत श्रद्धा को लेकर मिथ्यादृष्टि होता है वास्तवमें मिथ्यात्व कर्मके उदयके कारण जीव मिथ्यादृष्टि नहीं होता मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जीव मिथ्यादृष्टि होता है— यह तो उपचारमात्र व्यवहार कथन है वास्तवमें तो जीव जब स्वयं मिथ्यात्वरूप परिणमा तब मिथ्यात्व मोहनीय कर्मके जो रजकण उस समय उदयरूप हुए उन पर निमित्तका आरोप न आकर विकार उत्पन्न आरोप

आया' इसमे पहला कथन अर्पित दूसरा अनर्पित है।

(१६) 'जीव जडकर्मके उदयसे ग्यारहवें गुणस्थानसे गिरा' ऐसा कहनेसे यह कथन भी आगया कि 'जीव अपने पुरुषार्थकी कमजोरी से गिरा, जड कर्म परद्रव्य है और ११ वें गुणस्थानमें तो मोह कर्मका उदय ही नही है। वास्तवमे (-सचमुच) तो कर्मोदयसे जीव गिरता नही है, किन्तु जिस समय अपने पुरुषार्थ की कमजोरी से गिरा–तब मोहकर्म के उदयसे गिरा ऐसा आरोप (-उपचार-व्यवहार) आया' इसमे पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१७) 'जीव पचेन्द्रिय है' ऐसा कहने से यह कथन भी आगया कि 'जीव चेतनात्मक है जड इन्द्रियात्मक नही है, पाँचो इन्द्रियाँ जड हैं मात्र उसे उनका सयोग है।' इसमें पहला कथन अर्पित दूसरा अनर्पित है।

(१८) 'निगोदका जीव कर्मका उदय मद होनेपर ऊँचा चढ़ता है' यह कहनेसे उसमे यह कथन आगया कि 'निगोदिया जीव स्वयं अपने पुरुषार्थके द्वारा मद कषाय करनेपर चढता है, कर्म परद्रव्य है इसलिये कर्मके कारणसे जीव ऊँचा नही चढा, (-अपनी योग्यतासे चढा है) पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१९) 'कर्मके उदयसे जीव असयमी होता है क्योंकि चारित्रमोह के उदयके विना उसकी अनुपपत्ति है' ऐसा कहनेसे यह कथन आगया कि 'जीव अपने पुरुषार्थके दोषके कारण अपने चारित्र गुणके विकारको नही टालता और असयमरूप परिणमता है इसलिये वह असयमी होता है, यद्यपि उस समय चारित्र मोहके कर्म भी झड जाते हैं तो भी जीवके विकारका निमित्त पाकर नवीन कर्म स्वयं बाधता है, इसलिये पुराने चारित्र मोहकर्मपर उदयका आरोप आता है' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(२०) 'कर्मके उदयसे जीव ऊर्ध्वलोक मध्यलोक और अधोलोक में जाता है क्योकि आनुपूर्वी कर्मके उदयके विना उसकी अनुपपत्ति है' ऐसा कहनेसे उसमे यह कथन भी आगया कि 'जीवकी क्रियावती शक्तिकी उस समयकी वैसी योग्यता है इसलिये जीव ऊर्ध्वलोकमे अवोलोकमे और तिर्य-

कहनेसे यह भी आगया कि 'कोई पर द्रव्यका भोक्ता नहीं हो सकता।' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१०) 'कर्मका विपाक कर्ममें आ सकता है' ऐसा कहनेसे यह कथन भी आगया कि कर्मका विपाक जीवमें नहीं आ सकता, इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(११) 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकता मोक्षमार्ग है' ऐसा कहनेपर यह कथन भी आगया कि 'पुण्य पाप आस्रव बंध ये मोक्षमार्ग नहीं हैं' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१२) 'शरीर परद्रव्य है' ऐसा कहने पर यह कथन भी आ गया कि 'जीव शरीरकी कोई क्रिया नहीं कर सकता, उसे हला-चला नहीं सकता उसकी सभाल नहीं रख सकता उसका कुछ कर नहीं सकता वैसे ही शरीरकी क्रियासे जीवको राग द्वेष मोह सुख दुःख वगैरह नहीं हो सकता। इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१३) 'निमित्त पर द्रव्य है ऐसा कहने पर उसमें यह कथन भी आगया कि निमित्त पर द्रव्यका कुछ कर नहीं सकता उसे सुधार या बिगाड़ नहीं सकता, सिर्फ वह अनुकूल संयोगरूपसे होता है' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१४) घीका घड़ा' कहनेसे उसमें यह कथन भी आगया कि 'घड़ा घीमय नहीं किन्तु मिट्टीमय है घीका घड़ा है यह तो मात्र व्यवहार कथन है' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१५) मिथ्यात्व कर्मके उदयसे जीव मिथ्यादृष्टि होता है। इस कथनसे यह भी आगया कि 'जीव उस समयकी अपनी विपरीत श्रद्धा को लेकर मिथ्यादृष्टि होता है वास्तवमें मिथ्यात्व कर्मके उदयके कारण जीव मिथ्यादृष्टि नहीं होता मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जीव मिथ्यादृष्टि होता है- यह तो उपचारमात्र व्यवहार कथन है वास्तवमें तो जीव जब स्वयं मिथ्याश्रद्धारूप परिणमा तब मिथ्यात्व मोहनीय कर्मके जो रजकण उस समय उदयरूप हुये उन पर निर्जराका आरोप न आकर विपाक उदयका आरोप

आया' इसमे पहला कथन अर्पित दूसरा अनर्पित है।

(१६) 'जीव जडकर्मके उदयसे ग्यारहवें गुणस्थानसे गिरा' ऐसा कहनेसे यह कथन भी आगया कि 'जीव अपने पुरुषार्थकी कमजोरी से गिरा, जड़ कर्म परद्रव्य है और ११ वें गुणस्थानमे तो मोह कर्मका उदय ही नही है। वास्तवमे (-सचमुच) तो कर्मोदयसे जीव गिरता नही है, किन्तु जिस समय अपने पुरुषार्थ की कमजोरी से गिरा—तव मोहकर्म के उदयसे गिरा ऐसा आरोप (-उपचार-व्यवहार) आया' इसमे पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१७) 'जीव पचेन्द्रिय है' ऐसा कहने से यह कथन भी आगया कि 'जीव चेतनात्मक है जड इन्द्रियात्मक नही है, पाँचो इन्द्रियाँ जड़ हैं मात्र उसे उनका सयोग है।' इसमे पहला कथन अर्पित दूसरा अनर्पित है।

(१८) 'निगोदका जीव कर्मका उदय मद होनेपर ऊँचा चढता है' यह कहनेसे उसमे यह कथन आगया कि 'निगोदिया जीव स्वयं अपने पुरुषार्थके द्वारा मद कपाय करनेपर चढता है, कर्म परद्रव्य है इसलिये कर्मके कारणसे जीव ऊँचा नही चढा, (-अपनी योग्यतासे चढा है) पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(१९) 'कर्मके उदयसे जीव असयमी होता है क्योकि चारित्रमोह के उदयके विना उसकी अनुपपत्ति है' ऐसा कहनेसे यह कथन आगया कि 'जीव अपने पुरुषार्थके दोषके कारण अपने चारित्र गुणके विकारको नही टालता और असयमरूप परिणमता है इसलिये वह असयमी होता है, यद्यपि उस समय चारित्र मोहके कर्म भी झड जाते हैं तो भी जीवके विकारका निमित्त पाकर नवीन कर्म स्वय वाधता है, इसलिये पुराने चारित्र मोहकर्मपर उदयका आरोप आता है' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

(२०) 'कर्मके उदयसे जीव ऊर्ध्वलोक मध्यलोक और अधोलोक में जाता है क्योकि आनुपूर्वी कर्मके उदयके विना उसकी अनुपपत्ति है' ऐसा कहनेसे उसमे यह कथन भी आगया कि 'जीवकी क्रियावती शक्तिकी उस समयकी वैसी योग्यता है इसलिये जीव ऊर्ध्वलोकमे अधोलोकमे और तिर्य-

गलोकमें जाता है, उस समय उसे अनुकूल आनुपूर्वी नाम कर्मका उदय संयोगरूपसे होता है। कर्मपरद्रव्य है इसलिये वह जीवको किसी जगह नहीं ले जा सकता' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

उपरोक्त दृष्टांत ध्यानमें रखकर शास्त्रमें कैसा भी कथन किया हो उसका निम्नलिखित अनुसार अर्थ करना चाहिये—

पहले यह निश्चय करना चाहिये कि शब्दार्थके द्वारा यह कथन किस नयसे किया है। उसमें जो कथन जिस नयसे किया हो वह कथन अर्पित है ऐसा समझना। और सिद्धान्तके अनुसार उसमें गौणरूपसे जो दूसरे भाव गर्भित हैं यद्यपि वे भाव जो कि वहाँ शब्दोंमें नहीं कहे तो भी ऐसा समझ लेना चाहिये कि वे गर्भितरूपसे कहे हैं यह अनर्पित कथन है। इसप्रकार अर्पित और अनर्पित दोनों पहलुओंको समझकर यदि जीव अर्थ करे तो ही जीवको प्रमाण और नयका सत्य ज्ञान हो। यदि दोनों पहलुओं को यथार्थ न समझे तो उसका ज्ञान अज्ञानरूपमें परिणमा है इसलिये उसका ज्ञान अप्रमाण और कुनयरूप है। प्रमाणको सम्यक् अनेकांत भी कहा जाता है।

जहाँ जहाँ निमित्त और औदयिक भाव की सापेक्षताका कथन हो वहाँ औदयिकभाव जीवका स्वतत्त्व होनेसे—निश्चयसे निरपेक्ष ही है सापेक्ष नहीं है इस मुख्य बातका स्वीकार होना चाहिये। एकान्त सापेक्ष माननेसे यथार्थ सच्चा अर्थ नहीं होगा।

(४) अनेकान्तका प्रयोजन

अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त ऐसा निजपदकी प्राप्ति कराने के अतिरिक्त अन्य दूसरे हेतुसे उपकारी नहीं है।

(५) एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ भी कर सकता है इस मान्यता में आनेवाले दोषोंका वर्णन

जगतमें छहों द्रव्य अत्यंत निकट एक क्षेत्रावगाह रूपसे रहे हुये हैं, वे स्वयं निजमें अंतमग्न रहते हुये अपने अनन्त धर्मोंके चक्रको चूमते हैं—स्पर्श करते हैं तो भी वे परस्परमें एक दूसरे को स्पर्श नहीं करते। यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको स्पर्श करे तो वह परद्रव्यरूप हो जाय और यदि

पररूप हो जाय तो निम्नलिखित दोष आवें:—

१—संकर दोष

दो द्रव्य एकरूप हो जायें तो सकर दोष आता है।

"सर्वेषाम् युगपत्प्राप्ति' सकर."—जो अनेक द्रव्योके एक रूपताकी प्राप्ति है सो संकर दोष है। जीव अनादि से अज्ञान दशामे शरीरको, शरीरकी क्रियाको, द्रव्य इद्रियोको, भाव इन्द्रियोको तथा उनके विषयोको स्व से एकरूप मानता है यह ज्ञेय-ज्ञायक सकर दोष है। इस सूत्रमें कहे हुये अनेकांत स्वरूपको समझने पर—अर्थात् जीव जीवरूपसे है कर्मरूपसे नही इसलिये जो कर्म, इन्द्रियाँ, शरीर, जीवकी विकारी और अपूर्ण दशा है सो ज्ञेय है किंतु वे जीवका स्वरूप (-ज्ञान) नही है ऐसा समझकर भेद विज्ञान प्रगट करे तब ज्ञेय ज्ञायक सकर दोष दूर होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट होनेपर ही सकर दोष टलता—दूर होता है।

जीव जितने अशोमे मोहकर्मके साथ युक्त होकर दु ख भोगता है वह भाव्य भावक सकर दोष है। उस दोषको दूर करनेका प्रारभ सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर होता है और अकषायज्ञानस्वभावका अच्छी तरह आलबन करनेसे सर्वथा कषायभाव दूर होनेपर वह सकर दोष सर्वथा दूर होता है।

२—व्यतिकर दोष

यदि जीव जडका कुछ कार्य करे और जड कर्म या शरीर जीवका कुछ भला–बुरा करे तो जीव जडरूप हो जाय और जड चेतनरूप हो जाय तथा एक जीवके दूसरे जीव कुछ भला बुरा करें तो एक जीव दूसरे जीवरूप हो जाय। इस तरह एकका विषय दूसरेमें चला जायगा इसके व्यतिकर दोष आवेगा—"परस्परविषयगमन व्यतिकरः।"

जडकर्म हलका हो और मार्ग दे तो जीवके धर्म हो और जडकर्म बलवान हो तो जीव धर्म नही कर सकता—ऐसा माननेमे सकर और व्यतिकर दोनो दोष आते हैं।

जीव मोक्षका—धर्मका पुरुषार्थ न करे और अशुभभावमे रहे तब उसे बहुकर्मी जीव कहा जाता है, अथवा यो कहा जाता है कि–'उसके कर्म

का तीव्र उदय है इसलिये वह धर्म नहीं करता। उसे जीवका लक्ष स्व-सन्मुख नहीं है किन्तु परवस्तु पर है, इतना बतानेके लिये यह व्यवहार कथन है। परन्तु ऐसे उपचार कथनको सत्यार्थ माननेसे दोनों दोष आते हैं कि जड़ कर्म जीवको नुकसान करता है या जीव जड़कर्मका क्षय करता है। और ऐसा माननेमें दो द्रव्यके एकत्वकी मिथ्या श्रद्धा होती है।

३—अधिकरण दोष

यदि जीव शरीरका कुछ कर सकता, उसे हला-चला सकता या दूसरे जीवका कुछ कर सकता तो वह दोनों द्रव्योंका अधिकरण (स्वक्षेत्र रूप आधार) एक होजाय और इससे 'अधिकरण' दोष आवेगा।

४—परस्पराश्रय दोष

जीव स्व की अपेक्षासे सत् है और कर्म परवस्तु है उस अपेक्षासे जीव असत् है तथा कर्म उसकी अपनी अपेक्षासे सत् है और जीवकी अपेक्षासे कर्म असत् है। ऐसा होनेपर भी जीव कर्मको बाँधे-छोड़े-उसका क्षय करे वैसे ही कर्म कमजोर हों तो जीव धर्म कर सकता है—ऐसा माननेमें 'परस्पराश्रय' दोष है। जीव कर्म इत्यादि समस्त द्रव्य सदा स्वतंत्र हैं और स्वयं स्व से स्वतंत्ररूपसे कार्य करते हैं ऐसा माननेसे 'परस्पराश्रय' दोष नहीं आता।

५—संशय दोष

जीव अपने रागादि विकार भावको जान सकता है स्वद्रव्यके आलम्बनसे रागादि दोषका अभाव हो सकता है परन्तु उसे टालनेका प्रयत्न नहीं करता और जो जड़कर्म और उसके उदय हैं उसको नहीं देख सकता तथापि ऐसा माने कि कर्मका उदय पतला पड़े कमजोर हो कर्मके आवरण हटे तो धर्म या गुण हो सकता है जड़कर्म बलवान हो तो जीव गिर जाय अधर्मी या दुःखी होजाय (जो ऐसा माने) उसके संशय-(भ्रम) दूर नहीं होता अथवा निज पारमार्थिक निश्चय रत्नत्रयसे धर्म होगा या पुण्य से—व्यवहार करते २ धर्म होगा? ऐसा संशय दूर किये बिना जीव स्वतंत्रताकी श्रद्धा और यथा पुरुषार्थ नहीं कर सकता और विपरीत अभिप्राय दूर करनेका यथा पुरुषार्थ बिना किसी जीवको कभी धर्म या सम्यग्दर्शन

नहीं हो सकता। कोई भी द्रव्य दूसरोका कुछ कर सकता है या नही ऐसी मान्यतामे संशय दोप आता है वह सच्ची समझसे दूर करना चाहिये।

६—अनवस्था दोप

जीव अपने परिणामका ही कर्ता है और अपना परिणाम उसका कर्म है। सर्व द्रव्योके अन्य द्रव्योके साथ उत्पाद्य-उत्पादक भावका अभाव है, इसीलिये अजीवके साथ जीवके कार्य—कारणत्व सिद्ध नही होता। यदि एक द्रव्य दूसरेका कार्य करे, दूसरा तीसरेका कार्य करे—ऐसी परंपरा मानने पर अनन्त द्रव्य हैं उसमे कौन द्रव्य किस द्रव्यका कार्य करे इसका कोई नियम न रहेगा और इसीलिये अनवस्था दोष आवेगा। परन्तु यदि ऐसा नियम स्वीकार करें कि प्रत्येक द्रव्य अपना ही कार्य करता है परका कार्य नही कर सकता तो वस्तुकी यथार्थ व्यवस्था ज्यो की त्यो बनी रहती है और उसमें कोई अनवस्था दोष नही आता।

७—अप्रतिपत्ति दोप

प्रत्येक द्रव्यका द्रव्यत्व—क्षेत्रत्व—कालत्व (-पर्यायत्व) और भावत्व (-गुण) जिस प्रकारसे है उसीप्रकारसे उसका यथार्थ ज्ञान करना चाहिये। जीव क्या कर सकता और क्या नही कर सकता वैसे ही जड़ द्रव्य क्या कर सकते और क्या नही कर सकते—इसका ज्ञान न करना और तत्त्वज्ञान करनेका प्रयत्न नही करना सो अप्रतिपत्ति दोष है।

८—विरोध दोप

यदि ऐसा मानें कि एक द्रव्य स्वय स्व से सत् है और वही द्रव्य परसे भी सत् है तो 'विरोध' दोष आता है। क्योकि जीव जैसे अपना कार्य करे वैसे पर द्रव्यका—कर्म अर्थात् पर जीव आदिका—भी कार्य करे तो विरोध दोष लागू होता है।

९—अभाव दोष

यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कार्य करे तो उस द्रव्यका नाश हो और एक द्रव्यका नाश हो तो क्रम क्रमसे सर्व द्रव्योका नाश होगा, इस तरह उसमें 'अभाव' दोष आता है।

इन समस्त दोषोंको दूरकर वस्तुका अनेकांत स्वरूप समझनेके लिये आचार्य भगवानने यह सूत्र कहा है।

अर्पित (मुख्य) और अनर्पित (गौण) का विशेष

समझनेमें तथा कथन करनेके लिये किसी समय उपादानको मुख्य किया जाता है और किसी समय निमित्तको (कभी निमित्तकी मुख्यतासे कार्य नहीं होता मात्र कथनमें मुख्यता होती है) किसी समय द्रव्यको मुख्य किया जाता है तो किसी समय पर्यायको, किसी समय निश्चयको मुख्य कहा जाता है और किसी समय व्यवहारको। इस तरह जब एक पहलूको मुख्य करके कहा जावे तब दूसरे गौण रहनेवाले पहलुओंका यथायोग्य ज्ञान कर लेना चाहिये। यह मुख्य और गौणता ज्ञानकी अपेक्षासे समझनी।

—परन्तु सम्यग्दर्शनकी अपेक्षासे हमेशा द्रव्यदृष्टिको प्रधान करके उपदेश दिया जाता है द्रव्यदृष्टिकी प्रधानतामें कभी भी व्यवहारकी मुख्यता नहीं होती वहाँ पर्यायदृष्टिके भेदको गौण करके उसे व्यवहार कहा है। भेद दृष्टिमें रुकने पर निर्विकल्प दशा नहीं होती और सरागीके विकल्प रहा करता है इसलिये जबतक रागादिक दूर न हों तबतक भेदको गौण कर अभेदरूप निर्विकल्प अनुभव कराया जाता है। द्रव्यदृष्टिकी अपेक्षासे व्यवहार पर्याय या भेद हमेशा गौण रखा जाता है उसे कभी मुख्य नहीं किया जाता ॥ ३२ ॥

अब परमाणुओंमें बंध होनेका कारण बतलाते हैं

स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः ॥३३॥

अर्थ—[स्निग्धरूक्षत्वात्] चिकने और रूखेके कारण [बंधः] दो तीन इत्यादि परमाणुओंका बंध होता है।

टीका

(१) पुद्गलमें अनेक गुण हैं किन्तु उनमेंसे स्पर्श गुणके अतिरिक्त दूसरे गुणोंका पर्यायोंसे बन्ध नहीं होता वैसे ही स्पर्शकी आठ पर्यायोंमेंसे भी स्निग्ध और रूक्ष नामके पर्यायोंके कारणसे ही बंध होता है और दूसरे

छह प्रकारके पर्यायोंसे वन्ध नही होता, ऐसा यहाँ वताया है। किस तरह की स्निग्ध और रूक्ष अवस्था हो तब बंध हो यह ३६ वें सूत्रमे कहेगे और किस तरहके हो तब वन्ध नही होता यह ३४–३५ वें सूत्रमे कहेगे। बंध होने पर किस जातिका परिणमन होता है यह ३७ वें सूत्रमे कहा जायगा।

(२) बंध—अनेक पदार्थोंमे एकत्वका ज्ञान करानेवाले सबंध विशेष को वन्ध कहते हैं।

(३) बंध तीन तरहका होता है—१–स्पर्शोंके साथ पुद्गलोका वन्ध, २–रागादिके साथ जीवका वन्ध, और ३–अन्योन्य अवगाह पुद्गल जीवात्मक वन्ध। (प्रवचनसार गाथा १७७) उनमेसे पुद्गलोका वन्ध इस सूत्रमे वताया है।

(४) स्निग्ध और रूक्षत्वके जो अविभाग प्रतिच्छेद हैं उसे गुण* कहते हैं। एक, दो, तीन, चार, पांच, छह इत्यादि तथा संख्यात, असख्यात या अनंत स्निग्ध गुण रूपसे तथा रूक्ष गुणरूपसे एक परमाणु और प्रत्येक परमाणु स्वतः स्वय परिणमता है।

(५) स्निग्ध स्निग्धके साथ, रूक्ष रूक्षके साथ तथा एक दूसरेके साथ वन्ध होता है।

बंध कब नहीं होता ?

न जघन्यगुणानाम् ॥३४॥

अर्थः—[जघन्यगुणानाम्] जघन्य गुण सहित परमाणुओका [न] वन्ध नही होता।

टीका

(१) गुणकी व्याख्या सूत्र ३३ की टीका दी गई है। 'जघन्य गुण परमाणु' अर्थात् जिस परमाणुमे स्निग्धता या रूक्षताका एक अविभागी अंश हो उसे जघन्य गुण सहित परमाणु कहते हैं। जघन्यगुण अर्थात् एक गुण समझना।

---

* यहाँ द्रव्य गुण पर्यायमें आनेवाला गुण नहीं समझना परन्तु गुणका अर्थ 'स्निग्ध-रूक्षत्वकी शक्तिका नाप करनेका साधन' समझना चाहिये।

(२) परम चैतन्य स्वभावमें परिणति रखनेवालेके परमात्मस्वरूपके भावनारूप धर्मध्यान और शुक्लध्यानके बलसे जब जघन्य चिकनेके स्थानमें राग क्षीण हो जाता है तब जैसे जल और रेतीका बन्ध नहीं होता वैसे ही जघन्य स्निग्ध या रूक्ष शक्तिधारी परमाणुका भी किसीके साथ बंध नहीं होता। (प्रवचनसार अध्याय २, गाथा ७२ श्री जयसेन आचार्यकी संस्कृत टीका, हिन्दी पुस्तक पृष्ठ २२७) जल और रेतीके दृष्टांतमें जैसे जीवोंके परमानन्दमय स्व संवेदन गुणके बलसे रागद्वेष हीन हो जाता है और कर्मके साथ बन्ध नहीं होता उसीप्रकार जिस परमाणुमें जघन्य स्निग्ध या रूक्षता होती है उसके किसीसे बंध नहीं होता।

(हिन्दी प्रवचनसार गाथा ७३ पृ० २२८)

(३) श्री प्रवचनसार अध्याय २ गाथा ७१ से ७६ तक तथा गोम्मटसार जीवकांड गाथा ६१४ तथा उसके नीचेकी टीकामें यह बतलाया है कि पुद्गलोंमें बंध कब नहीं होता और कब होता है, यह वहाँ बाँचना।

(४) चौतीसवें सूत्रका सिद्धांत

(१) द्रव्यमें अपने साथ जो एकत्व है वह बंधका कारण नहीं होता किंतु अपनेमें–निजमें द्युतिरूपद्वैत–द्वित्व हो तब बन्ध होता है। आत्मा एकमात्रस्वरूप है परन्तु मोह राग-द्वेषरूप परिणमनसे द्वैतमात्ररूप होता है और उससे बन्ध होता है। (देखो प्रवचनसार गाथा १७५ की टीका) आत्मा अपने त्रिकाली स्वरूपसे शुद्ध चैतन्य मात्र है। यदि पर्यायमें वह त्रिकाली शुद्ध चैतन्यके प्रति लक्ष करके अन्तर्मुख हो तो द्वैतपन नहीं होता बन्ध नहीं होता अर्थात् मोह राग-द्वेषमें नहीं रुकता। आत्मा मोहरागद्वेषमें भटकता है वही बन्ध है। अज्ञानतापूर्वकका रागद्वेष ही वास्तवमें स्निग्ध और रूक्षत्वके स्थानमें होनेसे बन्ध है (देखो प्रवचनसार गाथा १७६ की टीका) इसप्रकार जब आत्मामें द्वित्व हो तब बन्ध होता है और उसका निमित्त पाकर द्रव्यबन्ध होता है।

(२) यह सिद्धांत पुद्गलमें लागू होता है। यदि पुद्गल अपने स्पर्शमें एक गुणरूप परिणमे तो उसके अपनेमें ही बन्धकी शक्ति (भावबंध) प्रगट न

होनेसे दूसरे पुद्गलके साथ बन्ध नही होता। किन्तु यदि उस पुद्गलके स्पर्शमे दो गुणरूप अधिकपन आवे तो बन्ध की शक्ति (भावबन्धकी शक्ति) होनेसे दूसरे चार गुणवाले स्पर्शके साथ बन्ध हो जाता है, यह द्रव्यबंध है। बन्ध होनेमे द्वित्व-द्वैत अर्थात् भेद होना ही चाहिए।

(३) दृष्टान्त—दशामे गुणस्थानमे सूक्ष्मसापराय—जघन्य लोभ कषाय है तो भी मोहकर्मका बन्ध नही होता। संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ तथा पुरुषवेद जो नवमे बन्धको प्राप्त थे उनकी वहाँ व्युच्छित्ति हुई उनका बन्ध वहाँ रुक गया। (देखो अध्याय ६ सूत्र १४ की टीका)

दृष्टान्तपरसे सिद्धांत—जीवका जघन्य लोभकषाय विकार है किंतु वह जघन्य होनेसे कार्माण-वर्गणाको लोभरूपसे बन्धने मे निमित्त नही हुआ। (२) उस समय सज्वलन लोभकर्मकी प्रकृति उदयरूप है तथापि उसकी जघन्यता नवीन मोह कर्मके बन्धका निमित्त कारण नही होती (३) यदि जघन्य विकार कर्म बन्धका कारण हो तो कोई जीव बन्ध रहित नही हो सकता ॥३४॥

बंध कब नहीं होता इसका वर्णन करते हैं

गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥३५॥

अर्थः—[गुणसाम्ये] गुणोकी समानता हो तब [सदृशानाम्] समान जातिवाले परमाणुके साथ बन्ध नही होता। जैसे कि—दो गुणवाले स्निग्ध परमाणुका दूसरे दो गुणवाले स्निग्ध परमाणुके साथ बन्ध नही होता अथवा वैसे स्निग्ध परमाणुका उतने ही गुणवाले रूक्ष परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता। 'न—(बन्ध नहीं होता)' यह शब्द इस सूत्रमे नहीं कहा परन्तु ऊपरके सूत्रमे कहा गया 'न' शब्द इस सूत्रमे भी लागू होता है।

टीका

(१) सूत्रमें 'सदृशानाम् पदसे यह प्रगट होता है कि गुणों की विषमतामे समान जातिवाले तथा भिन्न जातिवाले पुद्गलोंका बन्ध होता है।

(२) दो गुण या अधिक गुण स्निग्धता और पसे हों दो या अधिक गुण रूक्षता समानरूपसे हो तब बन्ध नहीं होता, ऐसा बतानेके लिये 'गुणसाम्ये' पद इस सूत्रमें लिया है ॥ ३५ ॥

(देखो सर्वार्थसिद्धि, संस्कृत हिन्दी टीका, अध्याय ५ पृष्ठ १२१)

बन्ध कब होता है ?

द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥ ३६ ॥

अर्थ—[द्व्यधिकादिगुणानां तु] दो अधिक गुण हों इस तरहके गुण वालेके साथ ही बन्ध होता है ।

टीका

जब एक परमाणुसे दूसरे परमाणुमें दो अधिक गुण हों तब ही बंध होता है । जैसे कि दो गुणवाले परमाणुका बंध चार गुणवाले परमाणुके साथ हो तीन गुणवाले परमाणुका पांच गुणवाले परमाणुके साथ बंध हो परन्तु उससे अधिक या कम गुणवाले परमाणुके साथ बंध नहीं होता* । यह बंध स्निग्धका स्निग्धके साथ रूक्षका रूक्षके साथ, स्निग्धका रूक्षके साथ तथा रूक्षका स्निग्धके भी बंध होता है ॥३६॥

दो गुण अधिकके साथ मिलने पर नई व्यवस्था कैसी होती है ?

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥ ३७ ॥

अर्थ—[च] और [बन्धे] बन्धरूप अवस्थामें [अधिकौ] अधिक गुणवाले परमाणुओं अपने रूपमें [पारिणामिकौ] (कम गुणवाले परमाणुओंका) परिणमानेवाले होता है । (यह कथन निमित्तका है)

टीका

जो अल्पगुणधारक परमाणु हो वह जब अधिक गुणधारक परमाणुके साथ बंध अवस्थाको प्राप्त होता है तब वह अल्पगुण धारक परमाणु अपनी पूर्व अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्था प्रगट करता है और

---

* श्वेताम्बर मतमें इस व्यवस्था को नहीं माना है ।

एक स्कंध हो जाता है अर्थात् अधिक गुणधारक परमाणुकी जातिका और उतने गुणवाला स्कंध होता है ॥ ३७ ॥

द्रव्य का दूसरा लक्षण

गुणपर्ययवत् द्रव्यम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—[गुणपर्ययवत्] गुण पर्यायवाला [द्रव्यम्] द्रव्य है।

टीका

(१) गुण—द्रव्यकी अनेक पर्याय बदलने पर भी जो द्रव्यसे कभी पृथक् नही हो, निरन्तर द्रव्यके साथ सहभावी रहे वह गुण कहलाता है।

(२) जो द्रव्यके पूरे हिस्से मे तथा उसकी सभी हालतमे रहे उसे गुण कहते हैं। (जैन सिद्धान्त प्रवेशिका प्रश्न ११३) (३) जो द्रव्यमें शक्तिकी अपेक्षासे भेद किया जावे वह गुण शब्दका अर्थ है(तत्त्वार्थसार—अध्याय ३, गाथा ९ पृष्ठ १३१) सूत्रकार गुणकी व्याख्या ४१ वें सूत्रमे देंगे।

(२) पर्याय—१—क्रमसे होनेवाली वस्तुकी—गुणकी अवस्थाको पर्याय कहते हैं, २—गुणके विकारको (विशेष कार्यको) पर्याय कहते हैं, (जैन सिद्धान्त प्रवेशिका प्रश्न १४८) ३—द्रव्यमे जो विक्रिया हो अथवा जो अवस्था बदले वह पर्याय कहलाती है।

(देखो तत्त्वार्थसार अध्याय ३ गाथा ९ पृष्ठ १३१)

सूत्रकार पर्यायकी व्याख्या ४२ वें सूत्रमें देंगे।

(३) पहले सूत्र २९—३० मे कहे हुए लक्षणसे यह लक्षण पृथक् नही है, शब्द भेद है, किन्तु भावभेद नही। पर्यायसे उत्पाद-व्यय की और गुणसे ध्रौव्यकी प्रतीति हो जाती है।

(४) गुणको अन्वय, सहवर्ती पर्याय या अक्रमवर्ती पर्याय भी कहा जाता है तथा पर्यायको व्यतिरेकी अथवा क्रमवर्ती कहा जाता है। द्रव्यका स्वभाव गुण-पर्यायरूप है, ऐसा सूत्रमे कहकर द्रव्यका अनेकातत्व सिद्ध किया।

(५) द्रव्य, गुण और पर्याय वस्तुरूपसे अभेद-अभिन्न है। नाम,

संख्या लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षासे द्रव्य, गुण और पर्यायमें भेद है परन्तु प्रदेशसे अभेद है, ऐसा वस्तुका भेदाभेद स्वरूप समझना।

(६) सूत्रमें 'वत्' शब्दका प्रयोग किया है वह कथंचित् भेदाभेद रूप सूचित करता है।

(७) जो गुणके द्वारा यह बतलावे कि 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्यसे द्रव्यान्तर है' उसे विशेष गुण कहते हैं। उसके द्वारा उस द्रव्यका विधान किया जाता है। यदि ऐसा न हो तो द्रव्योंकी सकरता-एकताका प्रसंग हो और एक द्रव्य बदलकर दूसरा हो जाय तो व्यतिकर दोषका प्रसंग होगा। इसलिये इन दोषोंसे रहित वस्तुका स्वरूप जैसाका तैसा समझना ॥३८॥

काल भी द्रव्य है

कालश्च ॥ ३९ ॥

अर्थ—[कालः] काल [च] भी द्रव्य है।

टीका

(१) 'च' का अन्वय इस अध्यायके दूसरे सूत्र 'द्रव्याणि' के साथ है।

(२) काल उत्पाद-व्यय ध्रुव तथा गुण-पर्याय सहित है इसलिये वह द्रव्य है।

(३) काल द्रव्योंकी संख्या असंख्यात है। वे रत्नों की राशि की तरह एक दूसरेसे पृथक लोकाकाशके समस्त प्रदेशों पर स्थित हैं। वह प्रत्येक कालाणु जड़ एक प्रदेशी और अमूर्तिक है। उनमें स्पर्श गुण नहीं है इसलिये एक दूसरेके साथ मिलकर स्कंध रूप नहीं होता। कालमें मुख्य रूपसे या गौणरूपसे प्रदेश-समूहकी कल्पना नहीं हो सकती इसलिये उसे अकाय भी कहते हैं। वह निष्क्रिय है अर्थात् एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें नहीं जाता।

(४) सूत्र २२ में वर्तना मुख्य कालका लक्षण कहा है और उसी सूत्रमें व्यवहार कालका लक्षण परिणाम क्रिया परत्व और अपरत्व कहा

है। इस व्यवहार कालके अनंत समय हैं ऐसा अब इसके बादके सूत्रमे कहते है ॥ ३९ ॥

व्यवहार काल प्रमाण बताते हैं

सोऽनन्तसमयः ॥ ४० ॥

अर्थ—[**सः**] वह काल द्रव्य [**अनन्त समयः**] अनन्त समय वाला है। कालका पर्याय यह समय है। यद्यपि वर्तमानकाल एक समयमात्र ही है तथापि भूत-भविष्यकी अपेक्षासे उसके अनन्त समय हैं।

टीका

(१) **समय**—मदगतिसे गमन करनेवाले एक पुद्गल परमाणुको आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर जानेमे जितना समय लगता है वह एक समय है। यह कालकी पर्याय होनेसे व्यवहार है। आवलि, (–समयो के समूहसे ही जो हो) घडी, घटा आदि व्यवहारकाल है। व्यवहारकाल निश्चयकालकी पर्याय है।

निश्चयकालद्रव्य— लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशपर रत्नोकी राशि की तरह कालाणुके स्थित होनेका ३९ वें सूत्रकी टीकामे कहा है, वह प्रत्येक निश्चयकालद्रव्य है। उसका लक्षण वर्तना है, यह सूत्र २२ में कहा जा चुका है।

(२) एक समयमें अनन्त पदार्थोंकी परिणति—पर्याय–जो अनन्त सख्यामें है, उसके एक कालाणुकी पर्याय निमित्त होती है, इस अपेक्षासे एक कालाणुको उपचारसे 'अनन्त' कहा जाता है। मुख्य अर्थात् निश्चय-कालाणु द्रव्यकी संख्या असख्यात है।

(३) समय यह सबसे छोटेसे छोटा काल है उसका विभाग नही हो सकता ॥ ४० ॥

इस तरह छह द्रव्योका वर्णन पूर्ण हुआ। अब दो सूत्रो द्वारा गुण का और पर्यायका लक्षण बताकर यह अधिकार पूर्ण हो जायगा।

गुण का लक्षण

द्रव्याश्रया निर्गुणा: गुणा: ॥ ४१ ॥

अर्थ—[द्रव्याश्रयाः] जो द्रव्यके आश्रयसे हों और [निर्गुणाः] स्वयं दूसरे गुणोंसे रहित हों [गुणाः] वे गुण हैं।

टीका

(१) ज्ञानगुण जीवद्रव्यके आश्रित रहता है तथा ज्ञानमें और कोई दूसरा गुण नहीं रहता। यदि उसमें गुण रहे तो वह गुण न रहकर गुणी (द्रव्य) हो जाय किन्तु ऐसा नहीं होता। 'आश्रया' शब्द भेद अभेद दोनों बतलाता है।

(२) प्रश्न—पर्याय भी द्रव्यके आश्रित रहती है और गुण रहित है इसलिये पर्यायमें भी गुणत्व आजायगा और इसीसे इस सूत्रमें अति व्याप्ति दोष लगेगा।

उत्तर—'द्रव्याश्रया' पद होनेसे जो नित्य द्रव्यके आश्रित रहता है, उसकी बात है वह गुण है पर्याय नहीं है। इसीलिये द्रव्याश्रया पदसे पर्याय उसमें नहीं आती। पर्याय एक समयवर्ती ही है।

कोई गुण दूसरे गुणके आश्रित नहीं है और एक गुण दूसरे गुण की पर्यायका कर्ता नहीं हो सकता है।

(३) इस सूत्रका सिद्धांत

प्रत्येक गुण अपने अपने द्रव्यके आश्रित रहता है इसलिये एक द्रव्यका गुण दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता तथा दूसरे द्रव्यको प्रेरणा असर या मदद नहीं कर सकता पर द्रव्य निमित्तरूपसे होता है परन्तु एक द्रव्य पर द्रव्यमें अकिंचित्कर है (समयसार गाथा २६७ की टीका) प्रेरणा सहाय मदद उपकार आदि का कथन उपचारमात्र है अर्थात् निमित्तका मात्र ज्ञान कराने के लिये है ॥ ४१ ॥

पर्याय का लक्षण

तद्भाव: परिणाम: ॥ ४२ ॥

अर्थ—[तद्भावः] जो द्रव्यका स्वभाव (निजभाव, निजतत्त्व) है [परिणामः] सो परिणाम है।

टीका

(१) द्रव्य जिस स्वरूपसे होता है तथा जिस स्वरूपसे परिणमता है वह तद्भाव परिणाम है।

(२) प्रश्न—कोई ऐसा कहते हैं कि द्रव्य और गुण सर्वथा भिन्न हैं, क्या यह ठीक है ?

उत्तर—नही, गुण और द्रव्य कथचित् भिन्न है कथंचित् अभिन्न है अर्थात् भिन्नाभिन्न है। संज्ञा-सख्या-लक्षण-विषयादि भेदसे भिन्न है वस्तुरूपसे प्रदेशरूपसे अभिन्न है, क्योकि गुण द्रव्यका ही परिणाम है।

(३) समस्त द्रव्योके अनादि और आदिमान परिणाम होता है। प्रवाहरूपसे अनादि परिणाम है, पर्याय उत्पन्न होती है—नष्ट होती है इसलिये वह सादि है। धर्म, अधर्म, आकाश, और काल इन चार द्रव्योंके अनादि तथा आदिमान परिणाम आगम गम्य हैं तथा जीव और पुद्गलके अनादि परिणाम आगम गम्य हैं किन्तु उसके आदिमान परिणाम कथचित् प्रत्यक्ष भी हैं।

(४) गुणको सहवर्ती अथवा अक्रमवर्ती पर्याय कहा जाता है और पर्यायको क्रमवर्ती पर्याय कहा जाता है।

(५) क्रमवर्ती पर्यायके स्वरूप नियमसार गाथा १४ की टीकामें कहा है "जो सर्व तरफसे भेदको प्राप्त हो-परिणमन करे-सो पर्याय है।"

द्रव्य—गुण और पर्याय—ये वस्तुके तीन भेद कहे हैं, परन्तु नय तो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो ही कहे हैं, तीसरा 'गुणार्थिक' नय नहीं कहा, इसका क्या कारण है ? तथा गुण क्या नयका विषय है ? इसका खुलासा पहले प्रथम अध्यायके सूत्र ६ की टीका पृष्ठ ३१-३२ मे दिया है।

(५) इस सूत्रका सिद्धान्त

सूत्र ४१ मे जो सिद्धात कहा है उसी प्रमाणसे वह यहाँ भी लागू

होता है अर्थात् प्रत्येक द्रव्य अपने भावसे परिणमता है परके भावसे नहीं परिणमता अतः यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक द्रव्य अपना काम कर सकता है किन्तु दूसरेका नहीं कर सकता ॥ ४२ ॥

उपसंहार

इस पाँचवें अध्यायमें मुख्यरूपसे अजीवतत्त्वका कथन है। अजीव तत्त्वका कथन करते हुए, उसका जीवतत्त्वके साथ संबंध बतानेकी आवश्यकता होने पर जीवका स्वरूप भी यहाँ बताया गया है। पुनरपि छहों द्रव्योंका सामान्य स्वरूप भी जीव और अजीवके साथ लागू होनेके कारण कहा है इस तरह इस अध्यायमें निम्न विषय आये हैं—

(१) छहों द्रव्योंके एक समान रीतिसे लागू होनेवाले नियमका स्वरूप (२) द्रव्योंकी संख्या और उनके नाम (३) जीवका स्वरूप (४) अजीवका स्वरूप (५) स्याद्वाद सिद्धांत और (६) अस्तिकाय।

(१) छहों द्रव्योंको लागू होनेवाला स्वरूप

(१) द्रव्यका लक्षण अस्तित्व (होनेरूप विद्यमान) सत् है (सूत्र २९) (२) विद्यमान (सत्का) का लक्षण यह है कि त्रिकाल कायम रह कर प्रत्येक समयमें जूनी अवस्थाको दूर (व्यय) कर नई अवस्था उत्पन्न करना। (सूत्र ३०) (३) द्रव्य अपने गुण और अवस्था वाला होता है गुण द्रव्यके आश्रित रहता है और गुणमें गुण नहीं होता। यह निजका जो भाव है उस भावसे परिणमना है (सूत्र ३८ ४२) (४) द्रव्यके निज भावका नाश नहीं होता इसलिये नित्य है और परिणमन करता है इस लिये अनित्य है। (सूत्र ३१ ४२)

(२) द्रव्योंकी संख्या और उनके नाम

१—जीव अनेक हैं (सूत्र ३) प्रत्येक जीवके असंख्यात प्रदेश हैं (सूत्र ८) वह लोकाकाशमें ही रहता है (सूत्र १२) जीवके प्रदेश संकोच और विस्तारको प्राप्त होते हैं इसलिये लोकके असंख्यातवें भागसे लेकर समस्त लोकमें व्याप्त होते हैं (सूत्र १५ १६) लोकाकाशके जितने प्रदेश

हैं उतने ही जीवके प्रदेश हैं। एक जीवके, धर्मद्रव्यके और अधर्मद्रव्यके प्रदेशोकी सख्या समान है (सूत्र ८), परन्तु जीवके अवगाह और धर्म द्रव्य तथा अधर्म द्रव्यके अवगाहमे अतर है। धर्म-अधर्म द्रव्य समस्त लोकाकाश मे व्याप्त हैं जब कि जीवके प्रदेश सकोच और विस्तारको प्राप्त होते हैं। (सूत्र १३, १६)

(२) जीवको विकारी अवस्थामे, सुख-दुख तथा जीवन–मरणमे पुद्गल द्रव्य निमित्त है, जीव द्रव्य भी परस्पर उन कार्योंमे निमित्त होता है। ससारी जीवके सयोग रूपसे कार्मणादि शरीर, वचन मन और श्वासोच्छ्वास होता है (सूत्र १९, २०, २१)।

(३) जीव क्रियावान है, उसकी क्रियावती शक्तिकी पर्याय कभी गतिरूप और कभी स्थितिरूप होती है, जब गतिरूप होती है तब धर्मद्रव्य और जब स्थितिरूप होती है, तब अधर्मद्रव्य निमित्त है। (सूत्र १७)

(४) जीव द्रव्यसे नित्य है, उसकी सख्या एक सदृश रहनेवाली है और वह अरूपी है (सूत्र ४)

नोट —छहो द्रव्योका जो स्वरूप ऊपर न० (१) मे चार पहलुओंसे बतलाया है वही स्वरूप प्रत्येक जीवद्रव्यके लागू होता है। अ० २ सूत्र ८ मे जीवका लक्षण उपयोग कहा जा चुका है।

(४) अजीवका स्वरूप

जिनमे ज्ञान नही है ऐसे अजीव द्रव्य पाँच हैं—१–एक धर्म, २–एक अधर्म, ३–एक आकाश, ४–अनेक पुद्गल तथा ५–असख्यात कालाणु (सूत्र १, ३९)। अब पाँच उपविभागो द्वारा उन पाँचो द्रव्योका स्वरूप कहा जाता है।

(अ) धर्मद्रव्य

धर्मद्रव्य एक, अजीव, बहुप्रदेशी है। (सूत्र १, २, ६) वह नित्य, अवस्थित, अरूपी और हलन चलन रहित है (सूत्र ४, ७)। इसके लोकाकाश जितने असख्य प्रदेश हैं और वह समस्त लोकाकाशमे व्याप्त है (सूत्र ८, १३) वह स्वय हलन चलन करनेवाले जीव तथा पुद्गलोको गति

में निमित्त है (सूत्र १७)। उसे अवकाश देनेमें आकाश निमित्त है और परिणमनमें काल निमित्त है (सूत्र १८, २२) अरूपी (सूक्ष्म) होनेसे धर्म और अधर्म द्रव्य लोकाकाशमें एक समान (एक दूसरेको व्याघात पहुँचाये बिना) व्याप्त हो रहे हैं (सूत्र १३)

(ख) अधर्म द्रव्य

उपरोक्त समस्त बातें अधर्मद्रव्यके भी लागू होती हैं इतनी विशेषता है कि धर्मद्रव्य जीव–पुद्गलोंकी गतिमें निमित्त है तब अधर्मद्रव्य ठहरे हुये जीव–पुद्गलोंको स्थितिमें निमित्त है।

(ग) आकाशद्रव्य

आकाशद्रव्य एक, अजीव, अनन्त प्रदेशी है। (सूत्र १ २, ६ ९) नित्य अवस्थित, अरूपी और हलन चलन रहित है। (सूत्र ४ ७) अन्य पाँचों द्रव्योंको अवकाश देनेमें निमित्त है। (सूत्र १८) उसके परिणमनमें कालद्रव्य निमित्त है (सूत्र २२)। आकाशका सबसे छोटा भाग प्रदेश है।

(घ) कालद्रव्य

कालद्रव्य प्रत्येक अणुरूप अरूपी, अस्तिरूपसे किन्तु कायरहित नित्य और अवस्थित अजीव पदार्थ है (सूत्र २ ३९, ४) वह समस्त द्रव्योंके परिणमनमें निमित्त है (सूत्र २२) कालद्रव्यको स्थान देनेमें आकाश द्रव्य निमित्त है (सूत्र १८) एक आकाशके प्रदेशमें रहे हुये समस्त द्रव्योंके परिणमनमें एक कालाणु निमित्त होता है इस कारणसे उसे उपचारसे अनन्त समय कहा जाता है तथा भूत भविष्यकी अपेक्षासे अनन्त है। कालकी एक पर्यायको समय कहते हैं। (सूत्र ४०)

(ङ) पुद्गलद्रव्य

(१) यह पुद्गल द्रव्य अनन्तानन्त हैं वह प्रत्येक एक प्रदेशी है (सूत्र १ २ १० ११)। उसमें स्पर्श रस गंध वर्ण आदि विशेष गुण हैं अतः वह रूपी है (सूत्र २३ ५) उन विशेष गुणोंमें से स्पर्श गुणकी

स्निग्ध या रूक्षकी जब अमुक प्रकारकी अवस्था होती है तब बन्ध होता है (सूत्र ३३) बन्ध प्राप्त पुद्गलोको स्कंध कहा जाता है। उनमेसे जीवके सयोगरूप होनेवाले स्कध शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वासरूपसे परिणमते हैं (सूत्र २५, १९)। कितनेक स्कध जीवके सुख, दुःख, जीवन और मरणमे निमित्त होते हैं (सूत्र २०)।

(२) स्कन्धरूपसे परिणमे हुये परमाणु सख्यात असंख्यात और अनत होते हैं। तथा बन्धकी ऐसी विशेषता है कि एक प्रदेशमे अनेक रहते हैं, अनेक स्कन्ध सख्यात प्रदेशोको और असख्यात प्रदेशोको रोकते हैं तथा एक महास्कध लोक प्रमाण असख्यात आकाशके प्रदेशोको रोकता है (सूत्र १०, १४, १२)

(३) जिस पुद्गलकी स्निग्धता या रूक्षता जघन्यरूपसे हो वह बन्धके पात्र नही तथा एक समान गुणवाले पुद्गलोका बन्ध नही होता (सूत्र ३४, ३५)। जघन्य गुणको छोडकर दो अश ही अधिक हो वहाँ स्निग्धका स्निग्धके साथ, रूक्षका रूक्षके साथ, तथा स्निग्ध रूक्षका परस्परमें बन्ध होता है और जिसके अधिक गुण हो उसरूपसे समस्त स्कध हो जाता है (सूत्र ३६, ३७) स्कधकी उत्पत्ति परमाणुओंके भेद (छूट पडनेसे—अलग होनेसे) सघात (मिलनेसे) अथवा एक ही समय दोनो प्रकारसे (भेद-संघातसे) होती है (सूत्र २६) और अणुकी उत्पत्ति भेदसे होती है (सूत्र २७) भेद सघात दोनोसे मिलकर उत्पन्न हुआ स्कध चक्षुइन्द्रियगोचर होता है (सूत्र २८)।

(४) शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, सस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत ये सब पुद्गलकी पर्यायें हैं।

(५) पुद्गल द्रव्यके हलन चलनमें धर्मद्रव्य और स्थितिमें अधर्मद्रव्य निमित्त है (सूत्र १७), अवगाहनमें आकाशद्रव्य निमित्त है और परिणमनमे कालद्रव्य निमित्त है (सूत्र १८, २२)।

(६) पुद्गल स्कधोको शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास रूपसे परिणमानेमें जीव निमित्त है (सूत्र १९), बन्धरूप होनेमे परस्पर निमित्त है (सूत्र ३३)।

नोट—स्निग्धता और रूक्षताके अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं। एक अविभागी अंशको गुण कहते हैं ऐसा यहाँ गुण शब्दका अर्थ है।

(५) स्याद्वाद सिद्धांत

प्रत्येक द्रव्य गुण–पर्यायात्मक है उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त सत् है, सप्त भंगस्वरूप है। इस तरह द्रव्यमें त्रिकाली अखंड स्वरूप और प्रत्येक समयमें प्रवर्तमान अवस्था–ऐसे दो पहलू होते हैं। पुनरपि स्वयं स्व से अस्तिरूप है और परसे नास्तिरूप है। इसीलिये द्रव्य गुण और पर्याय सब अनेकांतात्मक* (अनेक धर्मरूप) हैं। अल्पज्ञ जीव किसी भी पदार्थका विचार क्रमपूर्वक करता है परन्तु समस्त पदार्थको एक साथ विचार में नहीं ले सकता विचारमें आनेवाले पदार्थके भी एक पहलूका विचार कर सकता है और फिर दूसरे पहलूका विचार कर सकता है। इसप्रकार उसके विचार और कथनमें क्रम पड़े बिना नहीं रहता। इसीलिये जिस समय त्रिकाली ध्रुव पहलूका विचार करे तब दूसरे पहलू विचारके लिये मुल्तवी रहें। अत जिसका विचार किया जावे उसे मुख्य और जो विचार में बाकी रहे उन्हें गौण किया जावे। इसप्रकार वस्तुके अनेकांतस्वरूपका निर्णय करनेमें क्रम पड़ता है। इस अनेकांतस्वरूपका कथन करनेके लिये तथा उसे समझनेके लिये उपरोक्त पद्धति ग्रहण करना इसीका नाम स्याद्वाद है। और यह इस अध्यायके ३२ वें सूत्रमें बताया है। जिस समय जिस पहलू (अर्थात् धर्म) को ज्ञानमें लिया जावे उसे 'अर्पित' कहा जाता है और उसी समय जो पहलू अर्थात् धर्म ज्ञानमें गौण रहे हों वह अनर्पित कहलाता है। इस तरह समस्त स्वरूपकी सिद्धि–प्राप्ति–निश्चित–ज्ञान हो सकता है। उस निश्चित पदार्थके ज्ञानको प्रमाण और एक धर्मके ज्ञानको नय कहते हैं और स्यात् अस्ति–नास्ति के भेदों द्वारा उसी पदार्थके ज्ञानको सप्तभंगी स्वरूप कहा जाता है।

(६) अस्तिकाय

छह द्रव्योंमें से जीव धर्म अधर्म आकाश और पुद्गल ये पांच

---

* [illegible]—[illegible] + [illegible] ([illegible])—[illegible]।

अस्तिकाय हैं (सूत्र १, २, ३), और काल अस्ति है (सूत्र २, ३९) किंतु काय–बहुप्रदेशी नही है (सूत्र १)

(७) जीव और पुद्‌गल द्रव्यकी सिद्धि १–२

(१) 'जीव' एक पद है और इसीलिये वह जगत् की किसी वस्तु को–पदार्थको वतलाता है, इसलिये अपने को यह विचार करना है कि वह क्या है। इसके विचारनेमे अपने को एक मनुष्यका उदाहरण लेना चाहिये जिससे विचार करने मे सुगमता हो।

(२) हमने एक मनुष्यको देखा, वहाँ सर्व प्रथम हमारी दृष्टि उसके शरीर पर पडेगी तथा यह भी ज्ञात होगा कि वह मनुष्य ज्ञान सहित पदार्थ भी है। ऐसा जो निश्चित् किया कि शरीर है वह इन्द्रियोसे निश्चित किया किंतु उस मनुष्यके ज्ञान है ऐसा जो निश्चय किया वह इन्द्रियोसे निश्चित् नही किया, क्योकि अरूपी ज्ञान इद्रियगम्य नही है, किन्तु उस मनुष्य के वचन, या शरीरकी चेष्टा परसे निश्चय किया गया है। उनमे से इन्द्रियो द्वारा शरीरका निश्चय किया, इस ज्ञानको अपन इन्द्रियजन्य कहते है और उस मनुष्यमें ज्ञान होने का जो निश्चय किया सो अनुमानजन्य ज्ञान है।

(३) इसप्रकार मनुष्यमे हमें दो भेद मालूम हुए—१-इन्द्रियजन्य ज्ञानसे शरीर, २-अनुमान जन्य ज्ञानसे ज्ञान। फिर चाहे किसी मनुष्य के ज्ञान अल्पमात्रमे प्रगट हो या किसी के ज्यादा—विशेष ज्ञान प्रगट हो। हमे यह निश्चय करना चाहिये कि उन दोनो वातो के जानने पर वे दोनों एक ही पदार्थ के गुण हैं या भिन्न २ पदार्थों के वे गुण हैं ?

(४) जिस मनुष्यको हमने देखा उसके सम्बन्धमे निम्न प्रकार से दृष्टांत दिया जाता है।

(१) उस मनुष्यके हाथमे कुछ लगा और शरीरमे से खून निकलने लगा।

(२) उस मनुष्य ने रक्त निकलता हुआ जाना और वह रक्त तुरत ही बन्द हो जाय तो ठीक, ऐसी तीव्र भावना भाई।

(३) किन्तु उसी समय रक्त ज्यादा निकलने लगा और कई उपाय किये, किन्तु उसके बन्द होने में बहुत समय लगा।

(४) रक्त बन्द होने के बाद हमें जल्दी आराम हो जाय ऐसी उस मनुष्य ने निरन्तर भावना करना जारी रखी।

(५) किन्तु भावनाके अनुसार परिणाम निकलनेके बदलेमें वह भाग सड़ता गया।

(६) उस मनुष्यको शरीरमें ममत्वके कारण बहुत दुःख हुआ और उसे उस दुःखका अनुभव भी हुआ।

(७) दूसरे सगे सम्बन्धियोंने यह जाना कि उस मनुष्यको दुःख होता है, किन्तु वे उस मनुष्यके दुःख के अनुभवका कुछ भी अंश न ले सके।

(८) अंतमें उसने हाथके सड़े हुए भागको कटवाया।

(९) वह हाथ कटा तथापि उस मनुष्यका ज्ञान उतना ही रहा और विशेष अभ्याससे ज्यादा बढ़ गया और बाकी रहा हुआ शरीर बहुत कमजोर होता गया तथा वजनमें भी घटता गया।

(१०) शरीर कमजोर हुआ तथापि उसके ज्ञानाभ्यासके बलसे धैर्य रहा और शांति बढ़ी।

५—हमें यह जानना चाहिये कि ये सब बातें क्या सिद्ध करती हैं। मनुष्यमें विचार शक्ति (Reasoning Faculty) है और वह तो प्रत्येक मनुष्यके अनुभवगम्य है। अब विचार करने पर निम्न सिद्धांत प्रगट होते हैं—

(१) शरीर और ज्ञान धारण करनेवाली वस्तु ये दोनों पृथक २ पदार्थ हैं क्योंकि उस ज्ञान धारण करनेवाली वस्तुने खून तत्क्षण हो बंद हो जाय तो ठीक हो' ऐसी इच्छा की तथापि खून बंद नहीं हुआ' इतना ही नहीं किन्तु इच्छासे विरुद्ध शरीरकी और खूनकी अवस्था हुई। यदि शरीर और ज्ञान धारण करनेवाली वस्तु ये दोनों एक ही हों तो ऐसा न हो।

(२) यदि यह दोनों वस्तुयें एक ही होवें तो जब ज्ञान करने-

वाले ने इच्छा की उसी समय खून बन्द हो जाता ।

(३) यदि वह दोनो एक ही वस्तु होती तो रक्त तुरत ही वद हो जाता, इतना ही नही किन्तु ऊपर नं० (४-५) मे बताये गये माफिक भावना करनेके कारण शरीरका वह भाग भी नही सडता, इसके विपरीत जिस समय इच्छा की उस समय तुरन्त ही आराम हो जाता । किंतु दोनो पृथक् होनेसे वैसा नही होता ।

(४) ऊपर न० (६-७) में जो हकीकत बतलाई है वह सिद्ध करती है कि जिसका हाथ सडा है वह और उसके सगे सम्बन्धी सब स्वतत्र पदार्थ हैं। यदि वे एक ही होते तो वे उस मनुष्यका दु'ख एक होकर भोगते और वह मनुष्य अपने दु'खका भाग उनको देता अथवा घनिष्ट सम्बन्धीजन उसका दु'ख लेकर वे स्वय भोगते, किन्तु ऐसा नही बन सकता, अतः यह सिद्ध हुआ कि वे भी इस मनुष्यसे भिन्न स्वतत्र ज्ञानरूप और शरीर सहित व्यक्ति हैं ।

(५) ऊपर न० (८-९) मे जो वृत्त बतलाया है यह सिद्ध करता है कि शरीर संयोगी पदार्थ है, इसीलिये हाथ जितना भाग उसमे से अलग हो सका। यदि वह एक अखड पदार्थ होता तो हाथ जितना टुकडा काटकर अलग न किया जा सकता । पुनश्च वह यह सिद्ध करता है कि शरीरसे ज्ञान स्वतत्र है क्योंकि शरीरका अमुक भाग कटाया तथापि उतने प्रमाणमें ज्ञान कम नही होता किन्तु उतना ही रहता है, और यद्यपि शरीर कमजोर होता जाय तथापि ज्ञान बढता जाता है अर्थात् यह सिद्ध हुआ कि शरीर और ज्ञान दोनो स्वतत्र वस्तुऐं हैं ।

(६) उपरोक्त न० (१०) से यह सिद्ध हुआ कि यद्यपि ज्ञान बढा तो भी वजन नही बढा परन्तु ज्ञानके साथ सम्बन्ध रखनेवाले धैर्य, शाति आदिमे वृद्धि हुई, यद्यपि शरीर वजनमे घटा तथापि ज्ञानमे घटती नही हुई, इसलिये ज्ञान और शरीर ये दोनो भिन्न, स्वतत्र, विरोधी गुणवाले पदार्थ हैं। जैसे कि–(अ) शरीर वजन सहित और ज्ञान वजन रहित है (ब) शरीर घटा, ज्ञान बढा, (क) शरीरका भाग कम हुआ, ज्ञान उतना ही रहा और फिर बढा, (ड) शरीर इन्द्रिय गम्य है, सयोगी है और अलग हो

सकता है, किसी दूसरी जगह उसका भाग अलग होकर रह सकता है ज्ञान वस्तु इन्द्रियगम्य नहीं किन्तु ज्ञानगम्य है उसके टुकड़े या हिस्से नहीं हो सकते क्योंकि वह असंयोगी है, और सदा अपने द्रव्य-क्षेत्र (आकार) काल और भावोंसे अपनेमें अखण्डित रहता है। और इसलिये उसका कोई भाग अलग होकर अन्यत्र नहीं रह सकता तथा किसीको दे नहीं सकता; (६) यह संयोगी पदार्थसे शरीर बना है उसके टुकड़े हिस्से हो सकते हैं परन्तु ज्ञान नहीं मिलता किसी संयोगसे कोई अपना ज्ञान दूसरेको दे नहीं सकता किन्तु अपने अभ्याससे ही ज्ञान बढ़ा सकनेवाला असंयोगी और निजमें से आनेवाला होनेसे ज्ञान स्व के ही—आत्माके ही आश्रित रहने वाला है।

(७) ज्ञान' गुण वाचक नाम है ' वह गुणी बिना नहीं होता इस लिये ज्ञान गुणको धारण करनेवाली ऐसी एक वस्तु है। उसे जीव आत्मा, सचेतन पदार्थ चैतन्य इत्यादि नामोंसे पहिचाना जा सकता है। इस तरह *जीव पदार्थ ज्ञान सहित असंयोगी अरूपी और अपने ही भावोंका अपनेमें* कर्ता—भोक्ता सिद्ध हुआ और उससे विरुद्ध शरीर ज्ञान रहित अजीव, संयोगी रूपी पदार्थ सिद्ध हुआ' वह पुद्गल नामसे पहचाना जाता है। शरीर के अतिरिक्त जो जो पदार्थ दृश्यमान होते हैं वे सभी शरीरकी तरह पुद्गल ही हैं। और वे सब पुद्गल सदा अपने ही भावोंका अपनेमें कर्ता—भोक्ता हैं जीवसे सदा भिन्न होने पर भी अपना कार्य करनेमें सामर्थ्यवान हैं।

(८) पुनश्च ज्ञानका ज्ञानत्व कायम रहकर उसमें हानि वृद्धि होती है। उस कमावेशीको ज्ञानकी तारतम्यतारूप अवस्था कहा जाता है। शास्त्रकी परिभाषामें उसे 'पर्याय' कहते हैं। जो नित्य ज्ञानत्व स्थिर रहता है सो ज्ञानगुण' है।

(९) शरीर संयोगी सिद्ध हुआ इसलिये वह वियोग सहित ही होता है। पुनश्च शरीरके छोटे २ हिस्से करें तो कई हों और जलाने पर राख हो। इसीलिये यह सिद्ध हुआ कि शरीर अनेक रजकणोंका पिंड है। जैसे जीव और ज्ञान इंद्रियगम्य नहीं किंतु विचार (Reasoning) गम्य है उसी तरह पुद्गलरूप अविभागी रजकण भी इंद्रियगम्य नहीं किंतु ज्ञानगम्य है।

(१०) शरीर यह मूल वस्तु नहीं किन्तु अनेक रजकणोंका पिंड है

और रजकण स्वतंत्र वस्तु है अर्थात् असंयोगी पदार्थ है। और स्वयं परिणमनशील है।

(११) जीव और रजकण असंयोगी हैं अत' यह सिद्ध हुआ कि वे अनादि अनन्त है, क्योकि जो पदार्थ किसी सयोगसे उत्पन्न न हुआ हो उसका कदापि नाश भी नही होता।

(१२) शरीर एक स्वतत्र पदार्थ नही है किन्तु अनेक पदार्थोंकी संयोगी अवस्था है। अवस्था हमेशा प्रारम्भ सहित ही होती है इसलिये शरीर शुरुआत–प्रारम्भ सहित है। वह सयोगी होनेसे वियोगी भी है।

६—जीव अनेक और अनादि अनन्त हैं तथा रजकण अनेक और अनादि अनन्त हैं। एक जीव किसी दूसरे जीवके साथ पिंडरूप नही हो सकता, परन्तु स्पर्शके कारण रजकण पिंडरूप होता है। अत· यह सिद्ध हुआ कि द्रव्यका लक्षण सत्, अनेक द्रव्य, रजकण, उसके स्कंध, उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य इत्यादि विषय इस अध्यायमे कहे गये है।

७—इस तरह जीव और पुद्गलका पृथक्त्व तथा अनादि अनन्तत्व सिद्ध होने पर निम्न लौकिक मान्यतायें असत्य ठहरती हैं—

(१) अनेक रजकणोंके एकमेक रूप होनेपर उनमेसे नया जीव उत्पन्न होता है यह मान्यता असत्य है क्योकि रजकण सदा ज्ञान रहित जड हैं इसीलिये ज्ञान रहित कितने भी पदार्थोंका सयोग हो तो भी जीव उत्पन्न नही होता। जैसे अनेक अधकारोके एकत्रित करने पर उनमेंसे प्रकाश नही होता उसी तरह अजीवमेंसे जीवकी उत्पत्ति नही होती।

(२) ऐसी मान्यता असत्य है कि जीवका स्वरूप क्या है वह अपने को मालुम नही होता, क्योकि ज्ञान क्या नही जानता ? ज्ञानकी रुचि बढानेपर आत्माका स्वरूप बराबर जाना जा सकता है। इसलिये यह विचारसे गम्य है (Reasoning—दलीलगम्य) है ऐसा ऊपर सिद्ध किया है।

(३) कोई ऐसा मानते हैं कि जीव और शरीर ईश्वरने बनाये, किन्तु यह मान्यता असत्य है, क्योकि दोनो पदार्थ अनादि अनत हैं, अनादि अनन्त पदार्थोंका कोई कर्ता हो ही नही सकता।

८—उपरोक्त पैरा ४ के पैरेमें जो १० उप पैरा दिया है उस परसे यह सिद्ध होता है कि यदि जीव शरीरका कुछ कर सकता है अथवा शरीर जीवका कुछ कर सकता है ऐसी मान्यता मिथ्या है। इस विषयका सिद्धांत इस अध्यायके सूत्र ४१ की टीकामें भी दिया है।

(८) उपादान निमित्त संबंधी सिद्धांत

जीव पुद्गलके अतिरिक्त दूसरे चार द्रव्योंकी सिद्धि करनेसे पहले हमें उपादान निमित्तके सिद्धांतको और उसकी सिद्धिको समझ लेना आवश्यक है। उपादान अर्थात् वस्तुकी सहज शक्ति—निजशक्ति और निमित्तका अर्थ है संयोगरूप परवस्तु।

इसका दृष्टांत—एक मनुष्यका नाम देवदत्त है इसका यह अर्थ है कि देवदत्त स्वयं स्व से स्व-रूप है किंतु वह यज्ञदत्त इत्यादि किसी दूसरे पदार्थ रूप नहीं है ऐसा समझनेसे दो पदार्थ भिन्नरूपसे सिद्ध होवे हैं, १—देवदत्त स्वयं २—यज्ञदत्त इत्यादि दूसरे पदार्थ। देवदत्तका अस्तित्व सिद्ध करने में दो कारण हुये—(१) देवदत्त स्वयं (२) यज्ञदत्त इत्यादि दूसरे पदार्थ जो जगत्‌में सद्भावरूप हैं किन्तु उनका देवदत्तमें अभाव। इन दो कारणोंमें देवदत्तका स्वयंका अस्तित्व निजशक्ति होनेसे मूलकारण अर्थात् उपादानकारण है और जगत्‌के यज्ञदत्त इत्यादि दूसरे पदार्थोंका अपने-अपनेमें सद्भाव और देवदत्तमें अभाव वह देवदत्तका अस्तित्व सिद्ध करनेमें निमित्त कारण है। यदि इस तरह न माना जाये और यज्ञदत्त आदि अन्य किसी भी पदार्थका देवदत्तमें सद्भाव माना जाये तो वह भी देवदत्त होजायगा। ऐसा होनेसे देवदत्तकी स्वतंत्रसत्ता ही सिद्ध नहीं होसकेगी।

पुनश्च यदि यज्ञदत्त इत्यादि दूसरे पदार्थोंकी सत्ता ही—सद्भाव ही न मानें तो देवदत्तका अस्तित्व भी सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि एक मनुष्य को दूसरेसे भिन्न बतानेके लिए उसे देवदत्त कहा इसलिये देवदत्तके सत्ता रूपमें देवदत्त मूल उपादानकारण और जिससे उसे पृथक् बतलाया वैसे अन्य पदार्थ सो निमित्त कारण है—इससे ऐसा नियम भी सिद्ध हुआ कि निमित्त कारण उपादानके लिये अनुकूल होता है किंतु प्रतिकूल नहीं होता। देवदत्त के देवदत्तपनेमें परद्रव्य उसके अनुकूल हैं क्योंकि वे देवदत्तरूप नहीं

होते। यदि वे देवदत्तरूप से हो जायें तो प्रतिकूल हो जायें और ऐसा होने पर दोनोका (देवदत्त और परका) नाश हो जाए।

इसतरह दो सिद्धांत निश्चित हुए—(१) प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय की जो स्वसे अस्ति है सो उपादानकारण है और परद्रव्य-गुण-पर्यायकी जो उसमे नास्ति है सो निमित्तकारण है, निमित्तकारण तो मात्र आरोपित कारण है, यथार्थ कारण नही है; तथा वह उपादानकारणको कुछ भी नहीं करता। जीवके उपादानमे जिस जातिका भाव हो उस भावको अनुकूलरूप होनेका निमित्तमे आरोप किया जाता है। सामने सत् निमित्त हो तथापि कोई जीव यदि विपरीत भाव करे तो उस जीवके विरुद्धभावमे भी उपस्थित वस्तुको अनुकूल निमित्त बनाया–ऐसा कहा जाता है। जैसे कोई जीव तीर्थङ्कर भगवानके समवशरणमे गया और दिव्यध्वनिमे वस्तुका जो यथार्थस्वरूप कहा गया वह सुना, परन्तु उस जीवके गलेमें बात नही उतरी अर्थात् स्वय समझा नही इसलिये वह विमुख हो गया तो कहा जाता है कि उस जीवने अपने विपरीत भावके लिये भगवानकी दिव्यध्वनिको अनुकूल निमित्त बनाया।

(९) उपरोक्त सिद्धांतके आधारसे जीव, पुद्गलके अतिरिक्त चार द्रव्योंकी सिद्धि

दृष्टिगोचर होनेवाले पदार्थोंमें चार बातें देखनेमे आती हैं, (१) ऐसा देखा जाता है कि वह पदार्थ ऊपर, नीचे, यहाँ, वहाँ है। (२) वही पदार्थ अभी, फिर, जब, तब, तभीसे अभीतक—इसतरह देखा जाता है (३) वही पदार्थ स्थिर, स्तब्ध, निश्चल इस तरहसे देखा जाता है और (४) वही पदार्थ हिलता–डुलता, चचल, अस्थिर देखा जाता है। यह चार बातें पदार्थोंको देखनेपर स्पष्ट समझमे आती हैं, तो भी इन विषयो द्वारा पदार्थोंकी किंचित् आकृति नही बदलती। उन उन कार्योंका उपादान कारण तो वह प्रत्येक द्रव्य है, किंतु उन चारो प्रकारकी क्रिया भिन्न भिन्न प्रकार की होनेसे उस क्रियाके सूचक निमित्त कारण पृथक् ही होते हैं।

इस सम्बन्धमे यह ध्यान रखना कि किसी पदार्थमे पहली, दूसरी

और तीसरी अथवा पहली, दूसरी और चौथी बातें एक साथ देखी जाती हैं। किन्तु तीसरी, चौथी और पहली अथवा तीसरी चौथी और दूसरी यह बातें कभी एक साथ नहीं होती।

अब हमें एक एक बारेमें क्रमशः देखना चाहिये।

५. आकाश की सिद्धि—२

जगतकी प्रत्येक वस्तुको अपना क्षेत्र होता है अर्थात् उसे लम्बाई चौड़ाई होती है मानो उसे अपना अवगाहन होता है। यह अवगाहन अपना उपादान कारण हुआ और उसमें निमित्तकारणरूप दूसरी वस्तु होती है।

निमित्तकारणरूप दूसरी वस्तु ऐसी होनी चाहिये कि उसके साथ उपादान वस्तु अवगाहनमें एकरूप न हो जाय। उपादान स्वयं अवगाहनरूप है तथापि अवगाहनमें जो परद्रव्य निमित्त है उससे वह विभिन्नरूपमें कायम रहे अर्थात् परमार्थसे प्रत्येक द्रव्य स्व-स्वके अवगाहनमें ही है।

पुनश्च यह वस्तु जगतके समस्त पदार्थोंको एक साथ निमित्त कारण चाहिये क्योंकि जगत्के समस्त पदार्थ अनादि हैं और सभीके अपना-अपना क्षेत्र है वह उसका अवगाहन है। अवगाहनमें निमित्त होने वाली वस्तु समस्त अवगाहन लेनेवाले द्रव्योंसे बड़ी चाहिये। जगतमें ऐसी एक वस्तु अवगाहनमें निमित्तकारणरूप है, उसे 'आकाशद्रव्य' कहा जाता है।

और फिर जगतमें सूक्ष्म स्थूल ऐसे दो प्रकारके तथा रूपी और अरूपी ऐसे दो प्रकारके पदार्थ हैं। उन उपादानरूप पदार्थोंके निमित्तरूप से अनुकूल कोई परद्रव्य होना चाहिये और उसका उपादानसे प्रभाव चाहिये और फिर अबाधित अवगाहन देनेवाला पदार्थ अरूपी ही हो सकता है। इस तरह आकाश एक सर्व व्यापक सबसे बड़ा अरूपी और अनादि द्रव्यरूप सिद्ध होता है।

यदि आकाश द्रव्यको न माना जावे तो द्रव्यमें स्व क्षेत्रत्व नहीं रहेगा और ऊपर नीचे—यहाँ-वहाँ ऐसा निमित्तका ज्ञान करानेवाला स्थान नहीं रहेगा। अल्पज्ञानवाले मनुष्यको निमित्तद्वारा ज्ञान कराये बिना वह उपादान

और निमित्त दोनोका यथार्थ ज्ञान नही कर सकता इतना ही नही किन्तु यदि उपादानको न मानें तो निमित्तको भी नही मान सकेंगे और निमित्त को न मानें तो वह उपादनको नही मान सकेगा। दोनोके यथार्थ रूपसे माने विना यथार्थ ज्ञान नही हो सकेगा; इस तरह उपादान और निमित्त दोनोको शून्यरूपसे अर्थात् नही होने रूपसे मानना पडेगा और इस तरह समस्त पदार्थोंको शून्यत्व प्राप्त होगा, किन्तु ऐसा वन ही नही सकता।

च. कालकी सिद्धि—४

द्रव्य कायम रहकर एक अवस्था छोडकर दूसरी अवस्था रूपसे होता है, उसे वर्तना कहते हैं। इस वर्तनामे उस वस्तुकी निज शक्ति उपादान कारण है, क्योकि यदि निजमे वह शक्ति न हो तो स्वय न परिणमे। पहिले यह सिद्ध किया है कि किसी भी कार्यके लिये दो कारण स्वतत्र रूपसे होते हैं; इसीलिये निमित्त कारण सयोगरूपसे होना चाहिये। अतः उस वर्तनामे निमित्त कारण एक वस्तु है उस वस्तुको 'काल द्रव्य' कहा जाता है और फिर निमित्त अनुकूल होता है। सबसे छोटा द्रव्य एक रजकरण है, इसलिये उसे निमित्त कारण भी एक रजकरण बराबर चाहिये। अतः यह सिद्ध हुआ कि कालाणु एक प्रदेशी है।

प्रश्न—यदि काल द्रव्यको अणुप्रमाण न मानें और बड़ा मानें तो क्या दोष लगेगा?

उत्तर—उस अणुके परिणमन होनेमे छोटेसे छोटा समय न लगकर अधिक समय लगेगा और परिणमन शक्तिके अधिक समय लगेगा तो निज शक्ति न कहलायेगी। पुनश्च अल्पसे अल्प काल एक समय जितना न होनेसे काल द्रव्य वडा हो तो उसकी पर्याय बडी होगी। इस तरह दो समय, दो घटे, क्रमश' न होकर एक साथ होगे जो बन नही सकते। एक एक समय करके कालको वडा मानें तो ठीक है किन्तु एक साथ लम्बा काल (अधिक समय) नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो तो किसी भी समय की गिनती न हो सके।

प्रश्न—यह सिद्ध हुआ कि कालद्रव्य एक प्रदेशी है उससे वडा

नहीं, परन्तु ऐसा किसलिये मानना कि कालाणु समस्त लोकमें हैं ?

उत्तर—जगतमें आकाशके एक २ प्रदेश पर अनेक पुद्गल परमाणु और उतने ही क्षेत्रको रोकनेवाले सूक्ष्म अनेक पुद्गल स्कंध हैं और उनके परिणमनमें निमित्त कारण प्रत्येक आकाशके प्रदेशमें एक एक कालाणु होना सिद्ध होता है।

प्रश्न—एक आकाशके प्रदेशमें अधिक कालाणु स्कंधरूप माननेमें क्या विरोध आता है ?

उत्तर—जिसमें स्पर्श गुण हो उसीमें स्कंधरूप बन्ध होता है और वह तो पुद्गल द्रव्य है। कालाणु पुद्गल द्रव्य नहीं अरूपी है, इसलिये उसका स्कन्ध ही नहीं होता।

८. अधर्मास्तिकाय और धर्मास्तिकायकी सिद्धि ५-६

जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें क्रियावती शक्ति होनेसे उनके हलन चलन होता है, किन्तु वह हलन चलन रूप क्रिया निरन्तर नहीं होती। वे किसी समय स्थिर होते और किसी समय गतिरूप होते हैं क्योंकि स्थिरता या हलन चलनरूप क्रिया गुण नहीं है किन्तु क्रियावती शक्तिकी पर्याय है। उस क्रियावती शक्तिकी स्थिरतारूप परिणमनका मूलकारण द्रव्य स्वयं है, उसका निमित्तकारण उससे अन्य चाहिये। यह पहले बताया गया है कि जगतमें निमित्तकारण होता ही है। इसीलिये जो स्थिरतारूप परिणमनका निमित्त कारण है उस द्रव्यको अधर्मद्रव्य कहते हैं। क्रियावती शक्तिके हलन-चलनरूप परिणमनका मूलकारण द्रव्य स्वयं है और हलन चलनमें जो निमित्त है उसे धर्मद्रव्य कहते हैं। हलन चलनका निमित्त कारण अधर्मद्रव्यसे विपरीत चाहिये और वह धर्मद्रव्य है।

(१०) इन छह द्रव्योंके एक ही जगह होनेकी सिद्धि

हमने पहले जीव-पुद्गलकी सिद्धि करनेमें मनुष्यका दृष्टान्त लिया था उस परसे यह सिद्धि सरल होगी।

(१) जीव ज्ञानगुण धारक पदार्थ है।

(२) यह शरीर यह सिद्ध करता है कि शरीर संयोगी, जड, रूपी पदार्थ है, यह भी उसी जगह है, इसका मूल अनादि-अनंत पुद्गल द्रव्य है।

(३) वह मनुष्य आकाशके किसी भागमे हमेशा होता है, इसीलिये उसी स्थान पर आकाश भी है।

(४) उस मनुष्यकी एक अवस्था दूर होकर दूसरी अवस्था होती है। इस अपेक्षासे उसी स्थानपर काल द्रव्यके अस्तित्वकी सिद्धि होती है।

(५) उस मनुष्यके जीवके असंख्यात प्रदेशमे समय समय पर एक क्षेत्रावगाह रूपसे नोकर्म वर्गणाएँ और नवीन-नवीन कर्म बंधकर वहाँ स्थिर होते हैं, इस दृष्टिसे उसी स्थान पर अधर्मद्रव्यकी सिद्धि होती है।

(६) उस मनुष्यके जीवके असख्यात प्रदेशके साथ प्रतिसमय अनेक परमाणु आते जाते हैं, इस दृष्टिसे उसी स्थान पर धर्मद्रव्यकी सिद्धि होती है।

इस तरह छहो द्रव्योका एक क्षेत्रमे अस्तित्व सिद्ध हुआ।

(११) अन्य प्रकारसे छह द्रव्योंके अस्तित्वकी सिद्धि

१–२ जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य

जो स्थूल पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं ऐसे शरीर, पुस्तक, पत्थर, लकडी इत्यादिमें ज्ञान नही है अर्थात् वे अजीव हैं, इन पदार्थोंको तो अज्ञानी भी देखता है। उन पदार्थोंमे वृद्धि-ह्रास होता रहता है अर्थात् वे मिल जाते हैं और बिछुड जाते हैं। ऐसे दृष्टिगोचर होनेवाले पदार्थोंको पुद्गल कहा जाता है। वर्ण, गध, रस और स्पर्श ये पुद्गल द्रव्यके गुण हैं, इसीलिये पुद्गल द्रव्य काला-सफेद, सुगन्ध-दुर्गन्ध, खट्टा-मीठा, हल्का-भारी, इत्यादि रूपसे जाना जाता है, यह सब पुद्गलकी ही अवस्थायें है। जीव तो काला-सफेद, सुगधित-दुर्गन्धित, इत्यादि रूपसे नही है, जीव तो ज्ञानवाला है। शब्द सुनाई देता है या बोला जाता है वह भी पुद्गलकी ही हालत है। उन पुद्गलोसे जीव अलग है। जगतमे किसी अचेत मनुष्यको देखकर कहा जाता है कि इसका चेतन कहाँ चला गया ? अर्थात् यह शरीर तो अजीव है, वह तो जानता नही, किन्तु जाननेवाला ज्ञान कहाँ चला गया ? अर्थात् जीव कहाँ गया ? इसमे जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योकी सिद्धि हुई।

३—आकाशद्रव्य

लोग अव्यक्तरूपसे यह तो स्वीकार करते हैं कि 'आकाश' नामका द्रव्य है। दस्तावेजोंमें ऐसा लिखते हैं कि "अमुक मकान इत्यादि स्थानका आकाशसे पाताल पर्यन्त हमारा हक है" अर्थात् यह निश्चय हुआ कि आकाशसे पाताल रूप कोई एक वस्तु है। यदि आकाशसे पाताल पर्यन्त कोई वस्तु ही न हो तो ऐसा क्यों लिखा जाता है कि 'आकाशसे पाताल तकका हक (-दावा) है? वस्तु है इसलिये उसका हक माना जाता है। आकाशसे पाताल तक अर्थात् सर्वव्यापी रही हुई वस्तुको 'आकाश द्रव्य' कहा जाता है। यह द्रव्य ज्ञान रहित और अरूपी है उसमें रङ्ग, रस वगैरह नहीं हैं।

४—कालद्रव्य

जीव पुद्गल और आकाश द्रव्यको सिद्ध किया अब यह सिद्ध किया जाता है कि 'काल' नामकी एक वस्तु है। लोग दस्तावेज कराते और उसमें लिखाते हैं कि 'यावत् चन्द्रदिवाकरौ जब तक सूर्य और चन्द्र रहेंगे तब तक हमारा हक है। इसमें काल द्रव्यको स्वीकार किया। इसी समय ही हक है ऐसा नहीं किन्तु काल जैसा बढ़ता जाता है उस समस्त कालमें हमारा हक है इसप्रकार कालको स्वीकार करता है। "हमारा वैभव भविष्यमें ऐसा ही बना रहो" —इस भावनामें भी भविष्यत कालको भी स्वीकार किया और फिर ऐसा कहते हैं कि 'हम तो सात पीढ़ीसे सुखी हैं' वहाँ भी भूतकाल स्वीकार करता है। भूतकाल वर्तमान काल और भविष्यतकाल ये समस्त भेद निश्चय कालद्रव्यकी व्यवहार पर्याय के हैं। यह काल द्रव्य भी अरूपी है और उसमें ज्ञान नहीं है।

इस तरह जीव पुद्गल आकाश और काल द्रव्यकी सिद्धि हुई। अब धर्म और अधर्म ये दो द्रव्य शेष रहे।

५—धर्मद्रव्य

जीव इस धर्म द्रव्यको भी अव्यक्तरूपसे स्वीकार करता है। छहों द्रव्योंके अस्तित्वको स्वीकार किये बिना कोई भी व्यवहार नहीं चल सकता। आना जाना रहना इत्यादि सभीमें छहों द्रव्योंकी अस्ति सिद्ध हो जाती है।

चार द्रव्य तो सिद्ध हो चुके है अब बाकीके दो द्रव्य सिद्ध करना है। यह कहनेमे धर्म द्रव्य सिद्ध हो जाता है कि 'एक ग्रामसे दूसरे ग्राम आया।' एक ग्रामसे दूसरे ग्राम आया इसका क्या अर्थ है ? यानि जीव और शरीरके परमाणुओंकी गति हुई, एक क्षेत्रसे दूसरा क्षेत्र बदला। अब इस क्षेत्र बदलनेके कार्यमे किस द्रव्यको निमित्त कहेंगे ? क्योंकि ऐसा नियम है कि प्रत्येक कार्यमे उपादान और निमित्त कारण होता ही है। यह विचार करते हैं कि जीव और पुद्गलोको एक ग्रामसे दूसरे ग्राम आनेमें निमित्त कौनसा द्रव्य है। प्रथम तो 'जीव और पुद्गल ये उपादान हैं' उपादान स्वय निमित्त नहीं कहलाता। निमित्त तो उपादानसे भिन्न ही होता है, इसलिये जीव या पुद्गल ये क्षेत्रातरके निमित्त नही। काल द्रव्य तो परिणमनमे निमित्त है अर्थात् पर्याय बदलनेमे निमित्त है किंतु काल द्रव्य क्षेत्रातरका निमित्त नही है, आकाश द्रव्य समस्त द्रव्योको रहनेके लिये स्थान देता है जब ये पहले क्षेत्रमे थे तब भी जीव और पुद्गलोको आकाश निमित्त था और दूसरे क्षेत्रमें भी वही निमित्त है, इसलिये आकाशको भी क्षेत्रातरका निमित्त नही कह सकते। तो फिर यह निश्चित होता है कि क्षेत्रांतररूप जो कार्य हुआ उसका निमित्त इन चार द्रव्योके अतिरिक्त कोई अन्य द्रव्य है। गति करनेमे कोई एक द्रव्य निमित्तरूपसे है किन्तु वह कौनसा द्रव्य है इसका जीवने कभी विचार नही किया, इसीलिये उसकी खबर नही है। क्षेत्रांतर होनेमे निमित्तरूप जो द्रव्य है उस द्रव्यको 'धर्म-द्रव्य' कहा जाता है। यह द्रव्य भी अरूपी और ज्ञान रहित है।

६—अधर्मद्रव्य

जिस तरह गति करनेमे धर्म द्रव्य निमित्त है उसीतरह स्थितिमें उससे विरुद्ध अधर्मद्रव्य निमित्तरूप है। "एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमे आकर स्थिर रहा" यहाँ स्थिर रहनेमें निमित्त कौन है ? आकाश स्थिर रहनेमे निमित्त नही है, क्योंकि आकाशका निमित्त तो रहनेके लिये है, गति के समय भी रहनेमे आकाश निमित्त था, इसीलिये स्थितिका निमित्त कोई अन्य द्रव्य चाहिये वह द्रव्य 'अधर्म द्रव्य' है। यह भी अरूपी और ज्ञान रहित है।

इसप्रकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों की सिद्धि की। इन छहके अतिरिक्त सातवाँ कोई द्रव्य है ही नहीं, और इन छहमेंसे एक भी न्यून नहीं है, बराबर छह ही द्रव्य हैं और ऐसा माननेसे ही यथार्थ वस्तुकी सिद्धि होती है। यदि इन छहके अतिरिक्त सातवाँ कोई द्रव्य हो तो वह बतावो कि उसका क्या कार्य है? ऐसा कोई कार्य नहीं है जो इन छह से बाहर हो, इसलिये सातवाँ द्रव्य नही है। हाँ यदि इन छह द्रव्योंमेंसे एक भी कम हो तो यह बतावो कि उसका कार्य कौन करेगा? छह द्रव्योंमेंसे एक भी द्रव्य ऐसा नहीं कि जिसके बिना विश्व नियम चल सके

छह द्रव्य संबंधी कुछ जानकारी

१—जीव—इस जगतमें अनन्त जीव हैं। ज्ञातृत्व चिह्नके (विशेष गुणके) द्वारा जीव पहचाना जाता है। क्योंकि जीवके अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थमें ज्ञातृत्व नहीं है। जीव अनन्त हैं वे सभी एक दूसरेसे बिल्कुल भिन्न हैं। सदैव जाननेवाले हैं।

२—पुद्गल—इस जगतमें अनन्तानन्त पुद्गल हैं। वह अचेतन हैं स्पर्श रस गंध और वर्णके द्वारा पुद्गल पहचाना जाता है क्योंकि पुद्गल के सिवाय अन्य किसी पदार्थमें स्पर्श रस गन्ध या वर्ण नहीं है। जो इन्द्रियोंके द्वारा जाने जाते हैं वे सब पुद्गलके बने हुए स्कंध हैं।

३—धर्म—यहाँ धर्म कहनेसे आत्माका धर्म नहीं किन्तु 'धर्म' नामका द्रव्य समझना चाहिये। यह द्रव्य एक अखण्ड और समस्त लोकमें व्याप्त है। जीव और पुद्गलोंके गमन करते समय यह द्रव्य निमित्तरूपसे पहचाना जाता है।

४—अधर्म—यहाँ अधर्म कहनेसे आत्माका दोष नहीं किंतु अधर्म नामका द्रव्य समझना चाहिये। यह एक अखण्ड द्रव्य है जो समस्त लोकमें व्याप्त है। जीव और पुद्गल गमन करके जब स्थिर होते हैं तब यह द्रव्य निमित्तरूपसे जाना जाता है।

५—आकाश—यह एक अखंड सर्वव्यापक द्रव्य है। समस्त पदार्थोंको स्थान देनेमें यह द्रव्य निमित्तरूपसे पहचाना जाता है। इस द्रव्यके

जितने भागमें अन्य पाँचो द्रव्य रहते हैं उतने भागको 'लोकाकाश' कहा जाता है और जितना भाग अन्य पाँचो द्रव्योंसे रिक्त है उसे 'अलोकाकाश' कहा जाता है। खाली स्थानका अर्थ होता है 'अकेला आकाश।'

६—काल–असंख्य काल द्रव्य है। इस लोकके असंख्य प्रदेश हैं, उस प्रत्येक प्रदेशपर एक एक काल द्रव्य रहा हुआ है। असंख्य कालाणु है वे सब एक दूसरेसे अलग है। वस्तुके रूपान्तर (परिवर्तन) होनेमे यह द्रव्य निमित्तरूपसे जाना जाता है। [जीवद्रव्यके अतिरिक्त यह पाँचो द्रव्य सदा अचेतन हैं, उनमे ज्ञान, सुख-या दुःख कभी नही हैं।]

इन छह द्रव्योको सर्वज्ञके अतिरिक्त अन्य कोई भी प्रत्यक्ष नही जान सकता। सर्वज्ञदेवने ही इन छह द्रव्योको जाना है और उन्हीने उनका यथार्थ स्वरूप कहा है, इसीलिये सर्वज्ञके सत्यमार्गके अतिरिक्त अन्य कोई मतमे छह द्रव्योका स्वरूप हो ही नही सकता, क्योकि दूसरे अपूर्ण (अल्पज्ञ) जीव उन द्रव्योको नही जान सकते, इसलिये छह द्रव्योके स्वरूपकी यथार्थ प्रतीति करना चाहिये।

टोपीके दृष्टांतसे छह द्रव्योंकी सिद्धि

(१) देखो यह कपडेकी टोपी है, यह अनन्त परमाणुओसे मिलकर बनी है और इसके फट जाने पर परमाणु अलग हो जाते हैं। इसतरह मिलना और बिछुडना पुद्गलका स्वभाव है। पुनश्च यह टोपी सफेद है, दूसरी कोई काली, लाल आदि रंगकी भी टोपी होती हैं, रंग पुद्गल द्रव्य का चिह्न है, इसलिये जो दृष्टिगोचर होता है वह पुद्गल द्रव्य है।

(२) 'यह टोपी है पुस्तक नही' ऐसा जाननेवाला ज्ञान है और ज्ञान जीवका चिह्न है, अतः जीव भी सिद्ध हुआ।

(३) अब यह विचारना चाहिये कि टोपी कहाँ रही हुई है? यद्यपि निश्चयसे तो टोपी टोपीमे ही है, किन्तु टोपी टोपीमे ही है यह कहनेसे टोपीका बराबर ख्याल नही आ सकता, इसलिये निमित्तरूपसे यह पहचान कराई जाती है कि "अमुक स्थानमे टोपी रही हुई है।" जो स्थान कहा जाता है वह आकाश द्रव्यका अमुक भाग है, अतः आकाश-द्रव्य सिद्ध हुआ।

(४) अब यह टोपी दुहरी मुड़ जाती है जब टोपी सीधी थी तब आकाशमें थी और जब मुड़ गई तब भी आकाशमें ही है अतः आकाशके निमित्त द्वारा टोपीका दुहरापन नहीं जाना जा सकता। तो फिर टोपीकी दुहरे होनेकी क्रिया हुई अर्थात् पहले उसका क्षेत्र लम्बा था, अब वह थोड़े क्षेत्रमें रही हुई है—इस तरह टोपी क्षेत्रांतर हुई है और क्षेत्रांतर होनेमें जो वस्तु निमित्त है वह धर्मद्रव्य है।

(५) अब टोपी टेढ़ी मेढ़ी स्थिर पड़ी है। तो यहाँ स्थिर होनेमें उसे निमित्त कौन है? आकाशद्रव्य तो मात्र स्थान देनेमें निमित्त है। टोपी चले या स्थिर रहे इसमें आकाशका निमित्त नहीं है। जब टोपीने सीधी दशामेंसे टेढ़ी अवस्थारूप होनेके लिये गमन किया तब धर्मद्रव्यका निमित्त था तो अब स्थिर रहनेकी क्रियामें उसके विरुद्ध निमित्त चाहिए। गतिमें धर्मद्रव्य निमित्त था तो अब स्थिर रहनेमें अधर्मद्रव्य निमित्तरूप है।

(६) टोपी पहले सीधी थी इस समय टेढ़ी है और वह अमुक समय तक रहेगी—ऐसा जाना, वहाँ 'काल' सिद्ध हो गया। भूत वर्तमान, भविष्य अथवा पुराना—नया दिवस घंटा इत्यादि जो भेद होते हैं वे भेद किसी एक मूल वस्तुके बिना नहीं हो सकते, अतः भेद—पर्यायरूप व्यवहार कालका आधार—कारण निश्चय कालद्रव्य सिद्ध हुआ। इसतरह टोपी परसे छह द्रव्य सिद्ध हुये।

इन छह द्रव्योंमेंसे एक भी द्रव्य न हो तो जगत्का व्यवहार नहीं चल सकता। यदि पुद्गल न हो तो टोपी ही न हो। यदि जीव न हो तो टोपीके अस्तित्वका निश्चय कौन करे? यदि आकाश न हो तो यह पहचान नहीं हो सकती कि टोपी कहाँ है? यदि धर्म और अधर्म द्रव्य न हों तो टोपीमें हुआ फेरफार (क्षेत्रांतर और स्थिरता) मालूम नहीं हो सकता और यदि काल द्रव्य न हो तो पहले जो टोपी सीधी थी वही इस समय टेढ़ी है ऐसा पहले और पीछे टोपीका अस्तित्व निश्चित नहीं हो सकता अतः टोपीको सिद्ध करनेके लिये छहों द्रव्योंको स्वीकार करना पड़ता है। जगतकी किसी भी एक वस्तुको स्वीकार करनेसे व्यक्तरूपसे या अव्यक्तरूपसे छहों द्रव्योंका स्वीकार हो जाता है।

मनुष्य शरीरके दृष्टांतसे छह द्रव्योंकी सिद्धि

(१-२) यह शरीर जो दृष्टिगोचर होता है, यह पुद्गलका बना हुआ है और शरीरमे जीव रहा हुआ है। यद्यपि जीव और पुद्गल एक आकाशकी जगहमे रहते हैं तथापि दोनो पृथक् हैं। जीवका स्वभाव जानने का है और पुद्गलका यह शरीर कुछ जानता नही। शरीरका कोई भाग कट जाने पर भी जीवका ज्ञान नही कट जाता, जीव पूर्ण ही रहता है, क्योकि शरीर और जीव सदा पृथक् ही हैं। दोनो का स्वरूप पृथक् है और दोनोका काम पृथक् ही है यह जीव और पुद्गल तो स्पष्ट हैं। (३) जीव और शरीर कहाँ रह रहे हैं ? अमुक ठिकाने, पाच फुट जगहमे, दो फुट जगहमे रह रहे हैं, अत' 'जगह' कहनेसे आकाश द्रव्य सिद्ध हुआ।

यह ध्यान रहे कि यह जो कहा जाता है कि जीव और शरीर आकाशमे रहे हुये है वहाँ यथार्थमे जीव, शरीर और आकाश तीनो स्वतत्र पृथक्-पृथक् ही है, कोई एक दूसरेके स्वरूपमे नही घुस गया। जीव तो ज्ञानत्व स्वरूपसे ही रहा है, रग, गध इत्यादि शरीरमे ही है, वे जीव या आकाश आदि किसीमे नही हैं, आकाशमे वर्ण, गध इत्यादि नही है तथा ज्ञान भी नही, वह अरूपी-अचेतन है, जीवमे ज्ञान है किन्तु वर्ण गंध इत्यादि नही अर्थात् वह अरूपी-चेतन है, पुद्गलमे वर्ण-गध इत्यादि हैं किन्तु ज्ञान नही अर्थात् वह रूपी-अचेतन है, इसतरह तीनो द्रव्य एक दूसरेसे भिन्न—स्वतन्त्र हैं। प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र होनेसे **कोई दूसरी वस्तु किसी का कुछ कर नहीं सकती, यदि एक पदार्थमें दूसरा पदार्थ कुछ करता हो तो वस्तुको स्वतन्त्र कैसे कहा जायगा ?**

(४) जीव, पुद्गल और आकाश निश्चित किये अब कालका निश्चय करते हैं। ऐसा पूछा जाता है कि "तुम्हारी आयु कितनी है ?" (यहाँ 'तुम्हारी' अर्थात् शरीरके सयोगरूप आयुकी बात समझना) शरीर की उम्र ४०-५० वर्ष आदि की कही जाती है और जीव अनादि अनन्त अस्तिरूप से है। यह कहा जाता है कि यह मेरी अपेक्षा पाच वर्ष छोटा है, यह पाच वर्ष बड़ा है, यहाँ शरीरके कदसे छोटे बडेपनकी बात

नहीं है किन्तु कालकी अपेक्षासे छोटे बड़ेपनकी बात है, यदि काल द्रव्यकी अपेक्षा न लें तो यह नहीं कह सकते कि यह छोटा, यह बड़ा, यह बालक यह युवा या यह वृद्ध है। पुरानी नई अवस्था बदलती रहती है इसी परसे कालद्रव्यका अस्तित्व निश्चित होता है ॥ ४ ॥

कहीं जीव और शरीर स्थिर होता है और कहीं गति करता है। स्थिर होते समय तथा गमन करते समय दोनों समय वह आकाशमें ही है, अर्थात् आकाश परसे उसका गमन या स्थिर रहनेरूप निश्चित नहीं हो सकता। गमनरूप दशा और स्थिर रहनेरूप दशा इन दोनोंकी पृथक् पृथक् पहचान करनेके लिये उन दोनों दशामें भिन्न २ निमित्तरूप ऐसे दो द्रव्योंको पहचानना होगा। धर्मद्रव्यके निमित्तद्वारा जीव-पुद्गलका गमन पहचाना जा सकता है और अधर्मद्रव्यके निमित्त द्वारा स्थिरता पहचानी जा सकती है। यदि ये धर्म और अधर्मद्रव्य न हों तो गमन और स्थिरताके भेदको नहीं जाना जा सकता।

यद्यपि धर्म—अधर्मद्रव्य जीव पुद्गलको कहीं गति या स्थिति करनेमें मदद करते नहीं हैं, परन्तु एक द्रव्यके भावको अन्य द्रव्यकी अपेक्षाके बिना पहचाना नहीं जा सकता। जीवके भावको पहचाननेके लिये अजीवकी अपेक्षा की जाती है जो जाने सो जीव-ऐसा कहनेसे ही 'ज्ञानत्वसे रहित जो अन्य द्रव्य हैं वे जीव नहीं हैं' इसप्रकार अजीव की अपेक्षा आ जाती है न ऐसा बतानेपर आकाशकी अपेक्षा हो जाती है कि 'जीव अमुक जगह है'। इसप्रकार छहों द्रव्योंमें समझ लेना। एक आत्मद्रव्यका निर्णय करनेपर छहों द्रव्य मालूम होते हैं यह ज्ञानकी विशालता है और इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वद्रव्योंको जान लेना ज्ञानका स्वभाव है। एक द्रव्यको सिद्ध करनेसे छहों द्रव्य सिद्ध हो जाते हैं इसमें द्रव्यकी पराधीनता नहीं है परन्तु ज्ञानकी महिमा है। जो पदार्थ होता है वह ज्ञानमें अवश्य जाना जाता है। पूर्ण ज्ञानमें जितना जाना जाता है इस जगतमें उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। पूर्ण ज्ञानमें छह द्रव्य मालूम हुये हैं, छह द्रव्यसे अधिक अन्य कुछ नहीं है।

कर्मोके कथनसे छहों द्रव्योंकी सिद्धि

कर्म यह पुद्गलकी अवस्था है; जीवके विकारी भावके निमित्तसे वह जीवके साथ रहे हुये हैं, कितनेक कर्म बंधरूपसे स्थिर हुए हैं उनको अधर्मास्तिकायका निमित्त है; प्रतिक्षण कर्म उदयमे आकर झड जाते हैं, झड जानेमे क्षेत्रांतर भी होता है उसमे, उसे धर्मास्तिकायका निमित्त है। यह कहा जाता है कि कर्मकी स्थिति ७० कोडा कोडि सागर और कमसे कम अन्तर्मुहूर्त की है, इसमे काल द्रव्यकी अपेक्षा हो जाती है, बहुतसे कर्म परमाणु एक क्षेत्रमे रहते हैं, इसमे आकाशद्रव्यकी अपेक्षा है। इस तरह छह द्रव्य सिद्ध हुए।

द्रव्योंकी स्वतंत्रता

इससे यह भी सिद्ध होता है कि जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य (-कर्म) दोनो एकदम पृथक् २ पदार्थ हैं और दोनो अपने अपनेमे स्वतत्र है, कोई एक दूसरेका कुछ ही नही करते। यदि जीव और कर्म एक हो जाय तो इस जगत्में छहद्रव्य ही नही रह सकते, जीव और कर्म सदा पृथक् ही हैं। द्रव्योका स्वभाव अपने अमर्यादित अनन्त गुणोमे अनादि अनन्त रहकर प्रतिसमय बदलनेका है। सभी द्रव्य अपनी शक्तिसे स्वतत्ररूपसे अनादि अनन्त रहकर स्वय अपनी अवस्था बदलते हैं। जीवकी अवस्था जीव बदलाता है, पुद्गलकी हालत पुद्गल बदलाता है। पुद्गलका जीव कुछ नही करता और न पुद्गल जीवका कुछ करता है। व्यवहारसे भी किसीका परद्रव्यमे कर्तापना नही है घीका घडाके समान व्यवहारसे कर्तापनेका कथन होता है जो सत्यार्थ नही है।

उत्पाद-व्यय-ध्रुव

द्रव्यका और द्रव्यकी अवस्थाओका कोई कर्ता नही है। यदि कोई कर्ता हो तो उसने द्रव्योंको किस तरह बनाया? किसमेसे बनाया? वह कर्ता स्वय किसका बना? जगत्मे छहो द्रव्य स्व स्वभावसे ही हैं, उनका कोई कर्ता नही है। किसी भी नवीन पदार्थकी उत्पत्ति ही नही होती। किसी भी प्रयोगसे नये जीवकी या नये परमाणुकी उत्पत्ति नही हो सकती, किन्तु जैसा पदार्थ हो वैसा ही रहकर उनमें अपनी अवस्थाओका रूपातर

होता है। यदि द्रव्य हो तो उसका नाश नहीं होता जो द्रव्य नहीं वह उत्पन्न नहीं होता और जो द्रव्य होता है वह स्वशक्तिसे प्रतिक्षण अपनी अवस्था बदलता ही रहता है, ऐसा नियम है। इस सिद्धांतको उत्पाद-व्यय-ध्रुव अर्थात् नित्य रहकर बदलना कहा जाता है।

द्रव्य कोई बनानेवाला नहीं है इसलिये सातवाँ कोई नया द्रव्य नहीं हो सकता और किसी द्रव्यका कोई नाश करनेवाला नहीं है इसलिये छह द्रव्योंमें कभी कमी नहीं होती। शाश्वतरूपसे छह ही द्रव्य हैं। सर्वज्ञ भगवानने संपूर्ण ज्ञानके द्वारा छह द्रव्य जाने और वही उपदेशमें दिव्य ध्वनि द्वारा निरूपित किये। सर्वज्ञ वीतराग देव प्रणीत परम सत्यमार्गके अतिरिक्त इन छह द्रव्योंका यथार्थ स्वरूप अन्यत्र कहीं है ही नहीं।

द्रव्यकी शक्ति (गुण)

द्रव्यकी विशिष्ट शक्ति (चिह्न विशेष गुण) पहले संक्षिप्तरूपमें कही जा चुकी है एक द्रव्यकी जो विशिष्ट शक्ति है वह अन्य द्रव्यमें नहीं होती। इसीलिये विशिष्ट शक्तिके द्वारा द्रव्यको पहचाना जा सकता है। जैसे कि ज्ञान जीव द्रव्यकी विशिष्ट शक्ति है। जीवके अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्यमें ज्ञान नहीं है इसीलिए ज्ञान शक्तिके द्वारा जीव पहचाना जा सकता है।

यहाँ अब द्रव्योंकी सामान्य शक्ति संबंधी कुछ कथन किया जाता है। जो शक्ति सभी द्रव्योंमें हो उसे सामान्य शक्ति कहते हैं। अस्तित्व वस्तुत्व द्रव्यत्व प्रमेयत्व अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व ये मुख्य सामान्य ६ गुण हैं ये सभी द्रव्योंमें हैं।

१—अस्तित्वगुणके कारण द्रव्यके अस्तित्वका कभी नाश नहीं होता। ऐसा नहीं है कि द्रव्य अमुक कालके लिये है और फिर नष्ट हो जाता है, द्रव्य नित्य कायम रहनेवाले हैं। यदि अस्तित्व गुण न हो तो वस्तु ही नहीं हो सकती और वस्तु ही न हो तो समझाना किसको।

२—वस्तुत्व गुणके कारण द्रव्य अपना प्रयोजनभूत कार्य करता है। जैसे घड़ा पानीको धारण करता है उसी तरह द्रव्य स्वयं ही अपने

गुण पर्यायोका प्रयोजनभूत कार्य करता है। एक द्रव्य किसी प्रकार किसी दूसरे का कार्य नही करता और न कर सकता।

३—द्रव्यत्वगुणके कारण द्रव्य निरन्तर एक अवस्थामें से दूसरी अवस्थामे द्रवा करता है—परिणमन किया करता है। द्रव्य त्रिकाल अस्ति रूप है तथापि वह सदा एक सदृश (कूटस्थ) नही है, परन्तु निरन्तर नित्य बदलनेवाला–परिणामी है। यदि द्रव्यमें परिणमन न हो तो जीवके ससार दशाका नाश होकर मोक्षदशाकी उत्पत्ति कैसे हो? शरीरकी बाल्यदशामे से युवकदशा कैसे हो? छहो द्रव्योमें द्रव्यत्व शक्ति होनेसे सभी स्वतत्ररूपसे अपनी अपनी पर्यायमे परिणम रहे है, कोई द्रव्य अपनी पर्याय परिणमानेके लिये दूसरे द्रव्यकी सहायता या अपेक्षा नही रखता।

४—प्रमेयत्वगुणके कारण द्रव्य ज्ञानमे ज्ञात होते हैं। छहो द्रव्यो में इस प्रमेयशक्तिके होनेसे ज्ञान छहो द्रव्यके स्वरूपका निर्णय कर सकता है। यदि वस्तुमे प्रमेयत्व गुण न हो तो वह स्वयको किस तरह बतला सकता है कि 'यह वस्तु है'। जगतका कोई पदार्थ ज्ञान अगोचर नही है, आत्मामे प्रमेयत्व गुण होनेसे आत्मा स्वय निजको जान सकता है।

५—अगुरुलघुत्व गुणके कारण प्रत्येक वस्तु निज २ स्वरूपसे ही कायम रहती है। जीव बदलकर कभी परमाणुरूप नही हो जाता, परमाणु बदलकर कभी जीवरूप नही हो जाता, जड सदा जडरूपसे और चेतन सदा चेतनरूपसे ही रहताहै ज्ञानका विकास विकार दशामे चाहे जितना स्वल्प हो तथापि जीवद्रव्य बिलकुल ज्ञान शून्य हो जाय ऐसा कभी नही होता। इस शक्तिके कारण द्रव्यके एक गुण दूसरे गुणरूप न परिणमे तथा एक द्रव्यके अनेक या–अनन्त गुण अलग अलग नही हो जाते, तथा कोई दो पदार्थ एक रूप होकर तीसरा नई तरहका पदार्थ उत्पन्न नही होता, क्योकि वस्तुका स्वरूप अन्यथा कदापि नही होता।

६—प्रदेशत्व गुणके कारण प्रत्येक द्रव्यके अपना अपना आकार अवश्य होता है। प्रत्येक अपने अपने स्वाकारमे ही रहता है। सिद्धदशा होने पर एक जीव दूसरे जीवमे नहीं मिल जाता किन्तु प्रत्येक जीव अपने प्रदेशाकारमें स्वतत्र रूपसे कायम रहता है।

ये छह सामान्यगुण मुख्य हैं इनके अतिरिक्त भी दूसरे सामान्य गुण हैं। इस तरह गुणों द्वारा द्रव्यका स्वरूप विशेष स्पष्टतासे जाना जा सकता है।

छह कारक (–कारण) [लघु जैन सि० प्रवेशिकासे]

(१) कर्ता—जो स्वतंत्रतासे (–स्वाधीनतासे) अपने परिणामको करे सो कर्ता है। प्रत्येक द्रव्य अपनेमें स्वतंत्र व्यापक होनेसे अपने ही परिणामोंका कर्ता है।

(२) कर्म (–कार्य);—कर्ता जिस परिणामको प्राप्त करता है वह परिणाम उसका कर्म है। प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा व्याप्य लक्षण वाला प्रत्येक द्रव्यका परिणामरूप कर्म होता है। [उस कर्म (–कार्य) में प्रत्येक द्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर आदि मध्य और अन्तमें व्याप्त होकर उसे ग्रहण करता हुआ उस-रूप परिणमन करता हुआ और उस-रूप उत्पन्न होता हुआ, उस परिणामके कर्ता हैं।]

(३) करण—उस परिणामका साधकतम अर्थात् उत्कृष्ट साधनको करण कहते हैं।

(४) संप्रदान—कर्म (–परिणाम-कार्य) जिसे दिया जाय या जिसके लिये किया जाता है उसे संप्रदान कहते हैं।

(५) अपादान—जिसमें से कर्म किया जाता है वह ध्रुव वस्तुको अपादान कहते हैं।

(६) अधिकरण—जिसमें या जिसके आधारसे कर्म किया जाता है उसे अधिकरण कहते हैं।

सर्व द्रव्योंकी प्रत्येक पर्यायमें यह छहों कारक एक साथ वर्तते हैं इसलिये आत्मा और पुद्गल शुद्धदशामें या अशुद्धदशामें स्वयं ही छहों कारकरूप परिणमन करते हैं और अन्य किसी कारकों (–कारणों) की अपेक्षा नहीं रखते हैं। (पंचास्तिकाय गाथा ६२ सं० टीका)

प्रश्न—कार्य कैसे होता है ?

उत्तर—कारणानुविधायित्वादेव कार्याणां कारणानुविधायीनि

कार्याणी'—कारण जैसे ही कार्य होनेसे कारण जैसा ही कार्य होता है। कार्यको—क्रिया, कर्म, अवस्था, पर्याय, हालत, दशा, परिणाम, परिणमन और परिणति भी कहते हैं [यहाँ कारणको उपादान कारण समझना क्योंकि उपादान कारण वही सच्चा कारण है]

प्रश्न—कारण किसे कहते हैं ?

उत्तर—कार्यकी उत्पादक सामग्रीको कारण कहते हैं ?

प्रश्न—उत्पादक सामग्रीके कितने भेद हैं ?

उत्तर—दो हैं—उपादान और निमित्त। उपादानको निजशक्ति अथवा निश्चय और निमित्तको परयोग अथवा व्यवहार कहते हैं।

प्रश्न—उपादान कारण किसे कहते हैं ?

उत्तर—(१) जो द्रव्य स्वयं कार्यरूप परिणमित हो, उसे उपादान कारण कहते हैं। जैसे–घटकी उत्पत्तिमें मिट्टी। (२) अनादिकालसे द्रव्यमें जो पर्यायोंका प्रवाह चला आ रहा है, उसमें अनन्तर पूर्वक्षणवर्ति पर्याय उपादान कारण है और अनन्तर उत्तर क्षणवर्त्ति पर्याय कार्य है। (३) उस समयकी पर्यायकी योग्यता वह उपादान कारण है और वह पर्याय कार्य है। उपादान वही सच्चा (–वास्तविक) कारण है।

[नं० १ ध्रुव उपादान द्रव्यार्थिकनयसे है, नं० २–३ क्षणिक-उपादान पर्यायार्थिकनयसे है।]

प्रश्न—योग्यता किसे कहते हैं ?

उत्तर—(१) "योग्यतैव विषयप्रतिनियमकारणमिति" (न्याय दि. पृ० २७) योग्यता ही विषयका प्रतिनियामक कारण है [यह कथन ज्ञान की योग्यता (–सामर्थ्य) के लिये है परन्तु योग्यताका कारणपना सर्वमें सर्वत्र समान है]

(२) सामर्थ्य, शक्ति, पात्रता, लियाकत, ताकत वे 'योग्यता' शब्द के अर्थ हैं।

प्रश्न—निमित्त कारण किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो पदार्थ स्वयं कार्यरूप न परिणमे, परन्तु कार्यकी उत्पत्तिमें अनुकूल होनेका जिसमें आरोप आ सके उस पदार्थको निमित्त कारण कहते हैं। जैसे—घटकी उत्पत्तिमें कुम्भकार, दंड, चक्र आदि। (निमित्त वह सच्चा कारण नहीं है—अकारणवत् है क्योंकि वह उपचार मात्र अथवा व्यवहारमात्र कारण है)

उपादान कारण और निमित्तकी उपस्थितिका क्या नियम है ?

(बनारसी विलासमें कथित दोहा—)

प्रश्न—(१) गुरु उपदेश निमित्त बिन, उपादान बलहीन
ज्यों नर दूजे पांव बिन, चलवेको आधीन ॥१॥

प्रश्न—(२) हौं जाने था एक ही, उपादान सों काज
थकै सहाई पौन बिन, पानीमांहि जहाज ॥२॥

प्रथम प्रश्नका उत्तर—

ज्ञान नैन किरिया चरन दोऊ शिवमग धार
उपादान निश्चय जहाँ, तहँ निमित्त व्यौहार ॥३॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञानरूप नेत्र और ज्ञानमें चरण अर्थात् लीनतारूप क्रिया दोनों मिलकर मोक्षमार्ग जानो। उपादानरूप निश्चय कारण जहाँ हो वहाँ निमित्तरूप व्यवहार कारण होता ही है ॥३॥

भावार्थ—(१) उपादान वह निश्चय अर्थात् सच्चा कारण है निमित्त तो मात्र व्यवहार अर्थात् उपचार कारण है सच्चा कारण नहीं है इसलिए तो उसे अकारणवत् कहा है। और उसे उपचार (-आरोप) कारण क्यों कहा कि वह उपादानका कुछ कार्य करते कराते नहीं तो भी कार्यके समय उनकी उपस्थितिके कारण उसे उपचारमात्र कारण कहा है।

(२) सम्यग्ज्ञान और ज्ञानमें लीनताको मोक्षमार्ग जानो ऐसा कहा उसीमें शरीराश्रित उपदेश उपवासादिक क्रिया और शुभरागरूप व्यवहारको मोक्षमार्ग न जानो यह बात आ जाती है।

प्रथम प्रश्नका समाधान—

उपादान निज गुण जहाँ तहँ निमित्त पर होय
भेदज्ञान प्रमाण विधि विरला बूझे कोय ॥४॥

अर्थ—जहाँ निजशक्तिरूप उपादान तैयार हो वहाँ पर निमित्त होते ही हैं, ऐसी भेदज्ञान प्रमाणकी विधि (-व्यवस्था) है, यह सिद्धांत कोई विरला ही समझता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जहाँ उपादानकी योग्यता हो वहाँ नियमसे निमित्त होता है, निमित्तकी राह देखना पडे ऐसा नही है; और निमित्तको हम जुटा सकते ऐसा भी नही है। निमित्तकी राह देखनी पडती है या उसे मैं ला सकता हूँ ऐसी मान्यता-परपदार्थमे अभेद बुद्धि अर्थात् अज्ञान सूचक है। **निमित्त और उपादान दोनों असहायरूप है यह तो मर्यादा है ॥४॥**

उपादान बल जहँ तहाँ, नही निमित्तको दाव,
एक चक्रसो रथ चलै, रविको यहै स्वभाव ॥ ५ ॥

अर्थ—जहाँ देखो वहाँ सदा उपादानका ही बल है निमित्त होते हैं परन्तु निमित्तका कुछ भी दाव (-बल) नही है जैसे एक चक्रसे सूर्यका रथ चलता है इस प्रकार प्रत्येक कार्य उपादानकी योग्यता (सामर्थ्य) से ही होता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—कोई ऐसा समझता है कि—निमित्त उपादानके ऊपर सचमुच असर करते हैं, प्रभाव पडते हैं, सहाय-मदद करते हैं, आधार देते हैं तो वे अभिप्राय गलत हैं ऐसा यहाँ दोहा ४-५-६-७ मे स्पष्टतया कहा है। अपने हितका उपाय समझनेके लिये यह बात बडी प्रयोजनभूत है।

शास्त्रमे जहाँ परद्रव्यको (निमित्तको) सहायक, साधन, कारण, कारक आदि कहे हो तो वह "व्यवहार नयकी मुख्यता लिये व्याख्यान है, **ताकों ऐसैं है नाहीं निमित्तादि अपेक्षा उपचार किया है ऐसा जानना।"**

(देहली से प्र० मोक्षमार्ग प्र० पृ० ३६९)

दूसरे प्रश्नका समाधान—

सधै वस्तु असहाय जहँ, तहँ निमित्त है कौन,
ज्यो जहाज परवाहमे, तिरै सहज विन पौन ॥ ६ ॥

अर्थ—प्रत्येक वस्तु स्वतंत्रतासे अपनी अवस्थाको (-कार्यको) प्राप्त करती है वहाँ निमित्त कौन ? जैसे जहाज प्रवाहमे सहज ही पवन विना ही तैरता है।

भावार्थ—जीव और पुद्गल द्रव्य शुद्ध या अशुद्ध अवस्थामें स्वतंत्र पनेसे ही अपने परिणामको करते हैं अज्ञानी जीव भी स्वतंत्रपनेसे निमित्ताधीन परिणमन करता है, कोई निमित्त उसे आधीन नहीं बना सकता ॥ ६ ॥

उपादान विधि निर्बचन है निमित्त उपदेश;
बसे जु जैसे देशमें, करे सु तसे भेद ॥ ७ ॥

अर्थ—उपादानका कथन एक "योग्यता" शब्द द्वारा ही होता है उपादान अपनी योग्यतासे अनेक प्रकार परिणमन करता है तब उपस्थित निमित्त पर भिन्न २ कारणपनेका आरोप (भेद) आता है उपादानकी विधि निर्वचन होनेसे निमित्त द्वारा यह कार्य हुआ ऐसा व्यवहारसे कहा जाता है।

भावार्थ—उपादान जब जैसे कार्यको करता है तब वैसे कारणपने का आरोप (भेद) निमित्तपर आता है जैसे—कोई वज्रकायवान मनुष्य नर्कगति योग्य मलिन भाव करता है तो वज्रकाय पर नर्कका कारणपनेका आरोप आता है और यदि जीव मोक्षयोग्य निर्मलभाव करता है तो उसी निमित्तपर मोक्षकारणपनेका आरोप आता है। इस प्रकार उपादान के कार्यानुसार निमित्तमें कारणपनेका भिन्न भिन्न आरोप दिया जाता है। इससे ऐसा सिद्ध होता है कि निमित्तसे कार्य नहीं होता परंतु कथन होता है। अतः उपादान सच्चा कारण है, और निमित्त आरोपित कारण है।

प्रश्न—पुद्गलकर्म योग इन्द्रियोंके भोग, धन घरके लोग मकान इत्यादि इस जीवको राग-द्वेष परिणामके प्रेरक हैं?

उत्तर—नहीं छहों द्रव्य सर्व अपने २ स्वरूपसे सदा असहाय (—स्वतंत्र) परिणमन करते हैं, कोई द्रव्य किसीका प्रेरक कभी नहीं है इसलिये किसी भी परद्रव्य राग-द्वेषके प्रेरक नहीं हैं परन्तु मिथ्यात्वमोहरूप मदिरापान है वही (अनन्तानुबन्धी) राग-द्वेषका कारण है।

प्रश्न—पुद्गलकर्मकी जोरावरीसे जीवको राग-द्वेष करना पड़ता है पुद्गलद्रव्य कर्मोंका भेष धर धर कर ज्यों २ बल करते हैं त्यों त्यों जीव को राग द्वेष अधिक होते हैं यह बात सत्य है?

उत्तर—नही, क्योंकि जगतमें पुद्गलका सग तो हमेशा रहता है, यदि उनकी जोरावरीसे जीवको रागादि विकार हो तो शुद्धभावरूप होनेका कभी अवसर नही आसकता, इसलिये ऐसा समझना चाहिये कि शुद्ध या अशुद्ध परिणमन करनेमे चेतन स्वयं समर्थ है।

(स० सार नाटक सर्वविशुद्धद्वार काव्य ६१ से ६६)

[निमित्तके कही प्रेरक और उदासीन ऐसे दो भेद कहे हो तो वहाँ वे गमनक्रियावान् या इच्छाआदिवान् हैं या नही ऐसा समझानेके लिये है, परन्तु उपादानके लिये तो सर्व प्रकारके निमित्त धर्मास्तिकायवत् उदासीन ही कहे हैं। [देखो श्री पूज्यपादाचार्यकृत इष्टोपदेश गा० ३५]

प्रश्न—निमित्तनैमित्तिक सबध किसे कहते है ?

उत्तर—उपादान स्वतः कार्यरूप परिणमता है उस समय, भावरूप या अभावरूप कौन उचित (-योग्य)*निमित्त कारणका उसके साथ सम्बन्ध है, वह बतानेके लिये उस कार्यको नैमित्तिक कहते हैं। इस तरहसे भिन्न भिन्न पदार्थोंके स्वतंत्र संबधको निमित्तनैमित्तिक संबध कहते हैं।

(*देखो प्रश्न 'निमित्त')

[निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध परतन्त्रताका सूचक नही है, किन्तु नैमित्तिकके साथमे कौन निमित्तरूप पदार्थ है उसका ज्ञान कराता है। जिस कार्यको नैमित्तिक कहा है उसीको उपादानकी अपेक्षा उपादेय भी कहते हैं।]

निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धके दृष्टांतः—

(१) केवलज्ञान नैमित्तिक है और लोकालोकरूप सब ज्ञेय निमित्त है, (प्रवचनसार गा० २६ की टीका)

(२) सम्यग्दर्शन नैमित्तिक है और सम्यग्ज्ञानीका उपदेशादि निमित्त है, (आत्मानुशासन गा० १० की टीका)

(३) सिद्धदशा नैमित्तिक है और पुद्गलकर्मका अभाव निमित्त है, (समयसार गा० ८३ की टीका)

(४) "जैसे अध कर्मसे उत्पन्न और उद्देशसे उत्पन्न हुए निमित्तभूत

(आहारादि) पुद्गलद्रव्यका प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा (मुनि) नैमित्तिकभूत बंधसाधक भावका प्रत्याख्यान (-त्याग) नहीं करता इसी प्रकार समस्त परद्रव्यका प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा उसके निमित्तसे होनेवाले भावको नहीं त्यागता" इसमें जीवका बंधसाधक भाव नैमित्तिक है और उस परद्रव्य निमित्त हैं। (स० सार गाथा २८६—८७ की टीका)

पंचाध्यायी शास्त्रमें नयाभासोंके वर्णनमें 'जीव शरीरका कुछ कर सकता नहीं है—परस्पर बध्य—बंधकभाव नहीं है ऐसा कहकर शरीर और आत्माको निमित्तनैमित्तिक भावका प्रयोजन क्या है उसके उत्तरमें प्रत्येक द्रव्य स्वयं और स्वतः परिणमन करता है वहाँ निमित्तपनेका कुछ प्रयोजन ही नहीं है ऐसा समाधान श्लोक ५७१ में कहा है।

श्लोक—अथचेदवश्यमेतन्निमित्त नैमित्तिकत्वमस्ति मिथः।
न यतः स्वयं स्वतो वा परिणममानस्य किं निमित्ततया ।।५७१

अन्वयार्थ —[अथ चेत्] यदि कदाचित् यह कहा जाय कि [मिथः] परस्पर [एतन्निमित्तनैमित्तिकत्वं] इन दोनोंमें निमित्त और नैमित्तिकपना [अवश्यंमस्ति] अवश्य है तो इसप्रकार कहना भी [न] ठीक नहीं है [यतः] क्योंकि [स्वयं] स्वयं [वा] अथवा [स्वतः] स्वतः [परिणममानस्य] परिणमन करनेवाली वस्तुको [निमित्ततया] निमित्तपनेसे [किं] क्या फायदा है अर्थात् स्वतः परिणमनशील वस्तुको निमित्त कारणसे कुछ भी प्रयोजन नहीं है। इस विषयमें स्पष्टताके लिये पंचाध्यायी भाग १ श्लो० ५६५ से ५८५ तक देखना चाहिये।

प्रयोजनभूत

इसतरह छह द्रव्यका स्वरूप अनेक प्रकारसे वर्णन किया। इन छह द्रव्योंमें प्रतिसमय परिणमन होता है उसे 'पर्याय (हालत अवस्था Condition) कहते हैं। धर्म अधर्म आकाश और काल इन चार द्रव्यों की पर्याय तो सदा शुद्ध ही है अवशिष्ट जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें शुद्ध पर्याय होती है अथवा अशुद्ध पर्याय भी हो सकती है।

जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमेंसे भी पुद्गल द्रव्यमें ज्ञान नहीं है उसमें ज्ञातृता (ज्ञातृत्व) नहीं इसीसे उसमें ज्ञानकी विपरीततारूप भूल

नही, अतएव पुद्गलको सुख या दुःख नही होता। यथार्थ ज्ञानके द्वारा सुख और विपरीतज्ञानके द्वारा दुःख होता है, परन्तु पुद्गल द्रव्यमे ज्ञान गुण ही नही, इसीलिये उसके सुख दुःख नही, उसमे सुख गुण ही नही। ऐसा होनेसे तो पुद्गल द्रव्यके शुद्ध दशा हो या अशुद्धदशा, दोनो समान हैं। शरीर पुद्गल द्रव्यकी अवस्था है इसलिये शरीरमे सुख दुःख नही होते शरीर चाहे निरोग हो या रोगी, उसके साथ सुख दुःखका सम्बन्ध नही है।

अब शेष रहा जाननेवाला जीवद्रव्य

छहो द्रव्योमे यह एक ही द्रव्य ज्ञानशक्तिवाला है। जीवमे ज्ञानगुण है और ज्ञानका फल सुख है, इसलिये जीवमे सुखगुण है। यदि यथार्थ ज्ञान करे तो सुख हो, परन्तु जीव अपने ज्ञानस्वभावको नही पहचानता और ज्ञानसे भिन्न अन्य वस्तुओमे सुखकी कल्पना करता है। यह उसके ज्ञानकी भूल है और उस भूलको लेकर ही जीवके दुःख है। जो अज्ञान है सो जीव की अशुद्ध पर्याय है, जीवकी अशुद्ध पर्याय दुःखरूप है अतः उस दशाको दूर कर यथार्थ ज्ञानके द्वारा शुद्ध दशा करनेका उपाय समझाया जाता है; क्योंकि सभी जीव सुख चाहते हैं और सुख तो जीवकी शुद्धदशामें ही है, इसलिये जो छह द्रव्य जाने उनमेसे जीवके अतिरिक्त पांच द्रव्योके गुण पर्यायके साथ तो जीवको प्रयोजन नही है किंतु जीवके अपने गुण पर्यायके साथ ही प्रयोजन है।

इसप्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्रके
पाँचवें अध्यायकी गुजराती टीकाका
हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

मोक्षशास्त्र अध्याय छट्ठा

भूमिका

१—पहले अध्यायके चौथे सूत्रमें सात तत्त्व कहे हैं और यह भी पहले अध्यायके दूसरे सूत्रमें कहा है कि उन तत्त्वोंकी जो यथार्थ श्रद्धा है सो सम्यग्दर्शन है। दूसरेसे पाँचवें अध्याय पर्यंत जीव और अजीव तत्त्वका वर्णन किया है। इस छट्ठे अध्याय और सातवें अध्यायमें आस्रव तत्त्वका स्वरूप समझाया गया है। आस्रवकी व्याख्या पहले की जा चुकी है, जो यहाँ लागू होती है।

२—सात तत्त्वोंकी सिद्धि

(बृहद्द्रव्यसंग्रहके ७१–७२ वें पृष्ठके आधारसे)

इस जगतमें जीव और अजीव द्रव्य हैं और उनके परिणमनसे आस्रव बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्व होते हैं। इस प्रकार जीव अजीव, आस्रव बंध संवर निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं।

अब यहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि हे गुरुदेव! (१) यदि जीव तथा अजीव ये दोनों द्रव्य एकांतसे (—सर्वथा) परिणामी ही हों तो उनके संयोग पर्यायरूप एक ही पदार्थ सिद्ध होता है और (२) यदि वे सर्वथा अपरिणामी हों तो जीव और अजीव द्रव्य ऐसे दो ही पदार्थ सिद्ध होते हैं। यदि ऐसा है तो आस्रवादि तत्त्व किस तरह सिद्ध होते हैं?

श्री गुरु इसका उत्तर देते हैं—जीव और अजीव द्रव्य कथंचित् परिणामी होनेसे अवशिष्ट पाँच तत्त्वोंका कथन न्याययुक्त सिद्ध होता है।

(१) अब यह कहा जाता है कि 'कथंचित् परिणामित्व' का क्या अर्थ है? जैसे स्फटिक यद्यपि स्वभावसे निर्मल है तथापि जपा-पुष्प आदि के सामीप्यसे अपनी योग्यताके कारणसे पर्यायान्तर परिणति ग्रहण करती है। यद्यपि स्फटिकमणि पर्यायमें उपाधिका ग्रहण करती है तो भी निश्चयसे

अपना जो निर्मल स्वभाव है उसे वह नही छोडती। इसी प्रकार जीवका स्वभाव भी शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे तो सहज शुद्ध चिदानन्द एकरूप है, परंतु स्वय अनादि कर्मबन्धरूप पर्यायके वशीभूत होनेसे वह रागादि परद्रव्य उपाधि पर्यायको ग्रहण करता है। यद्यपि जीव पर्यायमे परपर्यायरूपसे (पर द्रव्यके आलवनसे हुई अशुद्ध पर्यायरूपसे) परिणमता है तथापि निश्चय नयसे शुद्ध स्वरूपको नही छोडता। ऐसा ही पुद्गल द्रव्यका भी होता है। इस कारणसे जीव-अजीवका परस्पर सापेक्ष परिणमन होना वही 'कथचित् परिणामित्व' शब्दका अर्थ है।

(२) इसप्रकार 'कथचित् परिणामित्व' सिद्ध होने पर जीव और पुद्गलके सयोगकी परिणति (–परिणाम) से बने हुये बाकीके आस्रवादि पाच तत्त्व सिद्ध होते हैं। जीवमे आस्रवादि पाच तत्त्वोके परिणमनके समय पुद्गलकर्मरूप निमित्तका सद्भाव या अभाव होता है और पुद्गलमे आस्रवादि पांच तत्त्वोंके परिणमनमे जीवके भावरूप निमित्तका सद्भाव या अभाव होता है। इसीसे ही सात तत्त्वोको 'जीव और पुद्गलके सयोगकी परिणतिसे रचित' कहा जाता है। परन्तु ऐसा नही समझना चाहिये कि जीव और पुद्गलकी एकत्रित परिणति होकर बाकीके पांच तत्त्व होते हैं।

पूर्वोक्त जीव और अजीव द्रव्योको इन पांच तत्त्वोमे मिलाने पर कुल सात तत्त्व होते हैं, और उसमे पुण्य-पापको यदि अलग गिना जावे तो नव पदार्थ होते हैं। पुण्य और पाप नामके दो पदार्थोंका अतर्भाव (समावेश) अभेद नयसे यदि जीव आस्रव बध पदार्थमे किया जावे तो सात तत्त्व कहे जाते हैं।

३—सात तत्त्वोंका प्रयोजन

(वृहत् द्रव्यसग्रह पृष्ठ ७२–७३ के आधार से)

शिष्य फिर प्रश्न करता है कि हे भगवन्! यद्यपि जीव-अजीवके कथचित् परिणामित्व मानने पर भेद प्रधान पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे सात तत्त्व सिद्ध होगये, तथापि उनसे जीवका क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ? क्योंकि जैसे अभेद नयसे पुण्य-पाप इन दो पदार्थोंका पहले सात तत्त्वोंमें

अंतर्भाव किया है उसी तरहसे विशेष अभेदनयकी विवक्षासे आस्रवादि पदार्थोंका भी जीव और अजीव इन दो ही पदार्थोंमें अंतर्भाव कर लेनेसे ये दो ही पदार्थ सिद्ध हो जाँयगे।

श्री गुरु इस प्रश्नका समाधान करते हैं—कौन तत्त्व हेय हैं और कौन तत्त्व उपादेय हैं इसका परिज्ञान हो, इस प्रयोजनसे आस्रवादि तत्त्वों का निरूपण किया जाता है।

अब यह कहते हैं कि हेय और उपादेय तत्त्व कौन हैं? जो अक्षय अनंत सुख है वह उपादेय है उसका कारण मोक्ष है मोक्षका कारण संवर और निर्जरा है उसका कारण विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावसे निजआत्मतत्त्व स्वरूपके सम्यक् श्रद्धान ज्ञान तथा आचरण लक्षण स्वरूप निश्चयरत्नत्रय है। उस निश्चय रत्नत्रयकी साधना चाहनेवाले जीवको व्यवहाररत्नत्रय क्या है यह समझकर विपरीत अभिप्राय छोड़कर पर द्रव्य तथा राग परसे अपना लक्ष हटाकर निज आत्माके त्रैकालिक स्वरूपकी ओर अपना लक्ष ले जाना चाहिये अर्थात् स्वसंवेदन-स्वसन्मुख होकर स्वानुभूति प्रगट करना चाहिये। ऐसा करनेसे निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और उसके बलसे संवर निर्जरा तथा मोक्ष प्रगट होता है इसलिये ये तीन तत्त्व उपादेय हैं।

अब यह बतलाते हैं कि हेय तत्त्व कौन है? आकुलताको उत्पन्न करनेवाले ऐसे निगोद-नरकादि गतिके दुःख तथा इंद्रियों द्वारा उत्पन्न हुये जो कल्पित सुख हैं सो हेय (छोड़ने योग्य) हैं उसका कारण स्वभावसे च्युतिरूप संसार है संसारके कारण आस्रव तथा बंध ये दो तत्त्व हैं पुण्य पाप दोनों बंध तत्त्व हैं उस आस्रव तथा बंधके कारण पहले कहे हुए निश्चय तथा व्यवहार रत्नत्रयसे विपरीत लक्षणके धारक ऐसे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीन हैं। इसीलिये आस्रव और बंध तत्त्व हेय हैं।

इस प्रकार हेय और उपादेय तत्त्वोंका ज्ञान होनेके लिये आचार्य सात तत्त्वोंका निरूपण करते हैं।

४. तत्त्वकी श्रद्धा कब हुई कही जाय ?

(१) जैन शास्त्रोमे कहे हुए जीवके त्रस-स्थावर आदि भेदोंको, गुणस्थान मार्गणा इत्यादि भेदोको तथा जीव पुद्गल आदि भेदोको तथा वर्णादि भेदोको तो जीव जानता है, किन्तु अध्यात्मशास्त्रोमे भेदविज्ञान के कारणभूत और वीतरागदशा होनेके कारणभूत वस्तुका जैसा निरूपण किया है वैसा जो नही जानता, उसके जीव और अजीव तत्त्वकी यथार्थ श्रद्धा नही है।

(२) पुनश्च, किसी प्रसगसे भेद विज्ञानके कारणभूत और वीतराग-दशाके कारणभूत वस्तुके निरूपणका जाननामात्र शास्त्रानुसार हो, परन्तु निजको निजरूप जानकर उसमे परका अश भी (मान्यतामे) न मिलाना तथा निजका अश भी (मान्यतामे) परमे न मिलाना, जहाँतक जीव ऐसा श्रद्धान न करे वहाँतक उसके जीव और अजीव तत्त्वकी यथार्थ श्रद्धा नही।

(३) जिस प्रकार अन्य मिथ्यादृष्टि विना निश्चयके (निर्णय रहित) पर्याय बुद्धिसे (-देहदृष्टिसे) ज्ञानत्त्वमे तथा वर्णादिमे अहबुद्धि धारण करता है, उसी प्रकार जो जीव आत्माश्रित ज्ञानादिमे तथा शरीराश्रित उपदेश, उपवासादि क्रियामे निजत्व मानता है तो उसके जीव-अजीव तत्त्वकी यथार्थ श्रद्धा नही है। ऐसा जीव किसी समय शास्त्रानुसार यथार्थ बात भी कहे परन्तु वहाँ उसके अतरग निश्चयरूप श्रद्धा नही है, इसीलिये जिस तरह नशा युक्त मनुष्य माताको माता कहे तो भी वह समझदार नही है, उसी तरह यह जीव भी सम्यग्दृष्टि नही।

(४) पुनश्च, यह जीव जैसे किसी दूसरेकी ही बात करता हो वैसे ही आत्माका कथन करता है, परन्तु 'यह आत्मा मैं ही हूँ' ऐसा भाव उसके प्रतिभासित नही होता। और फिर जैसे किसी दूसरेको दूसरेसे भिन्न बतलाता हो वैसे ही वह इस आत्मा और शरीरकी भिन्नता प्ररूपित करता है, परन्तु 'मैं इन शरीरादिकसे भिन्न हूँ' ऐसा भाव उसके नही भासता, इसीलिये उसके जीव-अजीवकी यथार्थ श्रद्धा नही।

(५) पर्यायमे (-वर्तमान दशामे,) जीव-पुद्गलके परस्परके निमित्त

से अनेक क्रियायें होती हैं, उन सबको दो द्रव्योंके मिलापसे बनी हुई मानता है, किन्तु उसके ऐसा भिन्न भिन्न भाव नहीं भासता कि 'यह जीवकी क्रिया है और यह पुद्गलकी क्रिया है। ऐसा भिन्न भाव भासे बिना उसको जीव अजीवका यथार्थ श्रद्धानी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जीव अजीवके जाननेका प्रयोजन तो यही था, जो कि इसे हुआ नहीं।
(देखो देहली सस्ती ग्रन्थमालाका मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ७ पृ० ३३१)

(६) पहले अध्यायके ३२ वें सूत्रमें सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् कहा है वह समझकर विपरीत अभिप्राय रहित होकर सत् असत्का भेदज्ञान करना चाहिये जहाँतक ऐसी यथार्थ श्रद्धा न हो वहाँ तक जीव सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। उसमें 'सत्' शब्दसे यह समझनेके लिये कहा है कि जीव स्वयं त्रिकाली शुद्ध चैतन्य स्वरूप क्यों है और 'असत्' शब्दसे यह बताया है कि जीवमें होनेवाला विकार जीवमें से दूर किया जा सकता है इसलिये यह पर है। पर पदार्थ और आत्मा भिन्न होनेसे कोई परका कुछ कर नहीं सकता आत्माकी अपेक्षासे पर पदार्थ असत् हैं—नास्तिरूप हैं। जब ऐसा यथार्थ समझे तभी जीवके सत् असत् के विशेषका यथार्थ ज्ञान होता है। जीवके जहाँ तक ऐसा ज्ञान न हो वहाँ तक आस्रव दूर नहीं होता जहाँतक जीव अपना और आस्रवका भेद नहीं जानता वहाँ तक उसके विकार दूर नहीं होता। इसीलिये यह भेद समझानेके लिये छट्ठे और सातवें अध्यायमें आस्रवका स्वरूप कहा है।

यह आस्रव अधिकार है; इसमें प्रथम योगके भेद और उसका स्वरूप कहते हैं

कायवाङ्मनः कर्मयोगः ॥१॥

अर्थ—[कायवाङ्मनः कर्म] शरीर वचन और मनके अवलम्बनसे आत्माके प्रदेशोंका कंपन होना सो [योगः] योग है।

टीका

१—आत्माके प्रदेशोंका कंपन होना सो योग है सूत्रमें जो योगके तीन भेद कहे हैं वे निमित्तकी अपेक्षासे हैं। उपादान रूप योगमें तीन

भेद नही हैं, किन्तु एक ही प्रकार है। दूसरी तरहसे—योगके दो भेद किये जा सकते हैं—१—भाव योग और—२—द्रव्य योग। कर्म, नोकर्मके ग्रहण करनेमे निमित्तरूप आत्माकी शक्ति विशेपको भावयोग कहते हैं और उस शक्तिके कारणसे जो आत्माके प्रदेशोका सकंप होना सो द्रव्य योग है (यहाँ 'द्रव्य' का अर्थ 'आत्म द्रव्यके प्रदेश' होता है)

२—यह आस्रव अधिकार है। जो योग है सो आस्रव है,—ऐसा दूसरे सूत्रमे कहेगे। इस योगके दो प्रकार हैं—१—सकपाययोग और २ अकपाययोग। (देखो सूत्र ४ था)

३—यद्यपि भावयोग एक ही प्रकारका है तो भी निमित्तकी अपेक्षा से उसके १५ भेद होते हैं, जव यह योग मनकी ओर झुकता है तव उसमें मन निमित्त होनेसे, योग और मनका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध दर्शानेके लिये, उस योगको मनोयोग कहा जाता है। इसी प्रकारसे जव वचनकी ओर झुकाव होता है तव वचनयोग कहा जाता है और जव कायकी ओर झुकाव होता है तव काययोग कहा जाता है। इसमें मनोयोगके ४, वचनयोगके ४ और काययोगके ७ भेद हैं, इस तरह निमित्तकी अपेक्षासे भावयोगके कुल १५ भेद होते हैं।

(जैन सिद्धान्त प्रवेशिका प्रश्न २२०, ४३२, ४३३)

४—आत्माके अनन्तगुणोमें एक योग गुण है, यह अनुजीवी गुण है। इस गुणकी पर्यायमे दो भेद होते हैं १—परिस्पदरूप अर्थात् आत्म प्रदेशोका कंपनरूप और २—आत्म प्रदेशोकी निश्चलतारूप—निष्कपरूप। प्रथम प्रकार योगगुणकी अशुद्ध पर्याय है और दूसरा भेद योगगुणकी शुद्ध पर्याय है।

इस सूत्रमे योगगुणकी कंपनरूप अशुद्ध पर्यायको 'योग' कहा है।

अब आस्रवका स्वरूप कहते हैं

स आस्रवः ॥२॥

अर्थ—[सः] वह योग [**आस्रवः**] आस्रव है।

टीका

१—आगे चौथे सूत्रमें यह कहेंगे कि सकषाययोग और अकषाययोग आस्रव अर्थात् आत्माका विकारभाव है।

२—कितने ही जीव कषायका अर्थ क्रोध-मान-माया-लोभ करते हैं किन्तु यह अर्थ पर्याप्त नहीं है। मोहके उदयमें युक्त होने पर जीवके मिथ्यात्व क्रोधादि भाव होता है सामान्यरूपसे उस सबका नाम 'कषाय' है। (देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ४०) सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्वभाव नहीं अर्थात् उसके जो क्रोधादि भाव हो सो कषाय है।

३—योगकी क्रिया नवीन कर्मके आस्रवका निमित्त कारण है। इस सूत्रमें कहे हुये 'आस्रव' शब्दमें द्रव्यास्रवका समावेश होता है। योगकी क्रिया जो निमित्त कारण है इसमें पर द्रव्यके द्रव्यास्रव रूप कार्यका उपचार करके इस सूत्रमें योगकी क्रियाको ही आस्रव कहा है।

एक द्रव्यके कारणको दूसरे द्रव्यके कार्यमें मिलाकर व्यवहारनयसे कथन किया जाता है। यह पद्धति यहाँ ग्रहण करके जीवके भावयोगकी क्रियारूप कारणको द्रव्यकर्मके कार्यमें मिलाकर इस सूत्रमें कथन किया है ऐसे व्यवहार नयको इस शास्त्रमें नैगमनयसे कथन किया कहा जाता है क्योंकि योगकी क्रियामें द्रव्यकर्मरूप कार्यका संकल्प किया गया है।

४—प्रश्न—आस्रवको जाननेकी आवश्यकता क्या है ?

उत्तर—दुःखका कारण क्या है यह जाने बिना दुःख दूर नहीं किया जा सकता मिथ्यात्वादिक भाव स्वयं ही दुःखमय हैं उसे जैसा है यदि वैसा न जाने तो जीव उसका अभाव भी न करेगा और इसीलिये जीवके दुःख ही रहेगा इसलिये आस्रवको जानना आवश्यक है।

(मो० प्र० पृ ११२)

५—प्रश्न—जीवकी आस्रव तत्त्वकी विपरीत श्रद्धा अनादिसे क्यों है ?

उत्तर—मिथ्यात्व और शुभाशुभ रागादिक प्रगटरूपसे दुःखके देने

वाले हैं तथापि उनके सेवन करने से सुख होगा ऐसा मानना सो आस्रव तत्त्व की विपरीत श्रद्धा है।

६—प्रश्न—सूत्र १-२ मे योग को आस्रव कहा है और अन्यत्र तो मिथ्यात्वादिको आस्रव कहा है,—इसका क्या कारण है ?

उत्तर—चौथे सूत्रमे यह स्पष्ट कहा है कि योग दो प्रकारका है—सकषाययोग और अकषाययोग, इसलिये ऐसा समझना चाहिये कि सकषाय योगमे मिथ्यात्वादिका समावेश हो जाता है।

७—इन दोनो प्रकारके योगोमेसे जिस पदमे जो योग हो वह जीव की विकारी पर्याय है, उसके अनुसार आत्म प्रदेशमे नवीन द्रव्यकर्म आते है, इसीलिये यह योग द्रव्यास्रवका निमित्त कारण कहा जाता है।

८—प्रश्न—पहले योग दूर होता है या मिथ्यात्वादि दूर होते हैं ?

उत्तर—सबसे पहले मिथ्यात्वभाव दूर होता है। योग तो चौदहवें अयोग-केवली गुणस्थानमे दूर होता है। यद्यपि तेरहवें गुणस्थानमे ज्ञान वीर्यादि सपूर्ण प्रगट होते हैं तथापि योग होता है, इसलिये पहले मिथ्यात्व दूर करना चाहिये और मिथ्यात्व दूर होनेपर उसके सम्बन्धित योग सहज ही दूर होता है।

९—सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व और अनतानुबधी कषाय नही होनेसे उसके उस प्रकार का भाव-आस्रव होता ही नही। सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व दूर हो जानेसे अनतानुबधी कषायका तथा अनतानुबधी कषायके साथ सबध रखनेवाले अविरति और योगभावका अभाव हो जाता है (देखो समयसार गा० १७६ का भावार्थ)। और फिर मिथ्यात्व दूर हो जानेसे उसके साथ रहनेवाली प्रकृतियोका बध नही होता और अन्य प्रकृतियाँ सामान्य संसारका कारण नही हैं। जडसे काटे गये वृक्षके हरे पत्तोकी तरह वे प्रकृतियाँ शीघ्र ही सूखने योग्य हैं। ससारका मूल अर्थात् ससारका कारण मिथ्यात्व ही है। (पाटनी ग्रथमाला समयसार गा० १६८ पृ० २५८)

अब योगके निमित्तसे आस्रवके भेद बतलाते हैं

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥ ३ ॥

अर्थ—[शुभः] शुभयोग [पुण्यस्य] पुण्यकर्मके आस्रवमें कारण है और [अशुभः] अशुभ योग [पापस्य] पापकर्मके आस्रवमें कारण है।

टीका

१—योगमें शुभ या अशुभ ऐसा भेद नहीं किन्तु आचरणरूप उपयोगमें (चारित्र गुणकी पर्यायमें) शुभोपयोग और अशुभोपयोग ऐसा भेद होता है इसीलिये शुभोपयोगके साथके योगको उपचारसे शुभ योग कहते हैं और अशुभोपयोगके साथके योगको उपचारसे अशुभयोग कहा जाता है।

२—पुण्यास्रव और पापास्रवके संबंधमें होनेवाली विपरीतता

प्रश्न—मिथ्यादृष्टि जीवकी आस्रव संबंधी क्या विपरीतता है?

उत्तर—आस्रव तत्त्वमें जो हिंसादिक पापास्रव है उसे तो हेय मानता है किन्तु जो अहिंसादिकरूप पुण्यास्रव है उसे उपादेय मानता है भला मानता है, अब ये दोनों आस्रव होने से कर्म बन्धके कारण हैं, उनमें उपादेयत्व मानना ही मिथ्यादर्शन है। सो ही बात समयसार गा० २५४ से ५६ में कही है सर्व जीवों के जीवन-मरण सुख-दुःख अपने अपने कर्मो दयके निमित्तसे होता है तथापि जहाँ ऐसा मानना कि अन्य जीव अन्य जीवके कार्योंका कर्त्ता होता है यही मिथ्याध्यवसाय बंध का कारण है। अन्य जीवके जिलाने या सुखी करने का जो अध्यवसाय हो सो तो पुण्य बंधके कारण हैं और जो मारने या दुःखी करने का अध्यवसाय होता है वह पाप बंधके कारण हैं। यह सब मिथ्या अध्यवसाय है वह त्याज्य है इसलिये हिंसादिक की तरह अहिंसादिकको भी बंधके कारणरूप जानकर हेय समझना। हिंसामें जीवके मारने की बुद्धि हो किन्तु उसकी आयु पूर्ण हुये बिना वह नहीं मरता और अपनी द्वेष परिणतिसे स्वयं ही पाप बन्ध करता है तथा अहिंसामें परकी रक्षा करने की बुद्धि हो किन्तु उसकी आयुके अवशेष न होने से वह नहीं जीता मात्र अपनी शुभराग परिणति से स्वयं ही पुण्य बांधता है। इस तरह ये दोनों हेय हैं। किन्तु जहाँ जीव

वीतराग होकर दृष्टा ज्ञाता रूप होवे वहाँ ही निर्बंधता है इसलिये वह उपादेय है।

जहाँ तक ऐसी दशा न हो वहाँतक शुभरागरूप प्रवर्ते परन्तु श्रद्धान तो ऐसा रखना चाहिये कि यह भी बंधका कारण है–हेय है। यदि **श्रद्धानमें उसे मोक्षका मार्ग जाने तो वह मिथ्यादृष्टि ही है।**

(मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३३१–३३२)

३—शुभयोग तथा अशुभयोगके अर्थ

शुभयोग—पंच परमेष्ठीकी भक्ति, प्राणियोके प्रति उपकारभाव, रक्षाभाव, सत्य बोलनेका भाव, परधन हरण न करनेका भाव,–इत्यादि शुभ परिणामसे निर्मित योगको शुभयोग कहते हैं।

अशुभयोग—जीवोकी हिंसा करना, असत्य बोलना, परधन हरण करना, ईर्ष्या करना,—इत्यादि भावोरूप अशुभ परिणामसे बने हुये योगको अशुभयोग कहते हैं।

४—आस्रवमें शुभ और अशुभ भेद क्यों ?

प्रश्नः—आत्माके पराधीन करने मे पुण्य और पाप दोनों समान कारण हैं—सोनेकी सांकल और लोहेकी सांकलकी तरह पुण्य और पाप दोनों आत्माकी स्वतंत्रताका अभाव करनेमें समान हैं, तो फिर उसमें शुभ और अशुभ ऐसे दो भेद क्यो कहे हैं ?

उत्तरः—उनके कारणसे मिलनेवाली इष्ट–अनिष्ट गति, जाति इत्यादि की रचना के भेदका ज्ञान कराने के लिये उसमें भेद कहे हैं–अर्थात् संसार की अपेक्षा से भेद है, धर्म की अपेक्षा से भेद नही, अर्थात् दोनों प्रकारके भाव 'अधर्म' हैं। प्रवचनसार गाथा ७७ में कहा है कि–इसप्रकार पुण्य और पापमें भेद (–अंतर) नही है, ऐसा जो जीव नही मानता है वह मोहाच्छादित होता हुआ घोर अपार संसार मे परिभ्रमण करता है।

५—शुभ तथा अशुभ दोनों भावोंसे सात या आठ कर्म बँधते हैं तथापि यहाँ ऐसा क्यों नहीं कहा ?

प्रश्न—रागी जीवके आयुके अतिरिक्त सातों कर्मका निरंतर आस्रव होता है तथापि इस सूत्रमें शुभपरिणामको पुण्यास्रवका ही कारण और अशुभ परिणामको पापास्रवका ही कारण क्यों कहा ?

उत्तर—यद्यपि संसारी रागी जीवके सातों कर्मका निरंतर आस्रव होता है तथापि संक्लेश (-अशुभ) परिणामसे देव, मनुष्य और तिर्यंच आयुके अतिरिक्त १४५ प्रकृतियोंकी स्थिति बढ़ जाती है और मंद (शुभ) परिणामसे उन समस्त कार्योंकी स्थिति घट जाती है और उपरोक्त तीन आयुकी स्थिति बढ़ जाती है।

और फिर तीव्र कषायसे शुभ प्रकृतिका रस तो घट जाता है और असातावेदनीयादिक अशुभ प्रकृतिका रस अधिक हो जाता है। मंद कषाय से पुण्य प्रकृतिमें रस बढ़ता है और पाप प्रकृतिमें रस घटता है इसलिये स्थिति तथा रस (-अनुभाग) की अपेक्षासे शुभ परिणामको पुण्यास्रव और अशुभ परिणामको पापास्रव कहा है।

६—शुभ अशुभ कर्मोंके बन्धनेके कारणसे शुभ-अशुभयोग ऐसे भेद नहीं हैं

प्रश्न—शुभ परिणामके कारणसे शुभयोग और अशुभ परिणामके कारणसे अशुभयोग है ऐसा माननेके स्थानपर यह माननेमें क्या बाधा है कि शुभ अशुभ कर्मोंके बंधके निमित्तसे शुभ—अशुभ भेद होता है ?

उत्तर—यदि कर्मके बन्धके अनुसार योग माना जायगा तो शुभ योग ही न रहेगा क्योंकि शुभयोगके निमित्तसे ज्ञानावरणादि अशुभ कर्म भी बँधते हैं इसीलिये शुभ—अशुभ कर्म बंधनेके कारणसे शुभ—अशुभयोग ऐसे भेद नहीं हैं। परन्तु ऐसा मानना न्याय संगत है कि मंद कषायके कारणसे शुभयोग और तीव्र कषायके कारणसे अशुभयोग है।

७—शुभभावसे पापकी निर्जरा नहीं होती

प्रश्न—यह तो ठीक है कि शुभभावसे पुण्यका बन्ध होता है किंतु ऐसा माननेमें क्या दोष है कि उससे पापकी निर्जरा होती है ?

उत्तर—इस सूत्रमे कही हुई तत्त्वदृष्टिसे देखने पर यह मान्यता भूल भरी है। शुभभावसे पुण्यका बन्ध होता है, बन्ध संसारका कारण है, और जो सवर पूर्वक निर्जरा है सो धर्म है। यदि शुभभावसे पापकी निर्जरा मानें तो वह (शुभभाव) धर्म हुआ और धर्मसे बन्ध कैसे होगा ? इसलिये यह मान्यता ठीक नही कि शुभभावसे पुराने पाप कर्मकी निर्जरा होती है (-आत्म प्रदेशसे पापकर्म खिर जाता है); निर्जरा शुद्धभावसे ही होती है अर्थात् तत्त्वदृष्टिके बिना सवर पूर्वक निर्जरा नही होती। विशेष समाधान के लिये देखो अ० ७ सू० १ की टीकामे शास्त्राधार।

८—तीसरे सूत्रका सिद्धान्त

शुभभाव और अशुभभाव दोनो कषाय हैं, इसीलिये वे ससारके ही कारण हैं। शुभभाव बढते २ उससे शुद्धभाव नही हो सकता। जब शुद्धके अभेद आलम्बनसे शुभको दूर करे तब शुद्धता हो। जितने अशमे शुद्धता प्रगट होती है उतने अशमे धर्म है। ऐसा मानना ठीक है कि शुभ या अशुभ मे धर्मका अंश भी नही है। ऐसी मान्यता किये बिना सम्यग्दर्शन कभी नही होता। कितनेक ऐसा मानते हैं कि—जो शुभयोग है सो सवर है, यह यथार्थ नही है,—ऐसा बतानेके लिये इस सूत्रमे स्पष्टरूपसे दोनो योगोको आस्रव कहा है ॥३॥

अब इसका खुलासा करते हैं कि आस्रव सर्व संसारियोंके समान फलका कारण होता है या इसमें विशेषता है

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥ ४ ॥

अर्थ—[**सकषायस्य साम्परायिकस्य**] कषाय सहित जीवके संसारके कारण रूप कर्मका आस्रव होता है और [**अकषायस्य ईर्यापथस्य**] कषायरहित जीवके स्थितिरहित कर्मका आस्रव होता है।

टीका

१—कषायका अर्थ मिथ्यादर्शन—क्रोधादि होता है। सम्यग्दृष्टि जीवोके मिथ्यादर्शनरूप कषाय नही होती अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीवोंके लागू होनेवाला कषायका अर्थ 'चारित्रमें अपनी कमजोरीसे होनेवाले क्रोध-मान

माया–लोभ इत्यादि' ऐसा समझना। मिथ्यादर्शनका अर्थ है आत्माके स्वरूपकी मिथ्या मान्यता–विपरीत मान्यता।

२—साम्परायिक आस्रव—यह आस्रव संसारका ही कारण है। मिथ्यात्व–भावरूप आस्रव अनन्त संसारका कारण है, मिथ्यात्व का अभाव होनेके बाद होनेवाला आस्रव अल्प संसारका कारण है।

३—ईर्यापथ आस्रव—यह आस्रव स्थिति और अनुभागरहित है और यह अकषायी जीवोंके ११–१२ और १३ वें गुणस्थानमें होता है। चौदहवें गुणस्थानमें रहनेवाले जीव अकषायी और अयोगी दोनों हैं, इसलिये वहाँ आस्रव है ही नहीं।

४—कर्मबन्धके चार भेद

कर्मबन्धके चार भेद हैं प्रकृति प्रदेश स्थिति और अनुभाग। इनमें पहले दो प्रकारके भेदोंका कारण योग है और अंतिम दो भेदोंका कारण कषाय है। कषाय संसारका कारण है और इसीलिये जहाँतक कषाय हो वहाँतकके आस्रवको साम्परायिक आस्रव कहते हैं और कषाय दूर होनेके बाद अकेला योग रहता है। कषाय रहित योगसे होनेवाले आस्रवको ईर्यापथ आस्रव कहते हैं। आत्माके उस समयका प्रगट होनेवाला जो भाव है सो भाव ईर्यापथ है और द्रव्यकर्मका जो आस्रव है सो द्रव्य–ईर्यापथ है। इसी तरह भाव और द्रव्य ऐसे दो भेद साम्परायिक आस्रवमें भी समझ लेना। ११ से १३ वें गुणस्थान पर्यन्त ईर्यापथ आस्रव होता है उससे पहलेके गुणस्थानोंमें साम्परायिक आस्रव होता है।

जिसप्रकार बड़का फल आदि वृक्षके कषायले रजमें निमित्त होता है उसीतरह मिथ्यात्व क्रोधादिक आत्माके कर्म–रज लगनेका निमित्त है इसीलिये उन भावोंको कषाय कहा जाता है। जैसे कोरे घड़ेको रज लगकर चली जाती है उसी तरह कषाय–रहित आत्माके कर्म रज उड़कर उसी समय चली जाती है—इसीको ईर्यापथ आस्रव कहा जाता है।

साम्परायिक आस्रवके ३९ भेद

इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पंचचतुःपंचपंचविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥ ५ ॥

अर्थः—[इन्द्रियाणि पच] स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियाँ, [कषायाः-चतुः] क्रोधादि चार कषाय, [अव्रतानि पच] हिंसा इत्यादि पाँच अव्रत और [क्रियाः पंचविंशति] सम्यक्त्व आदि पच्चीस प्रकारकी क्रियायें [सख्याभेदाः] इस तरह कुल ३९ भेद [पूर्वस्य] पहले (साम्परायिक) आसृवके हैं, अर्थात् इन सर्व भेदोंके द्वारा साम्परायिक आसृव होता है।

टीका

१—**इन्द्रिय**—दूसरे अध्यायके १५ से १९ वें सूत्रमे इन्द्रियका विषय आ चुका है। पुद्गल-इन्द्रियाँ परद्रव्य हैं, उससे आत्माको लाभ या हानि नही होती, मात्र भावेन्द्रियके उपयोगमे वह निमित्त होता है। इन्द्रिय का अर्थ होता है भावेन्द्रिय, द्रव्येन्द्रिय और इद्रियका विषय, ये तीनो ज्ञेय हैं, ज्ञायक आत्माके साथ उनके जो एकत्वकी मान्यता है सो (मिथ्यात्व-भाव) ज्ञेय-ज्ञायक सकरदोष है। (देखो श्री समयसार गाथा ३१ टीका)

कषाय—रागद्वेषरूप जो आत्माकी प्रवृत्ति है सो कषाय है। यह प्रवृत्ति तीव्र और मदके भेदसे दो प्रकारकी होती है।

अव्रत—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह ये पाँच प्रकारके अव्रत हैं।

२—**क्रिया**—आत्माके प्रदेशोका परिस्पन्दरूप जो योग है सो क्रिया है, इसमें मन, वचन और काय निमित्त होता है। यह क्रिया सकषाय योगमे दशवें गुणस्थान तक होती है। पौद्गलिक मन, वचन या कायकी कोई भी क्रिया आत्माकी नही है, और न आत्माको लाभकारक या हानि-कारक है। जब आत्मा सकषाय योगरूपसे परिणमे और नवीन कर्मोंका आसृव हो तब आत्माका सकषाययोग उस पुद्गल-आसृवमे निमित्त है और पुद्गल स्वय उस आसृवका उपादान कारण है, भावासृवका उपादान कारण

आत्माकी उस २ अवस्थाकी योग्यता है और निमित्त पुराने कर्मोंका उदय है।

३—पचीस प्रकारकी क्रियाओंके नाम और उनके अर्थ

(१) सम्यक्त्व क्रिया—चैत्य, गुरु और प्रवचन (शास्त्र) की पूजा इत्यादि कार्योंसे सम्यक्त्वकी वृद्धि होती है, इसीलिये यह सम्यक्त्व क्रिया है। यहाँ मन, वचन, कायकी जो क्रिया होती है वह सम्यक्त्वी जीवके शुभभावमें निमित्त है वे शुभभावको धर्म नहीं मानते इसीलिये इस मान्यताकी दृढ़ताके द्वारा उसके सम्यक्त्वकी वृद्धि होती है इसलिये यह मान्यता आस्रव नहीं किन्तु जो सकषाय (शुभभाव सहित) योग है सो भाव आस्रव है वह सकषाय योग द्रव्यकर्मके आस्रवमें मात्र निमित्त कारण है।

(२) मिथ्यात्वक्रिया—कुदेव कुगुरु और कुशास्त्रके पूजा स्तवनादिरूप मिथ्यात्वकी कारणवाली क्रियायें हैं सो मिथ्यात्वक्रिया है।

(३) प्रयोगक्रिया—हाथ पैर इत्यादि चलानेके भावरूप इच्छारूप जो क्रिया है सो प्रयोगक्रिया है।

(४) समादान क्रिया—संयमीका असंयमके सन्मुख होना।

(५) ईर्यापथ क्रिया—समादान क्रियासे विपरीत क्रिया अर्थात् संयम बढ़ानेके लिये साधु जो क्रिया करता है वह ईर्यापथ क्रिया है। ईर्यापथ पाँच समितिरूप है उसमें जो शुभ भाव है सो ईर्यापथ क्रिया है [समितिका स्वरूप ९ वें अध्यायके ५ वें सूत्रमें कहा जायगा।]

अब पाँच क्रियायें कही जाती हैं, इसमें पर हिंसाके भावकी मुख्यता है

(६) प्रादोषिक क्रिया—क्रोधके आवेशसे द्वेषादिकरूप बुद्धि करना सो प्रादोषिक क्रिया है।

(७) कायिकी क्रिया—उपर्युक्त दोष उत्पन्न होने पर हाथसे मारना मुखसे गाली देना इत्यादि प्रवृत्तिका जो भाव है सो कायिकी क्रिया है।

(८) अधिकरणिकीक्रिया—हिंसाके साधनभूत बन्दूक, छुरी इत्यादि लेना, देना, रखना सो सब अधिकरणिकी क्रिया है।

(९) परिताप क्रिया—दूसरेको दुःख देनेमे लगना।

(१०) प्राणातिपात क्रिया—दूसरेके शरीर, इन्द्रिय या श्वासोच्छ्वासको नष्ट करना सो प्राणातिपात क्रि।। है।

नोट—यह व्यवहार-कथन है, इसका अर्थ ऐसा समझना कि जीव जब निजमें इसप्रकारके अशुभ भाव करता है, तब इस क्रियामें बताई गई पर वस्तुयें स्वय बाह्य निमित्तरूपसे होती हैं। ऐसा नही मानना कि जीव परपदार्थोका कुछ कर मकता है या परपदार्थ जीवका कुछ कर सकते हैं।

अब ११ से १५ तककी ५ क्रियायें कहते हैं। इनका सम्बन्ध इन्द्रियोंके भोगोंके साथ है

(११) दर्शन क्रिया—सं.दर्य देखनेकी इच्छा है सो दर्शनक्रिया है।

(१२) स्पर्शन क्रिया—किसी चीजके स्पर्श करनेकी जो इच्छा है सो स्पर्शन क्रिया है (इसमे अन्य इन्द्रियो सम्बन्धी वाछाका समावेश समझना चाहिये)।

(१३) प्रात्ययिकी क्रिया—इन्द्रियके भोगोकी वृद्धिके लिये नवीन नवीन सामग्री एकत्रित करना या उत्पन्न करना सो प्रात्ययिकी क्रिया है।

(१४) समंतानुपात क्रिया—स्त्री, पुरुष तथा पशुओंके उठने बैठनेके स्थानको मलमूत्रसे खराब करना सो समतानुपात क्रिया है।

(१५) अनाभोग क्रिया—बिना देखी या बिना शोधी जमीन पर बैठना, उठना, सोना या कुछ धरना उठाना सो अनाभोग क्रिया है।

अब १६ से २० तककी पाँच क्रियायें कहते हैं, ये उच्च धर्माचरणमें धक्का पहुँचानेवाली हैं

(१६) स्वहस्त क्रिया—जो काम दूसरेके योग्य हो उसे स्वय करना सो स्वहस्त क्रिया है।

(१७) निसर्ग क्रिया—पापके साधनोंके लेने देनेमें सम्मति देना।

(१८) विदारण क्रिया—आलस्यके वश हो अच्छे काम न करना और दूसरेके दोष प्रगट करना सो विदारण क्रिया है।

(१९) आज्ञाव्यापादिनी क्रिया—शास्त्रकी आज्ञाका स्वयं पालन न करना और उसके विपरीत अर्थ करना तथा विपरीत उपदेश देना सो आज्ञाव्यापादिनी क्रिया है।

(२०) अनाकांक्षा क्रिया—उन्मत्तपना या आलस्यके वश हो प्रवचन (शास्त्रों) में कही गई आज्ञाओंके प्रति आदर या प्रेम न रखना सो अनाकांक्षा क्रिया है।

अब अंतिम पाँच क्रियायें कहते हैं, इनके होनेसे धर्म धारण करनेमें विमुखता रहती है

(२१) आरम्भ क्रिया—हानिकारक कार्योंमें रुकना छेदना, तोड़ना भेदना या अन्य कोई वैसा करे सो हर्षित होना सो आरंभ क्रिया है।

(२२) परिग्रह क्रिया—परिग्रहका कुछ भी नाश न हो ऐसे उपायोंमें लगे रहना सो परिग्रह क्रिया है।

(२३) माया क्रिया—मायाचारसे ज्ञानादि गुणोंको छिपाना।

(२४) मिथ्यादर्शन क्रिया—मिथ्यादृष्टियोंकी तथा मिथ्यात्वसे परिपूर्ण कार्योंकी प्रशंसा करना सो मिथ्यादर्शन क्रिया है।

(२५) अप्रत्याख्यान क्रिया—जो त्याग करने योग्य हो उसका त्याग न करना सो अप्रत्याख्यान क्रिया है। (प्रत्याख्यानका अर्थ त्याग है, विषयोंके प्रति आसक्तिका त्याग करनेके बदले उसमें आसक्ति करना सो अप्रत्याख्यान है)

नोट—नं० १० की क्रियाके नीचे जो नोट है वह नं० ११ से २५ तककी क्रियामें भी लागू होता है।

नं० ६ से २५ तककी क्रियाओमे आत्माका अशुभभाव है। अशुभभावरूप जो सकषाय योग है सो पाप आस्रवका कारण है, परन्तु जड मन, वचन या शरीरकी क्रिया है सो किसी आस्रवका कारण नही। भावास्रवका निमित्त पाकर जड रजकणरूप कर्म जीवके साथ एक क्षेत्रावगाहरूपसे बंधते हैं। इन्द्रिय, कषाय तथा अव्रत कारण है और क्रिया उसका कार्य है॥ ५॥

आस्रवमें विशेषता-(हीनाधिकता) का कारण

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषे-भ्यस्तद्विशेषः ॥ ६॥

अर्थः—[तीव्रमंदज्ञाताज्ञातभावाधिकरण वीर्य विशेषेभ्यः] तीव्रभाव, मंदभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरणविशेष और वीर्यविशेषसे [तद्विशेषः] आस्रवमें विशेषता-हीनाधिकता होती है।

टीका

तीव्रभाव—अत्यन्त बढ़े हुये क्रोधादिके द्वारा जो तीव्ररूप भाव होता है वह तीव्रभाव है।

मंदभाव—कषायोकी मंदतासे जो भाव होता है उसे मंदभाव कहते हैं।

ज्ञातभाव—जानकर इरादापूर्वक करनेमे आनेवाली प्रवृत्ति ज्ञातभाव है।

अज्ञातभाव—विनाजानेअसावधानीसे प्रवर्तना सो अज्ञातभाव है।

अधिकरण—जिस द्रव्यका आश्रय लिया जावे वह अधिकरण है।

वीर्य—द्रव्यकी स्वशक्ति विशेषको वीर्य (-बल) कहते हैं॥६॥

अब अधिकरणके भेद बतलाते हैं

अधिकरणं जीवाऽजीवाः ॥७॥

अर्थ—[अधिकरणं] अधिकरण [जीवाऽजीवा] जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य ऐसे दो भेद रूप है, इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि आत्मामें जो कर्मास्रव होता है उसमें दो प्रकारका निमित्त होता है, एक जीव निमित्त और दूसरा अजीव निमित्त।

टीका

१—यहाँ अधिकरणका अर्थ निमित्त होता है। छट्ठे सूत्रमें आस्रव की तारतम्यताके कारणमें 'अधिकरण' एक कारण कहा है। उस अधिकरणके प्रकार बतानेके लिये इस सूत्रमें यह बताया है कि जीव अजीव कर्मास्रवमें निमित्त हैं।

२—जीव और अजीवके पर्याय अधिकरण हैं ऐसा बतानेके लिये सूत्रमें द्विवचनका प्रयोग न कर बहुवचनका प्रयोग किया है। जीव अजीव सामान्य अधिकरण नहीं किन्तु जीव-अजीवके विशेष (-पर्याय) अधिकरण होते हैं। यदि जीव अजीवके सामान्यको अधिकरण कहा जाय तो सर्व जीव और सर्व अजीव अधिकरण हों। किन्तु ऐसा नहीं होता क्योंकि जीव अजीवकी विशेष—पर्याय विशेष ही अधिकरण स्वरूप होती है ॥ ७ ॥

जीव-अधिकरणके भेद

आद्यं संरंभसमारंभारंभयोगकृतकारितानुमत-कषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥ ८ ॥

अर्थ—[आद्यं] पहला अर्थात् जीव अधिकरण-आस्रव [संरम्भ समारम्भारम्भ योग कृतकारितानुमतकषाय विशेषैः च] संरंभ-समारंभ आरंभ मन-वचन कायरूप तीन योग कृत-कारित अनुमोदना तथा क्रोधादि चार कषायोंकी विशेषता से [त्रिः त्रिः त्रिः चतुः] ३×३×३×४ [एकशः] १०८ भेदरूप है।

टीका

संरंभादि तीन भेद हैं उन प्रत्येकमें मन-वचन काय ये तीन भेद लगानेसे नव भेद हुये इन प्रत्येक भेदमें कृत कारित अनुमोदना ये तीन भेद

लगानेसे २७ भेद हुये और इन प्रत्येकमे क्रोध-मान-माया-लोभ ये चार भेद लगानेसे १०८ भेद होते हैं। ये सब भेद जीवाधिकरण आस्रवके हैं।

सूत्रमें च शब्द अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और सज्वलन कषायके चार भेद बतलाता है।

अनन्तानुबन्धी कषाय—जिस कषायसे जीव अपने स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट न कर सके उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं अर्थात् जो आत्माके स्वरूपाचरण चारित्रको घाते उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं।

अनन्त ससारका कारण होनेसे मिथ्यात्वको अनन्त कहा जाता है, उसके साथ जिस कषायका बध होता है उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं।

अप्रत्याख्यान कषाय—जिस कषायसे जीव एकदेशरूप सयम (-सम्यग्दृष्टि श्रावकके व्रत) किंचित् मात्र भी प्राप्त न कर सके उसे अप्रत्याख्यान कषाय कहते हैं।

प्रत्याख्यान कषाय—जीव जिस कषायसे सम्यग्दर्शन पूर्वक सकल संयमको ग्रहण न कर सके उसे प्रत्याख्यान कषाय कहते हैं।

संज्वलन कषाय—जिस कषायसे जीवका संयम तो बना रहे परन्तु शुद्ध स्वभावमे-शुद्धोपयोगमे पूर्णरूपसे लीन न हो सके उसे सज्वलन कषाय कहते हैं।

संरंभ—किसी भी विकारी कार्यके करनेके सकल्प करनेको सरभ कहा जाता है। (संकल्प दो तरहका है १-मिथ्यात्वरूप संकल्प, २-अस्थिरतारूप सकल्प)

समारम्भ—उस निर्णयके अनुसार साधन मिलानेके भावको समारम्भ कहा जाता है।

आरम्भ—उस कार्यके प्रारम्भ करनेको आरम्भ कहा जाता है।

कृत—स्वय करनेके भावको कृत कहते हैं।

कारित—दूसरेसे करानेके भावको कारित कहते हैं।

अनुमत—जो दूसरे करें उसे भला समझना सो अनुमत है ॥८॥

अजीवाधिकरण आस्रवके भेद बतलाते हैं

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ॥९॥

अर्थ—[परम्] दूसरा अजीवाधिकरण आस्रव [निर्वर्तना द्वि] दो प्रकारकी निर्वर्तना [निक्षेप चतु] चार प्रकारके निक्षेप [संयोग द्वि] दो प्रकारके संयोग और [निसर्गा त्रिभेदाः] तीन प्रकारके निसर्ग ऐसे कुल ११ भेदरूप है।

टीका

निर्वर्तना—रचना करना—निपजाना सो निर्वर्तना है, उसके दो भेद हैं:—१–शरीरसे कुचेष्टा उत्पन्न करना सो देहदुःप्रयुक्त निर्वर्तना है और २–शस्त्र इत्यादि हिंसाके उपकरणकी रचना करना सो उपकरण निर्वर्तना है। अथवा दूसरी तरहसे दो भेद इस तरह होते हैं—१–पाँच प्रकारके शरीर मन वचन श्वासोच्छ्वासका उत्पन्न करना सो मूलगुण निर्वर्तना है और २–काष्ट मिट्टी इत्यादिसे चित्र आदिकी रचना करना सो उत्तरगुण निर्वर्तना है।

निक्षेप—वस्तुको रखनेको (धरनेको) निक्षेप कहते हैं उसके चार भेद हैं—१–बिना देखे वस्तुका रखना सो अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण है २–यत्नाचार रहित होकर वस्तुको रखना सो दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण है ३–भयादिकसे या अन्य कार्य करनेकी जल्दीमें पुस्तक कमण्डलु शरीर या शरीरके मैलको रखना सो सहसानिक्षेपाधिकरण है और ४–जीव है या नहीं ऐसा बिना देखे और बिना विचार किए शीघ्रतामें पुस्तक कमण्डलु शरीर या शरीरके मैलको रखना और जहाँ वस्तु रखनी चाहिये वहाँ न रखना सो अनाभोगनिक्षेपाधिकरण है।

संयोग—मिलाप होना सो संयोग है उसके दो भेद हैं १–भक्तपान संयोग और २–उपकरण संयोग। एक आहार पानीको दूसरे आहार पानीके साथ मिला देना सो भक्तपान संयोग है और ठंडी [illegible] कमण्डलु

शरीरादिकको धूपसे गरम हुई पीछी आदिसे पोछना तथा शोधना सो उपकरण सयोग है।

निसर्ग—प्रवर्तनको निसर्ग कहते हैं, उसके तीन भेद हैं १–मनको प्रवर्ताना सो मन निसर्ग है, २–वचनोको प्रवर्ताना सो वचन निसर्ग है और ३–शरीरको प्रवर्ताना सो काय निसर्ग है।

नोट—जहाँ जहाँ परके करने करानेकी बात कही है वहाँ वहाँ व्यवहार कथन समझना। जीव परका कुछ कर नही सकता तथा पर पदार्थ जीवका कुछ कर नही सकते, किन्तु मात्र निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध दिखानेके लिये इस सूत्रका कथन है ॥९॥

यहाँ तक सामान्य आस्रवके कारण कहे; अब विशेष आस्रवके कारण वर्णित करते हैं, उसमें प्रत्येक कर्मके आस्रवके कारण बतलाते हैं—

ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रवका कारण

तत्प्रदोपनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥१०॥

अर्थ—[तत्प्रदोप निह्नव मात्सर्यांतराया सादनोपघाताः] ज्ञान और दर्शनके सम्बन्धमे करनेमें आये हुये प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अतराय, आसादन और उपघात ये [ज्ञानदर्शनावरणयो] ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्मासूवके कारण हैं।

टीका

१. प्रदोष—मोक्षका कारण अर्थात् मोक्षका उपाय तत्त्वज्ञान है, उसका कथन करनेवाले पुरुषकी प्रशंसा न करते हुये अन्तरङ्गमे जो दुष्ट परिणाम होना सो प्रदोष है।

निह्नव—वस्तुस्वरूपके ज्ञानादिका छुपाना–जानते हुये भी ऐसा कहना कि मैं नही जानता सो निह्नव है।

मात्सर्य—वस्तुस्वरूपके जानते हुये भी यह विचारकर किसीको न

पढ़ाऊँगा कि 'यदि मैं इसे कहूँगा तो यह पंडित हो जायगा' ऐसा तात्पर्य है।

अंतराय—यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिमें विघ्न करना सो अंतराय है।

आसादन—परके द्वारा प्रकाश होने योग्य ज्ञानको रोकना सो आसादन है।

उपघात—यथार्थ प्रशस्त ज्ञानमें दोष लगाना अथवा प्रशंसा योग्य ज्ञानको दूषण लगाना सो उपघात है।

इस सूत्रमें 'तत्' का अर्थ ज्ञान-दर्शन होता है।

उपरोक्त छह दोष यदि ज्ञानावरण सम्बन्धी हों तो ज्ञानावरणके निमित्त हैं और दर्शनावरण सम्बन्धी हों तो दर्शनावरणके निमित्त हैं।

२—इस सूत्रमें जो ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्मके आस्रवके छह कारण कहे हैं उनके बाद ज्ञानावरणके लिये विशेष कारण भी तत्त्वार्थसारके चौथे अध्यायकी १३ से १६ वीं गाथामें निम्नप्रकार दिया है—

७—तत्त्वोंका उत्सूत्र कथन करना।

८—तत्त्वका उपदेश सुननेमें अनादर करना।

९—तत्त्वोपदेश सुननेमें आलस्य रखना।

१०—लोभ बुद्धिसे शास्त्र बेचना।

११—अपनेको-निजको बहुश्रुत (उपाध्याय) मानकर अभिमानसे मिथ्या उपदेश देना।

१२—अध्ययनके लिये जिस समयका निषेध है उस समयमें (अकालमें) शास्त्र पढ़ना।

१३—सच्चे आचार्य तथा उपाध्यायसे विरुद्ध रहना।

१४—तत्त्वोंमें श्रद्धा न रखना।

१५—तत्त्वोंका अनुचिंतन न करना।

१६—सर्वज्ञ भगवानके शासनके प्रचारमें बाधा डालना।

१७—बहुश्रुत ज्ञानियोंका अपमान करना।

१८—तत्त्वज्ञानका अभ्यास करनेमें शठता करना।

३–यहाँ यह तात्पर्य है कि जो काम करनेसे अपने तथा दूसरे के तत्वज्ञानमे बाधा आवे या मलिनता हो वे सब ज्ञानावरण कर्मके आस्रवके कारण हैं। जैसे कि एक ग्रथके असावधानीसे लिखने पर किसी पाठको छोड देना अथवा कुछ का कुछ लिख देना सो ज्ञानावरण कर्मके आस्रवका कारण होता है। (देखो तत्त्वार्थसार पृष्ठ २००–२०१)

४–और फिर दर्शनावरणके लिये इस सूत्रमें कहे गये छह कारणो के पश्चात् अन्य विशेष कारण श्री तत्त्वार्थसारके चौथे अध्यायकी १७-१८ १९ वी गाथामे निम्नप्रकार दिये हैं—

७–किसी की आँख निकाल लेना (८) बहुत सोना (९) दिनमें सोना (१०) नास्तिकपनकी भावना रखना (११) सम्यग्दर्शनमे दोष लगाना (१२) कुतीर्थवालोकी प्रशसा करना (१३) तपस्वियो (दिगम्बर मुनियो) को देखकर ग्लानि करना–ये सब दर्शनावरण कर्मके आस्रवके कारण हैं।

५. **शंका**—नास्तिकपनेकी वासना आदिसे दर्शनावरणका आस्रव कैसे होगा, उनसे तो दर्शन मोहका आस्रव होना सभव है क्योंकि सम्यग्दशनसे विपरीत कार्योंके द्वारा सम्यग्दर्शन मलिन होता है न कि दर्शन-उपयोग।

समाधान—जैसे बाह्य इन्द्रियोसे मूर्तिक पदार्थोंका दर्शन होता है वैसे ही विशेषज्ञानियोंके अमूर्तिक आत्माका भी दर्शन होता है, जैसे सर्व ज्ञानोमें आत्मज्ञान अधिक पूज्य है वैसे ही बाह्य पदार्थोंके दर्शन करने से अतर्दर्शन अर्थात् आत्मदर्शन अधिक पूज्य है। इसीलिये आत्मदर्शनमे बाधक कारणो को दर्शनावरण कर्मके आस्रवका कारण मानना अनुचित नही है। इसप्रकार नास्तिकपनेकी मान्यता आदि जो कारण लिखे हैं वे दोष दर्शनावरण कर्मके आस्रवके हेतु हो सकते हैं ? (देखो तत्वार्थसार पृष्ठ२०१-२०२)

यद्यपि आयुकर्मके अतिरिक्त अन्य सात कर्मोंका आस्रव प्रति समय हुवा करता है तथापि प्रदोषादिभावोके द्वारा जो ज्ञानावरणादि खास-विशेष कर्मका बध होना बताया है वह स्थितिबध और अनुभागबधकी अपेक्षासे

समझना अर्थात् प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध तो सब कर्मोंका हुआ करता है किन्तु उस समय ज्ञानावरणादि खास कर्मका स्थिति और अनुभागबंध विशेष अधिक होता है ॥ १० ॥

असाता वेदनीयके आस्रवके कारण

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य ॥ ११ ॥

अर्थ—[आत्मपरोभयस्थानानि] अपनेमें परमें और दोनोंके विषयमें स्थित [दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनानि] दुःख शोक ताप आक्रंदन वध और परिदेव ये [असद्वेद्यस्य] असातावेदनीय कर्मके आस्रवके कारण हैं।

टीका

१ दुःख—पीड़ारूप परिणाम विशेषको दुःख कहते हैं।

शोक—अपनेको लाभदायक मालूम होनेवाले पदार्थका वियोग होने पर विकलता होना सो शोक है।

ताप—संसारमें अपनी निंदा आदि होने पर पश्चाताप होना।

आक्रंदन—पश्चातापसे अश्रुपात करके रोना सो आक्रंदन है।

वध—प्राणोंके वियोग करने को वध कहते हैं।

परिदेव—संक्लेश परिणामोंके कारणसे ऐसा रुदन करना कि जिससे सुननेवालेके हृदयमें दया उत्पन्न हो जाय सो परिदेवन है।

यद्यपि शोक ताप आदि दुःखके ही भेद हैं तथापि दुःखकी जातियाँ बतानेके लिये ये दो भेद बताये हैं।

२—स्वयंको परको या दोनोंको एक साथ दुःख शोकादि उत्पन्न करना सो असातावेदनीय कर्मके आस्रवका कारण होता है।

प्रश्न—यदि दुःखादिक निजमें परमें या दोनोंमें स्थित होने से असातावेदनीय कर्मके आस्रवका कारण होता है तो अर्हन्त मतके मानने-

वाले जीव केश-लोंच, अनशन तप, आतपस्थान इत्यादि दुःखके निमित्त स्वयं करते हैं और दूसरो को भी वैसा उपदेश देते हैं तो इसीलिये उनके भी असातावेदनीय कर्मका आस्रव होगा।

उत्तर—नही, यह दूषण नही है। यह विशेष कथन ध्यानमे रखना कि यदि अंतरंगक्रोधादिक परिणामोके आवेशपूर्वक खुदको, दूसरे को या दोनोको दुःखादि देनेका भाव हो तो ही वह असातावेदनीय कर्मके आस्रवका कारण होता है। भावार्थ यह है कि अंतरग क्रोधादिके वश होने से आत्माके जो दुःख होता है वह दुःख केशलोच, अनशनतप या आतापयोग इत्यादि धारण करनेमे सम्यग्दृष्टि मुनिके नही होता, इसलिये उनके इससे असातावेदनीयका आस्रव नही होता, वह तो उनका शरीरके प्रति वैराग्यभाव है।

यह बात दृष्टांत द्वारा समझाई जाती है—

दृष्टांत—जैसे कोई दयाके अभिप्रायवाला–दयालु और शल्यरहित वैद्य सयमी पुरुषके फोडेको काटने या चीरनेका काम करता है और उस पुरुषको दुःख होता है तथापि उस बाह्य निमित्तमात्रके कारण पापबंध नही होता, क्योकि वैद्यके भाव उसे दुःख देने के नही हैं।

सिद्धांत—वैसे ही ससार सबन्धी महा दुःखसे उद्विग्न हुये मुनि ससार सम्बन्धी महादुःखका अभाव करनेके उपायके प्रति लग रहे है, उनके सक्लेश परिणामका अभाव होनेसे, शास्त्रविधान करनेमे आये हुये कार्योंमें स्वय प्रवर्तनेसे या दूसरोको प्रवर्तानेसे पापबन्ध नही होता, क्योकि उनका अभिप्राय दुःख देने का नही, इसलिये वह असातावेदनीयके आस्रवके कारण नही हैं।

३—इस सूत्रका सिद्धांत

बाह्य निमित्तोके अनुसार आस्रव या बंध नही होता, किन्तु जीव स्वयं जैसा भाव करे उस भावके अनुसार आस्रव और बंध होता है। यदि जीव स्वय विकारभाव करे तो बंध हो और विकारभाव न करे तो बन्ध नही होता ॥ ११ ॥

सातावेदनीयके आस्रवके कारण

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥ १२ ॥

अर्थ—[भूतव्रत्यनुकंपा] प्राणियोंके प्रति और व्रतधारियोंके प्रति अनुकंपा—दया [दान सराग संयमादियोग] दान, सराग संयमादिके योग, [क्षांतिः शौचमिति] क्षमा और शौच अर्हद्भक्ति इत्यादि [सद्वेद्यस्य] सातावेदनीय कर्मके आस्रवके कारण हैं।

टीका

१ भूत=चारों गतियोंके प्राणी।

व्रती = जिन्होंने सम्यग्दर्शन पूर्वक अणुव्रत या महाव्रत धारण किये हों ऐसा जीव।

इन दोनों पर अनुकम्पा—दया करना सो भूतव्रत्यनुकम्पा है।

प्रश्न—जब कि 'भूत' कहने पर उसमें समस्त जीव आगये तो फिर 'व्रती' बतलाने की क्या आवश्यक्ता है?

उत्तर—सामान्य प्राणियोंसे व्रती जीवोंके प्रति अनुकंपा की विशेषता बतलानेके लिये यह कहा गया है व्रती जीवोंके प्रति भक्ति पूर्वक भाव होना चाहिये।

दान = दुःखित भूखे आदि जीवोंके उपकारके लिये धन औषधि आहारादिक देना तथा व्रती सम्यग्दृष्टि सुपात्र जीवोंको भक्ति पूर्वक दान देना सो दान है।

सरागसंयम = सम्यग्ज्ञान पूर्वक चारित्रके धारक मुनिके जो महाव्रतरूप शुभभाव है संयमके साथ यह राग होनेसे सराग संयम कहा जाता है। राग कुछ संयम नहीं जितना वीतरागभाव है वह संयम है।

२ प्रश्न—चारित्र दो तरहके बताये गए हैं (१) वीतराग

चारित्र और दूसरा सराग चारित्र, और चारित्र बन्धका कारण नही है तो फिर यहां सराग सयमको आस्रव और बन्धका कारण क्यो कहा है ?

उत्तर—जहाँ सराग सयमको बन्धका कारण कहा वहाँ ऐसा समझना कि वास्तवमे चारित्र (संयम) बन्धका कारण नहीं, किन्तु जो राग है वह बन्धका कारण है। जैसे—चावल दो तरहके है—एक तो भूसे सहित और दूसरा भूसे रहित, वहाँ भूसा चावलका स्वरूप नही है किन्तु चावलमे वह दोष है। अब यदि कोई सयाना पुरुष भूसे सहित चावलका सग्रह करता हो उसे देखकर कोई भोला मनुष्य भूसेको ही चावल मानकर उसका सग्रह करे तो वह निरर्थक खेदखिन्न ही होगा। वैसे ही चारित्र (सयम) दो भेदरूप है-एक सराग तथा दूसरा वीतराग। यहाँ ऐसा समझना कि जो राग है वह चारित्रका स्वरूप नहीं किन्तु चारित्रमे वह दोष है। अब यदि कोई सम्यग्ज्ञानी पुरुष प्रशस्त राग सहित चारित्रको धारण करे तो उसे देखकर कोई अज्ञानी प्रशस्त रागको ही चारित्र मानकर उसे धारण करे तो वह निरर्थक, खेदखिन्न ही होगा।

(देखो सस्ती ग्रथमालाका मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ७ पृष्ठ ३६० तथा पाटनी ग्रन्थमाला श्री समयसार पृष्ठ ५५८)

मुनिको चारित्रभाव मिश्ररूप है, कुछ तो वीतराग हुआ है और कुछ सराग है, वहाँ जिस अशसे वीतराग हुआ है उसके द्वारा तो संवर है और जिस अशसे सराग रहा है उसके द्वारा बन्ध है। सो एक भावसे तो दो कार्य बने किन्तु एक प्रशस्त राग ही से पुण्यास्रव भी मानना और संवर-निर्जरा भी मानना वह भ्रम है। अपने मिश्र भावमें ऐसी पहिचान सम्यग्दृष्टिके ही होती है कि 'यह सरागता है और यह वीतरागता है।' इसीलिये वे अवशिष्ट सराग भावको हेयरूप श्रद्धान करते हैं। मिथ्यादृष्टिके ऐसी परीक्षा न होनेसे सराग भावमें सवरका भ्रम द्वारा प्रशस्त-रागरूप कार्यको उपादेय मानता है। (देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३३४-३३५)

इसतरह सरागसंयममें जो महाव्रतादि पालन करनेका शुभभाव है वह आस्रव होनेसे बन्धका कारण है किन्तु जितना निर्मल चारित्र प्रगट हुआ है वह बन्धका कारण नही है।

३—इस सूत्रमें 'आदि' शब्द है उसमें संयमासंयम, अकामनिर्जरा, और बालतपका समावेश होता है।

संयमासंयम— सम्यग्दृष्टि श्रावकके व्रत।

अकामनिर्जरा—पराधीनतासे–(अपनी बिना इच्छाके) भोग उपभोगका निरोध होने पर संक्लेशता रहित होना अर्थात् कषायकी मंदता करना सो अकामनिर्जरा है।

बालतप—मिथ्यादृष्टिके मंद कषायसे होनेवाला तप।

४—इस सूत्रमें 'इति' शब्द है उसमें अरहन्तका पूजन भाव, वृद्ध या तपस्वी मुनियोंकी वैयावृत्य करनेमें उद्यमी रहना, योगकी सरलता और विनयका समावेश हो जाता है।

योग—शुभ परिणाम सहित निर्दोष क्रियाविशेषको योग कहते हैं।

क्षांति—शुभ परिणामकी भावनासे क्रोधादि कषायमें होनेवाली तीव्रताके अभावको क्षांति (क्षमा) कहते हैं।

शौच—शुभ परिणाम पूर्वक जो लोभका त्याग है सो शौच है। वीतरागी निर्विकल्प क्षमा और शौचको 'उत्तम क्षमा' और 'उत्तम शौच' कहते हैं वह आस्रवका कारण नहीं है।

अब अनंत संसारके कारणीभूत दर्शनमोहके आस्रवके कारण कहते हैं

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥१३॥

अर्थ—[केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादः] केवली श्रुत, संघ धर्म और देवका अवर्णवाद करना सो [दर्शनमोहस्य] दर्शन मोहनीय कर्मके आस्रवके कारण हैं।

टीका

१ अवर्णवाद–जिसमें जो दोष न हो उसमें उस दोषका आरोपण करना सो अवर्णवाद है।

केवलित्व मुनित्व और देवत्व ये आत्माकी ही भिन्न भिन्न अवस्था

ओंके स्वरूप हैं। अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और मुनि ये पाँचो पद निश्चयसे आत्मा ही हैं (देखो योगीन्द्रदेवकृत योगसार गाथा १०४, परमात्मप्रकाश पृष्ठ ३९३, ३९४) इसीलिये उनका स्वरूप समझनेमे यदि भूल हो और वह उनमे न हो ऐसा दोष कल्पित किया जाय तो आत्माका स्वरूप न समझे और मिथ्यात्वभावका पोषण हो। धर्म आत्माका स्वभाव है इसलिये धर्म सम्बन्धी झूठी दोष कल्पना करना सो भी महान दोष है।

२—श्रुतका अर्थ है शास्त्र, वह जिज्ञासु जीवोके आत्माका स्वरूप समझनेमे निमित्त है, इसीलिये मुमुक्षुओको सच्चे शास्त्रोके स्वरूपका भी निर्णय करना चाहिये।

३–केवली भगवानके अवर्णवादका स्वरूप

(१) भूख और प्यास यह पीड़ा है, उस पीडासे दुःखी हुए जीव ही आहार लेनेकी इच्छा करते हैं। भूख और प्यासके कारण दुःखका अनुभव होना सो आर्तध्यान है। केवली भगवानके सम्पूर्ण ज्ञान और अनन्त सुख होता है तथा उनके परम शुक्लध्यान रहता है। इच्छा तो वर्तमानमे रहनेवाली दशाके प्रति द्वेष और परवस्तुके प्रति रागका अस्तित्व सूचित करती है, केवली भगवानके इच्छा ही नही होती, तथापि ऐसा मानना कि केवली भगवान अन्नका आहार (कवलाहार) करते हैं यह न्याय विरुद्ध है। केवली भगवानके सम्पूर्ण वीर्य प्रगट हुआ होनेसे उनके भूख और प्यास की पीडा ही नही होती, और अनन्त सुख प्रगट होनेसे इच्छा ही नही होती। और विना इच्छा कवल आहार कैसा ? जो इच्छा है सो दुःख है–लोभ है इसलिये केवली भगवानमें आहार लेनेका दोष कल्पित करना सो केवलीका और अपने शुद्ध स्वरूपका अवर्णवाद है। यह दर्शनमोहनीय-कर्मके आस्रवका कारण है अर्थात् यह अनन्त ससारका कारण है।

(२) आत्माको वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट होनेके वाद शरीरमे शौच या दूसरा कोई दर्द (रोग) हो और उसकी दवा लेने या दवा लानेके लिये किसीको कहना यह अशक्य है* दवा लेनेकी इच्छा होना और

---

* तीर्थङ्कर भगवानके जन्मसे ही मलमूत्र नहीं होता और समस्त केवली भगवानोंके केवलज्ञान होनेके बाद रोग, आहार–निहार आदि नही होता।

दवा मानेके लिये किसी शिष्यको कहना ये सब दुःखका अस्तित्व सूचित करता है, अनन्तसुखके स्वामी केवली भगवानके आकुलता, विकल्प, लोभ इच्छा या दुःख होनेकी कल्पना करना अर्थात् केवली भगवानको सामान्य छद्मस्थकी तरह मानना न्याय विरुद्ध है। यदि आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप को समझे तो आत्माकी समस्त दशाओंका स्वरूप ध्यानमें आ जाय। भगवान छद्मस्थ मुनिदशामें करपात्र (हाथमें भोजन करनेवाले) होते हैं और आहारके लिये स्वयं जाते हैं किन्तु यह असंभव है कि केवलज्ञान होनेके बाद रोग हो दवाकी इच्छा उत्पन्न हो और वह लानेके लिये शिष्यको आदेश दें। केवलज्ञान होने पर शरीरकी दशा उत्तम होती है और शरीर परम औदारिक रूपमें परिणमित हो जाता है। उस शरीरमें रोग होता ही नहीं। यह अबाधित सिद्धान्त है कि जहाँ तक राग हो वहाँ तक रोग हो परन्तु भगवानको राग नहीं है इसी कारण उनके शरीरके रोग भी कभी होता ही नहीं। इसलिये इससे विरुद्ध मानना सो अपने आत्मस्वरूपका और उपचारसे अनन्त केवलीभगवन्तोंका अवर्णवाद है।

(३) किसी भी जीवके गृहस्थ दशामें केवलज्ञान प्रगट होता है ऐसा मानना सो बड़ी भूल है। गृहस्थ दशा छोड़े बिना भावसाधुत्व आ ही नहीं सकता भावसाधुत्व हुए बिना भी केवलज्ञान कैसे प्रगट हो सकता है? भावसाधुत्व छट्ठे सातवें गुणस्थानमें होता है और केवलज्ञान तेरहवें गुणस्थानमें होता है इसलिये गृहस्थदशामें कभी भी किसी जीवके केवल ज्ञान नहीं होता। इससे विरुद्ध जो मान्यता है सो अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका और उपचारसे अनन्त केवली भगवानोंका अवर्णवाद है।

(४) छद्मस्थ जीवोंके जो ज्ञान–दर्शन उपयोग होता है वह ज्ञेय सन्मुख होनेसे होता है इस दशामें एक ज्ञेयसे हटकर दूसरे ज्ञेयकी तरफ प्रवृत्ति करता है ऐसी प्रवृत्ति बिना छद्मस्थ जीवका ज्ञान प्रवृत्त नहीं होता इसीसे पहले चार ज्ञान पर्यंतके कथनमें उपयोग शब्दका प्रयोग उसके अर्थ के अनुसार (– 'उपयोग' के अन्वयार्थके अनुसार) कहा जा सकता है परंतु केवलज्ञान और केवलदर्शन तो अखण्ड अविच्छिन्न है उसको ज्ञेय सन्मुख नहीं होना पड़ता अर्थात् केवलज्ञान और केवलदर्शनको एक ज्ञेयसे हटकर

दूसरे ज्ञेयकी तरफ नही लगाना पडता, केवली भगवानके केवलदर्शन और केवलज्ञान एक साथ ही होते हैं। फिर भी ऐसा मानना सो मिथ्या मान्यता है कि "केवली भगवानके तथा सिद्ध भगवानके जिस समय ज्ञानोपयोग होता तब दर्शनोपयोग नही होता और जब दर्शनोपयोग होता है तब ज्ञानोपयोग नही होता।" ऐसा मानना कि "केवली भगवानको तथा सिद्ध भगवानको केवलज्ञान प्रगट होनेके बाद जो अनन्तकाल है उसके अर्धकालमे ज्ञानके कार्य बिना और अर्द्धकाल दर्शनके कार्य बिना व्यतीत करना पडता है" ठीक है क्या ? नही, यह मान्यता भी न्याय विरुद्ध ही है, इसलिये ऐसी खोटी (–मिथ्या) मान्यता रखना सो अपने आत्माके शुद्ध स्वरूप का और उपचार से अनन्त केवली भगवानोका अवर्णवाद है।

(५) चतुर्थ गुणस्थान—(सम्यग्दर्शन) साथ ले जाने वाला आत्मा पुरुषपर्यायमे ही जन्मता है स्त्री रूपमे कभी भी पैदा नही होता, इसीलिये स्त्री रूपसे कोई तीर्थंकर नही हो सकता, क्योकि तीर्थंकर होने वाला आत्मा सम्यग्दर्शन सहित ही जन्मता है और इसीलिये वह पुरुष ही होता है। यदि ऐसा मानें कि किसी कालमें एक स्त्री तीर्थंकर हो तो भूत और भविष्यकी अपेक्षासे (–चाहे जितने लम्बे समयमे हो तथापि) अनत स्त्रियाँ तीर्थंकर हो और इसी कारण यह सिद्धात भी टूट जायगा कि सम्यग्दर्शन सहित आत्मा स्त्री रूपमे पैदा नही होता, इसलिये स्त्री को तीर्थंकर मानना सो मिथ्या मान्यता है और ऐसा मानने वाले ने आत्मा की शुद्ध दशाका स्वरूप नही जाना। वह यथार्थमे अपने शुद्ध स्वरूप का और उपचारसे अनन्त केवली भगवानोका अवर्णवाद है।

(६) किसी भी कर्मभूमिकी स्त्रीके प्रथमके तीन उत्तम सहननका उदय ही नही होता,*जब जीवके केवलज्ञान हो तब पहला ही सहनन होता है ऐसा केवलज्ञान और पहले सहननके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। स्त्री के पाँचवें गुणस्थानसे ऊपरकी अवस्था प्रगट नही होती, तथापि ऐसा मानना कि स्त्रीके शरीरवान जीवको उसी भवमें केवलज्ञान होता है सो अपने शुद्ध

* देखो गोमट्टसार कर्मकांड गाथा ३२।

स्वरूपका अवर्णवाद है और उपचारसे अनंत केवली भगवानोंका तथा साधु संघका अवर्णवाद है।

(७) भगवानकी दिव्यध्वनि को देव, मनुष्य तिर्यंच-सर्व जीव अपनी अपनी भाषामें अपने ज्ञानकी योग्यतानुसार समझते हैं; उस निरक्षर ध्वनिको ॐकार ध्वनि भी कहा है। श्रोताओंके कर्ण प्रदेशतक वह ध्वनि न पहुँचे वहाँ तक वह अनक्षर ही है और जब वह श्रोताओंके कर्णोमें प्राप्त हो तब अक्षररूप होती है। (गो० जी० गा० २२७ टीका)

साधु ओष्ठ आदिके द्वारा केवली भगवानकी वाणी नहीं खिरती किन्तु सर्वांग निरक्षरी वाणी खिरती है इससे विरुद्ध मानना सो आत्माके शुद्धस्वरूपका और उपचारसे केवली भगवानका अवर्णवाद है।

(८) सातवें गुणस्थानसे वंद्य वन्दकभाव नहीं होता, इसलिये वहाँ व्यवहार विनय-वयावृत्य आदि नहीं होते। ऐसा मानना कि केवली किसी का विनय करे या कोई जीव केवलज्ञान होनेके बाद गृहस्थ-कुटुम्बियोंके साथ रहे या गृह कार्यमें भाग लेता है—सो तो वीतरागको सरागी माना, और ऐसा मानना न्याय विरुद्ध है कि किसी भी द्रव्यस्त्रीके केवलज्ञान उत्पन्न होता है। कर्मभूमिकी महिला के प्रथम तीन संहनन होते ही नहीं और चौथा संहनन हो तब वह जीव ज्यादासे ज्यादा सोलहवें स्वर्ग तक जा सकता है' (देखो गोमट्टसार कर्मकांड गाथा २९ ३२) इससे विरुद्ध मानना भी आत्माके शुद्ध स्वरूपका और उपचारसे समस्तकेवली भगवान का अवर्णवाद है।

(९) कुछ लोगोंका ऐसा मानना है कि आत्मा सर्वज्ञ नहीं हो सकता सो यह मान्यता भूलसे भरी हुई है। आत्माका स्वरूप ही ज्ञान है ज्ञान क्या नहीं जानता ? ज्ञान सबको जानता है ऐसी उसमें शक्ति है। और वीतराग विज्ञानके द्वारा वह शक्ति प्रगट कर सकता है। पुनश्च कोई ऐसा मानते हैं कि केवलज्ञानी आत्मा सर्वद्रव्य उसके अनन्तगुण और उसकी अनंत पर्यायों को एक साथ जानता है तथापि उसमेंसे कुछ जानमेंमें नहीं आता— जैसे कि एक बच्चा दूसरेसे कितना बड़ा कितने हाथ लम्बा एक पर दूसरे

घरसे कितने हाथ दूर है इत्यादि बातें केवलज्ञानमें मालूम नहीं होती।' सो यह मान्यता सदोष है। इसमें आत्माके शुद्ध स्वरूपका और उपचारसे अनन्त केवली भगवानोका अवर्णवाद है। भाविकालमे होनहार, सर्व द्रव्यकी सर्व पर्याय भी केवलज्ञानीके वर्तमान ज्ञानमे निश्चितरूप प्रतिभासित है ऐसा न मानना वह भी केवलीको न मानना है।

(१०) ऐसा मानना कि केवली तीर्थंकर भगवान ने ऐसा उपदेश किया है कि 'शुभ रागसे धर्म होता है, शुभ व्यवहार करते २ निश्चय धर्म होता है' सो यह उनका अवर्णवाद है। "शुभभावके द्वारा धर्म होता है इसीलिये भगवानने शुभभाव किये थे। भगवान ने तो दूसरो का भला करने में अपना जीवन अर्पण कर दिया था" इत्यादि रूपसे भगवान की जीवन कथा कहना या लिखना सो अपने शुद्ध स्वरूपका और उपचारसे अनत केवली भगवानोका अवर्णवाद है।

(११) **प्रश्न**—यदि भगवान ने परका कुछ नही किया तो फिर जगदुद्धारक, तरण तारण, जीवनदाता, बोधिदाता इत्यादि उपनामोसे क्यो पहचाने जाते हैं?

उत्तर—ये सब नाम उपचारसे हैं, जब भगवानको दर्शनविशुद्धिकी भूमिकामें अनिच्छकभावसे धर्मराग हुआ, तब तीर्थंकर नामकर्म बँध गया। तत्त्वस्वरूप यों है कि भगवानको तीर्थंकर प्रकृति बँधते समय जो शुभभाव हुआ था वह उनने उपादेय नही माना था, किंतु उस शुभभाव और उस तीर्थंकर नामकर्म—दोनोका अभिप्रायमें निषेध ही था। इसीलिये वे रागको नष्ट करनेका प्रयत्न करते थे। अतमें राग दूर कर वीतराग हुये फिर केवलज्ञान प्रगट हुआ और स्वय दिव्यध्वनि प्रगट हुई; योग्य जीवोने उसे सुनकर मिथ्यात्वको छोड़कर स्वरूप समझा और ऐसे जीवोने उपचार विनयसे जगत्उद्धारक, तरणतारण, इत्यादि नाम भगवानके दिये। यदि वास्तवमें भगवान ने दूसरे जीवोंका कुछ किया हो या कर सकते हो तो जगत्के सब जीवोको मोक्षमे साथ क्यो नही लेगये? इसलिये शास्त्रका कथन किस नयका है यह लक्ष्यमे रखकर उसका यथार्थ अर्थ समझना चाहिये। भगवानको परका कर्ता ठहराना भी भगवानका अवर्णवाद है।

इत्यादि प्रकारसे आत्माके शुद्ध स्वरूपमें दोषोंकी कल्पना आत्माके अनंत संसारका कारण है। इसप्रकार केवली भगवानके अवर्णवादका स्वरूप कहा।

४ श्रुतके अवर्णवादका स्वरूप

१—जो शास्त्र न्याय की कसौटी चढ़ाने पर अर्थात् सम्यग्ज्ञानके द्वारा परीक्षा करने पर प्रयोजनभूत बातोंमें सच्चे-यथार्थ मालूम पड़ें उन्हें ही यथार्थ ठीक मानना चाहिये। जब लोगोंकी स्मरण शक्ति कमजोर हो तब ही शास्त्र लिखनेकी पद्धति होती है इसीलिये लिखे हुए शास्त्र अक्षरशः श्रुत केवली के गूंथे हुये शब्दोंमें ही न हों किन्तु सम्यग्ज्ञानी आचार्यों ने उनके यथार्थ भाव जानकर अपनी भाषामें शास्त्ररूपमें गूंथे हैं वह भी सत् श्रुत हैं।

(२) सम्यग्ज्ञानी आचार्य आदिके बनाये हुये शास्त्रोंकी निंदा करना सो अपने सम्यग्ज्ञानकी ही निंदा करनेके सदृश है क्योंकि जिसने सच्चे शास्त्रकी निंदा की उसका ऐसा भाव हुआ कि मुझे ऐसे सच्चे निमित्तका संयोग न हो किन्तु खोटे निमित्तका संयोग हो अर्थात् मेरा उपादान सम्यग्ज्ञानके योग्य न हो किन्तु मिथ्याज्ञानके योग्य हो।

(३) किसी ग्रंथके कर्ताके रूपमें तीर्थंकर भगवानका, केवलीका, गणधरका या आचार्यका नाम दिया हो इसीलिये उसे सच्चा ही शास्त्र मान लेना सो न्याय संगत नहीं। मुमुक्षु जीवोंको तत्त्व दृष्टिसे परीक्षा करके सत्य असत्यका निर्णय करना चाहिये। भगवानके नामसे किसीने कल्पित शास्त्र बनाया हो उसे सत्श्रुत मान लेना सो सत्श्रुतका अवर्णवाद है जिन शास्त्रोंमें मांसभक्षण मदिरापान वेदनासे पीड़ित मैथुन सेवन रात्रिभोजन इत्यादिको निर्दोष कहा हो भगवती सती को पाँच पति कहे हों तीर्थंकर भगवानके दो माता दो पिता कहे हों वे शास्त्र यथार्थ नहीं इन सबके सत्यासत्य की परीक्षा कर असत्य की मान्यता छोड़ना।

५ संघके अवर्णवादका स्वरूप

प्रथम निर्ग्रन्थ सम्यग्दर्शनरूप धर्म प्रगट करना चाहिये ऐसा नियम है

सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके बाद जिसे सातवाँ—छट्ठा गुण-स्थान प्रगट हो उसके सच्चा साधुत्व होता है, उनके शरीर परकी स्पर्शेन्द्रियका राग, लज्जा तथा रक्षादिकका राग भी दूर हो जाता है, इसीलिये उनके सर्दी, गर्मी, बरसात आदिसे रक्षा करनेका भाव नही होता; मात्र संयमके हेतु इस पदके योग्य निर्दोष शुद्ध आहारकी इच्छा होती है, इसीसे उस गुणस्थान-वाले जीवोके अर्थात् साधुके शरीर या सयमकी रक्षाके लिये भी वस्त्र नही होते। तथापि ऐसा मानना कि जब तीर्थङ्कर भगवान दीक्षा लेते हैं तब धर्म बुद्धिसे देव उन्हे वस्त्र देते हैं और भगवान उसे अपने साथ रखते हैं' सो न्याय विरुद्ध है। इसमे संघ और देव दोनोका अवर्णवाद है। स्त्रीलिंगके साधुत्व मानना, अतिशूद्र जीवोको साधुत्व होना मानना सो सघका अवर्ण-वाद है। देहके ममत्वसे रहित, निर्ग्रन्थ, वीतराग मुनियोके देहको अपवित्र कहना, निर्लज्ज कहना, वेशरम कहना, तथा ऐसा कहना कि 'जब यहाँ भी दु ख भोगते हैं तो परलोकमें कैसे सुखी होगे' सो सघका अवर्णवाद है।

साधु-संघ चार प्रकारका है। वह इसप्रकार है—जिनके ऋद्धि प्रगट हुई हो सो ऋषि, जिनके अवधि-मनःपर्यय ज्ञान हो सो मुनि, जो इद्रियोको जीते सो यति और अनगार यानि सामान्य साधु।

६. धर्मके अवर्णवादका स्वरूप

जो आत्मस्वभावके स्वाश्रयसे शुद्ध परिणमन है सो धर्म है, सम्य-ग्दर्शन प्रगट होने पर यह धर्म प्रारम्भ होता है। शरीरकी क्रियासे धर्म नही होता, पुण्य विकार है अतः उससे धर्म नही होता तथा वह धर्ममें सहायक नही होता। ऐसा धर्मका स्वरूप है। इससे विपरीत मानना सो धर्मका अवर्णवाद है। "जिनेन्द्र भगवानके कहे हुए धर्मंमे कुछ भी गुण नही हैं, उसके सेवन करनेवाले असुर होगे, तीर्थङ्कर भगवानने जो धर्म कहा है उसी रूपसे जगत्के अन्यमतोंके प्रवर्तक भी कहते हैं, सबका ध्येय समान है।" ऐसा मानना सो धर्मका अवर्णवाद है।

आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझना, और सच्ची मान्यता करना तथा खोटी मान्यता छोड़ना सो सम्यग्दर्शनकी अपेक्षासे आत्माकी अहिसा

है और क्रम क्रमसे सम्यक् चारित्र बढ़ने पर जितना राग-द्वेषका अभाव होता है उतनी चारित्र अपेक्षा आत्माकी अहिंसा है। राग द्वेष सर्वथा दूर हो जाता है यह आत्माकी सम्पूर्ण अहिंसा है। ऐसी अहिंसा जीवका धर्म है इसप्रकार अनन्त ज्ञानियोंने कहा है, इससे विरुद्ध जो मान्यता है सो धर्मका अवर्णवाद है।

७ देवके अवर्णवादका स्वरूप

स्वर्गके देवके एक प्रकारका अवर्णवाद ५ वें पराग्राफमें बतलाया है। उसके बाद मे देव मांसभक्षण करते हैं मद्यपान करते हैं भोजनादिक करते हैं, मनुष्यिनी—स्त्रियोंके साथ कामसेवन करते हैं या मनुष्यों, देवोंसे इत्यादि मान्यता देवका अवर्णवाद है।

८—ये पाँच प्रकारके अवर्णवाद दर्शनमोहनीयके आस्रवके कारण हैं और जो दर्शन मोह है सो अनन्त संसारका कारण है।

९ इस सूत्रका सिद्धान्त

शुभ विकल्पसे धर्म होता है ऐसी मान्यतारूप अगृहीत मिथ्यात्व तो जीवके अनादिसे चला आया है। मनुष्य गतिमें जीव जिस कुलमें जन्म पाता है उस कुलसे अधिकतर किसी न किसी प्रकारसे धर्मकी मान्यता होती है। पुनश्च उस कुलधर्ममें किसीको देवरूपसे किसीको गुरुरूपसे किसी पुस्तकको शास्त्ररूपसे और किसी क्रियाको धर्मरूपसे माना जाता है। जीवको बचपनमें इस मान्यताका पोषण मिलता है और बड़ी उमरमें अपने कुलके धर्मस्थानमें जानेपर वहाँ भी मुख्यरूपसे उसी मान्यताका पोषण मिलता है। इस अवस्थामें जीव विवेक पूर्वक सत्य असत्यका निर्णय अधिकतर नहीं करता और सत्य असत्यके विवेकसे रहित दशा होनेसे सच्चे देव गुरु शास्त्र और धर्म पर अनेक प्रकार झूठे आरोप करता है। यह मान्यता इस भवमें नई ग्रहण की हुई होनेसे और मिथ्या होनेसे उसे गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। ये अगृहीत और गृहीत मिथ्यात्व अनन्त संसारके कारण हैं। इसलिए सच्चे-देव गुरु शास्त्र धर्मका और अपने आत्माका यथार्थ स्वरूप समझकर अगृहीत तथा गृहीत दोनों मिथ्यात्वका नाश करनेके लिए

ज्ञानियोंका उपदेश है। (अगृहीत मिथ्यात्वका विषय आठवें बन्ध अधिकारमे आवेगा)। आत्माको न मानना, सत्य मोक्षमार्गको दूषित-कल्पित करना, असत् मार्गको सत्य मोक्षमार्ग मानना, परम सत्य वीतरागी विज्ञानमय उपदेशकी निंदा करना-इत्यादि जो जो कार्य सम्यग्दर्शनको मलिन करते हैं वे सब दर्शन मोहनीयके आस्रवके कारण हैं ॥१३॥

अब चारित्र मोहनीयके आस्रवके कारण बतलाते हैं

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥१४॥

अर्थ—[**कषायोदयात्**] कषायके उदयसे [**तीव्र परिणामः**] तीव्र परिणाम होना सो [**चारित्रमोहस्य**] चारित्र मोहनीयके आस्रवका कारण है।

टीका

१—कषायकी व्याख्या इस अध्यायके पाँचवें सूत्रमें कही जा चुकी है। उदयका अर्थ विपाक—अनुभव है। ऐसा समझना चाहिये कि जीव कषाय कर्मके उदयमें युक्त होकर जितना राग-द्वेष करता है उतना उस जीवके कषायका उदय—विपाक (-अनुभव) हुआ। कषायकर्मके उदयमे युक्त होनेसे जीवको जो तीव्रभाव होता है वह चारित्रमोहनीयकर्मके आस्रवका कारण (-निमित्त) है ऐसा समझना।

२—चारित्रमोहनीयके आस्रवका इस सूत्रमे संक्षेपसे वर्णन है; उसका विस्तृत वर्णन निम्नप्रकार है:—

(१) अपने तथा परको कषाय उत्पन्न करना।

(२) तपस्वीजनोको चारित्र दोष लगाना।

(३) संक्लेश परिणामको उत्पन्न करानेवाला भेष, व्रत इत्यादि धारण करना इत्यादि लक्षणवाला परिणाम कषायकर्मके आस्रवका कारण है।

(१) गरीबोका अतिहास्य करना।

(२) बहुत ज्यादा व्यर्थ प्रलाप करना। (३) हँसीका स्वभाव रखना।

इत्यादि लक्षणवाला परिणाम हास्यकर्मके आस्रवका कारण है।

(१) विचित्र क्रीड़ा करनेमें तत्परता होना।

(२) व्रत–शीलमें अरुचि परिणाम करना।

इत्यादि लक्षणवाले परिणाम रतिकर्मके आस्रवके कारण हैं।

(१) परको अरति उत्पन्न कराना। (२) परकी रतिका विनाश करना।

(३) पाप करनेका स्वभाव होना। (४) पापका संसर्ग करना।

इत्यादि लक्षणवाले परिणाम अरतिकर्मके आस्रवके कारण हैं।

(१) दूसरेको शोक पैदा कराना (२) दूसरेके शोकमें हर्ष मानना।

इत्यादि लक्षणवाले परिणाम शोककर्मके आस्रवके कारण हैं।

(१) स्वयंके भयरूप भाव रखना। (२) दूसरेको भय उत्पन्न कराना।

इत्यादि लक्षणवाले परिणाम भयकर्मके आस्रवके कारण हैं।

भली क्रिया—आचारके प्रति ग्लानि आदिके परिणाम होना सो जुगुप्साकर्मके आस्रवका कारण है।

(१) झूठ बोलनेका स्वभाव होना। (२) मायाचारमें तत्पर रहना।

(३) परके छिद्रकी आकांक्षा अथवा बहुत ज्यादा राग होना इत्यादि परिणाम स्त्रीवेदकर्मके आस्रवके कारण हैं।

(१) थोड़ा क्रोध होना। (२) इष्ट पदार्थोंमें आसक्तिका कम होना।

(३) अपनी स्त्रीमें संतोष होना।

इत्यादि परिणाम पुरुषवेदकर्मके आस्रवके कारण हैं।

(१) कषायकी प्रबलता होना।

(२) गुह्य इन्द्रियोंका छेदन करना। (३) परस्त्रीगमन करना।

इत्यादि परिणाम होना सो नपुंसकवेदके आस्रवका कारण है।

१—लोभका अभाव कारण है और सम्यग्दर्शनका अभाव कारण नहीं है यह सिद्धान्त आत्माके समस्त गुणोंमें लागू होता है। आत्मामें होने वाला मिथ्यादर्शनका या अभावमें भी अन्य भाव होता है वह दर्शन

मोहनीय कर्मके आस्रवका कारण नही है। यदि अंतिम अंश भी बन्ध का कारण हो तो कोई भी जीव व्यवहारमें कर्म रहित नही हो सकता (देखो अध्याय ५ सूत्र ३४ की टोका)॥ १४॥

अब आयु कर्मके आस्रवके कारण कहते हैं—

नरकायुके आस्रवके कारण

बह्वारंभपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः॥ १५॥

अर्थ—[बह्वारंभपरिग्रहत्वं] बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह होना ये [नारकस्यायुषः] नरकायुके आस्रवके कारण हैं।

१. बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह रखनेका जो भाव है सो नरकायुके आस्रवका कारण है। 'बहु' शब्दसंख्यावाचक तथा परिणामवाचक है; ये दोनो अर्थ यहाँ लागू होते हैं। अधिक संख्यामे आरंभ—परिग्रह रखनेसे नरकायुका आस्रव होता है। आरंभ परिग्रह रखनेके बहु परिणामसे नरकायुका आस्रव होता है, बहु आरंभ-परिग्रहका जो भाव है सो उपादान कारण है और जो बाह्य बहुत आरंभ-परिग्रह है सो निमित्तकारण है।

२. आरम्भ—हिंसादि प्रवृत्तिका नाम आरम्भ है। जितना भी आरम्भ किया जाता है उसमे स्थावरादि जीवोंका नियमसे वध होता है। आरम्भके साथ 'बहु' शब्दका समास करके ज्यादा आरम्भ अथवा बहुत तीव्र परिणामसे जो आरम्भ किया जाता है वह बहु आरम्भ है, ऐसा अर्थ समझना।

३. परिग्रह—'यह वस्तु मेरी है, मैं इसका स्वामी हूँ' ऐसा परमे अपनेपनका अभिमान अथवा पर वस्तुमे 'यह मेरी है' ऐसा जो संकल्प है सो परिग्रह है। केवल बाह्य धन-धान्यादि पदार्थोंके ही 'परिग्रह' नाम लागू होता है, यह बात नही है। बाह्यमे किसी भी पदार्थके न होने पर भी यदि भावमे ममत्व हो तो वहाँ भी परिग्रह कहा जा सकता है।

४ सूत्रमे जो नरकायुके आस्रवके कारण बताये हैं वे संक्षेपसे हैं, उन भावोंका विस्तृत वर्णन निम्नप्रकार है.—

(१) मिथ्यादर्शन सहित हीनाचारमें तत्पर रहना ।

(२) अत्यन्त मान करना ।

(३) शिलाभेदकी तरह अत्यन्त तीव्र क्रोध करना ।

(४) अत्यन्त तीव्र लोभका अनुराग रहना ।

(५) दया रहित परिणामोंका होना ।

(६) दूसरोंको दुःख देनेका विचार रखना ।

(७) जीवोंको मारने तथा बांधनेका भाव करना ।

(८) जीवोंके निरन्तर घात करनेका परिणाम रखना ।

(९) जिसमें दूसरे प्राणीका वध हो ऐसे झूठे वचन बोलनेका स्वभाव रखना ।

(१०) दूसरोंके धन हरण करनेका स्वभाव रखना ।

(११) दूसरोंकी स्त्रियोंके आलिंगन करनेका स्वभाव रखना ।

(१२) मैथुन सेवनसे विरक्ति न होना ।

(१३) अत्यन्त आरम्भमें इन्द्रियोंको लगाये रखना ।

(१४) काम भोगोंकी अभिलाषाको सदैव बढ़ाते रहना ।

(१५) शील सदाचार रहित स्वभाव रखना ।

(१६) अभक्ष्य भक्षणके ग्रहण करने अथवा करानेका भाव रखना ।

(१७) अधिक काल तक बैर बांधे रखना ।

(१८) महा क्रूर स्वभाव रखना ।

(१९) बिना विचारे रोने-कूटनेका स्वभाव रखना ।

(२०) देव-गुरु-शास्त्रोंमें मिथ्या दोष लगाना ।

(२१) कृष्ण लेश्याके परिणाम रखना ।

(२२) रौद्रध्यानमें मरण करना ।

इत्यादि लक्षणवाले परिणाम नरकायुके कारण होते हैं ॥ १५ ॥

अब तिर्यंचायुके आस्रवके कारण बतलाते हैं

माया तैर्यग्योनस्य ॥ १६ ॥

अर्थ—[माया] माया—छलकपट [तैर्यग्योनस्य] तिर्यंचायुके आस्रवका कारण है।

टीका

जो आत्माका कुटिल स्वभाव है सो माया है, इससे तिर्यंच योनि का आस्रव होता है। तिर्यंचायुके आस्रवके कारणका इस सूत्रमें जो वर्णन किया है वह संक्षेपमे है। उन भावोका विस्तृत वर्णन निम्नप्रकार है—

(१) मायासे मिथ्या धर्मका उपदेश देना।
(२) वहुत आरम्भ—परिग्रहमें कपटयुक्त परिणाम करना।
(३) कपट—कुटिल कर्ममे तत्पर होना।
(४) पृथ्वी भेद सदृश क्रोधीपना होना।
(५) शीलरहितपना होना।
(६) शब्दसे—चेष्टासे तीव्र मायाचार करना।
(७) परके परिणाममे भेद उत्पन्न कराना (८) अति अनर्थ प्रगट करना।
(९) गंध-रस-स्पर्शका विपरीतपना होना।
(१०) जाति-कुल शीलमें दूषण लगाना।
(११) विसवादमें प्रीति रखना। (१२) दूसरेके उत्तम गुणको छिपाना।
(१३) अपने में जो गुण नही हैं उन्हे भी वतलाना।
(१४) नील-कपोत लेश्यारूप परिणाम करना।
(१५) आर्तध्यानमें मरण करना।

इत्यादि लक्षणवाले परिणाम तिर्यंचायुके आस्रवके कारण हैं ॥१६॥

अब मनुष्यायुके आस्रवके कारण वतलाते हैं

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥ १७ ॥

अर्थ—[अल्पारम्भपरिग्रहत्वं] थोडा आरम्भ और थोडा परिग्रहपन [मानुषस्य] मनुष्य आयुके आस्रवका कारण है।

टीका

नरकायुके आस्रवका कथन १५ वें सूत्रमें किया जा चुका है, उस

नरकायुके आस्रवसे जो विपरीत है सो मनुष्यायुके आस्रवका कारण है। इस सूत्रमें मनुष्यायुके कारणका संक्षेपमें कथन है उसका विस्तृत वर्णन निम्नप्रकार है—

(१) मिथ्यात्वसहित बुद्धिका होना। (२) स्वभावमें विनय होना।
(३) प्रकृतिमें भद्रता होना।
(४) परिणामोंमें कोमलता होनी और मायाचारका भाव न होना।
(५) श्रेष्ठ आचरणोंमें सुख मानना।
(६) वेलु की रेखाके समान क्रोधका होना।
(७) विशेष गुणी पुरुषोंके साथ प्रिय व्यवहार होना।
(८) थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह रखना।
(९) संतोष रखनेमें रुचि करना। (१०) प्राणियोंके घातसे विरक्त होना।
(११) बुरे कार्योंसे निवृत्त होना।
(१२) मनमें जो बात है उसी के अनुसार सरलतासे बोलना।
(१३) व्यर्थ बकवाद न करना। (१४) परिणामोंमें मधुरताका होना।
(१५) सभी लोगोंके प्रति उपकार बुद्धि रखना।
(१६) परिणामोंमें वैराग्यवृत्ति रखना।
(१७) किसीके प्रति ईर्ष्याभाव न रखना।
(१८) दान देनेका स्वभाव रखना।
(१९) कपोत तथा पीत लेश्या सहित होना।
(२०) धर्मध्यानमें मरण होना।

इत्यादि लक्षणवाले परिणाम मनुष्यायुके आस्रवके कारण हैं।

प्रश्न—जिसकी बुद्धि मिथ्यादर्शनसहित हो उसके मनुष्यायुका आस्रव क्यों कहा ?

उत्तर—मनुष्य तिर्यंचके सम्यक्त्व परिणाम होने पर वे कल्पवासी देवकी आयुका बंध करते हैं वे मनुष्यायुका बंध नहीं करते इतना बतानेके लिये उपरोक्त कथन किया है ॥ १७ ॥

मनुष्यायुके आस्रवका कारण (चालू है)

स्वभावमार्दवं च ॥१८॥

अर्थः—[स्वभावमार्दव] स्वभावसे ही सरल परिणाम होना [च] भी मनुष्यायुके आस्रवका कारण है।

टीका

१—इस सूत्रको सत्रहवें सूत्रसे पृथक् लिखनेका कारण यह है कि इस सूत्रमें बताई हुई बात देवायुके आस्रवका भी कारण होती है।

२—यहाँ 'स्वभाव' का अर्थ 'आत्माका शुद्ध स्वभाव' न समझना क्योंकि निज स्वभाव बन्धका कारण नही होता। यहाँ 'स्वभाव' का अर्थ है 'किसीके विना सिखाये।' मार्दव भी आत्माका एक शुद्ध स्वभाव है, परन्तु यहाँ मार्दवका अर्थ 'शुभभावरूप (मदकपायरूप) सरल परिणाम' करना; क्योंकि जो शुद्धभावरूप मार्दव है वह बन्धका कारण नही है किन्तु शुभभावरूप जो मार्दव है वही बन्धका कारण है ॥१८॥

अब सभी आयुयोंके आस्रवके कारण बतलाते हैं

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥१९॥

अर्थः—[नि.शीलव्रतत्वं च] शील और व्रतका जो अभाव है वह भी [सर्वेषाम्] सभी प्रकारकी आयुके आस्रवका कारण है।

टीका

प्रश्न—जो शील और व्रतरहित होता है उसके देवायुका आस्रव कैसे होता है ?

उत्तर—भोगभूमिके जीवोके शील व्रतादिक नही हैं तो भी देवायुका ही आस्रव होता है।

२—यह बात विशेष ध्यानमे रहे कि मिथ्यादृष्टिके सच्चे शील या व्रत नही होते। मिथ्यादृष्टि जीव चाहे जितने शुभरागरूप शीलव्रत पालता हो तो भी वह सच्चे शीलव्रतसे रहित ही है। सम्यग्दृष्टि होनेके बाद यदि जीव अणुव्रत या महाव्रत धारण करे तो उतने मात्रसे वह जीव आयुके

बन्धसे रहित नहीं हो जाता; सम्यग्दृष्टिके अणुव्रत और महाव्रत भी देवायुके आस्रवके कारण हैं क्योंकि वह भी राग है। मात्र वीतरागभाव ही बन्धका कारण नहीं होता, किसी भी प्रकारका राग हो वह आस्रव होनेसे बन्धका ही कारण है ॥१९॥

अब देवायुके आस्रवके कारण बतलाते हैं

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि देवस्य ॥ २० ॥

अर्थ—[सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि] सराग संयम संयमासंयम अकामनिर्जरा और बालतप [देवस्य] ये देवायुके आस्रवके कारण हैं।

टीका

१—इस सूत्रमें बताये गये भावोंका अर्थ पहले १२ वें सूत्रकी टीकामें आ चुका है। परिणाम बिगड़े बिना मंदकषाय रखकर दुःख सहन करना सो अकाम निर्जरा है।

२—मिथ्यादृष्टिके सरागसंयम और संयमासंयम नहीं होते किन्तु 'बालतप' होता है। इसलिये बाह्यव्रत धारण किये होने मात्रसे ऐसा नहीं मान लेना कि उस जीवके सरागसंयम या संयमासंयम है। सम्यग्दर्शन होनेके बाद पाँचवें गुणस्थानमें अणुव्रत अर्थात् संयमासंयम और छट्ठे गुणस्थानमें महाव्रत अर्थात् सरागसंयम होता है। ऐसा भी होता है कि सम्यग्दर्शन होने पर भी अणुव्रत या महाव्रत नहीं होते। ऐसे जीवोंके वीतराग देवके दर्शन–पूजा स्वाध्याय अनुकम्पा इत्यादि शुभभाव होते हैं पहलेसे चौथे गुणस्थान पर्यंत उस तरहका शुभभाव होता है किन्तु वहाँ व्रत नहीं होते। अज्ञानीके माने हुये व्रत और तपको बालव्रत और बालतप कहा है। अकामनिर्जराका अर्थ तो इस सूत्रमें बतलाया है और बालतपका समावेश उसके (१८ वें) सूत्रमें होता है।

३—यहाँ भी यह समझना कि सरागसंयम और संयमासंयममें

जितना वीतरागी भावरूप संयम प्रगट हुआ है वह आस्रवका कारण नहीं है किन्तु उसके साथ जो राग रहता है वह आस्रवका कारण है ॥२०॥

देवायुके आस्रवके कारण

सम्यक्त्वं च ॥ २१ ॥

अर्थः—[सम्यक्त्वं च] सम्यग्दर्शन भी देवायुके आस्रवका कारण है अर्थात् सम्यग्दर्शनके साथ रहा हुआ जो राग है वह भी देवायुके आस्रवका कारण है।

टीका

१—यद्यपि सम्यग्दर्शन शुद्धभाव होनेसे किसी भी कर्मके आस्रवका कारण नहीं है तथापि उस भूमिकामें जो रागांश मनुष्य और तिर्यंचके होता है वह देवायुके आस्रवका कारण होता है। सराग संयम और संयमासंयम के सम्बन्धमे भी यही बात है यह ऊपर कहा गया है।

२—देवायुके आस्रवके कारण सम्बन्धी २० वाँ सूत्र कहनेके बाद यह सूत्र पृथक् लिखनेका यह प्रयोजन है कि सम्यग्दृष्टि मनुष्य तथा तिर्यंच को जो राग होता है वह वैमानिक देवायुके ही आस्रवका कारण होता है, वह राग हलके देवोंकी (भवनवासी व्यंतर और ज्योतिषी देवोंकी) आयुका कारण नहीं होता।

३—सम्यग्दृष्टिके जितने अंशमे राग नहीं है उतने अंशमें आस्रव बन्ध नहीं है और जितने अंशमें राग है उतने अंशमें आस्रव बन्ध है। (देखो श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय–गाथा २१२ से २१४) सम्यग्दर्शन स्वयं अबन्ध है अर्थात् वह स्वयं किसी तरहके बन्धका कारण नहीं है। और ऐसा होता ही नहीं कि मिथ्यादृष्टिको किसी भी अंशमे राग का अभाव हो इसीलिये वह सम्पूर्णरूपसे हमेशा बन्धभावमें ही होता है।

यहाँ आयुकर्मका आस्रव सम्बन्धी वर्णन पूर्ण हुआ ॥२१॥

अब नामकर्मके आस्रवके कारण बताते हैं:—

अशुभ नामकर्मके आस्रवके कारण

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥ २२ ॥

अर्थ—[योगवक्रता] योगमें कुटिलता [विसंवादनं च] और विसंवादन अर्थात् अन्यथा प्रवर्तन [अशुभस्यनाम्नः] अशुभ नामकर्मके आस्रवका कारण है।

टीका

१—आत्माके परिस्पंदनका नाम योग है (देखो इस अध्यायके पहले सूत्रकी टीका) मात्र अकेला योग सातावेदनीयके आस्रवका कारण है। योगमें वक्रता नहीं होती किन्तु उपयोगमें वक्रता (—कुटिलता) होती है। जिस योगके साथ उपयोगकी वक्रता रही हो वह अशुभ नामकर्मके आस्रवका कारण है। आस्रवके प्रकरणमें योगकी मुख्यता है और बंधके प्रकरणमें बन्ध परिणामकी मुख्यता है इसीलिये इस अध्यायमें और इस सूत्रमें योग शब्दका प्रयोग किया है। परिणामोंकी वक्रता जड़—मन, वचन या कायमें नहीं होती तथा योगमें भी नहीं होती किन्तु उपयोगमें होती है। यहाँ आस्रवका प्रकरण होने और आस्रवका कारण योग होनेसे उपयोगकी वक्रताको उपचारसे योग कहा है। योगके विसंवादनके सम्बन्धमें भी इसी तरह समझना।

२ प्रश्न—विसंवादनका अर्थ अन्यथा प्रवर्तन होता है और उसका समावेश वक्रतामें हो जाता है तथापि 'विसंवादन' शब्द अलग किसलिये कहा ?

उत्तर—जीवकी स्वकी अपेक्षासे योग वक्रता कही जाती है और परकी अपेक्षासे विसंवादन कहा जाता है। मोक्षमार्गमें प्रतिकूल ऐसी मन वचन काय द्वारा जो खोटी प्रयोजना करना सो योग वक्रता है और दूसरेको वैसा करनेके लिये कहना सो विसंवादन है। कोई जीव शुभ करता हो उसे अशुभ करनेको कहना सो भी विसंवादन है कोई जीव शुभराग करता हो और उसमें धर्म मानता हो उसे ऐसा कहना कि शुभरागसे धर्म नहीं होता किन्तु बन्ध होता है और यथार्थ समझ तथा वीतराग भावसे धर्म होता है ऐसा उपदेश देना सो विसंवादन नहीं है क्योंकि उसमें तो सम्यक् न्यायका प्रतिपादन है इसीलिये उस कारणसे बन्ध नहीं होता।

३—इस सूत्रके 'च' शब्दसे मिथ्यादर्शनका सेवन किसीको बुरा वचन बोलना, चित्त की अस्थिरता, कपटरूप माप–तोल, परकी निन्दा, अपनी प्रशंसा इत्यादिका समावेश हो जाता है ॥ २२ ॥

शुभ नाम कर्मके आस्रवका कारण

तद्विपरीतं शुभस्य ॥ २३ ॥

अर्थः—[तद्विपरीतं] उससे अर्थात् अशुभ नाम कर्मके आस्रवके जो कारण कहे उनसे विपरीतभाव [शुभस्य] शुभ नाम कर्मके आस्रवके कारण है।

टीका

१—बाईसवें सूत्रमें योगकी वक्रता और विसंवादको अशुभ कर्मके आस्रवके कारण कहे उससे विपरीत अर्थात् सरलता होना और अन्यथा प्रवृत्तिका अभाव होना सो शुभ नाम कर्मके आस्रवके कारण हैं।

२—यहाँ 'सरलता' शब्दका अर्थ 'अपनी शुद्धस्वभावरूप सरलता' न समझना किन्तु 'शुभभावरूप सरलता' समझना। और जो अन्यथा प्रवृत्तिका अभाव है सो भी शुभभावरूप समझना। शुद्ध भाव तो आस्रव–बंधका कारण नहीं होता ॥ २३ ॥

अब तीर्थंकर नाम कर्मके आस्रवके कारण बतलाते हैं

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नताशीलव्रतेष्वनतीचारोऽ–भीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौशक्तितस्त्यागतपसीसाधु–समाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्-यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावनाप्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकर-त्वस्य ॥ २४ ॥

अर्थ—[दर्शनविशुद्धिः] १–दर्शनविशुद्धि, [विनयसंपन्नता] २–विनयसंपन्नता, [शीलव्रतेष्वनतिचारः] ३–शील और व्रतोंमें अनतिचार अर्थात् अतिचारका न होना, [अभीक्ष्णज्ञानोपयोग.] ४–निरंतर ज्ञानोपयोग

[संवेग] ५—संवेग अर्थात् संसारसे भयभीत होना [शक्तितस्त्यागतपसी] ६-७-शक्तिके अनुसार त्याग तथा तप करना [साधु समाधिः] ८—साधु समाधि [वैयावृत्यकरणम्] ९—वैयावृत्य करना [अर्हदाचार्य बहुश्रुतप्रवचन भक्तिः] १० १३-अर्हत्–आचार्य–बहुश्रुत (उपाध्याय) और प्रवचन (शास्त्र) के प्रति भक्ति करना [आवश्यकापरिहाणि] १४—आवश्यकमें हानि न करना [मार्गप्रभावना] १५—मार्गप्रभावना और [प्रवचनवत्सलत्वम्] १६—प्रवचन–वात्सल्य [इति तीर्थकरत्वस्य] ये सोलह भावना तीर्थंकर–नामकर्मके आस्रवके कारण हैं।

टीका

इन सभी भावनाओंमें दर्शनविशुद्धि मुख्य है इसीलिये वह प्रथम ही बतलाई गई है इसके अभावमें अन्य सभी भावनायें हों तो भी तीर्थंकर नाम कर्मका आस्रव नहीं होता।

सोलह भावनाओं के सम्बन्धमें विशेष वर्णन—

(१) दर्शन विशुद्धि

दर्शनविशुद्धि अर्थात् सम्यग्दर्शन की विशुद्धि। सम्यग्दर्शन स्वयं आत्माकी शुद्ध पर्याय होने से बंधका कारण नहीं है किन्तु सम्यग्दर्शनकी भूमिकामें एक खास प्रकारकी कषायकी विशुद्धि होती है वह तीर्थंकर नाम कर्मके बंधका कारण होती है। दृष्टांत—वचन कमको (अर्थात् वचनरूपी कार्यको) योग कहा जाता है। परंतु 'वचनयोग' का अर्थ ऐसा होता है कि 'वचन द्वारा होनेवाला जो आत्मकम सो योग है क्योंकि जड़ वचन किसी बंधके कारण नहीं हैं। आत्मामें जो आस्रव होता है वह आत्माकी चंचलतासे होता है पुद्गलसे नहीं होता पुद्गल तो निमित्तमात्र है।

सिद्धांत—दर्शनविशुद्धिको तीर्थंकर नामकर्मके आस्रवका कारण कहा है वहां वास्तवमें दर्शनकी शुद्धि स्वयं आस्रवबंधका कारण नहीं है, किंतु राग ही बंधका कारण है। इसीलिये दर्शनविशुद्धिका अर्थ ऐसा समझना योग्य है कि 'दर्शनके साथ रहा हुआ राग। किसी भी प्रकारके बंधका कारण कषाय ही है। सम्यग्दर्शनादि बंधके कारण नहीं हैं। सम्य

ग्दर्शन जो कि आत्माको बंधसे छुडानेवाला है वह स्वय बन्धका कारण कैसे हो सकता है? तीर्थंकर नामकर्म भी आस्रव–बन्ध ही है, इसीलिये सम्यग्दर्शनादि भी वास्तवमे उसका कारण नही है। सम्यग्दृष्टि जीवके जिनोपदिष्ट निर्ग्रंथ मार्गमे जो दर्शन संबन्धी धर्मानुराग होता है वह दर्शन-विशुद्धि है। सम्यग्दर्शनके शकादि दोष दूर हो जानेसे वह विशुद्धि होती है। (देखो तत्त्वार्थसार अध्याय ४ गाथा ४६ से परकी टीका पृष्ठ २२१)

(२) विनयसंपन्नता

१—विनयसे परिपूर्ण रहना सो विनयसपन्नता है। सम्यग्ज्ञानादि गुणोका तथा ज्ञानादि गुण सयुक्त ज्ञानीका आदर उत्पन्न होना सो विनय है, इस विनयमे जो राग है वह आस्रव बन्धका कारण है।

२—विनय दो तरहकी है–एक शुद्धभावरूप विनय है, उसे निश्चय विनय भी कहा जाता है, अपने शुद्धस्वरूपमे स्थिर रहना सो निश्चयविनय है यह विनय बन्धका कारण नही है। दूसरी शुभभावरूप विनय है, उसे व्यवहार विनय भी कहते हैं। अज्ञानीके यथार्थ विनय होता ही नही। सम्यग्दृष्टिके शुभभावरूप विनय होता है और वह तीर्थंकर नामकर्मके आस्रवका कारण है। छट्ठे गुणस्थानके बाद व्यवहार विनय नही होती किन्तु निश्चय विनय होती है।

(३) शील और व्रतोंमें अनतिचार

'शील' शब्दके तीन अर्थ होते हैं (१) सत् स्वभाव (२) स्वदार संतोष और (३) दिग्व्रत आदि सात व्रत, जो अहिंसादि व्रतकी रक्षाके लिये होते हैं। सत् स्वभावका अर्थ क्रोधादि कषायके वश न होना है। यह शुभभाव है, जब अतिमद कषाय होती है तब यह होता है। यहाँ 'शील' का प्रथम और तृतीय अर्थ लेना, दूसरा अर्थ व्रत शब्दमें आजाता है। अहिंसा आदि व्रत हैं। अनतिचारका अर्थ है दोषोसे रहितपन।

(४) अभीक्ष्णज्ञानोपयोग

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगका अर्थ है सदा ज्ञानोपयोगमें रहना। सम्यग्ज्ञानके द्वारा प्रत्येक कार्यमें विचार कर जो उसमें प्रवृत्ति करना सो

ज्ञानोपयोगका अर्थ है। ज्ञानका साक्षात् तथा परंपरा फल विचारना। यथार्थ ज्ञानसे ही अज्ञानकी निवृत्ति और हिताहितकी समझ होती है इसी लिये यह भी ज्ञानोपयोगका अर्थ है। अतः यथार्थ ज्ञानको अपना हितकारी मानना चाहिये। ज्ञानोपयोगमें जो वीतरागता है वह बन्धका कारण नहीं है किन्तु जो शुभभावरूप राग है वह बन्धका कारण है।

(५) संवेग

सदा संसारके दुःखोंसे भीरुताका जो भाव है सो संवेग है उसमें जो वीतरागभाव है वह बंधका कारण नहीं है किन्तु जो शुभराग है वह बंधका कारण है। सम्यग्दृष्टियोंके जो व्यवहार संवेग होता है वह रागभाव है जब निर्विकल्प दशामें नहीं रह सकता तब ऐसा संवेगभाव निरन्तर होता है।

(६-७) शक्त्यनुसार त्याग तथा तप

१—त्याग दो तरह का है—शुद्धभावरूप और शुभभावरूप, उसमें जितनी शुद्धता होती है उतने अंशमें वीतरागता है और वह बंधका कारण नहीं है। सम्यग्दृष्टिके शक्त्यनुसार शुभभावरूप त्याग होता है शक्तिसे कम या ज्यादा नहीं होता शुभरागरूप त्यागभाव बंधका कारण है। 'त्याग' का अर्थ दान देना भी होता है।

२—निज आत्माका शुद्ध स्वरूपमें संयमन करनेसे—और स्वरूप विश्रान्त निस्तरंग चैतन्यप्रतपन सो तप है इच्छाके निरोधको तप कहते हैं अर्थात् ऐसा होने पर शुभाशुभ भावका जो निरोध सो तप है। यह तप सम्यग्दृष्टिके ही होता है उसके निश्चयतप कहा जाता है। सम्यग्दृष्टिके जितने अंशमें वीतराग भाव है उतने अंशमें निश्चयतप है और वह बंधका कारण नहीं है किन्तु जितने अंशमें शुभरागरूप व्यवहार तप है वह बंधका कारण है। मिथ्यादृष्टिके यथार्थ तप नहीं होता उसके शुभरागरूप तपको 'बाल तप' कहा जाता है। 'बाल' का अर्थ है अज्ञान मूढ़। अज्ञानीका तप आदिका शुभभाव तीर्थंकर प्रकृतिके आस्रवका कारण तो भी नहीं होता।

(८) साधु समाधि

सम्यग्दृष्टिके साधुके तपमे तथा आत्मसिद्धिमें विघ्न आता देखकर उसे दूर करनेका भाव और उनके समाधि बनी रहे ऐसा जो भाव है सो साधु समाधि है, यह शुभराग है। यथार्थतया ऐसा राग सम्यग्दृष्टिके ही होता है, किन्तु उनके वह रागकी भावना नही होती।

(९) वैयावृत्त्यकरण

वैयावृत्त्यका अर्थ है सेवा। रोगी, छोटी उमरके या वृद्ध मुनियोकी सेवा करना सो वैयावृत्त्यकरण है। 'साधु समाधि' का अर्थ है कि उसमे साधुका चित्त सतुष्ट रखना और 'वैयावृत्त्यकरण' मे तपस्वियोंके योग्य साधन एकत्रित करना जो सदा उपयोगी हो—इस हेतुसे जो दान दिया जावे सो वैयावृत्य है, किन्तु साधुसमाधि नही। साधुओंके स्थानको साफ रखना, दु खके कारण उत्पन्न हुए देखकर उनके पैर दावना इत्यादि प्रकार से जो सेवा करना सो भी वैयावृत्त्य है, यह शुभराग है।

(१०–१३) अर्हत्-आचार्य-बहुश्रुत और प्रवचन भक्ति

भक्ति दो तरह की है—एक शुद्धभावरूप और दूसरी शुभभावरूप। सम्यग्दर्शन यह परमार्थ भक्ति अर्थात् शुद्धभावरूप भक्ति है। सम्यग्दृष्टिकी निश्चय भक्ति शुद्धात्म तत्त्वकी भावनारूप है; वह शुद्धभावरूप होनेसे बन्ध का कारण नही है। सम्यग्दृष्टिके जो शुभभावरूप जो सराग भक्ति होती है वह पचपरमेष्ठीकी आराधनारूप है (देखो श्री हिन्दी समयसार, आस्रव अधिकार गाथा १७३ से १७६ जयसेनाचार्य कृत सस्कृत टीका, पृष्ठ २५०)

१—अर्हंत और आचार्यका पच परमेष्ठीमे समावेश हो जाता है। सर्वज्ञ केवली जिन भगवान अर्हंत हैं, वे सम्पूर्ण धर्मोपदेशके विधाता हैं, वे साक्षात् ज्ञानी पूर्ण वीतराग हैं। २—साधु सघमें जो मुख्य साधु हो उनको आचार्य कहते हैं, वे सम्यग्दर्शन ज्ञानपूर्वक चारित्रके पालक हैं और दूसरोको उसमे निमित्त होते हैं, और वे विशेष गुणाढ्य होते हैं। ३—बहुश्रुतका अर्थ 'बहुज्ञानी' 'उपाध्याय' या 'सर्व शास्त्र सम्पन्न' होता है। ४—सम्यग्दृष्टिकी जो शास्त्रकी भक्ति है सो प्रवचन भक्ति है। इस भक्तिमें

जितना रागभाव है वह आस्रवका कारण है ऐसा समझना।

(१४) आवश्यक अपरिहाणि

आवश्यक अपरिहाणिका अर्थ है 'आवश्यक क्रियाओंमें हानि न होने देना। जब सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धभावमें नहीं रह सकता तब अशुभभाव दूर करनेसे शुभभाव रह जाता है, इससमय शुभरागरूप आवश्यक क्रियायें उसके होती हैं। उस आवश्यक क्रियाके भावमें हानि न होने देना उसे आवश्यक अपरिहाणि कहा जाता है। वह क्रिया आत्माके शुभभावरूप है किन्तु जड़ शरीरकी अवस्थामें आवश्यक क्रिया नहीं होती और न आत्माके शरीरकी क्रिया हो सकती है।

(१५) मार्गप्रभावना

सम्यग्ज्ञानके माहात्म्यके द्वारा इच्छा निरोधरूप सम्यकतपके द्वारा तथा जिनपूजा इत्यादिके द्वारा धर्मको प्रकाशित करना सो मार्गप्रभावना है। प्रभावनामें सबसे श्रेष्ठ आत्मप्रभावना है जो कि रत्नत्रयके तेजसे देदीप्यमान होनेसे सर्वोत्कृष्ट फल देती है। सम्यग्दृष्टिके जो शुभरागरूप प्रभावना है वह आस्रव बन्धका कारण है परन्तु सम्यग्दर्शनादिरूप जो प्रभावना है वह आस्रव–बन्धका कारण नहीं है।

(१६) प्रवचन वात्सल्य

साधर्मियोंके प्रति प्रीति रखना सो वात्सल्य है। वात्सल्य और भक्तिमें यह अन्तर है कि वात्सल्य तो छोटे बड़े सभी साधर्मियोंके प्रति होता है और भक्ति अपनेसे जो बड़ा हो उसके प्रति होती है। श्रुत और श्रुतके धारण करनेवाले दोनोंके प्रति वात्सल्य रखना सो प्रवचन वात्सल्य है। यह शुभरागरूप भाव है सो आस्रव–बन्धका कारण है।

तीर्थंकरोंके तीन भेद

तीर्थंकर देव तीन तरहके हैं—(१) पंच कल्याणक (२) तीन कल्याणक और (३) दो कल्याणक। जिनके पूर्वभवमें तीर्थंकर प्रकृति बँध गई हो उनके तो नियमसे गर्भ जन्म तप ज्ञान और निर्वाण ये पाँच

कल्याणक होते हैं। जिनके वर्तमान मनुष्य पर्यायके भवमें ही गृहस्थ अवस्थामे तीर्थंकर प्रकृति बँध जाती है उनके तप, ज्ञान और निर्वाण ये तीन कल्याणक होते हैं और जिनके वर्तमान मनुष्य पर्यायके भवमे मुनि दीक्षा लेकर फिर तीर्थंकर प्रकृति बँधती है उनके ज्ञान और निर्वाण ये दो ही कल्याणक होते हैं। दूसरे और तीसरे प्रकारके तीर्थंकर महा विदेह क्षेत्रमे ही होते हैं। महा विदेहमे जो पच कल्याणक तीर्थंकर हैं, उनके अतिरिक्त दो और तीन कल्याणकवाले भी तीर्थंकर होते हैं, तथा वे महाविदेहके जिस क्षेत्रमे दूसरे तीर्थंकर न हो वहाँ ही होते हैं। महाविदेह क्षेत्रके अलावा भरत-ऐरावत क्षेत्रोमे जो तीर्थंकर होते हैं उन सभीको नियमसे पच कल्याणक ही होते हैं।

अरिहन्तोंके सात भेद

ऊपर जो तीर्थंकरोके तीन भेद कहे वे तीनो भेद अरिहन्तोके समझना और उनके अनन्तर दूसरे भेद निम्नप्रकार हैं:—

(४) सातिशय केवली—जिन अरिहन्तोके तीर्थंकर प्रकृतिका उदय नहीं होता परन्तु गधकुटी इत्यादि विशेषता होती है उन्हे सातिशय केवली कहते हैं।

(५) सामान्य केवली—जिन अरिहन्तोंके गधकुटी इत्यादि विशेषता न हो उन्हे सामान्य केवली कहते हैं।

(६) अंतकृत केवली—जो अरिहन्त केवलज्ञान प्रगट होनेपर लघु अतर्मुहूर्तकालमें ही निर्वाणको प्राप्त होते हैं उन्हे अंतकृत केवली कहा जाता है।

(७) उपसर्ग केवली—जिनके उपसर्ग अवस्थामें ही केवलज्ञान हुआ हो उन अरिहन्तोको उपसर्ग केवली कहा जाता है (देखो सत्तास्वरूप गुजराती पृष्ठ ३८-३९) केवलज्ञान होनेके बाद उपसर्ग हो ही नही सकता।

अरिहन्तोंके ये भेद पुण्य और सयोगकी अपेक्षा से समझना, केवलज्ञानादि गुणोमें तो सभी अरिहन्त समान ही हैं।

इस सूत्रका सिद्धान्त

(१) जिस भावसे तीर्थंकर नामकर्म बँधता है उस भावको अथवा उस प्रकृतिको जो जीव धर्म माने या उपादेय माने तो वह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि वह रागको-विकारको धर्म मानता है। जिस शुभभावसे तीर्थंकर नामकर्मका आस्रव-बन्ध हो उस भाव या उस प्रकृतिको सम्यग्दृष्टि उपादेय नहीं मानते। सम्यग्दृष्टिके जिस भावसे तीर्थंकर प्रकृति बँधती है वह पुण्यभाव है, उसे वे आदरणीय नहीं मानते। (देखो परमात्म प्रकाश अध्याय २, गाथा ५४ की टीका पृष्ठ १९५)

(२) जिसे आत्माके स्वरूपकी प्रतीति नहीं उसके शुद्धभावरूप भक्ति अर्थात् भावभक्ति तो होती ही नहीं किन्तु इस सूत्रमें कही हुई सदके प्रति शुभरागवाली व्यवहार भक्ति अर्थात् द्रव्यभक्ति भी वास्तवमें नहीं होती लौकिक भक्ति भले हो (देखो परमात्म प्रकाश अध्याय २, गाथा १४३ की टीका, पृष्ठ २०३ २८८)

(३) सम्यग्दृष्टिके सिवाय अन्य जीवोंके तीर्थंकर प्रकृति होती ही नहीं। इससे सम्यग्दर्शनका परम माहात्म्य जानकर जीवोंको उसे प्राप्त करनेके लिये मंथन करना चाहिये। सम्यग्दर्शनके अतिरिक्त धर्मका प्रारम्भ अन्य किसीसे नहीं अर्थात् सम्यग्दर्शन ही धर्मको शुरूआत-इकाई है और सिद्धदशा उस धर्मकी पूर्णता है ॥२४॥

अब गोत्रकर्मके आस्रवके कारण कहते हैं—

नीच गोत्रके आस्रवके कारण

परात्मनिंदाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥२५॥

अर्थ—[परात्मनिंदाप्रशंसे] दूसरेकी निंदा और अपनी प्रशंसा करना [सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च] तथा प्रगट गुणोंको छिपाना और अप्रगट गुणोंको प्रसिद्ध करना सो [नीचैर्गोत्रस्य] नीचगोत्र-कर्मके आस्रवके कारण हैं।

टीका

एकेन्द्रियसे संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यंत तक सभी तिर्यंच, नारकी तथा लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य इन सबके नीच गोत्र है। देवोके उच्च-गोत्र है गर्भज मनुष्योंके दोनों प्रकारके गोत्रकर्म होते हैं ॥ २५ ॥

उच्च गोत्रकर्मके आस्रवके कारण

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥ २६ ॥

अर्थ—[**तद्विपर्ययः**] उस नीच गोत्रकर्मके आस्रवके कारणोसे विपरीत अर्थात् परप्रशसा, आत्मनिंदा इत्यादि [**च**] तथा **नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ**] नम्र वृत्ति होना तथा मदका अभाव–सो [**उत्तरस्य**] दूसरे गोत्रकर्मके अर्थात् उच्च गोत्रकर्मके आस्रवके कारण हैं।

टीका

यहाँ नम्रवृत्ति होना और मदका अभाव होना सो अशुभभावका अभाव समझना; उसमे जो शुभभाव है सो उच्च गोत्रकर्मके आस्रवका कारण है। 'अनुत्सेक' का अर्थ है अभिमानका न होना ॥ २६ ॥

यहाँ तक सात कर्मों के आस्रवके कारणोका वर्णन किया। अब अंतिम अंतरायकर्मके आस्रवके कारण बताकर यह अध्याय पूर्ण करते हैं।

अंतराय कर्मके आस्रवके कारण

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ २७ ॥

अर्थ—[**विघ्नकरणम्**] दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्यमें विघ्न करना सो [**अंतरायस्य**] अंतराय कर्मके आस्रवके कारण हैं।

टीका

इस अध्यायके १० से २७ तकके सूत्रोमें कर्मके आस्रवका जो कथन किया है वह अनुभाग सबधो नियम बतलाता है। जैसे किसी पुरुषके दान देनेके भावमें किसी ने अतराय किया तो उस समय उसके जिन कर्मों का आस्रव हुआ, यद्यपि वह सातो कर्मोंमें पहुँच गया तथापि उस समय दाना-

तराय कर्ममें अधिक अनुभाग पड़ा और अन्य प्रकृतियोंमें मंदअनुभाग पड़ा। प्रकृति और प्रदेश बन्धमें योग निमित्त है तथा स्थिति और अनुभागबंधमें कषायभाव निमित्त है ॥ २७ ॥

उपसंहार

(१) यह आस्रव अधिकार है जो कषाय सहित योग होता है वह आस्रवका कारण है, उसे सांपरायिक आस्रव कहते हैं। कषाय शब्दमें मिथ्यात्व अविरति और कषाय इन तीनोंका समावेश हो जाता है इसी लिये अध्यात्म शास्त्रोंमें मिथ्यात्व अविरति, कषाय तथा योगको आस्रवका भेद गिना जाता है। यदि उन भेदोंको बाह्यरूपसे स्वीकार करे और अंतरंगमें उन भावोंकी जातिकी यथार्थ पहचान न करे तो वह मिथ्यादृष्टि है और उसके आस्रव होता है।

(२) योगको आस्रवका कारण कहकर योगके उपविभाग करके सकषाय योग और अकषाय योगको आस्रवका कारण कहा है। और २५ प्रकार की विकारी क्रिया और उसका परके साथ निमित्त नैमित्तिक संबंध कैसा है यह भी बताया गया है।

(३) अज्ञानी जीवोंके जो रागद्वेष मोहरूप आस्रवभाव है उसके नाश करनेकी तो उसे चिंता नहीं और बाह्य क्रिया तथा बाह्य निमित्तोंको दूर करनेका यह जीव उपाय करता है परन्तु इनके मिटने से कहीं आस्रव नहीं मिटते। दृष्टांत—द्रव्यलिंगी मुनि अन्य कुदेवादिकी सेवा नहीं करता, हिंसा तथा विषयमें प्रवृत्ति नहीं करता क्रोधादि नहीं करता तथा मन वचन कायको रोकनेका भाव करता है तो भी उसके मिथ्यात्वादि चार आस्रव होते हैं पुनश्च ये कार्य वे कपटसे भी नहीं करते क्योंकि यदि कपट से करे तो वह ग्रैवेयक तक कैसे पहुँचे ? सिद्धांत—इससे यह सिद्ध होता है कि जो बाह्य शरीरादिक की क्रिया है वह आस्रव नहीं है किन्तु अन्तरंग अभिप्रायमें जो मिथ्यात्वादि रागादिकभाव है वही आस्रव है जो जीव उसे नहीं पहचानता उस जीवके आस्रव तत्त्वका यथार्थ श्रद्धान नहीं।

(४) सम्यग्दर्शन हुये बिना आस्रव तत्त्व किंचित् मात्र भी दूर नहीं

होता, इसलिये जीवोंको सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका यथार्थ उपाय प्रथम करना चाहिये। सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञानके विना किसी भी जीवके आस्रव दूर नही होता और न धर्म होता है।

(५) मिथ्यादर्शन संसारका मूल कारण है और आत्माके यथार्थ स्वरूपका जो अवर्णवाद है सो मिथ्यात्वके आस्रवका कारण है इसलिये अपने स्वरूपका तथा आत्माकी शुद्ध पर्यायोका अवर्णवाद न करना अर्थात् जैसा स्वरूप है वैसा यथार्थ समझकर प्रतीति करना (देखो सूत्र १३ तथा उसकी टीका)

(६) इस अध्यायमे बताया है कि सम्यग्दृष्टि जीवोके समिति, अनुकंपा, व्रत, सरागसंयम, भक्ति, तप, त्याग, वैयावृत्य, प्रभावना, आवश्यक क्रिया इत्यादि जो शुभभाव हैं वे सब आस्रव हैं बंधके ही कारण हैं, मिथ्यादृष्टिके तो वास्तवमे ऐसे शुभभाव होते नही, उसके व्रत–तपके शुभभावको 'बालव्रत' और 'बालतप' कहा जाता है।

(७) मृदुता, परकी प्रशंसा, आत्मनिन्दा, नम्रता, अनुत्सेकता ये शुभराग होनेसे बन्धके कारण हैं, तथा राग कषायका अंश है अतः इससे घाति तथा अघाति दोनो प्रकारके कर्म बँधते हैं तथा यह शुभभाव है अतः अघाति कर्मोंमे शुभआयु शुभगोत्र, सातावेदनीय तथा शुभनामकर्म बँधते हैं, और इससे विपरीत अशुभभावोके द्वारा अशुभ अघातिकर्म भी बँधते हैं। इस तरह शुभ और अशुभ दोनो भाव बन्धके ही कारण हैं अर्थात् यह सिद्धान्त निश्चित है कि शुभ या अशुभ भाव करते करते उससे कभी शुद्धता प्रगट ही नही होती। व्यवहार करते करते सच्चा धर्म हो जायेंगे ऐसी धारणा गलत ही है।

(८) सम्यग्दर्शन आत्माका पवित्र भाव है, यह स्वयं बंधका कारण नही, किंतु यहाँ यह बताया है कि जब सम्यग्दर्शनकी भूमिकामें शुभराग हो तब उस रागके निमित्तसे किस तरहके कर्मका आस्रव होता है। वीतरागता प्रगट होने पर मात्र ईर्यापथ आस्रव होता है। यह आस्रव एक ही समयका होता है (अर्थात् इसमे लम्बी स्थिति नही होती तथा अनुभाग भी नही

होता)। इस पर से यह सिद्ध हुआ कि सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके बाद जितने जितने अंशमें वीतरागता होती है उतने २ अंशमें आस्रव और बन्ध नहीं होते तथा जितने अंशमें राग-द्वेष होता है उतने अंशमें आस्रव और बन्ध होता है। अतः ज्ञानीके तो अमुक अंशमें आस्रव—बन्धका निरन्तर अभाव रहता है। मिथ्यादृष्टिके उस शुभाशुभ रागका स्वामित्व है अतः उसके किसी भी अंश में राग-द्वेषका अभाव नहीं होता और इसीलिये उसके आस्रव-बन्ध दूर नहीं होते। सम्यग्दर्शनकी भूमिकामें आगे बढ़ने पर जीवके किस तरहके शुभभाव आते हैं इसका वर्णन अब सातवें अध्यायमें करके आस्रवका वर्णन पूर्ण करेंगे उसके बाद आठवें अध्यायमें बन्ध तत्त्वका और नवमें अध्यायमें संवर तथा निर्जरा तत्त्वका स्वरूप कहा जायगा। धर्मका प्रारम्भ निश्चय सम्यग्दर्शन से ही होता है। सम्यग्दर्शन होने पर संवर होता है संवरपूर्वक निर्जरा होती है और निर्जरा होने पर मोक्ष होता है, इसीलिये मोक्ष तत्त्वका स्वरूप अंतिम अध्यायमें बतलाया गया है।

और इस अध्यायमें यह भी बताया है कि जीवके विकारी भावों का पर द्रव्यके साथ कैसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है।

इस तरह श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्र की

गुजराती टीका के हिन्दी अनुवाद में छठ्ठा

अध्याय समाप्त हुआ

मोक्षशास्त्र अध्याय सातवाँ

भूमिका

आचार्य भगवानने इस शास्त्रका प्रारम्भ करते हुये पहले ही सूत्रमे यह कहा है कि 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है।' उसमे गर्भित-रूपसे यह भी आगया कि इससे विरुद्ध भाव अर्थात् शुभाशुभ भाव मोक्षमार्ग नही है, किन्तु ससारमार्ग है। इसप्रकार इस सूत्रमे जो विषय गर्भित रखा था वह विषय आचार्यदेवने इन छट्ठे-सातवें अध्यायोमे स्पष्ट किया है। छट्ठे अध्यायमें कहा है कि शुभाशुभ दोनो भाव आस्रव है और इस विषयको अधिक स्पष्ट करनेके लिये इस सातवें अध्यायमें मुख्यरूपसे शुभास्रवका अलग वर्णन किया है।

पहले अध्यायके चौथे सूत्रमे जो सात तत्त्व कहे हैं उनमे से जगतके जीव आस्रव तत्त्वकी अजानकारीके कारण ऐसा मानते हैं कि 'पुण्यसे धर्म होता है।' कितने ही लोग शुभयोगको संवर मानते हैं तथा कितने ही ऐसा मानते हैं कि अणुव्रत महाव्रत–मैत्री इत्यादि भावना, तथा करुणाबुद्धि इत्यादिसे धर्म होता है अथवा वह धर्मका (सवरका) कारण होता है किन्तु यह मान्यता अज्ञानसे भरी हुई है। ये अज्ञान दूर करनेके लिये खास रूपसे यह एक अध्याय अलग बनाया है और उसमे इस विषयको स्पष्ट किया है।

धर्मकी अपेक्षासे पुण्य और पापका एकत्व गिना जाता है। श्री समयसारमें यह सिद्धान्त १४५ से लेकर १६३ वी गाथा तकमे समझाया है। उसमे पहले ही १४५ वी गाथामें कहा है कि लोग ऐसा मानते हैं कि अशुभकर्म कुशील है और शुभकर्म सुशील है, परन्तु जो ससारमें प्रवेश कराये वह सुशील कैसे होगा? नही हो सकता। इसके बाद १५४ वीं गाथामे कहा है कि जो जीव परमार्थसे बाह्य हैं वे मोक्षके कारणको नही जानते हुये (–यद्यपि पुण्य ससारका कारण है तथापि) अज्ञानसे पुण्यको

चाहते हैं। इस तरह धर्मकी अपेक्षासे पुण्य पापका एकत्व बतलाया है। पुनश्च—श्री प्रवचनसार गाथा ७७ में भी कहा है कि—पुण्य पापमें विशेष नहीं (अर्थात् समानता है) जो ऐसा नहीं मानता वह मोहसे आच्छन्न है और घोर अपार संसारमें भ्रमण करता है।

उपरोक्त कारणोंसे आचार्यदेवने इस शास्त्रमें पुण्य और पापका एकत्व स्थापन करनेके लिये उन दोनोंको ही आस्रवमें समावेश करके उसे लगातार छठ्ठे और सातवें इन दो अध्यायोंमें कहा है; उसमें छठ्ठा अध्याय पूर्ण होनेके बाद इस सातवें अध्यायमें आस्रव अधिकार चालू रखा है और उसमें शुभास्रवका वर्णन किया है।

इस अध्यायमें बतलाया है कि सम्यग्दृष्टि जीवके होनेवाले व्रत, दया, दान करुणा मैत्री इत्यादि भाव भी शुभ आस्रव हैं और इसीलिये वे बन्धके कारण हैं तो फिर मिथ्यादृष्टि जीवके (जिसके यथार्थ व्रत हो ही नहीं सकते) उसके शुभभाव धर्म संवर निर्जरा या उसका कारण किस तरह हो सकता है? कभी हो ही नहीं सकता।

प्रश्न—शास्त्रमें कई जगह कहा जाता है कि शुभभाव परम्परासे धर्मका कारण है इसका क्या अर्थ है?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि जीव जब अपने चारित्र स्वभावमें स्थिर नहीं रह सकते तब भी रागद्वेष तोड़नेका पुरुषार्थ करते हैं किन्तु पुरुषार्थ कमजोर होनेसे अशुभभाव दूर होता है और शुभभाव रह जाता है। वे उस शुभभावको धर्म या धर्मका कारण नहीं मानते किन्तु उसे आस्रव जानकर दूर करना चाहते हैं। इसीलिये जब वह शुभभाव दूर हो जाय तब जो शुभभाव दूर हुआ उसे शुद्धभाव (-धर्म) का परम्परासे कारण कहा जाता है। साक्षात् रूपसे वह भाव शुभास्रव होनेसे बन्धका कारण है और जो बन्धका कारण होता है वह संवरका कारण कभी नहीं हो सकता।

अज्ञानीके शुभभावको परम्परा अधर्मका कारण कहा है अज्ञानी तो शुभभावको धर्म या धर्मका कारण मानता है और उसे वह भला जानता है उसे छोड़ने योग्य नहीं मानता इसलिये उसका वह शुभभाव अशुभभाव पूर्वक अशुभ करके परिणमेगा। इस

तरह अज्ञानीका शुभभाव तो अशुभभावका (–पापका) परम्परा कारण कहा जाता है अर्थात् वह शुभको दूर कर जब अशुभरूपसे परिणमता है तब पूर्वका जो शुभभाव दूर हुआ उसे अशुभभावका परम्परासे कारण हुआ कहा जाता है।

इतनी भूमिका लक्षमे रखकर इस अध्यायके सूत्रोमे रहे हुये भाव बराबर समझनेसे वस्तु स्वरूपकी भूल दूर हो जाती है।

व्रतका लक्षण

हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥१॥

अर्थ—[हिंसाऽनृतस्तेया ब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिः] हिंसा, झूंठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह अर्थात् पदार्थोंके प्रति ममत्वरूप परिणाम–इन पाँच पापोसे (बुद्धिपूर्वक) निवृत्त होना सो [व्रतम्] व्रत है।

टीका

१. इस अध्यायमें आस्रव तत्त्वका निरूपण किया है, छट्ठे अध्याय के १२ वें सूत्रमें कहा था कि व्रतीके प्रति जो अनुकम्पा है सो सातावेदनीयके आस्रवका कारण है, किन्तु वहाँ मूल सूत्रमे व्रतीकी व्याख्या नही की गई थी, इसीलिये यहाँ इस सूत्रमे व्रतका लक्षण दिया गया है। इस अध्यायके १८ वें सूत्रमे कहा है कि "नि शल्यो व्रती"—मिथ्यादर्शन आदि शल्यरहित ही जीव व्रती होता है, अर्थात् मिथ्यादृष्टिके कभी व्रत होते ही नही, सम्यग्दृष्टि जीवके ही व्रत हो सकते हैं। भगवानने मिथ्यादृष्टिके शुभरागरूप व्रतको बालव्रत कहा है। (देखो श्री समयसार गाथा १५२ तथा उसकी टीका 'बाल' का अर्थ अज्ञान है।

इस अध्यायमें महाव्रत और अणुव्रत भी आस्रवरूप कहे हैं, इसलिये वे उपादेय कैसे हो सकते हैं ? आस्रव तो बन्धका ही साधक है अत. महाव्रत और अणुव्रत भी बन्धके साधक हैं और वीतराग भावरूप जो चारित्र है सो मोक्षका साधक है, इससे महाव्रतादिरूप आस्रव भावोको चारित्रपना सभव नही। "सर्व कषाय रहित जो उदासीन भाव है उसीका नाम चारित्र

है। जो चारित्र मोहके उदयमें युक्त होनेसे महामंद प्रशस्त राग होता है वह चारित्रका मल है उसे छूटता न जानकर उनका त्याग नहीं करता, सावद्य योगका ही त्याग करता है। जैसे कोई पुरुष कंदमूलादि अधिक दोषवाली हरितकायका त्याग करता है तथा दूसरे हरितकायका आहार करता है, किन्तु उसे धर्म नहीं मानता, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि मुनि श्रावक हिंसादि तीव्र कषायरूप भावोंका त्याग करता है तथा कोई मंदकषायरूप महाव्रत-अणुव्रतादि पालता है, परन्तु उसे मोक्षमार्ग नहीं मानता।'

(मो० मा० प्र० पृ० ३३७)

३ प्रश्न—यदि यह बात है तो महाव्रत और देशव्रतको चारित्रके भेदोंमें किसलिये कहा है?

उत्तर—वहाँ उस महाव्रतादिकको व्यवहार चारित्र कहा गया है और व्यवहार नाम उपचारका है। निश्चयसे तो जो निष्कषाय भाव है वही यथार्थ चारित्र है। सम्यग्दृष्टिका भाव मिश्ररूप है अर्थात् कुछ वीतरागरूप हुआ है और कुछ सराग है अतः जहाँ अंशमें वीतराग चारित्र प्रगट हुआ है वहाँ जिस अंशमें सरागता है वह महाव्रतादिरूप होता है ऐसा सम्बन्ध जानकर उस महाव्रतादिकमें चारित्रका उपचार किया है, किन्तु वह स्वयं यथार्थ चारित्र नहीं परन्तु शुभभाव है—आस्रवभाव है अतः बन्धका कारण है इसीलिये शुभभावमें धर्म माननेका अभिप्राय आस्रवतत्त्वको संवरतत्त्व माननेरूप है इसीलिये यह मान्यता मिथ्या है।

(मो० मा० प्र० पृ० ३३४-३३७)

चारित्रका विषय इस शास्त्रके ९ वें अध्यायके १८ वें सूत्रमें लिया है, वहाँ इस सम्बन्धी टीका लिखी है वह यहाँ भी लागू होती है।

४—व्रत दो प्रकारके हैं—निश्चय और व्यवहार। राग द्वेषादि विकल्पसे रहित होना सो निश्चयव्रत है (देखो द्रव्यसंग्रह गाथा ३५ टीका) सम्यग्दृष्टि जीवके स्थिरताकी वृद्धिरूप जो निर्विकल्पदशा है सो निश्चयव्रत है, उसमें जितने अंशमें वीतरागता है उतने अंशमें यथार्थ चारित्र है और सम्यग्दर्शन-लाभ होनेके बाद परद्रव्यके आलम्बन छोड़नेरूप जो शुभभाव है

सो अणुव्रत–महाव्रत है, उसे व्यवहारव्रत कहते हैं। इस सूत्रमें व्यवहार-व्रतका लक्षण दिया है; इसमें अशुभभाव दूर होता है। किंतु शुभभाव रहता है, वह पुण्यास्रवका कारण है।

५—श्री परमात्मप्रकाश अध्याय २, गाथा ५२ की टीकामें व्रत पुण्यबन्धका कारण है और अव्रत पापबन्धका कारण है यह बताकर इस सूत्र का अर्थ निम्नप्रकार किया है—

"इसका अर्थ है कि—प्राणियोको पीडा देना, झूठा वचन बोलना, परधन हरण करना, कुशीलका सेवन और परिग्रह इनसे विरक्त होना सो व्रत है, ये अहिंसादि व्रत प्रसिद्ध हैं, यह व्यवहारनयसे एकदेशव्रत हैं ऐसा कहा है।

जीवघातमें निवृत्ति–जीवदयामे प्रवृत्ति, असत्य वचनमे निवृत्ति और सत्य वचनमे प्रवृत्ति, अदत्तादान (चोरी) से निवृत्ति–अचौर्यमे प्रवृत्ति इत्यादि रूपसे वह एकदेशव्रत है।" (परमात्मप्रकाश पृष्ठ १९१–१९२) यहाँ अणुव्रत और महाव्रत दोनोको एकदेशव्रत कहा है।

उसके बाद वही निश्चयव्रतका स्वरूप निम्नप्रकार कहा है (निश्चयव्रत अर्थात् स्वरूपस्थिरता अथवा सम्यक्चारित्र)—

"और रागद्वेषरूप सकल्प विकल्पोंकी तरगोसे रहित तीन गुप्तियो से गुप्त समाधिमे शुभाशुभके त्यागसे परिपूर्ण व्रत होता है।"

(परमात्मप्रकाश पृष्ठ १९२)

सम्यग्दृष्टिके जो शुभाशुभका त्याग और शुद्धका ग्रहण है सो निश्चय व्रत है और उनके अशुभका त्याग और शुभका जो ग्रहण है सो व्यवहारव्रत है–ऐसा समझना। मिथ्यादृष्टिके निश्चय या व्यवहार दोनोमे से किसी भी तरहके व्रत नही होते। तत्त्वज्ञानके बिना महाव्रतादिकका आचरण मिथ्याचारित्र ही है। सम्यग्दर्शनरूपी भूमिके बिना व्रतरूपी वृक्ष ही नही होता।

१—व्रतादि शुभोपयोग वास्तवमे बधका कारण है पचाध्यायी भा० २ गा० ७५९ से ६२ में कहा है कि—'यद्यपि रूढिसे शुभोपयोग

भी 'चारित्र' इस नामसे प्रसिद्ध है परन्तु अपनी अर्थ क्रियाको करने में असमर्थ है, इसलिये वह निश्चयसे सार्थक नामवाला नहीं है ॥ ७५९ ॥ किंतु वह अशुभोपयोगके समान बंधका कारण है इसलिये वह श्रेष्ठ नहीं है। श्रेष्ठ तो वह है जो न तो उपकार ही करता है और न अपकार ही करता है ॥७६०॥ शुभोपयोग विरुद्ध कार्यकारी है यह बात विचार करनेपर असिद्ध भी नहीं प्रतीत होती, क्योंकि शुभोपयोग एकान्तसे बन्धका कारण होनेसे वह शुद्धोपयोगके अभावमें ही पाया जाता है ॥७६१॥ बुद्धिके दोषसे ऐसी तर्कणा भी नहीं करनी चाहिये कि शुभोपयोग एकदेश निर्जराका कारण है, क्योंकि न तो शुभोपयोग ही बन्धके अभावका कारण है और न अशुभोपयोग ही बन्धके अभावका कारण है ॥ ७६२ ॥

(श्री वर्णी ग्रंथमालासे प्र० पंचाध्यायी पृष्ठ २७२-७३)

२—सम्यग्दृष्टि को शुभोपयोग से भी बन्धकी प्राप्ति होती है ऐसा श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत प्रवचनसार गा० ११ में कहा है उसमें श्री अमृत चन्द्राचार्य उस गाथाकी सूचनिकामें कहते हैं कि अब जिनका चारित्र परिणामके साथ संपर्क है ऐसे जो शुद्ध और शुभ (दो प्रकार) परिणाम हैं, उनके ग्रहण तथा त्यागके लिये (-शुद्ध परिणामके ग्रहण और शुभ परिणाम के त्यागके लिये) उनका फल विचारते हैं:—

धर्मेण परिणतात्मा यदि शुद्ध संप्रयोग युत: ।
प्राप्नोति निर्वाण सुखं शुभोपयुक्तो वा स्वर्ग सुखम् ॥११॥

अन्वयार्थ—धर्म से परिणमित स्वरूपवाला आत्मा यदि शुद्धोप योगमें युक्त हो तो मोक्षसुखको प्राप्त करता है और यदि शुभउपयोगवाला हो तो स्वर्गके सुखको (-बन्धको) प्राप्त करता है।

टीका—जब यह आत्मा धर्म परिणत स्वभाववाला वर्तता हुआ शुद्धोपयोग परिणतिको धारण करता है—बनाये रखता है तब विरोधी शक्तिसे रहित होनेके कारण अपना कार्य करनेके लिये समर्थ है ऐसा चारित्रवान होनेसे साक्षात् मोक्षको प्राप्त करता है और जब वह धर्म परि णत स्वभाववाला होनेपर भी शुभोपयोग परिणतिके साथ युक्त होता है तब जो विरोधी शक्ति सहित होनेसे स्वकार्य करनेमें असमर्थ और कथं

चित विरुद्ध कार्य करनेवाला है ऐसे चारित्रसे युक्त होनेसे, जैसे अग्निसे गर्म किया गया घी किसी मनुष्यपर डाल दिया जाये तो वह उसकी जलनसे दुखी होता है, उसीप्रकार वह स्वर्गके सुखके बन्धको प्राप्त होता है, इसलिये शुद्धोपयोग उपादेय है और शुभोपयोग हेय है।

(प्र० सार गाथा ११ की टीका)

मिथ्यादृष्टि को या सम्यग्दृष्टि को भी, राग तो बन्धका ही कारण है; शुद्धस्वरूप परिणमन मात्र से ही मोक्ष है।

३—समयसारके पुण्य-पाप अधिकारके ११० वें कलश मे श्री आचार्य देव कहते हैं कि:—

> यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा
> कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः।
> किंत्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्मबंधाय तन्
> मोक्षायस्थितमेकमेव परम ज्ञान विमुक्त स्वत ॥११०॥

अर्थ—जब तक ज्ञानकी कर्म विरति बराबर परिपूर्णताको प्राप्त नही होती तब तक कर्म और ज्ञानका एकत्वपना शास्त्र मे कहा है, उनके एक साथ रहनेमे कोई भी क्षति अर्थात् विरोध नही है। परन्तु यहाँ इतना विशेष जानना कि आत्मा मे अवशरूपसे जो कर्म प्रगट होते हैं अर्थात् उदय होता है वह **तो बंधका कारण होता है, और मोक्षका कारण तो, जो एक परम ज्ञान ही है वह एक ही होता है** कि जो ज्ञान स्वत. विमुक्त है (अर्थात् त्रिकाल परद्रव्यभावो से भिन्न है।)

भावार्थ:—जब तक यथाख्यात चारित्र नही होता, तब तक सम्यग्दृष्टि को दो धाराएँ रहती हैं—शुभाशुभ कर्मधारा और ज्ञानधारा। वे दोनो साथ रहनेमें कुछ भी विरोध नही है। (जिस प्रकार मिथ्याज्ञान को और सम्यग्ज्ञानको परस्पर विरोध है, उसी प्रकार कर्म सामान्य को और ज्ञानको विरोध नही है।) **उस स्थितिमें कर्म अपना कार्य करता है और ज्ञान अपना कार्य करता है। जितने अंश में शुभाशुभ कर्म-**

धारा है उतने अंशमें कर्म बन्ध होता है; और जितने अंश में ज्ञान धारा है उतने अंश में कर्म का नाश होता जाता है। विषय-कषाय के विकल्प अथवा व्रत-नियम के विकल्प-शुद्ध स्वरूप का विकल्प तक कर्म बन्धका कारण है। शुद्ध परिणतिरूप ज्ञानधारा ही मोक्ष का कारण है।

(—समयसार नई गुजराती आवृत्ति पृष्ठ २६३-६४)

पुनश्च इस कलशके अर्थमें श्री राजमलजी भी साफ स्पष्टीकरण करते हैं कि—

"यहाँ कोई भ्रान्ति करेगा— मिथ्यादृष्टिको यतिपना क्रियारूप है वह तो बन्धका कारण है किन्तु सम्यग्दृष्टिको जो यतिपना शुभ क्रियारूप है वह मोक्षका कारण है क्योंकि अनुभव ज्ञान तथा दया, व्रत तप संयमरूपी क्रिया—यह दोनों मिलकर ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षय करते हैं। —ऐसी प्रतीति कोई अज्ञानी जीव करता है, उसका समाधान इस प्रकार है—

जो कोई भी शुभ-अशुभ क्रिया—बहिर्जल्परूप विकल्प अथवा अन्तर्जल्परूप अथवा द्रव्यके विचाररूप अथवा शुद्धस्वरूपके विचार इत्यादि —है वह सब कर्म बन्धका कारण है ऐसी क्रियाका ऐसा ही स्वभाव है। सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि का ऐसा तो कोई भेद नहीं है (अर्थात् अज्ञानीके उपरोक्त कथनानुसार शुभक्रिया मिथ्यादृष्टिको तो बन्धका कारण हो और वही क्रिया सम्यग्दृष्टिको मोक्षका कारण हो—ऐसा तो उनका भेद नहीं है) ऐसी क्रिया से तो उसे (सम्यक्त्वी को भी) बन्ध है और शुद्धस्वरूप परिणमन मात्रसे मोक्ष है। यद्यपि एक ही काल में सम्यग्दृष्टि जीवको शुद्धज्ञान भी है और क्रियारूप परिणाम भी है किन्तु उनमें जो विक्रियारूप परिणाम है उससे तो मात्र बन्ध होता है; उससे कर्मका क्षय एक अंश भी नहीं होता—ऐसा वस्तुका स्वरूप है—तो फिर इलाज क्या?—उस काल ज्ञानी को शुद्ध स्वरूपका अनुभवज्ञान भी

है, उस ज्ञान द्वारा उस समय कर्मका क्षय होता है, उससे एक अंश मात्र भी बन्धन नही होता;—ऐसा ही वस्तुका स्वरूप है, वह जैसा है वैसा कहते हैं।"

(देखो, समयसार कलश टीका हिन्दी पुस्तक पृष्ठ ११२ सूरतसे प्रकाशित)

उपरोक्तानुसार स्पष्टीकरण करके फिर उस कलशका अर्थ विस्तार पूर्वक लिखा है, उसमे तत्सबधी भी स्पष्टता है उसमे अन्तमे लिखते हैं कि—

"शुभक्रिया कदापि मोक्षका साधन नहीं हो सकती, वह मात्र बन्धन ही करनेवाली है—ऐसी श्रद्धा करनेसे ही मिथ्या बुद्धिका नाश होकर सम्यग्ज्ञानका लाभ होगा। मोक्षका उपाय तो एकमात्र निश्चय रत्नत्रय-मय आत्माकी शुद्ध वीतराग परिणति है।"

४—श्री राजमल्लजी कृत स० सार कलश टीका (सूरतसे प्रकाशित) पृ० ११४ ला० १७ से ऐसा लिखा है कि—"यहाँ पर इस बातको दृढ किया है कि कर्म निर्जराका साधन मात्र शुद्ध ज्ञानभाव है जितने अश कालिमा है उतने अश तो बन्ध ही है, शुभ क्रिया कभी भी मोक्षका साधन नही हो सकती। वह केवल बन्धको ही करनेवाली है, ऐसा श्रद्धान करनेसे ही मिथ्याबुद्धिका नाश होकर सम्यग्ज्ञानका लाभ होता है।

मोक्षका उपाय तो एकमात्र निश्चय रत्नत्रयमयी आत्माकी शुद्ध —वीतराग परिणति है। जैसे पु० सिद्धि उपायमें कहा है "असमग्रभावयतो गा० २११॥ ये नांशेन सुदृष्टि॥ २१२॥ बाद भावार्थमें लिखा है कि—जहाँ शुद्ध भावकी पूर्णता नही हुई वहाँ भी रत्नत्रय है परन्तु जो जहाँ कर्मोंका बन्ध है सो रत्नत्रयसे नही है, किन्तु अशुद्धतासे—रागभावसे है। क्योंकि जितनी वहाँ अपूर्णता है या शुद्धतामे कमी है वह मोक्षका उपाय नही है वह तो कर्म बन्ध ही करनेवाली है। जितने अशमें शुद्धदृष्टि है या सम्यग्दर्शन सहित शुद्ध भावकी परिणति है उतने अश नवीन कर्म बन्ध नही करती किन्तु सवर निर्जरा करती है और उसी समय जितने अश रागभाव है उतने अशसे कर्म बन्ध भी होता है।

५—श्री राजमल्लजीने 'वृत्तं कर्म स्वभावेन ज्ञानस्य भवनं नहि' पुण्य पाप अ० की इस कलशकी टीकामें लिखा है कि जितनी शुभ या अशुभ क्रियारूप आचरण है—चारित्र है उससे स्वभावरूप चारित्र—ज्ञानका (शुद्ध चैतन्य वस्तुका।) शुद्ध परिणमन न होइ इसो निहचो छे (—ऐसा निश्चय है।) भावार्थ—जितनी शुभाशुभ क्रिया—आचरण है अथवा वाह्य वक्तव्य या सूक्ष्म अन्तरंगरूप चिंतवन अभिलाष स्मरण इत्यादि समस्त अशुद्ध परिणमन है वह शुद्ध परिणमन नहीं है इससे वह बन्धका कारण है—मोक्षका कारण नहीं है। जैसे—कम्बलका नाहर—(कपड़े पर चित्रित शिकारी पशु) कहनेका नाहर है वैसे—शुभक्रिया आचरणरूप चारित्र कथनमात्र चारित्र है परन्तु चारित्र नहीं है निःसंदेहपने ऐसा जानो।
(देखो रा० कलश टीका हिन्दी पृ० १०८)

६—राजमल्लजीकृत स० सार कलश टीका पृ० ११३ में सम्यग्दृष्टिके भी शुभभावकी क्रियाको—बन्धक कहा है—'बन्धायसमुल्लसति' कहते जितनी क्रिया है उतनी ज्ञानावरणादि कर्म बन्ध करती है, संवर—निर्जरा अंशमात्र भी नहीं करती, सत् एकं ज्ञानं मोक्षाय स्थितं परन्तु वह एक शुद्ध चैतन्य प्रकाशज्ञानावरणादि कर्मक्षयका निमित्त है। भावार्थ ऐसा है जो एक जीवमें शुद्धत्व अशुद्धत्व एक ही समय (एक ही साथमें) होते हैं परन्तु जितना अंश शुद्धत्व है, उतना अंश कर्म क्षपन है और जितने अंश अशुद्धत्व है उतने अंश कर्मबन्ध होते हैं एक ही समय दोनों कार्य होते हैं, ऐसे ही है उनमें संदेह करना नहीं। (कलश टीका पृष्ठ ११३)

कविवर बनारसीदासजीने कहा है कि ×××पुण्यपापकी दोउ क्रिया मोक्षपंथकी कतरणी बन्धकी करैया दोउ दुहूमें न भली कोउ बाधक विचारमें निषिद्ध कीनी करनी ॥१२॥

जौलों अष्टकर्मको विनाश नाहि सरवथा तौलों अन्तरातमामें धारा दोई बरनी ॥ एक ज्ञानधारा एक शुभाशुभ कर्म धारा दुहूकी प्रकृति न्यारी न्यारी न्यारी धरनी ॥ इतनो विशेष ज्यूं करमधारा बन्धरूप पराधीन

शकति विविध बन्ध करनी ।। ज्ञानधारा मोक्षरूप मोक्षकी करनहार, दोषकी हरनहार भौ समुद्र तरनी ।।१४।।

७—श्री अमृतचन्द्राचार्यकृत पु० सि० उपाय गाथा २१२ से १४ में सम्यग्दृष्टिके संबधमें कहा है कि जिन अशोसे यह आत्मा अपने स्वभावरूप परिणमता है वे अंश सर्वथा बन्धके हेतु नही हैं; किन्तु जिन अंशोसे यह रागादिक विभावरूप परिणमन करता है वे ही अश बन्वके हेतु हैं। श्री रायचन्द्र जैन शास्त्रमालासे प्रकाशित पु० सि० मे गा० १११ का अर्थ भाषा टीकाकारने असगत कर दिया है जो अब निम्न लेखानुसार दिखाते हैं। [-अनगार धर्मामृतमे भी फुटनोटमे गलत अर्थ है]

असमग्र भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्म बन्धोय' ।
स विपक्ष कृतोऽवस्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ।।२११।।

अन्वयार्थ—असम्पूर्ण रत्नत्रयको भावन करनेवाले पुरुषके जो शुभ कर्मका बन्ध है सो बन्ध विपक्षकृत या बन्ध रागकृत होनेसे अवश्य ही मोक्षका उपाय है, बन्धका उपाय नही। अत्र सुसंगत—सच्चा अर्थके लिये देखो श्री टोडरमलजीकृत टीकावाला पु० सि० ग्रन्थ, प्रकाशक जिनवाणी प्रचारक कार्यालय कलकत्ता पृ० ११५ गा० १११।

अन्वयार्थ—असमग्रं रत्नत्रय भावयत य. कर्मबन्ध. अस्ति स. विपक्षकृत रत्नत्रय तु मोक्षोपाय अस्ति, न बन्धनोपाय' ।

अर्थ—एकदेशरूप रत्नत्रयको पानेवाले पुरुषके जो कर्मबन्ध होता है वह रत्नत्रयसे नही होता। किन्तु रत्नत्रयके विपक्षी जो रागद्वेष हैं उनसे होता है, वह रत्नत्रय तो वास्तवमें मोक्षका उपाय है बन्धका उपाय नही होता।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव जो एकदेश रत्नत्रयको धारण करता है, उनमे जो कर्म बन्ध होता है वह रत्नत्रयसे नही होता किन्तु उसकी जो शुभ कषाये हैं उन्ही से होता है। इससे सिद्ध हुआ कि कर्मबन्ध करनेवाली शुभ कषायें हैं किन्तु रत्नत्रय नही है।

अब रत्नत्रय और रागका फल दिखाते हैं वहाँ पर गा० २१२ से २१४ में गुणस्थानानुसार सम्यग्दृष्टिके रागको बन्धका ही कारण कहा है और वीतराग भावरूप सम्यक् रत्नत्रयको मोक्षका ही कारण कहा है फिर गा० २२० में कहा कि—'रत्नत्रयरूप धर्म मोक्षका ही कारण है और दूसरी गतिका कारण नहीं है और फिर जो रत्नत्रयके सद्भावमें जो शुभप्रकृतियोंका आस्रव होता है वह सब शुभ कषाय—शुभोपयोगसे ही होता है अर्थात् वह शुभोपयोगका ही अपराध है किन्तु रत्नत्रयका नहीं है कोई ऐसा मानता है कि सम्यग्दृष्टिके शुभोपयोगमें (-शुभभावमें) आंशिक शुद्धता है किन्तु ऐसा मानना विपरीत है कारण कि निश्चय सम्यक्त्व होनेके बाद चारित्रकी आंशिक शुद्धता सम्यग्दृष्टिके होती है वह तो चारित्रगुणकी शुद्ध परिणति है और जो शुभोपयोग है वह तो अशुद्धता है।

कोई ऐसा मानता है कि सम्यग्दृष्टिका शुभोपयोग मोक्षका सच्चा कारण है अर्थात् उससे संवर निर्जरा है अतः वे बन्धका कारण नहीं हैं तो यह दोनों मान्यता अयथार्थ ही है ऐसा उपरोक्त गाथाधारोंसे सिद्ध होता है।

६ इस सूत्रका सिद्धान्त

जीवोंको सबसे पहले तत्त्वज्ञानका उपाय करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट करना चाहिये उसे प्रगट करनेके बाद निजस्वरूपमें स्थिर रहनेका प्रयत्न करना और जब स्थिर न रह सके तब अशुभभावको दूर कर देशव्रत महाव्रतादि शुभभावमें लगे किन्तु उस शुभको धर्म न माने तथा उसे धर्मका अंश या धर्मका सच्चा साधन न माने। पश्चात् उस शुभभावको भी दूर कर निश्चय चारित्र प्रगट करना अर्थात् निर्विकल्प दशा प्रगट करना चाहिये।

व्रतके भेद

देशसर्वतोऽणुमहती ॥ २ ॥

अर्थ—व्रतके दो भेद हैं-[देशतः अणु] उपरोक्त हिंसादि पापोंका एकदेश त्याग करना सो अणुव्रत और [सर्वतः महती] सर्वदेश त्याग करना सो महाव्रत है।

टीका

१—शुभभावरूप व्यवहारव्रतके ये दो भेद हैं। पाँचवें गुणस्थानमें

देशव्रत होता है और छट्ठे गुणस्थानमें महाव्रत होता है। छट्ठे अध्यायके २० वें सूत्रमे कहा गया है कि यह व्यवहारव्रत आस्रव है। निश्चयव्रतकी अपेक्षा से ये दोनो प्रकारके व्रत एकदेश व्रत हैं (देखो सूत्र १ की टीका, पैरा ५) सातवें गुणस्थानमे निर्विकल्प दशा होने पर यह व्यवहार महाव्रत भी छूट जाता है और आगे की अवस्थामे निर्विकल्प दशा विशेष २ दृढ होती है इसोलिये वहाँ भी ये महाव्रत नहीं होते।

२—सम्यग्दृष्टि देशव्रती श्रावक होता है वह सकल्प पूर्वक त्रस जीव की हिंसा न करे, न करावे तथा यदि दूसरा कोई करे तो उसे भला नही समझता। उसके स्थावर जीवोकी हिंसाका त्याग नही तथापि बिना प्रयोजन स्थावर जीवोकी विराधना नही करता और प्रयोजनवश पृथ्वी, जल इत्यादि जीवोकी विराधना होती है उसे भली-अच्छी नही जानता।

३. प्रश्न—इस शास्त्रके अध्याय ९ के सूत्र १८ में व्रतको संवर कहा है और अध्याय ९ के सूत्र २ मे उसे सवरके कारणमे गर्भित किया है वहाँ दश प्रकारके धर्ममे अथवा सयममें उसका समावेश है अर्थात् उत्तम क्षमामें अहिंसा, उत्तम सत्यमे सत्य वचन, उत्तम शौचमे अचौर्य, उत्तम ब्रह्मचर्यमें ब्रह्मचर्य और उत्तम आकिंचन्यमे परिग्रह त्याग—इस तरह व्रतोका समावेश उसमे हो जाता है, तथापि यहाँ व्रतको आस्रवका कारण क्यो कहा है ?

उत्तर—इसमे दोष नही, नवमां सवर अधिकार है वहाँ निवृत्ति स्वरूप वीतराग भावरूप व्रतको संवर कहा है और यहाँ आस्रव अधिकार है इसमे प्रवृत्ति दिखाई जाती है, क्योकि हिंसा, असत्य, चोरी इत्यादि छोड़ देने पर अहिंसा, सत्य, अचौर्य वस्तुका ग्रहण वगैरह क्रिया होती है इसी-लिये ये व्रत शुभ कर्मोंके आस्रवके कारण हैं। इन व्रतोमे भी अव्रतो की तरह कर्मोंका प्रवाह होता है, इससे कर्मोंकी निवृत्ति नही होती इसीलिये आस्रव अधिकारमें व्रतोका समावेश किया है (देखो सर्वार्थसिद्धि अध्याय ७ सूत्र १ की टीका, पृष्ठ ५-६)

४—मिथ्यात्व सदृश महापापको मुख्यरूपसे छुडाने की प्रवृत्ति न

करना और कुछ बातोंमें हिंसा बताकर उसे छुड़ानेकी मुख्यता करना सो क्रम भंग उपदेश है (देहलीसे प्र० मो० प्रकाशक अ० ५ पृष्ठ २२६)

५—एकदेश वीतराग और श्रावककी व्रतरूप दशाके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, अर्थात् एकदेश वीतरागता होने पर श्रावकके व्रत होते ही हैं इस तरह वीतरागताके और महाव्रतके भी निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है धर्मकी परीक्षा अन्तरंग वीतरागभावसे होती है, शुभभाव और बाह्य संयोगसे नहीं होती। (मो० प्रकाशक)

६ इस सूत्रमें कहे हुये त्यागका स्वरूप

यहाँ छद्मस्थके बुद्धिगोचर स्थूलत्वकी अपेक्षासे लोक प्रवृत्तिकी मुख्यता सहित कथन किया है किन्तु केवल ज्ञानगोचर सूक्ष्मत्वकी दृष्टिसे नहीं कहा क्योंकि इसका आचरण हो नहीं सकता। इसका उदाहरण—

(१) अहिंसा व्रत सम्बन्धी

अणुव्रतीके त्रसहिंसाका त्याग कहा है उसके स्त्रीसेवनादि कार्योंमें तो त्रसहिंसा होती है पुनश्च यह भी जानता है कि जिनवाणीमें यहाँ त्रस जीव कहे हैं परन्तु उसके त्रसजीव मारनेका अभिप्राय नहीं तथा लोकमें जिसका नाम त्रसघात है उसे वह नहीं करता इस अपेक्षासे उसके त्रस-हिंसा का त्याग है।

महाव्रतधारी मुनिके स्थावर हिंसाका भी त्याग कहा। अब मुनि पृथ्वी जलादिकमें गमन करता है वहाँ त्रसका भी सर्वथा अभाव नहीं है क्योंकि त्रस जीवोंकी भी ऐसी सूक्ष्म अवगाहना है कि जो दृष्टिगोचर भी नहीं होती तथा उसकी स्थिति भी पृथ्वी जलादिकमें है। पुनश्च मुनि जिन वाणीसे यह जानते हैं और किसी समय अवधिज्ञानादिके द्वारा भी जानते हैं परन्तु मुनिके प्रमादसे स्थावर त्रसहिंसाका अभिप्राय नहीं होता लोकमें पृथ्वी खोदना अप्रासुक जलसे क्रिया करना इत्यादि प्रवृत्तिका नाम स्थावर हिंसा है और स्थूल त्रस जीवोंको पीड़ा पहुँचानेका नाम त्रसहिंसा है। उसे मुनि नहीं करते इसीलिये उनके हिंसाका सर्वथा त्याग कहा जाता है।

(मो० प्र०)

(२) सत्यादि चार व्रत सम्बन्धी

मुनिके असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रहका त्याग है, परन्तु केवलज्ञानमे जाननेकी अपेक्षासे असत्यवचनयोग बारहवें गुणस्थान पर्यंत कहा है, अदत्त कर्म परमाणु आदि परद्रव्योका ग्रहण तेरहवें गुणस्थान तक है, वेदका उदय नवमे गुणस्थान तक है, अंतरग परिग्रह दसवें गुणस्थान तक है, तथा समवशरणादि बाह्य परिग्रह केवली भगवानके भी होता है, परन्तु वहाँ प्रमादपूर्वक पापरूप अभिप्राय नही है। लोकप्रवृत्तिमे जिन क्रियाओंसे ऐसा नाम प्राप्त करता है कि 'यह झूठ बोलता है, चोरी करता है, कुशील सेवन करता है तथा परिग्रह रखता है' वे क्रियायें उनके नहीं हैं इसीलिये उनके असत्यादिकका त्याग कहा गया है।

(३) मुनिके मूलगुणोमे पाँच इद्रियोंके विषयोका त्याग कहा है किन्तु इद्रियोका जानना तो नही मिटता, तथा यदि विषयोमे राग-द्वेष सर्वथा दूर हुआ हो तो वहाँ यथाख्यातचारित्र हो जाय वह तो यहाँ हुआ नही, परन्तु स्थूलरूपसे विषय इच्छाका अभाव हुआ है तथा बाह्य विषय सामग्री मिलाने की प्रवृत्ति दूर हुई है इसीलिये उनके इन्द्रियके विषयोका त्याग कहा है। (मो० प्र०)

(४) त्रसहिंसाके त्याग सम्बन्धी

यदि किसीने त्रसहिंसाका त्याग किया तो वहाँ उसे चरणानुयोग मे अथवा लोकमे जिसे त्रसहिंसा कहते हैं उसका त्याग किया है। किन्तु केवलज्ञानके द्वारा जो त्रसजीव देखे जाते हैं उसकी हिंसाका त्याग नही बनता। यहाँ जिस त्रसहिंसाका त्याग किया उसमे तो उस हिंसारूप मनका विकल्प न करना सो मनसे त्याग है, वचन न बोलना सो वचनसे त्याग है और शरीरसे न प्रवर्तना सो कायसे त्याग है ॥२॥ (मोक्षमार्ग प्रकाशकसे)

अब व्रतोंमें स्थिरताके कारण बतलाते हैं

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंच ॥ ३ ॥

अर्थ—[तत्स्थैर्यार्थं] उन व्रतोकी स्थिरताके लिये [**भावनाः पंच पंच**] प्रत्येक व्रतकी पाँच पाँच भावनाऐं हैं।

किसी वस्तुका बारबार विचार करना सो भावना है ॥ ३ ॥

अहिंसा व्रतकी पाँच भावनायें

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपान भोजनानि पंच ॥ ४ ॥

अर्थ—[वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि] वचनगुप्ति—वचनको रोकना मनगुप्ति—मनकी प्रवृत्तिको रोकना ईर्यासमिति चार हाथ जमीन देखकर चलना, आदाननिक्षेपणसमिति जीवरहित भूमि देखकर सावधानीसे किसी वस्तुको उठाना धरना और आलोकित पानभोजन—देखकर—शोधकर भोजन पानी ग्रहण करना [पंच] ये पांच अहिंसा व्रतकी भावनायें हैं ।

टीका

१—जीव परद्रव्यका कुछ कर नहीं सकता इसीलिये वचन, मन इत्यादिकी प्रवृत्तिको जीव रोक नहीं सकता किन्तु बोलनेके भावको तथा मनकी तरफ लक्ष करनेके भावको रोक सकता है, उसे वचनगुप्ति तथा मनगुप्ति कहते हैं । ईर्यासमिति आदिमें भी इसी प्रमाणसे अर्थ होता है । जीव शरीरको चला नहीं सकता किन्तु स्वयं एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें जाने का भाव करता है और शरीर अपनी उस समयकी क्रियावती शक्तिकी योग्यताके कारण चलने लायक हो तो स्वयं चलता है । जब जीव चलने का भाव करता है तब प्राय: शरीर उसकी अपनी योग्यतासे स्वयं चलता है—ऐसा निमित्तनैमित्तिकसम्बन्ध होता है इसीलिये व्यवहारनयकी अपेक्षासे 'वचनको रोकना मनको रोकना देखकर चलना विचारकर बोलना' ऐसा कहा जाता है । इस कथनका यथार्थ अर्थ शब्दानुसार नहीं किन्तु भाव अनुसार होता है ।

२ प्रश्न— यहाँ गुप्ति और समितिको पुण्यास्रवमें बताया और अध्याय ९ के सूत्र २ में उसे संवरके कारणमें बताया है—इसतरहसे तो कथनमें परस्पर विरोध होगा ?

उत्तर—यह विरोध नही, क्योकि यहाँ गुप्ति तथा समितिका अर्थ अशुभवचनका निरोध तथा अशुभ विचारका निरोध होता है, तथा नवमे अध्यायके दूसरे सूत्रमे शुभाशुभ दोनो भावोका निरोध अर्थ होता है।
(देखो तत्त्वार्थसार अध्याय ४ गाथा ६३ हिन्दी टीका (पृष्ठ २१९)

३. प्रश्न—यहाँ कायगुप्तिको क्यो नही लिया ?

उत्तर—ईर्यासमिति और आदाननिक्षेपणसमिति इन दोनोमे कायगुप्तिका अन्तर्भाव हो जाता है।

४. आलोकितपान भोजनमे रात्रिभोजन त्यागका समावेश हो जाता है।

सत्यव्रतकी पाँच भावनायें

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पंच ॥ ५ ॥

अर्थ—[क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानानि] क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, भीरुत्वप्रत्याख्यान, हास्यप्रत्याख्यान अर्थात् क्रोधका त्याग करना, लोभका त्याग करना, भयका त्याग करना, हास्यका त्याग करना, [अनुवीचिभाषणं च] और शास्त्रकी आज्ञानुसार निर्दोष वचन बोलना [पंच] ये पाँच सत्यव्रतकी भावनायें हैं।

टीका

१. प्रश्न—सम्यग्दृष्टि निर्भय है इसीलिये निःशंक है और ऐसी अवस्था चौथे गुणस्थानमें होती है तो फिर यहाँ सम्यग्दृष्टि श्रावकको और मुनिको भयका त्याग करनेको क्यो कहा ?

उत्तर—चतुर्थ गुणस्थानमे सम्यग्दृष्टि अभिप्रायकी अपेक्षासे निर्भय है अनतानुबधी कषाय होती है तब जिसप्रकारका भय होता है उसप्रकारका भय उनके नही होता इसलिये उनको निर्भय कहा है किन्तु वहाँ ऐसा कहनेका आशय नही है कि वे चारित्रकी अपेक्षासे सर्वथा निर्भय हुये हैं।

चारित्र अपेक्षा आठवें गुणस्थान पर्यंत भय होता है इसीलिये यहाँ श्रावकको तथा मुनिको भय छोड़नेकी भावना करनेको कहा है।

२ प्रत्याख्यान दो प्रकारका होता है—(१) निश्चयप्रत्याख्यान और (२) व्यवहार प्रत्याख्यान। निश्चयप्रत्याख्यान निर्विकल्पदशारूप है इसमें बुद्धिपूर्वक होनेवाले शुभाशुभ भाव छूटते हैं व्यवहारप्रत्याख्यान शुभभाव रूप है इसमें सम्यग्दृष्टिके अशुभ भाव छूटकर–दूर होकर शुभभाव रह जाते हैं। आत्मस्वरूपके अज्ञानीको—(वर्तमानमें आत्मस्वरूपका निश्चय ज्ञान करनेकी मना करनेवालेको)—अर्थात् आत्मस्वरूपके ज्ञानका उपदेश वर्तमानमें मिलानेके प्रति जिसे अरुचि हो उसे शुभभावरूप व्यवहारप्रत्याख्यान भी नहीं होता मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि पाँच महाव्रत निरतिचार पालते हैं उनके भी इस भावनामें बताये हुये प्रत्याख्यान नहीं होते। क्योंकि ये भावनायें पाँचवें और छट्ठे गुणस्थानमें सम्यग्दृष्टिके ही होती हैं मिथ्यादृष्टिके नहीं होतीं।

३ अनुवीचिभाषण—यह भावना भी सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है, क्योंकि उसे ही शास्त्रके मर्मकी खबर है इसीलिये वह सत् शास्त्रके अनुसार निर्दोष वचन बोलनेका भाव करता है। इस भावनाका रहस्य यह है कि सच्चे सुखकी खोज करनेवालेको जो सत् शास्त्रोंके रहस्यका ज्ञाता हो और अध्यात्म रस द्वारा अपने स्वरूपका अनुभव जिसे भया हो ऐसे आत्मज्ञानीकी संमतिपूर्वक शास्त्रका अभ्यास करके उसका मर्म समझना चाहिये। शास्त्रोंके भिन्न भिन्न स्थानों पर प्रयोजन साधनेके लिये अनेक प्रकारका उपदेश दिया है उसे यदि सम्यग्ज्ञानके द्वारा यथार्थ प्रयोजन पूर्वक पहिचाने तो जीवके हित-अहितका निश्चय हो। इसलिये 'स्यात्' पदकी सापेक्षता सहित जो जीव सम्यग्ज्ञान द्वारा हो प्रीति सहित जिन वचनमें रमता है वह जीव थोड़े ही समयमें स्वानुभूतिसे शुद्धआत्मस्वरूपको प्राप्त करता है। मोक्षमार्गका प्रथम उपाय आगम ज्ञान कहा है, इसलिये सच्चा आगम क्या है इसकी परीक्षा करके आगमज्ञान प्राप्त करना चाहिये। आगमज्ञानके बिना धर्मका यथार्थ साधन नहीं हो सकता। इसलिये प्रत्येक मुमुक्षु जीव

को यथार्थ बुद्धिके द्वारा सत्य आगमका अभ्यास करना और सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये। इसीसे ही जीवका कल्याण होता है ॥५॥

अचौर्यव्रतकी पाँच भावनायें

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्य-शुद्धिसधर्माऽविसंवादाः पंच ॥ ६ ॥

अर्थ—[शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिस-धर्माऽविसंवादाः] शून्यागारवास–पर्वतोकी गुफा, वृक्षकी पोल इत्यादि निर्जन स्थानोमे रहना, विमोचितावास–दूसरोके द्वारा छोडे गये स्थानमे निवास करना, किसी स्थान पर रहते हुये दूसरोको न हटाना तथा यदि कोई अपने स्थानमे आवे तो उसे न रोकना, शास्त्रानुसार भिक्षाकी शुद्धि रखना और साधर्मियोंके साथ यह मेरा है–यह तेरा है ऐसा क्लेश न करना [पंच] ये पाँच अचौर्यव्रतकी भावनायें हैं।

टीका

समान धर्मके धारक जैन साधु–श्रावकोंको परस्परमें विसवाद नही करना चाहिये, क्योकि विसवादसे यह मेरा–यह तेरा ऐसा पक्ष ग्रहण होता है और इसीसे अग्राह्यके ग्रहण करनेकी सभावना हो जाती है ॥६॥

ब्रह्मचर्यव्रतकी पाँच भावनायें

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरण-वृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पंच ॥ ७ ॥

अर्थः—[स्त्रीरागकथाश्रवणत्यागः] स्त्रियोमें राग बढानेवाली कथा सुननेका त्याग, [तन्मनोहरागनिरीक्षणत्यागः] उनके मनोहर अगोको निरख कर देखनेका त्याग [पूर्वरतानुस्मरणत्यागः] अव्रत अवस्थामें भोगे हुए विषयोके स्मरणका त्याग, [वृष्येष्टरसत्यागः] कामवर्धक गरिष्ठ रसो का त्याग और [स्वशरीरसस्कारत्यागः] अपने शरीरके सस्कारोका त्याग [पच] ये पाँच ब्रह्मचर्यव्रतकी भावनाये हैं।

टीका

प्रश्न—परवस्तु आत्माको कुछ लाभ–नुकसान नहीं करा सकती तथा आत्मासे परवस्तुका त्याग हो नहीं सकता तो फिर यहाँ स्त्रीरागकी कथा सुनने आदिका त्याग क्यों कहा है ?

उत्तर—आत्माने परवस्तुओंको कभी ग्रहण नहीं किया और ग्रहण कर भी नहीं सकता इसीलिये इसका त्याग ही किस तरह बन सकता है ? इसलिये वास्तवमें परका त्याग ज्ञानियोंने कहा है ऐसा मान लेना योग्य नहीं है। ब्रह्मचर्य पालन करनेवालोंको स्त्रियों और शरीरके प्रति राग दूर करना चाहिये अतः इस सूत्रमें उनके प्रति रागका त्याग करनेका कहा है। व्यवहारके कथनोंको ही निश्चयके कथनकी तरह नहीं मानना, परन्तु इस कथनका जो परमार्थरूप अर्थ हो वही समझना चाहिये।

यदि जीवके स्त्री आदिके प्रति राग दूर होगया हो तो उस संबंधी रागवाली बात सुननेकी तरफ इसकी रुचिका झुकाव क्यों हो ? इस तरहकी रुचिका विकल्प इस ओरका राग बतलाता है इसलिये इस रागके त्याग करनेकी भावना इस सूत्रमें बतलाई है ॥ ७ ॥

परिग्रहत्यागव्रतकी पाँच भावनायें

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच ॥ ८ ॥

अर्थ—[मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि] स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियोंके इष्ट अनिष्ट विषयोंके प्रति रागद्वेषका त्याग करना [पंच] सो पाँच परिग्रहत्यागव्रतकी भावनायें हैं।

टीका

इन्द्रियाँ दो प्रकारकी हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय· इसकी व्याख्या दूसरे अध्यायके १७-१८ सूत्रकी टीकामें दी है। भावेन्द्रिय यह ज्ञानका विकास है वह जिन पदार्थोंको जानती है वे पदार्थ ज्ञानके विषय होनेसे ज्ञेय हैं किन्तु यदि उनके प्रति राग द्वेष किया जावे तो उसे उपचारसे इंद्रि

योंका विषय कहा जाता है। वास्तवमे वह विषय (ज्ञेय पदार्थ) स्वयं इष्ट या अनिष्ट नही किन्तु जिस समय जीव राग-द्वेष करता है तब उपचारसे उन पदार्थोंको इष्टानिष्ट कहा जाता है। इस सूत्रमे उन पदार्थोंकी ओर राग-द्वेष छोडनेकी भावना करना बताया है।

रागका अर्थ प्रीति, लोलुपता और द्वेषका अर्थ नाराजी, तिरस्कार है ॥ ८ ॥

हिंसा आदिसे विरक्त होने की भावना

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥ ९ ॥

अर्थ—[हिंसादिषु] हिंसा आदि पाच पापोसे [इह अमुत्र] इस लोकमे तथा परलोकमे [अपायावद्यदर्शनम्] नाशकी (दु ख, आपत्ति, भय तथा निंद्यगतिकी) प्राप्ति होती है—ऐसा बारम्बार चिन्तवन करना चाहिये।

टीका

अपाय—अभ्युदय और मोक्षमार्गकी जीवकी क्रियाको नाश करने वाला जो उपाय है सो अपाय है। अवद्य-निंद्य, निंदाके योग्य।

हिंसा आदि पापो की व्याख्या सूत्र १३ से १७ तक मे की जायगी।९।

दुःखमेव वा ॥ १० ॥

अर्थ—[वा] अथवा ये हिंसादिक पाच पाप [दु खमेव] दु खरूप ही हैं—ऐसा विचारना।

टीका

१. यहाँ कारणमें कार्यका उपचार समझना, क्योकि हिंसादि तो दु खके कारण हैं किन्तु उसे ही कार्य अर्थात् दुःखरूप बतलाया है।

२. **प्रश्न**—हम ऐसा देखते हैं कि विषय रमणतासे तथा भोग-विलाससे रति सुख उत्पन्न होता है तथापि उसे दु खरूप क्यों कहा ?

उत्तर—इन विषयादिमें सुख नही, अज्ञानी लोग भ्रातिसे उसे

सुखरूप मानते हैं, ऐसा मानना कि परसे सुख होता है सो बड़ी भूल है भ्रांति है। जैसे, चर्म-माँस-रुधिरमें जब विकार होता है तब मल (नाखून) पत्थर आदिसे शरीरको खुजाता है; वहाँ यद्यपि खुजलानेसे अधिक दुःख होता है तथापि भ्रांतिसे सुख मानता है उसीप्रकार अज्ञानी जीव परसे सुख दुःख मानता है यह बड़ी भ्रांति-भूल है।

जीव स्वयं इंद्रियोंके वश हो यही स्वाभाविक दुःख है यदि उन्हें दुःख न हो तो जीव इंद्रियविषयोंमें प्रवृत्ति क्यों करता है ? निराकुलता ही सच्चा सुख है, बिना सम्यग्दर्शन-ज्ञानके वह सुख नहीं हो सकता अपने स्वरूपकी भ्रांतिरूप मिथ्यात्व और उसपूर्वक होनेवाला मिथ्याचारित्र ही सर्व दुःखोंका कारण है। दुःख कम हो अज्ञानी उसे सुख मानता है किन्तु वह सुख नहीं है। सुख दुःखका वेदनका पता न होना ही सुख है अथवा जो अनाकुलता है सो सुख है—अन्य नहीं और यह सुख सम्यग्ज्ञान का अविनाभावी है।

३ प्रश्न—धन संचयसे तो सुख दिखाई देता है तथापि यहाँ भी दुःख क्यों कहते हो ?

उत्तर—धनसंचय आदिसे सुख नहीं। एक पक्षीके पास माँसका टुकड़ा पड़ा हो तब दूसरे पक्षी उसे चूंटते हैं और उस पक्षीको भी चोंचें मारते हैं उस समय उस पक्षीकी जैसी हालत होती है वैसी हालत धन धान्य आदि परिग्रहधारी मनुष्योंकी होती है। लोग संपत्तिशाली पुरुषको उसी तरह चूंटते हैं। धनकी संभाल करनेमें आकुलतासे दुःखी होना पड़ता है अर्थात् यह मान्यता भ्रमरूप है कि धनसंचयसे सुख होता है। ऐसा मानना कि 'पर वस्तुसे सुख दुःख या लाभ-हानि होती है यही बड़ी भूल है। परवस्तुमें इस जीवके सुख दुःखका संग्रह किया हुआ नहीं है कि जिससे वह परवस्तु जीवको सुख दुःख दे।

४ प्रश्न—हिंसादि पाँच पापोंसे विरक्त होनेकी भावना करनेको कहा परंतु मिथ्यात्व तो महापाप है तथापि छोड़नेके लिये क्यों नहीं कहा ?

उत्तर—यह अध्याय इसका प्ररूपण करता है कि सम्यग्दृष्टि जीव

के कैसा शुभास्रव होता है। सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्वरूप महापाप तो होता ही नही इसीलिये इस सबधी वर्णन इस अध्यायमे नही, इस अध्यायमे सम्यग्दर्शनके बाद होनेवाले व्रत सबधी वर्णन हैं। जिसने मिथ्यात्व छोडा हो वही असयत सम्यग्दृष्टि देशविरति और सर्वविरति हो सकता है—यह सिद्धात इस अध्यायके १८ वें सूत्रमें कहा है।

मिथ्यादर्शन महापाप है उसे छोडनेको पहले छट्ठे अध्यायके १३ वें सूत्रमे कहा है तथा अब फिर आठवें अध्यायके पहले सूत्रमे कहेगे ॥१०॥

व्रतधारी सम्यग्दृष्टिकी भावना

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्वगुणाधिक-क्लिश्यमाना विनयेषु ॥ ११ ॥

अर्थ—[**सत्त्वेषु मैत्री**] प्राणीमात्रके प्रति निर्वैर बुद्धि [**गुणाधिकेषु प्रमोद**] अधिक गुणवालोके प्रति प्रमोद (हर्ष) [**क्लिश्यमानेषु—कारुण्यं**] दु खी रोगी जीवोके प्रति करुणा और [**अविनयेषु माध्यस्थं**] हठाग्रही मिथ्यादृष्टि जीवोके प्रति माध्यस्थ भावना—ये चार भावना अहिंसादि पाँच व्रतोकी स्थिरताके लिये बारबार चिंतवन करना योग्य है।

टीका

सम्यग्दृष्टि जीवोके यह चार भावनायें शुभभावरूपसे होती हैं। ये भावना मिथ्यादृष्टिके नही होती क्योकि उसे वस्तुस्वरूपका विवेक नही।

मैत्री—जो दूसरेको दु ख न देनेकी भावना है सो मैत्री है।

प्रमोद्—अधिक गुणोके धारक जीवोके प्रति प्रसन्नता आदिसे अतरग भक्ति प्रगट होना सो प्रमोद है।

कारुण्य—दु खी जीवोको देखकर उनके प्रति करुणाभाव होना सो कारुण्य है।

माध्यस्थ—जो जीव तत्त्वार्थ श्रद्धासे रहित और तत्त्वका उपदेश देनेसे उलटा चिढ़ता है, उसके प्रति उपेक्षा रखना सो माध्यस्थपन है।

२ इस सूत्रके अर्थकी पूर्णता करनेके लिये निम्न तीन वाक्योंमेंसे कोई एक वाक्य लगाना—

(१) तत्स्थैर्यार्थं भावयितव्यामि' इन अहिंसादिक पाँच व्रतों की स्थिरताके लिये भावना करनी योग्य है।

(२) भावयतः पूर्णान्यहिंसादीनि व्रतानि भवन्ति' इस भावनाके भानेसे अहिंसादिक पाँच व्रतोंकी पूर्णता होती है।

(३) तत्स्थैर्यार्थम् भावयेत्' इन पाँच व्रतोंकी दृढ़ता के लिये भावना करे।

[देखो सर्वार्थसिद्धि अध्याय ७ पृष्ठ २६]

३ ज्ञानी पुरुषोंको अज्ञानी जीवोंके प्रति द्वेष नहीं होता किन्तु करुणा होती है इस बारेमें श्री आत्मसिद्धि शास्त्रकी तीसरी गाथा में कहा है कि—

कोई क्रिया जड़ हो रहा शुष्क ज्ञानमें कोई।
माने मारग मोक्षका करुणा उपजे जोई॥ ३॥

अर्थ—कोई क्रियामें ही जड़ हो रहा है कोई ज्ञानमें शुष्क होरहा है और वे इनमें मोक्षमार्ग मान रहे हैं उन्हें देखकर करुणा पैदा होती है।

गुणाधिक—जो सम्यग्ज्ञानादि गुणोंमें प्रधान—मान्य—बड़ा हो वह गुणाधिक है।

क्लिश्यमान—जो महामोहरूप मिथ्यात्वसे ग्रस्त है कुमति कुश्रुतादिसे परिपूर्ण है जो विषय सेवन करनेकी तीव्र तृष्णारूप अग्निसे अत्यन्त दग्ध हो रहे हैं और वास्तविक हितकी प्राप्ति और अहित का परिहार करनेमें जो विपरीत हैं—इस कारणसे वे दुःखसे पीड़ित हैं वे जाव क्लिश्यमान हैं।

अविनयी—जो जीव मिट्टीके पिंड लकड़ी या दीवालकी तरह जड़ अज्ञानी हैं वे वस्तुस्वरूपको ग्रहण करना (समझना और धारण करना) नहीं चाहते, तर्क शक्तिसे ज्ञान नहीं करना चाहते तथा हठरूपसे विपरीत

श्रद्धावाले हैं और जिनने द्वेषादिकके वश हो वस्तु स्वरूपको अन्यथा ग्रहण कर रखा है, ऐसे जीव अविनयी हैं, ऐसे जीवोको अपदृष्टि—मूढदृष्टि भी कहते हैं ॥ ११ ॥

व्रतोंकी रक्षाके लिये सम्यग्दृष्टिकी विशेष भावना

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥ १२ ॥

अर्थ—[संवेगवैराग्यार्थम्] संवेग अर्थात् संसारका भय और वैराग्य अर्थात् रागद्वेषका अभाव करनेके लिये क्रमसे संसार और शरीरके स्वभावका चितवन करना चाहिये।

टीका

१. जगत्का स्वभाव

छह द्रव्योके समूहका नाम जगत् है। प्रत्येक द्रव्य अनादि अनन्त हैं। इनमें जीवके अतिरिक्त पाँच द्रव्य जड़ हैं और जीवद्रव्य चेतन है। जीवोंकी संख्या अनन्त है, पाँच अचेतन द्रव्योके सुख दुःख नही, जीव द्रव्यके सुख दुःख है। अनन्त जीवोमे कुछ सुखी हैं और बहुभागके जीव दुःखी हैं। जो जीव सुखी हैं वे सम्यग्ज्ञानी ही हैं, बिना सम्यग्ज्ञानके कोई जीव सुखी नही हो सकता, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानका कारण है, इस तरह सुखका प्रारम्भ सम्यग्दर्शनसे ही होता है और सुखकी पूर्णता सिद्धदशामे होती है। स्वस्वरूपको नही समझनेवाले मिथ्यादृष्टि जीव दुःखी हैं। इन जीवोंके अनादिसे दो बडी भूलें लगी हुई हैं, वे भूलें निम्नप्रकार हैं—

(१) ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टिकी है कि शरीरादि परद्रव्यका मैं कर सकता हूँ और परद्रव्य मेरा कर सकते हैं, इसप्रकार परवस्तुसे मुझे लाभ—हानि होती है और जीवको पुण्यसे लाभ होता है। यह मिथ्या मान्यता है। शरीरादिकके प्रत्येक परमाणु स्वतंत्र द्रव्य हैं, जगत्का प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। परमाणु द्रव्य स्वतंत्र है तथापि जीव उसे हला चला सकता है, इसकी व्यवस्था सँभाल सकता है, ऐसी मान्यता द्रव्योंकी स्वतंत्रता छीन लेनेके बराबर है और इसमें प्रत्येक रजकण पर जीवके स्वामित्व होनेकी

मान्यता आती है; यह अज्ञानरूप मान्यता अनन्त संसारका कारण है। प्रत्येक जीव भी स्वतंत्र है, यदि यह जीव पर जीवोंका कुछ कर सकता और यदि पर जीव इसका कुछ कर सकते तो एक जीव पर दूसरे जीवका स्वामित्व हो जायगा और स्वतंत्र वस्तुका नाश हो जायगा। पुण्य भाव विकार है, स्वद्रव्यका आश्रय भूलकर अनन्त परद्रव्योंके आश्रयसे यह भाव होता है इससे जीवको लाभ होता है यदि ऐसा मानें तो यह सिद्धान्त निश्चित होता है कि पर द्रव्यका आलम्बनसे (-पराश्रय-पराधीनतासे) लाभ है—सुख है किन्तु यह मान्यता अपसिद्धान्त है—मिथ्या है।

(२) मिथ्यादृष्टि जीवकी अनादिकालसे दूसरी भूल यह है कि जीव विकारी अवस्था जितना ही है अथवा जन्मसे मरण पर्यन्त ही है ऐसा मानकर कोई समयमें भी ध्रुवरूप त्रिकाल शुद्ध चतन्य चमत्कार स्वरूपको नहीं पहचानता और न उसका आश्रय करता है।

इन दो भूलों रूप ही संसार है, यही दुःख है, इसे दूर किये बिना कोई जीव सम्यग्ज्ञानी-धर्मी-सुखी नहीं हो सकता। जहाँ तक यह मान्यता हो वहाँ तक जीव दुःखी ही है।

श्री समयसार शास्त्र गाथा ३०८ से ३११ मेंसे इस सम्बन्धी कुछ प्रमाण दिये जाते हैं—

"समस्त द्रव्योंके परिणाम जुदे जुदे हैं सभी द्रव्य अपने अपने परिणामोंके कर्ता हैं वे इन परिणामोंके कर्ता हैं वे परिणाम उनके कर्म हैं। निश्चयसे वास्तवमें किसीका किसीके साथ कर्ताकर्म सम्बन्ध नहीं है, इसलिए जीव अपने परिणामोंका कर्ता है अपने परिणाम कर्म हैं। इसीतरह अजीव अपने परिणामका ही कर्ता है अपना परिणाम कर्म है। इसप्रकार जीव दूसरेके परिणामोंका अकर्ता है।

(स० सार कलश १९९) "जो अज्ञान-अन्धकारसे आच्छादित होकर आत्माको (परका) कर्ता मानते हैं वे चाहे मोक्षके इच्छुक हों तो भी सामान्य (लौकिक) जनोंकी तरह उनको भी मोक्ष नहीं होता।

"जो जीव व्यवहारसे मोहित होकर परद्रव्यका कर्तापन मानता है

वह लौकिकजन हो या मुनिजन हो–मिथ्यादृष्टि ही है।' (कलश, २०१)

"क्योकि इस लोकमे एक वस्तुका अन्य वस्तुके साथ सारा सम्बन्ध ही निषेध किया गया है, इसीलिये जहाँ वस्तुभेद है अर्थात् भिन्न वस्तुयें हैं वहाँ कर्ताकर्मकी घटना नही होती—इसप्रकार मुनिजन और लौकिकजनो तत्त्वको (वस्तुके यथार्थ स्वरूपको) अकर्ता देखो (-ऐसा श्रद्धान करना कि कोई किसीका कर्ता नही, परद्रव्य परका अकर्ता ही है)"

ऐसी सत्य–यथार्थ बुद्धिको शिवबुद्धि अथवा कल्याणकारी बुद्धि कहते हैं।

—शरीर, स्त्री, पुत्र, धन इत्यादि पर वस्तुओमे जीवका ससार नही है, किन्तु मैं उन परद्रव्योका कुछ कर सकता हूँ अथवा मुझे उनसे सुख दुःख होता है ऐसी विपरीत मान्यता (मिथ्यात्व) ही ससार है। संसार यानी (स+सृ) अच्छी तरह खिसक जाना। जीव अपने स्वरूपकी यथार्थ मान्यतामेंसे अनादिसे अच्छी तरह खिसक जानेका कार्य (विपरीत मान्यतारूपी कार्य) करता है इसीलिए यह ससार अवस्थाको प्राप्त हुआ है। अतः जीवकी विकारी अवस्था ही ससार है, किन्तु जीवका ससार जीवसे बाहर नही है। प्रत्येक जीव स्वय अपने गुण पर्यायोमें है, जो अपने गुण पर्याय हैं सो जीवका जगत् है। न तो जीवमे जगत्के अन्य द्रव्य हैं और न यह जीव जगत्के अन्य द्रव्योमे है।

सम्यग्दृष्टि जीव जगत्के स्वरूपका इसप्रकार चिंतवन करता है।

२. शरीरका स्वभाव

शरीर अनन्त रजकणोका पिण्ड है। जीवका कार्माण शरीर और तैजस शरीरके साथ अनादिसे सयोग सम्बन्ध है, सूक्ष्म होनेसे यह शरीर इन्द्रियगम्य नही। इसके अलावा जीवके एक स्थूल शरीर होता है, परन्तु जब जीव एक शरीर छोडकर दूसरा शरीर धारण करता है तब बीचमे जितना समय लगता है उतने समय तक (अर्थात् विग्रहगतिमें) जीवके यह स्थूल शरीर नही होता। मनुष्य तथा एकेन्द्रियसे पचेन्द्रिय तकके तिर्यंचोके जो स्थूल शरीर होता है वह औदारिक शरीर है और देव तथा नारकियोंके वैक्रियिक शरीर होता है। इसके सिवाय एक आहारक शरीर होता है,

और यह विशुद्ध संयमके धारक मुनिराजके ही होता है। वास्तवमें ये पाँचों प्रकारके शरीर जड़ हैं—अचेतन हैं अर्थात् यथार्थमें ये शरीर जीवके नहीं। कार्माण शरीर तो इंद्रियसे दिखाई नहीं देता तथापि ऐसा व्यवहार कथन सुनकर कि 'संसारी जीवोंके कार्माण शरीर होता है' इसका यथार्थ आशय समझनेके बदले उसे निश्चय कथन मानकर अज्ञानी ऐसा मान लेते हैं कि वास्तवमें जीवका ही शरीर होता है।

शरीर अनन्त रजकणोंका पिण्ड है और प्रत्येक रजकण स्वतंत्र द्रव्य है, यह हमन असमानजातिरूप अपनी अवस्था अपने कारणसे स्वतंत्ररूपसे धारण करता है। प्रत्येक परमाणुद्रव्य अपनी नवीन पर्याय प्रतिसमय उत्पन्न करता है और पुरानी पर्यायका अभाव करता है। इसतरह पर्यायके उत्पाद व्ययरूप कार्य करते हुए ये प्रत्येक परमाणु ध्रुवरूपसे हमेशा बने रहते हैं। अतएव जगत्के समस्त द्रव्य स्थिर रहकर बदलनेवाले हैं। ऐसा होने पर भी अज्ञानी जीव ऐसा भ्रम सेवन करता है कि जीव शरीरके अनन्त परमाणुद्रव्योंकी पर्याय कर सकता है और जगत्के अज्ञानियोंकी ओरसे जीवको अपनी इस विपरीत मान्यताको बलवानपनेसे—विशेषरूपसे पुष्टि मिला करती है। शरीरके साथ जो एकत्वबुद्धि है सो इस अज्ञानका कारण है अतः इसके फलरूपसे जीवके अपने विकारभावके अनुसार नये २ शरीरका संयोग हुआ करता है। इस भूलको दूर करनेके लिये चेतन और जड़ वस्तुके स्वभावकी स्वतंत्रता समझनेकी आवश्यकता है।

सम्यग्दृष्टि जीव इस वस्तुस्वभावको सम्यग्ज्ञानसे जानता है। यहाँ इस सम्यग्ज्ञान और यथार्थ मान्यताको विशेष स्थिर—निश्चल करनेके लिये इसका बारम्बार विचार—चिंतवन करना कहा है।

२ संवेग

सम्यग्दर्शनादि धर्ममें तथा उसके फलमें उत्साह होना और संसार का भय होना सो संवेग है। परवस्तु संसार नहीं किन्तु अपना विकारीभाव संसार है इस विकारीभावका भय रखना अर्थात् इस विकारीभावके न होनेकी भावना रखना और वीतराग दशाकी भावना बढ़ानी चाहिये।

सम्यग्दृष्टि जीवोके जहाँतक पूर्ण वीतरागता प्रगट न हो वहाँ तक अनित्य राग-द्वेष रहता है, इसीलिये उससे भय रखनेको कहा है। जिस किसी भी तरह विकारभाव नही होने देना और अशुभराग दूर होने पर जो शुभ राग रह जाय उससे भी धर्म न मानना, किन्तु उसके दूर करनेकी भावना करना।

४. वैराग्य

रागद्वेषके अभावको वैराग्य कहते है। यह शब्द 'नास्ति' वाचक है, किन्तु कही भी अस्तिके विना नास्ति नही होती। जब जीवमे रागद्वेषका अभाव होता है तब किसका सद्भाव होता है? जीवमे जितने अंशमे रागद्वेषका अभाव होता है उतने अंशमे वीतरागता–ज्ञान–आनन्द–सुखका सद्भाव होता है। यहाँ सम्यग्दृष्टि जीवोको सवेग और वैराग्यके लिये जगत् और शरीरके स्वभावका वारम्वार चितवन करनेको कहा है।

५. विशेष स्पष्टीकरण

प्रश्न—यदि जीव शरीरका कुछ नही करता और शरीरकी क्रिया उससे स्वय ही होती है तो शरीरमेंसे जोव निकल जानेके वाद शरीर क्यो नही चलता?

उत्तर—परिणाम (पर्यायका परिवर्तन) अपने अपने द्रव्यके आश्रयसे होता है, एक द्रव्यके परिणामको अन्य द्रव्यका आश्रय नही होता। पुनश्च कोई भी कार्य विना कर्ताके नही होता, तथा वस्तुकी एक रूपसे स्थिति नही होती। इस सिद्धान्तके अनुसार जब मृतक शरीरके पुद्गलोकी योग्यता लम्बाई रूपमें स्थिर पडे रहनेकी होती है तब वे वैसी दशामे पडे रहते हैं और जब उस मृतक शरीरके पुद्गलोंके पिंडकी योग्यता घरके वाहर अन्य क्षेत्रांतरकी होती है तब वे अपनी क्रियावती शक्तिके कारणसे क्षेत्रांतर होते हैं और उस समय रागी जीव वगैरह निमित्तरूप उपस्थित होते हैं, परन्तु वे रागी जीव आदि पदार्थ मुरदेकी कोई अवस्था नही करते। मुरदेके पुद्गल स्वतत्र वस्तु हैं, उस प्रत्येक रजकणका परिणमन उसके अपने कारणसे होता है, उन रजकणोंकी जिस समय जैसी हालत होने योग्य हो

वैसी ही हालत उसके स्वाधीनरूपसे होती है। परद्रव्योंकी अवस्थामें जीवका कुछ भी कर्तृत्व नहीं है। इतनी बात जरूर है कि उस समय रागी जीवके अपनेमें जो कषायवाला उपयोग और योग होता है उसका कर्ता स्वयं वह जीव है।

सम्यग्दृष्टि जीव ही जगत् (अर्थात् संसार) और शरीरके स्वभाव का यथार्थ विचार कर सकता है। जिसके जगत् और शरीरके स्वभावकी यथार्थ प्रतीति नहीं ऐसे जीव (मिथ्यादृष्टि जीव) यह शरीर अनित्य है संयोगी है जिसका संयोग होता है उसका वियोग होता है' इसप्रकार शरीराश्रित मान्यतासे ऊपरी वैराग्य (अर्थात् मोहगर्भित या द्वेषगर्भित वैराग्य) प्रगट करते हैं किन्तु यह सच्चा वैराग्य नहीं है। सच्चा ज्ञानपूर्वक वैराग्य ही सच्चा वैराग्य है। आत्माके स्वभावको जाने विना यथार्थ वैराग्य नहीं होता। आत्मज्ञानके विना मात्र जगत और शरीरकी क्षणिकताके आश्रयसे हुआ वैराग्य अनित्य क्षणिक है इस भावमें धर्म नहीं है। सम्यग्दृष्टिके अपने असंयोगी नित्य ज्ञायक स्वभावके आलम्बन पूर्वक अनित्य भावना होती है यही सच्चा वैराग्य है ॥१२॥

हिंसा—पापका लक्षण

प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥१३॥

अर्थ—[प्रमत्तयोगात्] कषाय-राग-द्वेष अर्थात् अयत्नाचार (असावधानीप्रमाद) के सम्बन्धसे अथवा प्रमादी जीवके मन-वचन-काय योगसे [प्राणव्यपरोपणं] जीवके भावप्राणका द्रव्यप्राणका अथवा इन दोनोंका वियोग करना सो [हिंसा] हिंसा है।

टीका

१ जैनशासनका यह एक महासूत्र है इसे ठीक ठीक—समझनेकी जरूरत है।

इस सूत्रमें 'प्रमत्तयोगात्' शब्द भाव वाचक है वह यह बतलाता है कि प्राणोंके वियोग होने मात्रसे हिंसाका पाप नहीं किन्तु प्रमादभाव हिंसा

है और उससे पाप है। शास्त्रोमे कहा है कि—प्राणियोंका प्राणोंके अलग होने मात्रसे हिंसाका बंध नही होता, जैसे कि ईर्यासमितिवाले मुनिके उनके निकलनेके स्थानमे यदि कोई जीव आजाय और पैरके सयोगसे वह जीव मर जाय तो वहाँ उस मुनिके उस जीवकी मृत्युके निमित्तसे जरा भी वन्ध नही होता, क्योकि उनके भावमे प्रमाद योग नही है।

२. आत्माके शुद्धोपयोगरूप परिणामको घातनेवाला भाव ही सपूर्ण हिंसा है; असत्य वचनादि भेद मात्र शिष्योंको समझानेके लिये उदाहरण रूप कहे हैं। वास्तवमे जैन शास्त्रका यह थोड़ेमे रहस्य है कि 'रागादिभावो की उत्पत्ति न होना सो अहिंसा है और रागादि भावोकी उत्पत्ति होना सो हिंसा है'। (पुरुषार्थ सिद्धच्युपाय गाथा ४२–४४)

३. प्रश्न—चाहे जीव मरे या न मरे तो भी प्रमादके योगसे (अयत्नाचारसे) निश्चय हिंसा होती है तो फिर यहाँ सूत्रमे 'प्राणव्यपरोपण' इस शब्दका किसलिये प्रयोग किया है ?

उत्तर—प्रमाद योगसे जीवके अपने भाव प्राणोका घात (मरण) अवश्य होता है। प्रमादमे प्रवर्तनेसे प्रथम तो जीव अपने ही शुद्ध भाव-प्राणोका वियोग करता है, फिर वहाँ अन्य जीवके प्राणोका वियोग (व्यपरोपण) हो या न हो, तथापि अपने भावप्राणोका वियोग तो अवश्य होता है—यह वतानेके लिये 'प्राणव्यपरोपण' शब्दका प्रयोग किया है।

४ जिस पुरुषके क्रोधादि कषाय प्रगट होती है उसके अपने शुद्धोपयोगरूप भावप्राणोका घात होता है। कषायके प्रगट होनेसे जीवके भाव-प्राणोका जो व्यपरोपण होता है सो भाव हिंसा है और इस हिंसाके समय यदि प्रस्तुत जीवके प्राणका वियोग हो तो वह द्रव्य हिंसा है।

५ यह जैन सिद्धान्तका रहस्य है कि आत्मामें रागादि भावोकी उत्पत्ति होनेका नाम ही भावहिंसा है। जहाँ धर्मका लक्षण अहिंसा कहा है वहाँ ऐसा समझना कि 'रागादि भावोका जो अभाव है सो अहिंसा है'। इसलिये विभाव रहित अपना स्वभाव है ऐसे भावपूर्वक जिसतरह जितना बने उतना अपने रागादि भावोका नाश करना सो धर्म है। मिथ्यादृष्टि

वैसी ही हालत उसके स्वाधीनरूपसे होती है। परद्रव्योंकी अवस्थामें जीवका कुछ भी कर्तृत्व नहीं है। इतनी बात जरूर है कि उस समय रागी जीवके अपनेमें जो कषायवाला उपयोग और योग होता है उसका कर्ता स्वयं वह जीव है।

सम्यग्दृष्टि जीव ही जगत् (अर्थात् संसार) और शरीरके स्वभावका यथार्थ विचार कर सकता है। जिसके जगत् और शरीरके स्वभावकी यथार्थ प्रतीति नहीं ऐसे जीव (मिथ्यादृष्टि जीव) 'यह शरीर अनित्य है संयोगी है जिसका संयोग होता है उसका वियोग होता है' इसप्रकार शरीराश्रित मान्यतासे ऊपरी वैराग्य (अर्थात् मोहगर्भित या द्वेषगर्भित वैराग्य) प्रगट करते हैं किन्तु यह सच्चा वैराग्य नहीं है। सच्चा ज्ञानपूर्वक वैराग्य ही सच्चा वैराग्य है। आत्माके स्वभावको जाने बिना यथार्थ वैराग्य नहीं होता। आत्मज्ञानके बिना मात्र जगत और शरीरकी क्षणिकताके आश्रयसे हुआ वैराग्य अनित्य क्षणिक है इस भावमें धर्म नहीं है। सम्यग्दृष्टिके अपने असंयोगी नित्य ज्ञायक स्वभावके आलम्बन पूर्वक अनित्य भावना होती है यही सच्चा वैराग्य है ॥१२॥

हिंसा—पापका लक्षण

प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥१३॥

अर्थ—[प्रमत्तयोगात्] कषाय-राग-द्वेष अर्थात् अयत्नाचार (असावधानीप्रमाद) के सम्बन्धसे अथवा प्रमादी जीवके मन-वचन-काय योगसे [प्राणव्यपरोपणं] जीवके भावप्राणका द्रव्यप्राणका अथवा इन दोनोंका वियोग करना सो [हिंसा] हिंसा है।

टीका

१ जैनशासनका यह एक महासूत्र है इसे ठीक ठीक—समझनेकी जरूरत है।

इस सूत्रमें 'प्रमत्तयोगात्' शब्द भाववाचक है वह यह बतलाता है कि प्राणोंके वियोग होने मात्रसे हिंसाका पाप नहीं किन्तु प्रमादभाव हिंसा

है और उससे पाप है। शास्त्रोमे कहा है कि—प्राणियोका प्राणोंके अलग होने मात्रसे हिंसाका बंध नही होता, जैसे कि ईर्यासमितिवाले मुनिके उनके निकलनेके स्थानमे यदि कोई जीव आजाय और पैरके सयोगसे वह जीव मर जाय तो वहाँ उस मुनिके उस जीवकी मृत्युके निमित्तसे जरा भी बन्ध नही होता, क्योकि उनके भावमे प्रमाद योग नही है।

२ आत्माके शुद्धोपयोगरूप परिणामको घातनेवाला भाव ही सपूर्ण हिंसा है; असत्य वचनादि भेद मात्र शिष्योको समझानेके लिये उदाहरण रूप कहे हैं। वास्तवमे जैन शास्त्रका यह थोडेमें रहस्य है कि 'रागादिभावो की उत्पत्ति न होना सो अहिंसा है और रागादि भावोकी उत्पत्ति होना सो हिंसा है'। (पुरुषार्थ सिद्धच्युपाय गाथा ४२–४४)

३. प्रश्न—चाहे जीव मरे या न मरे तो भी प्रमादके योगसे (अयत्नाचारसे) निश्चय हिंसा होती है तो फिर यहाँ सूत्रमें 'प्राणव्यपरोपण' इस शब्दका किसलिये प्रयोग किया है ?

उत्तर—प्रमाद योगसे जीवके अपने भाव प्राणोका घात (मरण) अवश्य होता है। प्रमादमे प्रवर्तनेसे प्रथम तो जीव अपने ही शुद्ध भाव-प्राणोका वियोग करता है, फिर वहाँ अन्य जीवके प्राणोका वियोग (व्यपरोपण) हो या न हो, तथापि अपने भावप्राणोका वियोग तो अवश्य होता है—यह बतानेके लिये 'प्राणव्यपरोपण' शब्दका प्रयोग किया है।

४. जिस पुरुषके क्रोधादि कषाय प्रगट होती है उसके अपने शुद्धोप-योगरूप भावप्राणोका घात होता है। कषायके प्रगट होनेसे जीवके भाव-प्राणोका जो व्यपरोपण होता है सो भाव हिंसा है और इस हिंसाके समय यदि प्रस्तुत जीवके प्राणका वियोग हो तो वह द्रव्य हिंसा है।

५ यह जैन सिद्धान्तका रहस्य है कि आत्मामे रागादि भावोकी उत्पत्ति होनेका नाम ही भावहिंसा है। जहाँ धर्मका लक्षण अहिंसा कहा है वहाँ ऐसा समझना कि 'रागादि भावोका जो अभाव है सो अहिंसा है'। इसलिये विभाव रहित अपना स्वभाव है ऐसे भावपूर्वक जिसतरह जितना बने उतना अपने रागादि भावोका नाश करना सो धर्म है। मिथ्यादृष्टि

जीवके रागादि भावोंका नाश नहीं होता; उसके प्रत्येक समयमें भाव मरण हुआ ही करता है जो भावमरण है वही हिंसा है इसीलिये उसके कर्मका बंध भी नहीं है।

६ इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति पापमें हो या पुण्यमें हो किन्तु उस प्रवृत्तिके दूर करनेका विचार न करना सो प्रमाद है। (तत्त्वार्थसार पृष्ठ २२१)

७ इस हिंसा पापमें असत्य आदि दूसरे चार पाप गर्भित हो जाते हैं। असत्य इत्यादि भेद तो शिष्यको समझानेके लिये मात्र दृष्टान्तरूपसे पृथक बतलाये हैं।

८ यदि कोई जीव दूसरेको मारना चाहता हो किन्तु ऐसा प्रसंग न मिलनेसे नहीं मार सका तो भी उस जीवके हिंसाका पाप लगा क्योंकि वह जीव प्रमादभावसहित है और प्रमादभाव ही भावप्राणोंकी हिंसा है।

९ जो ऐसा मानता है कि 'मैं पर जीवोंको मारता हूँ और पर जीव मुझे मारते हैं' वह मूढ़ है–अज्ञानी है और इससे विपरीत अर्थात् जो ऐसा नहीं मानता वह ज्ञानी है (देखो समयसार गाथा २४७)

जीवोंको मारो या न मारो—अध्यवसानसे ही कर्मबन्ध होता है। प्रस्तुत जीव मरे या न मरे इस कारणसे बन्ध नहीं है।

(देखो समयसार गाथा २६२)

१ यहाँ योगका अर्थ सम्बन्ध होता है। प्रमत्त योगात्' का अर्थ है प्रमादके सम्बन्धसे। यहाँ ऐसा अर्थ भी हो सकता है कि मन-वचन-कायके आलम्बनसे आत्माके प्रदेशोंका हलन चलन होना सो योग है। प्रमादरूप परिणामके सम्बन्धसे होनेवाला योग प्रमत्त योग' है।

११ प्रमादके १५ भेद हैं–४ विकथा (स्त्रीकथा भोजनकथा राजकथा चोरकथा) ५ इंद्रियोंके विषय ४ कषाय (क्रोध मान माया लोभ) १ निद्रा और १ प्रणय। इंद्रियां वगैरह तो निमित्त हैं और जीवका जो असावधान भाव है वह उपादान कारण है। प्रमादका अर्थ अपने स्वरूपकी असावधानी भी होता है।

१२. तेरहवें सूत्रका सिद्धान्त

जीवका प्रमत्तभाव शुद्धोपयोगका घात करता है इसलिये वही हिंसा है, और स्वरूपके उत्साहसे जितने अंशमें शुद्धोपयोगका घात न हो-जागृति हो उतने अंशमें अहिंसा है मिथ्यादृष्टिके सच्ची अहिंसा कभी नही है ॥१३॥

अनृतका स्वरूप

असदभिधानमनृतम् ॥१४॥

अर्थ—प्रमादके योगसे [असदभिधानं] जीवोको दुःखदायक अथवा मिथ्यारूप वचन बोलना सो [अनृतम्] असत्य है।

टीका

१ प्रमादके सबंधसे झूठ बोलना सो असत्य है। जो शब्द निकलता है वह तो पुद्गल द्रव्यकी अवस्था है उसे जीव नही परिणमाता, इसीसे मात्र शब्दोका उच्चारणका पाप नही किन्तु जीवका असत्य बोलनेका जो प्रमादभाव है वही पाप है।

२. सत्यका परमार्थ स्वरूप

(१) आत्माके अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ आत्माका नही हो सकता और दूसरे किसीका कार्य आत्मा कर सकता नही ऐसा वस्तुस्वरूपका निश्चय करना चाहिये, और देह, स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, धान्य, गृह इत्यादि पर वस्तुओके सबधमें भाषा बोलनेके विकल्पके समय यह उपयोग (-अभिप्राय) रखना चाहिये कि 'मैं आत्मा हूँ, एक आत्माके अलावा अन्य कोई मेरा नही, मेरे आधीन नही और मैं किसीका कुछ भी कर नही सकता' अन्य आत्माके सम्बन्धमे बोलने पर भी यह अभिप्राय, यह उपयोग (-विवेक) जाग्रत रखना चाहिये कि वास्तवमें 'जाति, लिंग, इन्द्रियादिक उपचरित भेदवाला यह आत्मा कभी नही है, परन्तु स्थूल व्यवहारसे ऐसा कहा जाता है।' यदि इस तरहकी पहचानके उपयोग पूर्वक सत्य बोलनेका भाव हो तो वह पारमार्थिक सत्य है। वस्तु स्वरूपकी प्रतीति विना परमार्थ सत्य नही होता। इस सम्बन्धमें और स्पष्ट समझाते हैं:—

(ग) यदि कोई जीव आरोपित बात करे कि 'मेरा देह मेरा घर मेरी स्त्री मेरा पुत्र' इत्यादि प्रकारसे भाषा बोलता है (—बोलनेका भाव करता है) उस समय मैं इन अन्य द्रव्योंसे भिन्न हूँ वास्तवमें वे कोई मेरे नहीं मैं उनका कुछ कर नहीं सकता' मैं भाषा बोल सकता नहीं, ऐसी स्पष्टरूपसे यदि उस जीवके प्रतीति हो तो वह परमार्थ सत्य कहा जाता है।

(घ) कोई ग्रन्थकार राजा श्रेणिक और चेलना रानीका वर्णन करता हो उस समय 'वे दोनों ज्ञानस्वरूप आत्मा थे और मात्र श्रेणिक और चेलनाके मनुष्य भवमें उनका संबंध था' यदि यह बात उनके लक्षमें हो और ग्रंथ रचनेकी प्रवृत्ति हो तो वह परमार्थ सत्य है।

(देखो श्रीमद् राजचन्द्र आवृत्ति २ पृष्ठ ६११)

(२) जीवने लौकिक सत्य बोलनेका अनेकबार भाव किया है, किन्तु परमार्थ सत्यका स्वरूप नहीं समझा इसीलिये जीवका भवभ्रमण नहीं मिटता। सम्यग्दर्शनपूर्वक अभ्याससे परमार्थ सत्यवचनकी पहचान हो सकती है और उसके विशेष अभ्याससे सहज उपयोग रहा करता है। मिथ्यादृष्टिके कथनमें कारण विपरीतता स्वरूप विपरीतता और भेदाभेद विपरीतता होती है इसीलिये लौकिक अपेक्षासे यदि वह कथन सत्य हो तो भी परमार्थसे उसका सब कथन असत्य है।

(३) जो वचन प्राणियोंको पीड़ा देनेके भाव सहित हो वह भी अप्रशस्त है और बादमें चाहे वचनोंके अनुसार वस्तुस्थिति विद्यमान हो तो भी वह असत्य है।

(४) स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे अस्तिस्वरूप वस्तुको अन्यथा कहना सो असत्य है। वस्तुके द्रव्य-क्षेत्र काल भावका स्वरूप निम्नप्रकार है—

द्रव्य—गुणोंके समूह अथवा अपनी अपनी त्रैकालिक सब पर्यायोंका समूह सो द्रव्य है। द्रव्यका लक्षण सत् है वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित है। गुणपर्यायकेसमुदायका नाम द्रव्य है।

क्षेत्र—स्वके जिस प्रदेशमे द्रव्य स्थित हो वह उसका क्षेत्र है।

काल—जिस पर्यायरूपसे द्रव्य परिणमे वह उसका काल है।

भाव—द्रव्यकी जो निजशक्ति-गुण है सो उसका भाव है।

इन चार प्रकारसे द्रव्य जिस तरह है उस तरह न मानकर अन्यथा मानना अर्थात् जीव स्वय शरीर इत्यादि परद्रव्यरूप हो जाता है, अपनी अवस्था कर्म या शरीर इत्यादि परद्रव्य कराता है कर सकता है और अपने गुण दूसरेसे हो सकते हैं, अथवा वे देव-गुरु-शास्त्रके अवलम्बनसे प्रगट हो सकते हैं, इत्यादि प्रकारसे मानना तथा उस मान्यताके अनुसार बोलना सो असत्य वचन है। स्वके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावमे परवस्तुयें नास्तिरूप हैं, यह भूलकर उनका स्वय कुछ कर सकता है ऐसी मान्यता पूर्वक बोलना सो भी असत्य है।

(५) ऐसा कहना कि आत्मा कोई स्वतत्र पदार्थ नही है अथवा परलोक नही है सो असत्य है, ये दोनो पदार्थ आगमसे, युक्तिसे तथा अनुभवसे सिद्ध हो सकते हैं तथापि उनका अस्तित्व न मानना सो असत्य है; और आत्माका स्वरूप जैसा न हो उसे वैसा कहना सो भी असत्य वचन है।

३. प्रश्न—वचन तो पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है, उसे जीव नही कर सकता तथापि असत्य वचनसे जीवको पाप क्यों लगता है?

उत्तर—वास्तवमें पाप या बन्धन असत्य वचनसे नही होता किन्तु 'प्रमत्त योगात्' अर्थात् प्रमादभावसे ही पाप लगता है और बन्धन होता है। असत्यवचन जड है वह तो मात्र निमित्त है। जब जीव असत्य बोलनेका भाव करता है तब यदि पुद्गल परमाणु वचनरूपसे परिणमनेके योग्य हो तो ही असत्य वचनरूपसे परिणमते हैं। जीव तो मात्र असत्य बोलनेका भाव करता है तथापि वहाँ भाषा वर्गणा वचनरूप नही भी परिणमती; ऐसा होनेपर भी जीवका विकारीभाव ही पाप है और वह बंधका कारण है।

आठवें अध्यायके पहले सूत्रमे यह कहेंगे कि प्रमाद बन्धका कारण है।

४—अकषाय स्वरूपमें जाग्रत-सावधान रहनेसे ही प्रमाद दूर होता है। सम्यग्दृष्टि जीवोंके चौथे गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धी कषाय पूर्वक होने वाला प्रमाद दूर हो जाता है पाँचवें गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धी तथा अप्रत्याख्यान कषायपूर्वक होनेवाला प्रमाद दूर हो जाता है, छट्ठे गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान कषाय पूर्वक होनेवाला प्रमाद दूर हो जाता है किन्तु तीव्र संज्वलन कषाय पूर्वक होनेवाला प्रमाद होता है। इसप्रकार उत्तरोत्तर प्रमाद दूर होता जाता है और बारहवें गुणस्थानमें सर्व कषायका नाश हो जाता है।

५—उज्ज्वल वचन विनय वचन और प्रियवचनरूप भाषा वर्गणा समस्त लोकमें भरी हुई है उसकी कुछ न्यूनता नहीं कुछ कीमत देनी नहीं पड़ती पुनश्च मीठे कोमलरूप वचन बोलनेसे जीभ नहीं दुखती शरीरमें कष्ट नहीं होता ऐसा समझकर असत्यवचनको दुःखका मूल जानकर शीघ्र उस प्रमादका भी त्याग करना चाहिये और सत्य तथा प्रियवचनकी ही प्रवृत्ति करनी चाहिये ऐसा व्यवहारका उपदेश है ॥१४॥

स्तेय (चोरी) का स्वरूप

अदत्तादानं स्तेयम् ॥१५॥

अर्थ—प्रमादके योगसे [अदत्तादान] बिना दी हुई किसी भी वस्तुको ग्रहण करना सो [स्तेयम्] चोरी है।

टीका

प्रश्न—कर्मवर्गणा और नोकर्मवर्गणाओंका ग्रहण चोरी कहलायगा या नहीं ?

उत्तर—यह चोरी नहीं कहा जायगा जहाँ लेना-देना सम्भव हो वहाँ चोरीका व्यवहार होता है—इस कारणसे 'अदत्त' शब्द दिया है।

प्रश्न—मुनिराजके ग्राम-नगर इत्यादिमें भ्रमण करने पर शेरी दरवाजा आदिमें प्रवेश करनेसे क्या अदत्तादान होता है ?

उत्तर—यह अदत्तादान नहीं कहलाता क्योंकि यह स्थान सबोंके

आने जानेके लिए खुला है। पुनश्च शेरी आदिमें प्रवेश करनेसे मुनिके प्रमत्तयोग नही होता।

चाहे बाह्य वस्तुका ग्रहण हो या न भी हो तथापि चोरी करनेका जो भाव होता है वही चोरी है और वही बंधका कारण है। वास्तवमे परवस्तुको कोई ग्रहण कर ही नही सकता, किन्तु परवस्तुके ग्रहण करनेका जो प्रमादयुक्त भाव है वही दोष है ॥ १५ ॥

कुशील (-अब्रह्मचर्य) का स्वरूप—

मैथुनमब्रह्म ॥ १६ ॥

अर्थ—[मैथुनमब्रह्म]जो मैथुन है सो अब्रह्म अर्थात् कुशील है।

टीका

१. मैथुन—चारित्र मोहनीयके उदयमे युक्त होनेसे राग-परिणाम सहित स्त्री-पुरुषोकी जो परस्परमे स्पर्श करनेकी इच्छा है सो मैथुन है। (यह व्याख्या व्यवहार मैथुनकी है)

मैथुन दो प्रकारका है–निश्चय और व्यवहार। आत्मा स्वय ब्रह्मस्वरूप है, आत्माकी अपने ब्रह्मस्वरूपमे जो लीनता है सो वास्तवमे ब्रह्मचर्य है और पर निमित्तसे–रागसे लाभ माननेरूप सयोगबुद्धि या कषायके साथ एकत्वकी बुद्धि होना सो अब्रह्मचर्य है यही निश्चय मैथुन है। व्यवहार मैथुन की व्याख्या ऊपर दी गई है।

२—तेरहवें सूत्रमें कहे हुए 'प्रमत्त योगात्' शब्दकी अनुवृत्ति इस सूत्रमें भी आती है, इसीलिये ऐसा समझना कि स्त्री पुरुषके युगल सबंधसे रतिसुखके लिये जो चेष्टा (-प्रमाद परिणति) की जाती है वह मैथुन है।

३—जिसके पालनसे अहिंसादिक गुण वृद्धिको प्राप्त हो वह ब्रह्म है और जो ब्रह्मसे विरुद्ध है सो अब्रह्म है। अब्रह्म (-मैथुन) मे हिंसादिक दोष पुष्ट होते हैं, पुनश्च उसमें त्रस-स्थावर जीव भी नष्ट होते हैं, मिथ्यावचन बोले जाते हैं, विना दी हुई वस्तुका ग्रहण किया जाता है और चेतन तथा अचेतन परिग्रहका भी ग्रहण होता है–इसलिये यह अब्रह्म छोड़ने लायक है॥ १६ ॥

४—अकषाय स्वरूपमें जाग्रत-सावधान रहनेसे ही प्रमाद दूर होता है। सम्यग्दृष्टि जीवोंके चौथे गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धी कषाय पूर्वक होनेवाला प्रमाद दूर हो जाता है पाँचवें गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धी तथा अप्रत्याख्यान कषायपूर्वक होनेवाला प्रमाद दूर हो जाता है, छट्ठे गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान कषाय पूर्वक होनेवाला प्रमाद दूर हो जाता है किन्तु तीव्र संज्वलन कषाय पूर्वक होनेवाला प्रमाद होता है। इसप्रकार उत्तरोत्तर प्रमाद दूर होता जाता है और बारहवें गुणस्थानमें सर्व कषायका नाश हो जाता है।

५—उज्ज्वल वचन विनय वचन और प्रियवचनरूप भाषा बहुत समस्त लोकमें भरी हुई है उसकी कुछ न्यूनता नहीं कुछ कीमत देनी नहीं पड़ती पुनश्च मीठे कोमलरूप वचन बोलनेसे जीभ नहीं दुखती शरीरमें कष्ट नहीं होता ऐसा समझकर असत्यवचनको दुःखका मूल जानकर शीघ्र उस प्रमादका भी त्याग करना चाहिये और सत्य तथा प्रियवचनकी ही प्रवृत्ति करनी चाहिये ऐसा व्यवहारका उपदेश है ॥१४॥

स्तेय (चोरी) का स्वरूप

अदत्तादानं स्तेयम् ॥१५॥

अर्थ—प्रमादके योगसे [अदत्तादान] बिना दी हुई किसी भी वस्तुको ग्रहण करना सो [स्तेयम्] चोरी है।

टीका

प्रश्न—कर्मवर्गणा और नोकर्मवर्गणाओंका ग्रहण चोरी कहलायगा या नहीं ?

उत्तर—यह चोरी नहीं कहा जायगा जहाँ लेना-देना सम्भव हो वहाँ चोरीका व्यवहार होता है—इस कारणसे 'अदत्त' शब्द दिया है।

प्रश्न—मुनिराजके ग्राम-नगर इत्यादिमें भ्रमण करते पर शेरी दरवाजा आदिमें प्रवेश करनेसे क्या अदत्तादान होता है ?

उत्तर—यह अदत्तादान नहीं कहलाता क्योंकि यह स्थान सभीके

आने जानेके लिए खुला है। पुनश्च शेरी आदिमें प्रवेश करनेसे मुनिके प्रमत्तयोग नही होता।

चाहे बाह्य वस्तुका ग्रहण हो या न भी हो तथापि चोरी करनेका जो भाव होता है वही चोरी है और वही बधका कारण है। वास्तवमें परवस्तुको कोई ग्रहण कर ही नही सकता, किन्तु परवस्तुके ग्रहण करनेका जो प्रमादयुक्त भाव है वही दोष है॥ १५॥

कुशील (-अब्रह्मचर्य) का स्वरूप—

मैथुनमब्रह्म ॥ १६ ॥

अर्थ—[मैथुनमब्रह्म]जो मैथुन है सो अब्रह्म अर्थात् कुशील है।

टीका

१. मैथुन—चारित्र मोहनीयके उदयमें युक्त होनेसे राग-परिणाम सहित स्त्री-पुरुषोंकी जो परस्परमे स्पर्श करनेकी इच्छा है सो मैथुन है। (यह व्याख्या व्यवहार मैथुनकी है)

मैथुन दो प्रकारका है–निश्चय और व्यवहार। आत्मा स्वय ब्रह्मस्वरूप है, आत्माकी अपने ब्रह्मस्वरूपमे जो लीनता है सो वास्तवमे ब्रह्मचर्य है और पर निमित्तसे–रागसे लाभ माननेरूप सयोगबुद्धि या कषायके साथ एकत्वकी बुद्धि होना सो अब्रह्मचर्य है यही निश्चय मैथुन है। व्यवहार मैथुन की व्याख्या ऊपर दी गई है।

२—तेरहवें सूत्रमे कहे हुए 'प्रमत्त योगात्' शब्दकी अनुवृत्ति इस सूत्रमें भी आती है, इसीलिये ऐसा समझना कि स्त्री पुरुषके युगल संबंधसे रतिसुखके लिये जो चेष्टा (-प्रमाद परिणति) की जाती है वह मैथुन है।

३—जिसके पालनसे अहिंसादिक गुण वृद्धिको प्राप्त हो वह ब्रह्म है और जो ब्रह्मसे विरुद्ध है सो अब्रह्म है। अब्रह्म (-मैथुन) मे हिंसादिक दोष पुष्ट होते हैं, पुनश्च उसमे त्रस-स्थावर जीव भी नष्ट होते हैं, मिथ्यावचन बोले जाते हैं, विना दी हुई वस्तुका ग्रहण किया जाता है और चेतन तथा अचेतन परिग्रहका भी ग्रहण होता है–इसलिये यह अब्रह्म छोडने लायक है॥ १६॥

परिग्रहका स्वरूप

मूर्च्छा परिग्रहः ॥ १७ ॥

अर्थ—[मूर्च्छा परिग्रह] जो मूर्च्छा है सो परिग्रह है।

टीका

१—अंतरंगपरिग्रह चौदह प्रकारके हैं—एक मिथ्यात्व चार कषाय और नौ नोकषाय।

बाह्यपरिग्रह दस प्रकारके हैं—क्षेत्र मकान चांदी, सोना, धन, धान्य दासी दास कपड़े और बर्तन।

२—परद्रव्यमें ममत्वबुद्धिका नाम मूर्च्छा है। जो जीव बाह्य संयोग विद्यमान न होने पर भी ऐसा सकल्प करता है कि यह मेरा है' वह परिग्रह सहित है बाह्य द्रव्य तो निमित्तमात्र है।

३ प्रश्न—यदि तुम यह मेरा है' ऐसी बुद्धिको परिग्रह कहोगे तो सम्यग्ज्ञान भावि भी परिग्रह ठहरेंगे क्योंकि ये मेरे हैं ऐसी बुद्धि ज्ञानी के भी होती है?

उत्तर—परद्रव्यमें ममत्वबुद्धि परिग्रह है। स्व द्रव्यको अपना मानना सो परिग्रह नहीं है। सम्यग्ज्ञानादि तो आत्माका स्वभाव है अत इसका त्याग नहीं हो सकता इसलिये उसे अपना मानना सो अपरिग्रहत्व है।

रागादिमें ऐसा सकल्प करना कि 'यह मेरा है' सो परिग्रह है, क्योंकि रागादिसे ही सर्व दोष उत्पन्न होते हैं।

४—तेरहवें सूत्रके प्रमत्त योगात्' शब्दकी अनुवृत्ति इस सूत्रमें भी है सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रवान जीवके जितने अंशमें प्रमादभाव न हो उतने अंशमें अपरिग्रहीपन है ॥ १७ ॥

व्रती की विशेषता

नि शल्यो व्रती ॥ १८ ॥

अर्थ—[व्रती] व्रती जीव [निःशल्य'] शल्य रहित ही होता है।

टीका

१. शल्य—शरीरमे भोका गया बाण, काटा इत्यादि शस्त्रकी तरह जो मनमे बाधा करे सो शल्य है अथवा जो आत्माको काटे की तरह दुःख दे सो शल्य है।

शल्यके तीन भेद हैं–मिथ्यात्वशल्य, मायाशल्य और निदानशल्य।

मिथ्यादर्शनशल्य—आत्माके स्वरूपकी श्रद्धाका जो अभाव है सो मिथ्यादर्शनशल्य है।

मायाशल्य—छल, कपट, ठगाईका नाम मायाशल्य है।

निदानशल्य—आगामी विषय भोगोकी वाछाका नाम निदानशल्य है।

२–मिथ्यादृष्टि जीव शल्य सहित ही है इसीलिये उसके सच्चे व्रत नही होते, बाह्य व्रत होते हैं। द्रव्यलिगी मिथ्यादृष्टि है इसीलिये वह भी यथार्थ व्रती नही। मायावी कपटीके सभी व्रत झूठे हैं। इन्द्रियजनित विषयभोगोकी जो वाछा है सो तो आत्मज्ञानरहित राग है, उस राग सहित जो व्रत हैं वे भी अज्ञानीके व्रत हैं, वह धर्मके लिए निष्फल है, ससार के लिए सफल है, इसलिए परमार्थसे शल्य रहित हो व्रती हो सकता है।

३—द्रव्यलिगी का अन्यथापन

प्रश्न—द्रव्यलिगी मुनि जिनप्रणीत तत्त्वोको मानता है तथापि उसे मिथ्यादृष्टि क्यो कहते हो ?

उत्तर—उसके विपरीत अभिनिवेश है अत शरीराश्रित क्रियाकाड को वह अपना मानता है (यह अजीवतत्त्वमे जीवतत्त्वकी श्रद्धा हुई) आस्रव बन्धरूप शील-संयमादि परिणामोको वह सवर निर्जरारूप मानता है। यद्यपि वह पापसे विरक्त होता है परन्तु पुण्यमे उपादेय बुद्धि रखता है, इसीलिये उसे तत्त्वार्थकी यथार्थ श्रद्धा नही, अतः वह मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्न—द्रव्यलिगी धर्मसाधनमें अन्यथापन क्यो है ?

उत्तर—(१) संसारमें नरकादिकके दुःख जानकर तथा स्वर्गादिकमें भी जन्म मरणादिके दुःख जानकर संसारसे उदास हो वह मोक्ष को चाहता है अब इन दुःखोंको तो सभी दुःख जानते हैं। किन्तु इन्द्र अहमिन्द्रादिक विषयानुरागसे इन्द्रियजनित सुख भोगता है उसे भी दुःख जानकर निराकुल अवस्था की पहचान कर जो उसे मोक्ष जानता है वह सम्यग्दृष्टि है।

(२) विषय सुखादिकका फल नरकादिक है। शरीर अशुचिमय और विनाशीक है, वह पोषण करने योग्य नहीं, तथा कुटुम्बादिक स्वार्थ के सगे हैं–इत्यादि परद्रव्योंका दोष विचार कर उसका त्याग करता है। पर द्रव्योंमें इष्ट अनिष्टरूप श्रद्धा करना—वह मिथ्यात्व है।

(३) व्रतादिक का फल स्वर्ग मोक्ष है। तपश्चरणादिक पवित्र फल देने वाले हैं इनके द्वारा शरीर शोषण करने योग्य है तथा देव गुरु शास्त्रादि हितकारी हैं—इत्यादि पर द्रव्योंके गुण विचार कर उसे अंगीकार करता है। परद्रव्यको हितकारी या अहितकारी मानना सो मिथ्यात्वसहित राग है।

(४) इत्यादि प्रकारसे कोई पर द्रव्योंको बुरा जानकर अनिष्टरूप श्रद्धान करता है तथा कोई परद्रव्योंको भले जानकर इष्टरूप श्रद्धान करता है पर द्रव्यमें इष्ट अनिष्टरूप श्रद्धान करना सो मिथ्यात्व है। पुनश्च इसी श्रद्धानसे उसकी उदासीनता भी द्वेषरूप होती है क्योंकि किन्हीं परद्रव्योंको बुरा जानना सो द्वेष है। (मो० प्र०)

(५) पुनश्च जैसे वह पहले शरीराश्रित पापकार्योंमें कर्तृत्व मानता था उसी तरह अब शरीराश्रित पुण्य कार्योंमें अपना कर्तृत्व मानता है। इसप्रकार पर्यायाश्रित (शरीराश्रित) कार्योंमें अहंबुद्धि माननेकी समानता हुई। जैसे पहले—मैं जीवको मारता हूँ परिग्रहधारी हूँ इत्यादि मान्यता थी उसी तरह अब मैं जीवोंकी रक्षा करता हूँ मैं परिग्रह रहित नग्न हूँ ऐसी मान्यता हुई सो शरीर आश्रित कार्यमें अहंबुद्धि है सो ही मिथ्यादृष्टि है।

(४) अठारहवें सूत्रका सिद्धान्त

(१) अज्ञान अंधकारसे आच्छादित हुये जो जीव आत्माको (परका) कर्ता मानते हैं वे यद्यपि मोक्षके इच्छुक हो तो भी लौकिक जनोकी तरह उनको भी मोक्ष नही होता; ऐसे जीव चाहे मुनि हुये हों तथापि वे लौकिक जनकी तरह ही हैं। लोक (संसार) ईश्वरको कर्ता मानता है और उन मुनियोने आत्माको परद्रव्यका कर्ता (पर्यायाश्रित क्रियाका–शरीरका और उसकी क्रियाका कर्ता) माना, इसप्रकार दोनोकी मान्यता समान हुई। तत्त्वको जाननेवाला पुरुष ऐसा जानता है कि 'सर्वलोकके कोई भी परद्रव्य मेरे नहीं हैं' और यह भी सुनिश्चितरूपसे जानते हैं कि लोक और श्रमण (द्रव्यलिंगी मुनि) इन दोनोके जो इस परद्रव्यमे कर्तृत्वका व्यवसाय है वह उनके सम्यग्दर्शनज्ञान रहितपनेके कारण ही है। जो परद्रव्यका कर्तृत्व मानता है वह चाहे लौकिकजन हो या मुनिजन–मिथ्यादृष्टि ही है।
(देखो श्री समयसार गा० ३२१ से ३२७ में टीका)

(२) **प्रश्न**—क्या सम्यग्दृष्टि भी परद्रव्योको बुरा जानकर त्याग करता है ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि परद्रव्योको बुरा नही जानता; वे ऐसा जानते हैं कि परद्रव्यका ग्रहण–त्याग हो ही नही सकता। वह अपने रागभावको बुरा जानता है इसीलिये सरागभावको छोडता है और उसके निमित्तरूप परद्रव्योका भी सहजमें त्याग होता है। पदार्थका विचार करने पर जो कोई परद्रव्यका भला या बुरा है ही नही। मिथ्यात्वभाव ही सबसे बुरा है, सम्यग्दृष्टिने वह मिथ्याभाव तो पहले ही छोडा हुआ है।

(३) **प्रश्न**—जिसके व्रत हो उसे ही व्रती कहना चाहिये, उसके बदले ऐसा क्यो कहते हो कि 'जो निःशल्य हो वह व्रती होता है।'

उत्तर—शल्यका अभाव हुये बिना कोई जीव हिंसादिक पापभावोंके दूर होने मात्रसे व्रती नहीं हो सकता। शल्यका अभाव होनेपर व्रतके सबंधसे व्रतीत्व होता है इसीलिये सूत्रमे निःशल्य शब्दका प्रयोग किया है ॥१८॥

व्रतीके भेद

अगार्यनगारश्च ॥१९॥

अर्थ—[अगारी] अगारी अर्थात् सागार (गृहस्थ) [अनगारः च] और अनगार (गृहत्यागी भावमुनि) इसप्रकार व्रतीके दो भेद हैं।

नोट—निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक महाव्रतोंको पालनेवाले मुनि अनगारी कहलाते हैं और देशव्रतको पालनेवाले श्रावक सागारी कहलाते हैं ॥१९॥

सागारका लक्षण

अणुव्रतोऽगारी ॥२०॥

अर्थ—[अणुव्रतः] अणुव्रत अर्थात् एकदेशव्रत पालनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव [अगारी] सागार कहे जाते हैं।

टीका

यहाँसे अणुव्रतधारियोंका विशेष वर्णन प्रारम्भ होता है और इस अध्यायके समाप्त होने तक यही वर्णन है। अणुव्रतके पाँच भेद हैं—(१) अहिंसाणुव्रत (२) सत्याणुव्रत (३) अचौर्याणुव्रत (४) ब्रह्मचर्याणुव्रत और (५) परिग्रहपरिमाणअणुव्रत ॥२०॥

अब अणुव्रतके सहायक सात शीलव्रत कहते हैं

दिग्देशानर्थदंडविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोग-परिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च ॥२१॥

अर्थ—[च] और फिर वे व्रत [दिग्देशानर्थदंडविरति सामायिक प्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नः] दिग्व्रत, देशव्रत तथा अनर्थदंडव्रत ये तीन गुणव्रत और सामायिक प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोग परिमाण (मर्यादा) तथा अतिथिसंविभागव्रत ये चार शिक्षाव्रत सहित होते हैं अर्थात् व्रतधारी श्रावक पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन बारह व्रतों सहित होता है।

टीका

१—पहले १३ से १७ तकके सूत्रोमे हिंसादि पाँच पापोका जो वर्णन किया है उनका एकदेश त्याग करना सो पाच अणुव्रत हैं। जो अणुव्रतोको पुष्ट करे सो गुणव्रत है और जिससे मुनिव्रत पालन करनेका अभ्यास हो वह शिक्षाव्रत है।

२—तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोका स्वरूप निम्नप्रकार है–

दिग्व्रत—मरण पर्यंत सूक्ष्म पापोकी भी निवृत्तिके लिए दशो दिशाओमे आने जानेकी मर्यादा करना सो दिग्व्रत है।

देशव्रत—जीवन पर्यन्तको ली गई दिग्व्रतकी मर्यादामेंसे भी घडी घण्टा, मास, वर्ष आदि समय तक अमुक गली आदि जाने आनेकी मर्यादा करना सो देशव्रत है।

अनर्थदंडव्रत—प्रयोजन रहित पापकी बढ़ानेवाली क्रियाओका परित्याग करना सो अनर्थदडविरतिव्रत है। अनर्थदडके पाँच भेद हैं—(१) पापोपदेश (हिंसादि पापारम्भका उपदेश करना), (२) हिंसादान (तलवार आदि हिंसाके उपकरण देना), (३) अपध्यान (दूसरेका बुरा विचारना), (४) दु श्रुति (राग–द्वेषके बढानेवाले खोटे शास्त्रोका सुनना), और (५) प्रमादचर्या (बिना प्रयोजन जहाँ तहाँ जाना, वृक्षादिकका छेदना, पृथ्वी खोदना, जल बखेरना, अग्नि जलाना वगैरह पाप कार्य)

शिकार, जय, पराजय, युद्ध, परस्त्रीगमन, चोरी इत्यादिका किसी भी समय चिंतवन नहीं करना, क्योकि इन बुरे ध्यानोका फल पाप ही है।

—ये तीन गुणव्रत हैं।

सामायिक—मन, वचन, कायके द्वारा कृत, कारित, अनुमोदनासे हिंसादि पाँच पापोका त्याग करना सो सामायिक है, यह सामायिक शुभ-भावरूप है। (सामायिक चारित्रका स्वरूप नवमें अध्यायमे दिया जायगा)

प्रोषधोपवास—अष्टमी और चतुर्दशीके पहले और पीछेके दिनोमें एकाशनपूर्वक अष्टमी और चतुर्दशीको उपवास आदि करके, एकान्तवासमें

रहकर, सम्पूर्ण सावद्ययोगको छोड़ सब इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त होकर धर्म ध्यानमें रहना सो प्रोषधोपवास है।

उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत—श्रावकोंको भोगके निमित्तसे हिंसा होती है। भोग और उपभोगकी वस्तुओंका परिमाण करके (मर्यादा बांध कर अपनी शक्तिके अनुसार भोग उपभोगको छोड़ना सो उपभोगपरिभोग-परिमाणव्रत है।

अतिथिसंविभागव्रत—अतिथि अर्थात् मुनि आदिके लिये आहार, कमंडलु, पीछी वसतिका आदिका दान देना सो अतिथिसंविभागव्रत है।

—ये चार शिक्षाव्रत हैं।

ध्यानमें रखने योग्य सिद्धान्त

अनर्थदंडनामक आठवें व्रतमें दुःश्रुतिका त्याग कहा है वह यह बतलाता है कि—जीवोंको दुःश्रुतिरूप शास्त्र कौन है और सुश्रुतिरूप शास्त्र कौन है इस बातका विवेक करना चाहिये। जिस जीवके धर्मके निमित्तरूपसे दुःश्रुति हो उसके सम्यग्दर्शन प्रगट ही नहीं होता और जिसके धर्मके निमित्त सुश्रुति (सत् शास्त्र) हो उसको भी इसका मर्म जानना चाहिये। यदि उसका मर्म समझे तो ही सम्यग्दर्शन प्रगट कर सकता है और यदि सम्यग्दर्शन प्रगट करले तो ही अणुव्रतधारी श्रावक या महाव्रतधारी मुनि हो सकता है। जो जीव सुशास्त्रका मर्म जानता है वही जीव इस अध्यायके पाँचवें सूत्रमें कही गई सत्यव्रत सम्बंधी अनुवीचिभाषण अर्थात् शास्त्रकी आज्ञानुसार निर्दोष वचन बोलनेकी भावना कर सकता है। प्रत्येक मनुष्य सुशास्त्र और कुशास्त्रका विवेक करनेके लिये योग्य है इसलिये मुमुक्षु जीवों को तत्त्व विचारकी योग्यता प्रगट करके यह विवेक अवश्य करना चाहिये। यदि जीव सत् असत्का विवेक न समझे—न करे तो वह सच्चा व्रतधारी नहीं हो सकेगा ॥२१॥

व्रतीको सल्लेखना धारण करनेका उपदेश

मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥२२॥

अर्थ—व्रतधारी श्रावक [मारणांतिकीं] मरणके समय होनेवाली [सल्लेखनां] सल्लेखनाको [जोषिता] प्रीतिपूर्वक सेवन करे।

टीका

१—इस लोक या परलोक सम्बन्धी किसी भी प्रयोजनकी अपेक्षा किये विना शरीर और कषायको सम्यक् प्रकार कृश करना सो सल्लेखना है।

२. **प्रश्न**—शरीर तो परवस्तु है, जीव उसे कृश नही कर सकता, तथापि यहाँ शरीरको कृश करनेके लिये क्यो कहा ?

उत्तर—कषायको कृश करने पर शरीर उसके अपने कारणसे कृश होने योग्य हो तो कृश होता है ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध बताने के लिये उपचारसे ऐसा कहा है। वात, पित्त, कफ इत्यादिके प्रकोपसे मरणके समय परिणाममे आकुलता न करना और स्वसन्मुख आराधनासे चलायमान न होना ही यथार्थ काय सल्लेखना है, मोहरागद्वेषादिसे मरणके समय अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान परिणाम मलिन न होने देना सो कषाय सल्लेखना है।

३. **प्रश्न**—समाधिपूर्वक देहका त्याग होनेमे आत्मघात है या नहीं ?

उत्तर—राग-द्वेष-मोहसे लिप्त हुये जीव यदि जहर, शस्त्र आदिसे घात करे सो आत्मघात है किंतु यदि समाधिपूर्वक सल्लेखना मरण करे तो उसमें रागादिक नही और आराधना है इसीलिये उसके आत्मघात नही है। प्रमत्तयोग रहित और आत्मज्ञान सहित जो जीव-यह जानकर कि 'शरीर अवश्य विनाशीक है' उसके प्रति राग कम करता है उसे हिंसा नही ॥२२॥

सम्यग्दर्शनके पांच अतिचार

शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥ २३ ॥

अर्थ—[शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशसासंस्तवाः] शंका, काक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिकी प्रशंसा और अन्यदृष्टिका सस्तव ये पाच

[सम्यग्दृष्टेः अतिचाराः] सम्यग्दर्शनके अतिचार हैं।

टीका

१—जिस जीवका सम्यग्दर्शन निर्दोष हो वह बराबर व्रत पाल सकता है इसीलिये यहाँ पहले सम्यग्दर्शनके अतिचार बतलाये गये हैं जिससे वह अतिचार दूर किया जा सकता है। औपशमिक सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व तो निर्मल होते हैं इनमें अतिचार नहीं होते। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व चल मल और अगाढ़ दोष सहित होता है अर्थात् इसमें अतिचार लगता है।

२—सम्यग्दृष्टिके आठ गुण (अंग, लक्षण अर्थात् आचार) होते हैं उनके नाम इसप्रकार हैं—निःशंका निकांक्षा निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण वात्सल्य और प्रभावना।

३—सम्यग्दर्शनके जो पाँच अतिचार कहे हैं उनमें से पहले तीन तो निःशंकितादि पहले तीन गुणोंमें आनेवाले दोष हैं और बाकीके दो अतिचारों का समावेश अंतिम पाँच गुणोंके दोष में होता है। चौथे से सातवें गुणस्थान वाले क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टिके ये अतिचार होते हैं अर्थात् क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनवाले मुनि श्रावक या सम्यग्दृष्टि-इन तीनोंके ये अतिचार हो सकते हैं। जो अंशरूपसे भंग हो (अर्थात् दोष लगे) उसे अतीचार कहते हैं और उससे सम्यग्दर्शन निर्मूल नहीं होता, मात्र मलिन होता है।

४—शुद्धात्म स्वभावकी प्रतीतिरूप निश्चय सम्यग्दर्शनके सद्भाव में सम्यग्दर्शन सम्बन्धी व्यवहार दोष होते हैं तथापि वहाँ मिथ्यात्व-प्रकृतियों का बंध नहीं होता। पुनश्च दूसरे गुणस्थानमें भी सम्यग्दर्शनसंबन्धी व्यवहार दोष होते हैं तथापि वहाँ भी मिथ्यात्वप्रकृतिका बन्धन नहीं है।

५—सम्यग्दर्शन धर्मरूपी वृक्षकी जड़ है, मोक्षमहलकी पहली सीढ़ी है इसके बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्‌पनेको प्राप्त नहीं होते। अतः योग्य जीवोंको यह उचित है कि जैसे भी बने वैसे आत्माके वास्तविक स्वरूपको समझकर सम्यग्दर्शनरूपी रत्नसे अपनी आत्माको भूषित करे और

सम्यग्दर्शनको निरतिचार बनाते। धर्मरूपी कमलके मध्यमें सम्यग्दर्शन-रूपी नाल शोभायमान है, निश्चयव्रत, शील इत्यादि उसकी पंखुडिया हैं। इसलिये गृहस्थो और मुनियोको इस सम्यग्दर्शनरूपी नालमें अतीचार न आने देना चाहिये।

६. पंच अतीचारके स्वरूप

शंका—निज आत्माको ज्ञाता-दृष्टा, अखंड, अविनाशी और पुद्गलसे भिन्न जानकर भी इस लोक, परलोक, मरण, वेदना, अरक्षा, अगुप्ति और अकस्मात् इन सात भयको प्राप्त होना अथवा अर्हंत सर्वज्ञ वीतरागदेवके कहे हुये तत्त्वके स्वरूपमें सन्देह होना सो शंका नामक अतिचार है।

कांक्षा—इस लोक या परलोक सम्बन्धी भोगोंमें तथा मिथ्या-दृष्टियो के ज्ञान या आचरणादिमें वांछा हो आना सो वांछा अतिचार है। यह राग है।

विचिकित्सा—रत्नत्रयके द्वारा पवित्र किंतु बाह्यमे मलिन शरीर वाले मुनियोको देखकर उनके प्रति अथवा धर्मात्माके गुणोंके प्रति या दुःखी दरिद्री जीवोको देखकर उनके प्रति ग्लानि हो जाना सो विचिकित्सा अतिचार है। यह द्वेष है।

अन्यदृष्टिप्रशंसा—आत्मस्वरूपके अजानकार जीवोंके ज्ञान, तप, शील, चारित्र, दान आदिको निजमें प्रगट करनेका मनमे विचार होना अथवा उसे भला जानना सो अन्यदृष्टिप्रशसा अतिचार है। (अन्यदृष्टि-का अर्थ मिथ्यादृष्टि है)

अन्यदृष्टि संस्तव—आत्म स्वरूपके अनजान जीवोके ज्ञान, तप, शील, चारित्र, दानादिकके फलको भला जानकर वचनद्वारा उसकी स्तुति करना सो अन्यदृष्टि संस्तव अतिचार है।

७—ये समस्त दोष होने पर सम्यग्दृष्टि जीव उन्हे दोषरूपसे जानता है और इन दोषोका उसे खेद है, इसलिये ये अतिचार हैं। किन्तु जो जीव इन दोषोंको दोषरूप न माने और उपादेय माने उसके तो ये

अनाचार है अर्थात् वह तो मिथ्यादृष्टि ही है।

८—आत्माका स्वरूप समझने के लिये शंका करके जो प्रश्न किया जावे वह शंका नहीं किन्तु आशंका है अतिचारोंमें जो शंका दोष कहा है उसमें इसका समावेश नहीं होता।

प्रशंसा और संस्तवमें इतना भेद है कि प्रशंसा मनके द्वारा होती है और संस्तव वचन द्वारा होता है ॥ २३ ॥

अब पाँच व्रत और सात शीलों के अतिचार कहते हैं

व्रतशीलेषु पंच पंच यथाक्रमम् ॥ २४ ॥

अर्थ—[व्रतशीलेषु] व्रत और शीलोंमें भी [यथाक्रमं] अनुक्रमसे प्रत्येकमें [पंच पंच] पाँच पाँच अतिचार हैं।

नोट—व्रत कहनेसे अहिंसादि पाँच अणुव्रत समझना और शील कहनेसे तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये सात शील समझना। इन प्रत्येकके पाँच अतिचारोंका वर्णन अब आगेके सूत्रोंमें कहते हैं ॥ २४ ॥

अहिंसाणुव्रतके पाँच अतिचार

बंधवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥२५॥

अर्थ—[बंधवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः] बन्ध वध, छेद, अधिक भार लादना और अन्नपानका निरोध करना—ये पाँच अहिंसा णुव्रतके अतिचार हैं।

टीका

बंध—प्राणियोंको इच्छित स्थानमें जाने से रोकने के लिये रस्सी इत्यादिसे बाँधना।

वध—प्राणियोंको लकड़ी इत्यादिसे मारना।

छेद—प्राणियोंके नाक कान आदि अंग छेदना।

अतिभारारोपण—प्राणीकी शक्तिसे अधिक भार लादना।

अन्नपाननिरोध—प्राणियोंको ठीक समयपर खाना पीना न देना।

यहाँ अहिंसाणुव्रतके अतिचार 'प्राण व्यपरोपण' को नही गिनना, क्योंकि प्राणव्यपरोपण हिंसाका लक्षण है अर्थात् यह अतिचार नही किन्तु अनाचार है। इसके सम्बन्धमें पहले १३ वें सूत्रमे कहा जा चुका है ॥२५॥

सत्याणुव्रतके पांच अतिचार

मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहार-साकारमन्त्रभेदाः ॥ २६ ॥

अर्थ—[मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकार-मन्त्रभेदाः] मिथ्या उपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार, और साकारमन्त्रभेद—ये पांच सत्याणुव्रतके अतिचार हैं।

टीका

मिथ्याउपदेश—किसी जीवके अभ्युदय या मोक्षके साथ सम्बन्ध रखनेवाली क्रियामें सन्देह उत्पन्न हुआ और उसने आकर पूछा कि इस विषयमें मुझे क्या करना ? इसका उत्तर देते हुये सम्यग्दृष्टि व्रतधारीने अपनी भूलसे विपरीत मार्गका उपदेश दिया तो वह मिथ्या उपदेश कहा जाता है, और यह सत्याणुव्रतका अतिचार है और यदि जानते हुये भी मिथ्या उपदेश करे तो वह अनाचार है। विवाद उपस्थित होनेपर सबधको छोड़कर असबधरूप उपदेश देना सो भी अतिचाररूप मिथ्या उपदेश है।

रहोभ्याख्यान—किसीकी गुप्त बात प्रगट करना।

कूटलेखक्रिया—परके प्रयोगके वशसे (अनजानपनेसे) कोई खोटा लेख लिखना।

न्यासापहार—कोई मनुष्य कुछ वस्तु देगया और फिर वापस मांगते समय उसने कम मागी तब ऐसा कहकर कि 'तुम्हारा जितना हो उतना ले जाओ' तथा बादमें कम देना सो न्यासापहार है।

साकार मन्त्रभेद—हाथ आदिकी चेष्टा परसे दूसरेके अभिप्रायको जानकर उसे प्रगट कर देना सो साकार मन्त्रभेद है।

व्रतधारीके इन दोषोंके प्रति खेद होता है इसीलिये ये अतिचार हैं किन्तु यदि जीवको उनके प्रति खेद न हो तो वह अनाचार है अर्थात् वहाँ व्रतका अभाव ही है ऐसा समझना ॥२६॥

अचौर्याणुव्रतके पाँच अतीचार

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिक-मानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥ २७ ॥

अर्थ—चोरीके लिये चोरको प्रेरणा करना या उसका उपाय बताना, चोरसे चुराई हुई वस्तुको खरीदना, राज्यकी आज्ञाके विरुद्ध चलना, देने लेनेके बाट तराजू आदि कम ज्यादा रखना, और कीमती वस्तुमें कम कीमतकी वस्तु मिलाकर असली भावसे बेचना ये पाँच अचौर्याणुव्रतके अतिचार हैं।

टीका

इन अतिचाररूप विकल्प पुरुषार्थकी कमजोरी (निर्बलता) से कभी आयें तो भी धर्मीजीव उनका स्वामी नहीं होता दोषको जानता है परन्तु उसे भला नहीं मानता इसलिये वह दोष अतिचाररूप है अनाचार नहीं है।

ब्रह्मचर्याणुव्रतके पाँच अतिचार

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमना-नङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥ २८ ॥

अर्थ—दूसरेके पुत्र पुत्रियोंका विवाह करना-कराना पतिसहित व्यभिचारिणी स्त्रियोंके पास आना जाना लेन देन रखना रागभाव पूर्वक बात चीत करना पतिरहित व्यभिचारिणी स्त्री (वेश्यादि) के यहाँ आना

जाना; लेन देन आदिका व्यवहार रखना, अनगक्रीडा अर्थात् कामसेवनके लिये निश्चित अगोको छोडकर अन्य अगोसे कामसेवन करना और कामसेवनकी तीव्र अभिलाषा—ये पांच ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार हैं ॥२८॥

परिग्रह परिमाण अणुव्रतके पाँच अतिचार

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥ २९ ॥

अर्थ—[क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रमाः] क्षेत्र और रहनेके स्थानके परिमाणका उल्लघन करना, [हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रमाः] चाँदी और सोनेके परिमाणका उल्लघन करना [धनधान्यप्रमाणातिक्रमाः] धन (पशु आदि) तथा धान्यके परिमाणका उल्लघन करना [दासीदासप्रमाणातिक्रमाः] दासी और दासके परिमाणका उल्लघन करना तथा [कुप्यप्रमाणातिक्रमाः] वस्त्र बर्तन आदिके परिमाणका उल्लघन करना—ये पाँच अपरिग्रह अणुव्रतके अतिचार हैं ॥२९॥

इस तरह पांच अणुव्रतोके अतिचारोका वर्णन किया, अब तीन गुणव्रतोके अतिचारोका वर्णन करते हैं।

दिग्व्रतके पांच अतिचार

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ॥३०॥

अर्थ—[ऊर्ध्वव्यतिक्रमः] मापसे अधिक ऊँचाईवाले स्थलोमे जाना, [अधः व्यतिक्रमः] मापसे नीचे (कुआ खान आदि) स्थानोमे उतरना [तिर्यक् व्यतिक्रमः] समान स्थानके मापसे बहुत दूर जाना [क्षेत्रवृद्धिः] की हुई मर्यादामे क्षेत्रको बढा लेना और [स्मृत्यंतराधान] क्षेत्रकी की हुई मर्यादाको भूल जाना ये पाच दिग्व्रतके अतिचार हैं ॥३०॥

देशव्रतके पांच अतिचार

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥३१॥

अर्थ—[आनयनं] मर्यादासे बाहरकी चीजको मगाना, [प्रेष्यप्रयोगः] मर्यादासे बाहर नौकर आदिको भेजना [शब्दानुपातः] खांसी

शब्द आदिसे मर्यादाके बाहर जीवोंको अपना अभिप्राय समझा देना, [रूपानुपात] अपना रूप आदि दिखाकर मर्यादाके बाहरके जीवोंको इशारा करना और [पुद्गलक्षेपाः] मर्यादाके बाहर कंकर, पत्थर आदि फेंककर अपने कार्यका निर्वाह कर लेना ये पाँच देशव्रतके अतिचार हैं ॥३१॥

अनर्थदंडव्रतके पाँच अतिचार

कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्याऽसमीक्ष्याधिकरणोपभोग-परिभोगानर्थक्यानि ॥३२॥

अर्थ—[कंदर्प] रागसे हास्य सहित अशिष्ट वचन बोलना [कौत्कुच्यं] शरीरकी कुचेष्टा करके अशिष्टवचन बोलना, [मौखर्यं] धृष्टतापूर्वक जरूरतसे ज्यादा बोलना, [असमीक्ष्याधिकरणं] बिना प्रयोजन मन वचन कायकी प्रवृत्ति करना और [उपभोगपरिभोगानर्थक्यं] भोग उपभोगके पदार्थोंका जरूरतसे ज्यादा संग्रह करना—ये पाँच अनर्थ दंडव्रतके अतिचार हैं ॥३२॥

इस तरह तीन गुणव्रतके अतिचारोंका वर्णन किया, अब चार शिक्षाव्रतके अतिचारोंका वर्णन करते हैं।

सामायिक शिक्षाव्रतके पाँच अतिचार

योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥३३॥

अर्थ—[योगदुष्प्रणिधानं] मन सम्बन्धी परिणामोंकी अन्यथा प्रवृत्ति करना वचन संबंधी परिणामोंकी अन्यथा प्रवृत्ति करना काय संबंधी परिणामोंकी अन्यथा प्रवृत्ति करना [अनादरं] सामायिकके प्रति उत्साह रहित होना और [स्मृत्यनुपस्थानं] एकाग्रताके अभावको लेकर सामायिक के पाठ आदि भूल जाना—ये पाँच सामायिक शिक्षाव्रतके अतिचार हैं ॥३३॥

नोट—सूत्रमें 'योग दुष्प्रणिधानं' शब्द है उसे मन वचन और काय इन तीनोंमें लागू करके ये तीन प्रकारके तीन अतिचार गिने गये हैं।

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतके पांच अतिचार

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणाना-दरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३४ ॥

अर्थ—[अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादर-स्मृत्यनुपस्थानानि] विना देखी विना शोधी जमीनमें मलमूत्रादिका क्षेपण करना, विना देखे विना शोधे पूजनके उपकरण ग्रहण करना, विना देखे विना शोधे, जमीनपर चटाई, वस्त्र आदि बिछाना, भूख आदि से व्याकुल हो आवश्यक धर्म कार्य उत्साहरहित होकर करना और आवश्यक धर्मकार्योंको भूल जाना—ये पाँच प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतके अतिचार हैं ॥ ३४ ॥

उपभोग परिभोग परिमाण शिक्षाव्रतके पाँच अतिचार

सचित्तसंबंध मिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ॥ ३५ ॥

अर्थ—१-सचित्त-जीववाले (कच्चे फल आदि) पदार्थ, २-सचित्त पदार्थके साथ सम्बन्धवाले पदार्थ, ३—सचित्त पदार्थसे मिले हुए पदार्थ, ४-अभिषव-गरिष्ठ पदार्थ, और ५—दुःपक्व अर्थात् आधे पके या अधिक पके हुये या बुरी तरहसे पके पदार्थ-इनका आहार करना ये पाँच उपभोग परिभोग शिक्षाव्रतके अतिचार हैं।

टीका

भोग—जो वस्तु एक ही बार उपभोगमे लाई जाय सो भोग है, जैसे अन्न, इसे परिभोग भी कहा जाता है।

उपभोग—जो वस्तु बारबार भोगी जाय उसे उपभोग कहते हैं जैसे वस्त्र आदि।

अतिथिसंविभाग व्रतके पाँच अतिचार

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालाति-क्रमाः ॥ ३६ ॥

अर्थ—[सचित्त निक्षेप] सचित्त पत्र आदिमें रखकर भोजन देना [सचित्तापिधानं] सचित्त पत्र आदि से ढके हुये भोजन आदिको देना [परव्यपदेश] दूसरे दातारकी वस्तुको देना [मात्सर्य] अनादरपूर्वक देना अथवा दूसरे दातारकी ईर्षापूर्वक देना और [कालातिक्रमः] योग्य कालका उल्लंघन करके देना—ये पांच अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रतके अतिचार हैं। इस तरह चार शिक्षाव्रतके अतिचार कहे ॥ ३६ ॥

अब सल्लेखनाके पांच अतिचार कहते हैं

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ॥ ३७ ॥

अर्थ—[जीविताशंसा] सल्लेखना धारण करनेके बाद जीनेकी इच्छा करना [मरणाशंसा] वेदनासे व्याकुल होकर शीघ्र मरनेकी इच्छा करना [मित्रानुराग] अनुरागके द्वारा मित्रोंका स्मरण करना [सुखानुबंध] पहले भोगे हुये सुखोंका स्मरण करना और [निदान] निदान करना अर्थात् आगामी विषयभोगोंकी वांछा करना—ये पांच सल्लेखना व्रतके अतिचार हैं।

इस तरह श्रावकके अतिचारोंका वर्णन पूर्ण हुआ। ऊपर कहे अनुसार सम्यग्दर्शनके ५ बारह व्रतके ६० और सल्लेखनाके ५ इसी तरह कुल ७० अतीचारोंका त्याग करता है वही निर्दोष व्रती है ॥३७॥

दानका स्वरूप

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—[अनुग्रहार्थं] अनुग्रह-उपकारके हेतुसे [स्वस्यातिसर्गः] धन आदि अपनी वस्तुका त्याग करना सो [दानं] दान है।

टीका

१—अनुग्रहका अर्थ है अपनी आत्माके अनुसार होनेवाला उपकार का लाभ है। अपनी आत्माको लाभ हो इस भावसे किया गया कोई कार्य

यदि दूसरेके लाभमें निमित्त हो तब यों कहा जाता है कि परका उपकार हुआ, वास्तवमे अनुग्रह स्व का है, पर तो निमित्तमात्र है।

धन इत्यादिके त्यागसे यथार्थरीत्या स्व के शुभभावका अनुग्रह है, क्योंकि इससे अशुभभाव रुकता है और स्व के लोभ कषायका आंशिक त्याग होता है। यदि वह वस्तु (धन आदि) दूसरेके लाभका निमित्त हो तो उपचारसे ऐसा कहा जाता है कि दूसरे का उपकार हुआ, किंतु वास्तव में दूसरे का जो उपकार हुआ है वह उसके भावका है। उसने अपनी आकुलता मंद की इसीलिये उसके उपकार हुआ, किंतु यदि आकुलता मंद न करे नाराजी क्रोध करे अथवा लोलुपता करके आकुलता बढावे तो उस के उपकार नहीं होता। प्रत्येक जीवके अपनेमे ही स्वकीय भावका उपकार होता है। परद्रव्यसे या पर मनुष्यसे किसी जीवके सचमुच तो उपकार नही होता।

२—श्रीमुनिराजको दान देने के प्रकरणमें यह सूत्र कहा गया है। मुनिको आहारका और धर्मके उपकरणोका दान भक्तिभावपूर्वक दिया जाता है। दान देनेमें स्व का अनुग्रह तो यह है कि निजके अशुभ राग दूर होकर शुभ होता है और धर्मानुराग बढता है, और परका अनुग्रह यह है कि दान लेनेवाले मुनिके सम्यग्ज्ञान आदि गुणोकी वृद्धिका निमित्त होता है। ऐसा कहना कि किसी जीवके द्वारा परका उपकार हुआ सो कथनमात्र है। व्यवहारसे भी मैं परको कुछ दे सकता हूँ ऐसा मानना मिथ्या अभिप्राय है।

३—यह बात ध्यानमें रहे कि यह दान शुभरागरूप है, इससे पुण्य का बंधन होता है इसीलिये वह सच्चा धर्म नही है; अपनेसे अपनेमे अपने लिये शुद्ध स्वभावका दान ही सच्चा धर्म है। जैसा शुद्ध स्वभाव है वैसी शुद्धता पर्यायमें प्रगट करना इसीका नाम शुद्धस्वभावका निश्चय दान है।

दूसरोंके द्वारा अपनी ख्याति, लाभ या पूजा हो इस हेतुसे जो कुछ दिया जावे सो दान नही किंतु अपने आत्मकल्याणके लिये तथा पात्र जीवो को रत्नत्रयकी प्राप्तिके लिये, रक्षाके लिये या पुष्टिके लिये शुभभावपूर्वक जो कुछ दिया जावे सो दान है, इसमे जो शुभभाव है सो व्यवहार दान है,

वस्तु लेने देने की जो क्रिया है वह तो परसे स्वतः होने योग्य परद्रव्यकी क्रिया है, और परद्रव्यकी क्रिया (-पर्याय) में जीवका व्यवहार नहीं है।

४—जिससे स्व के तथा परके आत्मधर्मकी वृद्धि हो ऐसा दान गृहस्थोंका एक मुख्य व्रत है इस व्रतको अतिथिसंविभाग व्रत कहते हैं। श्रावकोंके प्रतिदिन करने योग्य छह कर्तव्योंमें भी दानका समावेश होता है।

५—इस अधिकारमें शुभास्रवका वर्णन है। सम्यग्दृष्टि-जीवोंको शुद्धताके लक्षसे शुभभावरूप दान कैसे हो यह इस सूत्रमें बताया है। सम्यग्दृष्टि ऐसा कभी नहीं मानते कि शुभभावसे धर्म होता है किन्तु निज स्वरूपमें स्थिर नहीं रह सकते तब शुद्धताके लक्षसे अशुभभाव दूर होकर शुभभाव रह जाता है अर्थात् स्वरूप सन्मुख जागृतिका वह प्रयत्न करते से-अशुभराग न होकर शुभराग होता है। वहाँ ऐसा समझता है कि जितना अशुभराग दूर हुआ उतना लाभ है और जो शुभराग रहा वह आस्रव है, बन्ध मार्ग है ऐसा समझकर उसे भी दूर करने की भावना रहती है इसीलिये उनके आंशिक शुद्धताका लाभ होता है। मिथ्यादृष्टि जीव इस प्रकारका दान नहीं कर सकते। यद्यपि वे सम्यग्दृष्टिकी तरह दानकी बाह्य क्रिया करते हैं किन्तु इस सूत्रमें कहा हुआ दानका लक्षण उनके लागू नहीं होता क्योंकि उसे शुद्धताकी प्रतीति नहीं है और वह शुभको धर्म और अपना स्वरूप मानता है। इस सूत्रमें कहा हुआ दान सम्यग्दृष्टिके ही लागू होता है।

यदि इस सूत्रका सामान्य अर्थ किया जावे तो वह सब जीवोंके लागू हो आहार आदि तथा धर्म-उपकरण या धन आदि देनेकी जो बाह्य क्रिया है सो दान नहीं परन्तु उस समय जीवका जो शुभभाव है सो दान है। श्रीपूज्यपाद स्वामी सर्वार्थसिद्धिमें इस सूत्रकी सूचनिकामें दानकी व्याख्या निम्नप्रकार करते हैं।

शीलविधानमें अर्थात् शिक्षाव्रतोंके वर्णनमें अतिथिसंविभागव्रत कहा गया किन्तु उसमें दानका लक्षण नहीं बताया इसलिये वह कहना चाहिये अतएव आचार्य दानके लक्षणका सूत्र कहते हैं।

उपरोक्त कथनसे मालूम होता है कि इस सूत्रमें कहा हुआ दान सम्यग्दृष्टि जीवके शुभभावरूप है।

७—इस सूत्रमें प्रयोग किया गया स्व शब्दका अर्थ धन होता है और धनका अर्थ होता है 'अपने स्वामित्व–अधिकारको वस्तु ।'

८. करुणादान

करुणादानका भाव सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनोको होते हैं किन्तु उनके भावमे महान् अन्तर है। यह दानके चार भेद हैं–१. आहारदान २. औषधिदान ३ अभयदान और ४ ज्ञानदान। आवश्यकतावाले जैन, अजैन, मनुष्य या तिर्यंच आदि किसी भी प्राणीके प्रति अनुकम्पा बुद्धिसे यह दान हो सकता है। मुनिको जो आहारदान दिया जाता है वह करुणादान नही किन्तु भक्तिदान है। जो अपनेसे महान गुण धारण करनेवाले हों उनके प्रति भक्तिदान होता है। इस सम्बन्धी विशेष वर्णन इसके बादके सूत्रकी टीकामे किया है ॥३८॥

दानमें विशेषता

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥३९॥

अर्थ—[विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्] विधि, द्रव्य, दातृ और पात्रकी विशेषतासे [तद्विशेषः] दानमे विशेषता होती है।

टीका

१. विधिविशेष—नवधाभक्तिके क्रमको विधिविशेष कहते हैं।

द्रव्य विशेष—तप, स्वाध्याय आदिकी वृद्धिमें कारण ऐसे आहारादिकको द्रव्यविशेष कहते हैं।

दातृविशेष—जो दातार श्रद्धा आदि सात गुणोसहित हो उसे दातृविशेष कहते हैं।

पात्रविशेष—जो सम्यक् चारित्र आदि गुणोसहित हो ऐसे मुनि आदिको पात्रविशेष कहते हैं।

२. नवधाभक्तिका स्वरूप

(१) संग्रह—(प्रतिग्रहण) 'पधारो, पधारो, यहाँ शुद्ध आहार जल है' इत्यादि शब्दोके द्वारा भक्ति सत्कार पूर्वक विनयसे मुनिका आह्वान करना।

(२) उच्चस्थान—उनको ऊँचे आसन पर बिठाना।

(३) पादोदक—गरम किए हुए शुद्ध जलसे उनके चरण धोना।

(४) अर्चन—उनकी भक्ति पूजा करना।

(५) प्रणाम—उन्हें नमस्कार करना।

(६ ७-८) मनशुद्धि, वचनशुद्धि, और कायशुद्धि।

(९) ऐषणाशुद्धि—आहारकी शुद्धि।

ये सब क्रियाएँ क्रमसे होनी चाहिए, यदि ऐसा क्रम न हो तो मुनि आहार नहीं ले सकते।

प्रश्न—इसप्रकार नवधाभक्ति पूर्वक स्त्री मुनिको आहार दे या नहीं?

उत्तर—हाँ, स्त्रीका किया हुआ और स्त्रीके हाथसे भी साधु आहार लेते हैं। यह बात प्रसिद्ध है कि जब भगवान महावीर छद्मस्थ मुनि थे तब चंदनबालाने नवधाभक्तिपूर्वक उनको आहार दिया था।

मुनिको तिष्ठ! तिष्ठ! तिष्ठ! (यहाँ विराजो) इसप्रकार अति पुण्यभावसे कहना तथा अन्य श्रावकादिक योग्य पात्र जीवोंको उनके पदके अनुसार आदरके वचन कहना सो संग्रह है। जिसके हृदयमें नवधाभक्ति नहीं उसके यहाँ मुनि आहार करते ही नहीं और अन्य धर्मात्मा पात्र जीव भी बिना आदरके लोभी होकर धनका निरादर कराकर कभी भोजनादिक ग्रहण नहीं करते। वीतरागधर्मकी दृढ़तासहित दीनतारहित परम सन्तोष धारण करना सो जैनत्व है।

२ द्रव्यविशेष

पात्रदानकी अपेक्षासे देने योग्य पदार्थ चार तरहके हैं—(१) आहार (२) औषध (३) उपकरण (पींछी कमण्डल शास्त्र आदि) और (४) आवास। ये पदार्थ ऐसे होने चाहिये कि तप स्वाध्यायादि धर्मकार्यमें वृद्धि के कारण हों।

४. दातृविशेष

दातारमे निम्नलिखित सात गुण होने चाहिये—

(१) ऐहिक फल अनपेक्षा—सासारिक लाभकी इच्छा न होना।

(२) क्षांति—दान देते समय क्रोधरहित शान्त परिणाम होना।

(३) मुदित—दान देते समय प्रसन्नता होनी।

(४) निष्कपटता—मायाचार छल कपटसे रहित होना।

(५) अनुसूयत्व—ईर्ष्यारहित होना।

(६) अविषादित्व—विषाद (खेद) रहित होना।

(७) निरहंकारित्व—अभिमान रहित होना।

दातारमे रहे हुये इन गुणोकी हीनाधिकताके अनुसार उसके दान का फल होता है।

५. पात्रविशेष

सत्पात्र तीन तरहके हैं—

(१) उत्तमपात्र—सम्यक्‌चारित्रवान् मुनि।

(२) मध्यम पात्र—व्रतधारी सम्यक्‌दृष्टि।

(३) जघन्य पात्र—अविरति सम्यग्दृष्टि।

ये तीनो सम्यग्दृष्टि होनेसे सुपात्र हैं। जो जीव बिना सम्यग्दर्शनके बाह्य व्रत सहित हो वह कुपात्र है और जो सम्यग्दर्शनसे रहित तथा बाह्य-व्रत चारित्रसे भी रहित हो वे जीव अपात्र हैं।

६. दान सम्बन्धी जानने योग्य विशेष बातें

(१) अपात्र जीवोको दुःखसे पीडित देखकर उनपर दयाभावके द्वारा उनके दुःख दूर करनेकी भावना गृहस्थ अवश्य करे, किन्तु उनके प्रति भक्तिभाव न करे, क्योकि ऐसोके प्रति भक्तिभाव करना सो उनके पापकी

अनुमोदना है। कुपात्रको योग्य रीतिसे आहारादिकका दान देना चाहिये।

२ प्रश्न—अज्ञानीके अपात्रको दान देते समय यदि शुभभाव हो तो उसका क्या फल है? जो कोई यों कहते हैं कि अपात्रको दान देनेका फल नरक निगोद है सो क्या यह ठीक है?

उत्तर—अपात्रको दान देते समय जो शुभभाव है उसका फल नरक निगोद नहीं हो सकता। जो आत्माके ज्ञान और आचरणसे रहित परमार्थ शून्य हैं ऐसे अज्ञानी छद्मस्थ विपरीत गुरुके प्रति सेवा भक्तिसे वयावृत्य, तथा आहारादिक दान देनेकी क्रियासे जो पुण्य होता है उसका फल नीच देव और नीच मनुष्यत्व है।

[प्रवचनसार गा० २५७, चर्चा-समाधान पृष्ठ ४८]

(३) आहार औषध अभय और ज्ञानदान ऐसे भी दानके चार भेद हैं। केवलीभगवानके दानांतरायका सर्वथा नाश होनेसे क्षायिक दान शक्ति प्रगट हुई है। इसका मुख्य कार्य संसारके शरणागत जीवोंको अभय प्रदान करना है। इस अभयदानकी पूर्णता केवलज्ञानियोंके होती है। तथा दिव्यध्वनिके द्वारा तत्त्वोपदेश देनेसे भव्य जीवोंके ज्ञानदानकी प्राप्ति भी होती है। बाकीके दो दान रहे (आहार और औषध) सो गृहस्थके कार्य हैं। इन दो के अलावा पहलेके दो दान भी गृहस्थोंके यथाशक्ति होते हैं। केवली भगवान वीतरागी हैं उनके दानकी इच्छा नहीं होती ॥३६॥

[तत्त्वार्थसार पृ० २५७]

उपसंहार

१—इस अधिकारमें पुण्यास्रवका वर्णन है व्रत पुण्यास्रवका कारण है। अठारहवें सूत्रमें व्रतीकी व्याख्या दी है। उसमें बतलाया है कि जो जीव मिथ्यात्व, माया और निदान इन तीन शल्योंसे रहित हो वही व्रती हो सकता है। ऐसी व्याख्या नहीं की कि जिसके व्रत हो वो व्रती है इसलिये यह खास ध्यानमें रहे कि व्रती होनेके लिये निश्चय सम्यग्दर्शन और व्रत दोनों होने चाहिये।

२—सम्यग्दृष्टि जीवके आंशिक वीतराग चारित्रपूर्वक महाव्रतादिरूप शुभोपयोग हो उसे सराग चारित्र कहते हैं यह सराग चारित्र अनिष्ट फलवाला होनेसे छोडने योग्य है। जिसमे कषायकण विद्यमान है अतः जो जीवको पुण्यबन्धकी प्राप्तिका कारण है ऐसा सराग चारित्र बीचमे आगया हो तथापि सम्यग्दृष्टिके उसके दूर हो जानेका प्रयत्न चालू होता है।

(देखो प्रवचनसार गाथा १–५–६ टीका)

३—महाव्रतादि शुभोपयोगके उपादेयरूप ग्रहणरूप मानना सो मिथ्यादृष्टित्व है। इस अध्यायमे उन व्रतोको आस्रवरूपसे वर्णित किया है तो वे उपादेय कैसे हो सकते हैं ? आस्रव तो बन्धका ही साधक है और चारित्र मोक्षका साधक है, इसीलिये इन महाव्रतादिरूप आस्रवभावोमे चारित्रका संभव नही होता। चारित्र मोहके देशघाती स्पर्द्धकोके उदयमे युक्त होनेसे जो महामंद प्रशस्त राग होता है वह तो चारित्रका दोष है। उसे अमुक दशातक न छूटनेवाला जानकर ज्ञानी उसका त्याग नही करते और सावद्य योगका ही त्याग करते हैं। किन्तु जैसे कोई पुरुष कंदमूलादि अधिक दोषवाली हरितकायका त्याग करता है और कोई हरितकायका आहार करता है किन्तु उसे धर्म नही मानता उसीप्रकार मुनि हिंसादि तीव्र कषायरूप भावोका त्याग करते हैं तथा कोई मंद कषायरूप महाव्रतादिको पालते हैं परन्तु उसे मोक्षमार्ग नही मानते। (मो० प्र० पृ० ३३७)

४—इस आस्रव अधिकारमे अहिंसादि व्रतोका वर्णन किया है इससे ऐसा समझना कि किसी जीवको न मारना ऐसा शुभभावरूप अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहभाव ये सब पुण्यास्रव हैं। इस अधिकारमे संवर निर्जराका वर्णन नही है। यदि ये अहिंसादि संवर निर्जराका कारण होते तो इस आस्रव अधिकारमे आचार्यदेव उनका वर्णन न करते।

५—व्रतादिके समय भी चार घातिया कर्म बंधते हैं और घातिकर्म तो पाप है। सम्यग्दृष्टि जीवके सच्ची–यथार्थ श्रद्धा होनेसे दर्शनमोह-अनन्तानुबंधी क्रोध मान-माया-लोभ तथा नरकगति इत्यादि ४१ कर्मप्रकृतियो

का बंध नहीं होता, यह तो चौथे गुणस्थानमें सम्यग्दर्शनका फल है और ऊपरकी अवस्थामें जितने अंशमें चारित्रकी शुद्धता प्रगट होती है वह वीतराग चारित्रका फल है परन्तु महाव्रत या देशव्रतका फल शुद्धता नहीं। महाव्रत या देशव्रतका फल बंधन है।

६—साधारण जीव लौकिकरूढ़दृष्टिसे यह तो मानते हैं कि अशुभ भावमें धर्म नहीं है अर्थात् इस सम्बन्धी विशेष कहनेकी जरूरत नहीं। परंतु निजको धर्मी और समझदार माननेवाला जीव भी बड़े भागमें शुभभावको धर्म या धर्मका सहायक मानता है—यह मान्यता यथार्थ नहीं है। यह बात छट्ठे और सातवें अध्यायमें की गई है कि शुभभाव धर्मका कारण नहीं किन्तु कर्मबन्धका कारण है। उसके कुछ मोट निम्नप्रकार हैं—

१—शुभभाव पुण्यका आस्रव है	अध्याय ६ सूत्र ३
२—सम्यक्त्व क्रिया ईर्यापथ समिति	अध्याय ६ सूत्र ५
३—जो मन्दकषाय है सो आस्रव है	अध्याय ६ सूत्र ६
४—सर्वप्राणी और व्रतधारीके प्रति अनुकम्पा	अध्याय ६ सूत्र १२
५—मार्दव	अध्याय ६ सूत्र १८
६—सरागसंयम संयमासंयम	अध्याय ६ सूत्र २०
७—योगोंकी सरलता	अध्याय ६ सूत्र २३
८—तीर्थंकरनामकर्मबन्धके कारणरूप सोलह भावना	अध्याय ६ सूत्र २४
९—परप्रशंसा आत्मनिंदा नम्रवृत्ति मदका अभाव	अध्याय ६ सूत्र २६
१०—महाव्रत अणुव्रत	अध्याय ७ सूत्र १ से ८ तथा २१
११—मैत्री आदि चार भावनायें	अध्याय ७ सूत्र ११
१२—जगत् और कायके स्वभावका विचार	अध्याय ७ सूत्र १२
१३—सल्लेखना	अध्याय ७ सूत्र २२
१४—दान	अध्याय ७ सूत्र ३८-३९

उपरोक्त सभी भावोंको आस्रवकी रीतिसे वर्णन किया है। इस तरह छट्ठे और सातवें अध्यायमें आस्रवका वर्णन पूर्ण करके अब आठवें अध्यायमें बंध तत्त्वका वर्णन किया जायगा।

७—हिंसा झूठ चोरी कुशील और परिग्रहका त्याग करना सो

व्रत है-ऐसा श्री अमृतचन्द्राचार्यने तत्त्वार्थसारके चौथे अध्यायकी १०१ वां गाथामे कहा है अर्थात् यो वतलाया है कि यह व्रत पुण्यास्रव ही है। गाथा १०३ में कहा है कि संसारमार्गमे पुण्य और पापके वीच भेद है किन्तु उस के वाद पृ० २५९ गाथा १०४ मे **स्पष्टरूपसे कहा है कि—मोक्षमार्गमें पुण्य और पापके वीच भेद (विशेष, पृथक्त्व) नहीं है। क्योंकि ये दोनों संसारके कारण हैं**—इस तरह वतलाकर आस्रव अधिकार पूर्ण किया है।

८. **प्रश्न**—व्रत तो त्याग है, यदि त्यागको पुण्यास्रव कहोगे किंतु धर्म न कहोगे तो फिर त्यागका त्याग धर्म कैसे हो सकता है?

उत्तर—(१) व्रत यह शुभभाव है, शुभभावका त्याग दो प्रकारसे होता है-एक प्रकारका त्याग तो यह कि 'शुभको छोडकर अशुभमे जाना' सो यह तो जीव अनादिसे करता आया है, लेकिन यह त्याग धर्म नही किंतु पाप है। दूसरा प्रकार यह है कि—सम्यग्ज्ञान पूर्वक शुद्धता प्रगट करने पर शुभका त्याग होता है, यह त्याग धर्म है। इसीलिये सम्यग्दृष्टि जीव स्वद्रव्य के आलवन द्वारा व्रतरूप शुभभावका भी त्याग करके ज्ञानमे स्थिरता करते हैं, यह स्थिरता ही चारित्र धर्म है। इसप्रकार जितने अशमें वीतराग चारित्र वढ़ता है उतने अशमे व्रत और अव्रतरूप शुभाशुभभावका त्याग होता है।

(२) यह ध्यान रहे कि व्रतमे शुभ अशुभ दोनोका त्याग नही है, परन्तु व्रतमे अशुभभावका त्याग और शुभभावका ग्रहण है अर्थात् व्रत राग है, और अव्रत तथा व्रत (अशुभ तथा शुभ) दोनोका जो त्याग है सो वीतरागता है। शुभ-अशुभ दोनोका त्याग तो सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र पूर्वक ही हो सकता है।

(३) 'त्याग' तो नास्ति वाचक है, यदि वह अस्ति सहित हो तव यथार्थ नास्ति कही जाती है। अब यदि व्रतको त्याग कहें तो वह त्यागरूप नास्ति होने पर आत्मामें अस्तिरूपसे क्या हुआ? इस अधिकारमें यह वतलाया है कि वीतरागता तो सम्यक् चारित्रके द्वारा प्रगट होती है और व्रत

तो आस्रव है, इसीलिये व्रत सच्चा त्याग नहीं, किन्तु जितने अंशमें वीत रागता प्रगट हुई उतना सच्चा त्याग है। क्योंकि जहाँ जितने अंशमें वीत-रागता हो वहाँ उतने अंशमें सम्यक् चारित्र प्रगट हो जाता है और उसमें शुभ-अशुभ दोनोंका (अर्थात् व्रत-अव्रत दोनों) त्याग होता है।

इसप्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्रकी
गुजराती टीका के हिन्दी अनुवादमें यह
सातवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

★

मोक्षशास्त्र अध्याय आठवाँ

भूमिका

पहले अध्यायके प्रथम सूत्रमे कहा है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता मोक्षका मार्ग है। दूसरे सूत्रमे कहा है कि तत्त्वार्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, उसके बाद चौथे सूत्रमे सात तत्त्वोंके नाम बतलाये; इनमेसे जीव, अजीव और आस्रव इन तीन तत्त्वोका वर्णन सातवें अध्याय तक किया। आस्रवके बाद बन्ध तत्त्वका नबर है; इसीलिये आचार्य देव इस अध्यायमे बन्ध तत्त्वका वर्णन करते हैं।

बन्धके दो भेद हैं—भावबध और द्रव्यबंध। इस अध्यायके पहले दो सूत्रोंमें जीवके भावबधका और उस भावबंधका निमित्त पाकर होनेवाले द्रव्यकर्मके बधका वर्णन किया है। इसके बाद के सूत्रोमे द्रव्यबधके भेद, उनकी स्थिति और कब छूटते हैं इत्यादि का वर्णन किया है।

बन्धके कारण बतलाते हैं

मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः ॥ १ ॥

अर्थ—[मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः] मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाच [बधहेतव.] बधके कारण हैं।

टीका

१—यह सूत्र बहुत उपयोगी है, यह सूत्र बतलाता है कि संसार किस कारणसे है। धर्ममें प्रवेश करनेकी इच्छा करनेवाले जीव तथा उपदेशक जबतक इस सूत्रका मर्म नही समझते तबतक एक बडी भूल करते हैं। वह इसप्रकार है—बधके ५ कारणोमेसे सबसे पहले मिथ्यादर्शन दूर होता है और फिर अविरति आदि दूर होते हैं, तथापि वे पहले मिथ्यादर्शन को दूर किये बिना अविरतिको दूर करना चाहते हैं और इस हेतुसे उनके माने हुये बालव्रत आदि ग्रहण करते हैं तथा दूसरोंको भी वैसा उपदेश देते हैं। पुनश्च ऐसा मानते हैं कि ये बालव्रत आदि ग्रहण करनेसे और

उनका पालन करनेसे मिथ्यादर्शन दूर होगा। उन जीवोंकी यह मान्यता पूर्णरूपेण मिथ्या है इसलिये इस सूत्रमें 'मिथ्यादर्शन' पहले बताकर सूचित किया है।

२—इस सूत्रमें बंधके कारण जिस क्रमसे दिये हैं उसी क्रमसे वे नष्ट दूर होते हैं परन्तु यह क्रम भंग नहीं होता कि पहला कारण विद्यमान हो और उसके बादके कारण दूर हो जाय। उनके दूर करनेका क्रम इसप्रकार है—(१) मिथ्यादर्शन चौथे गुणस्थानमें दूर होता है (२) अविरति पाँचवें-छट्ठे गुणस्थानमें दूर होती है (३) प्रमाद सातवें गुणस्थानमें दूर होता है (४) कषाय बारहवेंगुणस्थानमें नष्ट होती है और (५) योग चौदहवें गुणस्थानमें नष्ट होता है। वस्तुस्थितिके इस नियमको न समझनेसे अज्ञानी पहले बाह्यव्रत अंगीकार करते हैं और उसे धर्म मानते हैं इसप्रकार अधर्मको धर्म माननेके कारण उनके मिथ्यादर्शन और अनंतानुबंधी कषायका पोषण होता है। इसलिये जिज्ञासुओंको वस्तुस्थिति के इस नियमको समझना खास-विशेष आवश्यक है। इस नियमको समझकर असत् उपाय छोड़कर पहले मिथ्यादर्शन दूर करने के लिये सम्यग्दर्शन प्रगट करनेका पुरुषार्थ करना योग्य है।

३—मिथ्यात्वादि या जो बंधके कारण हैं वे जीव और अजीवके भेद से दो प्रकारके हैं। जो मिथ्यात्वादि परिणाम जीवमें होते हैं वे जीव हैं उसे भावबंध कहते हैं और जो मिथ्यात्वादि परिणाम पुद्गलमें होते हैं वे अजीव हैं, उसे द्रव्यबंध कहते हैं। (देखो समयसार गाथा ८७-८८)

४ बन्धके पाँच कारण कहे उनमें अंतरंग भावोंकी पहचान करना चाहिये

यदि जीव मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय और योगके भेदोंको बाह्यरूपसे जाने किन्तु अंतरंगमें इन भावोंकी किस्म (जाति) की पहचान न करे तो मिथ्यात्व दूर नहीं होता। अन्य कुदेवादिकके सेवनरूप गृहीत मिथ्यात्वको तो मिथ्यात्वरूपसे जाने किन्तु जो अनादि अगृहीत मिथ्यात्व है उसे न पहिचाने तथा बाह्य त्रस स्थावरकी हिंसाके तथा इन्द्रियमनके

विषयोमें प्रवृत्ति हो उसे अविरति समझे किंतु हिंसामे मूल जो प्रमाद परिणति है तथा विषय सेवनमे अभिलाषा मूल है उसे न देखे तो खोटी मिथ्या मान्यता दूर नही होती। यदि बाह्य क्रोध करने को कषाय समझे किन्तु अभिप्रायमें जो राग द्वेष रहता है वही मूल क्रोध है उसे न पहिचाने तो मिथ्या मान्यता दूर नही होती। जो बाह्य चेष्टा हो उसे योग समझे किंतु शक्तिभूत (आत्मप्रदेशोके परिस्पदनरूप) योगको न जाने तो मिथ्या मान्यता दूर नही होती। इसलिये उनके अन्तरग भावको पहिचानकर उस सबंधी अन्यथा मान्यता दूर करनी चाहिये। (मोक्षमार्ग प्रकाशक)

५. मिथ्यादर्शनका स्वरूप

(१) अनादिसे जीवके मिथ्यादर्शनरूप अवस्था है। समस्त दुःखोका मूल मिथ्यादर्शन है। जीवके जैसा श्रद्धान है वैसा पदार्थ स्वरूप न हो और जैसा पदार्थस्वरूप न हो वैसा ये माने, उसे मिथ्यादर्शन कहते हैं। जीव स्व को और शरीरको एक मानता है; किसी समय शरीर दुबला हो, किसी समय मोटा हो, किसी समय नष्ट हो जाय और किसी समय नवीन पैदा हो तब ये सब क्रियायें शरीराधीन होती हैं तथापि जीव उसे अपने आधीन मानकर खेदखिन्न होता है।

दृष्टात—जैसे किसी जगह एक पागल बैठा था। वहाँ अन्य स्थान से आकर मनुष्य, घोडा और धनादिक उतरे, उन सबको वह पागल अपना मानने लगा, किंतु, वे सभी अपने २ आधीन हैं, अतः इसमे कोई आवे, कोई जाय और कोई अनेक अवस्थारूपसे परिणमन करता है, इसप्रकार सबकी क्रिया अपने अपने आधीन है तथापि यह पागल उसे अपने आधीन मानकर खेदखिन्न होता है।

सिद्धान्त—उसीप्रकार यह जीव जहा शरीर धारण करता है वहां किसी अन्य स्थानसे आकर पुत्र, घोडा, धनादिक स्वयं प्राप्त होता है यह जीव उन सबको अपना जानता है, परन्तु ये सभी अपने २ आधीन होने से कोई आते कोई जाते और कोई अनेक अवस्थारूपसे परिणमते हैं, क्या यह उनके आधीन है ? ये जीवके आधीन नही हैं, तो भी यह जीव उसे अपने आधीन मानकर खेदखिन्न होता है।

(२) यह जीव स्वयं जिसप्रकार है उसीप्रकार अपने को नहीं मानता किन्तु जैसा नहीं है वैसा मानता है सो मिथ्यादर्शन है। जीव स्वयं अमूर्तिक प्रदेशोंका पुंज प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणोंका धारक अनादिनिधन वस्तुरूप है तथा शरीर मूर्तिक पुद्गल द्रव्योंका पिंड प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणोंसे रहित, नवीन ही जिसका संयोग हुआ है ऐसा यह शरीरादि पुद्गल जो कि स्व से पर है—इन दोनोंके संयोगरूप मनुष्य तिर्यंचादि अनेक प्रकार की अवस्थायें होती हैं इसमें यह मूढ़ जीव निजत्व धारण कर रहा है, स्व-पर का भेद नहीं कर सकता जिस पर्यायको प्राप्त हुआ है उसे ही निजरूपसे मानता है। इस पर्यायमें (१) जो ज्ञानादि गुण हैं वे तो निजके गुण हैं (२) जो रागादिकभाव होते हैं वे विकारीभाव हैं तथा (३) जो वर्णादिक हैं वे निजके गुण नहीं किन्तु शरीरादि पुद्गलके गुण हैं और (४) शरीरादिमें भी वर्णादिका तथा परमाणुओंका परिवर्तन अनेक २ रूपसे होता है, ये सब पुद्गलकी अवस्थायें हैं यह जीव इन सभी को निजस्वरूप और निजाधीन मानता है स्वभाव और परभावका विवेक नहीं करता पुनश्च स्व से प्रत्यक्ष भिन्न धन कुटुम्बादिकका संयोग होता है वे अपने अपने आधीन परिणमते हैं इस जीवके आधीन होकर नहीं परिणमते तथापि यह जीव उसमें ममत्व करता है कि ये सब मेरे हैं परन्तु ये किसी भी प्रकारसे इसके नहीं होते यह जीव मात्र अपनी भूलसे (मिथ्या मान्यतासे) उसे अपना मानते हैं।

(३) मनुष्यादि अवस्थामें किसी समय देव-गुरु-शास्त्र अथवा धर्म का जो अन्यथा कल्पित स्वरूप है उसकी तो प्रतीति करता है किन्तु उनका जो यथार्थ स्वरूप है उसका ज्ञान नहीं करता।

(४) जगत्की प्रत्येक वस्तु अर्थात् प्रत्येक द्रव्य अपने अपने आधीन परिणमते हैं किन्तु यह जीव ऐसा नहीं मानता और यों मानता है कि स्वयं उसे परिणमा सकता है अथवा किसी समय आंशिक परिणमन करा सकता है।

ऊपर कही गई सब मान्यता मिथ्यादृष्टिकी है। स्वका और पर द्रव्योंका जैसा स्वरूप नहीं है वैसा मानना तथा जैसा है वैसा न मानना[illegible]

विपरीत अभिप्राय होनेके कारण मिथ्यादर्शन है।

(५) जीव अनादिकालसे अनेक शरीर धारण करता है, पूर्वका छोडकर नवीन धारण करता है, वहाँ एक तो स्वय आत्मा (जीव) तथा अनत पुद्गल परमाणुमय शरीर–इन दोनोके एक पिंडबंधनरूप यह अवस्था होती है, उन सबमे यह ऐसी अहंबुद्धि करता है कि 'यह मैं हूँ।' जीव तो ज्ञानस्वरूप है और पुद्गल परमाणुओंका स्वभाव वर्ण-गंध-रस-स्पर्शादि है—इन सबको अपना स्वरूप मानकर ऐसी बुद्धि करता है कि 'ये मेरे हैं।' हलन चलन आदि क्रिया शरीर करता है उसे जीव ऐसा मानता है कि 'मैं करता हूँ।' अनादिसे इंद्रियज्ञान है—बाह्यकी ओर दृष्टि है इसीलिये स्वयं अमूर्तिक तो अपने को नही मालूम होता और मूर्तिक शरीर ही मालूम होता है, इसी कारण जीव अन्यको अपना स्वरूप जानकर उसमे अहबुद्धि धारण करता है। निजका स्वरूप निजको परसे भिन्न नही मालूम हुआ अर्थात् शरीर, ज्ञानादिगुण, क्रोधादिविकार तथा सगे सबंधियोका समुदाय इन सबमे स्वय अहबुद्धि धारण करता है, इससे और स्व के और शरीरके स्वतत्र निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध क्या है वह नही जाननेसे यथार्थ-रूपसे शरीरसे स्व की भिन्नता नही मालूम होती।

(६) स्व का स्वभाव तो ज्ञाता दृष्टा है तथापि स्वय केवल देखने-वाला तो नही रहता किंतु जिन २ पदार्थोंको देखता जानता है, उसमे इष्ट अनिष्टरूप मानता है, यह इष्टानिष्टरूप मानना सो मिथ्या है क्योंकि कोईभी पदार्थ इष्टानिष्टरूप नही है। यदि पदार्थोंमे इष्टअनिष्टपन हो तो जो पदार्थ इष्टरूप हो वह सभीको इष्टरूप ही हो तथा जो पदार्थ अनिष्टरूप हो वह सबको अनिष्टरूप ही हो, किंतु ऐसा तो नही होता। जीवमात्र स्वय कल्पना करके उसे इष्ट-अनिष्टरूप मानता है। यह मान्यता मिथ्या है–कल्पित है।

(७) जीव किसी पदार्थका सद्भाव तथा किसीके अभावको चाहता है किंतु उसका सद्भाव या अभाव जीवका किया हुआ नही होता **क्योंकि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यका या उसकी पर्यायका कर्त्ता है ही नहीं, किन्तु समस्त द्रव्य स्व से ही अपने अपने स्वरूपमें निरंतर परिणमते हैं।**

(२) यह जीव स्वयं जिसप्रकार है उसीप्रकार अपने को नहीं मानता किन्तु जैसा नहीं है वैसा मानता है सो मिथ्यादर्शन है। जीव स्वयं अमूर्तिक प्रदेशोंका पुंज प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणोंका धारक अनादिनिधन वस्तुरूप है तथा शरीर मूर्तिक पुद्गल द्रव्योंका पिंड प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणोंसे रहित, नवीन ही जिसका संयोग हुआ है ऐसा यह शरीरादि पुद्गल जो कि स्व से पर है—इन दोनोंके संयोगरूप मनुष्य तिर्यंचादि अनेक प्रकार की अवस्थायें होती हैं इसमें यह मूढ़ जीव निजत्व धारण कर रहा है स्व-पर का भेद नहीं कर सकता जिस पर्यायको प्राप्त हुआ है उसे ही निजरूपसे मानता है। इस पर्यायमें (१) जो ज्ञानादि गुण हैं वे तो निजके गुण हैं (२) जो रागादिकभाव होते हैं वे विकारीभाव हैं, तथा (३) जो वर्णादिक हैं वे निजके गुण नहीं किन्तु शरीरादि पुद्गलके गुण हैं और (४) शरीरादिमें भी वर्णादिका तथा परमाणुओंका परिवर्तन पृथक् २ रूपसे होता है ये सब पुद्गलकी अवस्थायें हैं यह जीव इन सभी को निजरूप और निजाधीन मानता है स्वभाव और परभावका विवेक नहीं करता पुनश्च स्व से प्रत्यक्ष भिन्न धन कुटुम्बादिकका संयोग होता है वे अपने अपने आधीन परिणमते हैं इस जीवके आधीन होकर नहीं परिणमते तथापि यह जीव उसमें ममत्व करता है कि ये सब मेरे हैं' परन्तु वे किसी भी प्रकारसे इसके नहीं होते यह जीव मात्र अपनी भ्रमसे (मिथ्या मान्यतासे) उन्हें अपना मानते हैं।

(३) मनुष्यादि अवस्थामें किसी समय देव-गुरु-शास्त्र अथवा धर्मका जो अन्यथा कल्पित स्वरूप है उसकी तो प्रतीति करता है किन्तु उनका जो यथार्थ स्वरूप है उसका ज्ञान नहीं करता।

(४) जगत्की प्रत्येक वस्तु अर्थात् प्रत्येक द्रव्य अपने अपने आधीन परिणमते हैं किन्तु यह जीव ऐसा नहीं मानता और यों मानता है कि स्वयं उसे परिणमा सकता है अथवा किसी समय आंशिक परिणमन करा सकता है।

ऊपर कही गई सब मान्यता मिथ्यादर्शनकी है। स्वका और पर द्रव्योंका जैसा स्वरूप नहीं है वैसा मानना तथा जैसा है वैसा न मानना सो

विपरीत अभिप्राय होनेके कारण मिथ्यादर्शन है।

(५) जीव अनादिकालसे अनेक शरीर धारण करता है, पूर्वका छोडकर नवीन धारण करता है, वहाँ एक तो स्वय आत्मा (जीव) तथा अनत पुद्गल परमाणुमय शरीर–इन दोनोके एक पिंडबधनरूप यह अवस्था होती है, उन सबमे यह ऐसी अहबुद्धि करता है कि 'यह मैं हूँ।' जीव तो ज्ञानस्वरूप है और पुद्गल परमाणुओका स्वभाव वर्ण-गध-रस-स्पर्शादि है—इन सबको अपना स्वरूप मानकर ऐसी बुद्धि करता है कि 'ये मेरे हैं।' हलन चलन आदि क्रिया शरीर करता है उसे जीव ऐसा मानता है कि 'मैं करता हूँ।' अनादिसे इद्रियज्ञान है—बाह्यकी ओर दृष्टि है इसीलिये स्वयं अमूर्तिक तो अपने को नही मालूम होता और मूर्तिक शरीर ही मालूम होता है, इसी कारण जीव अन्यको अपना स्वरूप जानकर उसमे अहबुद्धि धारण करता है। निजका स्वरूप निजको परसे भिन्न नही मालूम हुआ अर्थात् शरीर, ज्ञानादिगुण, क्रोधादिविकार तथा सगे सबधियोका समुदाय इन सबमे स्वय अहबुद्धि धारण करता है, इससे और स्व के और शरीरके स्वतत्र निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध क्या है वह नही जाननेसे यथार्थ-रूपसे शरीरसे स्व की भिन्नता नही मालूम होती।

(६) स्व का स्वभाव तो ज्ञाता दृष्टा है तथापि स्वय केवल देखने-वाला तो नही रहता किंतु जिन २ पदार्थोंको देखता जानता है, उसमे इष्ट अनिष्टरूप मानता है, यह इष्टानिष्टरूप मानना सो मिथ्या है क्योंकि कोईभी पदार्थ इष्टानिष्टरूप नही है। यदि पदार्थोंमे इष्टअनिष्टपन हो तो जो पदार्थ इष्टरूप हो वह सभीको इष्टरूप ही हो तथा जो पदार्थ अनिष्टरूप हो वह सबको अनिष्टरूप ही हो, किंतु ऐसा तो नही होता। जीवमात्र स्वयं कल्पना करके उसे इष्ट-अनिष्टरूप मानता है। यह मान्यता मिथ्या है–कल्पित है।

(७) जीव किसी पदार्थका सद्भाव तथा किसीके अभावको चाहता है किंतु उसका सद्भाव या अभाव जीवका किया हुआ नही होता क्योंकि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यका या उसकी पर्यायका कर्त्ता है ही नहीं, किन्तु समस्त द्रव्य स्व से ही अपने अपने स्वरूपमें निरंतर परिणमते हैं।

(८) मिथ्यादृष्टि जीव तो रागादि भावोंके द्वारा सर्व द्रव्योंको अन्य प्रकारसे परिणमाने की इच्छा करता है किन्तु ये सर्व द्रव्य जीवकी इच्छाके आधीन नहीं परिणमते। इसीलिये उसे आकुलता होती है। यदि जीवकी इच्छानुसार ही सब कार्य हों, अन्यथा न हों तो ही निराकुलता रहे, किन्तु ऐसा तो हो ही नहीं सकता। क्योंकि किसी द्रव्यका परिणमन किसी द्रव्यके आधीन नहीं है। इसलिये सम्यक् अभिप्राय द्वारा स्व-सन्मुख होनेसे ही जीवके रागादिभाव दूर होकर निराकुलता होती है—ऐसा न मानकर मिथ्या अभिप्रायवश यों मानता है कि मैं स्वयं परद्रव्यका कर्ता भोक्ता दाता, हर्ता, आदि हूँ और परद्रव्यसे अपने को लाभ-हानि होती है।

(९) मिथ्यादर्शनकी कुछ मान्यतायें

१—स्वपर एकत्वदर्शन २—परकी कर्तृत्वबुद्धि ३—पर्यायबुद्धि ४—व्यवहार विमूढ़, ५—अतत्त्व श्रद्धान ६—स्व स्वरूपकी भ्रांति ७—रागसे शुभभावसे आत्मलाभ हो ऐसी बुद्धि ८—बहिरदृष्टि, ९—विपरीत रुचि १०—जैसा वस्तु स्वरूप हो वैसा न मानना और जैसा न हो वैसा मानना ११—अविद्या १२—परसे लाभ हानि होती है ऐसी मान्यता १३—अनादि अनंत चैतन्यमात्र त्रिकाली आत्माको न मानना किन्तु विकार जितनो ही आत्मा मानना १४—विपरीत अभिप्राय १५—परसमय १६—पर्यायमूढ़ १७—ऐसी मान्यता कि जीव शरीरकी क्रिया कर सकता है १८—जीवको परद्रव्योंकी व्यवस्था करनेवाला तथा उसका कर्ता भोक्ता दाता हर्ता मानना १९—जीवको ही न मानना २०—निमित्ताधीन दृष्टि २१—ऐसी मान्यता कि पराश्रयसे लाभ होता है २२—शरीराश्रित क्रियासे लाभ होता है ऐसी मान्यता २३—सर्वज्ञकी वाणीमें जैसा आत्माका पूर्ण स्वरूप कहा है वैसे स्वरूपको न मानना २४—व्यवहारनय [illegible] आदरणीय होनेकी मान्यता २५—शुभाशुभभावका स्वामित्व २६—शुभ विकल्पसे आत्माको लाभ होता है ऐसी मान्यता २७—ऐसी मान्यता कि व्यवहार रत्नत्रय करते करते निश्चयरत्नत्रय प्रगट होता है २८—शुभ अशुभमें सदृशता न मानना अर्थात् ऐसा मानना कि शुभ अच्छा है और अशुभ खराब है २९—[illegible] मनुष्य और निर्बलके प्रति करुणा होना।

६. मिथ्यादर्शनके दो भेद

(१) मिथ्यात्वके दो भेद है—अगृहीत मिथ्यात्व और गृहीत मिथ्यात्व। अगृहीत मिथ्यात्व अनादिकालीन है। जो ऐसी मान्यता है कि जीव परद्रव्यका कुछ कर सकता है या शुभ विकल्पसे आत्माको लाभ होता है सो यह अनादिका अगृहीत मिथ्यात्व है। सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय पर्यायमे जन्म होनेके बाद परोपदेशके निमित्तसे जो अतत्त्व श्रद्धान करता है सो गृहीत मिथ्यात्व है अगृहीत मिथ्यात्वको निसर्गज मिथ्यात्व और गृहीत मिथ्यात्व को बाह्य प्राप्त मिथ्यात्व भी कहते है। जिसके गृहीत मिथ्यात्व हो उसके अगृहीत मिथ्यात्व तो होता ही है।

अगृहीत मिथ्यात्व—शुभ विकल्पसे आत्माको लाभ होता है ऐसी अनादिसे चली आई जो जीवकी मान्यता है सो मिथ्यात्व है, यह किसीके सिखानेसे नही हुआ इसलिये अगृहीत है।

गृहीत मिथ्यात्व—खोटे देव-शास्त्र-गुरुकी जो श्रद्धा है सो गृहीत मिथ्यात्व है।

(२) **प्रश्न**—जिस कुलमें जीव जन्मा हो उस कुलमे माने हुए देव, गुरु, शास्त्र सच्चे हो और यदि जीव लौकिकरूढ़ दृष्टिसे सच्चा मानता हो तो उसके गृहीत मिथ्यात्व दूर हुआ या नहीं ?

उत्तर—नही, उसके भी गृहीतमिथ्यात्व है क्योकि सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्रका स्वरूप क्या है तथा कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्रमें क्या दोष हैं इसका सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करके सभी पहलुओंसे उसके गुण (Merits) और दोष (demerits) यथार्थ निर्णय न किया हो वहाँ तक जीवके गृहीत मिथ्यात्व है और यह सर्वज्ञ वीतरागदेवका सच्चा अनुयायी नही है।

(३) **प्रश्न**—इस जीवने पहले कई बार गृहीत मिथ्यात्व छोडा होगा या नही ?

उत्तर—हाँ, जीवने पहले अनन्तबार गृहीत मिथ्यात्व छोडा और

द्रव्यलिंगी मुनि हो निरतिचार महाव्रत पाले परन्तु अगृहीत मिथ्यात्व नहीं छोड़ा इसीलिये संसार बना रहा और फिर गृहीत मिथ्यात्व स्वीकार किया। निर्ग्रंथदशापूर्वक पंच महाव्रत तथा अट्ठाईस मूल गुणादिकका जो शुभविकल्प है सो द्रव्यलिंग है गृहीत मिथ्यात्व छोड़े बिना जीव द्रव्यलिंगी नहीं हो सकता और द्रव्यलिंगके बिना निरतिचार महाव्रत नहीं हो सकते। वीतराग भगवानने द्रव्यलिंगीके निरतिचार महाव्रतको भी आस्रव और असंयम कहा है क्योंकि उसने अगृहीत मिथ्यात्व नहीं छोड़ा।

७—गृहीतमिथ्यात्वके भेद

गृहीतमिथ्यात्वके पांच भेद हैं—(१) एकान्तमिथ्यात्व (२) संशयमिथ्यात्व (३) विनयमिथ्यात्व (४) अज्ञानमिथ्यात्व, और (५) विपरीत मिथ्यात्व। इन प्रत्येककी व्याख्या निम्न प्रकार है:—

(१) एकान्त मिथ्यात्व—आत्मा परमाणु आदि सब पदार्थोंका स्वरूप अपने अपने अनेकान्तमय (अनेक धर्मवाला) होने पर भी उसे सर्वथा एक ही धर्मवाला मानना सो एकान्त मिथ्यात्व है। जैसे—जीवको सर्वथा क्षणिक अथवा नित्य ही मानना गुण गुणीका सर्वथा भेद या अभेद ही मानना सो एकान्त मिथ्यात्व है।

(२) संशय मिथ्यात्व—'धर्मका स्वरूप यों है या यों है' ऐसे परस्पर विरुद्ध दो रूपका श्रद्धान—जैसे—आत्मा अपने कार्यका कर्ता होता होगा या परवस्तुके कार्यका कर्ता होता होगा? निमित्त और व्यवहारके आलम्बनसे धर्म होगा या अपना शुद्धात्माके आलम्बनसे धर्म होगा? इत्यादिरूपसे संशय रहना सो संशय मिथ्यात्व है।

(३) विपरीत मिथ्यात्व—आत्माके स्वरूपको अन्यथा माननेकी रुचिको विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं जैसे—सग्रन्थको निर्ग्रंथ मानना मिथ्यादृष्टि साधुको सच्चे गुरु मानना केवलीके स्वरूपको विपरीतरूपसे मानना इत्यादि रूपसे जो विपरीत रुचि है सो विपरीत मिथ्यात्व है।

(४) अज्ञान मिथ्यात्व—जहाँ हित-अहितका कुछ भी विवेक

न हो या कुछ भी परीक्षा किये विना–धर्म की श्रद्धा करना सो अज्ञान मिथ्यात्व है। जैसे–पशुवधमे अथवा पाप मे धर्म मानना सो अज्ञान मिथ्यात्व है।

(५) विनय मिथ्यात्व—समस्त देवको तथा समस्त धर्ममतोंको समान मानना सो विनय मिथ्यात्व है।

८—गृहीतमिथ्यात्वके ५ भेदोंका विशेष स्पष्टीकरण

(१) एकांत मिथ्यात्व—आत्मा, परमाणु आदि सर्व पदार्थका स्वरूप अपने-अपने अनेक धर्मोंसे परिपूर्ण है ऐसा नही मानकर वस्तुको सर्वथा अस्तिरूप, सर्वथा नास्तिरूप, सर्वथा एकरूप, सर्वथा अनेकरूप, सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य, गुण पर्यायोसे सर्वथा अभिन्न, गुण पर्यायोसे सर्वथा भिन्न इत्यादि रूपसे मानना सो एकात मिथ्यात्व है, पुनश्च काल ही सब करता है, काल ही सबका नाश करता है, काल ही फल फूल आदि उत्पन्न करता है, काल ही सयोग वियोग करता है, काल ही धर्मको प्राप्त कराता है, इत्यादि मान्यता मिथ्या है, यह एकात मिथ्या है।

निरन्तर प्रत्येक वस्तु स्वय अपने कारणसे अपनी पर्यायको धारण करती है, यही उस वस्तुका स्वकाल है और उस समय वर्तनेवाली जो कालद्रव्यकी पर्याय (समय) है सो निमित्त है, ऐसा समझना सो यथार्थ समझ है और इसके द्वारा एकात मिथ्यात्वका नाश होता है।

कोई कहता है कि–आत्मा तो अज्ञानी है, आत्मा अनाथ है, आत्मा के सुख-दुःख, जीवन-मरण, लाभ–अलाभ, ज्ञानित्व, पापीपन, धर्मित्व, स्वर्गगमन, नरकगमन इत्यादि सब ईश्वर करता है, ईश्वर ससार का कर्त्ता है, हर्ता भी ईश्वर है, ईश्वरसे ही संसारकी उत्पत्ति स्थिति और प्रलय होती है, इत्यादि प्रकारसे ईश्वर कर्तृत्वकी कल्पना करता है सो मिथ्या है। ईश्वरत्व तो आत्मा की सम्पूर्ण शुद्ध (सिद्ध) दशा है। आत्मा निज स्वभावसे ज्ञानी है किन्तु अनादिसे अपने स्वरूपकी विपरीत मान्यताके कारण स्वय अपनी पर्यायमें अज्ञानीपन, दुःख, जीवन, मरण, लाभ, अलाभ, पापीपन आदि प्राप्त करता है, और जब स्वयं अपने स्वरूपकी विपरीत मान्यता

दूर करे तब स्वयं ही ज्ञानी, धर्मी होता है, ईश्वर (सिद्ध) तो उसका ज्ञाता दृष्टा है।

(२) विपरीत मिथ्यात्व—१ आत्माका स्वरूपको तथा देव-गुरु धर्मके स्वरूपको अन्यथा माननेकी रुचिको विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं। जैसे–१ शरीरको आत्मा मानना सर्वज्ञ वीतराग भगवानको ग्रासाहार, रोग उपसर्ग वस्त्र पात्र पाटादि सहित और क्रमिक उपयोग सहित मानना, अर्थात् रोटी आदि खानेवाला, पानी आदि पीनेवाला, बीमार होना, दवाई लेना निहारका होना इत्यादि दोष सहित जीवको परमात्मा अर्हंत देव केवलज्ञानी मानना। २ वस्त्र पात्रादि सहितको निर्ग्रन्थ गुरु मानना, स्त्री का शरीर होनेपर भी उसे मुनिदशा और उसी भवसे मोक्ष मानना, सती स्त्री को पांच पतिवाली मानना। ३–गृहस्थदशामें केवलज्ञानकी उत्पत्ति मानना। ४–सर्वज्ञ-वीतराग दशा प्रगट होनेपर भी वह छद्मस्थगुरुकी वैयावृत्य करे ऐसा मानना ५ छट्ठे गुणस्थानके ऊपर भी वन्दवंदक भाव होता है और केवली भगवान को छद्मस्थ गुरुके प्रति चतुर्विध संघ अर्थात् तीर्थके प्रति या अन्य केवलीके प्रति वन्द्यवंदकभाव मानना ६ मुनिदशामें वस्त्रोंको परिग्रहके रूपमें न मानना अर्थात् वस्त्र सहित होनेपर भी मुनिपद और अपरिग्रहित्व मानना ७ वस्त्रके द्वारा संयम और चारित्रका प्रगट्य साधन हो सकता है ऐसी जो मान्यताएँ हैं सो विपरीत मिथ्यात्व है।

८ सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेसे पहले और बादमें छट्ठे गुणस्थान तक जो शुभभाव होता है उस शुभभावमें भिन्न-भिन्न समयमें भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके भिन्न २ पदार्थ निमित्त होते हैं क्योंकि जो शुभभाव है सो विकार है और वह परालंबनसे होता है। कितने ही जीवोंके शुभरागके समय वीतरागदेवकी तदाकार प्रतिमाके दर्शन पूजनादि निमित्तरूपसे होते हैं। वीतरागी प्रतिमाका जो दर्शन पूजन है सो भी राग है परन्तु किसी भी जीवके शुभरागके समय वीतरागी प्रतिमाके दर्शन पूजनादिका निमित्त ही न हो ऐसा मानना सो शुभभावके स्वरूपकी विपरीत मान्यता होनेसे विपरीत मिथ्यात्व है।

६—वीतरागदेवकी प्रतिमाके दर्शन-पूजनादिके शुभरागको धर्मानुराग कहते हैं, परन्तु वह धर्म नही है, धर्म तो निरावलम्बी है, जब देव-शास्त्र-गुरुके अवलम्बनसे छूटकर शुद्ध श्रद्धा द्वारा स्वभावका आश्रय करता है तब धर्म प्रगट होता है। यदि उस शुभरागको धर्म माने तो उस शुभ भावके स्वरूपकी विपरीत मान्यता होनेमे विपरीत मिथ्यात्व है।

छट्ठे अध्यायके १३ वें सूत्रकी टीकामे अवर्णवादके स्वरूपका वर्णन किया है उसका समावेश विपरीत मिथ्यात्वमें होता है।

(३) संशय मिथ्यात्व—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रको मोक्षमार्ग कहा है, यही सच्चा मोक्षमार्ग होगा या अन्य समस्त मतोमे भिन्न २ मार्ग बतलाया है, वह सच्चा मार्ग होगा? उनके वचनमे परस्पर विरुद्धता है और कोई प्रत्यक्ष जाननेवाला सर्वज्ञ नही है, परस्पर एक दूसरेके शास्त्र नही मिलते, इसीलिये कोई निश्चय (-निर्णय) नही हो सकता,—इत्यादि प्रकारका जो अभिप्राय है सो संशय मिथ्यात्व है।

(४) विनय मिथ्यात्व—१—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप-संयम ध्यानादिके विना मात्र गुरु पूजनादिक विनयसे ही मुक्ति होगी ऐसा मानना सो विनयमिथ्यात्व है, २—सर्व देव, सर्व शास्त्र, समस्त मत तथा समस्त भेष धारण करनेवालोको समान मानकर उन सभोका विनय करना सो विनय मिथ्यात्व है और ३—ऐसा मानना कि विनय मात्रसे ही अपना कल्याण हो जायगा सो विनय मिथ्यात्व है। ४—ससारमे जितने देव पूजे जाते हैं और जितने शास्त्र या दर्शन प्रचलित हैं वे सब सुखदाई हैं, उनमे भेद नही है, उन सबसे मुक्ति (अर्थात् आत्मकल्याणकी प्राप्ति) हो सकती है ऐसी जो मान्यता है सो विनय मिथ्यात्व है और इस मान्यतावाला जीव वैनयिक मिथ्यादृष्टि है।

गुण ग्रहणकी अपेक्षासे अनेक धर्ममें प्रवृत्ति करना अर्थात् सत्-असत्का विवेक किये विना सच्चे तथा खोटे सभी धर्मोंको समान रूपसे जानकर उनके सेवन करनेमे अज्ञानकी मुख्यता नही है किन्तु विनयके अतिरेककी मुख्यता है इसीलिये उसे विनय मिथ्यात्व कहते हैं।

दूर करे तब स्वयं ही ज्ञानी, धर्मी होता है, ईश्वर (सिद्ध) तो उसका ज्ञाता रहता है।

(२) विपरीत मिथ्यात्व—१ आत्माका स्वरूपकी तथा देव-गुरु धर्मके स्वरूपकी अन्यथा माननेकी रुचिको विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं। जैसे—१ शरीरका आत्मा मानना सवज्ञ वीतराग भगवानको ग्रासाहार, रोग उपसर्ग, वस्त्र, पात्र, पाटादि सहित और क्रमिक उपयोग सहित मानना, अर्थात् रोटी आदि खानेवाला, पानी आदि पीनेवाला बीमार होना, दवाई लेना निहारका होना इत्यादि दोष सहित जीवको परमात्मा अर्हंत देव केवलज्ञानी मानना। २ वस्त्र पात्रादि सहितको निर्ग्रन्थ गुरु मानना, स्त्री का शरीर होनेपर भी उसे मुनिदशा और उसी भवसे मोक्ष मानना, सती स्त्री को पांच पतिवाली मानना। ३—गृहस्थदशामें केवलज्ञानकी उत्पत्ति मानना। ४—सर्वज्ञ-वीतराग दशा प्रगट होनेपर भी वह छद्मस्थगुरुकी वैयावृत्य करे ऐसा मानना, ५ छट्ठे गुणस्थानके ऊपर भी वंधवदक भाव होता है और केवली भगवान को छद्मस्थ गुरुके प्रति चतुर्विध संघ अर्थात् तीर्थके प्रति या अन्य केवलीके प्रति वंधवधकभाव मानना ६ मुनिदशामें वस्त्रोंको परिग्रहके रूपमें न मानना अर्थात् वस्त्र सहित होनेपर भी मुनिपद और अपरिग्रहित्व मानना ७ वस्त्रके द्वारा संयम और चारित्रका अच्छा साधन हो सकता है ऐसी जो मान्यताएँ हैं सो विपरीत मिथ्यात्व है।

८ सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेसे पहले और बादमें छट्ठे गुणस्थान तक जो शुभभाव होता है उस शुभभावमें भिन्न-भिन्न समयमें भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके भिन्न २ पदार्थ निमित्त होते हैं क्योंकि जो शुभभाव है सो विकार है और वह परालंबनसे होता है। कितने ही जीवोंके शुभरागके समय वीतरागदेवकी तदाकार प्रतिमाके दर्शन पूजनादि निमित्तरूपसे होते हैं। वीतरागी प्रतिमाका जो दर्शन पूजन है सो भी राग है परन्तु किसी भी जीवके शुभरागके समय वीतरागी प्रतिमाके दर्शन पूजनादिका निमित्त ही न हो ऐसा मानना सो शुभभावके स्वरूपकी विपरीत मान्यता होनेसे विपरीत मिथ्यात्व है।

ही अविरतिका पूर्ण अभाव हो जाय और यथार्थ महाव्रत तथा मुनिदशा प्रगट करे ऐसे जीव तो अल्प और विरले ही होते हैं।

११. प्रमादका स्वरूप

उत्तम क्षमादि दश धर्मोंमें उत्साह न रखना, इसे सर्वज्ञ देवने प्रमाद कहा है। जिसके मिथ्यात्व और अविरति हो उसके प्रमाद तो होता ही है। परन्तु मिथ्यात्व और अविरति दूर होनेके बाद प्रमाद तत्क्षण ही दूर होजाय ऐसा नियम नही है, इसीलिये सूत्रमे अविरतिके बाद प्रमाद कहा है, यह अविरतिसे भिन्न है। सम्यग्दर्शन प्रगट होते ही प्रमाद दूर करके अप्रमत्तदशा प्रगट करनेवाला जीव कोई विरला ही होता है।

१२. कषायका स्वरूप

कषायके २५ भेद हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, इन प्रत्येकके अनंतानुबंधी आदि चार भेद, इस तरह १६ तथा हास्यादिक ९ नोकषाय, ये सब कषाय हैं और इन सबमे आत्महिंसा करनेकी सामर्थ्य है। मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद ये तीन अथवा अविरति और प्रमाद ये दो अथवा जहा प्रमाद हो वहा कषाय तो अवश्य ही होती है, किन्तु ये तीनो दूर हो जाने पर भी कषाय हो सकती है।

१३. योग का स्वरूप

योगका स्वरूप छट्ठे अध्यायके पहले सूत्रकी टीकामे आगया है। (देखो पृष्ठ ५०२) मिथ्यादृष्टिसे लेकर तेरहवें गुणस्थान पर्यंत योग रहता है। ११–१२ और १३ वें गुणस्थानमें मिथ्यात्वादि चारका अभाव हो जाता है तथापि योगका सद्भाव रहता है।

केवलज्ञानी गमनादि क्रिया रहित हुए हो तो भी उनके अधिक योग है और दो इन्द्रियादि जीव गमनादि क्रिया करते हैं तो भी उनके अल्प योग होता है, इससे सिद्ध होता है कि योग यह बन्धका गौण कारण है, यह तो प्रकृति और प्रदेशबन्धका कारण है। बन्धका मुख्य कारण तो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय है और इन चारमें भी सर्वोत्कृष्ट कारण तो मिथ्यात्व ही है मिथ्यात्वको दूर किये विना अविरति आदि

(५) अज्ञान मिथ्यात्व—१—स्वर्ग, नरक और मुक्ति किसने देखी ? २–स्वर्गके समाचार किसके आये ? सभी धर्म शास्त्र झूठे हैं कोई यथार्थ ज्ञान बतला ही नहीं सकता, ३–पुण्य-पाप कहाँ लगते हैं अथवा पुण्य–पाप कुछ हैं ही नहीं, ४–परलोकको किसने जाना ? क्या किसीके परलोकके समाचार-पत्र या तार आये ?, ५–स्वग नरक आदि सब कथन मात्र है स्वग-नरक तो यहीं है यहाँ सुख भोगना सो स्वर्ग है और दुःख भोगना है सो नरक है ६–हिंसा को पाप कहा है और दयाको पुण्य कहा है सो यह कथममात्र है कोई स्थान हिंसा रहित नहीं है सबमें हिंसा है कहीं पैर रखनेको स्थान नहीं जमीन पवित्र है यह पर रखने देती है ७–ऐसा विचार भी निरर्थक है कि यह भक्ष्य और यह अभक्ष्य है एकेन्द्रिय वृक्ष तथा अन्न इत्यादि खानेमें और मांस भक्षण करनेमें अन्तर नहीं है इन दोनोंमें जीवहिंसा समान है ८–भगवानने जीवको जीवका ही आहार बताया है अथवा जगत की सभी वस्तुऐं खाने भोगने के लिये ही हैं सांप-बिच्छू शेर अम्पर सिंही मच्छर-खटमल आदिक मार डालना चाहिये। इत्यादि यह सभी अभिप्राय अज्ञान मिथ्यात्व है।

९ ऊपर कहे गये अनुसार मिथ्यात्वका स्वरूप जानकर सब जीवों को गृहीत तथा अगृहीत मिथ्यात्व छोड़ना चाहिये। सब प्रकारके बंधका मूल कारण मिथ्यात्व है। मिथ्यात्वको नष्ट किये बिना–दूर किये बिना अन्य बंधके कारण (अविरति आदि) कभी दूर नहीं होते इसलिये सबसे पहले मिथ्यात्व दूर करना चाहिये।

१० अविरति का स्वरूप

पाँच इन्द्रिय और मनके विषय एवं पाँच स्थावर और एक त्रसकी हिंसा इन बारह प्रकारके त्यागरूप भाव न होना सो बारह प्रकारकी अविरति है।

जिसके मिथ्यात्व होता है उसके अविरति तो होती ही है परन्तु मिथ्यात्व छूट जानेपरभी वह कितनेक समय तक रहती है। अविरतिको असंयम भी कहते हैं। सम्यग्दर्शनप्रगट होनेके बाद देशचारित्रके बलकेद्वारा एकदेशविरति होती है उसे अणुव्रत कहते हैं। मिथ्यात्व छूटनेके बाद तुरंत

अर्थ—[जीवः सकषायत्वात्] जीव कषाय सहित होनेसे [कर्मणः योग्यपुद्गलान्] कर्मके योग्य पुद्गल परमाणुओंको [आदत्ते] ग्रहण करता है [स बन्धः] वह बन्ध है।

टीका

१—समस्त लोकमे कार्माण वर्गणारूप पुद्गल भरे हैं। जब जीव कषाय करता है तब उस कषायका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणा स्वयं कर्मरूपसे परिणमती है और जीवके साथ संबंध प्राप्त करती है, इसे बन्ध कहा जाता है। यहाँ जीव और पुद्गलके एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्धको बन्ध कहा है। बन्ध होनेसे जीव और कर्म एक पदार्थ नहीं हो जाते, तथा वे दोनो एकत्रित होकर कोई कार्य नही करते अर्थात् जीव और कर्म ये दोनो मिलकर पुद्गल कर्ममें विकार नही करते। कर्मोंका उदय जीवमें विकार नही करता, जीव कर्मोंमे विकार नही करता, किन्तु दोनों स्वतत्ररूपसे अपनी अपनी पर्यायके कर्ता हैं। जब जीव अपनी विकारी अवस्था करता है तब पुराने कर्मोंके विपाकको 'उदय' कहा जाता है और यदि जीव विकारी अवस्था न करे तो उसके मोहकर्मकी निर्जरा हुई—ऐसा कहा जाता है। परके आश्रय किये विना जीवमे विकार नही होता, जीव जब पराश्रय द्वारा अपनी अवस्थामे विकार भाव करता है तब उस भावके अनुसार नवीन कर्म बँधते हैं—ऐसा जीव और पुद्गलका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, ऐसा यह सूत्र बतलाता है।

२—जीव और पुद्गलका जो निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है वह त्रिकाली द्रव्यमे नही है किन्तु सिर्फ एक समयकी उत्पादरूप पर्यायमे है अर्थात् एक समयकी अवस्था जितना है। जीवमें कभी दो समयका विकार एकत्रित नही होता इसीलिये कर्मके साथ इसका सम्बन्ध भी दो समयका नही।

प्रश्न—यदि यह सम्बन्ध एक ही समय मात्रका है तो जीवके साथ लम्बी स्थितिवाले कर्मका सम्बन्ध क्यों बताया है?

उत्तर—वहाँ भी यह बतलाया है कि सम्बन्ध तो वर्तमान एक समयमात्र ही है, परन्तु जीव यदि विभावके प्रति ही पुरुषार्थ चालू रखेगा

बन्धके कारण दूर ही नहीं होते—यह अबाधित सिद्धान्त है।

१४ किस गुणस्थानमें क्या बन्ध होता है ?

मिथ्यादृष्टि (गुणस्थान १) के पाँचों बन्ध होते हैं, सासादन सम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि (गुणस्थान २-३-४) के मिथ्यात्वके सिवाय अविरति आदि चार बन्ध होते हैं देश संयमी (गुणस्थान ५) के आंशिक अविरति तथा प्रमादादि तीनों बन्ध होते हैं, प्रमत्त संयमी (गुणस्थान ६) के मिथ्यात्व और अविरतिके अलावा प्रमादादि तीन बन्ध होते हैं। अप्रमत्तसंयमीके (७ से १० वें गुणस्थान तकके) कषाय और योग ये दो ही बन्ध होते हैं। ११-१२ और १३ वें गुणस्थानमें सिर्फ एक योगका ही सद्भाव है और चौदहवें गुणस्थानमें किसी प्रकारका बन्ध नहीं है यह अबन्ध है और यहाँ सम्पूर्ण संवर है।

१५ महापाप

प्रश्न—जीवके सबसे बड़ा पाप कौन है ?

उत्तर—एक मिथ्यात्व ही है। जहाँ मिथ्यात्व है वहाँ अन्य सब पापोंका सद्भाव है। मिथ्यात्वके समान दूसरा कोई पाप नहीं।

१६ इस सूत्रका सिद्धान्त

आत्मस्वरूपकी पहिचानके द्वारा मिथ्यात्वके दूर होनेसे उसके साथ अनंतानुबंधी कषायका तथा ४१ प्रकृतियोंके बंधका अभाव होता है तथा बाकीके कर्मोंकी स्थिति अंत: कोड़ाकोड़ी सागरकी रह जाती है और जीव थोड़े ही कालमें मोक्षपदको प्राप्त कर लेता है। संसारका मूल मिथ्यात्व है और मिथ्यात्वका अभाव किये बिना अन्य अनेक उपाय करनेपर भी मोक्ष या मोक्षमार्ग नहीं होता। इसलिये सबसे पहले यथार्थ उपायोंके द्वारा सर्व प्रकारसे उद्यम करके इस मिथ्यात्वका सर्वथा नाश करना योग्य है ॥१॥

बन्धका स्वरूप

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बंधः ॥ २ ॥

से विकार करे तो होता है और न करे तो नही होता। जैसे अधिक समयसे गरम किया हुआ पानी क्षणमे ठण्डा हो जाता है उसीप्रकार अनादिसे विकार (-अशुद्धता) करता आया तो भी वह योग्यता एक ही समय मात्रकी होनेसे शुद्ध स्वभावके आलम्बनके बल द्वारा वह दूर हो सकता है। रागादि विकार दूर होनेसे कर्मके साथका सम्बन्ध भी दूर हो जाता है।

७-प्रश्न—आत्मा तो अमूर्तिक है, हाथ, पैरसे रहित है और कर्म तो मूर्तिक है तो वह कर्मोको किस तरह ग्रहण करता है ?

उत्तर— वास्तवमे एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको ग्रहण नही कर सकता, इसीलिये यहाँ ऐसा समझना कि जो 'ग्रहण' करना बतलाया है वह मात्र उपचारसे कहा है। जीवके अनादिसे कर्म पुद्गलके साथ सम्बन्ध है और जीवके विकारका निमित्त पाकर प्रति समय पुराने कर्मोंके साथ नवीन कर्म स्कन्धरूप होता है—इतना सम्बन्ध बतानेके लिये यह उपचार किया है; वास्तवमे जीवके साथ कर्मपुद्गल नही बँधते किन्तु पुराने कर्म पुद्गलोके साथ नवीन कर्म पुद्गलोका बन्ध होता है, परन्तु जीवमे विकारकी योग्यता है और उस विकारका निमित्त पाकर नवीन कर्मपुद्गल स्वय स्वत. बँधते हैं इसलिए उपचारसे जीवके कर्म पुद्गलोका ग्रहण कहा है।

८—जगतमें अनेक प्रकारके बन्ध होते हैं, जैसे गुणगुणीका बन्ध इत्यादि। इन सब प्रकारके बधसे यह बध भिन्न है, ऐसा बतानेके लिये इस सूत्रमे बधसे पहले 'सः' शब्दका प्रयोग किया है।

'स.' शब्दसे यह बतलाया है कि जीव और पुद्गलके गुणगुणी संबंध या कर्त्ताकर्म सम्बन्ध नही है, इसीलिये यहाँ उनका एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध अथवा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध समझना। कर्मका बन्ध जीवके समस्त प्रदेशोंसे होता है और बन्धमें अनन्तानन्त परमाणु होते हैं।

(अ० ८-सू० २४)

९—यहाँ बन्ध शब्दका अर्थ व्याकरणकी दृष्टिसे नीचे बतलाये हुये चार प्रकारसे समझना.—

(१) आत्मा बँधा सो बध, यह कर्मसाधन है।

और यदि सम्यग्दर्शनादिरूप सत्य पुरुषार्थ न करे तो उसका कर्मके साथ कहाँ तक सम्बन्ध रहेगा।

३—इस सूत्रमें सकषायत्वात् शब्द है वह जीव और कर्म दोनोंको (अर्थात् कषायरूपभाव और कषायरूपकर्म इन दोनोंको) लागू हो सकता है, और ऐसा होनेपर उनमेंसे निम्न मुद्दे निकलते हैं।

(१) जीव अनादिसे अपनी प्रगट अवस्थामें कभी शुद्ध नहीं हुआ किन्तु कषायसहित ही है और इसीलिये जीवकर्मका सम्बन्ध अनादिकालीन है।

(२) कषायभाववाला जीव कर्मके निमित्तसे नवीन बंध करता है।

(३) कषाय कर्मको मोहकर्म कहते हैं, आठ कर्मोंमेंसे यह एक ही कर्मबन्धका निमित्त होता है।

(४) पहले सूत्रमें जो बंधके पाँच कारण बताये हैं उनमेंसे पहले चारका यहाँ कहे हुये कषाय शब्दमें समावेश हो जाता है।

(५) यहाँ जीवके साथ कर्मका बन्ध होना कहा है वह कर्म पुद्गल है ऐसा बतानेके लिये सूत्रमें पुद्गल शब्द कहा है। इसीसे कितनेक जीवोंकी जो ऐसी मान्यता है कि कर्म आत्माका अदृष्ट गुण है वह दूर हो जाती है।

४—सकषायत्वात्—यहाँ पाँचवीं विभक्ति लगानेका ऐसा हेतु है कि जीव जैसी तीव्र मध्यम या मन्द कषाय करे उसके अनुसार कर्मोंमें स्वयं स्थिति और अनुभागबन्ध होता है ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है।

५—जीवकी सकषाय अवस्थामें द्रव्य कर्म निमित्त है। यह ध्यान रहे कि प्रस्तुत कर्मका उदय हो इसलिये जीवको कषाय करना ही पड़े ऐसा नहीं है। यदि कर्म उपस्थित है तथापि स्वयं यदि जीव स्वाश्रयमें स्थिर रह कर कषायरूपसे न परिणमे तो उन कर्मोंको बन्धका निमित्त नहीं कहलाता परन्तु उन कर्मोंकी निर्जरा हुई ऐसा कहा जाता है।

६—जीवके कर्मके साथ जो संयोग सम्बन्ध है वह प्रवाह अनादिसे चला आता है किन्तु वह एक ही समय मात्रका है। प्रत्येक समय अपनी योग्यतासे जीव नये नये विकार करता है इसीलिये वह सम्बन्ध चालू रहता है। किन्तु जड़कर्म जीवको विकार नहीं कराते। यदि जीव अपनी योग्यता

से विकार करे तो होता है और न करे तो नहीं होता। जैसे अधिक समयसे गरम किया हुआ पानी क्षणमे ठण्डा हो जाता है उसीप्रकार अनादिसे विकार (-अशुद्धता) करता आया तो भी वह योग्यता एक ही समय मात्रकी होनेसे शुद्ध स्वभावके आलम्बनके बल द्वारा वह दूर हो सकता है। रागादि विकार दूर होनेसे कर्मके साथका सम्बन्ध भी दूर हो जाता है।

७-प्रश्न—आत्मा तो अमूर्तिक है, हाथ, पैरसे रहित है और कर्म तो मूर्तिक है तो वह कर्मोंको किस तरह ग्रहण करता है ?

उत्तर— वास्तवमे एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको ग्रहण नही कर सकता; इसीलिये यहाँ ऐसा समझना कि जो 'ग्रहण' करना बतलाया है वह मात्र उपचारसे कहा है। जीवके अनादिसे कर्म पुद्‌गलके साथ सम्बन्ध है और जीवके विकारका निमित्त पाकर प्रति समय पुराने कर्मोंके साथ नवीन कर्म स्कन्धरूप होता है—इतना सम्बन्ध बतानेके लिये यह उपचार किया है; वास्तवमे जीवके साथ कर्मपुद्गल नही बँधते किन्तु पुराने कर्म पुद्गलोंके साथ नवीन कर्म पुद्गलोका बन्ध होता है, परन्तु जीवमे विकारकी योग्यता है और उस विकारका निमित्त पाकर नवीन कर्मपुद्‌गल स्वय स्वत. बँधते हैं इसलिए उपचारसे जीवके कर्म पुद्‌गलोका ग्रहण कहा है।

८—जगतमे अनेक प्रकारके बन्ध होते हैं, जैसे गुणगुणीका बन्ध इत्यादि। इन सब प्रकारके बधसे यह बध भिन्न है, ऐसा बतानेके लिये इस सूत्रमें बधसे पहले 'सः' शब्दका प्रयोग किया है।

'स.' शब्दसे यह बतलाया है कि जीव और पुद्गलके गुणगुणी सबंध या कर्त्ताकर्म सम्बन्ध नही है, इसीलिये यहाँ उनका एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध अथवा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध समझना। कर्मका बन्ध जीवके समस्त प्रदेशोंसे होता है और बन्धमे अनन्तानन्त परमाणु होते हैं।

(अ० ८-सू० २४)

९—यहाँ बन्ध शब्दका अर्थ व्याकरणकी दृष्टिसे नीचे बतलाये हुये चार प्रकारसे समझना —

(१) आत्मा बँधा सो बंध, यह कर्मसाधन है।

(२) आत्मा स्वयं ही बंधरूप परिणमती है, इसीलिये बंधको कर्त्ता कहा जाता है, यह कर्तृसाधन है।

(३) पहले बंधकी अपेक्षासे आत्मा बन्धके द्वारा नवीन बंध करता है इसीलिये बन्ध करणसाधन है।

(४) बंधनरूप जो क्रिया है सो ही भाव है, ऐसी क्रियारूप भी बंध है यह भावसाधन है ॥२॥

बन्धके भेद

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः ॥३॥

अर्थ—[तत्] उस बन्धके [प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशाः] प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध [विधयः] ये चार भेद हैं।

टीका

१ प्रकृतिबंध—कर्मोंके स्वभावको प्रकृतिबंध कहते हैं।

स्थितिबंध—ज्ञानावरणादि कर्म अपने स्वभावरूपसे जितने समय रहें सो स्थितिबंध है।

अनुभागबंध—ज्ञानावरणादि कर्मोंके रसविशेषको अनुभागबन्ध कहते हैं।

प्रदेश बंध—ज्ञानावरणादि कर्मरूपसे होनेवाले पुद्गलस्कंधोंके परमाणुओंकी जो संख्या है सो प्रदेशबंध है। बंधके उपरोक्त चार प्रकारोंमें प्रकृतिबंध और प्रदेशबंधमें योग निमित्त है और स्थितिबंध तथा अनुभाग बंधमें कषाय निमित्त है।

२—यहाँ जो बन्धके भेद वर्णन किये हैं वे पुद्गल कर्मबन्धके हैं अब उन प्रत्येक प्रकारके भेद-उपभेद अनुक्रमसे कहते हैं ॥३॥

प्रकृतिबंधके मूल भेद

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नाम-
गोत्रान्तरायाः ॥४॥

अर्थ—[आद्यो] पहला अर्थात् प्रकृतिबन्ध [ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः] ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, और अन्तराय इन आठ प्रकारका है।

टीका

१–ज्ञानावरण—जब आत्मा स्वय अपने ज्ञानभावका घात करता है अर्थात् ज्ञान शक्तिको व्यक्त नहीं करता तब आत्माके ज्ञान गुणके घातमे जिस कर्मका उदय निमित्त हो उसे ज्ञानावरण कहते हैं।

दर्शनावरण—जब आत्मा स्वय अपने दर्शनभावका घात करता है तब आत्माके दर्शनगुणके घातमे जिस कर्मके उदयका निमित्त हो उसे दर्शनावरण कहते हैं।

वेदनीय—जब आत्मा स्वय मोहभावके द्वारा आकुलता करता है तब अनुकूलता-प्रतिकूलतारूप सयोग प्राप्त होनेमे जिस कर्मका उदय निमित्त हो उसे वेदनीय कहते हैं।

मोहनीय—जीव अपने स्वरूपको भूलकर अन्यको अपना समझे अथवा स्वरूपाचरणमे असावधानी करता है तब जिस कर्मका उदय निमित्त हो उसे मोहनीय कहते हैं।

आयु—जीव अपनी योग्यतासे जब नारकी, तिर्यंच, मनुष्य या देवके शरीरमें रुका रहे तब जिस कर्मका उदय निमित्त हो उसे आयुकर्म कहते हैं।

नाम—जिस शरीरमें जीव हो उस शरीरादिककी रचनामें जिस कर्मका उदय निमित्त हो उसे गोत्रकर्म कहते हैं।

गोत्र—जीवको उच्च या नीच आचरणवाले कुलमें पैदा होनेमे जिस कर्मका उदय निमित्त हो उसे नामकर्म कहते हैं।

अंतराय—जीवके दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यके विघ्नमे जिस कर्मका उदय निमित्त हो उसे अतरायकर्म कहते हैं।

२—प्रकृतिबन्धके इन आठ भेदोमेंसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण,

मोहनीय और अंतराय ये चार घातिया कर्म कहलाते हैं क्योंकि ये जीवके अनुजीवी गुणोंकी पर्यायके घातमें निमित्त हैं और बाकीके वेदनीय आयु, नाम और गोत्र इन चारको अघातिया कर्म कहते हैं क्योंकि ये जीवके अनुजीवी गुणोंकी पर्यायके घातमें निमित्त नहीं किन्तु प्रतिजीवी गुणोंकी पर्यायके घातमें निमित्त हैं।

वस्तुमें भावस्वरूप गुण अनुजीवी गुण और अभावस्वरूप गुण प्रतिजीवी गुण कहे जाते हैं।

३—जैसे एक ही समयमें खाया हुआ आहार उदराग्निके संयोगसे रस लोहू आदि भिन्न २ प्रकारसे हो जाता है उसीप्रकार एक ही समयमें ग्रहण किये हुए कर्म जीवके परिणामानुसार ज्ञानावरण इत्यादि अनेक भेदरूप हो जाता है। यहाँ उदाहरणसे इतना अन्तर है कि आहार तो रस रुधिर आदि रूपसे क्रम-क्रमसे होता है परन्तु कर्म तो ज्ञानावरणादिरूपसे एक साथ हो जाते हैं ॥४॥

प्रकृतिबंधके उत्तर भेद

पंचनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशत्द्विपंचभेदा यथाक्रमम् ॥५॥

अर्थ—[यथाक्रमम्] उपरोक्त ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके अनुक्रमसे [पंचनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशत् द्वि पंचभेदाः] पाँच नव, दो, अट्ठाईस चार ब्यालीस दो और पाँच भेद हैं।

नोट—उन भेदोंके नाम अब आगेके सूत्रोंमें अनुक्रमसे बतलाते हैं ॥५॥

ज्ञानावरणकर्मके ५ भेद

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ॥६॥

अर्थ—[मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम्] मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण अवधिज्ञानावरण मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ये ज्ञानावरणकर्मके पाँच भेद हैं।

टीका

प्रश्न—अभव्यजीवके मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञानकी प्राप्ति करनेकी सामर्थ्य नही है, यदि यह सामर्थ्य हो तो अभव्यत्व नही कहा जा सकता, इसलिये इन दो ज्ञानकी सामर्थ्यसे रहित उसके इन दो ज्ञानका आवरण कहना सो क्या निरर्थक नही है ?

उत्तर—द्रव्यार्थिकनयसे अभव्यजीवके भी इन दोनो ज्ञानकी शक्ति विद्यमान है और पर्यायार्थिकनयसे अभव्यजीव ये दोनो ज्ञानरूप अपने अपराधसे परिणमता नही है, इससे उसके किसी समय भी उसकी व्यक्ति नही होती, शक्तिमात्र है किंतु प्रगटरूपसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अभव्यके नही होते। इसलिये शक्तिमेसे व्यक्ति न होनेके निमित्तरूप आवरण कर्म होना ही चाहिये, इसीलिये अभव्य जीवके भी मनःपर्ययज्ञानावरण तथा केवलज्ञानावरण विद्यमान है।

दर्शनावरण कर्म के ९ भेद

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचला-प्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ॥ ७ ॥

अर्थ—[चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां] चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण [निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च] निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि ये नव भेद दर्शनावरण कर्मके हैं।

टीका

१—छद्मस्थ जीवोके दर्शन और ज्ञान क्रमसे होते हैं अर्थात् पहले दर्शन और पीछे ज्ञान होता है; परन्तु केवली भगवानके दर्शन और ज्ञान दोनो एक साथ होते हैं क्योंकि दर्शन और ज्ञान दोनोके बाधक कर्मोंका क्षय एक साथ होता है।

२—मनःपर्ययदर्शन नहीं होता, क्योकि मन पर्ययज्ञान मतिज्ञानपूर्वक ही होता है, इसीलिये मनःपर्ययदर्शनावरण कर्म नहीं है।

१—इस सूत्रमें आये हुए शब्दोंका अर्थ श्री जैन सिद्धान्त प्रवेशिका मेंसे देख लेना ॥ ७ ॥

वेदनीय कर्मके दो भेद

सदसद्वेद्ये ॥ ८ ॥

अर्थ—[सदसद्वेद्ये] सातावेदनीय और असातावेदनीय ये दो वेदनीयकर्म के भेद हैं।

टीका

वेदनीयकर्मकी दो ही प्रकृतियाँ हैं सातावेदनीय और असातावेदनीय।

साता नाम सुखका है। इस सुखका जो वेदन अर्थात् अनुभव करावे सो साता वेदनीय है। असाता नाम दुःखका है इसका जो वेदन अर्थात् अनुभव करावे सो असाता वेदनीयकर्म है।

शंका—यदि सुख और दुःख कर्मोंसे होता है तो कर्मोंके नष्ट हो जानेके बाद जीव सुख और दुःखसे रहित हो जाना चाहिये? क्योंकि उसके सुख और दुःखके कारणीभूत कर्मोंका अभाव होगया है। यदि यों कहा जावे कि कर्म नष्ट हो जानेसे जीव सुख और दुःख रहित ही हो जाता है तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि जीव द्रव्यके निःस्वभाव हो जानेसे अभावका प्रसंग प्राप्त होता है अथवा यदि दुःखको ही कर्मजनित माना जावे तो सातावेदनीय कर्मका अभाव हो जायगा क्योंकि फिर इसका कोई फल नहीं रहता।

समाधान—दुःख नाम की कोई भी वस्तु है वह मोह और असातावेदनीय कर्मके उदयमें युक्त होनेसे होती है और वह सुख गुणकी विपरीत दशा है किन्तु वह जीवका असली स्वरूप नहीं है। यदि जीवका स्वरूप माना जावे तो क्षीणकर्मा अर्थात् कर्म रहित जीवोंके भी दुःख होना चाहिये क्योंकि ज्ञान और दर्शनकी तरह कर्मका विनाश होनेपर दुःखका विनाश नहीं होता। किन्तु सुख कर्मसे उत्पन्न नहीं होता क्योंकि वह जीवका स्वभाव है और इसीलिये वह कर्मका फल नहीं है। सुखको जीवका स्व

भाव मानने से साता वेदनीय कर्मका अभाव भी नही होता, क्योंकि दुःखके उपशमनके कारणीभूत* सुद्रव्योके सम्पादनमे सातावेदनीय कर्मका व्यापार होता है।

---

* धन, स्त्री, पुत्र इत्यादि बाह्य पदार्थोके संयोग वियोगमें पूर्वकर्मका उदय (निमित्त) कारण है। इसका आधार —

समयसार–गाथा ८४ की टीका, प्रवचनसार–गाथा १४ की टीका, पंचास्तिकाय–गाथा २७,६७ की टीका, परमात्मप्रकाश–अ. २ गाथा ५७,६० तथा पृष्ठ २०-१९८, नियमसार–गाथा १५७ की टीका, पचाध्यायी अध्याय १ गाथा १८१, पचाध्यायी अ १ गाथा ५८१, अध्याय २ गाथा ५०, ४४०, ४४१, रयणसार गा० २९, स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा १०, १९, ५६, ५७, ३१९, ३२०, ४२७, ४३२ पद्मनदि पचविंशति पृष्ठ १०१, १०३, १०४, १०६, १०९, ११०, ११९, १२८, १३१, १३८, १४०, १५५, मोक्षमार्ग प्रकाशक गु० अनुवाद पृष्ठ ८, २८, ३०, ४५, ६१, ६२, ६४, ६८, ७०, ७१, ७२, ७३, ३०८ इत्यादि अनेक स्थल में, गोमट्टसार–कर्मकांड पृष्ठ ९०३, श्लोकवार्तिक अध्याय ८ सूत्र ११ की टीका, अध्याय ६ सूत्र १६, राजवार्तिक अध्याय ८ सूत्र ११ की टीका अध्याय ६ सूत्र १६। राजवार्तिक अध्याय ८ सूत्र ११ की टीका अध्याय ६ सूत्र १६।

श्रीमद्राजचन्द्र (गुजराती द्वितीयावृत्ति) पृष्ठ २३५, ४४३ तथा मोक्षमाला पाठ ३, सत्तास्वरूप पृष्ठ २६, अनगार धर्मामृत—पृष्ठ ६०, ७६।

श्रीषट्खडागम पुस्तक १ पृ० १०५, गोमट्टसार जी० पीठिका पृ० १४, १५, ३७५, गो० क० गा० २ पृ० ३ पृ० ९०२–९०३, गा० ३८०, समयसार गा. १३२ से १३६ की तथा २२४, २२७, २७५, ३२४ से ३२७, जयसेनाचार्यकृत टीका, स० सार गा० २२५ मूल। प० राजमल्लजी स० सार कलश टीका पृ० १६३ से १६६, १७१, १७२, १७५, १७८, १९५। प्रवचनसार गा० ७२ की जयसेनाचार्य कृत टीका। नियमसार शास्त्रमें कलश २९। रयणसार गा० २९। भगवती आराधना पृ० ५४७-८, तथा गाथा १७३१, १७३३, १७३४-५, १७४२, १७४३, १७४८, १७५२। पद्मनदि पचविंशति प्रथम अ० गा० १८१ १८४ से १९१, १९५–९६, पद्मनदी दान अ० श्लोक २०, ३८, ४४, अनित्य अ० श्लो० ६, ९, १०, ४२। आत्मानुशासन गा० २१, ३१, ३७, १४८। सुभाषित रत्नसदोह गा० ३५६-५७-५९-६०-६६-३७०, ३७२। महापुराण सर्ग० ५ श्लोक १४ से १८, । सर्ग ६ में श्लोक १९५, २०२-३, सर्ग २८ में श्लोक २१३ से २२०, पर्व ३७ श्लोक १९० से २००, । सत्तास्वरूप पृ० १७ जैन सि० प्रवेशिका पृ० २३६-३७ पुण्यकर्म, पापकर्म।

ऐसी व्यवस्था माननेसे सातावेदनीय प्रकृतिको पुद्गलविपाकित्व प्राप्त हो जायगा। ऐसी आशंका नहीं करना क्योंकि दुःखके उपशमसे उत्पन्न हुये दुःखके अविनाभावी उपचारसे ही सुख संज्ञाको प्राप्त और जीवसे अभिन्न ऐसे स्वास्थ्यके कणका हेतु होनेसे सूत्रमें सातावेदनीय कर्मको जीवविपाकित्व और सुख हेतुत्वका उपदेश दिया गया है। यदि ऐसा कहा जावे कि उपरोक्त व्यवस्थानुसार तो सातावेदनीय कर्मको जीवविपाकित्व और पुद्गलविपाकित्व प्राप्त होता है तो यह भी कोई दोष नहीं है क्योंकि जीवका अस्तित्व अन्यथा नहीं बन सकता, इसीसे इसप्रकारके उपदेशके अस्तित्वकी सिद्धि हो जाती है। सुख और दुःखके कारणभूत द्रव्योंका संपादन करनेवाला दूसरा कोई कर्म नहीं है क्योंकि ऐसा कोई कर्म मिलता नहीं। (धवला टीका पुस्तक ६ पृष्ठ ३५ ३६)

मोहनीय कर्मके अट्ठाईस भेद बतलाते हैं

दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्या स्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्य कषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्री पुं नपुंसकवेदा अनंतानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यान संज्वलनविकल्पाश्चैकश: क्रोधमानमायालोभा ॥९॥

अर्थ—[दर्शन चारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्या] दर्शनमोहनीय चारित्रमोहनीय अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय इन चार भेदरूप मोहनीयकर्म है और इसके भी अनुक्रमसे [त्रिद्विनवषोडशभेदाः] तीन दो नव और सोलह भेद हैं। वे इसप्रकार से हैं—[सम्यक्त्व मिथ्यात्व तदुभयानि] सम्यक्त्व मोहनीय मिथ्यात्व मोहनीय और सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय ये दर्शन मोहनीयके तीन भेद हैं [अकषाय कषायौ] अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय ये दो भेद चारित्र मोहनीयके हैं [हास्य रत्यरतिशोक भय जुगुप्सा स्त्री पुं नपुंसकवेदाः] हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये अकषायवेदनीयके नव

भेद हैं, और [अनन्तानुवंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यान संज्वलनविकल्पाः च] अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान तथा सज्वलनके भेदसे तथा [एकशः क्रोध मान माया लोभाः] इन प्रत्येकके क्रोध, मान, माया, और लोभ ये चार प्रकार—ये सोलह भेद कषायवेदनीयके हैं। इस तरह मोहनीयके कुल अट्ठाईस भेद हैं।

नोट—अकषायवेदनीय और कषायवेदनीयका चारित्रमोहनीयमे समावेश हो जाता है इसीलिये इनको अलग नहीं गिना गया है।

टीका

१—मोहनीयकर्मके मुख्य दो भेद हैं–दर्शनमोहनीय और चारित्र-मोहनीय। जीवका मिथ्यात्वभाव ही ससारका मूल है इसमें मिथ्यात्व मोहनीयकर्म निमित्त है, यह दर्शन मोहनीयका एक भेद है। दर्शनमोहनीयके तीन भेद हैं—मिथ्यात्वप्रकृति, सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यक्मिथ्यात्व-प्रकृति। इन तीनमेंसे एक मिथ्यात्व प्रकृतिका ही बन्ध होता है। जीवका ऐसा कोई भाव नही है कि जिसका निमित्त पाकर सम्यक्त्वमोहनीयप्रकृति या सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय प्रकृति वँधे, जीवके प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके कालमें (उपशम कालमें) मिथ्यात्वप्रकृतिके तीन टुकडे हो जाते हैं, इनमेंसे एक मिथ्यात्वरूपमें रहता है, एक सम्यक्त्वप्रकृतिरूपसे होता है और एक सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिरूपसे होता है। चारित्र मोहनीयके पच्चीस भेद हैं उनके नाम सूत्रमे ही बतलाये हैं। इसप्रकार सब मिलकर मोहनीय-कर्मके अट्ठाईस भेद हैं।

२—इस सूत्रमे आये हुये शब्दोका अर्थ जैनसिद्धान्त प्रवेशिकामेसे देख लेना।

३—यहाँ हास्यादिक नवको अकषायवेदनीय कहा है, इसे नोकषाय-वेदनीय भी कहते हैं।

४–अनन्तानुबंधीका अर्थ—अनन्त=मिथ्यात्व, ससार, अनुबंधी–जो इनको अनुसरण कर बन्धको प्राप्त हो। मिथ्यात्वको अनुसरण कर जो कषाय बँधती है उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभकी व्याख्या निम्नप्रकार है—

(१) जो आत्माके शुद्धस्वरूपकी अरुचि है सो अनन्तानुबन्धी क्रोध है।

(२) 'मैं परका कर सकता हूँ' ऐसी मान्यता पूर्वक जो अहङ्कार है सो अनन्तानुबन्धी मान—अभिमान है।

(३) अपना स्वाधीन सत्य स्वरूप समझमें नहीं आता ऐसी वक्रतामें समझ शक्तिको छुपाकर आत्माको ठगना सो अनन्तानुबन्धी माया है।

(४) पुण्यादि विकारसे और परसे लाभ मानकर अपनी विकारी दशाकी वृद्धि करना सो अनन्तानुबन्धी लोभ है।

अनन्तानुबंधी कषाय आत्माके स्वरूपाचरण चारित्रको रोकती है। शुद्धात्माके अनुभवको स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं। इसका प्रारम्भ चौथे गुणस्थानसे होता है और चौदहवें गुणस्थानमें इसकी पूर्णता होकर सिद्ध दशा प्रगट होती है ॥९॥

अब आयुकर्मके चार भेद बतलाते हैं

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥१०॥

अर्थ—[नारक तैर्यग्योनमानुषदैवानि] नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु ये चार भेद आयुकर्मके हैं ॥१०॥

नामकर्मके ४२ भेद बतलाते हैं

४ ५ ५ ३ २ ५ ५ ६
गतिजातिशरीरांगोपागनिर्माणबंधनसंघातसंस्थान—
६ ८ ५ २ ५ ४
संहननस्पर्शरसगंधवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघाता—
२
तपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतय प्रत्येक शरीरत्रससु—
भगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययश कीर्तिसेतराणि
तीर्थकरत्वं च ॥११॥

अर्थ-[गतिजातिशरीरांगोपांगनिर्माणबंधनसंघातसस्थानसंहनन-स्पर्शरसगंधवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः] गति, जाति, शरीर, अगोपाग, निर्माण, बन्धन, सघात, संस्थान, सहनन, स्पर्श, रस, गध, वर्ण, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास और विहायोगति ये इक्कीस तथा [प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वर-शुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययश.कीर्तिसेतराणि] प्रत्येक शरीर, त्रस, शुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय और यशःकीर्ति, ये दश तथा इनसे उलटे दस अर्थात् साधारण शरीर, स्थावर, दुर्भग, दुस्वर, अशुभ, बादर (-स्थूल) अपर्याप्ति, अस्थिर, अनादेय, और अयश.कीर्ति ये दस [तीर्थंकर-त्व च] और तीर्थंकरत्व, इस तरह नाम कर्मके कुल व्यालीस भेद हैं।

टीका

सूत्रके जिस शब्द पर जितने अङ्क लिखे हैं वे यह बतलाते हैं कि उस शब्दके उतने उपभेद हैं, उदाहरणार्थः—गति शब्द पर चारका अङ्क लिखा है वह यह बतलाता है कि गतिके चार उपभेद हैं। गति आदि उपभेद सहित गिना जाय तो नाम कर्मके कुल ९३ भेद होते हैं।

इस सूत्रमें आये हुए शब्दोका अर्थ श्री जैनसिद्धान्त प्रवेशिकामेसे देख लेना ॥११॥

गोत्रकर्मके दो भेद

उच्चैर्नीचैश्च ॥१२॥

अर्थ—[उच्चैर्नीचैश्च] उच्चगोत्र और नीचगोत्र ये दो भेद गोत्र कर्मके हैं ॥१२॥

अंतरायकर्मके ५ भेद बतलाते हैं

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥१३॥

अर्थ—[दानलाभभोगोपभोग वीर्याणाम्] दानातराय, लाभात-राय, भोगातराय, उपभोगातराय और वीर्यान्तराय ये पाँच भेद अन्तराय कर्मके हैं। प्रकृतिबन्धके उपभेदोका वर्णन यहाँ पूर्ण हुआ ॥१३॥

अब स्थितिबंधके भेदोंमें ज्ञानावरण दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति बतलाते हैं—

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपम-कोटीकोटय. परा स्थिति. ॥१४॥

अर्थ—[आदितस्तिसृणाम्] आदिसे तीन अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा वेदनीय [अन्तरायस्य च] और अन्तराय इन चार कर्मोंकी [परा स्थिति] उत्कृष्ट स्थिति [त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटय] तीस कोड़ाकोड़ी सागरकी है।

नोट:—(१) इस उत्कृष्ट स्थितिका बंध मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके ही होता है। (२) एक करोड़को करोड़से गुणनेसे जो गुणनफल हो वह कोड़ाकोड़ी कहलाता है ॥१४॥

मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति बतलाते हैं

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥१५॥

अर्थ—[मोहनीयस्य] मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति [सप्तति] सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरकी है।

नोट—यह स्थिति भी मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके ही बँधती है ॥१५॥

नाम और गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति बतलाते हैं

विंशतिर्नामगोत्रयो ॥१६॥

अर्थ—[नामगोत्रयो] नाम और गोत्र कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति [विंशति] बीस कोड़ाकोड़ी सागरकी है ॥१६॥

आयु कर्मकी उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष ॥१७॥

अर्थ—[आयुषः] आयु कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति [त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि] तेतीस सागरकी है ॥१७॥

वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति बतलाते हैं

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ॥१८॥

अर्थ—[वेदनीयस्य अपरा] वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति [द्वादशमुहूर्त्ता.] बारह मुहूर्त्तकी है ॥१८॥

नाम और गोत्र कर्मकी जघन्य स्थिति

नामगोत्रयोरष्टौ ॥१९॥

अर्थ—[नामगोत्रयोः] नाम और गोत्र कर्मकी जघन्य स्थिति [अष्टौ] आठ मुहूर्त्तकी है ॥१९॥

अब शेष ज्ञानावरणादि पाँच कर्मोंकी जघन्य स्थिति बतलाते हैं

शेषाणामंतर्मुहूर्ता ॥२०॥

अर्थ—[शेषाणा] बाकीके अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय और आयु इन पांच कर्मोंकी जघन्य स्थिति [अन्तर्मुहूर्ता] अंतर्मुहूर्तकी है।

यहाँ स्थितिबन्धके उपभेदोंका वर्णन पूर्ण हुआ ॥२०॥

अब अनुभागबन्धका वर्णन करते हैं, (अनुभागबन्धको अनुभवबन्ध भी कहते हैं)

अनुभवबन्धका लक्षण

विपाकोऽनुभवः ॥२१॥

अर्थ—[विपाकः] विविध प्रकारका जो पाक है [अनुभवः] सो अनुभव है।

टीका

(१) मोहकर्मका विपाक होने पर जीव जिसप्रकारका विकार करे उसीरूपसे जीवने फल भोगा कहा जाता है, इसका इतना ही अर्थ है कि

जीवको विकार करनेमें मोहकर्मका विपाक निमित्त है। कर्मका विपाक कर्ममें होता, जीवमें नहीं होता। जीवको अपने विभावभावका जो अनुभव होता है सो जीवका विपाक-अनुभव है।

(२) यह सूत्र पुद्गल कर्मके विपाक-अनुभवको बतलानेवाला है। बंध होते समय जीवका जैसा विकारीभाव हो उसके अनुसार पुद्गलकर्ममें अनुभाग बंध होता है और जब वह उदयमें आवे तब यह कहा जाता है कि कर्मका विपाक अनुभाग या अनुभव हुआ ॥२१॥

अनुभागबन्ध कर्मके नामानुसार होता है

स यथानाम ॥२२॥

अर्थ—[सः] वह अनुभाग बन्ध [यथानाम] कर्मोंके नामके अनुसार ही होता है।

टीका

जिस कर्मका जो नाम है उस कर्ममें वैसा ही अनुभागबन्ध पड़ता है। जैसे कि ज्ञानावरण कर्ममें ऐसा अनुभाग होता है कि 'जब ज्ञान रुके तब निमित्त हो' दर्शनावरण कर्ममें 'जब दर्शन रुके तब निमित्त हो' ऐसा अनुभाग होता है ॥२२॥

अब यह बतलाते हैं कि फल देनेके बाद कर्मोंका क्या होता है

ततश्च निर्जरा ॥२३॥

अर्थ—[ततः च] तीव्र मध्यम या मंद फल देनेके बाद [निर्जरा] उन कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है अर्थात् उदयमें आनेके बाद कर्म आत्मासे पृथक् हो जाते हैं।

१—आठों कर्म उदय होनेके बाद झड़ जाते हैं इसमें कर्मकी निर्जराके दो भेद हैं—सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा।

(१) सविपाक निर्जरा—आत्माके साथ एक क्षेत्रमें रहे हुए कर्म अपनी स्थिति पूरी होनेपर अलग होगये यह सविपाक निर्जरा है।

(२) अविपाक निर्जरा—उदयकाल प्राप्त होनेसे पहले जो कर्म आत्माके पुरुषार्थके कारण आत्मासे पृथक् होगये यह अविपाक निर्जरा है। इसे सकामनिर्जरा भी कहते हैं।

२—निर्जराके दूसरी तरहसे भी दो भेद होते हैं उनका वर्णन—

(१) अकाम निर्जरा—इसमे बाह्यनिमित्त तो यह है कि इच्छा रहित भूख-प्यास सहन करना और वहा यदि मदकपायरूप भाव हो तो व्यवहारसे पाप की निर्जरा और देवादि पुण्यका बध हो—इसे अकाम निर्जरा कहते है।

जिस अकाम निर्जरासे जीवकी गति कुछ ऊँची होती है यह प्रतिकूल सयोगके समय जीव मद कषाय करता है उससे होती है किन्तु कर्म जीवको ऊची गतिमे नही ले जाते।

(२) सकाम निर्जरा—इसकी व्याख्या ऊपर अविपाक निर्जरा अनुसार समझना, तथा यहाँ विशेष बात यह है कि जीवके उपादानकी अस्ति प्रथम दिखाकर यह निर्जरामे भी पुरुषार्थका कारणपना दिखाना है।

३—इस सूत्रमे जो 'च' शब्द है वह नवमे अध्यायके तीसरे सूत्र (तपसा निर्जरा च) के साथ सम्बन्ध कराता है।

यहाँ अनुभागबधका वर्णन पूर्ण हुआ ॥ २३ ॥

अब प्रदेशबंधका वर्णन करते हैं

प्रदेशबंधका स्वरूप

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाह-स्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनंतानंतप्रदेशाः ॥ २४ ॥

अर्थ—[**नाम प्रत्ययाः**] ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियोका कारण, [**सर्वतः**] सर्व तरफसे अर्थात् समस्त भावोमे [**योग विशेषात्**] योग विशेषसे [**सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः**] सूक्ष्म, एक क्षेत्रावगाह रूप स्थित [**सर्वात्मप्रदेशेषु**] और सर्व आत्मप्रदेशोमे [**अनंतानंतप्रदेशाः**] जो कर्मपुद्गलके अनन्तानन्त प्रदेश हैं सो प्रदेशबध है।

निम्न छह बातें इस सूत्रमें बतलाई हैं—

(१) सर्व कर्मके ज्ञानावरणादि मूलप्रकृतिरूप, उत्तर प्रकृतिरूप और उत्तरोत्तरप्रकृतिरूप होनेका कारण कार्माणवर्गणा है।

(२) त्रिकालवर्ती समस्त भवोंमें (जन्मोंमें) मन-वचन-कायके योगके निमित्तसे यह कर्म आते हैं। (३) ये कर्म सूक्ष्म हैं—इन्द्रियगोचर नहीं हैं।

(४) आत्माके सर्व प्रदेशोंके साथ दूध पानीकी तरह एक क्षेत्रमें ये कर्म व्याप्त हैं।

(५) आत्माके सर्व प्रदेशोंमें अनंतानंत पुद्गल स्थित होते हैं।

(६) एक एक आत्माके असंख्य प्रदेश हैं, इस प्रत्येक प्रदेशमें संसारी जीवोंके अनन्तानन्त पुद्गलस्कंध विद्यमान हैं।

यहाँ प्रदेशबंधका वर्णन पूर्ण हुआ ॥ २४ ॥

इस तरह चार प्रकारके बंधका वर्णन किया। अब कर्मप्रकृतियोंमेंसे पुण्यप्रकृतियां कितनी हैं और पाप प्रकृति कितनी हैं यह बतलाकर इस अध्यायको पूर्ण करते हैं।

पुण्य प्रकृतियां बतलाते हैं

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥ २५ ॥

अर्थ—[सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि] सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनाम और शुभगोत्र [पुण्यम्] ये पुण्य प्रकृतियां हैं।

टीका

१—घातिया कर्मोंकी ४७ प्रकृतियां हैं ये सब पापरूप हैं; अघातिया कर्मोंकी १०१ प्रकृतियां हैं उनमें पुण्य और पाप दोनों प्रकार हैं उनमेंसे निम्न ६८ प्रकृतियां पुण्यरूप हैं—

(१) सातावेदनीय (२) तिर्यंचायु (३) मनुष्यायु (४) देवायु (५) उच्चगोत्र (६) मनुष्यगति (७) मनुष्यगत्यानुपूर्वी (८) देवगति (९) देवगत्यानुपूर्वी (१०) पंचेन्द्रिय जाति (११ १५) पांच प्रकारका शरीर (१६ २०) शरीरके पांच प्रकारके बन्धन (२१ २५) पांच प्रकारका संघात (२६ २८) तीन प्रकारका अंगोपांग (२९ ४८) स्पर्श वर्णादिककी बीस प्रकृति (४९) समचतुरस्रसंस्थान (५०) वज्रर्षभनाराचसंहनन (५१) अगुरुलघु (५२) परघात,

(५३) उच्छ्वास (५४) आतप (५५) उद्योत (५६) प्रशस्त विहायोगति (५७) त्रस (५८) बादर, (५९) पर्याप्ति (६०) प्रत्येक शरीर (६१) स्थिर (६२) शुभ (६३) सुभग (६४) सुस्वर (६५) आदेय (६६) यशःकीर्ति (६७) निर्माण और (६८) तीर्थंकरत्व। भेद विवक्षासे ये ६८ पुण्यप्रकृति हैं और अभेद विवक्षासे ४२ पुण्यप्रकृति हैं, क्योकि वर्णादिकके १६ भेद, शरीर मे अन्तर्गत ५ बंधन और ५ संघात इस प्रकार कुल २६ प्रकृतिया घटानेसे ४२ प्रकृतिया रहती हैं।

२—पहले ११ वें सूत्रमें नामकर्मकी ४२ प्रकृति बतलाई हैं उनमें गति, जाति, शरीरादिकके उपभेद नही बतलाये; परन्तु पुण्य प्रकृति और पापप्रकृति ऐसे भेद करनेसे उनके उपभेद आये बिना नही रहते ॥ २५ ॥

अब पाप प्रकृतियां बतलाते हैं:—

अतोऽन्यत्पापम् ॥ २६ ॥

अर्थ—[अतः अन्यत्] इन पुण्य प्रकृतियोसे अन्य अर्थात्-असातावेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम और अशुभ गोत्र [पापम्] ये पाप प्रकृतिया है।

टीका

१—पाप प्रकृतियां १०० हैं जो निम्नप्रकार हैं:—

४७-घातिया कर्मोंकी सर्व प्रकृतियां, ४८-नीच गोत्र, ४९-असातावेदनीय, ५०-नरकायु, [नामकर्मकी ५०] १-नरकगति, २-नरकगत्यानुपूर्वी, ३-तिर्यंचगति, ४-तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, ५-८-एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रिय तक चार जाति, ९ से १३-पाच संस्थान, (१४-१८) पाच संहनन, १९-३८-वर्णादिक २० प्रकार ३९-उपघात, (४०) अप्रशस्त विहायोगति, ४१-स्थावर, ४२-सूक्ष्म, ४३-अपर्याप्ति, ४४-साधारण, ४५-अस्थिर ४६-अशुभ, ४७-दुर्भग, ४८-दुःस्वर, ४९-अनादेय और ५०-अयशःकीर्ति। भेद विवक्षासे ये सब १०० पापप्रकृतिया हैं और अभेद विवक्षा से ८४ हैं, क्योकि वर्णादिकके १६ उपभेद घटानेसे ८४ रहते हैं। इनमेसे भी सम्यक्

मिथ्यात्वप्रकृति तथा सम्यक्त्व मोहनीयप्रकृति इन दो प्रकृतियोंका बंध नहीं होता अतः इन दो को कम करनेसे भेदविवक्षासे ९८ और अभेद विवक्षासे ८२ पापप्रकृतियोंका बन्ध होता है, परन्तु इन दोनों प्रकृतियोंकी सत्ता तथा उदय होता है इसीलिये सत्ता और उदय तो भेद विवक्षासे १०० तथा अभेद विवक्षासे ८४ प्रकृतियोंका होता है।

२—वर्णादिक चार अथवा उनके भेद गिने जाय तो २० प्रकृतियाँ हैं ये पुण्यरूप भी हैं और पापरूप भी हैं इसीलिये ये पुण्य और पाप दोनोंमें गिनी जाती हैं।

३—इस सूत्रमें आये हुये शब्दोंका अर्थ श्री जैनसिद्धान्त प्रवेशिकामें से देख लेना।

उपसंहार

इस अध्यायमें बन्धतत्त्वका वर्णन है। पहले सूत्रमें मिथ्यादर्शनादि पाँच विकारी परिणामोंको बन्धके कारणरूपसे बताया है। इसमें पहला मिथ्यादर्शन बताया है क्योंकि इन पाँच कारणोंमें संसारका मूल मिथ्यादर्शन है। ये पाँचों प्रकारके जीवके विकारी परिणामोंका निमित्त पाकर आत्माके एक एक प्रदेशमें अनन्तानन्त कार्माणवर्गणारूप पुद्गल परमाणु

हो ही नही सकता। इसलिये जैनदर्शनकी अन्य किसी भी दर्शनके साथ समानता मानना सो विनय मिथ्यात्व है।

४—मिथ्यात्वके सम्वन्धमे पहले सूत्रमे जो विवेचन किया गया है वह यथार्थ समझना।

५—वधतत्त्व सम्वन्धी ये खास सिद्धान्त ध्यानमे रखने योग्य है कि शुभ तथा अशुभ दोनो ही भाव वधके कारण हैं इसलिये उनमे फर्क नही है अर्थात् दोनो बुरे हैं। जिस अशुभ भावके द्वारा नरकादिरूप पापवध हो उसे तो जीव बुरा जानता है, किन्तु जिस शुभभावके द्वारा देवादिरूप पुण्यवन्ध हो उसे यह भला जानता है, इस तरह दु:खसामग्रीमे (पापवन्धके फलमें) द्वेप और सुख सामग्रीमे (पुण्यवन्धके फलमे) राग हुआ, इसलिये पुण्य अच्छा और पाप खराव है, यदि ऐसा मानें तो ऐसी श्रद्धा हुई कि राग द्वेष करने योग्य है, और जैसे इस पर्याय सम्वन्धी राग द्वेप करनेकी श्रद्धा हुई वैसी भावी पर्याय सम्वन्धी भी सुख दु ख सामग्रीमे राग द्वेप करने योग्य है ऐसी श्रद्धा हुई। अशुद्ध (शुभ–अशुभ) भावोंके द्वारा जो कर्म वन्ध हो उसमे अमुक अच्छा और अमुक बुरा ऐसा भेद मानना ही मिथ्या श्रद्धा है, ऐसी श्रद्धासे वन्धतत्त्वका सत्य श्रद्धान नहीं होता। शुभ या अशुभ दोनो वन्धभाव हैं, इन दोनोसे घातिकर्मोंका वन्ध तो निरन्तर होता है; सव घातियाकर्म पापरूप ही है और यही आत्मगुणके घातनेमें निमित्त है। तो फिर शुभभावसे जो वन्ध हो उसे अच्छा क्यो कहा है ? (मो० प्र०)

६—यहाँ यह वतलाते हैं कि जीवके एक समयके विकारीभावमें सात कर्मके वन्धमे और किसी समय आठो प्रकारके कर्मके बन्धमें निमित्त होनेकी योग्यता किस तरह होती है—

(१) जीव अपने स्वरूपकी असावधानी रखता है, यह मोह कर्मके बन्धका निमित्त होता है।

(२) स्वरूपकी असावधानी होनेसे जीव उस समय अपना ज्ञान अपनी ओर न मोडकर परकी तरफ मोड़ता है, यह भाव–ज्ञानावरण कर्मके बन्धका निमित्त होता है।

(३) उसी समय स्वरूपकी असावधानीको लेकर अपना (निजका) दर्शन अपनी तरफ न मोड़कर परकी तरफ मोड़ता है, यह भाव-दर्शनावरण कर्मके बन्धका निमित्त होता है।

(४) उसी समयमें स्वरूपकी असावधानी होनेसे अपना वीर्य अपनी तरफ नहीं मोड़कर परकी तरफ मोड़ता है, यह भाव—अन्तरायकर्मके बन्ध का निमित्त होता है।

(५) परकी ओरके झुकावसे परका संयोग होता है, इसीलिये इस समयका (स्वरूपकी असावधानीके समयका) भाव—शरीर इत्यादि नाम कर्मके बन्धका निमित्त होता है।

(६) जहाँ शरीर हो वहाँ ऊँच-नीच आचारवाले कुलमें उत्पत्ति होती है इसीलिये इसीसमयका रागभाव-गोत्रकर्मके बंधका निमित्त होता है।

(७) जहाँ शरीर होता है वहाँ बाहरकी अनुकूलता प्रतिकूलता, रोगनिरोग आदि होते हैं इसीलिये इस समयका रागभाव—वेदनीयकर्मके बन्धका निमित्त होता है।

अज्ञान दशामें ये सात कर्म तो प्रति समय बँधा ही करते हैं सम्यग्दर्शन होनेके बाद क्रम क्रमसे जिस जिस प्रकार स्वसन्मुखताके बलसे चारित्र की असावधानी दूर होती है उसी उसी प्रकार जीवमें शुद्धदशा-अविकारी दशा बढ़ती जाती है और यह अविकारी (निर्मल) भाव पुद्गल कर्मके बन्धमें निमित्त नहीं होता इसीलिये उतने अंशमें बन्धन दूर होता है।

(८) शरीर यह संयोगी वस्तु है इसीलिये जहाँ यह संयोग हो वहाँ वियोग भी होता ही है अर्थात् शरीरकी स्थिति अमुक कालकी होती है। वर्तमान भवमें जिस भवके योग्य भाव जीवने किये हों वैसी आयुका बन्ध नवीन शरीरके लिये होता है।

७—बन्धनपनेके जो पाँच कारण हैं इनमें मिथ्यात्व मुख्य है और इस कर्मबन्धका अभाव करनेके लिये सबसे पहला कारण सम्यग्दर्शन ही है। सम्यग्दर्शन होनेसे ही मिथ्यात्वका अभाव होता है और उसके बाद ही स्वरूपके आलम्बनके अनुसार क्रम क्रमसे अविरति आदिका अभाव होता है।

इस प्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्रके आठवें अध्यायकी गुजराती टीकाका हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

मोक्षशास्त्र अध्याय नवमाँ

भूमिका

१—इस अध्यायमे संवर और निर्जरातत्त्वका वर्णन है। यह मोक्षशास्त्र है इसलिये सबसे पहले मोक्षका उपाय बतलाया है कि जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता है सो मोक्षमार्ग है। फिर सम्यग्दर्शनका लक्षण तत्त्वार्थ श्रद्धान कहा और सात तत्त्वोके नाम बतलाये, इसके बाद अनुक्रमसे इन तत्त्वोका वर्णन किया है, इनमेसे जीव, अजीव, आस्रव और बंध इन चार तत्त्वोका वर्णन इस आठवें अध्याय तक किया। अब इस नवमें अध्यायमे संवर और निर्जरातत्त्व इन दोनो तत्त्वोका वर्णन है और इसके बाद अन्तिम अध्यायमे मोक्षतत्त्वका वर्णन करके आचार्यदेवने यह शास्त्र पूर्ण किया है।

२—अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके यथार्थ संवर और निर्जरातत्त्व कभी प्रगट नही हुए, इसीलिये उसके यह ससाररूप विकारी भाव बना रहा है और प्रति समय अनन्त दुःख पाता है। इसका मूल कारण मिथ्यात्व ही है। धर्मका प्रारम्भ सवरसे होता है और सम्यग्दर्शन ही प्रथम सवर है; इसीलिये धर्मका मूल सम्यग्दर्शन है। सवरका अर्थ जीवके विकारीभावको रोकना है। सम्यक्दर्शन प्रगट करने पर मिथ्यात्व आदि भाव रुकता है इसीलिये सबसे पहले मिथ्यात्व भावका सवर होता है।

३—संवरका स्वरूप

(१) 'संवर' शब्दका अर्थ 'रोकना' होता है। छट्ठे—सातवें अध्यायमें बतलाये हुये आस्रवको रोकना सो सवर है। जब जीव आस्रव भावको रोके तब जीवमें किसी भावकी उत्पत्ति तो होनी ही चाहिये। जिस भावका उत्पाद होने पर आस्रव भाव रुके वह सवरभाव है। संवरका अर्थ विचारनेसे इसमे निम्न भाव मालूम होते हैं—

१—आस्रवके रोकनेपर आत्मामें जिस पर्यायकी उत्पत्ति होती है वह शुद्धोपयोग है, इसीलिये उत्पादकी अपेक्षासे संवरका अर्थ शुद्धोपयोग होता है। उपयोग स्वरूप शुद्धात्मामें उपयोगका रहना–स्थिर होना सो संवर है। (देखो समयसार गाथा १८१)

२—उपयोग स्वरूप शुद्धात्मामें जब जीवका उपयोग रहता है तब नवीन विकारी पर्याय (–आस्रव) रुकता है अर्थात् पुण्य–पापके भाव रुकते हैं। इस अपेक्षासे संवरका अर्थ 'जीवके नवीन पुण्य–पापके भावको रोकना' होता है।

३—ऊपर बतलाये हुये निर्मल भाव प्रगट होनेसे आत्माकी साथ एक क्षेत्रावगाहरूपमें आनेवाले नवीन कर्म रुकते हैं इसीलिये कर्मकी अपेक्षासे संवरका अर्थ होता है 'नवीन कर्मके आस्रवका रुकना।'

(२) उपरोक्त तीनों अर्थ नयकी अपेक्षासे किये गये हैं वे इसप्रकार हैं–१–प्रथम अर्थ आत्माकी शुद्ध पर्याय प्रगट करना बतलाता है इसीलिये पर्यायकी अपेक्षासे यह कथन शुद्ध निश्चयनयका है। २ दूसरा अर्थ यह बतलाता है कि आत्मामें कौन पर्याय रुकी इसीलिये यह कथन व्यवहारनय का है और ३–अर्थ इसका ज्ञान कराता है कि जीवकी इस पर्यायके समय परवस्तुकी कैसी स्थिति होती है इसीलिये यह कथन असद्भूतव्यवहार नयका है। इसे असद्भूत कहनेका कारण यह है कि आत्मा जड़ कर्मका कुछ कर नहीं सकता किन्तु आत्माके इसप्रकारके शुद्ध भावको और नवीन कर्मके आस्रवके रुकजानेको मात्र निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है।

(३) ये तीनों व्याख्यायें नयकी अपेक्षासे हैं अत: इस प्रत्येक व्याख्यामें बाकीकी दो व्याख्यायें गर्भितरूपसे अन्तर्भूत होती हैं क्योंकि नयापेक्षाके कथनमें एककी मुख्यता और दूसरेकी गौणता होती है। जो कथन मुख्यतासे किया हो उसे इस शास्त्रके पांचवें अध्यायके ३२ वें सूत्रमें 'अर्पित' कहा गया है। और जिस कथनको गौण रखा गया हो उसे 'अनर्पित' कहा गया है। अर्पित और अनर्पित इन दोनों कथनोंको एकत्रित करनेसे जो अर्थ हो वह पूर्ण (प्रमाण) अर्थ है इसीलिये यह व्याख्या प्रमाण है। अर्पित कथनमें यदि अनर्पितकी गौणता रखी गई हो तो यह

नय कथन है। सर्वांग व्याख्या रूप कथन किसी पहलूको गौण न रख सभी पहलुओंको एक साथ बतलाता है। शास्त्रमे नयदृष्टिसे व्याख्या की हो या प्रमाण दृष्टिसे व्याख्या की हो किन्तु वहाँ सम्यक् अनेकान्तके स्वरूपको समझकर अनेकान्त स्वरूपसे जो व्याख्या हो उसके अनुसार समझना।

(४) संवरकी सर्वांग व्याख्या श्री समयसारजी गाथा १८७ से १८९ तक निम्न प्रकार दी गई है:—

"आत्माको आत्माके द्वारा दो पुण्य-पापरूप शुभाशुभ योगोसे रोककर दर्शनज्ञानमे स्थित होता हुवा और अन्य वस्तुकी इच्छासे विरक्त (-निवृत्त) हुआ जो आत्मा, सर्व संगसे रहित होता हुआ निजात्माको आत्माके द्वारा ध्याता है, कर्म और नोकर्मको नही ध्याता। चेतयिता होने से एकत्वका ही चिंतवन करता है, विचारता है—अनुभव करता है। यह आत्मा, आत्माका ध्याता, दर्शनज्ञानमय और अनन्यमय हुवा सता अल्पकाल मे ही कर्मसे रहित आत्माको प्राप्त करता है।"

इस व्याख्यामे सम्पूर्ण कथन है अतः यह कथन अनेकान्तदृष्टिसे है, इसलिये किसी शास्त्रमे नयकी अपेक्षासे व्याख्या की हो या किसी शास्त्रमे अनेकान्तकी अपेक्षासे सर्वांग व्याख्या की हो तो वहाँ विरोध न समझकर ऐसा समझना कि दोनोमें समान रूपसे व्याख्या की है।

(५) श्री समयसार कलश १२५ में संवरका स्वरूप निम्न प्रकार कहा है:—

१—आस्रवका तिरस्कार करनेसे जिसको सदा विजय मिली है ऐसे संवरको उत्पन्न करनेवाली ज्योति।

२—पररूपसे भिन्न अपने सम्यक् स्वरूपमे निश्चलरूपसे प्रकाशमान, चिन्मय, उज्ज्वल और निजरसके भारवाली ज्योतिका प्रगट होना।

(इस वर्णनमे आत्माकी शुद्ध पर्याय और आस्रवका निरोध इस तरह आत्माके दोनों पहलू आजाते हैं।)

(६) श्री पुरुषार्थ सिद्धयुपायकी गाथा २०५ में बारह अनुप्रेक्षायोंके नाम कहे हैं उनमें एक संवर अनुप्रेक्षा है, वहाँ पण्डित उग्रसेन कृत टीका पृष्ठ २१८ में 'संवर' का अर्थ निम्न प्रकार किया है---

जिन पुण्य पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना;
तिन ही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके।

अर्थ—जिन जीवोंने अपने भावको पुण्य-पापरूप नहीं किया और आत्म अनुभवमें अपने ज्ञानको लगाया है उन जीवोंने आते हुए कर्मोंको रोका है और वे संवरकी प्राप्तिरूप सुखको देखते हैं।

(इस व्याख्यामें ऊपर कहे हुए तीनों पहलू आ जाते हैं इसीलिये अनेकान्तकी अपेक्षासे यह सर्वांग व्याख्या है)

(७) श्री जयसेनाचार्यने पंचास्तिकाय गाथा १४२ की टीकामें संवरकी व्याख्या निम्न प्रकार की है—

अत्र शुभाशुभसंवर समर्थ शुद्धोपयोगो भाव संवरः
भावसंवराधारेण नवतरकर्मनिरोधो द्रव्यसंवर इति तात्पर्यार्थ" ॥

अर्थ—यहाँ शुभाशुभभावको रोकनेमें समर्थ जो शुद्धोपयोग है सो भावसंवर है भावसंवरके आधारसे नवीन कर्मका निरोध होना सो द्रव्य-संवर है। यह तात्पर्यार्थ है। (रामचन्द्र जैन शास्त्रमाला पंचास्तिकाय पृष्ठ २०७)

(संवरकी यह व्याख्या अनेकान्तकी अपेक्षासे है, इसमें पहले तीनों अर्थ आ जाते हैं।)

(८) श्री अमृतचन्द्राचार्यने पंचास्तिकाय गाथा १४४ की टीकामें संवरकी व्याख्या निम्न प्रकार की है—

'शुभाशुभपरिणामनिरोधः संवरः शुद्धोपयोगः' अर्थात् शुभाशुभ परिणामके निरोधरूप संवर है सो शुद्धोपयोग है। (पृष्ठ २०८)

(संवरकी यह व्याख्या अनेकान्तकी अपेक्षासे है इसमें पहले तीनों अर्थ आ जाते हैं।)

(९) प्रश्न—इस अध्यायके पहले सूत्रमे संवरकी व्याख्या 'आस्रव निरोधः सवर.' की है, किन्तु सर्वांग व्याख्या नही की, इसका क्या कारण है?

उत्तर—इस शास्त्रमे वस्तुस्वरूपका वर्णन नयकी अपेक्षासे वहुत ही थोडेमे दिया गया है। पुनश्च इस अध्यायका वर्णन मुख्यरूपसे पर्यायार्थिक नयसे होनेसे 'आस्रव निरोधः सवरः' ऐसी व्याख्या पर्यायकी अपेक्षासे की है और इसमे द्रव्यार्थिक नयका कथन गौण है।

(१०) पाँचवें अध्यायके ३२ वें सूत्रकी टीकामे जैन शास्त्रोके अर्थ करनेकी पद्धति वतलाई है। इसी पद्धतिके अनुसार इस अध्यायके पहले सूत्रका अर्थ करनेसे श्री समयसार, श्री पचास्तिकाय आदि शास्त्रोमे सवरका जो अर्थ किया है वही अर्थ यहाँ भी किया है ऐसा समझना।

४—ध्यानमें रखने योग्य बातें

(१) पहले अध्यायके चौथे सूत्रमे जो सात तत्त्व कहे हैं उनमें संवर और निर्जरा ये दो तत्त्व मोक्षमार्गरूप हैं। पहले अध्यायके प्रथम सूत्रमें मोक्षमार्गकी व्याख्या 'सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग' इस तरह की है, यह व्याख्या जीवमे मोक्षमार्ग प्रगट होने पर आत्माकी शुद्ध पर्याय कैसी होती है यह वतलाती है। और इस अध्यायके पहले सूत्रमें 'आस्रव निरोध सवरः' ऐसा कहकर मोक्षमार्गरूप शुद्ध पर्याय होनेसे यह वतलाया है कि शुद्ध पर्याय होनेसे अशुद्ध पर्याय तथा नवीन कर्म रुकते हैं।

(२) इस तरह इन दोनों सूत्रोमे (अध्याय १ सूत्र १ तथा अध्याय ९ सूत्र १ मे) वतलाई हुई मोक्षमार्गकी व्याख्या साथ लेनेसे इस शास्त्रमें सर्वांग कथन आ जाता है। श्री समयसार, पचास्तिकाय आदि शास्त्रोमें मुख्यरूपसे द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे कथन है, इसमे सवरकी जो व्याख्या दी गई है वही व्याख्या पर्यायार्थिकनयसे इस शास्त्रमे पृथक् शब्दोमें दी है।

(३) शुद्धोपयोगका अर्थ सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र होता है।

(४) सवर होनेसे जो अशुद्धि दूर हुई और शुद्धि वढी वही निर्जरा है इसीलिये 'शुद्धोपयोग' या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र' कहनेसे ही इसमे निर्जरा आ जाती है।

(५) संवर तथा निर्जरा दोनों एक ही समयमें होते हैं, क्योंकि जिस समय शुद्धपर्याय (शुद्ध परिणति) प्रगट हो उसी समय नवीन अशुद्धपर्याय (शुभाशुभ परिणति) रुकती है सो संवर है और इसी समय आंशिक अशुद्धि दूर हो शुद्धता बढ़े सो निर्जरा है।

(६) इस अध्यायके पहले सूत्रमें संवरकी व्याख्या करनेके बाद दूसरे सूत्रमें इसके छह भेद कहे हैं। इन भेदोंमें समिति धर्म, अनुप्रेक्षा परीषहजय और चारित्र ये पाँच भेद भाववाचक (अस्तिसूचक) है और छट्ठा भेद गुप्ति है सो अभाववाचक (नास्तिसूचक) है। पहले सूत्रमें संवरकी व्याख्या नयकी अपेक्षासे निरोधवाचक की है, इसीलिये यह व्याख्या गौणरूपसे यह बतलाती है कि 'संवर होनेसे कैसा भाव हुआ' और मुख्यरूपसे यह बतलाती है कि— कैसा भाव रुका।

(७) 'आस्रव निरोध संवर' इस सूत्रमें निरोध शब्द यद्यपि अभाववाचक है तथापि वह शून्यवाचक नहीं है अन्य प्रकारके स्वभावपनेका इसमें सामर्थ्य होनेसे यद्यपि आस्रवका निरोध होता है तथापि आत्मा संवृत स्वभावरूप होता है यह एक तरहकी आत्माकी शुद्धपर्याय है। संवरसे आस्रवका निरोध होता है इस कारण आस्रव बन्धका कारण होनेसे संवर होनेपर बन्धका भी निरोध होता है। (देखो श्लोकवार्तिक संस्कृत टीका इस सूत्रके नीचेकी कारिका २ पृष्ठ ४८६)

(८) श्री समयसारजीकी १८६ वीं गाथामें कहा है कि—शुद्ध आत्माको जानता–अनुभव करनेवाला जीव शुद्ध आत्माको ही प्राप्त होता है और अशुद्ध आत्माको जानने अनुभव करनेवाला जीव अशुद्ध आत्माको ही प्राप्त होता है।

इसमें शुद्ध आत्माको प्राप्त होना सो संवर है और अशुद्ध आत्माको प्राप्त होना सो आस्रव-बन्ध है।

(९) समयसार नाटककी उत्थानिकामें २१ वें पृष्ठमें संवरकी व्याख्या निम्नप्रकार की है।—

जो उपयोग स्वरूप धरि, वरते जोग विरत्त,
रोके आवत करमको, सो है संवर तत्त ॥२१॥

अर्थ—आत्माका जो भाव ज्ञानदर्शनरूप उपयोगको प्राप्त कर (शुभाशुभ) योगोकी क्रियासे विरक्त होता है और नवीन कर्मके आस्रवको रोकता है सो सवर तत्त्व है।

५—निर्जराका स्वरूप

उपरोक्त ९ बातोमे निर्जरा सम्वन्धी कुछ विवरण आगया है। सवर पूर्वक जो निर्जरा है सो मोक्षमार्ग है, इसीलिये इस निर्जराकी व्याख्या जानना आवश्यक है।

(१) श्री पचास्तिकायकी १४४ गाथामे निर्जराकी व्याख्या निम्न प्रकार है—

सवरजोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदेवहुविहेहिं।
कम्माण णिज्जरणं वहुगाण कुणदि सो णियद ॥

अर्थ—शुभाशुभ परिणाम निरोधरूप सवर और शुद्धोपयोगरूप योगोसे सयुक्त ऐसा जो भेदविज्ञानी जीव अनेक प्रकारके अन्तरग-वहिरंग तपों द्वारा उपाय करता है सो निश्चयसे अनेक प्रकारके कर्मोंकी निर्जरा करता है।'

इस व्याख्यामें ऐसा कहा है कि 'कर्मोंकी निर्जरा होती है' और इससे यह गर्भित रखा है कि इस समय आत्माकी शुद्ध पर्याय कैसी होती है, इस गाथाकी टीका करते हुये श्री अमृतचन्द्राचार्यने कहा है कि—

'स खलु वहूना कर्मणा निर्जरण करोति। तदत्रकर्मवीर्य शातन-समर्थो वहिरगातरग तपोभिर्बृंहित शुद्धोपयोगो भावनिर्जरा।'

अर्थ—यह जीव वास्तवमें अनेक कर्मोंकी निर्जरा करता है इसीलिये यह सिद्धान्त हुआ कि अनेक कर्मोंकी शक्तियोको नष्ट करनेमे समर्थ वहिरग-अन्तरग तपोसे वृद्धिको प्राप्त हुआ जो शुद्धोपयोग है सो भाव-निर्जरा है।

(देखो पचास्तिकाय पृष्ठ २०९)

(२) श्री समयसार गाथा २०६ में निर्जराका स्वरूप निम्न प्रकार बताया है।

एदह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं ॥२०६॥

अर्थ—हे भव्य प्राणी! तू इसमें (ज्ञानमें) नित्य रत अर्थात् प्रीतिवाला हो, इसीमें नित्य सन्तुष्ट हो और इससे तृप्त हो, ऐसा करनेसे तुझे उत्तम सुख होगा।

इस गाथामें यह बतलाया है कि निर्जरा होने पर आत्माकी शुद्ध पर्याय कैसी होती है।

(३) संवरके साथ अविनाभावरूपसे निर्जरा होती है। निर्जराके आठ आचार (अङ्ग, लक्षण) हैं इसमें उपबृंहण और प्रभावना ये दो आचार शुद्धिकी वृद्धि बतलाते हैं। इस सम्बन्धमें श्री समयसार गाथा २३३ की टीकामें निम्नप्रकार बतलाया है।

"क्योंकि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावमयपनेके कारण समस्त आत्मशक्तियोंकी वृद्धि करनेवाला होनेके कारण उपबृंहक अर्थात् आत्मशक्तिका बढ़ानेवाला है इसीलिये उसके जीवकी शक्तिकी दुर्बलतासे (अर्थात् मंदतासे) होनेवाला बन्ध नहीं होता परन्तु निर्जरा ही है।"

(४) और फिर गाथा २३६ की टीका तथा भावार्थमें कहा है—

टीका—क्योंकि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावमयपनेके लेकर ज्ञानकी समस्त शक्तिको प्रगट करनेसे—विकसित करनेसे फैलानेसे प्रभाव उत्पन्न करता है अतः प्रभावना करनेवाला है इसीलिये इसके ज्ञानकी प्रभावनाके अप्रकर्षसे (अर्थात् ज्ञानकी प्रभावनाकी वृद्धि न होनेसे) होनेवाला बन्ध नहीं होता परन्तु निर्जरा ही है।

भावार्थ—प्रभावनाका अर्थ है प्रगट करना उद्योत करना आदि; इसलिए जो निरन्तर अभ्याससे अपने ज्ञानको प्रगट करता है—बढ़ाता है उसके प्रभावना अङ्ग होता है। और उसके अप्रभावना कृत कर्मोंका बंध नहीं है, कर्म रस देकर गिर जाता है—झड़ जाता है इसीलिये निर्जरा ही है।

(५) इस प्रकार अनेकान्त दृष्टिसे स्पष्टरूपसे सर्वांग व्याख्या की जाती है। जहाँ व्यवहारनयसे व्याख्या की जाय वहाँ निर्जराका ऐसा अर्थ होता है:—'आंशिकरूपसे विकारकी हानि और पुराने कर्मोंका खिर जाना, किन्तु इसमें 'जो शुद्धिकी वृद्धि है सो निर्जरा है' ऐसा गर्भितरूपसे अर्थ कहा है।

(६) अष्टपाहुडमें भावप्राभृतकी ११४ वी गाथाके भावार्थमें संवर, निर्जरा तथा मोक्षकी व्याख्या निम्न प्रकार की है—

'पाचवां संवर तत्त्व है। राग-द्वेष-मोहरूप जीवके विभावका न होना और दर्शन ज्ञानरूप चेतना भावका स्थिर होना सो संवर है; यह जीवका निज भाव है और इससे पुद्गल कर्म जनित भ्रमण दूर होता है। इस तरह इन तत्त्वोंकी भावनामें आत्मतत्त्वकी भावना प्रधान है; इससे कर्मकी निर्जरा होकर मोक्ष होता है। अनुक्रमसे आत्माके भाव शुद्ध होना सो निर्जरा तत्त्व है और सर्वकर्मका अभाव होना सो मोक्ष तत्त्व है।'

६—इस तरह संवर तत्त्वमें आत्माकी शुद्ध पर्याय प्रगट होती है और निर्जरा तत्त्वमें आत्माकी शुद्ध पर्यायकी वृद्धि होती है। इस शुद्ध पर्याय को एक शब्दसे 'शुद्धोपयोग' कहते हैं, दो शब्दोंसे कहना हो तो संवर और निर्जरा कहते हैं और तीन शब्दोंसे कहना हो तो 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र' कहते हैं। संवर और निर्जरामें आंशिक शुद्ध पर्याय होती है ऐसा समझना।

इस शास्त्रमें जहाँ जहाँ संवर और निर्जराका कथन हो वहाँ वहाँ ऐसा समझना कि आत्माकी पर्याय जिस अंशमें शुद्ध होती है वह संवर-निर्जरा है। जो विकल्प राग या शुभभाव है वह संवर-निर्जरा नहीं। परन्तु इसका निरोध होना और आंशिक अशुद्धिका खिर जाना—झड जाना सो संवर-निर्जरा है।

७—अज्ञानी जीवने अनादिसे मोक्षका बीजरूप संवर-निर्जराभाव कभी प्रगट नहीं किया और इसका यथार्थ स्वरूप भी नहीं समझा। संवर-निर्जरा स्वयं धर्म है, इनका स्वरूप समझे बिना धर्म कैसे हो सकता है?

इसलिये मुमुक्षु जीवोंको इसका स्वरूप समझना आवश्यक है आचार्यदेव इस अध्यायमें इसका वर्णन थोड़ेमें करते हैं इसमें पहले संवरका स्वरूप वर्णन करते हैं।

संवरका लक्षण

आस्रव निरोधः संवरः ॥१॥

अर्थ—[आस्रव निरोध] आस्रवका रोकना सो [संवरः] संवर है अर्थात् आत्मामें जिन कारणोंसे कर्मोंका आस्रव होता है उन कारणोंको दूर करनेसे कर्मोंका आना रुक जाता है उसे संवर कहते हैं।

टीका

१—संवरके दो भेद हैं–भावसंवर और द्रव्यसंवर। इन दोनोंकी व्याख्या भूमिकाके तीसरे फिकरेके (७) उपभेदमें दी है।

२—संवर धर्म है जीव जब सम्यग्दर्शन प्रगट करता है तब संवर का प्रारम्भ होता है सम्यग्दर्शनके बिना कभी भी यथार्थ संवर नहीं होता। सम्यग्दर्शन प्रगट करनेके लिये जीव अजीव आस्रव बन्ध संवर निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंका स्वरूप यथार्थरूपसे और विपरीत अभिप्राय रहित जानना चाहिये।

३—सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके बाद जीवके आंशिक वीतरागभाव और आंशिक सरागभाव होता है वहाँ ऐसा समझना कि वीतरागभावके द्वारा संवर होता है और सरागभावके द्वारा बन्ध होता है।

४—बहुतसे जीव अहिंसा आदि शुभास्रवको संवर मानते हैं किन्तु यह भूल है। शुभास्रवसे तो पुण्यबन्ध होता है। जिस भाव द्वारा बन्ध हो उसी भावके द्वारा संवर नहीं होता।

५—आत्माके जितने अंशमें सम्यग्दर्शन है उतने अंशमें संवर है और बंध नहीं किन्तु जितने अंशमें राग है उतने अंशमें बंध है जितने अंशमें सम्यग्ज्ञान है उतने अंशमें संवर है बंध नहीं किन्तु जितने अंशमें राग है उतने अंशमें बंध है तथा जितने अंशमें सम्यक्‌चारित्र है उतने अंशमें

सवर है बन्ध नही; किन्तु जितने अंशमे राग है उतनें अशमें वन्ध है— (देखो पुरुषार्थ सिद्धच्युपाय गाथा २१२ से २१४)

६–प्रश्न—सम्यग्दर्शन संवर है और वन्धका कारण नही तो फिर अध्याय ६ सूत्र २१ मे सम्यक्त्वको भी देवायुकर्मके आस्रवका कारण क्यो कहा ? तथा अध्याय ६ सूत्र २४ मे दर्शन विशुद्धिसे तीर्थंकर कर्मका आस्रव होता है ऐसा क्यो कहा ?

उत्तर—तीर्थंकर नाम कर्मका वन्ध चौथे गुणस्थानसे आठवें गुणस्थानके छट्ठे भाग पर्यंत होता है और तीन प्रकारके सम्यक्त्वको भूमिकामे यह बन्ध होता है। वास्तवमे (भूतार्थनयसे—निश्चयनयसे) सम्यग्दर्शन स्वय कभी भी बन्धका कारण नही है, किन्तु इस भूमिकामे रहे हुए रागसे ही बन्ध होता है। तीर्थंकर नामकर्मके वन्धका कारण भी सम्यग्दर्शन स्वय नही, परन्तु सम्यग्दर्शनकी भूमिकामे रहा हुआ राग वन्धका कारण है। जहाँ सम्यग्दर्शनको आस्रव या बन्धका कारण कहा हो वहाँ मात्र उपचारसे (व्यवहार) कथन है ऐसा समझना, इसे अभूतार्थनयका कथन भी कहते हैं। सम्यग्ज्ञानके द्वारा नयविभागके स्वरूपको यथार्थ जाननेवाला ही इस कथनके आशयको अविरुद्धरूपसे समझता है।

प्रश्नमें जिस सूत्रका आधार दिया गया है उन सूत्रोकी टीकामे भी खुलासा किया है कि सम्यग्दर्शन स्वय बन्धका कारण नही है।

७—निश्चय सम्यग्दृष्टि जीवके चारित्र अपेक्षा दो प्रकार हैं— सरागी और वीतरागी। उनमेसे सराग–सम्यग्दृष्टि जीव राग सहित हैं अतः रागके कारण उनके कर्म प्रकृतियोका आस्रव होता है और ऐसा भी कहा जाता है कि इन जीवोके सरागसम्यक्त्व है, परन्तु यहाँ ऐसा समझना कि जो राग है वह सम्यक्त्वका दोप नही किन्तु चारित्रका दोष है। जिन सम्यग्दृष्टि जीवोके निर्दोष चारित्र है उनके वीतराग सम्यक्त्व कहा जाता है वास्तवमे ये दो जीवोके सम्यग्दर्शनमे भेद नही किन्तु चारित्रके भेदकी अपेक्षासे ये दो भेद हैं। जो सम्यग्दृष्टि जीव चारित्रके दोष सहित हैं उनके सराग सम्यक्त्व है ऐसा कहा जाता है और जिस जीवके निर्दोष चारित्र है उनके वीतराग सम्यक्त्व है ऐसा कहा जाता है। इस तरह चारित्रकी

सदोषता या निर्दोषताकी अपेक्षासे ये भेद हैं। सम्यग्दर्शन स्वयं संवर है और यह तो शुद्ध भाव ही है इसीलिये यह आस्रव या बन्धका कारण नहीं है।

संवरके कारण

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥२॥

अर्थ—[गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः] तीन गुप्ति, पाँच समिति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा बाईस परीषहजय और पाँच चारित्र इन छह कारणोंसे [सः] संवर होता है।

टीका

१—जिस जीवके सम्यग्दर्शन होता है उसके ही संवरके ये छह कारण होते हैं मिथ्यादृष्टिके इन छह कारणोंमेंसे एक भी यथार्थ नहीं होता। सम्यग्दृष्टि गृहस्थके तथा साधुके ये छहों कारण यथासम्भव होते हैं (देखो पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय गाथा २०३ की टीका) संवरके इन छह कारणोंका यथार्थ स्वरूप समझे बिना संवरका स्वरूप समझनेमें भी जीवकी भूल हुये बिना नहीं रहती। इसलिये इन छह कारणोंका यथार्थ स्वरूप समझना चाहिये।

२—गुप्तिका स्वरूप

(१) कुछ लोग मन-वचन कायकी चेष्टा दूर करने पापका चिंतवन न करने मौन धारण करने तथा गमनादि न करनेको गुप्ति मानते हैं किन्तु यह गुप्ति नहीं है क्योंकि जीवके मनमें भक्ति आदि प्रशस्त रागादिकके अनेक प्रकारके विकल्प होते हैं और वचन-कायकी चेष्टा रोकनेका जो भाव है सो तो शुभ प्रवृत्ति है प्रवृत्तिमें गुप्तिपना नहीं बनता। इसलिये वीतराग भाव होने पर जहाँ मन-वचन-कायकी चेष्टा नहीं होती वहाँ यथार्थ गुप्ति है। यथार्थरीत्या गुप्तिका एक ही प्रकार है और वह वीतराग भावरूप है। निमित्तकी अपेक्षासे गुप्तिके ३ भेद कहे हैं। मन-वचन-काय ये तो पर द्रव्य हैं, इसकी कोई क्रिया बन्ध या अबन्धका कारण नहीं है।

वीतराग भाव होनेपर जीव जितने अशमे मन-वचन-कायकी तरफ नही लगता उतने अशमे निश्चय गुप्ति है और यही सवरका कारण है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक से)

(२) जो जीव नयोके रागको छोडकर निज स्वरूपमे गुप्त होता है उस जीवके गुप्ति होती है। उनका चित्त विकल्प जालसे रहित शात होता है और वह साक्षात् अमृत रसका पान करते हैं। यह स्वरूप गुप्तिकी शुद्ध क्रिया है। जितने अशमे वीतराग दशा होकर स्वरूपमे प्रवृत्ति होती है उतने अशमें गुप्ति है; इस दशामे क्षोभ मिटता है और अतीन्द्रिय सुख अनुभवमे आता है। (देखो श्री समयसार कलश ६९ पृष्ठ १७५)

(३) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक लौकिक वाछा रहित होकर योगोका यथार्थ निग्रह करना सो गुप्ति है। योगोके निमित्तसे आने वाले कर्मोंका आना वध पड जाना सो सवर है। (तत्त्वार्थसार अ० ६ गा० ५)

(४) इस अध्यायके चौथे सूत्रमे गुप्तिका लक्षण कहा है इसमे बतलाया है कि जो 'सम्यक् योग निग्रह' है सो गुप्ति है। इसमें सम्यक् शब्द अधिक उपयोगी है, वह यह बतलाता है कि विना सम्यग्दर्शनके योगोका यथार्थ निग्रह नही होता अर्थात् सम्यग्दर्शन पूर्वक ही योगोका यथार्थ निग्रह हो सकता है।

(५) **प्रश्न**—योग चौदहवें गुणस्थानमें रुकता है, तेरहवें गुण-स्थान तक तो वह होता है, तो फिर नीचेकी भूमिकावालेके 'योगका निग्रह' (गुप्ति) कहासे हो सकती है ?

उत्तर—आत्माका उपयोग मन, वचन, कायकी तरफ जितना न लगे उतना योगका निग्रह हुआ कहलाता है। यहा योग शब्दका अर्थ 'प्रदेशोका कपन' न समझना। प्रदेशोके कपनके निग्रहको गुप्ति नही कहा जाता किन्तु इसे तो अकपता या अयोगता कहा जाता है, यह अयोग अवस्था चौदहवें गुणस्थानमे प्रगट होती है और गुप्ति तो चौथे गुणस्थानमें भी होती है।

(६) वास्तवमें आत्माका स्वरूप (निजरूप) ही परम गुप्ति है इसीलिये आत्मा जितने अंशमें अपने शुद्धस्वरूपमें स्थिर रहे उतने अंशमें गुप्ति है [देखो, श्री समयसार कलश १२८]

३–आत्माका वीतराग भाव एकरूप है और निमित्तकी अपेक्षासे गुप्ति समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा परीषहजय और चारित्र ऐसे पृथक् पृथक् भेद करके समझाया जाता है, इन भेदोंके द्वारा भी अभेदता बतलाई है। स्वरूपकी अभेदता संवर निर्जराका कारण है।

४–गुप्ति, समिति आदिके स्वरूपका वर्णन चौथे सूत्रसे प्रारम्भ करके अनुक्रमसे कहेंगे ॥ २ ॥

निर्जरा और संवरका कारण

तपसा निर्जरा च ॥ ३ ॥

अर्थ—[तपसा] तप से [निर्जरा च] निर्जरा होती है और संवर भी होता है।

टीका

१–दश प्रकारके धर्ममें तपका समावेश होजाता है तो भी उसे यहाँ पृथक् कहनेका कारण यह है कि यह संवर और निर्जरा दोनोंका कारण है और उसमें संवरका यह प्रधान कारण है।

२–यहाँ जो तप कहा है सो सम्यक् तप है क्योंकि यह तप ही संवर निर्जराका कारण है। सम्यग्दृष्टि जीवके ही सम्यक् तप होता है मिथ्यादृष्टिके तपको बालतप कहते हैं और यह आस्रव है ऐसा छट्ठे अध्याय के १२ वें सूत्रकी टीकामें कहा है। इस सूत्रमें दिये गये 'च' शब्दमें बालतप का समावेश होता है जो सम्यग्दर्शन और आत्मज्ञानसे रहित हैं ऐसे जीव चाहे जितना तप करें तो भी उनका समस्त तप बालतप (अर्थात् अज्ञानतप मूर्खतावाला तप) कहलाता है (देखो समयसार गाथा १५२) सम्यग्दर्शन पूर्वक होने वाले तपको उत्तम तपके रूपमें इस अध्यायके छट्ठे सूत्रमें वर्णन किया है।

(२) तपका अर्थ

श्री प्रवचनसारकी गाथा १४ मे तपका अर्थ इस तरह दिया है—'स्वरूपविश्रात निस्तरग चैतन्यप्रतपनाच्च तपः अर्थात् स्वरूपमें विश्रांत, तरंगोसे रहित जो चैतन्यका प्रतपन है सो तप है।'

४—तपका स्वरूप और उस सम्बन्धी होनेवाली भूल

(१) बहुतसे अनशनादिको तप मानते हैं और उस तपसे निर्जरा मानते हैं, किंतु बाह्य तपसे निर्जरा नही होती, निर्जराका कारण तो शुद्धोपयोग है। शुद्धोपयोगमे जीवकी रमणता होने पर अनशनके बिना 'जो शुभ अशुभ इच्छा का निरोध होता है' सो सवर है। यदि बाह्य दुःख सहन करनेसे निर्जरा हो तो तिर्यंचादिक भी भूख प्यासादिकके दुःख सहन करते हैं इसीलिये उनके भी निर्जरा होनी चाहिये। (मो० प्र०)

(२) प्रश्न—तिर्यंचादिक तो पराधीनरूपसे भूख प्यासादिक सहन करते हैं किंतु जो स्वाधीनतासे धर्मकी बुद्धिसे उपवासादिरूप तप करे उसके तो निर्जरा होगी न?

उत्तर—धर्मकी बुद्धिसे बाह्य उपवासादिक करे किन्तु वहाँ शुभ, अशुभ या शुद्धरूप जैसा उपयोग परिणमता है उसीके अनुसार बध या निर्जरा होती है। यदि अशुभ या शुभरूप उपयोग हो तो बध होता है और सम्यग्दर्शन पूर्वक शुद्धोपयोग हो तो धर्म होता है। यदि बाह्य उपवासमे निर्जरा होती हो तो ज्यादा उपवासादि करनेसे ज्यादा निर्जरा हो और थोडे उपवासादि करनेसे थोडी निर्जरा होगी ऐसा नियम हो जायगा तथा निर्जराका मुख्य कारण उपवासादि ही हो जायगा किंतु ऐसा नही होता, क्योंकि बाह्य उपवासादि करने पर भी यदि दुष्ट परिणाम करे तो उसके निर्जरा कैसे होगी? इससे यह सिद्ध होता है कि अशुभ, शुभ या शुद्ध-रूपसे जैसा उपयोगका परिणमन होता है उसीके अनुसार बंध या निर्जरा होती है इसीलिये उपवासादि तप निर्जराके मुख्य कारण नही हैं, किन्तु अशुभ तथा शुभ परिणाम तो बन्धके कारण हैं और शुद्ध परिणाम निर्जराका कारण है।

(३) प्रश्न—यदि ऐसा है तो सूत्रमें ऐसा क्यों कहा कि 'तपसे भी निर्जरा होती है।'

उत्तर—बाह्य उपवासादि तप नहीं किन्तु तपकी व्याख्या इसप्रकार है कि 'इच्छा निरोधस्तप' अर्थात् इच्छाको रोकना सो तप है। जो शुभ अशुभ इच्छा है सो तप नहीं है किन्तु शुभ–अशुभ इच्छाके दूर होनेपर जो शुद्ध उपयोग होता है सो सम्यक तप है और इस तपसे ही निर्जरा होती है।

(४) प्रश्न—आहारादि लेनेरूप अशुभ भावकी इच्छा दूर होनेपर तप होता है किन्तु उपवासादि या प्रायश्चित्तादि शुभ कार्य है इसकी इच्छा तो रहती है न ?

उत्तर—ज्ञानी पुरुषके उपवासादिकी इच्छा नहीं किंतु एक शुद्धोपयोगकी ही भावना है। ज्ञानी पुरुष उपवासादिके कालमें शुद्धोपयोग बढ़ाता है, किन्तु जहाँ उपवासादिसे शरीरकी या परिणामोंकी शिथिलताके द्वारा शुद्धोपयोग शिथिल होता जानता है वहाँ आहारादिक ग्रहण करता है। यदि उपवासादिसे ही सिद्धि होती हो तो या अजितनाथ आदि तेईस तीर्थंकर दीक्षा लेकर दो उपवास ही क्यों धारण करते ? उनकी तो शक्ति भी बहुत थी परन्तु जैसा परिणाम हुवा वैसे ही साधनके द्वारा एक वीतराग शुद्धोपयोगका अभ्यास किया। (मो० प्र० पृ० ३३९)

(५) प्रश्न—यदि ऐसा है तो अनशनादिककी तप संज्ञा क्यों कही है।

उत्तर—अनशनादिकको बाह्य तप कहा है। बाह्य अर्थात् बाहरमें दूसरोंको दिखाई देता है कि यह तपस्वी है। तथापि वहाँ भी स्वयं जैसा अंतरंग परिणाम करेगा वैसा ही फल प्राप्त करेगा। शरीरकी क्रिया जीवको कुछ फल देनेवाली नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीवके वीतरागता बढ़ती है वही सच्चा (यथार्थ) तप है। अनशनादिकको मात्र निमित्तकी अपेक्षासे 'तप' संज्ञा दी गई है।

५—तपके फलके बारेमें स्पष्टीकरण

सम्यग्दृष्टिके तप करनेसे निर्जरा होती है और साथमे पुण्यकर्मका बन्ध भी होता है परन्तु ज्ञानी पुरुषोंके तपका प्रधान फल निर्जरा है इसीलिये इस सूत्रमे ऐसा कहा है कि तपसे निर्जरा होती है। जितनी तपमे न्यूनता होती है उतना पुण्यकर्मका बन्ध भी हो जाता है; इस अपेक्षासे पुण्यका बन्ध होना यह तपका गौण फल कहलाता है। जैसे खेती करनेका प्रधान फल तो धान्य उत्पन्न करना है, किन्तु भूसा आदि उत्पन्न होना यह उसका गौणफल है उसीप्रकार यहाँ ऐसा समझना कि सम्यग्दृष्टिके तपका जो विकल्प आता है वह रागरूप होता है अतः उसके फलमे पुण्य बन्ध हो जाता है और जितना राग टूटकर (दूर होकर) वीतरागभाव–शुद्धोपयोग बढता है वह निर्जराका कारण है। आहार पेटमे जाय या न जाय वह बन्ध या निर्जराका कारण नही है क्योंकि यह परद्रव्य है और परद्रव्य का परिणमन आत्माके आधीन नही है इसीलिये उसके परिणमनसे आत्मा को लाभ नुकसान नही होता। जीवके अपने परिणामसे ही लाभ या नुकसान होता है।

६—अध्याय ८ सूत्र २३ मे भी निर्जरा सम्बन्धी वर्णन है अतः उस सूत्रकी टीका यहाँ भी बाँचना। तपके १२ भेद बतलाये हैं इस संबधी विशेष स्पष्टीकरण इसी अध्यायके १९-२० वें सूत्रमे किया गया है अतः वहाँसे देख लेना ॥३॥

गुप्तिका लक्षण और भेद

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥४॥

अर्थ—[सम्यक् योगनिग्रहो] भले प्रकार योगका निग्रह करना सो [गुप्तिः] गुप्ति है।

टीका

१—इस सूत्रमे सम्यक् शब्द बहुत उपयोगी है, वह यह बतलाता है कि सम्यग्दर्शनपूर्वक ही गुप्ति होती है, अज्ञानीके गुप्ति नही होती। तथा

सम्यक् शब्द यह भी बतलाता है कि जिस जीवके गुप्ति होती है उस जीवके विषय सुखकी अभिलाषा नहीं होती। यदि जीवके संक्लेशता (आकुलता) हो तो उसके गुप्ति नहीं होती। दूसरे सूत्रकी टीकामें गुप्तिका स्वरूप बतलाया है वह यहाँ भी लागू होता है।

२ गुप्तिकी व्याख्या

(१) जीवके उपयोगका मनके साथ युक्त होना सो मनोयोग है वचनके साथ युक्त होना सो वचनयोग है और कायके साथ युक्त होना सो काययोग है तथा उसका अभाव सो अनुक्रमसे मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति है इस तरह निमित्तके अभावकी अपेक्षासे गुप्तिके तीन भेद हैं।

पर्यायमें शुद्धोपयोगकी हीनाधिकता होती है तथापि उसमें शुद्धता तो एक ही प्रकारकी है, निमित्तकी अपेक्षासे उसके अनेक भेद कहे जाते हैं।

जब जीव वीतरागभावके द्वारा अपनी स्वरूप गुप्तिमें रहता है तब मन वचन और कायकी ओरका आश्रय छूट जाता है इसीलिये उसकी नास्तिकी अपेक्षासे तीन भेद होते हैं ये सब भेद निमित्तके हैं ऐसा जानना।

(२) सर्व मोह रागद्वेषको दूर करके खंडरहित अद्वैत परम चतन्यमें भलीभाँति स्थित होना सो निश्चयमनोगुप्ति है सम्पूर्ण असत्यभाषाको इस तरह त्यागना कि (अथवा इस तरह मौनव्रत रखना कि) मूर्तिक द्रव्यमें, अमूर्तिक द्रव्यमें या दोनोंमें वचनकी प्रवृत्ति रुके और जीव परमचैतन्यमें स्थिर हो सो निश्चयवचनगुप्ति है। संयमधारी मुनि जब अपने चैतन्यस्वरूप चतन्यशरीरसे जड़ शरीरका भेदज्ञान करता है (अर्थात् शुद्धात्माके अनुभवमें लीन होता है) तब अंतरंगमें स्वात्माकी उत्कृष्ट मूर्तिकी निश्चलता होना सो कायगुप्ति है। (नियमसार गाथा ६९ ७० और टीका)

(३) अनादि अज्ञानी जीवोंने कभी सम्यग्गुप्ति धारण नहीं की। अनेकबार द्रव्यलिंगी मुनि होकर जीवने शुभोपयोगरूप गुप्ति—समिति आदि निरतिचार पालन की किन्तु वह सम्यक् न थी। किसी भी जीवको सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना सम्यग्गुप्ति नहीं हो सकती और उसका भव

भ्रमण दूर नहीं हो सकता। इसलिये पहले सम्यग्दर्शन प्रगट करके क्रम-क्रमसे आगे बढकर सम्यग्गुप्ति प्रगट करनी चाहिये।

(४) छठे गुणस्थानवर्ती साधुके शुभभावरूप गुप्ति भी होती है इसे व्यवहार गुप्ति कहते हैं, किन्तु वह आत्माका स्वरूप नही है, वह शुभ विकल्प है इसीलिये ज्ञानी उसे हेयरूप समझते हैं, क्योंकि इससे बन्ध होता है, इसे दूर कर साधु निर्विकल्पदशामे स्थिर होता है; इस स्थिरताको निश्चयगुप्ति कहते हैं, यह निश्चयगुप्ति संवरका सच्चा कारण है ॥४॥

दूसरे सूत्रमे संवरके ६ कारण बतलाये हैं, उनमेसे गुप्तिका वर्णन पूर्ण हुआ अब समितिका वर्णन करते हैं।

समितिके ५ भेद

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥५॥

अर्थ—[ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः] सम्यक् ईर्या, सम्यक् भाषा, सम्यक् एषणा, सम्यक् आदाननिक्षेप और सम्यक् उत्सर्ग—ये पांच [समितयः] समिति हैं (चौथे सूत्रका 'सम्यक्' शब्द इस सूत्रमे भी लागू होता है)

टीका

१—समितिका स्वरूप और उस सम्बन्धी होनेवाली भूल

(१) अनेको लोग परजीवोकी रक्षाके लिये यत्नाचार प्रवृत्तिको समिति मानते हैं, किन्तु यह ठीक नही है, क्योंकि हिंसाके परिणामोसे तो पाप होता है, और यदि ऐसा माना जावे कि रक्षाके परिणामोसे संवर होता है तो फिर पुण्यबन्धका कारण कौन होगा ? पुनश्च एषणा समितिमे भी यह अर्थ घटित नही होता क्योंकि वहाँ तो दोष दूर होता है किन्तु किसी पर जीवकी रक्षाका प्रयोजन नही है।

(२) **प्रश्न**—तो फिर समितिका यथार्थ स्वरूप क्या है ?

उत्तर—मुनिके किंचित् राग होने पर गमनादि क्रिया होती है, वहाँ उस क्रियामें अति आसक्तिके अभावसे उनके प्रमादरूप प्रवृत्ति नही

होती, तथा दूसरे जीवोंको दुःखी करके अपना गमनादिरूप प्रयोजन नहीं साधते, इसीलिये उनसे स्वयं दया पलती है इसी रूपमें यथार्थ समिति है।

(देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक देहली पृष्ठ ३३२)

अ—अभेद उपचाररहित जो रत्नत्रयका मार्ग है, उस मार्गरूप परम धर्म द्वारा अपने आत्म स्वरूपमें 'सम्' अर्थात् सम्यक प्रकारसे 'इता' गमन तथा परिणमन है सो समिति है। अथवा—

ब—स्व आत्माके परम तत्त्वमें लीन स्वाभाविक परमज्ञानादि परम धर्मोंकी जो एकता है सो समिति है। यह समिति संवर-निर्जरारूप है। (देखो श्री नियमसार गाथा ६१)

(३) सम्यग्दृष्टि जीव जानता है कि आत्मा परजीवका घात नहीं कर सकता, परद्रव्योंका कुछ नहीं कर सकता भाषा बोल नहीं सकता शरीरकी हलन चलनादिरूप क्रिया नहीं कर सकता शरीर चलने योग्य हो तब स्वयं उसकी क्रियावती शक्तिसे चलता है परमाणु भाषारूपसे परिणमनेके योग्य हो तब स्वयं परिणमता है पर जीव उसके आयुकी योग्यताके अनुसार जीता या मरता है लेकिन उस कार्यके समय अपनी योग्यतानुसार किसी जीवके राग होता है इतना निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है इसीलिये निमित्तकी अपेक्षासे समितिके पाँच भेद होते हैं उपादान अपेक्षा तो भेद नहीं पड़ता।

(४) गुप्ति निवृत्ति स्वरूप है और समिति प्रवृत्ति स्वरूप है। सम्यग्दृष्टिको समितिमें जितने अंशमें वीतरागभाव है उतने अंशमें संवर है और जितने अंशमें राग है उतने अंशमें बन्ध है।

(५) मिथ्यादृष्टि जीव तो ऐसा मानता है कि मैं पर जीवोंको बचा सकता हूं तथा मैं पर द्रव्योंका कुछ कर सकता हूं इसीलिये उसके समिति होती ही नहीं। द्रव्यलिंगी मुनिके शुभोपयोगरूप समिति होती है किन्तु वह सम्यक् समिति नहीं है और संवरका कारण भी नहीं है पुनश्च वह तो शुभोपयोगको धर्म मानता है इसीलिये वह मिथ्यात्वी है।

२—पहले समितिको आस्रवरूप कहा था और यहाँ संवररूप कहा है, इसका कारण बतलाते हैं—

छट्ठे अध्यायके ५ वें सूत्रमे पच्चीस प्रकारकी क्रियाओंको आस्रव का कारण कहा है, वहाँ गमन आदिमे होनेवाली जो शुभरागरूप क्रिया है सो ईर्यापथ क्रिया है और वह पाँच समितिरूप है ऐसा बतलाया है और उसे बंधके कारणोमे गिना है। परन्तु यहाँ समितिको संवरके कारणमे गिना है, इसका कारण यह है कि, जैसे सम्यग्दृष्टिके वीतरागताके अनुसार पाँच समिति संवरका कारण होती हैं वैसे उसके जितने अंशमे राग है उतने अंशमे वह आस्रवका भी कारण होती है। यहाँ संवर अधिकारमे संवरकी मुख्यता होनेसे समितिको संवरके कारणरूपसे वर्णन किया है और छट्ठे अध्यायमे आस्रवकी मुख्यता है अतः वहाँ समितिमे जो राग है उसे आस्रव के कारणरूपसे वर्णन किया है।

३—उपरोक्त प्रमाणानुसार समिति वह चारित्रका मिश्रभावरूप है ऐसा भाव सम्यग्दृष्टिके होता है, उसमे आंशिक वीतरागता है और आंशिक राग है। जिस अंशमे वीतरागता है उस अंशके द्वारा तो संवर ही होता है और जिस अंशमें सरागता है। उस अंशके द्वारा बंध ही होता है। सम्यग्दृष्टिके ऐसे मिश्ररूप भावसे तो संवर और बंध ये दोनो कार्य होते हैं किंतु अकेले रागके द्वारा ये दो कार्य नही हो सकते, इसीलिये 'अकेले प्रशस्त राग' से पुण्याश्रव भी मानना और संवर निर्जरा भी मानना सो भ्रम है। मिश्ररूप भावमे भी यह सरागता है और यह वीतरागता है ऐसी यथार्थ पहिचान सम्यग्दृष्टिके ही होती है, इसीलिये वे अवशिष्ट सरागभावको हेयरूपसे श्रद्धान करते हैं। मिथ्यादृष्टिके सरागभाव और वीतरागभावकी यथार्थ पहिचान नही है, इसीलिये वह सरागभावमे संवरका भ्रम करके प्रशस्त रागरूप कार्योंको उपादेयरूप श्रद्धान करता है। (मो० प्रकाशक—पृष्ठ ३३४-३५)

४—समितिके पांच भेद

जब साधु गुप्तिरूप प्रवर्तनमे स्थिर नहीं रह सकते तब वे ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेप और उत्सर्ग इन पांच समितिमे प्रवर्तते हैं,

उस समय असंयमके निमित्तसे बन्धनेवाला कर्म नहीं बन्धता सो उतना संवर होता है।

यह समिति मुनि और श्रावक दोनों यथायोग्य पालते हैं।

(देखो पुरुषार्थ सिद्धयुपाय गाथा २०३ का भावार्थ)

पाँच समितिकी व्याख्या निम्नप्रकार है—

ईर्यासमिति—चार हाथ आगे भूमि देखकर शुद्धमार्गमें चलना।

भाषासमिति—हित, मित और प्रिय वचन बोलना।

एषणासमिति—श्रावकके घर विधिपूर्वक दिनमें एक ही बार निर्दोष आहार लेना सो एषणासमिति है।

आदाननिक्षेपसमिति—सावधानी पूर्वक निर्जंतु स्थानको देखकर वस्तुको रखना देना तथा उठाना।

उत्सर्गसमिति— जीव रहित स्थानमें मल मूत्रादिका क्षेपण करना।

यह व्यवहार व्याख्या है यह मात्र निमित्त नमित्तिक सम्बन्ध बतलाती है परन्तु ऐसा नहीं समझना कि जीव पर द्रव्यका कर्ता है और पर द्रव्यकी अवस्था जीवका कर्म है ॥ ५ ॥

दूसरे सूत्रमें संवरके ६ कारण बतलाये हैं उनमें से समिति और गुप्तिका वर्णन पूर्ण हुआ। अब दश धर्मका वर्णन करते हैं।

दश धर्म

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्य ब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥ ६ ॥

अर्थ—[**उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्य-ब्रह्मचर्याणि**] उत्तम क्षमा उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव उत्तम शौच उत्तम सत्य उत्तम संयम उत्तम तप उत्तम त्याग उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश [**धर्माः**] धर्म हैं।

टीका

१ प्रश्न—ये दश प्रकारके धर्म किसलिये कहे ?

उत्तर—प्रवृत्तिको रोकनेके लिये प्रथम गुप्ति बतलाई, उस गुप्तिमें

प्रवृत्ति करनेमे जब जीव असमर्थ होता है तब प्रवृत्तिका उपाय करनेके लिये समिति कही। इस समितिमे प्रवर्तनेवाले मुनिको प्रमाद दूर करनेके लिये ये दश प्रकारके धर्म बतलाये हैं।

२—इस सूत्रमे बतलाया गया 'उत्तम' शब्द क्षमा आदि दशो धर्मों को लागू होता है, यह गुणवाचक शब्द है। उत्तम क्षमादि कहनेसे यहाँ रागरूप क्षमा न लेना किन्तु स्वरूपकी प्रतीति सहित क्रोधादि कषायके अभावरूप क्षमा समझना। उत्तम क्षमादि गुण प्रगट होनेपर क्रोधादि कषायका अभाव होता है, उसीसे आस्रवकी निवृत्ति होती है अर्थात् संवर होता है।

३—धर्मका स्वरूप और उस सम्बन्धी होनेवाली भूल

जिसमे न राग द्वेष है, न पुण्य है, न कषाय है, न न्यून-अपूर्ण है और न विकारित्व है ऐसे पूर्ण वीतराग ज्ञायकमात्र एकरूप स्वभावकी जो प्रतीति लक्ष-ज्ञान और उसमे स्थिर होना सो सच्चा धर्म है, यह वीतरागकी आज्ञा है।

बहुतसे जीव ऐसा मानते हैं कि बधादिकके भयसे अथवा स्वर्ग मोक्ष की इच्छासे क्रोधादि न करना सो धर्म है। परन्तु उनकी यह मान्यता मिथ्या है—असत् है क्योंकि उनके क्रोधादि करनेका अभिप्राय तो दूर नही हुआ। जैसे कोई मनुष्य राजादिकके भयसे या महन्तपनके लोभसे परस्त्री सेवन नही करता तो इस कारणसे उसे त्यागी नही कहा जा सकता, इसी प्रमाणसे उपरोक्त मान्यता वाले जीव भी क्रोधादिकके त्यागी नही हैं, और न उनके धर्म होता है। (मो० प्र०)

प्रश्न—तो क्रोधादिकका त्याग किस तरह होता है ?

उत्तर—पदार्थ इष्ट-अनिष्ट मालूम होनेपर क्रोधादिक होते हैं। तत्त्वज्ञानके अभ्याससे जब कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट मालूम न हो तब क्रोधादिक स्वयं उत्पन्न नहीं होते और तभी यथार्थ धर्म होता है।

४—क्षमादिककी व्याख्या निम्नप्रकार है.—

(१) क्षमा—निंदा, गाली हास्य, अनादर, मारना, शरीरका घात करने आदि होनेपर अथवा ऐसे प्रसंगोंको निकट आते देखकर भावोंमें मलिनता न होना सो क्षमा है।

(२) मार्दव—जाति आदि आठ प्रकारके मदके आवेशसे होनेवाले अभिमानका अभाव सो मार्दव है अथवा मैं परद्रव्यका कुछ भी कर सकता हूँ ऐसी मान्यतारूप अहंकारभावको जड़मूलसे उखाड़ देना सो मार्दव है।

(३) आर्जव—माया कपटसे रहितपन सरलता–सीधापन को आर्जव कहते हैं।

(४) शौच—लोभसे उत्पन्न्नरूपसे उपराम पाना–निवृत्त होना सो शौच–पवित्रता है।

(५) सत्य—सत् जीवोंमें–प्रशंसनीय जीवोंमें साधु वचन (सरल वचन) बोलनेका जो भाव है सो सत्य है।

[प्रश्न—उत्तम सत्य और भाषा समिति में क्या अन्तर है ?

उत्तर—समितिरूपमें प्रवर्तने वाले मुनिके साधु और असाधु पुरुषोंके प्रति वचन व्यवहार होता है और वह हित परिमित वचन है। उस मुनिको शिष्य तथा उनके भक्त (श्रावकों) में उत्तम सत्य ज्ञान चारित्रके लक्षणादिक सीखने-सिखानेमें अधिक भाषा व्यवहार करना पड़ता है उसे उत्तम सत्य धर्म कहा जाता है।]

(६) संयम—समितिमें प्रवर्तनेवाले मुनिके प्राणियोंको पीड़ा न पहुँचाने-करनेका जो भाव है सो संयम है।

(७) तप—भावकर्मका नाश करनेके लिये स्व की शुद्धताके प्रतपन को तप कहते हैं।

(८) त्याग—संयमी जीवोंको योग्य ज्ञानादिक देना सो त्याग है।

(९) आकिंचन्य—विद्यमान शरीरादिकमें भी संस्कारके त्यागके लिये 'यह मेरा है' ऐसे अनुरागकी निवृत्तिको आकिंचन्य कहते हैं। आत्मा

स्वरूपसे भिन्न ऐसे शरीरादिक मे या रागादिकमे ममत्वरूप परिणामोके अभावको आकिंचन्य कहते हैं।

(१) ब्रह्मचर्य—स्त्री मात्रका त्यागकर अपने आत्म स्वरूपमे लीन रहना सो ब्रह्मचर्य है। पूर्वमे भोगे हुये स्त्रियोके भोगका स्मरण तथा उसकी कथा सुननेके त्यागसे तथा स्त्रियोंके पास बैठनेके छोडनेसे और स्वच्छद प्रवृत्ति रोकनेके लिये गुरुकुलमे रहनेसे पूर्णरूपेण ब्रह्मचर्य पलता है। इन दशो शब्दोमे 'उत्तम' शब्द जोडनेसे 'उत्तम' क्षमा आदि दश धर्म होते हैं। उत्तम क्षमा आदि कहनेसे उसे शुभ रागरूप न समझना किन्तु कषाय रहित शुभभावरूप समझना। (स० सि०)

५—दश प्रकारके धर्मोंका वर्णन

क्षमाके निम्न प्रकार ५ भेद हैं —

(१) जैसे स्वयं निर्वल होनेपर सवलका विरोध नही करता, उसी प्रकार 'यदि मैं क्षमा करू तो मुझे कोई परेशान न करेगा' ऐसे भावसे क्षमा रखना। इस क्षमामें ऐसी प्रतीति न हुई कि मैं क्रोध रहित ज्ञायक ऐसा त्रिकाल स्वभावसे शुद्ध हूँ' किन्तु प्रतिकूलताके भयवश सहन करनेका राग हुआ इसीलिये वह यथार्थ क्षमा नही है, धर्म नही है।

(२) यदि मैं क्षमा करूं तो दूसरी तरफसे मुझे नुकसान न हो किंतु लाभ हो—ऐसे भावसे सेठ आदिके उलाहनेको सहन करे, प्रत्यक्षमे क्रोध न करे, किन्तु यह यथार्थ क्षमा नही है, धर्म नही है।

(३) यदि मैं क्षमा करू तो कर्मबधन रुक जायगा, क्रोध करनेसे नीच गतिमें जाना पडेगा इसलिये क्रोध न करू—ऐसे भावसे क्षमा करे किन्तु यह भी सच्ची क्षमा नही है, यह धर्म नही है, क्योकि उसमे भय है, किन्तु नित्य ज्ञातास्वरूप की निर्भयता-नि.संदेहता नही है।

(४) ऐसी वीतरागकी आज्ञा है कि क्रोधादि नही करना, इसी प्रकार शास्त्रमे कहा है, इसलिये मुझे क्षमा रखना चाहिये, जिससे मुझे पाप नही लगेगा और लाभ होगा—ऐसे भावसे शुभ परिणाम रखे और उसे

वीतरागकी आज्ञा माने किन्तु यह यथार्थ क्षमा नहीं है क्योंकि यह पराधीन क्षमा है यह धर्म नहीं है।

(५) सच्ची क्षमा अर्थात् उत्तम क्षमा' का स्वरूप यह है कि आत्मा अविनाशी अवध निर्मल ज्ञायक ही है इसके स्वभावमें शुभाशुभ परिणाम का कर्तृत्व भी नहीं है। स्वयं जैसा है वैसा स्व को जानकर, मानकर उसमें ज्ञाता रहना–स्थिर होना सो वीतरागकी आज्ञा है और यह धर्म है। यह पांचवीं क्षमा क्रोधमें युक्त न होना क्रोधका भी ज्ञाता ऐसा सहज अकषाय क्षमा स्वरूप निज स्वभाव है। इसप्रकार निर्मल विवेककी जागृति द्वारा शुद्धस्वरूपमें सावधान रहना सो उत्तम क्षमा है।

नोट—जैसे क्षमाके पांच भेद बतलाये तथा उसके पांचवें प्रकारको उत्तम क्षमाधर्म बतलाया उसी प्रकार मार्दव आर्जव आदि सभी धर्मोंमें ये पांचों प्रकार समझना और उन प्रत्येकमें पांचवा भेद ही धर्म है ऐसा समझना।

६–क्षमाके शुभ विकल्पका मैं कर्ता नहीं हूं ऐसा समझकर राग द्वेषसे छूटकर स्वरूपकी सावधानी करना सो स्व की क्षमा है स्व सन्मुखता के अनुसार रागादिकी उत्पत्ति न हो वही क्षमा है। क्षमा करना सरलता रखना' ऐसा निमित्तकी भाषामें बोला तथा लिखा जाता है परन्तु इसका अर्थ ऐसा समझना कि शुभ या शुद्ध परिणाम करनेका विकल्प करना सो भी सहज स्वभावरूप क्षमा नहीं है। मैं सरलता रखूं क्षमा करूं' ऐसा भंगरूप विकल्प राग है, क्षमा धर्म नहीं है क्योंकि यह पुण्य परिणाम भी बंधभाव है इससे प्रथम अरागी मोक्षमार्गरूप धर्म नहीं होता और पुण्यसे मोक्षमार्गमें लाभ–या पुष्टि हो ऐसा भी नहीं है ॥ ६ ॥

दूसरे सूत्रमें कहे गये संवर के छह कारणोंमेंसे पहले तीन कारणों का वर्णन पूर्ण हुआ। अब चौथा कारण बारह अनुप्रेक्षा है उनका वर्णन करते हैं।

बारह अनुप्रेक्षा

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरा

लोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्त्वानुचिंतनमनुप्रेक्षाः॥७॥

अर्थ—[अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरा-लोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्त्वानुचिंतन] अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, सवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म इन बारहके स्वरूपका बारबार चिंतवन करना सो [अनुप्रेक्षाः] अनुप्रेक्षा है।

टीका

१–कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि अनित्यादि चिंतवनसे शरीरादिको बुरा जान–हितकारी न जान उससे उदास होना सो अनुप्रेक्षा है, किंतु यह ठीक नही है, यह तो जैसे पहले कोई मित्र था तब उसके प्रति राग था और बादमें उसके अवगुण देखकर उदासीन हुआ उसी प्रकार पहले शरीरादिकसे राग था किन्तु बादमे उसके अनित्यत्व आदि अवगुण देखकर उदासीन हुआ, इसकी यह उदासीनता द्वेषरूप है, यह यथार्थ अनुप्रेक्षा नहीं है। (मो० प्र०)

प्रश्न—तो यथार्थ अनुप्रेक्षाका स्वरूप क्या है ?

उत्तर—जैसा स्व का–आत्माका और शरीरादिकका स्वभाव है वैसा पहचान कर भ्रम छोडना और इस शरीरादिकको भला जानकर राग न करना तथा बुरा जानकर द्वेष न करना, ऐसी यथार्थ उदासीनता के लिये अनित्यत्व आदिका यथार्थ चिंतवन करना सो ही वास्तविक अनु-प्रेक्षा है। उसमे जितनी वीतरागता बढती है उतना सवर है और जो राग रहता है वह बंधका कारण है। यह अनुप्रेक्षा सम्यग्दृष्टिके ही होती है क्योंकि यही सम्यक् अनुप्रेक्षा बतलाई है। अनुप्रेक्षाका अर्थ है कि आत्माको अनुसरण कर इसे देखना।

२–जैसे अग्निसे तपाया गया लोहेका पिंड तन्मय (अग्निमय) हो जाता है उसी प्रकार जब आत्मा क्षमादिकमे तन्मय हो जाता है तब क्रोधादिक उत्पन्न नही होते। उस स्वरूपको प्राप्त करनेके लिये स्व सन्मुखतापूर्वक अनित्य आदि बारह भावनाओंका बारम्बार चिंतवन करना जरूरी है। वे बारह भावनायें आचार्यदेवने इस सूत्रमे बतलाई हैं।

३—बारह भावनाओंका स्वरूप

(१) अनित्यानुप्रेक्षा—दृश्यमान संयोगी ऐसे शरीरादि समस्त पदार्थ इन्द्रधनुष बिजली अथवा पानीके बुदबुदेके समान शीघ्र नाश हो जाते हैं, ऐसा विचार करना सो अनित्य अनुप्रेक्षा है।

शुद्ध निश्चयसे आत्माका स्वरूप देव असुर और मनुष्यके वैभवा दिकसे रहित है आत्मा ज्ञानस्वरूपी सदा शाश्वत है और संयोगी भाव अनित्य हैं—ऐसा चिंतवन करना सो अनित्य भावना है।

(२) अशरणानुप्रेक्षा—जैसे निर्जन वनमें भूखे सिंहके द्वारा पकड़े हुये हिरणके बच्चेको कोई शरण नहीं है उसी प्रकार संसारमें जीवको कोई शरणभूत नहीं है। यदि जीव स्वयं स्व के शरणरूप स्वभावको पहिचानकर शुद्धभावसे धर्मका सेवन करे तो वह सभी प्रकारके दुःखसे बच सकता है अन्यथा वह प्रतिसमय भावमरणसे दुःखी है—ऐसा चिंतवन करना सो अशरण अनुप्रेक्षा है।

आत्मामें ही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यग्चारित्र और सम्यक् तप—रहते हैं इससे आत्मा ही शरणभूत है और इनसे पर ऐसे सब अशरण हैं—ऐसा चिंतवन करना वह अशरण भावना है।

(३) संसारानुप्रेक्षा—इस चतुर्गतिरूप संसारमें भ्रमण करता हुआ जीव जिसका पिता था उसीका पुत्र जिसका पुत्र था उसीका पिता जिसका स्वामी था उसीका दास जिसका दास था उसीका स्वामी हो जाता है अथवा वह स्वयं स्व का ही पुत्र हो जाता है जो जन देहाश्रितको अपना संसार मानना भ्रम है पर कर्म जीवको संसारमें रुलानेवाला नहीं है। इत्यादि प्रकार से संसारके स्वरूपका और उसके कारणरूप विकारी भावों के स्वरूपका विचार करना सो संसार अनुप्रेक्षा है।

यद्यपि आत्मा अपनी भूलसे अपनेमें राग-द्वेष-अज्ञानरूप मलिन भावोंको उत्पन्न करके संसाररूप घोर वनमें भटका करती है—तथापि निश्चय नयसे आत्मा—विकारी भावोंसे और कर्मोंसे रहित है—ऐसा चिंतवन करना सो संसार भावना है।

(४) एकत्वानुप्रेक्षा—जीवन, मरण-संसार और मोक्ष आदि दशाओंमे जीव स्वयं अकेला ही है, स्वयं स्वसे ही विकार करता है, स्वय स्वसे ही धर्म करता है, स्वय स्वसे ही सुखी-दु खी होता है। जीवमे पर द्रव्योका अभाव है इसलिये कर्म या पर द्रव्य पर क्षेत्र, पर कालादि जीवको कुछ भी लाभ या हानि नही कर सकते—ऐसा चितवन करना सो एकत्व अनुप्रेक्षा है।

मैं एक हूँ, ममता रहित हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञान दर्शन लक्षणवाला हूँ, कोई अन्य परमाणुमात्र भी मेरा नही है, शुद्ध एकत्व ही उपादेय है ऐसा चितवन करना सो एकत्व भावना है।

(५) अन्यत्वानुप्रेक्षा—प्रत्येक आत्मा और सर्व पदार्थ सदा भिन्न-भिन्न हैं, वे प्रत्येक अपना-अपना कार्य करते हैं। जीव पर पदार्थोंका कुछ कर नही सकते और पर पदार्थ जीवका कुछ कर नही सकते। जीवके विकारी भाव भी जीवके त्रिकालिक स्वभावसे भिन्न हैं, क्योकि वे जीवसे अलग हो जाते हैं। विकारी भाव चाहे तीव्र हो या मन्द तथापि उससे आत्माको लाभ नही होता। आत्माको परद्रव्योसे और विकारसे पृथकत्व है ऐसे तत्त्वज्ञानकी भावना पूर्वक वैराग्यकी वृद्धि होनेसे अन्तमे मोक्ष होता है—इसप्रकार चितवन करना सो अन्यत्व अनुप्रेक्षा है।

आत्मा ज्ञान दर्शन स्वरूप है और जो शरीरादिक बाह्य द्रव्य हैं वे सब आत्मासे भिन्न हैं। परद्रव्य छेदा जाय या भेदा जाय, या कोई ले जाय अथवा नष्ट हो जाय अथवा चाहे वैसा हो रहे किन्तु परद्रव्यका परिग्रह मेरा नही है—ऐसा चितवन करना सो अन्यत्व भावना है।

(६) अशुचित्व अनुप्रेक्षा—शरीर स्वभावसे ही अशुचिमय है और जीव (-आत्मा) स्वभावसे ही शुचिमय (शुद्ध स्वरूप) है, शरीर रुधिर, मास, मल आदिसे भरा हुआ है, वह कभी पवित्र नही हो सकता, इत्यादि प्रकारसे आत्माकी शुद्धताका और शरीरकी अशुद्धताका ज्ञान करके शरीरका ममत्व तथा राग छोड़ना और निज आत्माके लक्षसे शुद्धिको बढ़ाना।

शरीरके प्रति द्वेष करना अनुप्रेक्षा नहीं है किन्तु शरीरके प्रति इष्ट अनिष्टपने की मान्यता और राग द्वेष दूर करना और आत्माके पवित्र स्वभावकी तरफ लक्ष करनेसे तथा सम्यग्दर्शनादिककी भावनाके द्वारा आत्मा अत्यन्त पवित्र होता है—ऐसा बारम्बार चिंतवन करना सो अशुचित्व अनुप्रेक्षा है।

आत्मा देहसे भिन्न, कर्म रहित अनन्त सुखका पवित्र स्थान है। इसकी नित्य भावना करना और विकारी भाव अनित्य दुःखरूप; अशुचि मय है ऐसा जानकर उससे विमुख हो जानेकी भावना करना सो अशुचि भावना है।

(७) आस्रव अनुप्रेक्षा—मिथ्यात्व और रागद्वेषरूप अपने अपरा धसे प्रति समय नवीन विकारीभाव उत्पन्न होता है। मिथ्यात्व मुख्य आस्रव है क्योंकि यह संसारकी जड़ है इसलिये इसका स्वरूप जानकर उसे छोड़नेका चिंतवन करना सो आस्रव भावना है।

मिथ्यात्व, अविरति आदि आस्रवके भेद कहे हैं वे आस्रव निश्चय नयसे जीवके नहीं हैं। द्रव्य और भाव दोनों प्रकारके आस्रवरहित शुद्ध आत्माका चिंतवन करना सो आस्रव भावना है।

(८) संवर अनुप्रेक्षा—मिथ्यात्व और रागद्वेषरूप भावोंका रुकना सो भावसंवर है उससे नवीन कर्मका आना रुक जाय सो द्रव्यसंवर है। प्रथम तो आत्माके शुद्ध स्वरूपके लक्षसे मिथ्यात्व और उसके सहचारी अनन्तानुबन्धी कषायका संवर होता है सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव संवर है और इससे आत्माका कल्याण होता है ऐसा चिंतवन करना सो संवर अनुप्रेक्षा है।

परमार्थ नयसे आत्मामें संवर ही नहीं है इसीलिये संवर भाव विमुक्त शुद्ध आत्माका नित्य चिंतवन करना सो संवर भावना है।

निर्जरा अनुप्रेक्षा—अज्ञानीके सविपाक निर्जरासे आत्माका कुछ भी भला नहीं होता किन्तु आत्माका स्वरूप जानकर उसके त्रिकाली स्वभावके आलम्बनके द्वारा शुद्धता प्रगट करनेसे जो निर्जरा होती है उससे

आत्माका कल्याण होता है—इत्यादि प्रकारसे निर्जराके स्वरूपका विचार करना सो निर्जरा अनुप्रेक्षा है।

स्वकाल पक्व निर्जरा (सविपाक निर्जरा) चारों गतिवालोंके होती है किन्तु तपकृत निर्जरा (अविपाक निर्जरा) सम्यग्दर्शन पूर्वक व्रत धारियोंके ही होती है ऐसा चिंतवन करना सो निर्जरा भावना है।

(१०) लोक अनुप्रेक्षा—लोकालोकरूप अनन्त आकाशके मध्यमे चौदह राजू प्रमाण लोक है। इसके आकार तथा उसके साथ जीवका निमित्त नैमित्तिक संबध विचारना और परमार्थकी अपेक्षासे आत्मा स्वय ही स्वका लोक है इसलिये स्वय स्वको ही देखना लाभदायक है, आत्माकी अपेक्षासे परवस्तु उसका अलोक है, इसलिये आत्माको उसकी तरफ लक्ष करनेकी आवश्यकता नही है। स्वके आत्म स्वरूप लोकमे (देखने जानने-रूप स्वभावमे) स्थिर होनेसे परवस्तुएँ ज्ञानमें सहजरूपसे जानी जाती हैं—ऐसा चिंतवन करना सो लोकानुप्रेक्षा है, इससे तत्त्वज्ञानकी शुद्धि होती है।

आत्मा निजके अशुभभावसे नरक तथा तिर्यंच गति प्राप्त करता है, शुभभावसे देव तथा मनुष्यगति पाता है और शुद्ध भावसे मोक्ष प्राप्त करता है—ऐसा चिंतवन करना सो लोक भावना है।

(११) बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा—रत्नत्रयरूप बोधि प्राप्त करनेमें महान् पुरुषार्थकी जरूरत है, इसलिये इसका पुरुषार्थ बढ़ाना और उसका चिंतवन करना सो बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा है।

निश्चयनयसे ज्ञानमे हेय और उपादेयपनका भी विकल्प नही है इसलिये मुनिजनोके द्वारा ससारसे विरक्त होनेके लिये चिंतवन करना सो बोधिदुर्लभ भावना है।

(१२) धर्मानुप्रेक्षा—सम्यक् धर्मके यथार्थ तत्त्वोका बारम्बार चिंतवन करना, धर्म वस्तुका स्वभाव है, आत्माका शुद्ध स्वभाव ही स्वका-आत्माका धर्म है तथा आत्माके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म अथवा दश लक्षणरूप धर्म अथवा स्वरूपकी हिंसा नही करनेरूप अहिंसाधर्म, वही

धर्म आत्माको इष्ट स्थानमें (सम्पूर्ण पवित्र दशामें) पहुँचाता है धर्म ही परम रसायन है। धर्म ही चिंतामणि रत्न है धर्म ही कल्पवृक्ष—कामधेनु है और धर्म ही मित्र है धर्म ही स्वामी है धर्म ही बन्धु हितु रक्षक और साथ रहनेवाला है, धर्म ही शरण है धर्म ही धन है धर्म ही अविनाशी है धर्म ही सहायक है और यही धर्मका जिनेश्वर भगवानने उपदेश किया है—इसप्रकार चितवन करना सो धर्म अनुप्रेक्षा है।

निश्चयनयसे आत्मा श्रावकधर्म या मुनिधर्मसे भिन्न है इसलिये माध्यस्थभाव अर्थात् रागद्वेष रहित निर्मल भावद्वारा शुद्धात्माका चितवन करना सो धर्म भावना है। (श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत द्वादशानुप्रेक्षा)

ये बारह भेद निमित्तकी अपेक्षासे हैं। धर्म तो वीतरागभावरूप एक ही है, इसमें भेद नहीं होता। जहाँ राग हो वहाँ भेद होता है।

४—ये बारह भावना ही प्रत्याख्यान प्रतिक्रमण आलोचना और समाधि है इसलिये निरन्तर अनुप्रेक्षाका चितवन करना चाहिये। (भावना और अनुप्रेक्षा ये दोनों एकार्थ वाचक हैं)

५—इन अनुप्रेक्षाओंका चितवन करनेवाले जीव उत्तम क्षमादि धर्म पालते हैं और परीषहोंको जीतते हैं इसीलिये इनका कथन दोनोंके बीचमें किया गया है ॥७॥

दूसरे सूत्रमें कहे हुए संवरके छह कारणोंमेंसे पहले चार कारणोंका वर्णन पूर्ण हुआ। अब पाँचवें कारण परीषह जयका वर्णन करते हैं।

परीषह सहन करनेका उपदेश

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्या परीषहाः ॥८॥

अर्थ—[मार्गाच्यवननिर्जरार्थं] संवरके मार्गसे च्युत न होने और कर्मोंकी निर्जराके लिये [परीषहाः परिसोढव्याः] बावीस परीषह सहन करने योग्य हैं (यह संवरका प्रकरण चल रहा है अतः इस सूत्रमें कहे गये 'मार्ग' शब्दका अर्थ संवरका मार्ग समझना।)

टीका

१—यहाँसे लेकर सत्रहवें सूत्र तक परीषहका वर्णन है। इस विषयमें जीवोंकी बडी भूल होती है, इसलिये यह भूल दूर करनेके लिये यहाँ परीषह जयका यथार्थ स्वरूप बतलाया है। इस सूत्रमें प्रथम 'मार्गाच्यवन' शब्दका प्रयोग किया है इसका अर्थ है मार्गसे च्युत न होना। जो जीव मार्गसे (सम्यग्दर्शनादिसे) च्युत हो जाय उसके संवर नही होता किन्तु बन्ध होता है, क्योंकि उसने परीषह जय नही किया किन्तु स्वयं विकारसे घाता गया। अब इसके बादके सूत्र ९-१०-११ के साथ सम्बन्ध बतानेकी खास आवश्यकता है।

२—दसवें सूत्रमें कहा गया है कि—दशवे, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें बाईस परीषहोंमेंसे आठ तो होती ही नही अर्थात् उनको जीतना नही है, और बाकीकी चौदह परीषह होती हैं उन्हे वह जीतता है अर्थात् क्षुधा, तृषा आदि परीषहोंसे उस गुणस्थानवर्ती जीव घाता नही जाता किन्तु उनपर जय प्राप्त करता है अर्थात् उन गुणस्थानोंमें भूख, प्यास आदि उत्पन्न होनेका निमित्त कारणरूप कर्मका उदय होने पर भी वे निर्मोही जीव उनमें युक्त नही होते, इसीलिये उनके क्षुधा तृषा आदि सम्बन्धी विकल्प भी नही उठता, इसप्रकार वे जीव उन परीषहों पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त करते हैं। इसीसे उन गुणस्थानवर्ती जीवोंके रोटी आदिका आहार औषधादिका ग्रहण तथा पानी आदि ग्रहण नही होता ऐसा नियम है।

३—परीषहके बारेमें यह बात विशेषरूपसे ध्यान रखनी चाहिये कि संक्लेश रहित भावोंसे परीषहोंको जीत लेनेसे ही संवर होता है। यदि दसमें ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थानमें खाने पीने आदिका विकल्प आये तो संवर कैसे हो ? और परीषह जय हुआ कैसे कहलाये ? दसमें सूत्रमें कहा है कि चौदह परीषहों पर जय प्राप्त करनेसे ही संवर होता है। सातवें गुणस्थानमें ही जीवके खाने पीनेका विकल्प नही उठता क्योंकि वहाँ निर्विकल्प दशा है, वहाँ बुद्धिगम्य नही ऐसे अबुद्धिपूर्वक विकल्प होता है किन्तु वहाँ खाने पीनेके विकल्प नही होते इसलिये उन विकल्पोंके साथ

निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध रखनेवाली आहार पानीकी क्रिया भी नहीं होती। तो फिर दसवें गुणस्थानमें तो कषाय बिल्कुल सूक्ष्म होगई है और ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थानमें तो कषायका अभाव होनेसे निर्विकल्प दशा जम जाती है, वहाँ खाने पीनेका विकल्प ही कहाँसे हो सकता है? खाने पीनेका विकल्प और उसके साथ निमित्तरूपसे सम्बन्ध रखनेवाली खाने पीनेकी क्रिया तो बुद्धिपूर्वक विकल्प दशामें ही होती है; इसीलिये वह विकल्प और क्रिया तो छट्ठे गुणस्थान तक ही हो सकती है किन्तु उससे ऊपर नहीं होती अर्थात् सातवें आदि गुणस्थानमें नहीं होती। अतएव दसवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें तो उसप्रकारका विकल्प तथा बाह्य क्रिया अशक्य है।

४—दसवें सूत्रमें कहा है कि दस-ग्यारह और बारहवें गुणस्थानमें अज्ञान परीषहका जय होता है सो अब इसके तात्पर्यका विचार करते हैं।

अज्ञानपरीषहका जय यह बतलाता है कि वहाँ अभी केवलज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ किन्तु अपूर्ण ज्ञान है और उसके निमित्तरूप ज्ञानावरणी कर्मका उदय है। उपरोक्त गुणस्थानोंमें ज्ञानावरणीका उदय होने पर भी जीवके उस सम्बन्धी रंचमात्र आकुलता नहीं है। दशवें गुणस्थानमें सूक्ष्म कषाय है किन्तु वहाँ भी ऐसा विकल्प नहीं उठता कि 'मेरा ज्ञान न्यून है' और ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थानमें तो अकषाय भाव रहता है इसीलिये वहाँ भी ज्ञानकी अपूर्णताका विकल्प नहीं हो सकता। इस तरह उनके अज्ञान (ज्ञान अपूर्णता) है तथापि उनका परीषह जय वर्तता है। इसी प्रमाणसे उन गुणस्थानोंमें भोजन पानका परीषह जय सम्बन्धी सिद्धान्त भी समझना।

५—इस अध्यायके सोलहवें सूत्रमें वेदनीयके उदयसे ११ परीषह बतलाई हैं। उनके नाम-क्षुधा तृषा शीत उष्ण दंशमशक चर्या शय्या, वध रोग तृणस्पर्श और मल हैं।

दसवें ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें जीवके निज स्वभावसे ही इन ग्यारह परीषहोंका जय होता है।

६—कर्मका उदय दो तरहसे होता है—प्रदेशउदय और विपाक-उदय। जब जीव विकार करता है तब उस उदयको विपाकउदय कहते हैं और यदि जीव विकार न करे तो उसे प्रदेशउदय कहते हैं। इस अध्यायमे संवर निर्जराका वर्णन है। यदि जीव विकार करे तो उसके न परीषह जय हो और न संवर निर्जरा हो। परीषह जयसे संवर निर्जरा होती है। दसवें-ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमे भोजन-पानका परीषह जय कहा है; इसीलिये वहाँ उस सम्बन्धी विकल्प या बाह्य क्रिया नही होती।

७—परीषह जयका यह स्वरूप तेरहवें गुणस्थानमे विराजमान तीर्थंकर भगवान और सामान्य केवलियोके भी लागू होता है। इसीलिये उनके भी क्षुधा, तृषा आदि भाव उत्पन्न ही नही होते और भोजन-पानकी बाह्य क्रिया भी नही होती। यदि भोजन पानकी बाह्य क्रिया हो तो वह परीषह जय नही कहा जा सकता, परीषहजय तो संवर-निर्जराका कारण है। यदि भूख प्यास आदिके विकल्प होने पर भी क्षुधा परीषहजय तृषा परीषहजय आदि माना जावे तो परीषहजय संवर-निर्जराका कारण न ठहरेगा।

८—श्री नियमसारकी छट्ठी गाथामें भगवान श्री कुन्दकुन्द-आचार्य ने कहा है कि—१ क्षुधा, २ तृषा, ३ भय, ४ रोष, ५ राग, ६ मोह, ७ चिंता, ८ जरा, ९ रोग, १० मरण, ११ स्वेद-पसीना, १२ खेद, १३ मद-घमण्ड, १४ रति, १५ विस्मय, १६ निद्रा, १७ जन्म और १८ उद्वेग ये अठारह महादोष आप्त अर्हंत वीतराग भगवानके नही होते।

९—भगवानके उपदिष्ट मार्गसे न डिगने और उस मार्गमें लगातार प्रवर्त्तन करनेसे कर्मका द्वार रुक जाता है और इसीसे संवर होता है, तथा पुरुषार्थके कारणसे निर्जरा होती है और उससे मोक्ष होता है, इसलिये परीषह सहना योग्य है।

१०—परीषह जयका स्वरूप और उस सम्बन्धी होनेवाली भूल

परीषह जयका स्वरूप ऊपर कहा गया है कि क्षुधादि लगने पर उस सम्बन्धी विकल्प भी न होने—न उठनेका नाम परीषह जय है। कितने

ही जीव भूख आदि लगने पर उसके नाशके उपाय न करनेको परीषह सहना मानते हैं किन्तु यह मिथ्या मान्यता है। भूख प्यास आदिके दूर करने का उपाय न किया परन्तु अन्तरंगमें क्षुधादि अनिष्ट सामग्री मिलनेसे दुःखी हुआ तथा रति आदिका कारण (इष्ट सामग्री) मिलनेसे सुखी हुआ ऐसा जो सुखदुःखरूप परिणाम है वही आर्त्त रौद्र ध्यान है ऐसे भावोंसे संवर कैसे हो और उसे परीषहजय कैसे कहा जाय ? यदि दुःखके कारण मिलने पर दुःखी न हो तथा सुखके कारण मिलनेसे सुखी न हो किन्तु ज्ञेयरूपसे उसका जाननेवाला ही रहे तभी वह परीषह जय है। (मो० प्र०)

परीषहके बाईस भेद

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानाऽदर्शनानि ॥९॥

अर्थ— [क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानाऽदर्शनानि] क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ये बाईस परीषह हैं।

टीका

१—आगेके सूत्रमें आये हुये परीषहोंका [illegible] इस सूत्रमें [illegible] इसलिये [illegible] परीषहोंका [illegible] करनेके अर्थ [illegible] इस सूत्रमें कहे गये २२ परीषह [illegible] है। जहाँ [illegible] हो वहाँ परीषहका सहन होता है परन्तु परीषह नहीं माना है। [illegible] परीषह [illegible] हो रहे हैं। [illegible] परीषह जय [illegible] परीषह-जय [illegible] है।

२—अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि परीषह सहन करना दु'ख है किंतु ऐसा नही है, 'परीषह सहन करने'का अर्थ दु ख भोगना नही होता। क्योकि जिस भावसे जीवके दु ख होता है वह तो आर्तध्यान है और वह पाप है, उसीसे अशुभवधन है और यहाँ तो सवरके कारणोका वर्णन चलरहा है। लोगोकी अपेक्षासे बाह्य सयोग चाहे प्रतिकूल हो या अनुकूल हो तथापि राग या द्वेष न होने देना अर्थात् वीतराग भाव प्रगट करनेका नाम ही परीषह जय है अर्थात् उसे ही परीषह सहन किया कहा जाता है। यदि अच्छे बुरेका विकल्प उठे तो परीषह सहन करना नही कहलाता, किन्तु रागद्वेष करना कहलाता है, राग द्वेपमे कभी सवर होता ही नही किन्तु बध ही होता है। इसलिये ऐसा समझना कि जितने अशमे वीतरागता है उतने अशमे परीषह जय है और यह परीषहजय सुख शातिरूप है। लोग परीषहजयको दु ख कहते हैं सो असत् मान्यता है। पुनश्च अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि पार्श्वनाथ भगवान और महावीर भगवानने परीषहके बहुत दु ख भोगे, परन्तु भगवान तो स्व के शुद्धोपयोग द्वारा आत्मानुभवमे स्थिर थे और स्वात्मानुभवके शात रसमें झूलते थे—लीन थे इसीका नाम परीषह जय है। यदि उस समय भगवानके दु ख हुआ हो तो वह द्वेष है और द्वेषसे बध होता किंतु सवर—निर्जरा नही होती। लोग जिसे प्रतिकूल मानते हैं ऐसे सयोगोमें भी भगवान निज स्वरूपसे च्युत नही हुये थे इसी-लिये उन्हे दु'ख नही हुआ किन्तु सुख हुआ और इसीसे उसके सवर—निर्जरा हुई थी। यह ध्यान रहे कि वास्तवमें कोई भी सयोग अनुकूल या प्रति-कूलरूप नही है, किन्तु जीव स्वय जिस प्रकारके भाव करता है उसमे वैसा आरोप किया जाता है और इसीलिये लोग उसे अनुकूल सयोग या प्रतिकूल सयोग कहते हैं।

३—बावीस परीषह जयका स्वरूप

(१) क्षुधा—क्षुधा परीषह सहन करना योग्य है, साधुओका भोजन तो गृहस्थ पर ही निर्भर है, भोजनके लिये कोई वस्तु उनके पास नही होती, वे किसी पात्रमे भोजन नही करते किंतु अपने हाथमे ही भोजन करते

हैं उनके शरीरपर वस्त्रादिक भी नहीं होते मात्र एक शरीर उपकरण है। पुनश्च अनशन अवमौदर्य (भूखसे कम खाना) वृत्तिपरिसंख्यान (आहारको जाते हुए घर वगैरहका नियम करना) आदि तप करते हुए दो दिन, चार दिन आठ दिन पक्ष महीना आदि व्यतीत होजाते हैं और यदि योग्य कालमें योग्य क्षेत्रमें अन्तराय रहित शुद्ध निर्दोष आहार न मिले तो वे भोजन (भिक्षा) ग्रहण नहीं करते और चित्तमें कोई भी विषाद-दुःख या खेद नहीं करते किन्तु धैर्य धारण करते हैं। इस तरह क्षुधारूपी अग्नि प्रज्वलित होती है तथापि धैर्यरूपी जलसे उसे शांत कर देते हैं और राग-द्वेष नहीं करते ऐसे मुनियोंको क्षुधा-परीषह सहनी योग्य है।

असाता वेदनीय कर्मकी उदीरणा हो तभी क्षुधा-भूख उत्पन्न होती है और उस वेदनीय कर्मकी उदीरणा छट्ठे गुणस्थान पर्यंत ही होती है उससे ऊपरके गुणस्थानोंमें नहीं होती। छट्ठे गुणस्थानमें रहनेवाले मुनिके क्षुधा उत्पन्न होती है तथापि वे आकुलता नहीं करते और आहार नहीं लेते किन्तु धैर्यरूपी जलसे उस क्षुधाको शांत करते हैं तब उनके परीषह जय करना कहलाता है। छट्ठे गुणस्थानमें रहनेवाले मुनिके भी इतना पुरुषार्थ होता है कि यदि योग्य समय निर्दोष भोजनका योग न बने तो आहारका विकल्प तोड़कर निर्विकल्प दशामें लीन हो जाते हैं तब उनके परीषह जय कहा जाता है।

(२) तृषा—प्यासको धैर्यरूपी जलसे शांत करना सो तृषा परीषह जय है।

(३) शीत—ठंडको शांतभावसे अर्थात् वीतरागभावसे सहन करना सो शीत परीषह जय है।

(४) उष्ण—गर्मीको शांतभावसे सहन करना अर्थात् ज्ञानमें ज्ञेयरूप करना सो उष्ण परीषह जय है।

(५) दंशमशक—डांस मच्छर चींटी बिच्छू इत्यादिके काटने पर शांत भाव रखना सो दंशमशक परीषह जय है।

(६) **नाग्न्य**—नग्न रहनेपर भी स्व मे किसी प्रकारका विकार न होने देना सो नाग्न्य परीषह जय है। प्रतिकूल प्रसंग आनेपर वस्त्रादि पहिन लेना नाग्न्य परीषह नही है किंतु यह तो मार्ग से ही च्युत होना है और परीषह तो मार्गसे च्युत न होना है।

(७) **अरति**—अरतिका कारण उपस्थित होनेपर भी सयममे अरति न करनी सो अरतिपरीषहजय है।

(८) **स्त्री**—स्त्रियोके हावभाव प्रदर्शन आदि चेष्टाको शांत भावसे सहन करना अर्थात् उसे देखकर मोहित न होना सो स्त्री परीषह जय है।

(९) **चर्या**—गमन करते हुए खेद खिन्न न होना सो चर्यापरीषह जय है।

(१०) **निषद्या**—नियमित काल तक ध्यानके लिये आसनसे च्युत न होना सो निषद्यापरीषह जय है।

(११) **शय्या**—विषम, कठोर, कंकरीले स्थानोमें एक करवटसे निद्रा लेना और अनेक उपसर्ग आने पर भी शरीरको चलायमान न करना सो शय्यापरीषहजय है।

(१२) **आक्रोश**—दुष्ट जीवो द्वारा कहे गये कठोर शब्दोंको शातभाव से सह लेना सो आक्रोशपरीषहजय है।

(१३) **वध**—तलवार आदिसे शरीर पर प्रहार करने वालेके प्रति भी क्रोध न करना सो वधपरीषहजय है।

(१४) **याचना**—अपने प्राणोका वियोग होना भी संभव हो तथापि आहारादिकी याचना न करना सो याचनापरीषहजय है।

नोटः—याचना करनेका नाम याचना परीषह जय नही है किन्तु याचना न करनेका नाम याचना परीषह जय है। जैसे अरति-द्वेष करनेका नाम अरति परीषह नही, किंतु अरति न करना सो अरति परीषहजय है, उसी तरह याचनामें भी समझना। यदि याचना करना परीषह जय हो

तो गरीब लोग आदि बहुत याचना करते हैं इसलिये उन्हें अधिक धर्म हो किन्तु ऐसा नहीं है। कोई कहता है कि याचना की इसमें मान की कमी-न्यूनता से परीषह जय कहना चाहिये यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि किसी तरहका तीव्र कषायी कायके लिये यदि किसी प्रकारकी कषाय छोड़े तो भी वह पापी ही है जैसे कोई लोभके लिये अपने अपमानको न समझे तो उसके लोभकी अतितीव्रता ही है इसीलिये इस अपमान करानेसे भी महा पाप होता है तथा यदि स्वयंके किसी तरहकी इच्छा नहीं है और कोई स्वयं अपमान करे तो उसे सहन करने वालेके महान धर्म होता है। भोजन के लोभसे याचना करके अपमान कराना सो तो पाप ही है धर्म नहीं। पुनश्च वस्त्रादिकके लिये याचना करना सो पाप है धर्म नहीं (मुनिके तो वस्त्र होते ही नहीं) क्योंकि वस्त्रादि धर्मके अंग नहीं हैं वे तो शरीर सुखके कारण हैं, इसीलिये उनकी याचना करना याचना परीषह जय नहीं किन्तु याचना दोष है अतएव याचना का निषेध है ऐसा समझना।

याचना तो धर्मरूप उच्चपदको नीचा करती है और याचना करने से धर्मकी हीनता होती है।

(१५) अलाभ—आहारादि प्राप्त न होने पर भी अपने ज्ञाना नन्दके अनुभव द्वारा विशेष सन्तोष धारण करना सो अलाभपरीषहजय है।

(१६) रोग—शरीरमें अनेक रोग हैं तथापि शांतभावसे उन्हें सहन कर लेना सो रोगपरीषहजय है।

(१७) तृणस्पर्श—चलते समय पैरमें तिनका कांटा कंकर आदि लगने या स्पर्श होनेपर आकुलता न करना सो तृणस्पर्शपरीषहजय है।

(१८) मल—मलिन शरीर देखकर ग्लानि न करनासो मलपरी षह जय है।

(१९) सत्कारपुरस्कार—जिसमें गुणोंकी अधिकता है तथापि यदि कोई सत्कारपुरस्कार न करे तो चित्तमें कलुषता न करना सो सत्कार पुरस्कार परीषह जय है। (प्रशंसाका नाम सत्कार है और किसी अच्छे

कार्यमें मुखिया बनाना सो पुरस्कार है)।

(२०) प्रज्ञा—ज्ञानकी अधिकता होने पर भी मान न करना सो प्रज्ञा परीषहजय है।

(२१) अज्ञान—ज्ञानादिककी हीनता होनेपर लोगो द्वारा किये गये तिरस्कारको शातभावसे सहन कर लेना और स्वय भी अपने ज्ञानकी न्यूनता का खेद न करना सो अज्ञानपरीषहजय है।

(२२)अदर्शन—अधिक समय तक कठोर तपश्चरण करने पर भी मुझे अवधिज्ञान तथा चारण ऋद्धि आदिकी प्राप्ति न हुई इसलिये तपश्चर्या आदि धारण करना व्यर्थ है—ऐसा अश्रद्धाका भाव न होने देना सो अदर्शन परीषह जय है।

इन बावीस परीषहोको आकुलता रहित जीतनेसे सवर, निर्जरा होती है।

४—इस सूत्रका सिद्धान्त

इन सूत्रमे यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि परद्रव्य अर्थात् जड कर्मका उदय अथवा शरीरादि नोकर्म का सयोग—वियोग जीवके कुछ विकार नही कर सकते। उसका प्रतिपादन कई तरहसे होता है सो कहते हैं—

(१) भूख और प्यास ये नोकर्मरूप शरीरकी अवस्था है, यह अवस्था चाहे जैसी हो तो भी जीवके कुछ नही कर सकती। यदि जीव शरीरकी उस अवस्थाको ज्ञेयरूपसे जाने—उसमें रागादि न करे तो उसके शुद्धता प्रगट होती है और यदि उस समय राग, द्वेष करे तो अशुद्धता प्रगट होती है। यदि जीव शुद्ध अवस्था प्रगट करे तो परीषहजय कहलावे तथा सवर—निर्जरा हो और यदि अशुद्ध अवस्था प्रगट करे तो बध होता है। सम्यग्दृष्टि जीव ही शुद्ध अवस्था प्रगट कर सकता है। मिथ्यादृष्टिके शुद्ध अवस्था नहीं होती, इसलिये उसके परीषहजय भी नही होता।

(२) सम्यग्दृष्टियोके नीची अवस्थामें चारित्र मिश्रभावरूप होता है अर्थात् आशिक शुद्धता और आशिक अशुद्धता होती है। जितने अशमें शुद्धता होती है उतने अशमे सवर—निर्जरा है और वह यथार्थ चारित्र है

और जितने अंशमें अशुद्धता है उतने अंशमें बंध है। असाता वेदनीयका उदय जीवके कोई विक्रिया–विकार उत्पन्न नहीं करते। किसी भी कर्मका उदय शरीर तथा शब्दादि नोकर्मका प्रतिकूल संयोग जीवको विकार नहीं कराते। (देखो समयसार गाथा ३७२ से ३८२)

(३) शीत और उष्ण ये दोनों शरीरके साथ सम्बन्ध रखनेवाले बाह्य जड़ द्रव्योंकी अवस्था हैं और दंशमशक शरीरके साथ सम्बन्ध रखने वाले जीव–पुद्गलके संयोगरूप तिर्यंचादि जीवोंके निमित्तसे हुई शरीरकी अवस्था है, यह संयोग या शरीरकी अवस्था जीवके दोष का कारण नहीं किंतु शरीरके प्रति स्व का ममत्व भाव ही दोषका कारण है। शरीर आदि तो परद्रव्य हैं और वे जीवको विकार पैदा नहीं कर सकते अर्थात् वे पर द्रव्य जीवको लाभ या नुकसान [गुण या दोष] उत्पन्न नहीं कर सकते। यदि वे परद्रव्य जीवको कुछ करते हों तो जीव कभी मुक्त हो ही नहीं सकता।

(४) नाग्न्य अर्थात् नग्नत्व शरीरकी अवस्था है। शरीर अनन्त जड़ परमाणुका स्कंध है। एक रजकण दूसरे रजकणका कुछ कर नहीं सकते तथा रजकण जीवको कुछ कर नहीं सकते तथापि यदि जीव विकार करे तो वह उसकी अपनी असावधानी है। यह असावधानी न होने देना सो परीषहजय है। चारित्र मोहका उदय जीवको विकार नहीं करा सकता क्योंकि वह भी परद्रव्य है।

(५) अरति यानि द्वेष उनमें जीवकृत दोष चारित्र गुणकी अशुद्ध अवस्था है और द्रव्यकर्म पुद्गल की अवस्था है। अरतिके निमित्तरूप माने गये संयोगरूप बाह्य यदि उपस्थित हों तो वे उस जीवके अरति पैदा नहीं करा सकते क्योंकि वह तो परद्रव्य है किन्तु जब जीव स्वयं अरति करे तब चारित्र मोहनीय कर्मका विपाक उदयरूप निमित्त कहा जाता है।

(६) यही नियम स्त्री निषद्या आक्रोश याचना और सत्कारपुरस्कार इन पाँच परीषहोंमें भी लागू होता है।

(७) जहाँ प्रज्ञा परीषह कही है वहाँ ऐसा समझना कि प्रज्ञा तो ज्ञानकी दशा है वह कोई दोष का कारण नहीं है किन्तु जब जीवके मान

का अपूर्ण विकास हो तब ज्ञानावरणीयका उदय भी होता है और उस समय यदि जीव मोहमे युक्त हो तो जीवमे स्वके कारणसे विकार होता है, इसलिये यहाँ 'प्रज्ञा' का अर्थ मात्र 'ज्ञान' न करके 'ज्ञानमे होनेवाला मद' ऐसा करना। यहाँ प्रज्ञा शब्दका उपचारसे प्रयोग किया है किन्तु निश्चयार्थमे वह प्रयोग नही है ऐसा समझना। दूसरी परीषहके सम्बन्धमें कही गई समस्त बातें यहा भी लागू होती हैं।

(८) ज्ञानकी अनुपस्थिति (गैरमौजूदगी) का नाम अज्ञान है, यह ज्ञानकी अनुपस्थिति किसी बधका कारण नही है किन्तु यदि जीव उस अनुपस्थितिको निमित्त बनाकर मोह करे तो जीवमे विकार होता है। अज्ञान तो ज्ञानावरणीकर्मके उदयकी उपस्थिति बतलाता है। परद्रव्य बध के कारण नही किंतु स्वके दोष–अपराध बधका कारण है। जीव जितना राग द्वेष करता है, उतना बध होता है। सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व मोह नही होता किन्तु चारित्रकी अस्थिरतासे राग द्वेष होता है। जितने अशमे राग–दूर करे उतने अशमे परीषह जय कहलाता है।

(९) अलाभ और अदर्शन परीषहमे भी उपरोक्त प्रमाणानुसार अर्थ समझना, फर्क मात्र इतना है कि अदर्शन यह दर्शनमोहनीयकी मौजूदगी बतलाती है और अलाभ अन्तराय कर्मकी उपस्थिति बतलाता है। कर्मका उदय, अदर्शन या अलाभ यह कोई बधका कारण नही है। जो अलाभ है सो परद्रव्यका वियोग (अभाव) बतलाता है, परतु यह जीवके कोई विकार नही करा सकता, इसलिये यह बधका कारण नही है।

(१०) चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये छहो शरीर और उसके साथ सम्बन्ध रखनेवाले परद्रव्योंकी अवस्था है। वह मात्र वेदनीयका उदय बतलाता है, किन्तु यह किसी भी जीवके विक्रिया–विकार उत्पन्न नहीं कर सकता ॥ ९ ॥

बावीस परीषहोंका वर्णन किया, उनमेंसे किस गुणस्थानमें कितनी परीषह होती हैं, यह वर्णन करते हैं:—

दसवेंसे बारहवें गुणस्थान तक की परीषहें

सूक्ष्मसांपरायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥१०॥

अर्थ—[सूक्ष्मसांपरायछद्मस्थवीतरागयोः] सूक्ष्मसांपराय वाले जीवोंके और छद्मस्थ वीतरागोंके [चतुर्दश] १४ परीषह होती हैं।

टीका

मोह और योगके निमित्तसे होनेवाले आत्म परिणामोंकी तार तम्यताको गुणस्थान कहते हैं वे चौदह हैं। सूक्ष्मसांपराय यह दसवां गुणस्थान है और छद्मस्थ वीतरागता ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थानमें होती है। इन तीन गुणस्थानों अर्थात् दसवें ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें चौदह परीषह होती हैं वे इस प्रकार हैं—

१ क्षुधा, २ तृषा, ३ शीत ४ उष्ण ५ दंशमशक ६ चर्या ७ शय्या ८ वध ९ अलाभ १० रोग, ११ तृणस्पर्श १२ मल, १३ प्रज्ञा और १४ अज्ञान। इनके अतिरिक्त १ नग्नता २ संयममें अप्रीति (अरति) ३—स्त्री अवलोकन—स्पर्श ४—आसन (निषद्या) ५—दुर्वचन (आक्रोश) ६—याचना ७—सत्कार पुरस्कार और ८—अदर्शन मोहनीय कर्म जनित ये आठ परीषहें वहाँ नहीं होतीं।

२ प्रश्न—दसवें सूक्ष्म सांपराय गुणस्थानमें तो लोभ कषायका उदय है तो फिर वहाँ ये आठ परीषहें क्यों नहीं होतीं।

उत्तर—सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानमें मोहका उदय अत्यन्त सूक्ष्म है—अल्प है अर्थात् नाममात्र है इसलिये वहाँ उपरोक्त १४ परीषहोंका सद्भाव और बाकीके ८ परीषहोंका अभाव कहा सो ठीक है क्योंकि इस गुणस्थानमें एक संज्वलन लोभ कषायका उदय है और वह भी बहुत थोड़ा है कथनमात्रको है इसलिये सूक्ष्मसांपराय और वीतराग छद्मस्थको समान मानकर भी १४ परीषह कही हैं यह नियम युक्ति युक्त है।

३ प्रश्न—ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें मोहकर्मके उदयका अभाव है तथा दसवें गुणस्थानमें वह अति सूक्ष्म है, इसीलिये उन जीवोंके

क्षुधा, तृषादि चौदह प्रकारकी वेदना नही होती, तो फिर ऐसा क्यो कहा कि इन गुणस्थानोमे परीषह विद्यमान है ?

उत्तर—यह तो ठीक ही है कि वहां वेदना नही है किन्तु सामर्थ्य (शक्ति) की अपेक्षासे वहां चौदह परीषहोकी उपस्थिति कहना ठीक है। जैसे सर्वार्थसिद्धि विमानके देवोके सातवें नरकमे जानेकी सामर्थ्य है किन्तु उन देवोके वहां जानेका प्रयोजन नही है तथा वैसा राग भाव नही इसीलिये गमन नही है, उसी प्रकार दशवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमे चौदह परीषहोका कथन उपचारसे कहा है।

प्रश्न—इस सूत्रमे नय विभाग किस तरह लागू होता है ?

उत्तर—निश्चयनयसे दस, ग्यारह या बारहवें गुणस्थानमे कोई भी परीषह नही हैं, किन्तु व्यवहारनयसे वहां चौदह परीषह हैं, व्यवहारनयसे हैं का अर्थ यह है कि यथार्थमे ऐसा नही है किन्तु निमित्तादिककी अपेक्षासे उनका उपचार किया है—ऐसा समझना। इस प्रकार जाननेका नाम ही दोनों नयोका ग्रहण है, किन्तु दोनो नयोके व्याख्यानको समान सत्यार्थ जानकर 'इस रूप भी है और इस रूप भी है' अर्थात् वहां परीषह हैं यह भी ठीक है और नही भी है यह भी ठीक ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तनसे तो दोनो नयोका ग्रहण नही होता।

(देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक देहली पृ० ३६९)

साराश यह है कि वास्तवमे उन गुणस्थानोमे कोई भी परीषह नही होती, सिर्फ उस चौदह प्रकारके वेदनीय कर्मका मंद उदय है, इतना बतानेके लिये उपचारसे वहां परीषह कही हैं किन्तु यह मानना मिथ्या है कि वहां जीव उस उदयमे युक्त होकर दुःखी होता है अथवा उसके वेदना होती है।

अब तेरहवें गुणस्थानमें परीषह बतलाते हैं:—

एकादशजिने ॥११॥

अर्थ—[जिने] तेरहवे गुणस्थानमे जिनेन्द्रदेवके [एकादश] ऊपर बतलाई गईं चौदहमेंसे अलाभ, प्रज्ञा और अज्ञान इन तीनको छोड़कर बाकीकी ग्यारह परीषह होती हैं।

टीका

१—यद्यपि मोहनीयकर्मका उदय न होनेसे भगवानके क्षुधादिककी वेदना नहीं होती, इसीलिये उनके परीषह भी नहीं होती तथापि उन परीषहोंके निमित्तकारणरूप वेदनीय कर्मका उदय विद्यमान है अतः वहाँ भी उपचारसे ग्यारह परीषह कही हैं। वास्तवमें उनके एक भी परीषह नहीं है।

२ प्रश्न—यद्यपि मोहकर्मके उदयकी सहायताके अभावमें भगवान के क्षुधा आदिकी वेदना नहीं है तथापि यहाँ वह परीषह क्यों कही है ?

उत्तर—यह तो ठीक है कि भगवानके क्षुधादिकी वेदना नहीं है किन्तु मोहकर्म जनित वेदनाके न होने पर भी द्रव्यकर्मकी विद्यमानता बतानेके लिये यहाँ उपचारसे परीषह कही गई हैं। जिस प्रकार समस्त ज्ञानावरण कर्मके नष्ट होनेसे युगपत् समस्त वस्तुओंके जाननेवाले केवल ज्ञानके प्रभावसे उनके चिंताका निरोधरूप ध्यान सम्भव नहीं है तथापि ध्यानका फल जो अवशिष्ट कर्मोंकी निर्जरा है उसकी सत्ता बतानेके लिये वहाँ उपचारसे ध्यान बतलाया है उसी प्रकार यहाँ ये परीषह भी उपचार से बतलाई हैं। प्रवचनसार गाथा १९८ में कहा है कि भगवान परमसुख को ध्याते हैं।

३ प्रश्न—इस सूत्रमें नय विभाग किस तरहसे लागू होता है ?

उत्तर—तेरहवें गुणस्थानमें ग्यारह परीषह कहना सो व्यवहारनय है। व्यवहारनयका अर्थ करनेका तरीका यों है कि वास्तवमें ऐसा नहीं है किन्तु निमित्तादिकी अपेक्षासे यह उपचार किया है निश्चयनयसे केवल ज्ञानीके तेरहवें गुणस्थानमें परीषह नहीं होतीं।

प्रश्न—व्यवहारनयका क्या दृष्टान्त है और वह यहाँ कैसे लागू होता है।

उत्तर—'घीका घड़ा' यह व्यवहार नयका कथन है इसका ऐसा अर्थ है कि 'जो घड़ा है सो मिट्टीरूप है, घीरूप नहीं है (देखो श्री समय

सार गाथा ६७ टीका तथा कलश ४०); उसी प्रकार 'जिनेन्द्रदेवके ग्यारह परीषह हैं' यह व्यवहार-नय कथन है, इसका अर्थ इस प्रकार है कि 'जिन अनन्त पुरुषार्थ रूप है, परीषहके दुःखरूप नही, मात्र निमित्तरूप परद्रव्यकी उपस्थितिका ज्ञान करानेके लिये ऐसा कथन किया है कि 'परीषह हैं' परतु इस कथनसे ऐसा नही समझना कि वीतरागके दुःख या वेदना है। यदि उस कथनका ऐसा अर्थ माना जावे कि वीतरागके दुःख या वेदना है तो व्यवहार नयके कथनका अर्थ निश्चय नयके कथनके अनुसार ही किया, और ऐसा अर्थ करना बडी भूल है—अज्ञान है।

(देखो समयसार गाथा ३२४ से ३२७ टीका)

प्रश्न—इस शास्त्रमे, इस सूत्रमे जो ऐसा कथन किया कि 'जिन भगवानके ग्यारह परीषह हैं, सो व्यवहार नयके कथन निमित्त बतानेके लिये है, ऐसा कहा, तो इस सम्बन्धी निश्चय नयका कथन किस शास्त्रमे है ?

उत्तर—श्री नियमसारजी गाथा ६ मे कहा है कि वीतराग भगवान तेरहवें गुणस्थानमे हो तब उनके अठारह महादोष नही होते। वे दोष इस प्रकार हैं—१ क्षुधा, २—तृषा, ३—भय, ४—क्रोध, ५—राग, ६—मोह, ७—चिंता, ८—जरा, ९—रोग, १०—मृत्यु, ११—पसीना, १२—खेद, १३—मद, १४—रति, १५—आश्चर्य, १६—निद्रा, १७—जन्म, और १८—आकुलता।

यह निश्चयनयका कथन है और यह यथार्थ स्वरूप है।

४. केवली भगवानके आहार नहीं होता, इस सम्बन्धी कुछ स्पष्टीकरण

(१) यदि ऐसा माना जाय कि इस सूत्रमे कही गई परीषहोकी वेदना वास्तवमे भगवानके होती है तो बहुत दोष आते हैं। यदि क्षुधादिक दोष हो तो आकुलता हो और यदि आकुलता हो तो फिर भगवानके अनत सुख कैसे हो सकता है ? हाँ यदि कोई ऐसा कहे कि शरीरमे भूख लगती है इसीलिये आहार लेता है किन्तु आत्मा तद्रूप नही होता। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—यदि आत्मा तद्रूप नहीं होता तो फिर ऐसा क्यो कहते हो कि क्षुधादिक दूर करनेके उपायरूप आहारादिकका ग्रहण किया ? क्षुधादिकके द्वारा पीड़ित होनेवाला ही आहार ग्रहण करता है। पुनश्च

यदि ऐसा माना जाय कि जैसे कर्मोदयसे विहार होता है वैसे ही आहार ग्रहण भी होता है सो यह भी यथार्थ नहीं है क्योंकि विहार तो विहायोगति नामक नामकर्मके उदयसे होता है, तथा वह पीड़ाका कारण नहीं है और बिना इच्छाके भी किसी जीवके विहार होता देखा जाता है परन्तु आहार ग्रहण तो प्रकृतिके उदयसे नहीं किन्तु जब क्षुधादिकके द्वारा पीड़ित हो तभी जीव आहार ग्रहण करता है। पुनश्च आत्मा पवन आदिकको प्रेरित करनेका भाव करे तभी आहारका निगलना होता है इसीलिये विहारके समान आहार सम्भव नहीं होता। अर्थात् केवली भगवानके विहार तो सम्भव है किन्तु आहार सम्भव नहीं है।

(२) यदि यों कहा जाय कि केवलीभगवानके सातावेदनीय कर्मके उदयसे आहारका ग्रहण होता है सो भी नहीं बनता क्योंकि जो जीव क्षुधादिकके द्वारा पीड़ित हो और आहारादिकके ग्रहणसे सुख माने उसके आहारादि साताके उदयसे हुये कहे जा सकते हैं साता वेदनीयके उदयसे आहारादिकका ग्रहण स्वयं तो होता नहीं क्योंकि यदि ऐसा हो तो देवोंके तो साता वेदनीयका उदय मुख्यरूपसे रहता है तथापि वे निरन्तर आहार क्यों नहीं करते ? पुनश्च महामुनि उपवासादि करते हैं उनके साताका भी उदय होता है तथापि आहारका ग्रहण नहीं और निरन्तर भोजन करने वालेके भी असाताका उदय सम्भव है। इसलिये केवली भगवानके बिना इच्छाके भी जैसे विहायोगतिके उदयसे विहार सम्भव है वैसे ही बिना इच्छाके केवल सातावेदनीय कर्मके उदयसे ही आहार ग्रहण सम्भव नहीं होता।

(४) पुनश्च कोई यह कहे कि—सिद्धान्तमें केवलीके क्षुधादिक ग्यारह परीषह कहे हैं इसीलिये उनके क्षुधाका सद्भाव सम्भव है और वह क्षुधा आहारके बिना कैसे शांत हो सकती है इसलिये उनके आहारादिक भी मानना चाहिये—इसका समाधान—कर्म प्रकृतियोंका उदय मन्द-तीव्र भेद सहित होता है। वह अति मन्द होने पर उसके उदय जनित कार्यकी व्यक्तता मालूम नहीं होती इसीलिये मुख्यरूपसे उसका अभाव कहा जाता है किन्तु तारतम्यरूपसे उसका सद्भाव कहा जाता है। जैसे नववें गुण

स्थानमे वेदादिकका मद उदय है वहाँ मैथुनादिक क्रिया व्यक्त नही है, इसीलिये वहाँ ब्रह्मचर्य ही कहा है तथापि वहाँ तारतम्यतासे मैथुनादिकका सद्भाव कहा जाता है। उसीप्रकार केवली भगवानके असाताका अति मद उदय है, उसके उदयमे ऐसी भूख नही होती कि जो शरीरको क्षीण करे; पुनश्च मोहके अभावसे क्षुधाजनित दु ख भी नही है और इसीलिये आहार ग्रहण करना भी नही है। अत केवली भगवानके क्षुधादिकका अभाव ही है किन्तु मात्र उदयकी अपेक्षासे तारतम्यतासे उसका सद्भाव कहा जाता है।

(४) शंका—केवली भगवानके आहारादिकके विना भूख (-क्षुधा) की शाति कैसे होती है ?

उत्तर—केवलीके असाताका उदय अत्यन्त मन्द है, यदि ऐसी भूख लगे कि आहारादिकके द्वारा ही शात हो तो मद उदय कहाँ रहा ? देव, भोगभूमिया आदिके असाताका किंचित् मद उदय है तथापि उनके वहुत समयके वाद किंचित् ही आहार ग्रहण होता है तो फिर केवलीके तो असाता का उदय अत्यतही मद है इसीलिये उनके आहारका अभाव ही है। असाताका तीव्र उदय हो और मोहके द्वारा उसमे युक्त हो तो ही आहार हो सकता है।

(५) शंका—देवो तथा भोगभूमियोका शरीर ही ऐसा है कि उसके अधिक समयके वाद थोडी भूख लगती है, किन्तु केवली भगवानका शरीर तो कर्मभूमिका औदारिक शरीर है, इसीलिये उनका शरीर बिना आहारके उत्कृष्ट रूपसे कुछ कम एक कोटी पूर्व तक कैसे रह सकता है ?

समाधान—देवादिकोका शरीर भी कर्मके ही निमित्तसे है। यहाँ केवली भगवानके शरीरमें पहले केश-नख वढते थे, छाया होती थी और निगोदिया जीव रहते थे, किन्तु केवलज्ञान होने पर अव केश-नख नही वढते, छाया नही होती और निगोदिया जीव नही होते। इसतरह अनेक प्रकारसे शरीरकी अवस्था अन्यथा हुई, उसीप्रकार विना आहारके भी शरीर जैसाका तैसा बना रहे—ऐसी अवस्था भी हुई।

प्रत्यक्षमे देखो ! अन्य जीवोके वृद्धत्व आने पर शरीर शिथिल हो जाता है, परन्तु केवली भगवानके तो आयुके अन्त तक भी शरीर शिथिल

नहीं होता।—इसीलिये अन्य मनुष्योंके शरीरके और केवली भगवानके शरीरके समानता सम्भव नहीं।

(६) शंका—देव आदिके तो आहार ही ऐसा है कि अधिक समय भूख मिट जाय किन्तु केवली भगवानके बिना आहारके शरीर कैसे पुष्ट रह सकता है?

समाधान—भगवानके असाताका उदय अति मंद होता है तथा प्रति समय परम औदारिक शरीर वर्गणाओंका ग्रहण होता है। इसीलिये ऐसी नोकर्म वर्गणाओंका ग्रहण होता है कि जिससे उनके क्षुधादिककी उत्पत्ति ही नहीं होती और न शरीर शिथिल होता है।

(७) पुनश्च अन्न आदिका आहार ही शरीरकी पुष्टताका कारण नहीं है। प्रत्यक्षमें देखो कि कोई थोड़ा आहार करता है तथापि शरीर अधिक पुष्ट होता है और कोई अधिक आहार करता है तथापि शरीर क्षीण रहता है।

पवनादिकका साधन करनेवाले अर्थात् प्राणायाम करनेवाले अधिक कालतक आहार नहीं लेते तथापि उनका शरीर पुष्ट रहता है और ऋद्धि धारी मुनि बहुत उपवास करते हैं तथापि उनका शरीर पुष्ट रहता है। तो फिर केवली भगवानके तो सर्वोत्कृष्टता है अर्थात् उनके अन्नादिकके बिना भी शरीर पुष्ट बना रहता है इसमें आश्चर्य ही क्या है?

(८) पुनश्च केवलीभगवान आहारके लिये कैसे जाँय तथा किस तरह याचना करें? वे जब आहारके लिये जाँय तब समवशरण खाली क्यों रहे? अथवा यदि ऐसा मानें कि कोई अन्य उनको आहार लाकर दे तो उनके अभिप्रायकी बातको कौन जानेगा? और पहले उपवासादिककी प्रतिज्ञा की थी उसका निर्वाह किसतरह होगा पुनश्च प्राणियोंका घातादि जीव अन्तराय सर्वत्र मालूम होता है वहाँ आहार किस तरह करें? इसलिये केवलीके आहार मानना सो विरुद्धता है।

(९) पुनश्च कोई यों कहे कि 'वे आहार ग्रहण करते हैं परन्तु किसीको दिखाई नहीं देता ऐसा अतिशय है' सो यह भी असत् है, क्योंकि

आहार ग्रहण तो निंद्य हुआ, यदि ऐसा अतिशय भी मानें कि उन्हे कोई नही देखता तो भी आहार ग्रहणका निंद्यपन रहता है। पुनश्च भगवानके पुण्यके कारणसे दूसरेके ज्ञानका क्षयोपशम (-विकास) किस तरह आवृत हो जाता है? इसलिये भगवानके आहार मानना और दूसरा न देखे ऐसा अतिशय मानना ये दोनो बाते न्याय विरुद्ध हैं।

५. कर्म सिद्धांतके अनुसार केवलीके अन्नाहार होता ही नहीं

(१) जब असाता वेदनीयकी उदीरणा हो तब क्षुधा-भूख उत्पन्न होती है-लगती है, इस वेदनीयकी उदीरणा छट्ठे गुणस्थान तक ही है, इससे ऊपर नही। अतएव वेदनीयकी उदीरणाके बिना केवलीके क्षुधादिकी बाधा कहांसे हो?

(२) जैसे निद्रा और प्रचला इन दो दर्शनावरणी प्रकृतिका उदय बारहवें गुणस्थान पर्यंत है परन्तु उदीरणा बिना निद्रा नही व्यापती-अर्थात् निद्रा नही आती। पुनश्च यदि निद्रा कर्मके उदयसे ही ऊपरके गुणस्थानोमें निद्रा आजाय तो वहाँ प्रमाद हो और ध्यानका अभाव हो जाय। यद्यपि निद्रा, प्रचलाका उदय बारहवें गुणस्थान तक है तथापि अप्रमत्तदशामे मदउदय होनेसे निद्रा नही व्यापती (-नही रहती)। पुनश्च सज्वलनका मद उदय होनेसे अप्रमत्त गुणस्थानोंमे प्रमादका अभाव है, क्योकि प्रमाद तो सज्वलनके तीव्र उदयमे ही होता है। ससारी जीवके वेदके तीव्र उदय में युक्त होनेसे मैथुन सज्ञा होती है और वेदका उदय नवमे गुणस्थान तक है, परन्तु श्रेणी चढे हुए सयमी मुनिके वेद नोकषायका मद उदय होनेसे मैथुन सज्ञाका अभाव है, उदयमात्रसे मैथुनकी वाञ्छा उत्पन्न नहीं होती।

(३) केवली भगवानके वेदनीयका अति मद उदय है, इसीसे क्षुधादिक उत्पन्न नही होते, शक्तिरहित असाता वेदनीय केवलीके क्षुधादिकके लिये निमित्तताके योग्य नही है। जैसे स्वयभूरमण समुद्रके समस्त जलमे अनन्तवें भाग जहरकी कणी उस पानीको विषरूप होनेके लिये योग्य निमित्त नही है, उसीप्रकार अनन्तगुण अनुभागवाले सातावेदनीयके उदयसहित केवली भगवानके अनन्तवें भागमें जिसका असंख्यातवार खड होगया है ऐसा असाता वेदनीय कर्म क्षुधादिककी वेदना उत्पन्न नही कर सकता।

(४) अशुभ कर्म प्रकृतियोंकी विष, हलाहलरूप जो शक्ति है उसका अधःप्रवृत्तकरणमें अभाव हो जाता है और निम्ब (नीम) कांजीरूप रस रह जाता है। अपूर्वकरण गुणस्थानमें गुणश्रेणी निर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थितिकांडोत्किर्ण और अनुभाग कांडोत्किर्ण ये चार आवश्यक होते हैं इसीलिये केवली भगवानके असातावेदनीय आदि अप्रशस्त प्रकृतियोंका रस असंख्यातवार घटकर अनन्तानन्तवें भाग रह गया है इसीकारण असातामें सामर्थ्य कहाँ रही है जिससे केवली भगवानके क्षुधादिक उत्पन्न करनेमें निमित्त होता? (अर्थप्रकाशिका पृष्ठ ४४६ द्वितीयावृत्ति)

६ सू० १० ११ का सिद्धान्त और ८ वें सूत्रके साथ उसका संबंध

यदि वेदनीय कर्मका उदय हो किन्तु मोहनीय कर्मका उदय न हो तो जीवके विकार नहीं होता (सूत्र ११) क्योंकि जीवके अनन्तवीर्य प्रगट हो चुका है।

वेदनीय कर्मका उदय हो और यदि मोहनीय कर्मका मंद उदय हो तो वह भी विकारका निमित्त नहीं होता (सूत्र १०) क्योंकि वहाँ जीवके अधिक पुरुषार्थ प्रगट होगया है।

दशवें गुणस्थानसे लेकर १३ वें गुणस्थान तकके जीवोंके पूर्णपरीषहजय होता है और इसीलिये उनके विकार नहीं होता। यदि उत्तम गुणस्थानवाले परीषहजय नहीं कर सकते तो फिर आठवें सूत्रका यह उपदेश व्यर्थ हो जायगा कि संवरके मार्गसे च्युत न होने और निर्जराके लिये परीषह सहन करना योग्य है। दशवें तथा ग्यारहवें सूत्रमें उत्तम गुणस्थानोंमें जो परीषह कहीं हैं वे उपचारसे हैं निश्चयसे नहीं ऐसा समझना ॥११॥

छट्टेसे नवमें गुणस्थान तककी परीषह

वादरसाम्पराये सर्वे ॥१२॥

अर्थ—[बादरसांपराये] बादरसांपराय अर्थात् स्थूलकषायवाले जीवोंके [सर्वे] सर्व परीषह होती हैं।

टीका

१—छट्ठे से नवमे गुणस्थानको बादरसांपराय कहते हैं। इन गुणस्थानोमे परीषहके कारणभूत सभी कर्मोंका उदय है, किन्तु जीव जितने अंशमे उनमे युक्त नही होता उतने अंशमे (आठवे सूत्रके अनुसार) परीषहजय करता है।

२—सामायिक, छेदोपस्थापना और परिहार विशुद्धि इन तीन संयमोमेसे किसी एकमे समस्त परीषहे सम्भव हैं ॥१२॥

इस तरह यह वर्णन किया कि किस गुणस्थानमे कितनी परीषह जय होती हैं। अब किस किस कर्मके उदयसे कौन कौन परीषह होती हैं सो बतलाते हैं—

ज्ञानावरण कर्मके उदयसे होनेवाली परीषह

ज्ञानावरणे प्रज्ञाऽज्ञाने ॥१३॥

अर्थ—[ज्ञानावरणे] ज्ञानावरणीयके उदयसे [प्रज्ञाऽज्ञाने] प्रज्ञा और अज्ञान ये दो परीषहें होती हैं।

टीका

प्रज्ञा आत्माका गुण है, वह परीषहका कारण नही होता, किन्तु ज्ञानका विकास हो और उसके मदजनित परीषह हो तो उस समय ज्ञानावरण कर्मका उदय होता है। यदि ज्ञानी जीव मोहनीय कर्मके उदयमे लगे–जुडे तो उसके अनित्य मद आ जाता है, किन्तु ज्ञानी जीव पुरुषार्थ पूर्वक जितने अंशमें उसमे युक्त न हो उतने अंशमे उनके परीषह जय होता है। (देखो सूत्र ८)

दर्शनमोहनीय तथा अन्तराय कर्मके उदयसे होनेवाली परीषह

दर्शनमोहांतराययोरदर्शनाऽलाभौ ॥१४॥

अर्थ—[दर्शनमोहांतराययोः] दर्शनमोह और अन्तराय कर्मके उदयसे [अदर्शनाऽलाभौ] क्रमसे अदर्शन और अलाभ परीषह होती हैं।

यहाँ तेरहवें सूत्रकी टीकाके अनुसार समझना ॥१४॥

अब चारित्रमोहनीयके उदयसे होनेवाली परीषह बतलाते हैं

चारित्रमोहेनाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचना सत्कारपुरस्काराः ॥१५॥

अर्थ—[चारित्रमोहे] चारित्रमोहनीयके उदयसे [नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचना सत्कारपुरस्काराः] नग्नता अरति, स्त्री निषद्या, आक्रोश याचना और सत्कार पुरस्कार ये सात परीषह होती हैं।

यहाँ तेरहवें सूत्रकी टीकाके अनुसार समझना ॥१५॥

वेदनीय कर्मके उदयसे होनेवाली परीषहें

वेदनीये शेषाः ॥१६॥

अर्थ—[वेदनीये] वेदनीय कर्मके उदयसे [शेषाः] बाकीकी ग्यारह परीषह अर्थात् क्षुधा तृषा शीत उष्ण दंशमशक चर्या शय्या वध रोग तृणस्पर्श और मल ये परीषह होती हैं।

यहाँ भी तेरहवें सूत्रकी टीकाके अनुसार समझना ॥१६॥

अब एक जीवके एक साथ होनेवाली परीषहोंकी संख्या बतलाते हैं

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नेकोनविंशतेः ॥१७॥

अर्थ—[एकस्मिन् युगपत्] एक जीवके एक साथ [एकादयो] एकसे लेकर [आ एकोनविंशतेः] उन्नीस परीषह तक [भाज्याः] जानना चाहिये।

१—एक जीवके एक समयमें अधिकसे अधिक १९ परीषह हो सकती हैं क्योंकि शीत और उष्ण इन दो मेंसे एक समयमें एक ही होती है और शय्या चर्या तथा निषद्या (सोना, गमन तथा आसनमें रहना)

इन तीनमेसे एक समयमे एक ही होती है, इसतरह इन तीन परीषहोंके कम करनेसे वाकीको उन्नीस परीषह हो सकती हैं।

२-प्रश्न—प्रज्ञा और अज्ञान ये दोनो भी एक साथ नही हो सकते, इसलिये एक परीषह इन सवमेसे कम करना चाहिये।

उत्तर—प्रज्ञा और अज्ञान इन दोनोके साथ रहनेमे कोई वाधा नही है एक ही कालमे एक जीवके श्रुतज्ञानादिकी अपेक्षासे प्रज्ञा और अवधिज्ञानादिकी अपेक्षासे अज्ञान ये दोनो साथ रह सकते हैं।

३-प्रश्न—औदारिक शरीरकी स्थिति कवलाहार (अन्न पानी) के विना देशोनकोटी पूर्व (कुछ कम एक करोड पूर्व) कैसे रहती है ?

उत्तर—आहारके ६ भेद हैं–१ नोकर्म आहार, २ कर्माहार, ३ कवलाहार, ४ लेपाहार, ५ ओजाहार, और ६ मनसाहार। ये छह प्रकार यथायोग्य देहकी स्थितिके कारण हैं। जैसे (१) केवलीके नोकर्म आहार बताया है। उनके लाभान्तराय कर्मके क्षयसे अनन्त लाभ प्रगट हुआ है, अत उनके शरीरके साथ अपूर्व असाधारण पुद्गलोका प्रतिसमय सम्बन्ध होता है, यह नोकर्म-केवलीके देहकी स्थितिका कारण है, दूसरा नही, इसी कारण केवलीके नोकर्मका आहार कहा है। (२) नारकियोके नर-कायु नाम कर्मका उदय है वह उनके देहकी स्थितिका कारण है इसलिये उनके कर्माहार कहा जाता है। (३) मनुष्यो और तिर्यंचोके कवलाहार प्रसिद्ध है। (४) वृक्ष जातिके लेपाहार है (५) पक्षीके अण्डेके ओजाहार है। शुक्र नामकी धातुकी उपधातुको ओज कहते हैं। जो अण्डोको पक्षी (-पंखी) सेवे उसे ओजाहार नही समझना। (६) देव मनसे तृप्त होते हैं, उनके मनसाहार कहा जाता–होता है।

यह छह प्रकारका आहार देहकी स्थितिका कारण है, इस सम्बन्धी गाथा निम्नप्रकार है —

णोकम्मकम्महारोकवलाहारो य लेप्पाहारो य।
उज्जमणोविय कमसो आहारा छव्विहो भणिओ ॥

णोकम्मतित्थयरे कम्मं च णयरे मानसो अमरे ।
णरपसु कवलाहारो पक्षी उज्मो इगि लेऊ ॥

अर्थ—१ नोकर्म आहार २ कर्माहार ३ कवलाहार, ४ लेपाहार ५ ओजाहार और ६ मनोमाहार, इसप्रकार क्रमसे ६ प्रकारका आहार है, उनमें नोकर्म आहार तीर्थंकरके कर्माहार नारकीके मनोमाहार देवके, कवलाहार मनुष्य तथा पशुके ओजाहार पक्षीके अण्डोंके और वृक्षके लेपाहार होता है।

इससे सिद्ध होता है कि केवलीके कवलाहार नहीं होता।

प्रश्न—मुनिकी अपेक्षासे छट्ठे गुणस्थानसे लेकर तेरहवें गुणस्थान तककी परीषहोंका कथन इस अध्यायके ११ से १६ तकके सूत्रोंमें किया है यह व्यवहारनयकी अपेक्षासे या निश्चयनयकी अपेक्षासे ?

उत्तर—यह कथन व्यवहारनयकी अपेक्षासे है क्योंकि यह जीव परवस्तुके साथका सम्बन्ध बतलाता है यह कथन निश्चयकी अपेक्षासे नहीं है।

प्रश्न—यदि व्यवहारनयकी मुख्यता सहित कथन हो उसे मोक्ष मार्ग प्रकाशक पृष्ठ २९९ में यों जाननेके लिए कहा है कि ऐसा नहीं किन्तु निमित्तादिककी अपेक्षासे यह उपचार किया है तो ऊपर कहे गये ११ से १६ तकके कथनमें कैसे लागू होता है ?

उत्तर—उन सूत्रोंमें जीवके जिन परीषहोंका वर्णन किया है वह व्यवहारसे है इसका सत्यार्थ ऐसा है कि—जीव जीवमय है परीषहमय नहीं। जितने अंशोंमें जीवमें परीषह वेदन हो उतने अंशमें सूत्र ११ से १६ में कहे गये कर्मका उदय निमित्त कहलाता है किन्तु निमित्तने जीवको कुछ नहीं किया।

प्रश्न—११ से १६ तकके सूत्रोंमें परीषहोंके बारेमें जिस कर्मका उदय कहा है उसके और सूत्र १७ में परीषहोंकी जो एक साथ संख्या कही

उसके इस अध्यायके ८ वें सूत्रमे कहे गये निर्जराका व्यवहार कैसे लागू होता है ?

उत्तर—जीव अपने पुरुषार्थके द्वारा जितने अशमे परीषह वेदन न करे उतने अशमे उसने परीषह जय किया और इसीलिये उतने अशमे सूत्र १३ से १६ तकमे कहे गये कर्मोंकी निर्जरा की, ऐसा आठवें सूत्रके अनुसार कहा जा सकता है, इसे व्यवहार कथन कहा जाता है क्योंकि परवस्तु (कर्म) की साथके सम्बन्धका कितना अभाव हुआ, यह इसमें बताया गया है।

इसप्रकार परीषहजयका कथन पूर्ण हुआ ॥१७॥

दूसरे सूत्रमे कहे गये सवरके ६ कारणोमेंसे यहाँ पांच कारणोका वर्णन पूर्ण हुआ, अब अन्तिम कारण चारित्रका वर्णन करते हैं—

चारित्रके पाँच भेद

सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराय-यथाख्यातमिति चारित्रम् ॥१८॥

अर्थ—[सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराय यथाख्यातं] सामायिक छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात [इति चारित्रम्] इस प्रकार चारित्रके ५ भेद हैं।

टीका

१. सूत्रमें कहे गये शब्दोंकी व्याख्या

(१) **सामायिक**—निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञानकी एकाग्रता द्वारा समस्त सावद्य योगका त्याग करके शुद्धात्मस्वरूपमें अभेद होने पर शुभाशुभ भावोका त्याग होना सो सामायिक चारित्र है। यह चारित्र छट्ठे से नवमे गुणस्थान तक होता है।

(२) **छेदोपस्थापना**—कोई जीव सामायिक चारित्ररूप हुआ हो और उससे हटकर सावद्य व्यापाररूप होजाय, पश्चात् प्रायश्चित द्वारा उस सावद्य व्यापारसे उन्नत हुये दोषोको छेदकर आत्माको सयममें स्थिर करे सो

छेदोपस्थापना चारित्र है। यह चारित्र छट्ठे से नववें गुणस्थान तक होता है।

(३) परिहार विशुद्धि—जो जीव जन्मसे ३० वर्ष तक सुखी रह कर फिर दीक्षा ग्रहण करे और श्री तीर्थंकर भगवानके पादमूलमें आठ वर्ष तक प्रत्याख्यान नामक नववें पूर्वका अध्ययन करे उसके यह संयम होता है। जो जीवोंकी उत्पत्ति-मरणके स्थान कालकी मर्यादा, जन्म योनिके भेद द्रव्य क्षेत्रका स्वभाव विधान तथा विधि इन सभीका जाननेवाला हो और प्रमाद रहित महावीर्यवान हो उनके शुद्धताके बलसे कर्मकी बहुत (-प्रचुर) निर्जरा होती है। अत्यन्त कठिन आचरण करनेवाले मुनियोंके यह संयम होता है। जिनके यह संयम होता है उनके शरीरसे जीवोंकी विराधना नहीं होती। यह चारित्र ऊपर बतलाये गये साधुके छट्ठे और सातवें गुणस्थानमें होता है।

(४) सूक्ष्मसांपराय—जब अति सूक्ष्म लोभकषायका उदय हो तब जो चारित्र होता है वह सूक्ष्म सांपराय है। यह चारित्र दशवें गुणस्थानमें होता है।

(५) यथाख्यात—सम्पूर्ण मोहनीय कर्मके क्षय अथवा उपशमसे आत्माके शुद्धस्वरूपमें स्थिर होना सो यथाख्यात चारित्र है। यह चारित्र ग्यारहवेंसे चौदहवें गुणस्थान तक होता है।

२ शुद्धभावसे संवर होता है किन्तु शुभभावसे नहीं होता इसलिये इन पाँचों प्रकारमें जितना शुद्धभाव है उतना चारित्र है ऐसा समझना।

३ छट्ठे गुणस्थानकी दशा

सातवें गुणस्थानसे तो निर्विकल्प दशा होती है। छट्ठे गुणस्थानमें मुनिके जब आहार विहारादिका विकल्प होता है तभी भी उनके [तीन जातिके कषाय न होनेसे] संवरपूर्वक निर्जरा होती है और शुभभावका अल्प बंध होता है जो विकल्प उठता है उस विकल्पके स्वामित्वका उनके नकार वर्तता है अकषायदृष्टि और चारित्रसे जितने अंशमें राग दूर होता है उतने अंशमें संवर निर्जरा है तथा जितना शुभभाव है उतना बंधन है। विशेष यह है कि पंचम गुणस्थानवाला उपवासादि या प्रायश्चित्तादि तप करे उसी कालमें भी उसे निर्जरा अल्प और छट्ठे गुणस्थानवाला आहार

विहार आदि क्रिया करे उस कालमे भी उसके निर्जरा अधिक है इससे ऐसा समझना कि–वाह्य प्रवृत्तिके अनुसार निर्जरा नही है।

(देखो मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३४१)

४. चारित्र का स्वरूप

कितनेक जीव मात्र हिंसादिक पापके त्यागको चारित्र मानते हैं और महाव्रतादिरूप शुभोपयोगको उपादेयरूपसे ग्रहण करते हैं, किन्तु यह यथार्थ नही है। इस शास्त्रके सातवें अध्यायमे आस्रव पदार्थका निरूपण किया गया है, वहाँ महाव्रत और अणुव्रतको आस्रवरूप माना है, तो वह उपादेय कैसे हो सकता है? आस्रव तो वन्धका कारण है और चारित्र मोक्षका कारण है, इसलिये उन महाव्रतादिरूप आस्रवभावोंके चारित्रता सम्भव नही होती, किन्तु जो सर्व कषाय रहित उदासीन भाव है उसीका नाम चारित्र है। सम्यग्दर्शन होनेके वाद जीवके कुछ भाव वीतराग हुए होते हैं और कुछ भाव सराग होते हैं, उनमे जो अंश वीतरागरूप है वही चारित्र है और वह सवरका कारण है। (देखो मोक्ष प्रकाशक पृष्ठ ३३७)

५. चारित्रमें भेद किसलिये वताये?

प्रश्न—जो वीतराग भाव है सो चारित्र है और वीतरागभाव तो एक ही तरहका है, तो फिर चारित्रके भेद क्यो वतलाये?

उत्तर—वीतरागभाव एक तरहका है परन्तु वह एक साथ पूर्ण प्रगट नही होता, किन्तु क्रम क्रमसे प्रगट होता है इसीलिये उसमे भेद होते हैं। जितने अंशमे वीतरागभाव प्रगट होता है उतने अंशमे चारित्र प्रगट होता है, इसलिये चारित्रके भेद कहे हैं।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो छट्ठे गुणस्थानमे जो शुभभाव है उसे भी चारित्र क्यों कहते हो?

उत्तर—वहाँ शुभभावको यथार्थमे चारित्र नही कहा जाता, किंतु उस शुभभावके समय जिस अंशमे वीतरागभाव है, वास्तवमें उसे चारित्र कहा जाता है।

प्रश्न—किसनेक जगह शुभभावरूप समिति, गुप्ति महाव्रतादिको भी चारित्र कहते हैं इसका क्या कारण है ?

उत्तर—वहाँ शुभभावरूप समिति आदिको व्यवहार चारित्र कहा है। व्यवहारका अर्थ है उपचार छट्ठे गुणस्थानमें जो वीतराग चारित्र होता है उसके साथ महाव्रतादि होते हैं ऐसा सबंध जानकर यह उपचार किया है। अर्थात् वह निमित्तकी अपेक्षासे यानि विकल्पके भेद बतानेके लिये कहा है किन्तु यथार्थरीत्या तो निष्कषाय भाव ही चारित्र है शुभराग चारित्र नहीं।

प्रश्न—निश्चय मोक्षमाग तो निर्विकल्प है उस समय सविकल्प (–सराग व्यवहार) मोक्षमार्ग नहीं होता तो फिर सविकल्प मोक्षमार्गको साधक कैसे कहा जा सकता है ?

उत्तर—भूतनैगमनयकी अपेक्षासे उस सविकल्परूपको मोक्षमार्ग कहा है, अर्थात् भूतकालमें वे विकल्प (–रागमिश्रित विचार) हुये थे यद्यपि वे वर्तमानमें नहीं हैं तथापि 'यह वर्तमान है' ऐसा भूत नैगमनयकी अपेक्षासे गिना जा सकता है—कहा जा सकता है इसीलिये उस नयकी अपेक्षासे सविकल्प मोक्षमार्गको साधक कहा है ऐसा समझना। (देखो परमात्म प्रकाश पृष्ठ १४२ अध्याय २ गाथा १४ की संस्कृत टीका तथा इस ग्रन्थमें अन्तमें परिशिष्ट १)

६ सामायिकका स्वरूप

प्रश्न—मोक्षके कारणभूत सामायिकका स्वरूप क्या है ?

उत्तर—जो सामायिक सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र स्वभाववाला परमार्थ ज्ञानका भवनमात्र (परिणमन मात्र) है एकाग्रता लक्षणवाली है वह सामायिक मोक्षके कारणभूत है।

(देखो समयसार गाथा १५४ टीका)

श्री नियमसार गाथा १२५ से १३३ में यथार्थ सामायिकका स्वरूप दिया है वह इसप्रकार है—

जो कोई मुनि एकेन्द्रियादि प्राणियोके समूहको दुःख देनेके कारण-रूप जो सपूर्ण पापभाव सहित व्यापार है, उससे अलग हो मन, वचन और शरीरके शुभ अशुभ सर्व व्यापारोको त्यागकर तीन गुप्तिरूप रहते है तथा जितेन्द्रिय रहते हैं ऐसे संयमीके वास्तवमे सामायिक व्रत होता है। (गाथा १२५)

जो समस्त त्रस स्थावर प्राणियोमे समताभाव रखता है, माध्यस्थ भावमें आरूढ है, उसीके यथार्थ सामायिक होती है। (गाथा १२६)

सयम पालते हुये, नियम करते तथा तप धारण करते हुये जिसके एक आत्मा ही निकटवर्ती रहा है उसीके यथार्थ सामायिक होती है। (गाथा १२७)

जिसे राग-द्वेष विकार प्रगट नही होते उसके यथार्थ सामायिक होती है। (गाथा १२८)

जो आर्त और रौद्र ध्यानको दूर करता है, उसके वास्तवमे सामा-यिक व्रत होता है। (गाथा १२९)

जो हमेशा पुण्य और पाप इन दोनो भावोको छोडता है, उसके यथार्थ सामायिक होती है। (गाथा १३०)

जो जीव सदा धर्मध्यान तथा शुक्लध्यानको ध्याता है उसके यथार्थ सामायिक होती है। (गाथा १३३)

सामायिक चारित्रको परम समाधि भी कहते हैं।

७. **प्रश्न**—इस अध्यायके छट्ठे सूत्रमें सवरके कारणरूपसे जो १० प्रकारका धर्म कहा है उसमे सयम आ हो जाता है और सयम ही चारित्र है तथापि यहाँ फिरसे चारित्रको सवरके कारणरूपमे क्यो कहा ?

उत्तर—यद्यपि संयमधर्ममे चारित्र आ जाता है तथापि इस सूत्रमे चारित्रका कथन निरर्थक नही है। चारित्र मोक्ष प्राप्तिका साक्षात् कारण है यह बतलानेके लिये यहाँ अन्तमे चारित्रका कथन किया है। चौदहमे गुणस्थानके अन्तमें चारित्रकी पूर्णता होनेपर ही मोक्ष होता है अतएव

मोक्ष प्राप्तिके लिये चारित्र साक्षात् हेतु है—ऐसा ज्ञान करानेके लिये इस सूत्रमें यह प्रसंग बताया है।

८ व्रत और चारित्रमें अन्तर

आस्रव अधिकारमें (सातवें अध्यायके प्रथम सूत्रमें) हिंसा, झूठ चोरी आदिके त्यागसे अहिंसा सत्य अचौर्य आदि क्रियामें शुभप्रवृत्ति है इसीलिये वहाँ अव्रतोंकी तरह व्रतोंमें भी कर्मका प्रवाह चलता है, किन्तु उन व्रतोंसे कर्मोंकी निवृत्ति नहीं होती। इसी अपेक्षाको लक्ष्यमें रखकर, गुप्ति आदिको संवरका परिवार कहा है। आत्माके स्वरूपमें जितनी अभेदता होती है उतना संवर है शुभाशुभ भावका त्याग निश्चय व्रत अथवा वीतराग चारित्र है। जो शुभभावरूप व्रत है वह व्यवहार चारित्ररूप राग है और वह संवरका कारण नहीं है। (देखो सर्वार्थसिद्धि अध्याय ७ पृष्ठ ५ से ७) ॥ १८ ॥

दूसरे सूत्रमें कहे गये संवरके ६ कारणोंका वर्णन पूर्ण हुआ। इस तरह संवर तत्त्वका वर्णन पूर्ण हुआ। अब निर्जरा तत्त्वका वर्णन करते हैं—

निर्जरा तत्त्वका वर्णन

भूमिका

१—पहले अठारह सूत्रोंमें संवरतत्त्वका वर्णन किया। अब उन्नीसवें सूत्रसे निर्जरा तत्त्वका वर्णन प्रारम्भ होता है। जिसके संवर हो उसके निर्जरा हो। प्रथम संवर तो सम्यग्दर्शन है इसीलिये जो जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करे उसीके ही संवर निर्जरा हो सकती है। मिथ्यादृष्टिके संवर निर्जरा नहीं होती।

२—यहाँ निर्जरा तत्त्वका वर्णन करना है और निर्जराका कारण तप है (देखो अध्याय ९ सूत्र ३) इसीलिये तपका और उसके भेदोंका वर्णन किया है। तपकी व्याख्या १९ वें सूत्रकी टीका में दी है और ध्यानकी व्याख्या २७ वें सूत्र में दी गई है।

३. निर्जराके कारणों सम्बन्धी होनेवाली भूलें और उनका निराकरण

(१) कितने ही जीव अनशनादि तपसे निर्जरा मानते हैं किन्तु वह तो बाह्य तप है। अब बाद के १९-२० वें सूत्रमे बारह प्रकारके तप कहे हैं वे सब बाह्य तप हैं, किंतु वे एक दूसरेकी अपेक्षासे बाह्य अभ्यंतर हैं, इसीलिये उनके बाह्य और अभ्यंतर ऐसे दो भेद कहे हैं। अकेले बाह्य तप करनेसे निर्जरा नही होती। यदि ऐसा हो कि अधिक उपवासादि करनेसे अधिक निर्जरा हो और थोडे करनेसे थोडी हो तो निर्जराका कारण उपवासादिक ही ठहरे किन्तु ऐसा नियम नही है। जो इच्छाका निरोध है सो तप है, इसीलिये स्वानुभव की एकाग्रता बढनेसे शुभाशुभ इच्छा दूर होती है, उसे तप कहते हैं।

(२) यहाँ अनशनादिकको तथा प्रायश्चित्तादिकको तप कहा है इसका कारण यह है कि—यदि जीव अनशनादि तथा प्रायश्चित्तादिरूप प्रवर्ते और रागको दूर करे तो वीतरागभावरूप सत्य तप पुष्ट किया जा सकता है, इसीलिये उन अनशनादि तथा प्रायश्चित्तादिको उपचारसे तप कहा है। यदि कोई जीव वीतराग भावरूप सत्य तपको तो न जाने और उन अनशनादिकको ही तप जानकर संग्रह करे तो वह ससारमे ही भ्रमण करता है।

(३) इतना खास समझ लेना कि—निश्चय धर्म तो वीतराग भाव है, अन्य अनेक प्रकारके जो भेद कहे जाते हैं वे भेद बाह्य निमित्तकी अपेक्षासे उपचारसे कहे हैं, इसके व्यवहार मात्र धर्म सज्ञा जानना। जो जीव इस रहस्यको नही जानता उसके निर्जरातत्त्वकी यथार्थ श्रद्धा नही है। (मो० प्र०)

तप निर्जराके कारण है, इसीलिये उनका वर्णन करते हैं। उनमे पहले तपके भेद कहते हैं—

बाह्य तपके ६ भेद

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्त-शय्यासनकायक्लेशाः बाह्यं तपः ॥ १९ ॥

अर्थ—[अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा] सम्यक् प्रकारसे अनशन सम्यक् अवमौदर्य सम्यक् वृत्तिपरिसंख्यान, सम्यक् रसपरित्याग, सम्यक् विविक्त शय्यासन और सम्यक् कायक्लेश ये [बाह्य तप] छह प्रकारके बाह्य तप हैं।

नोट—इस सूत्रमें सम्यक् शब्दका अनुसन्धान इस अध्यायके चौथे सूत्रसे आता है—किया जाता है। अनशनादि छहों प्रकारमें 'सम्यक्' शब्द लागू होता है।

टीका

१ सूत्रमें कहे गये शब्दोंकी व्याख्या

(१) सम्यक् अनशन—सम्यग्दृष्टि जीवके आहारके त्यागका भाव होनेपर विषय कषायका भाव दूर होकर अंतरंग परिणामोंकी शुद्धता होती वह सम्यक् अनशन है।

(२) सम्यक् अवमौदर्य—सम्यग्दृष्टि जीवके रागभाव दूर करनेके लिये जितनी भूख हो उससे कम भोजन करनेका भाव होने पर जो अंतरंग परिणामोंकी शुद्धता होती है उसे सम्यक् अवमौदर्य कहते हैं।

(३) सम्यक् वृत्तिपरिसंख्यान—सम्यग्दृष्टि जीवके संयमके हेतुसे निर्दोष आहारकी भिक्षाके लिये जाते समय भोजनकी वृत्ति तोड़ने वाले नियम करने पर अतरंग परिणामोंकी जो शुद्धता होती है उसे सम्यक् वृत्तिपरिसंख्यान कहते हैं।

(४) सम्यक् रसपरित्याग—सम्यग्दृष्टि जीवके इन्द्रियों सम्बन्धी राग का दमन करनेके लिये घी दूध दही तेल, मिठाई नमक आदि रसों का यथाशक्ति त्याग करनेका भाव होनेसे अंतरंग परिणामोंकी जो शुद्धता होती है उसे सम्यक् रसपरित्याग कहते हैं।

(५) सम्यक् विविक्तशय्यासन—सम्यग्दृष्टि जीवके स्वाध्याय ध्यान आदिकी प्राप्तिके लिये किसी एकांत निर्दोष स्थानमें प्रमाद रहित सोने बैठने की वृत्ति होने पर अंतरंग परिणामोंकी जो शुद्धता होती है

उसे सम्यक् विविक्त शय्यासन कहते हैं।

(६) सम्यक् कायक्लेश—सम्यग्दृष्टि जीवके शारीरिक आसक्ति घटानेके लिये आतापन आदि योग धारण करते समय जो अन्तरग परिणामो की शुद्धता होती है उसे सम्यक् कायक्लेश कहते हैं।

२—'सम्यक्' शब्द यह बतलाता है कि सम्यग्दृष्टिके ही ये तप होते हैं मिथ्यादृष्टि के तप नही होता।

३—जब सम्यग्दृष्टि जीव अनशनकी प्रतिज्ञा करता है उस समय निम्न लिखित बातें जानता है।—

(१) आहार न लेने का राग मिश्रित विचार होता है वह शुभभाव है और इसका फल पुण्यबधन है, मैं इसका स्वामी नही हूँ।

(२) अन्न, जल आदि पर वस्तुएँ हैं, आत्मा उसे किसी प्रकार न तो ग्रहण कर सकता और न छोड सकता है किन्तु जब सम्यग्दृष्टि जीव पर वस्तु सम्बन्धी उस प्रकारका राग छोडता है तब पुद्गल परावर्तनके नियम अनुसार ऐसा निमित्त नैमित्तिक सबध होता है कि उतने समय उसके अन्न पानी आदिका सयोग नही होता।

(३) अन्न जल आदिका सयोग न हुआ यह परद्रव्यकी क्रिया है, उससे आत्माके धर्म या अधर्म नही होता।

(४) सम्यग्दृष्टि जीवके राग का स्वामित्व न होने की जो सम्यक् मान्यता है वह दृढ होती है, और इसीलिये यथार्थ अभिप्रायपूर्वक जो अन्न, जल आदि लेनेका राग दूर हुआ वह सम्यक् अनशन तप है, यह वीतरागता का अश है इसीलिये वह धर्मका अंश है। उसमे जितने अंशमे अतरग परिणामो की शुद्धता हुई और शुभाशुभ इच्छाका निरोध हुआ उतने अशमें सम्यक् तप है और यही निर्जराका कारण है।

छह प्रकारके बाह्य और छह प्रकारके अतरग इन बारह प्रकारके तप के सम्बन्धमें ऊपर लिखे अनुसार समझ लेना।

सम्यक् तप की व्याख्या

(१) स्वरूपविश्रांत निस्तरंग चैतन्य प्रतपनात् तप: अर्थात् स्वरूप की स्थिरतारूप—तरंगोंके बिना—लहरोंके बिना (निर्विकल्प) चैतन्य का प्रतपन होना (देदीप्यमान होना सो तप है)।

(प्रवचनसार अ० १ गा० १४ की टीका)

(२) सहजनिश्चयनयात्मकपरमस्वभावात्मपरमात्मनि प्रतपनं तपः अर्थात् सहज निश्चयनय रूप परमस्वभावमय परमात्माका प्रतपन होना अर्थात् दृढ़तासे तन्मय होना सो तप है। (नियमसार गा० ५५ की टीका)

(३) प्रसिद्धशुद्धकारणपरमात्मतत्त्वे सदान्तर्मुखतया प्रतपनं यत्तत्तपः अर्थात् प्रसिद्ध शुद्ध कारण परमात्म तत्त्वमें सदा अन्तर्मुखरूपसे जो प्रतपन अर्थात् लीनता है सो तप है। (नियमसार टीका गाथा ११८ का शीर्षक)

(४) आत्मानमात्मना संधत्त इत्यध्यात्मं तपनं अर्थात् आत्माको आत्माके द्वारा धरना सो अध्यात्म तप है। (नियमसार गा० १२३की टीका)

(५) इच्छानिरोधः तपः अर्थात् शुभाशुभ इच्छाका निरोध करना (—अर्थात् स्वरूपमें विश्रांत होना) सो तप है।

४ तप के भेद किसलिये हैं ?

प्रश्न—यदि तपकी व्याख्या उपरोक्त प्रमाण है तो उस तपके भेद नहीं हो सकते तथापि यहाँ तपके बारह भेद क्यों कहे हैं ?

उत्तर—शास्त्रोंका कथन किसी समय उपादान (निश्चय) की अपेक्षा से और किसी समय निमित्त (व्यवहार) की अपेक्षासे होता है। भिन्न भिन्न निमित्त होनेसे उसमें भेद होते हैं किन्तु उपादान तो आत्माका शुद्ध स्वभाव है अतः उसमें भेद नहीं होता। यहाँ तपके जो बारह भेद बतलाये हैं वे भेद निमित्तकी अपेक्षासे हैं।

६—जिस जीवके सम्यग्दर्शन न हो वह जीव वनमें रहे चातुर्मास में वृक्षके नीचे रहे ग्रीष्म ऋतुमें अत्यन्त प्रखर किरणोंसे संतप्त पर्वतके शिखर पर आसन लगावे शीतकालमें खुले मैदानमें ध्यान करे, अन्य

अनेक प्रकारके काय क्लेश करे, अधिक उपवास करे, शास्त्रोंके पढनेमे बहुत चतुर हो, मौनव्रत धारण करे इत्यादि सब कुछ करे, किंतु उसका यह सब वृथा है—ससारका कारण है, इनसे धर्मका अश भी नही होता । जो जीव सम्यग्दर्शनसे रहित हो यदि वह जीव अनशनादि बारह तप करे तथापि उसके कार्यकी सिद्धि नही होती । इसलिये हे जीव ! आकुलता रहित समतादेवीका कुल मदिर जो कि स्व का आत्मतत्त्व है, उसका ही भजन कर ॥ १९ ॥ (देखो नियमसार गाथा १२४)

अब आभ्यंतर तपके ६ भेद बताते हैं

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्याना- न्युत्तरम् ॥ २० ॥

अर्थ—[प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानानि] सम्यक्‌रूपसे प्रायश्चित्त, सम्यक् विनय, सम्यक् वैयावृत्य, सम्यक् स्वाध्याय, सम्यक् व्युत्सर्ग और सम्यक् ध्यान [उत्तरम्] ये छह प्रकार का आभ्यन्तर तप है ।

नोट—इस सूत्रमें 'सम्यक्' शब्दका अनुसन्धान इस अध्यायके चौथे सूत्रसे किया जाता है, यह प्रायश्चित्तादि छहो प्रकारमे लागू होता है । यदि 'सम्यक्' शब्दका अनुसन्धान न किया जावे तो नाटक इत्यादि सम्बन्धी अभ्यास करना भी स्वाध्याय तप ठहरेगा । परन्तु 'सम्यक्' शब्द के द्वारा उसका निषेध हो जाता है ।

टीका

१—ऊपरके सूत्रकी जो टीका है वह यहाँ भी लागू होती है ।

२—सूत्रोंमें कहे गये शब्दोकी व्याख्या करते हैं—

(१) सम्यक् प्रायश्चित—प्रमाद अथवा अज्ञानसे लगे हुये दोषों की शुद्धता करनेसे वीतराग स्वरूपके आलबनके द्वारा जो अतरग परिणामोंकी शुद्धता होती है उसे सम्यक् प्रायश्चित्त कहते हैं ।

(२) सम्यक् विनय—पूज्य पुरुषोंका आदर करने पर वीतराग स्वरूपके लक्षके द्वारा अंतरंग परिणामोंकी जो शुद्धता होती है उसे सम्यक विनय कहते हैं।

(३) सम्यक् वैयावृत्य—शरीर तथा अन्य वस्तुओंसे मुनियोंकी सेवा करने पर वीतराग स्वरूपके लक्षके द्वारा अंतरंग परिणामों की जो शुद्धता होती है सो सम्यक वैयावृत्य कहते हैं।

(४) सम्यक् स्वाध्याय—सम्यग्ज्ञानकी भावनामें आलस्य न करना—इसमें वीतराग स्वरूपके लक्षके द्वारा अंतरंग परिणामों की जो शुद्धता होती है सो सम्यक स्वाध्याय है।

(५) सम्यक् व्युत्सर्ग—बाह्य और आभ्यंतर परिग्रहके त्यागकी भावनामें वीतराग स्वरूपके लक्षके द्वारा अंतरंग परिणामों की जो शुद्धता होती है सो सम्यक व्युत्सर्ग है।

(६) सम्यक् ध्यान—चित्तकी चंचलताको रोककर तत्त्वके चिंतवनमें लगना इसमें वीतराग स्वरूपके लक्षके द्वारा अंतरंग परिणामोंकी जो शुद्धता होती है सो सम्यक ध्यान है।

१—सम्यग्दृष्टिके ही ये छहों प्रकारके तप होते हैं। इन छहों प्रकार में सम्यग्दृष्टिके निज स्वरूपकी एकाग्रतासे जितनी अंतरंग परिणामों की शुद्धता हो उतना ही तप है। [जो शुभ विकल्प है उसे उपचारसे तप कहा जाता है, किन्तु यथार्थमें तो वह राग है तप नहीं।]

अब अभ्यन्तर तपके उपभेद बताते हैं

नवचतुर्दशपंचद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥२१॥

अर्थ—[प्राक् ध्यानात्] ध्यानसे पहलेके पाँच तपके [यथाक्रमं] अनुक्रमसे [नवचतुर्दशपंचद्विभेदाः] नव चार दश पाँच और दो भेद हैं अर्थात् सम्यक प्रायश्चित्तके नव सम्यक विनयके चार सम्यक वैयावृत्यके दश सम्यक स्वाध्यायके पाँच और सम्यक व्युत्सर्गके दो भेद हैं।

नोट—आभ्यतर तपका छट्ठा भेद ध्यान है उसके भेदोका वर्णन २८ वें सूत्रमे किया जायगा ।

अब सम्यक् प्रायश्चितके नव भेद बतलाते हैं

आलोचनाप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेद-परिहारोपस्थापनाः ॥ २२ ॥

अर्थ—[आलोचना प्रतिक्रमण तदुभय विवेक व्युत्सर्ग तपश्छेद-परिहारोपस्थापनाः] आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार, उपस्थापना ये प्रायश्चित तपके नव भेद हैं ।

टीका

१—सूत्रमे आये हुये शब्दोकी व्याख्या करते हैं ।

प्रायश्चित्त—प्राय =अपराध, चित्त=शुद्धि, अर्थात् अपराधकी शुद्धि करना सो प्रायश्चित्त है ।

(१) आलोचना—प्रमादसे लगे हुये दोपोको गुरुके पास जाकर निष्कपट रीतिसे कहना सो आलोचना है ।

(२) प्रतिक्रमण—अपने किये हुए अपराध मिथ्या होवे-ऐसी भावना करना सो प्रतिक्रमण है ।

(३) तदुभय—वे दोनो अर्थात् आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो करना सो तदुभय है ।

(४) विवेक—आहार-पानीका नियमित समयतक त्याग करना ।

(५) व्युत्सर्ग—कायोत्सर्ग करनेको व्युत्सर्ग कहते हैं ।

(६) तप—उपवासादि करना सो तप है ।

(७) छेद—एक दिन, पन्द्रह दिन, एक मास आदि समय पर्यन्त दीक्षाका छेद करना सो छेद कहलाता है ।

(८) परिहार—एक दिन, एक पक्ष, एक मास आदि नियमित

समय तक संघसे अलग करना सो परिहार है।

(९) उपस्थापन—पुरानी दीक्षाका सम्पूर्ण छेद करके फिरसे नई दीक्षा देना सो उपस्थापन है।

२—ये सब भेद व्यवहार प्रायश्चित्तके हैं। जिस जीवके निश्चय प्रायश्चित्त प्रगट हुआ हो उस जीवके इस नवप्रकारके प्रायश्चित्तको व्यवहार-प्रायश्चित्त कहा जाता है किन्तु *यदि निश्चय-प्रायश्चित्त प्रगट न हुआ हो* तो वह व्यवहाराभास है।

३—निश्चय प्रायश्चित्तका स्वरूप

निजात्माका ही जो उत्कृष्ट बोध ज्ञान तथा चित्त है जो जीव उसे नित्य धारण करते हैं उसके ही प्रायश्चित्त होता है (बोध ज्ञान और चित्तका एक ही अर्थ है) प्रायः=प्रकृष्टरूपसे और चित्त=ज्ञान अर्थात् प्रकृष्टरूपसे जो ज्ञान है वही प्रायश्चित्त है। क्रोधादि विभावभावोंका क्षय करनेकी भावनामें प्रवर्तना तथा आत्मिक गुणोंका चिंतन करना सो यथार्थ प्रायश्चित्त है। निज आत्मिक तत्त्वमें रमणरूप जो तपश्चरण है वही शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त है। (देखो नियमसार गाथा ११३ से १२१)

४—निश्चय प्रतिक्रमणका स्वरूप

जो कोई वचनकी रचनाको छोड़कर तथा राग द्वेषादि भावोंका निवारण करके स्वात्माको ध्याता है उसके प्रतिक्रमण होता है। जो मोक्षार्थी जीव सम्पूर्ण विराधना अर्थात् अपराधको छोड़कर स्वरूपकी आराधनामें वर्तन करता है उसके यथार्थ प्रतिक्रमण है।

(श्री नियमसार गाथा ८३-८४)

५—निश्चय आलोचनाका स्वरूप

जो जीव स्वात्माको—नोकर्म द्रव्यकर्म तथा विभाव गुण पर्यायसे रहित ध्यान करते हैं उसके यथार्थ आलोचना होती है। समताभावमें स्वकीय परिणामको धरकर स्वात्माको देखना ही यथार्थ आलोचना है। (देखो श्री नियमसार गाथा १०७ से ११२) ॥२२॥

अब सम्यक् विनयतपके चार भेद बतलाते हैं

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥२३॥

अर्थ—[ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः] ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय, और उपचारविनय ये विनयतपके चार भेद हैं।

टीका

(१) ज्ञानविनय—आदरपूर्वक योग्यकालमे सत्शास्त्रका अभ्यास करना, मोक्षके लिए, ज्ञानका ग्रहण–अभ्यास–संस्मरण आदि करना सो ज्ञानविनय है।

(२) दर्शनविनय—शका, काक्षा, आदि दोष रहित सम्यग्दर्शनको धारण करना सो दर्शनविनय है।

(३) चारित्रविनय—निर्दोष रीतिसे चारित्रको पालना।

(४) उपचारविनय—आचार्य आदि पूज्य पुरुषोको देखकर खडे होना, नमस्कार करना इत्यादि उपचार विनय है। ये सब व्यवहारविनयके भेद हैं।

निश्चयविनयका स्वरूप

जो शुद्ध भाव है सो निश्चयविनय है। स्वके अकषायभावमे अभेद परिणमनसे, शुद्धतारूपसे स्थिर होना सो निश्चयविनय है, इसीलिये कहा जाता है कि "विनयवत भगवान कहावें, नही किसीको शीष नमावें" अर्थात् भगवान विनयवन्त कहे जाते हैं किन्तु किसीको मस्तक नही नवाते ॥२३॥

अब सम्यक् वैयावृत्य तपके १० भेद बतलाते हैं

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघसाधु-मनोज्ञानाम् ॥ २४ ॥

अर्थ—[आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघसाधुमनो-

ज्ञानाम्] आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य ग्लान गण कुल संघ, साधु और मनोज्ञ इन दश प्रकारके मुनियोंकी सेवा करना सो वैयावृत्य तपके दश भेद हैं।

टीका

१—सूत्रमें आये हुये शब्दोंका अर्थ—

(१) आचार्य—जो मुनि स्वयं पाँच प्रकारके आचारको आचरण करें और दूसरोंको आचरण करावें उन्हें आचार्य कहते हैं।

(२) उपाध्याय—जिनके पाससे शास्त्रोंका अध्ययन किया जाय उन्हें उपाध्याय कहते हैं।

(३) तपस्वी—महान उपवास करनेवाले साधुको तपस्वी कहते हैं।

(४) शैक्ष्य—शास्त्रके अध्ययनमें तत्पर मुनिको शैक्ष्य कहते हैं।

(५) ग्लान—रोगसे पीड़ित मुनिको ग्लान कहते हैं।

(६) गण—वृद्ध मुनियोंके अनुसार चलनेवाले मुनियोंके समुदायको गण कहते हैं।

(७) कुल—दीक्षा देनेवाले आचार्यके शिष्य कुल कहलाते हैं।

(८) संघ—ऋषि, यति मुनि और अनगार इन चार प्रकारके मुनियोंका समूह संघ कहलाता है। (अथवा दूसरी तरहसे मुनि आर्यिका श्रावक और श्राविका ये भी चार भेद हैं)

(९) साधु—जिसने बहुत समयसे दीक्षा ली हो वे साधु कहलाते हैं अथवा जो रत्नत्रय भावनासे अपनी आत्माको साधते हैं उन्हें साधु कहते हैं।

(१०) मनोज्ञ—मोक्षमार्ग प्रभावक वक्तादि गुणोंसे शोभायुक्त जिसकी लोकमें अधिक ख्याति हो रही हो ऐसे विद्वान मुनिको मनोज्ञ कहते हैं, अथवा उसके समान असंयत सम्यग्दृष्टिको भी मनोज्ञ कहते हैं।

(सर्वार्थसिद्धि टीका)

२—इन प्रत्येककी सेवा सुश्रूषा करना सो वैयावृत्य है। यह वैयावृत्य शुभभावरूप है, इसीलिये व्यवहार है। वैयावृत्यका अर्थ सेवा है। स्वके अकषाय भावकी जो सेवा है सो निश्चय वैयावृत्य है।

३—संघके चार भेद बतलाये, अब उनका अर्थ लिखते हैं—

ऋषि—ऋद्धिधारी साधुको ऋषि कहते हैं।

यति—इन्द्रियोंको वशमें करनेवाले साधु अथवा उपशम या क्षपक-श्रेणी मांडनेवाले साधु यति कहलाते हैं।

मुनि—अवधिज्ञानी या मनःपर्ययज्ञानी साधु मुनि कहे जाते हैं।

अनगार—सामान्य साधु अनगार कहलाते हैं।

पुनश्च ऋषिके भी चार भेद हैं—(१) राजर्षि=विक्रिया, अक्षीण ऋद्धि प्राप्त मुनि राजर्षि कहलाते है। (२) ब्रह्मर्षि=बुद्धि, सर्वौषधि आदि ऋद्धि प्राप्त साधु ब्रह्मर्षि कहलाते हैं। (३) देवर्षि=आकाशगमन ऋद्धि प्राप्त साधु देवर्षि कहे जाते हैं। (४) परमर्षि—केवलज्ञानीको परमर्षि कहते हैं।

सम्यक् स्वाध्याय तपके ५ भेद

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाऽऽम्नायधर्मोपदेशाः ॥२५॥

अर्थ—[वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नाय धर्मोपदेशाः] वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ये स्वाध्यायके ५ भेद हैं।

टीका

वाचना—निर्दोष ग्रन्थ, उसका अर्थ तथा दोनोंका भव्य जीवोंको श्रवण कराना सो वाचना है।

पृच्छना—संशयको दूर करनेके लिये अथवा निश्चयको दृढ करनेके लिए प्रश्न पूछना सो पृच्छना है।

अपना उच्चपन प्रगट करनेके लिये, किसीको ठगनेके लिये, किसीको

हरानेके लिये, दूसरेका हास्य करनेके लिये आदि खोटे परिणामोंसे प्रश्न करना सो पृच्छना स्वाध्यायतप नहीं है।

अनुप्रेक्षा—जाने हुए पदार्थोंका बारम्बार चिंतवन करना सो अनुप्रेक्षा है।

आम्नाय—निर्दोष उच्चारण करके पाठको घोखना सो आम्नाय है।

धर्मोपदेश—धर्मका उपदेश करना सो धर्मोपदेश है।

प्रश्न—ये पाँच प्रकारके स्वाध्याय किसलिये कहे हैं।

उत्तर—प्रज्ञाकी अधिकता प्रशसनीय अभिप्राय उत्कृष्ट उदासीनता, तपकी वृद्धि अतिचारकी विशुद्धि इत्यादिके कारण पाँच प्रकारके स्वाध्याय कहे गये हैं ॥२५॥

सम्यक् व्युत्सर्गतपके दो भेद बतलाते हैं—

बाह्याभ्यंतरोपध्यो ॥२६॥

अर्थ—[बाह्याभ्यंतरोपध्यो] बाह्य उपधि व्युत्सर्ग और अभ्यंतर उपधिव्युत्सर्ग ये दो व्युत्सर्ग तपके भेद हैं।

टीका

१—बाह्य उपधिका अर्थ है बाह्य परिग्रह और आभ्यन्तर उपधि का अर्थ आभ्यन्तर परिग्रह है। दस प्रकारके बाह्य और चौदह प्रकारके अन्तरंग परिग्रहका त्याग करना सो व्युत्सर्ग तप है। जो आत्माका विकारी परिणाम है सो अन्तरंग परिग्रह है इसका बाह्य परिग्रहके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

२–प्रश्न—यह व्युत्सर्गतप क्यों कहा?

उत्तर—निःसंगत्व निर्भयता जीनेकी आशाका अभाव करने आदिके लिये यह तप है।

३—जो चौदह अंतरंग परिग्रह हैं, उनमें सबसे प्रथम मिथ्यात्व दूर

होता है इसके दूर किये विना अन्य कोई भी परिग्रह दूर ही नही होता। यह सिद्धान्त वतानेके लिये इस शास्त्रके पहले ही सूत्रमे मोक्षमार्गके रूपमें जो आत्माके तीन शुद्धभावोकी एकताकी आवश्यकता वतलाई है उसमे भी प्रथम सम्यग्दर्शन ही वतलाया है। सम्यग्दर्शनके विना ज्ञान या चारित्र भी सम्यक् नही होते। चारित्रके लिए जो 'सम्यक्' विशेपरण दिया जाता है वह अज्ञानपूर्वक आचरणकी निवृत्ति वतलाता है। पहले सम्यक् श्रद्धा ज्ञान होनेके वाद जो यथार्थ चारित्र होता है वही सम्यक् चारित्र है। इसलिये मिथ्यात्वको दूर किये विना किसी प्रकारका तप या धर्म नही होता ॥२६॥

यह निर्जरातत्त्वका वर्णन चल रहा है। निर्जराका कारण तप है। तपके भेदोका वर्णन चालू है, उसमे आभ्यतर तपके प्रारभके पाँच भेदोका वर्णन पूर्ण हुआ। अव छठा भेद जो ध्यान है, उसका वर्णन करते हैं।

सम्यक् ध्यानतपका लक्षण

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिंतानिरोधोध्यानमान्तमुर्हूतात् ॥२७॥

अर्थ—[उत्तमसहननस्य] उत्तम सहननवालेके [आ अंतर्मुहूर्तात्] अन्तर्मुहूर्त तक [एकाग्र चिंतानिरोधो ध्यानम्] एकाग्रतापूर्वक चिंताका निरोध सो ध्यान है।

टीका

१—उत्तमसंहनन—वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच और नाराच ये तीन उत्तमसंहनन हैं। इनमे मोक्ष प्राप्त करनेवाले जीवके पहला वज्रर्षभ-नाराच सहनन होता है।

एकाग्र—एकाग्रका अर्थ मुख्य, सहारा, अवलम्बन, आश्रय, प्रधान अथवा सन्मुख होता है। वृत्तिको अन्य क्रियासे हटाकर एक ही विषयमें रोकना सो एकाग्रचिंतानिरोध है और वही ध्यान है। जहाँ एकाग्रता नही वहाँ भावना है।

२—इस सूत्रमें ध्याता ध्यान ध्येय और ध्यानका समय ये चार बातें निम्नरूपसे आ जाती हैं—

(१) जो उत्तमसंहननधारी पुरुष है वह ध्याता है।

(२) एकाग्रचिन्ताका निरोध सो ध्यान है।

(३) जिस एक विषयको प्रधान किया सो ध्येय है।

(४) अन्तर्मुहूर्त यह ध्यानका उत्कृष्ट काल है।

मुहूर्तका अर्थ है ४८ मिनिट और अन्तर्मुहूर्तका अर्थ है ४८ मिनटके भीतरका समय। ४८ मिनिटमें एक समय कम सो उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है।

३—यहाँ ऐसा कहा है कि उत्तमसंहननवालेके अन्तर्मुहूर्त तक ध्यान रह सकता है इसका यह अर्थ हुआ कि अनुत्तम संहननवालेके सामान्य ध्यान होता है अर्थात् जितना समय उत्तमसंहननवालेके रहता है उतना समय उसके (अनुत्तम संहननवालेके) नहीं रहता। इस सूत्रमें कालका कथन किया है जिसमें यह सामर्थ्य गर्भितरूपसे आ जाता है।

४—षट्प्राभृतके मोक्षप्राभृतमें कहा है कि आज भी तीन रत्न (रत्नत्रय) के द्वारा शुद्धात्माको ध्याकर स्वर्गलोकमें अथवा लौकांतिकमें देवत्व प्राप्त करता है और वहाँसे च्युत होकर मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त करता है (गाथा ७७) इसलिये पंचमकालके अनुत्तम संहननवाले जीवके भी धर्मध्यान हो सकता है।

प्रश्न—ध्यानमें चिन्ताका निरोध है और जो चिन्ताका निरोध है सो अभाव है अतएव यह अभावके कारण ध्यान भी गधेके सींगकी तरह असत् हुआ?

उत्तर—ध्यान असत्रूप नहीं। दूसरी चिन्ताओंकी निवृत्तिकी अपेक्षासे अभाव है परन्तु एक विषयके साथ रही अपेक्षासे सद्भाव है अर्थात् एक [illegible] अपेक्षासे सद्भाव है [illegible] उसके [illegible] सकता है। [illegible] अपेक्षासे [illegible] है।

६—इस सूत्रका ऐसा भी अर्थ हो सकता है कि जो ज्ञान चचलता रहित अचल प्रकाशवाला अथवा देदीप्यमान होता है वह ध्यान है।

ध्यानके भेद—

आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ॥ २८ ॥

अर्थ—[आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि] आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ये ध्यान के चार भेद हैं।

टीका

प्रश्न—यह संवर-निर्जराका अधिकार है और यहाँ निर्जराके कारणोंका वर्णन चल रहा है। आर्त और रौद्रध्यान तो बंधके कारण हैं तो उन्हे यहाँ क्यों लिया ?

उत्तर—निर्जराका कारणरूप जो ध्यान है उससे इस ध्यानको अलग दिखानेके लिये ध्यानके सब भेद समझाये हैं।

आर्तध्यान—दुःख पीड़ारूप चिंतवन का नाम आर्तध्यान है।

रौद्रध्यान—निर्दय-क्रूर आशयका विचार करना।

धर्मध्यान—धर्म सहित ध्यान को धर्मध्यान कहते हैं।

शुक्लध्यान—शुद्ध पवित्र उज्ज्वल परिणामवाला चिंतवन शुक्लध्यान कहलाता है।

इन चार ध्यानोंमें पहले दो अशुभ हैं और दूसरे दो धर्मरूप हैं॥ २८ ॥

अब मोक्षके कारणरूप ध्यान बताते हैं

परे मोक्षहेतू ॥ २९ ॥

अर्थ—[परे] जो चार प्रकारके ध्यान कहे उनमेसे अन्तके दो अर्थात् धर्म और शुक्लध्यान [मोक्षहेतू] मोक्षके कारण हैं।

टीका

पहले दो ध्यान अर्थात् आर्तध्यान और रौद्रध्यान संसारके कारण हैं और निश्चय धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान मोक्षके कारण हैं।

प्रश्न—यह तो सूत्रमें कहा है कि अन्तिम दो ध्यान मोक्षके कारण हैं किंतु ऐसा अर्थ सूत्रमेंसे किसतरह निकाला कि पहले दो ध्यान संसार के कारण हैं ?

उत्तर—मोक्ष और संसार इन दो के अतिरिक्त और कोई साधने योग्य पदार्थ नहीं। इस जगतमें दो ही मार्ग हैं—मोक्षमार्ग और संसार मार्ग। इन दो के अतिरिक्त तीसरा कोई साधनीय पदार्थ नहीं है, अतएव यह सूत्र यह भी बतलाता है कि धर्मध्यान और शुक्लध्यानके अलावा आर्त्त और रौद्रध्यान संसारके कारण हैं ॥ २९ ॥

आर्त्तध्यानके चार भेद हैं, अब उनका वर्णन अनुक्रम से चार सूत्रों द्वारा करते हैं

आर्त्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥ ३० ॥

अर्थ—[अमनोज्ञस्य संप्रयोगे] अनिष्ट पदार्थका संयोग होने पर [तद्विप्रयोगाय] उसके दूर करनेके लिये [स्मृति समन्वाहारः] बारंबार विचार करना सो [आर्त्तम्] अनिष्ट संयोगज नामका आर्त्तध्यान है ॥ ३० ॥

विपरीतं मनोज्ञस्य ॥ ३१ ॥

अर्थ—[मनोज्ञस्य] मनोज्ञ पदार्थ संबंधी [विपरीत] उपरोक्त सूत्रमें कहे हुयेसे विपरीत अर्थात् इष्ट पदार्थका वियोग होनेपर उसके संयोगके लिये बारंबार विचार करना सो इष्ट वियोगज' नामका आर्त्त ध्यान है ॥ ३१ ॥

वेदनायाश्च ॥ ३२ ॥

अर्थ—[वेदनायाः च] रोगजनित पीडा होनेपर उसे दूर करनेके लिये बारबार चितवन करना सो वेदना जन्य आर्त्तध्यान है ॥ ३२ ॥

निदानं च ॥ ३३ ॥

अर्थ—[निदानं च] भविष्यकाल सबधी विषयोकी प्राप्तिमे चित्तको तल्लीन कर देना सो निदानज आर्त्तध्यान है ॥ ३३ ॥

अब गुणस्थानकी अपेक्षासे आर्त्तध्यानके स्वामी बतलाते हैं

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—[तत्] वह आर्त्तध्यान [अविरतदेशविरतप्रमत्तसयतानाम्] अविरत—पहले चार गुणस्थान, देशविरत—पाँचवाँ गुणस्थान और प्रमत्त सयत—छट्ठे गुणस्थानमे होता है।

नोट—निदान नामका आर्त्तध्यान छट्ठे गुणस्थानमें नही होता।

टीका

मिथ्यादृष्टि जीव तो अविरत है और सम्यग्दृष्टि जीव भी अविरत होता है इसीलिये (१) मिथ्यादृष्टि (२) सम्यग्दृष्टि अविरति (३) देशविरत और (४) प्रमत्तसयत इन चार प्रकारके जीवोके आर्त्तध्यान होता है। मिथ्यादृष्टिके सबसे खराब आर्त्तध्यान होता है और उसके बाद प्रमत्तसयत तक वह क्रमक्रम से मद होता जाता है। छठे गुणस्थान के बाद आर्त्तध्यान नही होता।

मिथ्यादृष्टि जीव पर वस्तुके सयोग-वियोगको आर्त्तध्यानका कारण मानता है, इसीलिये उसके यथार्थमें आर्त्तध्यान मंद भी नहीं होता। सम्यग्दृष्टि जीवोके आर्त्तध्यान क्वचित् होता है और इसका कारण उनके पुरुषार्थकी कमजोरी है ऐसा जानते हैं, इसीलिये वे स्व का—पुरुषार्थ बढा कर धीरे धीरे आर्त्तध्यानका अभाव करके अतमें उसका सर्वथा नाश करते हैं। मिथ्यादृष्टि जीवके स्वीय ज्ञानस्वभावकी अरुचि है इसीलिये उसके सर्वत्र, निरतर दुःखमय आर्त्तध्यान वर्तता है, सम्यग्दृष्टि जीवके स्व

के ज्ञान स्वभावकी अखण्ड रुचिश्रद्धा वर्तती है। इसीलिये उसके हमेशा धर्मध्यान रहता है मात्र पुरुषार्थकी कमजोरीसे किसी समय अशुभभाव रूप आर्त्तध्यान भी होता है, किन्तु वह मंद होता है ॥ ३४ ॥

अब रौद्रध्यानके भेद और स्वामी बतलाते हैं

हिंसाऽनृतस्तेयविषयसरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेश विरतयो. ॥ ३५ ॥

अर्थ—[हिंसानृतस्तेय विषय संरक्षणेभ्यः] हिंसा असत्य, चोरी और विषय संरक्षणके भावसे उत्पन्न हुआ ध्यान [रौद्रम्] रौद्रध्यान है यह ध्यान [अविरतदेशविरतयो] अविरत और देशविरत (पहलेसे पाँच) गुणस्थानोंमें होता है।

टीका

जो ध्यान क्रूर परिणामोंसे होता है वह रौद्रध्यान है। निमित्तके भेदकी अपेक्षासे रौद्रध्यानके ४ भेद होते हैं वे निम्नप्रकार हैं —

१—हिंसानंदी—हिंसामें आनन्द मानकर उसके साधन मिलानेमें तल्लीन रहना सो हिंसानंदी है।

२—मृषानंदी—झूठ बोलनेमें आनन्द मान उसका चिंतवन करना।

३—चौर्यानंदी—चोरीमें आनन्द मानकर उसका विचार करना।

४—परिग्रहानंदी—परिग्रहकी रक्षाकी चिंतामें तल्लीन हो जाना।

अब धर्मध्यानके भेद बताते हैं

आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—[आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय] आज्ञाविचय अपाय विचय विपाकविचय और संस्थानविचयके लिये चिंतवन करना सो [धर्म्यम्] धर्मध्यान है।

टीका

१—धर्मध्यानके चार भेद निम्नप्रकार हैं।

(१) आज्ञाविचय—आगमकी प्रमाणतासे अर्थका विचार करना।

(२) अपायविचय—ससारी जीवोके दु खका और उसमेसे छूटनेके उपायका विचार करना सो अपायविचय है।

(३) विपाकविचय—कर्मके फलका (उदयका) विचार करना।

(४) संस्थानविचय—लोकके आकारका विचार करना। इत्यादि विचारोके समय स्वसन्मुखताके बलसे जितनी आत्म परिणामोकी शुद्धता हो, उसे धर्मध्यान कहते हैं।

२—उपरोक्त चार प्रकारके सम्बन्धमें विचार।

(१) वीतराग आज्ञा विचार, साधकदशाका विचार, मैं वर्तमानमें आत्मशुद्धिकी कितनी भूमिका—(कक्षा) मे वर्तता हूँ उसीका स्वसन्मुखता-पूर्वक विचार करना वह आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

(२) बाधकताका विचार,—कितने अशमे सरागता—कषायकरण विद्यमान हैं ? मेरी कमजोरी ही विघ्नरूप है, रागादि ही दु खके कारण हैं ऐसे भावकर्मरूप बाधक भावोका विचार, अपायविचय है।

(३) द्रव्यकर्मके विपाकका विचार, जीवकी भूलरूप मलिनभावोमें कर्मोंका निमित्तमात्ररूप सम्बन्धको जानकर स्वसन्मुखताके बलको सभालना, जडकर्म किसीको लाभ हानि करनेवाला नही है, ऐसा विचार विपाकविचय है।

(४) संस्थानविचय—मेरे शुद्धात्मद्रव्यका प्रगट निरावरण सस्थान आकार कैसे पुरुषार्थसे प्रगट हो, शुद्धोपयोगकी पूर्णता सहित, स्वभाव व्यजन पर्यायका स्वय, स्थिर, शुद्ध आकार कब प्रगट होगा, ऐसा विचार करना सो सस्थानविचय है।

३—प्रश्न—छट्ठे गुणस्थानमे तो निर्विकल्पदशा नही होती तो वहाँ उस धर्मध्यान कैसे सभव हो सकता है।

उत्तर—यह ठीक है कि छट्ठे गुणस्थानमें विकल्प होता है परन्तु वहाँ उस विकल्पका स्वामित्व नहीं और सम्यग्दर्शनकी दृढ़ता होकर अशुभ राग दूर होता जाता है और तीन प्रकारके कषाय रहित वीतरागदशा है अतएव उतने अंशमें वहाँ धर्मध्यान है और उससे संवर–निर्जरा होती है। चौथे और पाँचवें गुणस्थानमें भी धर्मध्यान होता है और उससे उस गुणस्थानके योग्य संवर–निर्जरा होती है। जो शुभभाव होता है वह तो बंधका कारण होता है वह यथार्थ धर्मध्यान नहीं। अतः किसीको शुभ राग द्वारा धर्म हो ऐसा नहीं है।

४–धर्मध्यान–(धर्मका अर्थ है स्वभाव और ध्यानका अर्थ है एकाग्रता) अपने शुद्धस्वभावमें जो एकाग्रता है सो निश्चय धर्मध्यान है जिसमें क्रियाकाण्डके सर्व आडंबरोंका त्याग है ऐसी अंतरंग क्रियाके आधाररूप जो आत्मा है उसे मर्यादा रहित तीनों कालके कर्मोंकी उपाधि रहित निजस्वरूपसे जानता है वह ज्ञानकी विशेष परिणति या जिसमें आत्मा स्वाश्रयमें स्थिर होता है सो निश्चय धर्मध्यान है और यही संवर निर्जराका कारण है।

जो व्यवहार धर्मध्यान है वह शुभभाव है कर्मके चिंतवनमें मन लगा रहे यह तो शुभपरिणामरूप धर्मध्यान है। जो केवल शुभपरिणामसे मोक्ष मानते हैं उन्हें समझाया है कि शुभपरिणामसे अर्थात् व्यवहार धर्म ध्यानसे मोक्ष नहीं होता। [देखो समयसार गाथा २११ की टीका तथा भावार्थ] आगम (शास्त्र) की आज्ञा क्या है—जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुव–अचल ज्ञानस्वरूपसे परिणमित प्रतिभासते हैं यही मोक्षका हेतु है कारण कि वह स्वयं भी मोक्षस्वरूप है उसके अलावा जो कुछ है वह बन्धके हेतु है कारण कि वह स्वयं भी बन्धस्वरूप है इसलिये ज्ञान स्वरूप होनेका अर्थात् अनुभूति करनेकी ही आगममें आज्ञा (फरमान) है। (समयसार गाथा १५३ कलश १०५) ॥ ३६ ॥

अब शुक्लध्यानके स्वामी बताते हैं

शुक्ले चाद्येपूर्वविदः ॥ ३७ ॥

अर्थ—[शुक्ले चाद्ये] पहले दो प्रकारके शुक्लध्यान अर्थात् पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क ये दो ध्यान भी [पूर्वविदः] पूर्व-ज्ञानधारी श्रुतकेवलीके होता है।

नोट—इस सूत्रमे च शब्द है वह यह बतलाता है कि श्रुत केवली के धर्मध्यान भी होता है।

टीका

शुक्लध्यानके ४ भेद ३९ वें सूत्रमे कहेगे। शुक्लध्यानका प्रथम भेद आठवे गुणस्थानमे प्रारभ होकर क्षपकमे–दशवे और उपशमकमे ११ वें गुणस्थान तक रहता है, उनके निमित्तसे मोहनीय कर्मका क्षय या उपशम होता है। दूसरा भेद बारहवें गुणस्थानमे होता है, इसके निमित्तसे बाकीके घाति कर्म–यानी ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अतराय कर्मका क्षय होता है। ग्यारहवे गुणस्थानमे पहला भेद होता है।

२–इस सूत्रमे पूर्वधारी श्रुत केवलीके शुक्लध्यान होना बताया है सो उत्सर्ग कथन है, इसमें अपवाद कथनका गौणरूपसे समावेश हो जाता है। अपवाद कथन यह है कि किसी जीवके निश्चय स्वरूपाश्रितमात्र आठ प्रवचनमाताका सम्यग्ज्ञान हो तो वह पुरुपार्थ बढाकर निजस्वरूपमें स्थिर होकर शुक्लध्यान प्रगट करता है, शिवभूति मुनि इसके दृष्टात हैं, उनके विशेष शास्त्र ज्ञान न था तथापि (हेय और उपादेयका निर्मल ज्ञान था,) निश्चयस्वरूपाश्रित सम्यग्ज्ञान था, और इसीसे पुरुषार्थ बढाकर शुक्लध्यान प्रगट करके केवलज्ञान प्राप्त किया था।

(तत्त्वार्थसार अध्याय ६ गाथा ४६ की टीका) ॥ ३७ ॥

शुक्लध्यानके चार भेदोमेसे पहले दो भेद किसके होते हैं यह बतलाया,

अब यह बतलाते हैं कि बाकीके दो भेद किसके होते हैं।

परे केवलिनः ॥ ३८ ॥

अर्थ—[परे] शुक्लध्यानके अन्तिम दो भेद अर्थात् सूक्ष्म क्रिया

प्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये दो ध्यान [केवलिनः] केवली भगवान्के होते हैं।

टीका

तेरहवें गुणस्थानके अंतिम भागमें शुक्लध्यानका तीसरा भेद होता है, उसके बाद चौथा भेद चौदहवें गुणस्थानमें प्रगट होता है ॥ ३८ ॥

शुक्लध्यानके चार भेद

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रिया निवर्तीनि ॥ ३९ ॥

अर्थ—[पृथक्त्वैकत्व वितर्क सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति व्युपरत क्रियानिवर्तीनि] पृथक्त्ववितर्क एकत्ववितर्क सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरत क्रियानिवर्ति ये शुक्लध्यानके चार भेद हैं ॥ ३९ ॥

अब योगकी अपेक्षासे शुक्लध्यानके स्वामी बतलाते हैं।

त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ॥ ४० ॥

अर्थ—[त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम्] ऊपर कहे गये चार प्रकारके शुक्लध्यान अनुक्रमसे तीनयोगवाले एकयोगवाले, मात्र काययोग वाले और अयोगी जीवोंके होता है।

टीका

१—पहला पृथक्त्ववितर्कध्यान मन वचन और काय इन तीन योगोंके धारण करनेवाले जीवोंके होता है (गुणस्थान ८ से ११)

दूसरा एकत्ववितर्कध्यान तीनमेंसे किसी एक योगके धारकके होता है (१२ वें गुणस्थानमें होता है)

तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यान मात्र काययोगके धारण करने वालेके होता है (१३ वें गुणस्थानके अंतिम भाग)

चौथा व्युपरतक्रियानिवर्तिध्यान योग रहित-अयोगी जीवोंके होता

है (चौदहवें गुणस्थानमें होता है)

२—केवलीके मनोयोग संबंधी स्पष्टीकरण

(१) केवली भगवानके अतीन्द्रिय ज्ञान होता है, इसका यह मतलब नही है कि उनके द्रव्यमन नही है। उनके द्रव्यमनका सद्‌भाव है किंतु उनके मन निमित्तक ज्ञान नही है क्योंकि मानसिकज्ञान तो क्षायोपशमरूप है और केवली भगवानके क्षायिकज्ञान है अतः इसका अभाव है।

२ मनोयोग चार प्रकारका है (१) सत्य मनोयोग (२) असत्य मनोयोग (३) उभय मनोयोग और (४) अनुभय मनोयोग, इस चौथे अनुभय मनोयोगमे सत्य और असत्य दोनो नही होते। केवली भगवानके इन चारमेसे पहला और चौथा मनोयोग वचनके निमित्तसे उपचारसे कहा जाता है।

३. **प्रश्न**—यह तो ठीक है कि केवलीके सत्यमनोयोगका सद्‌भाव है, किन्तु उनके पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान है और संशय तथा अध्यवसायरूप ज्ञानका अभाव है इसीलिये उनके अनुभय अर्थात् असत्यमृषामनोयोग कैसे संभव होता है ?

उत्तर—संशय और अनध्यवसायका कारणरूप जो वचन है उसका निमित्त कारण मन होता है, इसीलिये उसमें श्रोताके उपचारसे अनुभय धर्म रह सकता है अत सयोगी जिनके अनुभय मनोयोगका उपचारसे सद्‌भाव कहा जाता है। इसप्रकार सयोगी जिनके अनुभयमनोयोग स्वीकार करनेमे कोई विरोध नही है। केवलीके ज्ञानके विषयभूत पदार्थ अनंत होनेसे, और श्रोताके आवरण कर्मका क्षयोपशम अतिशयरहित होनेसे केवलीके वचनोके निमित्तसे संशय और अनध्यवसाय की उत्पत्ति हो सकती है, इसीलिए उपचारसे अनुभय मनोयोगका सद्‌भाव कहा जाता है।

(श्री धवला पु० १ पृष्ठ २८२ से २८४ तथा ३०८)

३—केवलीके दो प्रकारका वचन योग

केवली भगवानके क्षायोपशमिकज्ञान (भावमन) नही है तथापि

उसके सत्य और अनुभय दो प्रकारके मनोयोगकी उत्पत्ति कही जाती है यह उपचारसे कही जाती है। उपचारसे मन द्वारा इन दोनों प्रकारके वचनोंकी उत्पत्तिका विधान किया गया है। जिस तरह दो प्रकारका मनोयोग कहा गया है उसीप्रकार दो प्रकारका वचन योग भी कहा गया है, यह भी उपचारसे है क्योंकि केवली भगवानके बोलनेकी इच्छा नहीं है, सहजरूपसे दिव्यध्वनि है।

(श्री धवला पुस्तक १ पृष्ठ २८३ तथा ३०८)

४—क्षपक तथा उपशमक जीवोंके चार मनोयोग किस तरह हैं ?

शंका-क्षपक (—क्षपक श्रेणीवाले) और उपशमक (उपशम श्रेणीवाले) जीवोंके भले ही सत्यमनोयोग और अनुभय मनोयोगका सद्भाव हो किन्तु बाकीके दो–असत्यमनोयोग और उभयमनोयोगका सद्भाव किस तरह है ? क्योंकि उन दोनोंमें रहनेवाला जो अप्रमाद है सो असत्य और उभयमनोयोगके कारणभूत प्रमादका विरोधी है अर्थात् क्षपक और उपशमक प्रमाद रहित होता है इसीलिये उसके असत्य मनोयोग और उभयमनोयोग किस तरह होते हैं ?

समाधान—आवरणकर्मयुक्त जीवोंके विपर्यय और अनध्यवसाय रूप अज्ञानके कारणभूत मनका सद्भाव माननेमें और उससे असत्य तथा उभयमनोयोग माननेमें कोई विरोध नहीं परन्तु इस कारणसे क्षपक और उपशमक जीव प्रमत्त नहीं माने जा सकते क्योंकि प्रमाद मोहकी पर्याय है।

(श्री धवला पु० १ पृष्ठ २८२ २८९)

नोट—ऐसा माननेमें दोष है–कि समनस्क (—मनसहित) जीवोंके ज्ञानकी उत्पत्ति मनोयोगसे होती है। क्योंकि ऐसा माननेमें केवलज्ञानसे व्यभिचार आता है। किन्तु यह बात सत्य है कि समनस्क जीवोंके क्षायोपशमिक ज्ञान होता है और उसमें मनोयोग निमित्त है। और यह माननेमें भी दोष है कि–समस्त वचन होनेमें मन निमित्त है क्योंकि ऐसा

माननेसे केवली भगवानके मनके निमित्तका अभाव होनेसे उनके वचनका अभाव हो जायगा। (श्री धवला पु० १ पृष्ठ २८७-२८८)

५-क्षपक और उपशमक जीवोंके वचनयोग सम्बन्धी स्पष्टीकरण

शंका—जिनके कषाय क्षीण होगई है ऐसे जीवोके असत्य वचन-योग कैसे हो सकता है ?

समाधान—असत्यवचनका कारण अज्ञान है और वह बारहवें गुणस्थान तक होता है, इस अपेक्षासे बारहवें गुणस्थान तक असत्य-वचनका सद्भाव होता है; और इसीलिये इसमे भी कोई विरोध नही है कि उभयसयोगज सत्यमृषावचन भी बारहवें गुणस्थान तक होता है।

शंका—वचनगुप्तिका पूर्णरीत्या पालन करनेवाले कषाय रहित जीवोके वचनयोग कैसे संभव होता है ?

समाधान—कषाय रहित जीवोमे अतर्जल्प होनेमे कोई विरोध नही है (श्री धवला पु० १ पृष्ठ २८९) ॥ ४० ॥

शुक्लध्यानके पहले दो भेदोंकी विशेषता बतलाते हैं

एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥ ४१ ॥

अर्थ—[एकाश्रये] एक (-परिपूर्ण) श्रुतज्ञानीके आश्रयसे रहने-वाले [पूर्वे] शुक्लध्यानके पहले दो भेद [सवितर्क वीचारे] वितर्क और वीचार सहित हैं परन्तु—

अवीचारं द्वितीयम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—[द्वितीयम्] ऊपर कहे गये शुक्लध्यानोमे से दूसरा शुक्ल-ध्यान [अवीचार] वीचारसे रहित है, किन्तु सवितर्क होता है।

टीका

१—४२ वा सूत्र ४१ वें सूत्रका अपवादरूप है, अर्थात् शुक्लध्यान का दूसरा भेद वीचार रहित है। जिसमें वितर्क और वीचार दोनो हो वह

पहला पृथक्त्व वितर्क शुक्लध्यान है और जो वीचार रहित तथा वितर्क सहित मणिके दीपककी तरह अचल है सो दूसरा एकत्ववितर्क शुक्लध्यान है, इसमें अर्थ वचन और योगका पलटना दूर हुआ होता है अर्थात् वह संक्रांति रहित है। वितर्ककी व्याख्या ४३ वें और वीचारकी व्याख्या ४४ वें सूत्रमें आवेगी।

२—जो ध्यान सूक्ष्म काययोगके अवलम्बनसे होता है उसे सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति (तृतीय) शुक्लध्यान कहते हैं, और जिसमें आत्मप्रदेशोंमें परिस्पंद और श्वासोच्छ्वासादि समस्त क्रियायें निवृत्त हो जाती हैं उसे व्युपरत क्रिया निवर्ति (चौथा) शुक्लध्यान कहते हैं ॥ ४१ ४२ ॥

वितर्क का लक्षण

वितर्कः श्रुतम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—[श्रुतम्] श्रुतज्ञानको [वितर्कः] वितर्क कहते हैं।

नोट—'श्रुतज्ञान' शब्द अवग्रहपूर्वक ज्ञानका ग्रहण बतलाता है। मतिज्ञानके भेदरूप चिंताको भी तर्क कहते हैं वह यहाँ ग्रहण नहीं करना ॥ ४३ ॥

वीचार का लक्षण

वीचारोऽर्थव्यंजनयोगसंक्रान्तिः ॥ ४४ ॥

अर्थ—[अर्थ व्यंजन योगसंक्रान्तिः] अर्थ व्यंजन और योगका बदलना सो [वीचारः] वीचार है।

टीका

अर्थसंक्रान्ति—अर्थका तात्पर्य है ध्यान करने योग्य पदार्थ और संक्रान्तिका अर्थ बदलना है। ध्यान करने योग्य पदार्थमें द्रव्यको छोड़कर उसकी पर्यायका ध्यान करे अथवा पर्यायको छोड़कर द्रव्यका ध्यान करे सो अर्थसंक्रांति है।

व्यंजनसंक्रान्ति—व्यंजनका अर्थ वचन और संक्रांतिका अर्थ बदलना है।

श्रुतके किसी एक वचनको छोडकर अन्यका अवलम्बन करना तथा उसे छोडकर किसी अन्यका अवलम्बन करना तथा उसे छोड़कर किसी अन्यका अवलम्बन करना सो व्यंजनसंक्रान्ति है।

योगसंक्रान्ति—काययोगको छोड़कर मनोयोग या वचनयोगको ग्रहण करना और उसे छोडकर अन्य योगको ग्रहण करना सो योग संक्रान्ति है।

यह ध्यान रहे कि जिस जीवके शुक्लध्यान होता है वह जीव निर्विकल्प दशामे हो है, इसीलिये उसे इस संक्रान्तिकी खबर नही है, किन्तु उस दशामे ऐसी पलटना होती है अर्थात् संक्रान्ति होती है वह केवलज्ञानी जानता है।

ऊपर कही गई संक्रान्ति—परिवर्तनको वीचार कहते हैं। जहाँ तक यह वीचार रहता है वहाँ तक इस ध्यानको सवीचार (अर्थात् पहला प्रथक्त्ववितर्क) कहते हैं। पश्चात् ध्यानमें दृढता होती है तब वह परिवर्तन रुक जाता है इस ध्यानको अवीचार (अर्थात् दूसरा एकत्ववितर्क) कहते हैं।

प्रश्न—क्या केवली भगवानके ध्यान होता है?

उत्तर—'एकाग्रचिंता निरोध' यह ध्यानका लक्षण है। एक एक पदार्थका चिंतवन तो क्षायोपशमिक ज्ञानीके होता है और केवली भगवानके तो एक साथ सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञान प्रत्यक्ष रहता है। ऐसा कोई पदार्थ अवशिष्ट नही रहा कि जिसका वे ध्यान करें। केवली भगवान कृतकृत्य हैं, उन्हे कुछ करना बाकी नही रहा, अतएव उनके वास्तवमें ध्यान नही है। तथापि आयु पूर्ण होने पर तथा अन्य तीन कर्मोंकी स्थिति पूर्ण होने पर योगका निरोध और कर्मोंकी निर्जरा स्वयमेव होती है और ध्यानका कार्य भी योगका निरोध और कर्मोंकी निर्जरा होना है, इसीलिये केवली भगवानके ध्यानकी सदृश कार्य देखकर—उपचारसे उनके शुक्लध्यान कहा जाता है, यथार्थमे उनके ध्यान नही है ["भगवान परम सुखको

ध्याते हैं' ऐसा प्र० सार गा० १६८ में कहा है यहाँ उनकी पूर्ण अनुभव दशा दिखाना है] ॥४४॥

यहाँ ध्यान तपका वर्णन पूर्ण हुआ।

इस नवमें अध्यायके पहले अठारह सूत्रोंमें संवर और उसके कारणों का वर्णन किया। उसके बाद निर्जरा और उसके कारणोंका वर्णन प्रारंभ किया। वीतरागभावरूप तपसे निर्जरा होती है (तपसा निर्जरा च सूत्र–३) उसे भेद द्वारा समझानेके लिये तपके बारह भेद बतलाये, इसके बाद छह प्रकारके अन्तरंग तपके उपभेदोंका यहाँ तक वर्णन किया।

व्रत, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, बारह प्रकारके तप आदि सम्बन्धी खास ध्यानमें रखने योग्य स्पष्टीकरण

१—कितने ही जीव सिर्फ व्यवहारनयका अवलम्बन करते हैं उनके परद्रव्यरूप भिन्न साधनसाध्यभावकी दृष्टि है इसीलिये वे व्यवहारमें ही खेद खिन्न रहते हैं। वे निम्नलिखित अनुसार होते हैं—

श्रद्धाके सम्बन्धमें—धर्मद्रव्यादि परद्रव्योंकी श्रद्धा करते हैं।

ज्ञानके सम्बन्धमें—द्रव्यश्रुतके पठन पाठनादि संस्कारोंसे अनेक प्रकारके विकल्पजालसे कलंकित चैतन्य वृत्तिको धारण करते हैं।

चारित्रके संबंधमें—यतिके समस्त व्रत समुदायरूप तपादि प्रवृत्तिरूप कर्मकांडोंको अचलितरूपसे आचरते हैं इसमें किसी समय पुण्यकी रुचि करते हैं कभी दयावन्त होते हैं।

दर्शनाचारके संबंधमें—किसी समय प्रशमता किसी समय वैराग्य किसी समय अनुकम्पा-दया और किसी समय आस्तिक्यमें वर्तता है तथा शंका कांक्षा विचिकित्सा मूढ़दृष्टि आदि भाव उत्पन्न न हों ऐसी शुभोपयोगरूप सावधानी रखते हैं मात्र व्यवहारनयरूप उपगूहन स्थितिकरण वात्सल्य प्रभावना इन अंगोंकी भावना विचारते हैं और इस सम्बन्धी उत्साह बार बार बढ़ाते हैं।

ज्ञानाचारके सम्बन्धमें—स्वाध्यायका काल विचारते हैं, अनेक प्रकारकी विनयमे प्रवृत्ति करते हैं, शास्त्रकी भक्तिके लिये दुर्धर उपधान करते हैं–आरम्भ करते हैं, शास्त्रका भले प्रकारसे बहुमान करते हैं, गुरु आदिमे उपकार प्रवृत्तिको नही भूलते, अर्थ–व्यंजन और इन दोनोकी शुद्धतामें सावधान रहते हैं।

चारित्राचारके सम्बन्धमें—हिंसा, झूंठ, चोरी स्त्री सेवन और परिग्रह इन सबसे विरतिरूप पंचमहाव्रतमे स्थिर वृत्ति धारण करते हैं; योग (मन–वचन–काय) के निग्रहरूप गुप्तियोके अवलम्बनका उद्योग करते हैं, ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग इन पाँच समितियोमे सर्वथा प्रयत्नवन्त रहते हैं।

तपाचारके सम्बन्धमें—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेशमे निरन्तर उत्साह रखता है, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, व्युत्सर्ग, स्वाध्याय, और ध्यानके लिये चित्तको वशमे करता है।

वीर्याचारके सम्बन्धमें—कर्मकाडमे सर्वशक्तिपूर्वक वर्तता है।

ये जीव उपरोक्त प्रमाणसे कर्मचेतनाकी प्रधानता पूर्वक अशुभभावकी प्रवृत्ति छोडते है, किन्तु शुभभावकी प्रवृत्तिको आदरने योग्य मानकर अंगीकार करते हैं, इसीलिये सम्पूर्ण कियाकाडके आडम्बरसे अतिक्रात दर्शनज्ञान चारित्रकी ऐक्यपरिणतिरूप ज्ञान चेतनाको वे किसी भी समय प्राप्त नही होते।

वे बहुत पुण्यके भारसे मथर (-मंद, सुस्त) हुई चित्तवृत्तिवाले वर्तते है इसीलिये स्वर्गलोकादि क्लेश प्राप्त करके परम्परासे दीर्घकाल तक संसार सागरमें परिभ्रमण करते हैं (देखो पंचास्तिकाय गाथा १७२ की टीका)

वास्तवमे तो शुद्धभाव ही–संवर-निर्जरारूप है। यदि शुभभाव यथार्थमे संवर-निर्जराका कारण हो तो केवल व्यवहारावलम्बीके समस्त प्रकारका निरतिचार व्यवहार है इसीलिये उसके शुद्धता प्रगट होनी

चाहिये। परन्तु राग संवर निर्जराका कारण ही नहीं है। अज्ञानी शुभभावको धर्म मानता है इस वजहसे तथा शुभ करते करते धर्म होगा ऐसा माननेसे और शुभ-अशुभ दोनों दूर करने पर धर्म होगा ऐसा नहीं माननेसे उसका तमाम व्यवहार निरर्थक है इसीलिये उसे व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि कहा जाता है।

भव्य तथा अभव्य जीवोंने ऐसा व्यवहार (जो वास्तवमें व्यवहाराभास है) अनन्तबार किया है और इसके फलसे अनन्तबार नवमें ग्रैवेयक स्वर्ग तक गया है किन्तु इससे धर्म नहीं हुआ। धर्म तो शुद्ध निश्चयस्वभावके आश्रयसे होनेवाले सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रसे ही होता है।

श्री समयसारमें कहा है कि—

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे गये व्रत समिति गुप्ति शील, तप करने पर भी अभव्य जीव अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि है।

टीका—यद्यपि अभव्य जीव भी शील और तपसे परिपूर्ण तीन गुप्ति और पाँच समितियोंके प्रति सावधानीसे वर्तता हुआ अहिंसादि पाँच महाव्रतरूप व्यवहार चारित्र करता है तथापि वह निश्चारित्र (चारित्र रहित) अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि ही है क्योंकि निश्चयचारित्रके कारणरूप ज्ञान श्रद्धानसे शून्य है—रहित है।

भावार्थ—अभव्य जीव यद्यपि महाव्रत समिति गुप्तिरूप चारित्रका पालन करता है तथापि निश्चय सम्यग्ज्ञान-श्रद्धाके बिना वह चारित्र सम्यक् चारित्र नाम नहीं पाता इसलिये वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि और निश्चारित्र ही है।

नोट—यहाँ अभव्य जीवका उदाहरण दिया है किन्तु यह सिद्धान्त व्यवहारका आश्रयसे हित माननेवाले समस्त जीवोंके एक सरीखा लागू होता है।

३—जो शुद्धात्माका अनुभव है सो यथार्थ मोक्षमार्ग है। इसीलिये उसके निश्चय कहा है। व्रत, तपादि कोई सच्चे मोक्षमार्ग नही, किन्तु निमित्तादिककी अपेक्षासे उपचारसे उसे मोक्षमार्ग कहा है, इसीलिये इसे व्यवहार कहते हैं। इसप्रकार यह जानना कि भूतार्थ मोक्षमार्गके द्वारा निश्चयनय और अभूतार्थ मोक्षमार्गके द्वारा व्यवहारनय कहा है। किन्तु इन दोनोको ही यथार्थ मोक्षमार्ग जानकर उसे उपादेय मानना सो तो मिथ्याबुद्धि ही है। (देखो देहली० मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३६७)

४—किसी भी जीवके निश्चय-व्यवहारका स्वरूप समझे विना धर्म या सवर–निर्जरा नही होती। शुद्ध आत्माका यथार्थ स्वरूप समझे विना निश्चय-व्यवहारका यथार्थ स्वरूप समझमे नही आता, इसलिये पहले आत्माका यथार्थ स्वरूप समझनेकी आवश्यकता है।

अब पात्रकी अपेक्षासे निर्जरामें होनेवाली न्यूनाधिकता बतलाते हैं।

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाःक्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥ ४५ ॥

अर्थ—[सम्यग्दृष्टि श्रावक विरतानंत वियोजक दर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशांतमोह क्षपक क्षीणमोह जिनाः] सम्यग्दृष्टि, पचमगुणस्थानवर्ती श्रावक, विरतमुनि, अनन्तानुबंधीका विसयोजन करनेवाला, दर्शनमोहका क्षय करनेवाला, उपशम श्रेणी माडनेवाला, उपशांतमोह, क्षपक श्रेणी माडनेवाला, क्षीणमोह और जिन इन सबके (अतर्मुहूर्त पर्यंत परिणामोकी विशुद्धताकी अधिकतासे आयुकर्मको छोडकर) प्रति समय [क्रमश.असख्येयगुण निर्जरा.] क्रमसे असख्यात गुणी निर्जरा होती है।

टीका

(१) यहाँ पहले सम्यग्दृष्टिकी—चौथे गुणस्थान की दशा बतलाई

है। जो असख्यात गुणी निर्जरा कही है वह निर्जरा सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेसे पहलेकी एकदम समीप की (अत्यंत निकटकी) आत्माकी दशामें होनेवाली निर्जरासे असख्यात गुणी जानना। प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके पहले तीन करण होते हैं, उनमें अनिवृत्ति करणके अंत समयमें वर्तनेवाली विशुद्धतासे विशुद्ध, जो सम्यक्त्वके सन्मुख मिथ्यादृष्टि है उसके आयुको छोड़कर सात कर्मोंकी जो निर्जरा होती है उससे असंख्यात गुणी निर्जरा असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान प्राप्त करने पर अन्तर्मुहूर्त पर्यंत प्रति समय (निर्जरा) होती है अर्थात् सम्यक्त्वके सन्मुख मिथ्यादृष्टिकी निर्जरा से सम्यग्दृष्टिके गुणश्रेणी निर्जरामें असख्यगुणा द्रव्य है। यह चौथे गुणस्थानवाले अविरत–सम्यग्दृष्टि की निर्जरा है।

(२) जब यह जीव पाँचवाँ गुणस्थान–श्रावकदशा प्रगट करता है तब अन्तर्मुहूर्त पर्यंत निर्जरा होने योग्य कर्मपुद्गलरूप गुणश्रेणी निर्जरा द्रव्य चौथे गुणस्थानसे असंख्यात गुणा है।

(३) पाँचवेंसे जब सकलसंयमरूप अप्रमत्तसंयत (-सातवाँ) गुणस्थान प्रगट करे तब पचमगुणस्थानसे असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। पाँचवेंके बाद पहले सातवाँ गुणस्थान प्रगट होता है और फिर विकल्प उठनेपर छट्ठा प्रमत्त गुणस्थान होता है। सूत्रमें विरत शब्द कहा है इसमें सातवें और छट्ठे दोनों गुणस्थानवाले जीवोंका समावेश होता है।

(४) तीन करणके प्रभावसे चार अनन्तानुबन्धी कषायको बारह कषाय तथा नव नोकषायरूप परिणमा दे उन जीवोंके अन्तर्मुहूर्तपर्यंत प्रतिसमय असख्यात गुणी द्रव्य निर्जरा होती है। अनंतानुबंधीका यह विसंयोजन चौथे पाँचवें छट्ठे और सातवें इन चार गुणस्थानोंमें होता है।

(५) अनन्त वियोजकसे असंख्यात गुणी निर्जरा दर्शनमोहके क्षय करके (उन जीवके) होती है। वह भी अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करनेके बाद स्थानमात्रके विरता काम करे तथा क्रम है।

(६) दर्शनमोहका क्षपण करनेवालेसे उपशमक के असंख्यात गुणी निर्जरा होती है

प्रश्न—उपशमकी वात दर्शनमोहके क्षपण करनेवालेके वाद क्यो कही ?

उत्तर—क्षपक का अर्थ क्षायिक होता है, यहाँ क्षायिक सम्यक्त्वकी वात है; और 'उपशमक' कहनेसे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व युक्त उपशम श्रेणी वाले जीव समझना। क्षायिक सम्यग्दृष्टिसे उपशमश्रेणी वालेके असख्यात गुणी निर्जरा होती है, इसीलिये पहले क्षपककी वात की है और उसके वाद उपशमककी वात की है क्षायिक सम्यग्दर्शन चोथे, पाँचवें, छट्ठे और सातवें गुणस्थानमे प्रगट होता है और जो जीव चारित्रमोहका उपशम करने का उद्यमी हुये हैं उनके आठवाँ, नवमाँ और दशमाँ गुणस्थान होता है।

(७) उपशमक जीवकी निर्जरासे ग्यारहवें उपशातमोह गुणस्थान में असख्यात गुणी निर्जरा होती है।

(८) उपशातमोहवाले जीवकी अपेक्षा क्षपक श्रेणीवालेके असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। इस जीवके आठवा नवमा और दसमा गुणस्थान होता है।

(९) क्षपकश्रेणीवाले जीवकी अपेक्षा वारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में असख्यात गुणी निर्जरा होती है।

(१०) वारहवें गुणस्थानकी अपेक्षा 'जिन' के (तेरहवे और चौदहवें गुणस्थानमे) असख्यातगुणी निर्जरा होती है। जिनके तीन भेद हैं (१) स्वस्थान केवली (२) समुद्घात केवली और (३) अयोग केवली। इन तीनोमे भी विशुद्धताके कारण उत्तरोत्तर असख्यात गुणी निर्जरा है। अत्यन्त विशुद्धताके कारण समुद्घात केवलीके नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मकी स्थिति आयुकर्म के समान हो जाती है।

इस सूत्रका सिद्धान्त

इस सूत्रमें निर्जराके लिये प्रथम पात्र सम्यग्दृष्टि वतलाया गया है इसीसे यह सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शनसे ही धर्मका प्रारभ होता है ॥४५॥

अब निर्ग्रंथ साधुके भेद बतलाते हैं

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रंथस्नातका: निर्ग्रंथाः ॥४६॥

अर्थ—[पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रंथ स्नातकाः] पुलाक, बकुश, कुशील निर्ग्रंथ और स्नातक-ये पाँच प्रकारके [निग्रंथाः] निर्ग्रंथ हैं।

टीका

१-सूत्रमें आये हुये शब्दोंकी व्याख्या-

(१) पुलाक—जो उत्तर गुणोंकी भावनासे रहित हों और किसी क्षेत्र तथा कालमें किसी मूलगुणमें भी अतीचार लगावे तथा जिसके अल्प विशुद्धता हो उसे पुलाक कहते हैं। विशेष कथन सूत्र ४७ प्रति सेवनाका अर्थ।

(२) बकुश—जो मूल गुणोंका निर्दोष पालन करता है किन्तु धर्मानुरागके कारण शरीर तथा उपकरणोंकी शोभा बढ़ानेके लिये कुछ इच्छा रखता है उसे बकुश कहते हैं।

(३) कुशील—इसके दो भेद हैं १-प्रतिसेवना कुशील और (२) कषाय कुशील। जिसके शरीरादि तथा उपकरणादिसे पूर्ण विरक्तता न हो और मूलगुण तथा उत्तर गुणोंकी परिपूर्णता हो परन्तु उत्तरगुणमें क्वचित् कदाचित् विराधना होती हो उसे प्रतिसेवना कुशील कहते हैं। और जिसने संज्वलनके सिवाय अन्य कषायोंको जीत लिया हो उसे कषाय कुशील कहते हैं।

(४) निर्ग्रंथ—जिनके मोहकर्म क्षीण होगया है तथा जिनके मोह कर्मके उदयका अभाव है ऐसे ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनिको निर्ग्रंथ कहते हैं।

(५) स्नातक—समस्त घातिया कर्मोंके नाश करने वाले केवली भगवानको स्नातक कहते हैं। (इसमें तेरहवाँ तथा चौदहवाँ दोनों गुणस्थान समझना)

२ परमार्थनिर्ग्रन्थ और व्यवहारनिर्ग्रंथ

वारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमे विराजनेवाले जीव परमार्थ निर्ग्रन्थ हैं, क्योकि उनके समस्त मोहका नाश हो गया है, इन्हे निश्चयनिर्ग्रंथ कहते हैं। अन्य साधु यद्यपि सम्यग्दर्शन और निष्परिग्रहत्व को लेकर निर्ग्रंथ हैं अर्थात् वे मिथ्यादर्शन और अविरति रहित हैं तथा वस्त्र, आभरण, हथियार, कटक, धन, धान्य आदि परिग्रहसे रहित होनेसे निर्ग्रंथ हैं तथापि उनके मोहनीय कर्मका आंशिक सद्भाव है, इसीलिये वे व्यवहार निर्ग्रंथ हैं।

कुछ स्पष्टीकरण

(१) **प्रश्न**—यद्यपि पुलाक मुनिके क्षेत्र कालके वश किसी समय किसी एक व्रतका भग होता है तथापि उसे निर्ग्रंथ कहा, तो क्या श्रावक के भी निर्ग्रंथत्व कहने का प्रसग आवेगा ?

उत्तर—पुलाक मुनि सम्यग्दृष्टि है और परवशसे या जबरदस्तीसे व्रत मे क्षणिक दोष हो जाता है, किन्तु यथाजातरूप है, इसीलिये नैगम-नयसे वह निर्ग्रंथ है, श्रावकके यथाजातरूप (नग्नता) नही है, इसीलिये उसके निर्ग्रंथत्व नही कहलाता। [उद्देशिक और अध कर्मके आहार जल को जानते हुए भी लेते हैं उसकी गणना पुलाकादि कोई भेद मे नही है ॥]

(२) **प्रश्न**—पुलाक मुनिको यदि यथाजात रूपको लेकर ही निर्ग्रंथ कहोगे तो अनेक मिथ्यादृष्टि भी नग्न रहते हैं उनको भी निर्ग्रंथ कहने का प्रसग आवेगा।

उत्तर—उनके सम्यग्दर्शन नही है। मात्र नग्नत्व तो पागलके, बालक के साथ तिर्यंचोके भी होता है, परन्तु इसीलिये उन्हें निर्ग्रंथ नही कहते। किन्तु जो निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक ससार और देह, भोगसे विरक्त होकर नग्नत्व धारण करता है चारित्र मोहकी तीन जातिके कषायका अभाव किये है उसे निर्ग्रंथ कहा जाता है, दूसरेको नही ॥४६॥

पुलाकादि मुनियों में विशेषता

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थान विकल्पतः साध्याः ॥ ४७ ॥

अर्थ—उपरोक्त मुनि [संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपाद स्थानविकल्पतः] संयम, श्रुत प्रतिसेवना तीर्थ लिङ्ग लेश्या उपपाद और स्थान इन आठ अनुयोगों द्वारा [साध्याः] भेदरूपसे साध्य हैं, अर्थात् इन आठ प्रकारसे इन पुलाकादि मुनियोंमें विशेष भेद होते हैं।

टीका

(१) संयम—पुलाक बकुश और प्रतिसेवना कुशील साधुके सामायिक और छेदोपस्थापन ये दो संयम होते हैं। कषाय कुशील साधुके सामायिक छेदोपस्थापन परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसांपराय ये चार संयम होते हैं निर्ग्रंथ और स्नातकके यथाख्यात चारित्र होता है।

(२) श्रुत—पुलाक बकुश और प्रतिसेवना कुशील साधु ज्यादासे ज्यादा सम्पूर्ण दश पूर्वधारी होते हैं पुलाकके जघन्य आचारांगमें आचार वस्तुका ज्ञान होता है और बकुश तथा प्रतिसेवना कुशीलके जघन्य अष्ट-प्रवचन माताका ज्ञान होता है अर्थात् आचारांगके १८००० पदोंमेंसे पांच समिति और तीन गुप्तिका परमार्थ व्याख्यान तक इन साधुओंका ज्ञान होता है कषायकुशील और निर्ग्रंथके उत्कृष्ट ज्ञान चौदह पूर्वका होता है और जघन्यज्ञान आठ प्रवचन माता का होता है। स्नातक तो केवल ज्ञानी है इसीलिये वे श्रुतज्ञान से दूर हैं। [अष्ट प्रवचन माता=तीन गुप्ति—पांच समिति]

(३) प्रतिसेवना—(विराधना) पुलाकमुनिके परवशसे या जबर्दस्ती से पांच महाव्रत और रात्रिभोजनका त्याग इन छहमें से किसी एक की विराधना हो जाती है। महाव्रतोंमें तथा रात्रिभोजन त्यागमें कृत कारित, अनुमोदनासे पांचों पापोंका त्याग है उनमेंसे किसी प्रकारसे सामर्थ्यकी

हीनतासे दूषण लगता है, उपकरण–बकुश मुनिके कमंडल, पीछी, पुस्तकादि उपकरणकी शोभाकी अभिलाषाके सस्कारका सेवन होता है, सो विराधना जानना। तथा बकुशमुनिके शरीरके संस्काररूप विराधना होती है, प्रतिसेवनाकुशील मुनि पाँच महाव्रतकी विराधना नही करता किन्तु उत्तरगुणमे किसी एककी विराधना करता है। कषायकुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातकके विराधना नही होती।

(४) तीर्थ—ये पुलाकादि पाँचों प्रकारके निर्ग्रन्थ समस्त तीर्थङ्करोंके धर्मशासनमे होते हैं।

(५) लिंग—इसके दो भेद हैं १–द्रव्यलिंग और २–भावलिंग। पाँचो प्रकारके निर्ग्रन्थ भावलिंगी होते हैं। वे सम्यग्दर्शन सहित सयम पालनेमे सावधान हैं। भावलिंग का द्रव्यलिंगके साथ निमित्त नैमित्तिक सबंध है। यथाजातरूप लिंगमे किसीके भेद नही है किन्तु प्रवृत्तिरूप लिंग में अतर होता है, जैसे कोई आहार करता है, कोई अनशनादि तप करता है, कोई उपदेश करता है, कोई अध्ययन करता है, कोई तीर्थमे विहार करता है, कोई अनेक आसनरूप ध्यान करता है, कोई दूषण लगा हो तो उसका प्रायश्चित्त लेता है, कोई दूषण नही लगाता, कोई आचार्य है, कोई उपाध्याय है, कोई प्रवर्तक है, कोई निर्यापक है, कोई वैयावृत्य करता है, कोई ध्यानमे श्रेणीका प्रारम्भ करता है, इत्यादि राग (-विकल्प) रूप द्रव्यलिंगमे मुनिगणोके भेद होता है। मुनिके शुभभावको द्रव्यलिंग कहते हैं। इसके अनेक भेद हैं, इन प्रकारोको द्रव्यलिंग कहा जाता है।

(६) लेश्या—पुलाक मुनिके तीन शुभ लेश्यायें होती हैं। बकुश तथा प्रतिसेवनाकुशील मुनिके छहो लेश्या भी होती हैं। कषाय से अनुरजित योग परिणतिको लेश्या कहते हैं।

प्रश्न—बकुश तथा प्रतिसेवनाकुशील मुनिके कृष्णादि तीन अशुभ लेश्यायें किस तरह होती हैं ?

उत्तर—उन दोनो प्रकारके मुनिके उपकरणकी कुछ आसक्तिके

पुलाकादि मुनियों में विशेषता

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थान विकल्पत. साध्या. ॥ ४७ ॥

अर्थ—उपरोक्त मुनि [संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानविकल्पत.] संयम श्रुत प्रतिसेवना तीर्थ लिङ्ग लेश्या, उपपाद और स्थान इन आठ अनुयोगों द्वारा [साध्याः] भेदरूपसे साध्य हैं अर्थात् इन आठ प्रकारसे इन पुलाकादि मुनियोंमें विशेष भेद होते हैं।

टीका

(१) संयम–पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील साधुके सामायिक और छेदोपस्थापन ये दो संयम होते हैं। कषाय कुशील साधुके सामायिक छेदोपस्थापन परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसांपराय ये चार संयम होते हैं निर्ग्रंथ और स्नातकके यथाख्यात चारित्र होता है।

(२) श्रुत–पुलाक बकुश और प्रतिसेवना कुशील साधु ज्यादासे ज्यादा सम्पूर्ण दश पूर्वधारी होते हैं पुलाकके जघन्य आचारांगमें आचार वस्तुका ज्ञान होता है और बकुश तथा प्रतिसेवना कुशीलके जघन्य अष्ट प्रवचन माताका ज्ञान होता है अर्थात् आचारांगके १८००० पदोंमेंसे पांच समिति और तीन गुप्तिका परमार्थ व्याख्यान तक इन साधुओंका ज्ञान होता है कषायकुशील और निर्ग्रंथके उत्कृष्ट ज्ञान चौदह पूर्वका होता है और जघन्यज्ञान आठ प्रवचन माता का होता है। स्नातक तो केवल ज्ञानी है इसीलिये वे श्रुतज्ञान से दूर हैं। [अष्ट प्रवचन माता=तीन गुप्ति–पांच समिति]

(३) प्रतिसेवना–(विराधना) पुलाकमुनिके परवशसे या जबरदस्ती से पांच महाव्रत और रात्रिभोजनका त्याग इन छहमें से किसी एक की विराधना हो जाती है। महाव्रतोंमें तथा रात्रिभोजन त्यागमें कृत कारित अनुमोदनासे पांचों पापोंका त्याग है उनमेंसे किसी प्रकारसे सामर्थ्यकी

हीनतासे दूषण लगता है, उपकरण–वकुश मुनिके कमडल, पीछी, पुस्तकादि उपकरणकी शोभाकी अभिलाषाके सस्कारका सेवन होता है, सो विराधना जानना। तथा वकुशमुनिके शरीरके सस्काररूप विराधना होती है, प्रतिसेवनाकुशील मुनि पाँच महाव्रतकी विराधना नही करता किन्तु उत्तरगुणमे किसी एककी विराधना करता है। कषायकुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातकके विराधना नही होती।

(४) तीर्थ—ये पुलाकादि पाँचों प्रकारके निर्ग्रन्थ समस्त तीर्थङ्करोंके धर्मशासनमे होते हैं।

(५) लिंग—इसके दो भेद हैं १–द्रव्यलिंग और २–भावलिंग। पाँचो प्रकारके निर्ग्रन्थ भावलिंगी होते हैं। वे सम्यग्दर्शन सहित सयम पालनेमे सावधान हैं। भावलिंग का द्रव्यलिंगके साथ निमित्त नैमित्तिक सबंध है। यथाजातरूप लिंगमे किसीके भेद नही है किन्तु प्रवृत्तिरूप लिंग में अतर होता है, जैसे कोई आहार करता है, कोई अनशनादि तप करता है, कोई उपदेश करता है, कोई अध्ययन करता है, कोई तीर्थमें विहार करता है, कोई अनेक आसनरूप ध्यान करता है, कोई दूषण लगा हो तो उसका प्रायश्चित्त लेता है, कोई दूषण नही लगाता, कोई आचार्य है, कोई उपाध्याय है, कोई प्रवर्तक है, कोई निर्यापक है, कोई वैयावृत्य करता है, कोई ध्यानमे श्रेणीका प्रारम्भ करता है, इत्यादि राग (-विकल्प) रूप द्रव्यलिंगमे मुनिगणोके भेद होता है। मुनिके शुभभावको द्रव्यलिंग कहते हैं। इसके अनेक भेद हैं, इन प्रकारोको द्रव्यलिंग कहा जाता है।

(६) लेश्या—पुलाक मुनिके तीन शुभ लेश्यायें होती हैं। वकुश तथा प्रतिसेवनाकुशील मुनिके छहों लेश्या भी होती हैं। कषाय से अनुरजित योग परिणतिको लेश्या कहते हैं।

प्रश्न—वकुश तथा प्रतिसेवनाकुशील मुनिके कृष्णादि तीन अशुभ लेश्याये किस तरह होती हैं?

उत्तर—उन दोनो प्रकारके मुनिके उपकरणकी कुछ आसक्तिके

कारण किसी समय आर्तध्यान भी हो जाता है और इसीलिये उनके कृष्णादि अशुभ लेश्या भी हो सकती हैं।

कषायकुशील मुनिके कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये चार लेश्यायें होती हैं। सूक्ष्म सांपराय गुणस्थानवर्तीके तथा निर्ग्रंथके शुक्ल लेश्या होती है। स्नातकके उपचारसे शुक्ल लेश्या है अयोग केवलीके लेश्या नहीं होती।

(७) उपपाद—पुलाक मुनिका–उत्कृष्ट अठारह सागरकी आयुके साथ–बारहवें सहस्रार स्वर्गमें जन्म होता है। बकुश और प्रतिसेवना कुशीलका–उत्कृष्ट जन्म बाईस सागरकी आयुके साथ पन्द्रहवें आरण और सोलहवें अच्युत स्वर्गमें जन्म होता है। कषायकुशील और निर्ग्रंथका–उत्कृष्ट जन्म तेंतीस सागरकी आयुके साथ सर्वार्थसिद्धिमें होता है। इन सबका जघन्य सौधर्म स्वर्गमें दो सागरकी आयुके साथ जन्म होता है। स्नातक केवली भगवान हैं उनका उपपाद निर्वाण–मोक्षरूपसे होता है।

(८) स्थान—तीव्र या मंद कषाय होनेके कारण असंख्यात संयम लब्धिस्थान होते हैं उनमेंसे सबसे छोटा संयमलब्धिस्थान पुलाक मुनिके और कषायकुशीलके होता है। ये दोनों एक साथ असंख्यात लब्धिस्थान प्राप्त करते हैं पुलाक मुनि इन असंख्यात लब्धिस्थानोंके बाद आगेके लब्धिस्थान प्राप्त नहीं कर सकते। कषायकुशील मुनि उनसे आगेके असंख्यात लब्धिस्थान प्राप्त करते हैं।

यहाँ दूसरी बार कहे गये असंख्यात लब्धिस्थानसे कषायकुशील प्रतिसेवनाकुशील और बकुश मुनि ये तीनों एकसाथ असंख्यात लब्धि स्थान प्राप्त करते हैं।

बकुशमुनि इन तीसरी बार कहे गये असंख्यात लब्धि स्थानमें रुक जाता है आगेके स्थान प्राप्त नहीं कर सकता प्रतिसेवनाकुशील वहाँ से आगे असंख्यात लब्धिस्थान प्राप्त कर सकते हैं।

कषायकुशील मुनि ये चौथी बार कहे गये असंख्यात लब्धिस्थानमेंसे

आगे असंख्यात लब्धिस्थान प्राप्त कर सकते हैं, इससे आगेके स्थान प्राप्त नही कर सकते।

निर्ग्रंथ मुनि इन पाँचवीवार कहे गये लब्धिस्थानोसे आगे कषायरहित सयमलब्धिस्थानोको प्राप्त कर सकता है। ये निर्ग्रन्थ मुनि भी आगेके असख्यात लब्धिस्थानोकी प्राप्ति कर सकते है, पश्चात् रुक जाता है। उसके बाद एक संयमलब्धिस्थानको प्राप्त करके स्नातक निर्वाणको प्राप्त करता है।

इसप्रकार सयमलब्धिके स्थान है, उनमे अविभाग प्रतिच्छेदोकी अपेक्षासे सयमकी प्राप्ति अनन्तगुणी होती है ॥४७॥

उपसंहार

१—इस अध्यायमे आत्माकी धर्मपरिणतिका स्वरूप कहा है, इस परिणतिको 'जिन' कहते हैं।

२—अपूर्वकरण परिणामको प्राप्त हुये प्रथमोपशम सम्यक्त्वके सन्मुख जीवोको 'जिन' कहा जाता है। (गोमट्टसार जीवकाड गाथा १ टीका, पृष्ठ १६) यहाँसे लेकर पूर्णशुद्धि प्राप्त करनेवाले सब जीव सामान्यतया 'जिन' कहलाते हैं। श्री प्रवचनसारके तीसरे अध्यायकी पहली गाथामें श्री जयसेनाचार्य कहते है कि—"दूसरे गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तकके जीव 'एकदेशजिन' हैं, केवली भगवान 'जिनवर' हैं और तीर्थंकर भगवान 'जिनवर वृषभ' हैं।" मिथ्यात्व रागादिको जीतनेसे असयत सम्यग्दृष्टि, श्रावक तथा मुनिको जिन' कहते हैं, उनमें गणधरादि श्रेष्ठ हैं इसलिये उन्हे 'श्रेष्ठ जिन' अथवा 'जिनवर' कहा जाता है और तीर्थंकरदेव उनसे भी प्रधान—श्रेष्ठ हैं इसीलिये उन्हे 'जिनवर वृषभ' कहते हैं। (देखो द्रव्यसग्रह गाथा १ टीका) श्री समयसारजीकी ३१ वी गाथामे भी सम्यग्दृष्टिको 'जितेन्द्रिय जिन' कहा है।

सम्यक्त्वके सन्मुख मिथ्यादृष्टि और अध करण, अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरणका स्वरूप श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० ७ में दिया है।

गुणस्थानोंका स्वरूप श्री जैन सिद्धान्त प्रवेशिकाके अन्तिम अध्यायमें दिया है, सो वहाँसे समझ लेना।

३—चतुर्थ गुणस्थानसे निश्चय सम्यग्दर्शन होता है और निश्चय सम्यग्दर्शनसे ही धर्मका प्रारम्भ होता है यह बतानेके लिये इस शास्त्रमें पहले अध्यायका पहला ही सूत्र 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' लिया है। धर्ममें पहले निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके कालमें अपूर्वकरणसे संवर निर्जराका प्रारम्भ होता है। इस अधिकारके दूसरे सूत्रमें सम्यग्दर्शनको संवर-निर्जराके कारणरूपमें पृथक् नहीं कहा। इसका कारण यह है कि इस अध्यायके ४५ वें सूत्रमें इसका समावेश हो जाता है।

४—जिनधर्मका अर्थ है वस्तुस्वभाव। जितने अंशमें आत्माकी स्वभावदशा (शुद्ध दशा) प्रगट होती है उतने अंशमें जीवके 'जिनधर्म' प्रगट हुआ कहलाता है। जिनधर्म कोई सम्प्रदाय वाड़ा या संघ नहीं किन्तु आत्माकी शुद्धदशा है और आत्माकी शुद्धतामें तारतम्यता होने पर शुद्धरूप तो एक ही तरहका है अतः जिनधर्ममें प्रभेद नहीं हो सकते। जैनधर्मके नामसे जो वाड़ाबन्दी देखी जाती है उसे यथार्थमें जिन धर्म नहीं कह सकते। भरतक्षेत्रमें जिनधर्म पाँचवें कालके अन्त तक रहनेवाला है अर्थात् वहाँ तक अपनी शुद्धता प्रगट करनेवाले मनुष्य इस क्षेत्रमें ही होते हैं और उनके शुद्धताके उपादान कारणकी तैयारी होनेसे आत्मज्ञानी गुरु और सत् शास्त्रका निमित्त भी होता ही है। जैनधर्मके नामसे कहे जानेवाले शास्त्रोंमेंसे कौनसे शास्त्र परम सत्यके उपदेशक हैं इसका निर्णय धर्म करनेके इच्छुक जीवोंको अवश्य करना चाहिये। जबतक जीव स्वयं यथार्थ परीक्षा करके कौन सच्चा देव शास्त्र और गुरु है इसका निर्णय नहीं करता तथा आत्मज्ञानी गुरु कौन है उसका निर्णय नहीं करता तबतक गृहीतमिथ्यात्व दूर नहीं होता, गृहीत मिथ्यात्व दूर हुये बिना अगृहीत मिथ्यात्व दूर होकर सम्यग्दर्शन तो हो ही कैसे सकता है? इसीलिये जीवोंको सच्चे जिनधर्म प्रगट करनेके लिये अर्थात् यथार्थ संवर निर्जरा प्रगट करनेके लिये सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही चाहिये।

५—सम्यग्दृष्टि जीवने आत्मस्वभावकी प्रतीति करके अज्ञान और दर्शनमोहको जीत लिया है इसलिये वह रागद्वेषका कर्ता और स्वामी नही होता, वह कभी हजारो रानियोके सयोगके बीचमें है तथापि 'जिन' है। चौथे, पांचवें गुणस्थानमे रहनेवाले जीवोका ऐसा स्वरूप है। सम्यग्दर्शनका माहात्म्य कैसा है यह बतानेके लिये अनन्त ज्ञानियोने यह स्वरूप कहा है। सम्यग्दृष्टि जीवोके अपनी शुद्धपर्यायके अनुसार (-शुद्धताके प्रमाणमे) सवर-निर्जरा होती है।

६—सम्यग्दर्शनके माहात्म्यको नही समझनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवो की वाह्य सयोगो और वाह्य त्याग पर दृष्टि होती है, इसीलिये वे उपरोक्त कथनका आशय नही समझ सकते और सम्यग्दृष्टिके अतरग परिणमनको वे नही समझ सकते। इसलिये धर्म करनेके इच्छुक जीवोको संयोगदृष्टि छोडकर वस्तु स्वरूप समझनेकी और यथार्थ तत्त्वज्ञान प्रगट करनेकी आवश्यकता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और उनपूर्वक सम्यक्चारित्रके विना सवर-निर्जरा प्रगट करनेका अन्य कोई उपाय नही है। इस नवमे अध्यायके २९ वें सूत्रकी टीकासे मालूम पडेगा कि मोक्ष और ससार इन दो के अलावा और कोई साधने योग्य पदार्थ नही है। इस जगतमें दो ही मार्ग हैं—मोक्षमार्ग और ससारमार्ग।

७—सम्यक्त्व मोक्षमार्गका मूल है और मिथ्यात्व ससारका मूल है। जो जीव ससार मार्गसे विमुख हो वे ही जीव मोक्षमार्ग (अर्थात् सच्चे सुखके उपायरूप धर्म) प्राप्त कर सकते हैं। बिना सम्यग्दर्शनके जीवके सवर-निर्जरा नही होती, इसीलिए दूसरे सूत्रमें सवरके कारण वतलाते हुए उनमे प्रथम गुप्ति वतलाई, उसके वाद दूसरे कारण कहे है।

८—यह ध्यान रहे कि इस शास्त्रमे आचार्य महाराजने महाव्रतो या देशव्रतोको सवरके कारणरूपसे नही वतलाया, क्योकि सातवें अध्यायके पहले सूत्रमे वताये गये प्रमाणसे वह शुभास्रव है।

९—यह समझानेके लिये चौथे सूत्रमे 'सम्यक्' शब्दका प्रयोग किया है कि गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा, दशप्रकारका धर्म, परीषहजय और चारित्र ये सभी सम्यग्दर्शनके बिना नही होते।

१०—छट्ठे सूत्रमें धर्मके दश भेद बतलाये हैं। उसमें दिया गया उत्तम विशेषण यह बतलाता है कि धर्मके भेद सम्यग्दर्शनपूर्वक ही हो सकते हैं। इसके बाद सातवें सूत्रमें अनुप्रेक्षाका स्वरूप और ८ वें सूत्रसे १७ वें सूत्र तक परीषहजयका स्वरूप कहा है। शरीर और दूसरी बाह्य वस्तुओंकी जिस अवस्थाको लोग प्रतिकूल मानते हैं उसे यहाँ परीषह कहा गया है। आठवें सूत्रमें 'परिषोढव्या' शब्दका प्रयोग करके उन परीषहोंको सहन करनेका उपदेश दिया है। निश्चयसे परीषह क्या है और उपचारसे परीषह किसे कहते हैं—यह नहीं समझनेवाले जीव १० ११ सूत्रका आश्रय लेकर (कुतर्क द्वारा) ऐसा मानते हैं कि—केवली भगवानके क्षुधा और तृषा (भूख और प्यास) की व्याधिरूप परीषह होती है और छद्मस्थ रागी जीवोंकी तरह केवली भगवान भी भूख और प्यासकी व्याधिको दूर करनेके लिए खान-पान ग्रहण करते हैं और रागी जीवोंकी तरह भगवान भी अतृप्त रहते हैं परन्तु उनकी यह मान्यता मिथ्या है। सातवें गुणस्थानसे ही आहारसंज्ञा नहीं होती (गोमट्टसार जीव कांड गाथा १३९ की बड़ी टीका पृष्ठ ३५१ ३५२) तथापि जो लोग केवली भगवानके खान-पान मानते हैं वे भगवानको आहार संज्ञासे भी दूर हुये नहीं मानते (देखो सूत्र १० ११ की टीका)।

११—जब भगवान मुनि अवस्थामें थे तब तो करपात्री होनेसे स्वयं ही आहारके लिये निकलते और जो दाता श्रावक भक्तिपूर्वक पड़गाहन करते हैं तो वे खड़े रहकर करपात्रमें आहार लेते। परन्तु जो ऐसा मानते हैं कि वीतरागी होनेके बाद भी असह्य वेदनाके कारण भगवान आहार लेते हैं उन्हें ऐसा मानना पड़ता है या पड़ेगा कि भगवानके कोई गणधर या मुनि आहार लाकर देते हैं वे स्वयं नहीं जाते। अब देखो कि छद्मस्थ अवस्थामें तो भगवान आहारके लिये किसीसे याचना नहीं करते और अब वीतराग होनेके बाद आहार लानेके लिये शिष्यासे याचना करें, यह बड़े आश्चर्यकी बात है। पुनश्च भगवानको आहार-पानीका दाता तो वह आहार लानेवाला मुनि ही हुआ। भगवान कितना आहार लेंगे क्या क्या लेंगे अथवा जो कुछ ले जायेंगे वह सब भगवान लेंगे उनमेंसे कुछ

वचेगा या नही ? इत्यादि बातें भगवान स्वयं पहलेसे निश्चय करके मुनि को कहते हैं या आहार लाने वाले मुनि स्वय निश्चय करते है ? ये भी विचारणीय प्रश्न हैं। पुनश्च नग्न मुनिके पास पात्र तो होता नही इसी कारण वह आहार लानेके लिये निरुपयोगी हैं, और इसीलिये भगवान स्वय मुनि दशामे नग्न थे तथापि उनके वीतराग होनेके वाद उनके गण-धरादिकको पात्र रखने वाले अर्थात् परिग्रहधारी मानना पडेगा और यह भी मानना पडेगा कि भगवानने उस पात्रधारी मुनिको आहार लानेकी आज्ञा की। किन्तु यह सव असगत है—ठीक नही है।

१२—पुनश्च यदि भगवान स्वय अशन-पान करते हो तो भगवान की ध्यान मुद्रा दूर हो जायगी क्योकि अध्यान मुद्राके अलावा पात्रमे रहे हुये आहारको देखनेका, उसके टुकडे करने, कौर लेने, दातसे चावने, गलेमे उतारने आदिकी क्रियायें नही हो सकती। अब यदि भगवानके अध्यान-मुद्रा या उपरोक्त क्रियायें स्वीकार करें तो वह प्रमाददशा होती है। पुनश्च आठवें सूत्रमे ऐसा उपदेश देते हैं कि परीषहे सहन करनी चाहिये और भगवान स्वय ही वैसा नही कर सकते अर्थात् भगवान अशक्य कार्योंका उपदेश देते हैं, ऐसा अर्थ करने पर भगवानको मिथ्या उपदेशी कहना पडेगा।

१३—४६ वें सूत्रमे निर्ग्रंथोंके भेद वताये हैं उनमे 'वकुश' नामक एक भेद वतलाया है, उनके धर्म प्रभावनाके रागसे शरीर तथा शास्त्र, कमडल, पीछी पर लगे हुये मैलको दूर करनेका राग हो जाता है। इस परसे कोई यह कहना चाहते हैं कि—उस 'बकुश' मुनिके वस्त्र होनेमे वाधा नही, परन्तु उनका यह कथन न्याय विरुद्ध है, ऐसा छट्ठे अध्यायके तेरहवें सूत्रकी टीकामे वतलाया है। पुनश्च मुनिका स्वरूप नहीं समझनेवाले ऐसा भी कहना चाहते हैं कि यदि मुनिको शरीरकी रक्षाके लिये अथवा सयमकी रक्षाके लिये वस्त्र हो तो भी वे क्षपक श्रेणी माडकर केवलज्ञान प्रगट कर सकते हैं। यह बात भी मिथ्या है। इस अध्यायके ४७ वें सूत्रकी टीकामें सयमके लब्धिस्थानोका स्वरूप दिया है इस परसे मालूम होगा कि बकुश मुनि तीसरी बारके सयमलब्धिस्थानमे रुक जाता है और कषाय-रहित

दशा प्राप्त नहीं कर सकता तो फिर ऋतु इत्यादिकी विषमतासे शरीरकी रक्षाके लिये वस्त्र रखे तो ऐसे रागवाला सम्यग्दृष्टि हो तो भी मुनिपद प्राप्त नहीं कर सकता और सर्वथा अकषाय दशाकी प्राप्ति तो वे कर ही नहीं सकते, यही देखा भी जाता है।

१४—गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्रके स्वरूपके सम्बन्धमें होनेवाली भूल और उसका निराकरण उन उन विषयोंके सम्बन्धित सूत्रोंकी टीकामें दिया है वहाँसे समझ लेना। कुछ लोग आहार न लेनेको तप मानते हैं किन्तु यह मान्यता यथार्थ नहीं। तपकी इस व्याख्यामें होनेवाली भूल दूर करनेके लिये सम्यक् तपका स्वरूप १९ वें सूत्रकी भूमिकामें तथा टीका पैरा ५ में दिया है उसे समझना चाहिये।

१५—मुमुक्षु जीवोंको मोक्षमार्ग प्रगट करनेके लिये उपरोक्त बारेमें यथार्थ विचार करके संवर निर्जरा तत्त्वका स्वरूप बराबर समझना चाहिये। जो जीव अन्य पाँच तत्त्वों सहित इस संवर तथा निर्जरातत्त्वकी श्रद्धा करता है जानता है उस अपने ज्ञायकस्वरूप स्वभाव भावकी ओर झुक कर सम्यग्दर्शन प्रगट करता है तथा संसार चक्रको तोड़कर अल्पकालमें वीतराग चारित्रको प्रगट कर निर्वाण—मोक्षको प्राप्त करता है।

१६—इस अध्यायमें सम्यक्चारित्रका स्वरूप कहते हुए उसके अन्तर्गतमें धर्मध्यान और शुक्लध्यानका स्वरूप भी बतलाया है। (देखो सूत्र ३६ से ४४) चारित्रके विभागमें यथाख्यात चारित्र भी समाविष्ट हो जाता है और १४ वें गुणस्थानके अन्तिम समयमें परम यथाख्यात चारित्र प्रगट होने पर सर्वगुणोंके चारित्रकी पूर्णता होती है और उसी समय जीव निर्वाणदशा प्राप्त करता है—मोक्ष प्राप्त करता है। ४७ वें सूत्रमें सम्यक् निर्ग्रन्थदशाका कथन करते हुये उनमें निर्ग्रन्थ पद प्राप्त होनेतककी दशाका वर्णन किया गया है। इसप्रकार इस अध्यायमें सब मार्गकी निर्जरा दशाका स्वरूप आचार्य भगवानने बहुत थोड़े सूत्रों द्वारा बताया है।

इसप्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्रकी गुजराती टीकाके नवमें अध्यायका हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

मोक्षशास्त्र अध्याय दशवाँ

भूमिका

१—आचार्यदेवने इस शास्त्रके शुरूआतमे पहले अध्यायके पहले ही सूत्रमे कहा था कि सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्रकी एकता मोक्षका मार्ग है—कल्याणमार्ग है। उसके वाद सात तत्त्वोकी जो यथार्थ श्रद्धा है सो सम्यग्दर्शन है, इसप्रकार वतलाकर सात तत्त्वोके नाम वतलाये और दस अध्याय मे उन सात तत्त्वोका वर्णन किया। उनमे इस अन्तिम अध्यायमे मोक्ष-तत्त्वका वर्णन करके यह शास्त्र पूर्ण किया है।

२—मोक्ष सवर-निर्जरापूर्वक होती है, इसीलिये नवमे अध्यायमे सवर-निर्जराका स्वरूप कहा, और अपूर्वकरण प्रगट करनेवाले सम्यक्त्वके सन्मुख जीवोसे लेकर चौदहवें गुणस्थानमे विराजनेवाले केवलीभगवान तकके समस्त जीवोके सवर-निर्जरा होती है ऐसा उसमे वतलाया। इस निर्जराकी पूर्णता होने पर जीव परमसमाधानरूप निर्वाणपदमें विराजता है, इस दशाको मोक्ष कहा जाता है। मोक्षदशा प्रगट करनेवाले जीवोने सर्व कार्य सिद्ध किया अत 'सिद्ध भगवान' कहे जाते हैं।

३—केवली भगवानके (तेरहवे और चौदहवें गुणस्थानमे) सवर-निर्जरा होती है अत उनका उल्लेख नवमे अध्यायमे किया गया है किन्तु वहाँ केवलज्ञानका स्वरूप नही वतलाया। केवलज्ञान भावमोक्ष है और उस भावमोक्षके वलसे द्रव्यमोक्ष (सिद्धदशा) होता है। (देखो प्रवचनसार अध्याय १ गाथा ८४ जयसेनाचार्यकी टीका) इसीलिये इस अध्यायमें प्रथम भावमोक्षरूप केवलज्ञानका स्वरूप बताकर फिर द्रव्यमोक्षका स्वरूप वतलाया है।

अब केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण बतलाते हैं

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥१॥

अर्थ—[मोहक्षयात्] मोहका क्षय होनेसे (अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त क्षीण कषाय नामक गुणस्थान प्राप्त करनेके बाद) [ज्ञानदर्शनावरणान्तराय क्षयात् च] और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, और अन्तराय इन तीन कर्मोंका एक साथ क्षय होनेसे [केवलम्] केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

टीका

१—प्रत्येक जीव द्रव्य एक पूर्ण अखण्ड है अतः उसका ज्ञान सामर्थ्य संपूर्ण है। संपूर्ण वीतराग होनेपर संपूर्ण सर्वज्ञता प्रगट होती है। जब जीव संपूर्ण वीतराग होता है तब कर्मके साथ ऐसा निमित्त नैमित्तिक संबंध होता है कि—मोहकर्म जीवके प्रदेशमें संयोगरूपसे रहता ही नहीं, उसे मोहकर्मका क्षय हुआ कहा जाता है। जीवकी सम्पूर्ण वीतरागता प्रगट होनेके बाद अल्पकालमें तत्काल ही संपूर्णज्ञान प्रगट होता है उसे केवलज्ञान कहते हैं, क्योंकि वह ज्ञान शुद्ध अखण्ड राग रहित है। इस दशामें जीवको केवली भगवान कहते हैं। भगवान समस्त पदार्थोंको जानते हैं इसीलिये वे केवली नहीं कहलाते परन्तु केवल' अर्थात् शुद्ध आत्माको जानते अनुभवते हैं अतः वे केवली कहलाते हैं। भगवान एकसाथ परिणमनेवाले समस्त चैतन्य-विशेषवाले केवलज्ञानके द्वारा अनादि निधन निष्कारण असाधारण स्वसंवेद्यमान् चैतन्यसामान्य जिसकी महिमा है तथा चेतक स्वभावके द्वारा एकरूप होनेसे जो केवल (अकेला शुद्ध अखण्ड) है ऐसे आत्माको आत्मासे आत्मामें अनुभव करनेके कारण केवली है।

(देखो श्री प्रवचनसार गाथा ३३)

यह व्यवहार कथन है कि भगवान परको जानते हैं। ऐसा कहा जाता है कि व्यवहारसे केवलज्ञान लोकालोकको युगपत् जानता है क्योंकि स्व पर प्रकाशक निज शक्तिके कारण भगवान सम्पूर्ण ज्ञानरूपसे परिणमते हैं अतः कोई भी द्रव्य गुण या पर्याय उनके ज्ञानसे बाहर नहीं है। निश्चयसे तो केवलज्ञान अपने शुद्ध स्वभावको ही अखण्डरूपसे जानता है।

२—केवलज्ञान स्वरूपसे उत्पन्न हुआ है, सर्वज्ञ है तथा क्रम रहित है। यह ज्ञान जब प्रगट हो तब ज्ञानावरण कर्मका [illegible] [illegible] होगा

है, इसीलिये इस ज्ञानको क्षायिकज्ञान कहते हैं। जब केवलज्ञान प्रगट होता है उसीसमय केवलदर्शन और सपूर्ण वीर्य भी प्रगट होता है और दर्शनावरण तथा अतरायकर्मका सर्वथा अभाव (नाश) हो जाता है।

४—केवलज्ञान होनेपर भावमोक्ष हुवा कहलाता है (यह अरिहंत दशा है) और आयुष्यकी स्थिति पूरी होनेपर चार अघातिया कर्मोका अभाव होकर द्रव्यमोक्ष होता है, यही सिद्धदशा है, मोक्ष केवलज्ञान पूर्वक ही होता है इसलिये मोक्षका वर्णन करने पर उसमे पहले केवलज्ञानकी उत्पत्तिका सूत्र बतलाया है।

५-प्रश्न—क्या यह मान्यता ठीक है कि जीवके तेरहवें गुणस्थान मे अनन्तवीर्य प्रगट हुआ है तथापि योग आदि गुणका विकार रहता है और ससारित्व रहता है इसका कारण अघातिकर्मका उदय है?

उत्तर—यह मान्यता यथार्थ नही है। तेरहवें गुणस्थानमे ससारित्व रहनेका यथार्थ कारण यह है कि वहाँ जीवके योग गुणका विकार है तथा जीवके प्रदेशोकी वर्तमान योग्यता उस क्षेत्रमे (-शरीरके साथ) रहने की है, तथा जीवके अव्याबाध, * निर्नामो, निर्गोत्री और अनायुषो आदिगुण अभी पूर्ण प्रगट नही हुआ इस प्रकार जीव अपने ही कारणसे ससारमे रहता है। वास्तवमे जड अघातिकर्मके उदयके कारणसे या किसी परके कारणसे जीव ससारमे रहता है, यह मान्यता बिल्कुल असत् है। यह तो मात्र निमित्तका उपचार करनेवाला व्यवहार कथन है कि 'तेरहवें गुणस्थानमे चार अघातिकर्मोका उदय है इसीलिये जीव सिद्धत्वको प्राप्त नही होता' जीवके अपने विकारी भावके कारण ससार दशा होनेसे तेरहवें और चोदहवें गुणस्थानमें भी जडकर्मके साथ निमित्त नैमित्तिक सबध कैसा होता है वह बतानेके लिये कर्म शास्त्रोमें ऊपर बताये अनुसार व्यवहार कथन किया जाता है। वास्तवमे कर्मके उदय, सत्ता इत्यादिके कारण कोई जीव ससारमें रहता है यह मानना सो, जीव और जडकर्मको एकमेक माननेरूप मिथ्या-मान्यता है। शास्त्रोका अर्थ करनेमे अज्ञानियोकी मूलभूत भूल

* यह गुणोके नाम बृ० द्रव्यसग्रह गा० १३-१४ की टीका में है।

यह है कि व्यवहारनयके कथनको वह निश्चयनयके कथन मानकर व्यवहार को ही परमार्थ मान लेता है। यह भूल दूर करनेके लिये आचार्य भग वानने इस शास्त्रके प्रथम अध्यायके छट्ठे सूत्रमें प्रमाण तथा नयका यथार्थ ज्ञान करने की आज्ञा की है (*प्रमाण नयैरधिगम*) जो व्यवहारके कथनों को ही निश्चयके कथन मानकर शास्त्रोंका वैसा अर्थ करते हैं उनके उस अज्ञानको दूर करनेके लिये श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने समयसारजी में✽ ३२४ से ३२६ वीं गाथा कही हैं। इसलिए जिज्ञासुओंको शास्त्रोंका कथन किस नयसे है और इसका परमार्थ (-भूतार्थ सत्यार्थ) अर्थ क्या होता है यह यथार्थ समझकर शास्त्रकारके कथनके मर्मको जान लेना चाहिये, परन्तु भाषाके शब्दोंको नहीं पकड़ना चाहिये।

६ केवलज्ञान उत्पन्न होते ही मोक्ष क्यों नहीं होता?

(१) प्रश्न—केवलज्ञानकी उत्पत्तिके समय मोक्षके *कारणभूत* रत्नत्रयकी पूर्णता हो जाती है तो फिर उसीसमय मोक्ष होना चाहिये; इसप्रकार जो सयोगी तथा अयोगी ये केवलियोंके दो *गुणस्थान* कहे हैं उनके रहने का कोई समय ही नहीं रहता?

उत्तर—यद्यपि केवलज्ञानकी उत्पत्तिके समय यथाख्यातचारित्र हो गया है तथापि अभी परमयथाख्यातचारित्र नहीं हुआ। कषाय और योग अनादिसे अनुसंगी—(साथी) हैं तथापि प्रथम कषायका नाश होता है, इसी-

---

✽ वे गाथायें इस प्रकार हैं:—

व्यवहार भाषितेन तु परद्रव्यं मम भणंत्यविदितार्थाः।
जानंति निश्चयेन तु न च मम परमाणुमात्रमपि किंचित् ॥३२४॥
यथा कोऽपि नरो जल्पति अस्माकं ग्रामविषयनगरराष्ट्रम्।
न च भवति तस्य तानि तु भणति च मोहेन स आत्मा ॥३२५॥
एवमेव मिथ्यादृष्टिर्ज्ञानी निःसंशयं भवत्येषः।
यः परद्रव्यं ममेति जानन्नात्मानं करोति ॥ ३२६ ॥

लिये केवली भगवानके यद्यपि वीतरागतारूप यथाख्यातचारित्र प्रगट हुआ है तथापि योगके व्यापारका नाश नही हुआ। योगका परिस्पदनरूप व्यापार परमयथाख्यातचारित्रके दूपण उत्पन्न करनेवाला है। इस योगके विकार की क्रम क्रमसे भावनिर्जरा होती है। इस योगके व्यापारकी संपूर्ण भावनिर्जरा होजाने तक तेरहवां गुणस्थान रहता है। योगका अशुद्धतारूप-चचलतारूप व्यापार वंध पडनेके बाद भी कितनेक समय तक अव्याबाध, निर्नाम (नाम रहितत्व), अनायुष्य (आयुष्यरहितत्व) और निर्गोत्र ❀ आदि गुण प्रगट नही होते, इसीलिये चारित्रमे दूपण रहता है। चौदहवें गुणस्थानके अतिम समयका व्यय होनेपर उस दोपका अभाव हो जाता है और उसीसमय परमयथाख्यात चारित्र प्रगट होनेसे अयोगी जिन मोक्षरूप अवस्था धारण करता है, इस रीतिसे मोक्ष अवस्था प्रगट होने पहले सयोग-केवली और अयोगकेवली ऐसे दो गुणस्थान प्रत्येक केवली भगवानके होते हैं।

[❀ देखो—वृ० द्रव्यसग्रह गा० १३–१४ की टीका]

(२) प्रश्न—यदि ऐसा मानें कि जव केवलज्ञान प्रगट हो उसी समय मोक्ष अवस्था प्रगट होजाय तो क्या दूषण लगेगा ?

उत्तर—ऐसा मानने पर निम्न दोष आते हैं—

१—जीवमे योग गुणका विकार होनेपर, तथा अन्य (अव्याबाध आदि) गुणोमे विकार होनेपर और परमयथाख्यातचारित्र प्रगट हुये विना, जीवकी सिद्धदशा प्रगट हो जायगी जो कि अशक्य है।

२–यदि जब केवलज्ञान प्रगट हो उसी समय सिद्ध दशा प्रगट हो जाय तो धर्म तीर्थ ही न रहे, यदि अरिहत दशा ही न रहे तो कोई सर्वज्ञ उपदेशक–आप्त पुरुष ही न हो। इसका परिणाम यह होगा कि भव्य जीव अपने पुरुषार्थसे धर्म प्राप्त करने योग्य–दशा प्रगट करनेके लिये तैयार हो तथापि उसे निमित्तरूप सत्य धर्मके उपदेशका (दिव्यध्वनिका) सयोग न होगा अर्थात् उपादान निमित्तका मेल टूट जायगा। इसप्रकार बन ही नहीं सकता, क्योकि ऐसा नियम है कि जिस समय जो जीव अपने उपादानकी जागृतिसे धर्म प्राप्त करनेकी योग्यता प्राप्त करता है उससमय उस जीवके

इसमा पुण्यका संयोग होता ही है कि जिससे उसे उपदेशादिक योग्य निमित्त (सामग्री) स्वयं मिलती ही है। उपादानकी पर्यायका और निमित्त की पर्यायका ऐसा ही सहज निमित्त नैमित्तिक सबंध है। यदि ऐसा न हो तो जगतमें कोई जीव धर्म प्राप्त कर ही न सकेंगे। अर्थात् समस्त जीव द्रव्यदृष्टिसे पूर्ण हैं तथापि अपनी शुद्ध पर्याय कभी प्रगट कर नहीं सकते। ऐसा होनेपर जीवोंका दुःख कभी दूर नहीं होगा और वे सुखस्वरूप कभी नहीं हो सकेंगे।

३—जगतमें यदि कोई जीव धर्म प्राप्त नहीं कर सकता तो तीर्थंकर, सिद्ध अरिहंत आचार्य उपाध्याय साधु श्रावक सम्यग्दृष्टि और सम्यग्दृष्टि की भूमिकामें रहनेवाले उपदेशक इत्यादि पद भी जगत्में न रहेंगे जीवकी साधक और सिद्धदशा भी न रहेगी सम्यग्दृष्टिकी भूमिका ही प्रगट न होगी तथा उस भूमिकामें होनेवाला धर्मप्रभावनादिका राग-पुण्यानुबंधी पुण्य सम्यग्दृष्टिके योग्य देवगति—देवक्षेत्र इत्यादि व्यवस्थाका भी नाश हो जायगा।

(३) इस परसे यह समझना कि जीवके उपादानके प्रत्येक समय की पर्यायकी जिसप्रकारकी योग्यता हो तदनुसार उस जीवके उस समयके योग्य निमित्त का संयोग स्वयं मिलता ही है—ऐसा निमित्त नैमित्तिक संबंध तेरहवें गुणस्थानका अस्तित्व सिद्ध करता है एक दूसरेके कर्तारूप में कोई है ही नहीं। तथा ऐसा भी नहीं कि उपादानकी पर्यायमें जिस समय योग्यता हो उस समय उसे निमित्तकी ही राह देखनी पड़े दोनोंका सहजरूपसे ऐसा ही मेल होता ही है और यही निमित्त नैमित्तिक भाव है तथापि दोनों द्रव्य स्वतंत्र हैं। निमित्त परद्रव्य है उसे जीव मिला नहीं सकता। उसीप्रकार वह निमित्त जीवमें कुछ कर नहीं सकता; क्योंकि कोई द्रव्य परद्रव्यकी पर्यायका कर्ता हर्ता नहीं है ॥ १ ॥

अब मोक्षके कारण और उसका लक्षण कहते हैं—

बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥२॥

अर्थ—[बंधहेत्वभाव निर्जराभ्यां] बंधके कारणों (मिथ्यात्व,

अविरति, प्रमाद, कषाय और योग) का अभाव तथा निर्जराके द्वारा कृत्स्न कर्म विप्रमोक्षो मोक्षः] समस्त कर्मोंका अत्यन्त नाश होजाना सो मोक्ष है।

टीका

१—कर्म तीन प्रकारके हैं–(१) भावकर्म (२) द्रव्यकर्म और (३) नो कर्म। भावकर्म जीवका विकार है और द्रव्यकर्म तथा नोकर्म जड़ है। भाव कर्मका अभाव होनेपर द्रव्यकर्मका अभाव होता है और द्रव्य-कर्मका अभाव होनेपर नोकर्म (-शरीर) का अभाव होता है। यदि अस्ति की अपेक्षासे कहें तो जो जीवकी सपूर्ण शुद्धता है सो मोक्ष है और यदि नास्तिकी अपेक्षासे कहे तो जीवकी सपूर्ण विकारसे जो मुक्तदशा है सो मोक्ष है। इस दशामे जीव कर्म तथा शरीर रहित होता है और इसका आकार अतिम शरीरसे कुछ न्यून पुरुषाकार होता है।

२. मोक्ष यत्नसे साध्य है

(१) प्रश्न—मोक्ष यत्नसाध्य है या अयत्नसाध्य है ?

उत्तर—मोक्ष यत्नसाध्य है। जीव अपने यत्नसे (-पुरुषार्थसे) प्रथम मिथ्यात्वको दूर करके सम्यग्दर्शन प्रगट करता है और फिर विशेष पुरुषार्थसे क्रम क्रमसे विकारको दूर करके मुक्त होता है। पुरुषार्थके विकल्पसे मोक्ष साध्य नही है।

(२) मोक्षका प्रथम कारण सम्यग्दर्शन है और वह पुरुषार्थसे ही प्रगट होता है। श्री समयसार कलश ३४ मे अमृतचद्र सूरि कहते हैं कि—

हे भव्य ! तुझे व्यर्थ ही कोलाहल करनेसे क्या लाभ है ? इस कोलाहलसे तू विरक्त हो और एक चैतन्यमात्र वस्तुको स्वय निश्चल होकर देख, इसप्रकार छह महीना अभ्यास कर और देख कि ऐसा करनेसे अपने हृदय सरोवरमें आत्माकी प्राप्ति होती है या नही ? अर्थात् ऐसा प्रयत्न करनेसे अवश्य आत्माकी प्राप्ति होती है।

पुनश्च कलश २३ में कहते हैं कि—

हे भाई ! तू किसी भी तरह महाकष्टसे अथवा मरकरके भी (अर्थात्

कई प्रयत्नोंके द्वारा) तत्त्वोंका कौतूहली होकर इस शरीरादि मूर्त द्रव्योंका एक मुहूर्त (दो घड़ी) पड़ोसी होकर आत्माका अनुभव कर कि जिससे निज आत्माको विलासरूप, सब परद्रव्योंसे भिन्न देखकर इस शरीरादि मूर्तिक पुद्गलद्रव्यके साथ एकत्वके मोहको तू तत्क्षण ही छोड़ देगा।

भावार्थ—यदि यह आत्मा दो घड़ी पुद्गलद्रव्यसे भिन्न अपने शुद्ध स्वरूपका अनुभव करे (उसमें लीन हो), परीषह आने पर भी न डिगे, तो घातिकर्मका नाश करके, केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्षको प्राप्त हो। आत्मानुभव का ऐसा माहात्म्य है।

इसमें आत्मानुभव करनेके लिये पुरुषार्थ करना बताया है।

(३) सम्यक् पुरुषार्थके द्वारा मोक्षकी प्राप्ति होती है। सम्यक् पुरुषार्थ कारण है और मोक्ष कार्य है। बिना कारणके कार्य सिद्ध नहीं होता। पुरुषार्थसे मोक्ष होता है ऐसा सूत्रकारने स्वयं, इस अध्यायके छट्ठे सूत्रमें 'पूर्वप्रयोगात्' शब्दका प्रयोग कर बतलाया है।

(४) समाधिशतकमें श्री पूज्यपाद आचार्य बतलाते हैं कि—

अयत्नसाध्यं निर्वाणं चित्तत्वं भूतजं यदि।
अन्यथा योगतस्तस्मान्न दुःखं योगिनां क्वचित् ॥ १०० ॥

अर्थ—यदि पृथ्वी आदि पंचभूतसे जीवतत्त्वकी उत्पत्ति हो तो निर्वाण अयत्नसाध्य है किन्तु यदि ऐसा न हो तो योगसे अर्थात् स्वरूप संवेदनका अभ्यास करनेसे निर्वाणकी प्राप्ति हो इस कारण निर्वाण मोक्षके लिये पुरुषार्थ करनेवाले योगियोंको चाहे जैसा उपसर्ग उपस्थित होनेपर भी दुःख नहीं होता।

(५) श्री षट्प्राभृतमें दर्शनप्राभृत गाथा ६ सूत्रप्राभृत १६ और भाव प्राभृत गाथा ८७ से ९० में स्पष्ट रीत्या बतलाया है कि धर्म-संवर निर्जरा मोक्ष ये आत्माके वीर्य-बल-प्रयत्नके द्वारा ही होता है उस शास्त्र की वचनिका पृष्ठ १२, १६ तथा २४२ में भी ऐसा ही कहा है।

(६) प्रश्न—इसमे अनेकात स्वरूप कहाँ आया ?

उत्तर—आत्माके सत्य पुरुषार्थसे ही धर्म—मोक्ष होता है और अन्य किसी प्रकारसे नही होता, यही सम्यक् अनेकांत हुआ।

(७) प्रश्न—आप्तमीमांसा की ८८ वी गाथामे अनेकांतका ज्ञान करानेके लिये कहा है कि पुरुषार्थ और दैव दोनो होते हैं, इसका क्या स्पष्टी करण है ?

उत्तर—जब जीव मोक्षका पुरुषार्थ करता है तब परम-पुण्य कर्म का उदय होता है इतना बतानेके लिये यह कथन है। पुण्योदयसे धर्म या मोक्ष नही, परन्तु ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सबंध है कि मोक्षका पुरुषार्थ करनेवाले जीवके उससमय उत्तमसहनन आदि बाह्य सयोग होता है। यथार्थ पुरुषार्थ और पुण्य इन दोनोंसे मोक्ष होता है–इसप्रकार कथन करने के लिये यह कथन नही है। किन्तु उससमय पुण्यका उदय नही होता ऐसा कहनेवालेकी भूल है–यह बतानेके लिये इस गाथाका कथन है।

इस परसे सिद्ध होता है कि मोक्षकी सिद्धि पुरुषार्थके द्वारा ही होती है इसके बिना मोक्ष नही हो सकती ॥ २ ॥

मोक्षमे समस्त कर्मोंका अत्यन्त अभाव होता है यह उपरोक्त सूत्रमें बतलाया, अब यह बतलाते हैं कि कर्मोंके अलावा और किसका अभाव होता है—

औपशमिकादि भव्यत्वानां च ॥ ३ ॥

अर्थ—[च] और [औपशमिकादि भव्यत्वानां] औपशमिकादि भावोका तथा पारिणामिक भावोमेसे भव्यत्व भावका मुक्त जीवके अभाव होता—हो जाता है।

टीका

'औपशमिकादि' कहनेसे औपशमिक, औदयिक और क्षायोपशमिक ये तीन भाव समझना, क्षायिकभाव इसमे नही गिनना–जानना।

जिन जीवोंके सम्यग्दर्शनादि प्राप्त करने की योग्यता हो वे भव्य जीव कहलाते हैं। जब जीवके सम्यग्दर्शनादि पूर्णरूपमें प्रगट हो जाते हैं तब उस आत्मामें 'भव्यत्व' का व्यवहार मिट जाता है। इस सम्बन्धमें यह विशेष ध्यान रहे कि यद्यपि 'भव्यत्व' पारिणामिक भाव है तथापि जिस प्रकार पर्यायार्थिकनयसे जीवके सम्यग्दर्शनादि पर्यायोंका—निमित्तरूपसे घातक देशघाति तथा सर्वघाति नामका मोहादिक कर्म सामान्य है उसी-प्रकार जीवके भव्यत्वगुणको भी कर्मसामान्य निमित्तरूपमें प्रच्छादक कहा जा सकता है। (देखो हिन्दी समयसार, श्री जयसेनाचार्यकी संस्कृत टीका पृष्ठ ४२१) सिद्धत्व प्रगट होनेपर भव्यत्व गुणकी विकारी पर्यायका नाश हो जाता है यह अपेक्षा लक्ष्यमें रखकर भव्यत्वभावका नाश बतलाया है। दूसरे अध्यायके ७ वें सूत्रकी टीकामें ऐसा कहा है कि भव्यत्व भावकी पर्यायकी अशुद्धताका नाश होता है इसलिये वह टीका यहाँ भी बाँचना ॥ ३ ॥

अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥४॥

अर्थ—[केवलसम्यक्त्व ज्ञान दर्शनसिद्धत्वेभ्य अन्यत्र] केवल सम्यक्त्व केवलज्ञान केवलदर्शन और सिद्धत्व इन भावोंके अतिरिक्त अन्य भावोंके अभावसे मोक्ष होता है।

टीका

मुक्त अवस्थामें केवलज्ञानादि गुणोंके साथ जिन गुणोंका सहभावी संबंध है ऐसे अनन्तवीर्य अनन्तसुख अनन्तदान अनन्तलाभ अनन्तभोग अनन्तउपभोग इत्यादि गुण भी होते हैं ॥ ४ ॥

अब मुक्त जीवोंका स्थान बतलाते हैं

तदनंतरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकांतात् ॥ ५ ॥

अर्थ—[तदनंतरम्] तुरन्त ही [ऊर्ध्वं आलोकांतात् गच्छति] ऊर्ध्वगमन करके लोकके अग्रभाग तक जाता है।

टीका

चौथे सूत्रमें कहा हुआ सिद्धत्व जब प्रगट होता है तब तीसरे सूत्रमे कहे हुये भाव नहीं होते, तथा कर्मोंका भी अभाव हो जाता है, उसी समय जीव ऊर्ध्वगमन करके सीधे लोकके अग्रभाग तक जाता है और वहाँ शाश्वत स्थित रहता है। छट्ठे और सातवें सूत्रमे ऊर्ध्वगमन होनेका कारण बतलाया है और लोकके अन्तभागसे आगे नही जानेका कारण आठवें सूत्रमें बतलाया है ॥५॥

अब मुक्त जीवके ऊर्ध्वगमनका कारण बतलाते हैं

पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ।६।

अर्थ—[पूर्व प्रयोगात] १—पूर्वप्रयोगसे, [असगत्वात्] २—सगरहित होनेसे, [बधच्छेदात्] ३—बन्धका नाश होनेसे [तथा गति-परिणामात् च] और ४—तथा गतिपरिणाम अर्थात् ऊर्ध्वगमन स्वभाव होनेसे—मुक्त जीवके ऊर्ध्वगमन होता है।

नोट—पूर्व प्रयोगका अर्थ है पूर्वमे किया हुआ पुरुषार्थ, प्रयत्न, उद्यम, इस सबंधमे इस अध्यायके दूसरे सूत्रकी टीका तथा सातवें सूत्रके पहले दृष्टात परकी टीका बाचकर समझना ॥ ६ ॥

ऊपरके सूत्रमें कहे गये चारों कारणोंके दृष्टांत बतलाते हैं

आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीज-वदग्निशिखावच्च ॥ ७ ॥

अर्थ—मुक्त जीव [आविद्धकुलाल चक्रवत्] १—कुम्हार द्वारा घुमाये हुए चाककी तरह पूर्व प्रयोगसे, [व्यपगतलेपालाबुवत्] २—लेप दूर हो चुका है जिसका ऐसी तूम्बेकी तरह सगरहित होनेसे, [एरंड-बीजवत्] ३—एरडके बीजकी तरह बन्धन रहित होनेसे [च] और [अग्निशिखावत्] ४—अग्निकी शिखा—(लौ) की तरह ऊर्ध्वगमनस्वभावसे ऊर्ध्वगमन (ऊपरको गमन) करता है।

टीका

१–पूर्व प्रयोगका उदाहरण—जैसे कुम्हार चाकको घुमाकर हाथ रोक लेता है तथापि वह चाक पूर्वके वेगसे घूमता रहता है उसीप्रकार जीव भी संसार अवस्थामें मोक्ष प्राप्तिके लिये बारम्बार अभ्यास (उद्यम प्रयत्न, पुरुषार्थ) करता था, वह अभ्यास छूट जाता है तथापि पूर्वके अभ्यासके संस्कारसे मुक्त जीवके ऊर्ध्वगमन होता है।

२–असंगका उदाहरण—जिसप्रकार तूम्बेको जबतक लेपका संयोग रहता है तबतक वह स्व के क्षणिक उपादानकी योग्यताके कारण पानीमें डूबा हुआ रहता है, किन्तु जब लेप (मिट्टी) गलकर दूर हो जाती है तब वह पानीके ऊपर-स्वयं अपनी योग्यतासे आ जाता है उसीप्रकार जबतक जीव संगवाला होता है तबतक अपनी योग्यतासे संसार समुद्रमें डूबा रहता है और संग रहित होने पर ऊर्ध्वगमन करके लोकके अग्रभागमें चला जाता है।

३–बन्ध छेदका उदाहरण—जैसे एरंड वृक्षका सूखा फल-जब चटकता है तब वह बन्धनसे छूट जानेसे उसका बीज ऊपर जाता है उसीप्रकार जब जीवकी पक्वदशा (मुक्तअवस्था) होने पर कर्म बन्धके छेद पूर्वक वह मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है।

४–ऊर्ध्वगमन स्वभावका उदाहरण—जिसप्रकार अग्निकी शिखा (लौ) का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करना है अर्थात् हवाके अभावमें जैसे अग्नि (दीपकादि) की लौ ऊपरको जाती है उसीप्रकार जीवका स्वभाव ऊर्ध्व गमन करना है इसीलिये मुक्तदशा होने पर जीव भी ऊर्ध्वगमन करता है ॥ ७ ॥

लोकाग्रसे आगे नहीं जानेका कारण बतलाते हैं

धर्मास्तिकायाभावात् ॥८॥

अर्थ—[धर्मास्तिकायाभावात्] आगे (अलोकमें) धर्मास्तिकाय का अभाव है अतः मुक्त जीव लोकके अंततक ही जाता है।

टीका

१—इस सूत्रका कथन निमित्तकी मुख्यतासे है। गमन करते हुये द्रव्योंको धर्मास्तिकाय द्रव्य निमित्तरूप है, यह द्रव्य लोकाकाशके बराबर है। वह यह बतलाता है कि जीव और पुद्गलकी गति ही स्वभावसे इतनी है कि वह लोकके अततक ही गमन करता है। यदि ऐसा न हो तो अकेले आकाशमे 'लोकाकाश' और 'अलोकाकाश' ऐसे दो भेद ही न रहें। लोक छह द्रव्योका समुदाय है और अलोकाकाशमे एकाकी आकाशद्रव्य ही है। जीव और पुद्गल इन दो ही द्रव्योमे गमन शक्ति है, उनकी गति शक्ति ही स्वभावसे ऐसी है कि वह लोकमे ही रहते हैं। गमनका कारण जो धर्मास्तिकाय द्रव्य है उसका अलोकाकाशमे अभाव है, वह यह बतलाता है कि गमन करनेवाले द्रव्योकी उपादान शक्ति ही लोकके अग्रभाग तक गमन करनेकी है। अर्थात् वास्तवमे जीवकी अपनी योग्यता ही अलोकमे जानेकी नही है, अतएव वह अलोकमे नही जाता, धर्मास्तिकायका अभाव तो इसमे निमित्तमात्र है।

२—बृहद्द्रव्यसग्रहमे सिद्धके अगुरुलघु गुणका वर्णन करते हुये बतलाते हैं कि—यदि सिद्धस्वरूप सर्वथा गुरु हो (भारी हो) तो लोहेके गोलेकी तरह उसका सदा अधःपतन होता रहेगा अर्थात् वह नीचे ही पडा रहेगा। और यदि वह सर्वथा लघु (-हलका) हो तो जैसे वायुके झकोरेसे आकके वृक्षकी रूई उड जाया करती है उसीप्रकार सिद्धस्वरूपका भी निरतर भ्रमण होता ही रहेगा, परन्तु सिद्धस्वरूप ऐसा नही है, इसीलिये उसमें अगुरुलघुगुण कहा गया है। (बृहद्द्रव्यसग्रह पृष्ठ ३८)

इस अगुरुलघुगुणके कारण सिद्ध जीव सदा लोकाग्रमें स्थित रहते हैं, वहांसे न तो आगे जाते और न नीचे आते ॥ ८॥

मुक्त जीवोंमें व्यवहारनयकी अपेक्षासे भेद बतलाते हैं

क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधित-ज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥९॥

अर्थ—[क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थ चारित्र प्रत्येकबुद्धबोधित ज्ञानाव-गाहनांतर संख्याल्प बहुत्वतः साध्याः] क्षेत्र काल गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येक बुद्ध बोधित, ज्ञान अवगाहना, अन्तर संख्या और अल्प-बहुत्व इन बारह अनुयोगोंसे [साध्याः] मुक्त जीवों (सिद्धों) में भी भेद सिद्ध किये जा सकते हैं।

टीका

१–क्षेत्र—ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षासे (वर्तमानकी अपेक्षासे) आत्म प्रदेशोंमें सिद्ध होता है आकाशप्रदेशोंमें सिद्ध होता है सिद्धक्षेत्रमें सिद्ध होता है। भूत नैगमनयकी अपेक्षासे पन्द्रह कर्म भूमियोंमें उत्पन्न हुए पुरुष ही सिद्ध होते हैं। पन्द्रह कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुये पुरुषका यदि कोई देवादि अन्य क्षेत्रमें उठाकर ले जाय तो अढ़ाई द्वीप प्रमाण समस्त मनुष्य क्षेत्रसे सिद्ध होता है।

२–काल—ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षासे एक समयमें सिद्ध होता है। भूत नैगमनयकी अपेक्षासे उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी दोनों कालमें सिद्ध होता है उसमें अवसर्पिणी कालके तीसरे कालके अन्त भागमें चौथे कालमें और पाँचवें कालके प्रारम्भमें (जिसने चौथे कालमें जन्म लिया है ऐसा जीव) सिद्ध होता है। उत्सर्पिणी कालके 'दुषमसुषम' कालमें चौबीस तीर्थंकर होते हैं और उस कालमें जीव सिद्ध होते हैं (त्रिलोक प्रज्ञप्ति पृष्ठ १५) विदेहक्षेत्रमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ऐसे कालके भेद नहीं हैं। पंचमकालमें जन्मे हुये जीव सम्यग्दर्शनादि धर्म प्राप्त करते हैं किन्तु वे उसी भवसे मोक्ष प्राप्त नहीं करते। विदेहक्षेत्रमें उत्पन्न हुये जीव अढ़ाई द्वीपके किसी भी भागमें सर्वकालमें मोक्ष प्राप्त करते हैं।

३–गति—ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षासे सिद्धगतिसे मोक्ष प्राप्त होती है भूत नैगमनयकी अपेक्षासे मनुष्यगतिमें ही मोक्ष प्राप्त होती है।

४–लिंग—ऋजुसूत्रनयसे लिंग (वेद) रहित ही मोक्ष पाता है भूतनैगमनयसे तीनों प्रकारके भाववेदमें क्षपक श्रेणी मांडकर मोक्ष प्राप्त

करते हैं, और द्रव्यवेदमे तो पुरुषलिंग और यथाजातरूप लिंगसे ही मुक्ति प्राप्त होती है।

५-तीर्थ—कोई जीव तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं और कोई सामान्य केवली होकर मोक्ष पाते हैं। सामान्य केवलीमे भी कोई तो तीर्थंकरकी मौजूदगीमे मोक्ष प्राप्त करते हैं और कोई तीर्थंकरोके बाद उनके तीर्थमे मोक्ष प्राप्त करते हैं।

६-चरित्र—ऋजुसूत्रनयसे चारित्रके भेदका अभाव करके मोक्ष पाते हैं, भूतनैगमनयसे-निकटकी अपेक्षासे यथाख्यात चारित्रसे ही मोक्ष प्राप्त होती है, दूरकी अपेक्षासे सामायिक, छेदोपस्थापन, सूक्ष्मसांपराय, तथा यथाख्यातसे और किसीके परिहार विशुद्धि हो तो उससे—इन पाँच प्रकारके चारित्रसे मोक्ष प्राप्त होती है।

७-प्रत्येक बुद्ध बोधित—प्रत्येक बुद्ध जीव वर्तमानमें निमित्तकी उपस्थितिके बिना अपनी शक्तिसे बोध प्राप्त करते हैं, किन्तु भूतकालमे या तो सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ हो तब या उससे पहले सम्यग्ज्ञानीके उपदेशका निमित्त हो, और बोधित बुद्ध जीव वर्तमानमे सम्यग्ज्ञानीके उपदेशके निमित्तसे धर्म पाते हैं। ये दोनो प्रकारके जीव मोक्ष प्राप्त करते हैं।

८-ज्ञान—ऋजुसूत्रनयसे केवलज्ञानसे ही सिद्ध होता है, भूतनैगम-नयसे कोई मति, श्रुत इन दो ज्ञानसे, कोई मति, श्रुत, अवधि इन तीनसे, अथवा मति, श्रुत, मन पर्ययसे और कोई मति, श्रुत, अवधि और मन पर्यय इन चार ज्ञानसे (केवलज्ञानपूर्वक) सिद्ध होता है।

९-अवगाहना—किसीके उत्कृष्ट अवगाहना कुछ कम पाँचसौ पच्चीस धनुषकी, किसीके जघन्य साढे तीन हाथमें कुछ कम और किसीके मध्यम अवगाहना होती है। मध्यम अवगाहनाके अनेक भेद हैं।

१०-अन्तर—एक सिद्ध होनेके बाद दूसरा सिद्ध होनेका जघन्य अन्तर एक समयका और उत्कृष्ट अन्तर छह मासका है।

११-संख्या—जघन्यरूपसे एक समयमें एक जीव सिद्ध होता है,

उत्कृष्टरूपसे एक समयमें १०८ जीव सिद्ध होते हैं।

१२—अल्पबहुत्व—अर्थात् संख्यामें हीनाधिकता। उपरोक्त ग्यारह भेदोंमें अल्पबहुत्व होता है वह निम्न प्रकार है—

(१) क्षेत्र—संहरण सिद्धसे जन्म सिद्ध संख्यात गुणे हैं। समुद्र आदि जल क्षेत्रोंसे अल्प सिद्ध होते हैं और महाविदेहादि क्षेत्रोंसे अधिक सिद्ध होते हैं।

(२) काल—उत्सर्पिणी कालमें हुये सिद्धोंकी अपेक्षा अवसर्पिणी कालमें हुये सिद्धोंकी संख्या ज्यादा है और इन दोनों कालके बिना सिद्ध हुये जीवोंकी संख्या उनसे संख्यात गुनी है, क्योंकि विदेह क्षेत्रोंमें अवसर्पिणी या उत्सर्पिणीका भेद नहीं है।

(३) गति—सभी जीव मनुष्यगतिसे ही सिद्ध होते हैं इसलिये इस अपेक्षासे गतिमें अल्पबहुत्व नहीं है परन्तु एक गतिके अन्तरकी अपेक्षासे (अर्थात् मनुष्यभवसे पहिलेकी गतिकी अपेक्षासे) तिर्यंचगतिसे आकर मनुष्य होकर सिद्ध हुए ऐसे जीव थोड़े हैं—कम हैं इनकी अपेक्षासे संख्यात गुने जीव मनुष्यगतिसे आकर मनुष्य होकर सिद्ध होते हैं उससे संख्यात गुने जीव नरकगतिसे आकर मनुष्य हो सिद्ध होते हैं, और उससे संख्यात गुणे जीव देवगतिसे आकर मनुष्य होकर सिद्ध होते हैं।

(४) लिंग—भावनपुंसक वेदवाले पुरुष क्षपकश्रेणी मांडकर सिद्ध हों ऐसे जीव कम हैं—थोड़े हैं। उनसे संख्यातगुने भावस्त्री वेदवाले पुरुष क्षपक श्रेणी मांडकर सिद्ध होते हैं और उससे संख्यातगुणे भावपुरुषवेदवाले पुरुष क्षपक श्रेणी मांडकर सिद्ध होते हैं।

(५) तीर्थ—तीर्थंकर होकर सिद्ध होनेवाले जीव अल्प हैं और उनसे संख्यातगुने सामान्यकेवली होकर सिद्ध होते हैं।

(६) चारित्र—पाँचों चारित्रसे सिद्ध होनेवाले जीव थोड़े हैं उनसे संख्यात गुने जीव परिहार विशुद्धिके अलावा चार चारित्रसे सिद्ध होने वाले हैं।

(७) प्रत्येक बुद्ध बोधित—प्रत्येक बुद्ध सिद्ध होनेवाले जीव अल्प हैं उससे सख्यातगुने जीव बोधितबुद्ध होते हैं।

(८) ज्ञान—मति, श्रुत इन दो ज्ञानसे केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध होनेवाले जीव अल्प है, उनसे सख्यात गुने चार ज्ञानसे केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध होते हैं और उनसे संख्यातगुने तीन ज्ञानसे केवलज्ञान उत्पन्न कर सिद्ध होते हैं।

(९) अवगाहना—जघन्य अवगाहनासे सिद्ध होनेवाले जीव थोड़े हैं, उनसे सख्यातगुने उत्कृष्ट अवगाहनासे और उनसे सख्यातगुने मध्यम अवगाहनासे सिद्ध होते हैं।

(१०) अन्तर—छहमासके अन्तरवाले सिद्ध सबसे थोडे हैं और उनसे सख्यातगुने एक समयके अन्तरवाले सिद्ध होते हैं।

(११) संख्या—उत्कृष्टरूपमे एक समयमे एकसौ आठ जीव सिद्ध होते हैं, उनसे अनन्तगुने एक समयमें १०७ से लगाकर ५० तक सिद्ध होते हैं, उनसे असख्यात गुने जीव एक समयमे ४९ से २५ तक सिद्ध होनेवाले हैं और उनसे सख्यातगुने एक समयमे २४ से लेकर १ तक सिद्ध होनेवाले जीव हैं।

इसतरह बाह्य निमित्तोकी अपेक्षासे सिद्धोमे भेदकी कल्पना की जाती है; वास्तवमे अवगाहना गुणके अतिरिक्त अन्य आत्मीय गुणोकी अपेक्षासे उनमे कोई भेद नही है। यहाँ यह न समझना कि 'एक सिद्धमें दूसरा सिद्ध मिल जाता है—इसलिये भेद नही है।' सिद्धदशामे भी प्रत्येक जीव अलग अलग ही रहते हैं, कोई जीव एक दूसरेमे मिल नही जाते ॥९॥

उपसंहार

१—मोक्षतत्त्वकी मान्यता सम्बन्धी होनेवाली भूल और उसका निराकरण

कितने ही जीव ऐसा मानते हैं कि स्वर्गके सुखकी अपेक्षासे अनन्त-गुना सुख मोक्षमें है। किन्तु यह मान्यता मिथ्या है, क्योंकि इस गुणाकारमें

वह स्वर्ग और मोक्षके सुखकी जाति एक गिनता है स्वर्गमें तो विषयादि सामग्री जनित इन्द्रिय-सुख होता है उनकी जाति उसे मालूम होती है किन्तु मोक्षमें विषयादि सामग्री नहीं है अर्थात् वहाँके अतीन्द्रिय सुखकी जाति उसे नहीं प्रतिभासती—मालूम होती। परन्तु महापुरुष मोक्षको स्वर्गसे उत्तम कहते हैं इसीलिये वे अज्ञानी भी बिना समझे बोलते हैं। जैसे कोई गायनके स्वरूपको तो नहीं समझता किन्तु समस्त सभा गायनकी प्रशंसा करती है इसीलिये वह भी प्रशंसा करता है, उसीप्रकार ज्ञानी जीव तो मोक्षका स्वरूप जानकर उसे उत्तम कहते हैं इसीलिये अज्ञानी जीव भी बिना समझे ऊपर बताये अनुसार कहता है।

प्रश्न—यह किस परसे कहा जा सकता है कि अज्ञानी जीव सिद्धके सुखकी और स्वर्गके सुखकी जाति एक जानता है—समझता है।

उत्तर—जिस साधनका फल वह स्वर्ग मानता है उसी जातिके साधनका फल वह मोक्ष मानता है। वह यह मानता है कि इस किस्मके अल्प साधन हों तो उससे इन्द्रादि पद मिलते हैं और जिसके वह साधन सम्पूर्ण हो तो मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रमाणसे दोनोंके साधनकी एक जाति मानता है, इसीसे यह निश्चय होता है कि उनके कार्यकी (स्वर्ग तथा मोक्षकी) भी एक जाति होनेका उसे श्रद्धान है। इन्द्र आदिको जो सुख है वह तो कषायभावोंसे आकुलतारूप है अतएव परमार्थतः वह दुःखी है और सिद्धके तो कषायरहित अनाकुल सुख है। इसलिये दोनोंकी जाति एक नहीं है ऐसा समझना चाहिये। स्वर्गका कारण तो प्रशस्त राग है और मोक्षका कारण वीतराग भाव है। इसप्रकार उन दोनोंके कारणमें अन्तर है। जिन जीवोंके ऐसा भाव नहीं भासता उनके मोक्षतत्त्वका यथार्थ श्रद्धान नहीं है। (मो० प्र०)

२ अनादि कर्मबन्धन नष्ट होनेकी सिद्धि

श्री तत्त्वार्थसार अ० ८ में कहा है कि—

आद्यभावान्न भावस्य कर्मबन्धन संततेः ।
अन्ताभावः प्रसज्येत दृष्टत्वादन्तबीजवत् ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस वस्तुकी उत्पत्तिका आद्य समय न हो वह अनादि कहा जाता है, जो अनादि हो उसका कभी अंत नही होता। यदि अनादि पदार्थका अंत हो जाय तो सत्का विनाश मानना पडेगा, परन्तु सत्का विनाश होना यह सिद्धान्त और युक्तिसे विरुद्ध है।

इस सिद्धान्तसे, इस प्रकरणमे ऐसी शका उपस्थित हो सकती है कि–तो फिर अनादि कर्मबन्धनकी सततिका नाश कैसे हो सकता है? क्योंकि कर्मबन्धनका कोई आद्य-समय नही है इससे वह अनादि है, और जो अनादि हो उसका अंत भी नही होना चाहिए, कर्मबन्धन जीवके साथ अनादि से चला आया है अत. अनन्तकाल तक सदा उसके साथ रहना चाहिए–फलत' कर्मबन्धनसे जीव कभी मुक्त नही हो सकेगा।

यह शकाके दो रूप हो जाते हैं–(१) जीवके कर्मबन्धन कभी नही छूटना चाहिए, और (२) कर्मत्वरूप जो पुद्गल हैं उनमें कर्मत्व सदा चलता ही रहना चाहिए; क्योकि कर्मत्व भी एक जाति है और वह सामान्य होनेसे ध्रुव है। इसलिए उसकी चाहे जितनी पर्यायें बदलती रहे तो भी वे सभी कर्मरूप ही रहनी चाहिए। सिद्धान्त है कि "जो द्रव्य जिस स्वभावका हो वह उसी स्वभावका हमेशा रहता है"। जीव अपने चैतन्य स्वभावको कभी छोडता नही है और पुद्गल भी अपने रस रूपादिक स्वभावको कभी छोड़ते नही हैं इसीप्रकार अन्य द्रव्य भी अपने अपने स्वभावको छोडते नही हैं फिर कर्म ही अपने कर्मत्व स्वभावको कैसे छोड दे?

उपरोक्त शकाका समाधान इसप्रकार है—जीवके साथ कर्मका सबंध संतति प्रवाहकी अपेक्षा अनादिसे है किन्तु कोई एकके एक ही परमाणुका संबध अनादिसे नहीं है, जीवके साथ प्रत्येक परमाणुका सबध नियत कालतक ही रहता है। कर्मपिंडरूप परिणत परमाणुओंका जीवके साथ संबध होनेका भी काल भिन्न २ है और उनके छूटनेका भी काल

निमित्त और मिश्र २ है। इतना सत्य है कि, जीवको विकारी अवस्थामें कर्मका संयोग अवश्य ही रहता है। संसारी जीव अपनी स्वयंकी भूलसे विकारी अवस्था अनादिसे करता चला आ रहा है अतः कर्मका सम्बन्ध भी संतति प्रवाहरूप अनादिसे इसको है क्योंकि विकार कोई नियतकालसे प्रारम्भ नहीं हुआ है अतः कर्मका सम्बन्ध भी कोई नियत कालसे प्रारम्भ नहीं हुआ है इसप्रकार जीवके साथ कर्मका सम्बन्ध सन्ततिप्रवाहसे अनादि का कहा जाता है लेकिन कोई एक ही कर्म अनादिकालसे जीवको साथ लगा हुआ चला आया हो—ऐसा उसका अर्थ नहीं है।

जिसप्रकार कर्मकी उत्पत्ति है उसीप्रकार उनका नाश भी होता है क्योंकि— 'जिसका संयोग हो उसका वियोग अवश्य होता ही है' ऐसा सिद्धान्त है। पूर्व कर्मके वियोगके समय यदि जीव स्वरूपमें सम्यक् प्रकार जागृतिके द्वारा विकारको उत्पन्न नहीं होने देवे तो नवीन कर्मोंका बन्ध नहीं होवे इसप्रकार अनादि कर्म बन्धनका सन्ततिरूप प्रवाह निर्मूल नष्ट हो सकता है उसका उदाहरण—जैसे बीज और वृक्षका सम्बन्ध संतति प्रवाहरूपसे अनादिका है कोई भी बीज पूर्वके वृक्ष बिना नहीं होता। बीजका उपादानकारण पूर्व वृक्ष और पूर्ववृक्षका उपादान पूर्वबीज, इसप्रकार बीज-वृक्षकी संतति अनादिसे होनेपर भी उस संततिका अन्त करनेके लिए अंतिम बीजको पीस डालें या जलावें तो उनका संततिप्रवाह नष्ट हो जाता है। उसीप्रकार कर्मोंकी संतति अनादि होनेपर भी कर्मनाशके प्रयोग द्वारा समस्त कर्मोंका नाश कर दिया जाय तो उनकी संतति निःशेष नष्ट हो जाती है। पूर्वोपार्जित कर्मोंके नाशका और नये कर्मोंकी उत्पत्ति न होने देने का उपाय संवर निर्जराके नवमें अध्यायमें बताया है। इसप्रकार कर्मोंका सम्बन्ध जीवसे कभी नहीं छूट सकता ऐसी शंका दूर होती है।

शंकाका दूसरा प्रकार यह है कि—कोई भी द्रव्य अपने स्वभावको छोड़ता नहीं है तो कर्मरूप पदार्थ भी कर्मत्वको कैसे छोड़े? उसका समाधान यह है कि—कर्म कोई द्रव्य नहीं है परन्तु वह तो संयोगरूप पर्याय है। जिस द्रव्यमें कर्मत्वरूप पर्याय होती है वह द्रव्य तो पुद्गल द्रव्य है और

पुद्गल द्रव्यका तो कभी नाश होता नही है और वह अपने वर्णादि स्वभावको भी कभी छोडता नही है। पुद्गल द्रव्योमे उनकी योग्यतानुसार शरीरादि तथा जल, अग्नि, मिट्टी, पत्थर वगैरह कार्यरूप अनेक अवस्थाएँ होती रहती हैं, और उनकी मर्यादा पूर्ण होनेपर वे विनाशको भी प्राप्त होती रहती हैं, उसीप्रकार कोई पुद्गल जीवके साथ एक क्षेत्रअवगाह सबंधरूप बन्धन अवस्था होनेरूप सामर्थ्य—तथा रागी जीवको रागादि होनेमे निमित्तपनेरूप होनेकी सामर्थ्यसहित जीवके साथ रहते हैं वहाँ तक उनको 'कर्म' कहते हैं, कर्म कोई द्रव्य नही है वह तो पुद्गलद्रव्यकी पर्याय है पर्यायका स्वभाव ही पलटना है इसलिये कर्मरूप पर्यायका अभाव होकर अन्य पर्यायरूप होता रहता है।

पुद्गल द्रव्यकी कर्म पर्याय नष्ट होकर दूसरी जो पर्याय हो, वह कर्मरूप भी हो सकती है और अन्यरूप भी हो सकती है। कोई द्रव्यके उत्तरोत्तर कालमें भी उस द्रव्यकी एक समान ही योग्यता होती रहे तो उसकी पर्याय एक समान ही होती रहेंगी, और यदि उसकी योग्यता बदलती रहे तो उसकी पर्याय अनेक प्रकार–भिन्न–भिन्न जातिकी होती रहेंगी, जैसे मिट्टीमे जिससमय घटरूप होनेकी योग्यता हो तब वह मिट्टी घटरूप परिणमती है और फिर वही मिट्टी पूर्व अवस्था बदलकर दूसरी बार भी घट हो सकती है। अथवा अपनी योग्यतानुसार कोई अन्य पर्यायरूप (-अवस्था) भी हो सकती है। इसीप्रकार कर्मरूप पर्यायमे भी समझना चाहिये। जो 'कर्म' कोई अलग द्रव्य ही हो तो उनका अन्यरूप (-अकर्मरूप) होना नही बन सकता, परन्तु 'कर्म' पर्याय होने से वह जीवसे छूट सकते हैं और कर्मपना छोडकर अन्यरूप (-अकर्मरूप) हो सकते हैं।

३ इसप्रकार, पुद्गल जीवसे कर्मरूप अवस्थाको छोडकर अकर्मरूप घट पटादिरूप हो सकते हैं ये सिद्ध हुआ। परन्तु जीवसे कुछ कर्मोंका अकर्मरूप हो जाने मात्रसे ही जीव कर्मरहित नही हो जाता, क्योंकि जैसे कुछ कर्मरूप पुद्गल कर्मत्वको छोडकर अकर्मरूप हो जाते हैं वैसे ही अकर्मरूप अवस्थावाले पुद्गल जिनमें कर्मरूप होनेकी योग्यता हो, वह

जीवके विकार भावकी उपस्थितिमें कर्मरूप हुआ करते हैं। जहाँतक जीव विकारी भाव करें वहाँ तक उसकी विकारदशा हुआ करती है और बन्ध पुद्गल कर्मरूप होकर उसकी साथ बंधन रूप हुआ करते हैं इसप्रकार संसारमें कर्मशृङ्खला चलती रहती है। लेकिन ऐसा नहीं है कि—कर्म सदा कर्म ही रहें अथवा तो कोई जीव सदा अमुक ही कर्मोंसे बन्धे हुए ही रहें अथवा विकारी दशामें भी सर्व कर्म सर्व जीवोंके छूट जाते हैं और सर्व जीवमुक्त हो जाते हैं।

४—इस तरह अनादिकालीन कर्म शृङ्खला अनेक काल तक चलती ही रहती है, ऐसा देखा जाता है परन्तु शृङ्खलाओंका ऐसा नियम नहीं है कि जो अनादिकालीन हो वह अनन्त काल तक रहना ही चाहिए, क्योंकि शृङ्खला संयोगसे होती है और संयोगका किसी न किसी समय वियोग हो सकता है। यदि वह वियोग आंशिक हो तो वह शृङ्खला चालू रहती है, किन्तु जब उसका आत्यंतिक वियोग हो जाता है तब शृङ्खला का प्रवाह टूट जाता है। जैसे शृङ्खला बलवान कारणोंके द्वारा टूटती है उसीप्रकार कर्मशृङ्खला अर्थात् संसार शृङ्खला भी (संसाररूपी जंजीर) जीवके सम्यग्दर्शनादि सत्य पुरुषार्थके द्वारा निर्मूल नष्ट हो जाती है। विकारी शृङ्खलामें अर्थात् मलिन पर्यायमें अनन्तताका नियम नहीं है इसीलिये जीव विकारी पर्यायका अभाव कर सकता है और विकारका अभाव करनेपर कर्मका संबंध भी छूट जाता है और उसका कर्मत्व नष्ट होकर अन्यरूपसे परिणमन हो जाता है।

५ अब आत्माके बंधनकी सिद्धि करते हैं—

कोई जीव कहते हैं कि आत्माके बन्धन होता ही नहीं। उनकी यह मान्यता मिथ्या है, क्योंकि बिना बन्धनके परतन्त्रता नहीं होती। जैसे गाय भैंस आदि पशु जब बन्धनमें नहीं होते तब परतन्त्र नहीं होते परतन्त्रता बन्धन की दशा बतलाता है इसलिये आत्माके बन्धन मानना योग्य है आत्माके यथार्थ बन्धन अपने—निज विकारी भावका ही है उसका निमित्त पाकर स्वतः जड़कर्मोंका बन्धन होता है और उसके फलस्वरूप शरीरका संयोग होता है। शरीरके संयोगमें आत्मा रहती

है, यह परतंत्रता बतलाती है। यह ध्यान रहे कि कर्म, शरीर इत्यादि कोई भी परद्रव्य आत्माको परतंत्र नही करते किंतु जीव स्वयं अज्ञानतासे स्व को परतंत्र मानता है और पर वस्तुसे निजको लाभ या नुकसान होता है ऐसी विपरीत पकड करके परमे इष्ट-अनिष्टत्वकी कल्पना करता है। पराधीनता दुःखका कारण है। जीवको शरीरके ममत्वसे–शरीरके साथ एकत्वबुद्धिसे दुःख होता है। इसीलिये जो जीव शरीरादि परद्रव्यसे अपनेको लाभ–नुकसान मानते हैं वे परतंत्र ही रहते हैं। कर्म या परवस्तु जीवको परतंत्र नही करती, किन्तु जीव स्वयं परतन्त्र होता है। इस तरह जहांतक अपनेमे अपराध, अशुद्धभाव किंचित् भी हो वहाँ तक कर्म-नोकर्मका संबंधरूप बंध है।

६. मुक्त होने के बाद फिर बंध या जन्म नहीं होता

जीवके मिथ्यादर्शनादि विकारी भावोका अभाव होनेसे कर्मका कारण–कार्य सम्बन्ध भी टूट जाता है। जानना–देखना यह किसी कर्म बन्धका कारण नही किन्तु परवस्तुओमे तथा राग–द्वेषमे आत्मीयता की भावना बंधका कारण होती है। मिथ्याभावनाके कारण जीवके ज्ञान तथा दर्शन (श्रद्धान) को मिथ्याज्ञान तथा मिथ्यादर्शन कहते हैं। इस मिथ्यात्व आदि विकारभावके छूट जानेसे विश्वकी चराचर वस्तुओका जानना–देखना होता है, क्योकि ज्ञान दर्शन तो जीवका स्वाभाविक असाधारण धर्म है। वस्तुके स्वाभाविक असाधारण धर्मका कभी नाश नही होता, यदि उसका नाश हो तो वस्तुका भी नाश हो जाय। इसीलिये मिथ्यावासनाके अभावमे भी जानना देखना तो होता है, किंतु अमर्यादित बंधके कारण-कार्यका अभाव मिथ्यावासनाके अभावके साथ ही हो जाता है। कर्मके आनेके सर्व कारणोंका अभाव होनेके बाद भी जानना–देखना होता है तथापि जीवके कर्मोंका बंध नही होता और कर्म बन्ध न होनेसे उसके फलरूप स्थूल शरीरका संयोग भी नही मिलता, इसीलिये उसके फिर जन्म नही होता।

(देखो तत्त्वार्थसार पृष्ठ ३९४)

७ बंध जीवका स्वाभाविक धर्म नहीं

यदि बंध जीवका स्वाभाविक धर्म हो तो वह बंध जीवके सदा रहना चाहिये, किंतु यह तो संयोग वियोगरूप है इसीलिये पुराना कर्म दूर होता है और यदि जीव विकार करे तो नवीन कर्म बंधता है। यदि बंध स्वाभाविक हो तो बंधसे प्रथक् कोई मुक्तात्मा हो नहीं सकता। पुनश्च यदि बंध स्वाभाविक हो तो जीवोंमें परस्पर अंतर न दिखे। भिन्न कारणके बिना एक जातिके पदार्थोंमें अंतर नहीं होता, किंतु जीवोंमें अंतर देखा जाता है। इसका कारण यह है कि जीवोंका लक्ष भिन्न २ पर वस्तु पर है। पर वस्तुएँ अनेक प्रकार की होती हैं अतः पर द्रव्योंके आसक्तसे जीवकी अवस्था एक सदृश नहीं रहती। जीव स्वयं पराधीन होता रहता है यह पराधीनता ही बंधनका कारण है। जैसे बंधन स्वाभाविक नहीं उसीप्रकार वह आकस्मिक भी नहीं अर्थात् बिना कारण के उसकी उत्पत्ति नहीं होती। प्रत्येक कार्य स्व–स्व के कारण अनुसार होता है। स्थूल बुद्धिवाले लोग उसका सच्चा कारण नहीं जानते अतः अकस्मात् कहते हैं। बंधका कारण जीवका अपराधरूप विकारीभाव है। जीवके विकारी भावोंमें तारतम्यता देखी जाती है इसीलिये वह क्षणिक है अतः उसके कारणसे होनेवाला कर्मबंध भी क्षणिक है। तारतम्यता सहित होने से कर्मबंध शाश्वत नहीं। शाश्वत और तारतम्यता इन दोनोंके शीत और उष्णता की तरह परस्पर विरोध है। तारतम्यताका कारण क्षणभंगुर है जिनका कारण क्षणिक हो वह कार्य शाश्वत कैसे हो सकता है? कर्मका बंध और उदय तारतम्यता सहित ही होता है इसलिये बंध शाश्वतिक या स्वाभाविक वस्तु नहीं इसीलिये यह स्वीकार करना ही चाहिये कि बंधके कारणोंका अभाव होने पर पूर्ण बंधकी समाप्ति पूर्वक मोक्ष होता है। (देखो तत्त्वार्थसार पृष्ठ ३९९)

८ सिद्धोंका लोकाग्रसे स्थानांतर नहीं होता

प्रश्न—आत्मा मुक्त होने पर भी स्थानवाला होता है। जिसको स्थान हो वह एक स्थानमें स्थिर नहीं रहता किंतु नीचे जाता अथवा

विचलित होता रहता है, इसीलिये मुक्तात्मा भी ऊर्ध्वलोकमें ही स्थिर न रहकर नीचे जाय अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थानमें जाय—ऐसा क्यों नहीं होता ?

उत्तर—पदार्थमें स्थानांतर होने का कारण स्थान नहीं है परन्तु स्थानांतरका कारण तो उसकी क्रियावती शक्ति है। जैसे नावमें जब पानी आकर भरता है तब वह डगमग होती है और नीचे डूब जाती है, उसी प्रकार आत्मामें भी जब कर्मास्रव होता रहता है तब वह संसारमें डूबता है और स्थान बदलता रहता है किन्तु मुक्त अवस्थामें तो जीव कर्मास्रवसे रहित हो जाता है, इसीलिये ऊर्ध्वगमन स्वभावके कारण लोकाग्रमें स्थित होनेके बाद फिर स्थानांतर होनेका कोई कारण नहीं रहता।

यदि स्थानान्तरका कारण स्थानको मानें तो कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जो स्थानवाला न हो, क्योंकि जितने पदार्थ हैं वे सब किसी न किसी स्थानमें रहे हुवे हैं और इसीलिये उन सभी पदार्थोंका स्थानांतर होना चाहिये। परन्तु धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल आदि द्रव्य स्थानांतर रहित देखे जाते हैं अतः वह हेतु मिथ्या सिद्ध हो जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि संसारी जीवके अपनी क्रियावती शक्ति के परिणमन की उस समयकी योग्यता उस क्षेत्रांतरका मूल-कारण है और कर्मका उदय तो मात्र निमित्त कारण है। मुक्तात्मा कर्मास्रवसे सर्वथा रहित हैं अतः वे स्वस्थानसे विचलित नहीं होते। (देखो तत्त्वार्थसार पृष्ठ ३८७) पुनश्च तत्त्वार्थसार अध्याय ८ की १२ वी गाथा में बतलाया है कि गुरुत्व के अभावको लेकर मुक्तात्माका नीचे पतन नहीं होता।

९—जीवकी मुक्त दशा मनुष्य पर्यायसे ही होती है और मनुष्य ढाई द्वीपमें ही होता है, इसीलिये मुक्त होनेवाले जीव (मोडे बिना) सीधे ऊर्ध्वगतिसे लोकांतमें जाते हैं। उसमें उसे एक ही समय लगता है।

१०. अधिक जीव थोड़े क्षेत्रमें रहते हैं

प्रश्न—सिद्धक्षेत्रके प्रदेश तो असंख्यात हैं और मुक्त जीव अनंत हैं तो असंख्यात प्रदेशमें अनन्त जीव कैसे रह सकते हैं ?

उत्तर—सिद्ध जीवोंके शरीर नहीं है और जीव सूक्ष्म (अरूपी) है इसीलिये एक स्थान पर अनंत जीव एक साथ रह सकते हैं। जैसे एक ही स्थान में अनेक दीपकोंका प्रकाश रह सकता है उसी तरह अनंत सिद्ध जीव एक साथ रह सकते हैं। प्रकाश तो पुद्गल है पुद्गल द्रव्य भी इस तरह रह सकता है तो फिर अनंत शुद्ध जीवोंके एक क्षेत्रमें साथ रहने में कोई बाधा नहीं।

११ सिद्ध जीवों के आकार है ?

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि जीव अरूपी है इसीलिये उसके आकार नहीं होता, यह मान्यता मिथ्या है। प्रत्येक पदार्थमें प्रदेशत्व नामका गुण है इसीलिये वस्तुका कोई न कोई आकार अवश्य होता है। ऐसी कोई चीज नहीं हो सकती जिसका आकार न हो। जो पदार्थ है उसका अपना आकार होता है। जीव अरूपी–अमूर्तिक है अमूर्तिक वस्तुके भी अमूर्तिक आकार होता है। जीव जिस शरीरको छोड़कर मुक्त होता है उस शरीरके आकारसे कुछ न्यून आकार मुक्त दशामें भी जीवके होता है।

प्रश्न—यदि आत्माके आकार हो तो उसे निराकार क्यों कहते हैं ?

उत्तर—आकार दो तरहका होता है—एक तो लम्बाई चौड़ाई मोटाईरूप आकार और दूसरा मूर्तिकरूप आकार। मूर्तिकतारूप आकार एक पुद्गल द्रव्यमें ही होता है अन्य किसी द्रव्यमें नहीं होता। इसीलिये जब आकार का अर्थ मूर्तिकता लिया जावे तब पुद्गल के अतिरिक्त सब द्रव्योंको निराकार कहते हैं। इस तरह जीवमें पुद्गलका मूर्तिक आकार न होने की अपेक्षा से जीवको निराकार कहा जाता है। परन्तु स्व क्षेत्र की लंबाई चौड़ाई मोटाई की अपेक्षासे समस्त द्रव्य साकारवान हैं। जब इस सद्भावसे आकारका संबन्ध माना जाय तो आकार का अर्थ लंबाई-चौड़ाई मोटाई ही होता है। आत्माके स्व का आकार है इसीलिये वह साकार है।

अनादिकालसे जीव की योग्यता के कारण उसके आकारकी वर्तमान

संकोच विस्तार रूप होती थी। अब पूर्ण शुद्ध होने पर संकोच विस्तार नही होता। सिद्धदशा होने पर जीवके स्वभावव्यंजनपर्याय प्रगट होती है और उसी तरह अनन्तकाल तक रहा करती है।

(देखो तत्त्वार्थसार पृष्ठ ३९८ से ४०६)

इसप्रकार श्री उमास्वामी विरचित मोक्षशास्त्रकी गुजराती टीकाका दशवें अध्यायका हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

परिशिष्ट—१

इस मोक्षशास्त्रके आधारसे श्री अमृतचन्द्र सूरिने 'श्री तत्त्वार्थसार' शास्त्र बनाया है। उसके उपसंहारमें इस ग्रंथका सारांश २१ गाथाओं द्वारा दिया है वह इस शास्त्रमें भी लागू होता है अतः यहाँ दिया जाता है:—

ग्रन्थका सारांश

प्रमाणनयनिक्षेप निर्देशादि सदादिभिः।
सप्ततत्त्वमिति ज्ञात्वा मोक्षमार्गं समाश्रयेत् ॥१॥

अर्थ—जिन सात तत्त्वोंका स्वरूप क्रमसे कहा गया है उसे प्रमाण, नय, निक्षेप निर्देशादि तथा सत् आदि अनुयोगों द्वारा जानकर मोक्षमार्ग का यथार्थरूपसे आश्रय करना चाहिये।

प्रश्न—इस शास्त्रके पहले सूत्रका अर्थ निश्चयनय, व्यवहारनय, और प्रमाण द्वारा क्या होगा ?

उत्तर—जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकता है सो मोक्षमार्ग है-इस कथनमें अभेद स्वरूप निश्चयनयकी विवक्षा है अतः यह निश्चयनयका कथन जानना मोक्षमार्गको सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रके भेदसे कहना इसमें भेदस्वरूप व्यवहारनयकी विवक्षा है अतः यह व्यवहारनयका कथन जानना और इन दोनोंका यथार्थ ज्ञान करना सो प्रमाण है। मोक्षमार्ग पर्याय है इसीलिये आत्माके त्रिकाली चैतन्यस्वभावकी अपेक्षासे यह सद्भूत व्यवहार है।

प्रश्न—निश्चयनयका क्या अर्थ है ?

उत्तर—यथार्थ इसी प्रकार है ऐसा जानना सो निश्चयनय है।

प्रश्न—व्यवहारनयका क्या अर्थ है ?

उत्तर—ऐसा जानना कि 'यथार्थ इस प्रकार नहीं है किन्तु

निमित्तादिकी अपेक्षासे उपचार किया है' सो व्यवहारनय है। अथवा पर्याय-भेदका कथन भी व्यवहारनयसे कथन है।

मोक्षमार्गका दो तरहसे कथन

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥२॥

अर्थ—निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग ऐसे दो तरहसे मोक्षमार्गका कथन है। उसमे पहला साध्यरूप है और दूसरा उसका साधन-रूप है।

१. प्रश्न—व्यवहारमोक्षमार्ग साधन है इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर—पहले रागरहित दर्शन-ज्ञान-चारित्रका स्वरूप जानना और उसी समय 'राग धर्म नही या धर्मका साधन नही है' ऐसा मानना, ऐसा माननेके बाद जब जीव रागको तोडकर निर्विकल्प हो तब उसके निश्चय-मोक्षमार्ग होता है और उसी समय रागसहित दर्शन-ज्ञान-चारित्रका व्यय हुवा इसे व्यवहार मोक्षमार्ग कहते हैं, इस रीतिसे 'व्यय' यह साधन है।

२—इस सम्बन्धमे श्री परमात्म प्रकाशमे निम्नप्रकार बताया है–

प्रश्न—निश्चयमोक्षमार्ग तो निर्विकल्प है और उस समय सवि-कल्प मोक्षमार्ग है नही तो वह (सविकल्प मोक्षमार्ग) साधक कैसे होता है ?

उत्तर—भूतनैगमनयकी अपेक्षासे परम्परासे साधक होता है अर्थात् पहले वह था किन्तु वर्तमानमे नही है तथापि भूतनैगमनयसे वह वर्तमानमें है ऐसा संकल्प करके उसे साधक कहा है (पृष्ठ १४२ सस्कृत टीका) इस सम्बन्धमें छठे अध्यायके १८ वें सूत्रकी टीकाके पाँचवें पैरेमें दिये गये अन्तिम प्रश्न और उत्तरको बाचना।

३—शुद्धनिश्चयनयसे शुद्धानुभूतिरूप वीतराग (-निश्चय) सम्यक्त्व का कारण नित्य आनन्द स्वभावरूप निज शुद्धात्मा ही है।

(परमात्मप्रकाश पृष्ठ १४५)

४—मोक्षमार्ग दो नहीं

मोक्षमार्ग तो कहीं दो नहीं है किन्तु मोक्षमार्गका निरूपण दो तरह से है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्गको मोक्षमार्ग निरूपण किया है वह निश्चय (यथार्थ) मोक्षमार्ग है, तथा जो मोक्षमार्ग तो नहीं है किन्तु मोक्षमार्गमें निमित्त है अथवा साथमें होता है उसे उपचारसे मोक्षमार्ग कहा जाता है लेकिन वह सच्चा मोक्षमार्ग नहीं है।

निश्चय मोक्षमार्गका स्वरूप

श्रद्धानाधिगमोपेक्षा शुद्धस्य स्वात्मनो हि या।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा मोक्षमार्गः स निश्चयः ॥३॥

अर्थ—निज शुद्धात्माकी अभेदरूपसे श्रद्धा करना अभेदरूपसे ही ज्ञान करना तथा अभेदरूपसे ही उसमें लीन होना—इसप्रकार जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप आत्मा है सो निश्चयमोक्षमार्ग है।

व्यवहारमोक्षमार्गका स्वरूप

श्रद्धानाधिगमोपेक्षा याः पुनः स्युः परात्मना।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारतः ॥४॥

अर्थ—आत्मामें जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-तथा सम्यक्चारित्र भेदकी मुख्यतासे प्रगट हो रहे हैं उस सम्यक्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक् चारित्ररूप रत्नत्रयको व्यवहार मार्ग समझना चाहिये।

व्यवहारी मुनिका स्वरूप

श्रद्दधानः परद्रव्यं बुध्यमानस्तदेव हि।
तदेवोपेक्षमाणश्च व्यवहारी स्मृतो मुनिः ॥५॥

अर्थ—जो परद्रव्यकी (सात तत्त्वोंकी भेदरूपसे) श्रद्धा करता है उसी तरह भेदरूपसे जानता है और उसी तरह भेदरूपसे उपेक्षा करता है उस मुनिको व्यवहारी मुनि कहते हैं।

निश्चयी मुनिका स्वरूप

स्व द्रव्यं श्रद्धानस्तु बुध्यमानस्तदेव हि ।
तदेवोपेक्षमाणश्च निश्चयान्मुनिसत्तमः ॥ ६ ॥

अर्थ—जो स्व द्रव्यको ही श्रद्धामय तथा ज्ञानमय बना लेते है और जिनके आत्माकी प्रवृत्ति उपेक्षारूप ही हो जाती है ऐसे श्रेष्ठ मुनि निश्चय-रत्नत्रय युक्त हैं।

निश्चयीके अभेदका समर्थन

आत्मा ज्ञातृतया ज्ञानं सम्यक्त्वं चरितं हि सः ।
स्वस्थो दर्शन चारित्र मोहाभ्यामनुपप्लुतः ॥ ७ ॥

अर्थ—जो जानता है सो आत्मा है, ज्ञान जानता है इसीलिये ज्ञान ही आत्मा है, इसी तरह जो सम्यक् श्रद्धा करता है, सो आत्मा है। श्रद्धा करने वाला सम्यग्दर्शन है अतएव वही आत्मा है। जो उपेक्षित होता है सो आत्मा है। उपेक्षा गुण उपेक्षित होता है अतएव वही आत्मा है अथवा आत्मा ही वह है। यह अभेद रत्नत्रयस्वरूप है, ऐसी अभेदरूप स्वस्थदशा उनके ही हो सकती है कि जो दर्शनमोह और चारित्रमोहके उदयाधीन नही रहता।

इसका तात्पर्य यह है कि मोक्षका कारण रत्नत्रय बताया है, उस रत्नत्रयको मोक्षका कारण मानकर जहाँ तक उसके स्वरूपको जाननेकी इच्छा रहती है वहाँ तक साधु उस रत्नत्रय को विषयरूप (ध्येयरूप) मान कर उसका चितवन करता है, वह विचार करता है कि रत्नत्रय इस प्रकार के होते हैं। जहाँ तक ऐसी दशा रहती है वहाँ तक स्वकीय विचार द्वारा रत्नत्रय भेदरूप ही जाना जाता है, इसीलिये साधुके उस प्रयत्नको भेदरूप रत्नत्रय कहते हैं, यह व्यवहारकी दशा है। ऐसी दशामे अभेदरूप रत्नत्रय कभी हो नही सकता। परन्तु जहाँ तक ऐसी दशा भी न हो अथवा ऐसे रत्नत्रयका स्वरूप समझ न ले वहाँ तक उसे निश्चयदशा कैसे प्राप्त हो सकती है? यह ध्यान रहे कि व्यवहार करते करते निश्चय दशा प्रगट हो नही होती।

यह भी ध्यान रहे कि व्यवहार दशाके समय राग है इसलिये वह दूर करने योग्य है, वह लाभदायक नहीं है। स्वाश्रित एकतारूप निश्चय-दशा ही लाभदायक है ऐसा यदि पहलेसे ही लक्ष्य हो तो ही उसके व्यवहारदशा होती है। यदि पहलेसे ही ऐसी मान्यता न हो और उस राग दशा को ही धर्म या धर्मका कारण माने तो उसे कभी धर्म नहीं होता और उसके वह व्यवहारदशा भी नहीं कहलाती, वास्तवमें वह व्यवहाराभास है—ऐसा समझना। इसलिये रागरूप व्यवहारदशाको टालकर निश्चयदशा प्रगट करनेका लक्ष्य पहले से ही होना चाहिये।

ऐसी दशा हो जाने पर जब साधु स्वसन्मुखताके बलसे स्वरूप की तरफ झुकता है तब स्वयमेव सम्यग्दर्शनमय–सम्यक्ज्ञानमय तथा सम्यक्चारित्रमय हो जाता है। इसीलिये वह स्व से अभेदरूपरत्नत्रयकी दशा है और वह यथार्थ वीतरागदशा होनेके कारण निश्चयरत्नत्रयरूप कही जाती है।

इस अभेद और भेदका तात्पर्य समझ जाने पर यह बात माननी पड़ेगी कि जो व्यवहाररत्नत्रय है वह यथार्थ रत्नत्रय नहीं है। इसीलिये उसे हेय कहा जाता है। यदि साधु उसीमें ही लगा रहे तो उसका तो व्यवहारमार्ग मिथ्यामार्ग है निरुपयोगी है। यों कहना चाहिये कि उन साधुओं ने उसे हेयरूप न जानकर यथार्थरूप समझ रखा है। जो जिसे यथार्थरूप जानता और मानता है वह उसे कदापि नहीं छोड़ता इसीलिये उस साधुका व्यवहारमार्ग मिथ्यामार्ग है अथवा वह अज्ञानरूप संसारका कारण है।

पुनश्च उसीप्रकार जो व्यवहार को हेय समझकर अशुभभावमें रहता है और निश्चयका अवलंबन नहीं करता वह उभयभ्रष्ट (शुद्ध और शुभ दोनोंसे भ्रष्ट) है। निश्चयनयका अवलंबन प्रगट नहीं हुआ और जो व्यवहारको तो हेय मानकर अशुभमें रहा करते हैं वे निश्चय के लक्ष्य से शुभ में भी नहीं जाते तो फिर वे निश्चय तक नहीं पहुँच सकते—यह निर्विवाद है।

इस श्लोकमे अभेद रत्नत्रयका स्वरूप कृदत शब्दो द्वारा शब्दोका अभेदत्व वताकर कर्तृ भावसाधन सिद्ध किया। अव आगे के श्लोकोमे किया पदो द्वारा कर्ताकर्मभाव आदि मे सर्व विभक्तियोके रूप दिखाकर अभेदसिद्ध करते हैं।

निश्चयरत्नत्रय की कर्ता के साथ अभेदता

पश्यति स्वस्वरूपं यो जानाति चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः ॥ ८ ॥

अर्थ—जो निज स्वरूपको देखता है, निजस्वरूपको जानता है और निजस्वरूपके अनुसार प्रवृत्ति करता है वह आत्मा ही है, अतएव दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनोरूप आत्मा ही है।

कर्मरूपके साथ अभेदता

पश्यति स्वस्वरूपं यं जानाति चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ ९ ॥

अर्थ—जिस निज स्वरूपको देखा जाता है, जाना जाता है और धारण किया जाता है वह दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप रत्नत्रय है, परन्तु तन्मय आत्मा ही है इसीलिये आत्मा ही अभेदरूपसे रत्नत्रयरूप है।

कारणरूपके साथ अभेदता

दृश्यते येन रूपेण ज्ञायते चर्यतेऽपि च।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ १० ॥

अर्थ—जो निज स्वरूप द्वारा देखा जाता है, निजस्वरूप द्वारा जाना जाता है और निज स्वरूप द्वारा स्थिरता होती है वह दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप रत्नत्रय है, वह कोई प्रथक् पदार्थ नही है किंतु तन्मय आत्मा ही है इसीलिये आत्मा ही अभेदरूपसे रत्नत्रयरूप है।

संप्रदानरूप के साथ अभेदता

यस्मै पश्यति जानाति स्वरूपाय चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ ११ ॥

अर्थ—जो स्वरूपकी प्राप्ति के लिये देखता है जानता है तथा प्रवृत्ति करता है वह दर्शन-ज्ञान-चारित्र नामवाला रत्नत्रय है यह कोई पृथक पदार्थ नहीं है परन्तु तन्मय आत्मा ही है अर्थात् आत्मा रत्नत्रयसे भिन्न नहीं किन्तु तन्मय ही है।

अपादान स्वरूप के साथ अभेदता

यस्मात् पश्यति जानाति स्वस्वरूपाच्चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ १२ ॥

अर्थ—जो निजरूपसे देखता है जानता है तथा जो निजस्व रूपसे वर्तता-रहता है वह दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप रत्नत्रय है वह दूसरा कोई नहीं किन्तु तन्मय हुआ आत्मा ही है।

सम्बंध स्वरूपके साथ अभेदता

यस्य पश्यति जानाति स्वस्वरूपस्य चरत्यपि।
दर्शनज्ञान चारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ १३ ॥

अर्थ—जो निजस्वरूपके संबंधको देखता है निजस्वरूपके संबंध को जानता है तथा निजस्वरूपके संबंधकी प्रवृत्ति करता है वह दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है। यह आत्मासे भिन्न अन्य कोई पदार्थ नहीं किन्तु आत्मा ही तन्मय है।

आधार स्वरूपके साथ अभेदता

यस्मिन् पश्यति जानाति स्वस्वरूपे चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ १४ ॥

अर्थ—जो निजस्वरूपमें देखता है जानता है तथा निजस्वरूपमें स्थिर होता है वह दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है। वह आत्मासे कोई भिन्न वस्तु नहीं किन्तु आत्मा ही तन्मय है।

क्रिया स्वरूपकी अभेदता

ये स्वभावाद् दृशिज्ञप्तिचर्यारूपक्रियात्मकाः ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ १५ ॥

अर्थ—जो देखनेरूप, जाननेरूप तथा चारित्ररूप क्रियाएँ हैं वह दर्शन-ज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रय है, परन्तु ये क्रियाएँ आत्मासे कोई भिन्न पदार्थ नही तन्मय आत्मा ही है।

गुणस्वरूपका अभेदत्व—

दर्शनज्ञानचारित्रगुणानां य इहाश्रयः ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ १६ ॥

अर्थ—जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुणोका आश्रय है वह दर्शन ज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रय है। आत्मासे भिन्न दर्शनादि गुण कोई पदार्थ नही परन्तु आत्मा ही तन्मय हुआ मानना चाहिये अथवा आत्मा तन्मय ही है।

पर्यायोंके स्वरूपका अभेदत्व

दर्शनज्ञानचारित्रपर्यायाणां य आश्रयः ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः ॥ १७ ॥

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय पर्यायोका आश्रय है वह दर्शनज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है। रत्नत्रय आत्मासे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है, आत्मा ही तन्मय होकर रहता है अथवा तन्मय ही आत्मा है। आत्मा उनसे भिन्न कोई प्रथक् पदार्थ नही।

प्रदेशस्वरूपका अभेदपन

दर्शनज्ञानचारित्रदेशा ये प्ररूपिताः ।
दर्शनज्ञानचारित्रमयस्यात्मन एव ते ॥ १८ ॥

अर्थ—दर्शन-ज्ञान-चारित्रके जो प्रदेश बताये गये हैं वे आत्माके

प्रदेशोंसे कहीं अलग नहीं हैं। दर्शन-ज्ञान चारित्ररूप आत्माका ही यह प्रदेश है। अथवा दर्शन ज्ञान चारित्रके प्रदेशरूप ही आत्मा है और यही रत्नत्रय है। जिस प्रकार आत्माके प्रदेश और रत्नत्रयके प्रदेश भिन्न भिन्न नहीं हैं उसीप्रकार परस्पर वर्णादि तीनोंके प्रदेश भी भिन्न नहीं हैं, अत एव आत्मा और रत्नत्रय भिन्न नहीं किंतु आत्मा तन्मय ही है।

अगुरुलघुस्वरूपका अभेदपन

दर्शनज्ञानचारित्रागुरुलघ्वाह्वया गुणाः।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयस्यात्मन एव ते ॥ १९ ॥

अर्थ—अगुरुलघु नामक गुण है अतः वस्तुमें जितने गुण हैं वे सीमासे अधिक अपनी हानि-वृद्धि नहीं करते यही सभी द्रव्यों में अगुरुलघुगुणका प्रयोजन है। इस गुणके निमित्त से समस्त गुणोंमें जो सीमा का उल्लंघन नहीं होता उसे भी अगुरुलघु कहते हैं इसीलिये यहाँ अगुरुलघुको वर्णादिकका विशेषण कहना चाहिये।

अर्थात्—अगुरुलघुरूप प्राप्त होनेवाले जो दर्शन ज्ञान चारित्र हैं वे आत्मासे प्रथक नहीं हैं और परस्परमें भी वे प्रथक् प्रथक नहीं हैं दर्शन ज्ञान चारित्ररूप जो रत्नत्रय है, उसका यह (अगुरुलघु) स्वरूप है और वह तन्मय ही है इस तरह अगुरुलघुरूप रत्नत्रयमय आत्मा है किंतु आत्मा उससे प्रथक् पदार्थ नहीं। क्योंकि आत्माका अगुरुलघु-स्वभाव है और आत्मा रत्नत्रय स्वरूप है इसीलिये वह सर्व आत्मासे अभिन्न है।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूपकी अभेदता

दर्शनज्ञानचारित्र ध्रौव्योत्पाद व्ययास्तु ये।
दर्शनज्ञानचारित्रमयस्यात्मन एव ते ॥ २० ॥

अर्थ—दर्शन ज्ञान-चारित्र में जो उत्पाद व्यय ध्रौव्य हैं वह सब आत्माका ही है क्योंकि जो दर्शन ज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रय है वह आत्मासे अलग नहीं है। दर्शन ज्ञान चारित्रमय ही आत्मा है अथवा दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मामय ही है इसीलिये रत्नत्रयके जो उत्पाद-व्यय

ध्रौव्य हैं वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य आत्मा का ही है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य भी परस्परमे अभिन्न ही हैं।

इस तरह यदि रत्नत्रयके जितने विशेषण हैं वे सब आत्माके ही हैं और आत्मासे अभिन्न हैं तो रत्नत्रयको भी आत्मास्वरूप ही मानना चाहिए।

इस प्रकार अभेदरूपसे जो निजात्माका दर्शन–ज्ञान–चारित्र है वह निश्चय रत्नत्रय है, इसके समुदायको (एकताको) निश्चयमोक्षमार्ग कहते हैं, यही मोक्षमार्ग है।

निश्चय व्यवहार माननेका प्रयोजन

स्यात् सम्यक्त्वज्ञानचारित्ररूपः पर्यायार्थादेशतो मुक्तिमार्गः।
एको ज्ञाता सर्वदैवाद्वितीयः स्याद् द्रव्यार्थादेशतो मुक्तिमार्गः ॥२१॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्ररूप प्रथक् २ पर्यायो द्वारा जीवको जानना सो पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे मोक्षमार्ग है और इन सब पर्यायोमे ज्ञाता जीव एक ही सदा रहता है, पर्याय तथा जीवके कोई भेद नही है—इस प्रकार रत्नत्रयसे आत्माको अभिन्न जानना सो द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे मोक्षमार्ग है।

अर्थात्—रत्नत्रयसे जीव अभिन्न है अथवा भिन्न है ऐसा जानना सो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनयका स्वरूप है; परन्तु रत्नत्रयमे भेदपूर्वक प्रवृत्ति होना सो व्यवहार मोक्षमार्ग है और अभेदपूर्वक प्रवृत्ति होना सो निश्चय मोक्षमार्ग है। अतएव उपरोक्त श्लोकका तात्पर्य यह है कि—

आत्माको प्रथम द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय द्वारा जानकर पर्याय पर से लक्ष्य हटाकर अपने त्रिकाली सामान्य चैतन्य स्वभाव—जो शुद्ध द्रव्यार्थिक नयका विषय है—उसकी ओर झुकनेसे शुद्धता और निश्चय रत्नत्रय प्रगट होता है।

तत्त्वार्थसार ग्रन्थका प्रयोजन

(वसततिलका)

तत्वार्थसारमिति यः समधिर्विदित्वा,

निर्वाणमार्गमधितिष्ठति निष्प्रकम्पः ।
संसारबन्धमवधूय स धूतमोह—
श्चैतन्यरूपममलं शिवतत्त्वमेति ॥ २२ ॥

अर्थ—बुद्धिमान और संसारसे उपेक्षित हुवे जो जीव इस प्रकारे अथवा तत्त्वार्थके सारको ऊपर कहे गये भाव अनुसार समझ कर निश्चल सता पूर्वक मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होगा वह जीव मोहका नाश कर संसार बन्धनको दूर करके निश्चय चैतन्यस्वरूपी मोक्षतत्त्वको (शिवतत्त्वको) प्राप्त कर सकता है ।

इस ग्रंथके कर्त्ता पुद्गल हैं आचार्य नहीं

वर्णाः पदानां कर्त्तारो वाक्यानां तु पदावलिः ।
वाक्यानि चास्य शास्त्रस्य कर्तृणि न पुनर्वयम् ॥ २३ ॥

अर्थ—वर्ण (अर्थात् अनादि सिद्ध अक्षरोंका समूह) इन पदोंके कर्त्ता हैं पदावलि वाक्योंकी कर्त्ता है और वाक्योंने यह शास्त्र किया है । कोई यह न समझे कि यह शास्त्र मैंने (आचार्यने) बनाया है ।

(देखो तत्त्वार्थसार पृष्ठ ४२१ से ४२८)

नोट—(१) एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्त्ता नहीं हो सकता—यह सिद्धांत सिद्ध करके यहाँ आचार्य भगवानने स्पष्टरूपसे बतलाया है कि जीव जड़शास्त्रको नहीं बना सकता ।

(२) श्री समयसारकी टीका श्री प्रवचनसारकी टीका श्री पंचास्तिकायकी टीका और श्री पुरुषार्थ सिद्धि उपाय शास्त्रके कर्तृत्वके सम्बन्धमें भी आचार्य भगवान श्री अमृतचन्द्रजी सूरिने बतलाया है कि—इस शास्त्रका अथवा टीकाका कर्त्ता पुद्गल द्रव्य है, मैं (आचार्य) नहीं । यह बात तत्त्वजिज्ञासुओंको खास ध्यानमें रखनेकी जरूरत है अतः आचार्य भगवानने तत्त्वार्थ सार पूर्ण करने पर भी यह स्पष्टरूपसे बतलाया है । इसलिये पहले भेद विज्ञान प्राप्त कर यह निश्चय करना कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ भी नहीं कर सकता' यह निश्चय करने पर जीवके स्व की ओर ही झुकाव रहता है । अब स्व की तरफ झुकानेमें दो पहलु

हैं। उनमे एक त्रिकाली चैतन्यस्वभावभाव जो परमपारिणामिकभाव कहा जाता है—वह है। और दूसरा स्वकी वर्तमानपर्याय। पर्यायपरलक्ष्य करनेसे विकल्प (-राग) दूर नही होता, इसलिये त्रिकाली चैतन्यस्वभावकी तरफ झुकनेके लिये सर्व वीतरागी शास्त्रोकी, और श्री गुरुओंकी आज्ञा है। अतः उसकी तरफ झुकना और अपनी शुद्धदशा प्रगट करना यही जीवका कर्त्तव्य है। इसीलिये तदनुसार ही सर्व जीवोको पुरुषार्थ करना चाहिये। इस शुद्धदशा को ही मोक्ष कहते हैं। मोक्षका अर्थ निज शुद्धताकी पूर्णता अथवा सर्व समाधान है। और वही अविनाशी और शाश्वत-सच्चा सुख है, जीव प्रत्येक समय सच्चा शाश्वत सुख प्राप्त करना चाहता है और अपने ज्ञानके अनुसार प्रवृत्ति भी करता है किन्तु उसे मोक्षके सच्चे उपायकी खबर नही है इसलिये दुःख (-बन्धन) के उपायको सुखका (मोक्षका) उपाय मानता है। अतः विपरीत उपाय प्रति समय किया करता है। इस विपरीत उपायसे पीछे हटकर सच्चे उपायकी तरफ पात्र जीव झुकें और सम्पूर्ण शुद्धता प्रगट करें यह इस शास्त्रका हेतु है।

परिशिष्ट—२

प्रत्येक द्रव्य और उसके प्रत्येक पर्यायकी स्वतंत्रताकी घोषणा

१—प्रत्येक द्रव्य अपनी अपनी त्रिकाली पर्यायका पिंड है और इसीलिये वे तीनों कालकी पर्यायोंके योग्य हैं और पर्याय प्रति समय की है, इसीलिये प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समयमें उस उस समयकी पर्यायके योग्य है और तत्तद् समयकी पर्याय तत्तद् समयमें होने योग्य है अतः होती है किसी द्रव्यकी पर्याय आगे या पीछे होती ही नहीं।

२—मिट्टी द्रव्य (मिट्टीके परमाणु) अपने तीनों कालकी पर्यायों के योग्य है तथापि यदि ऐसा माना जाय कि उसमें तीनों कालमें एक घड़ा होने की ही योग्यता है तो मिट्टी द्रव्य एक पर्याय जितना ही हो जाय और उसके द्रव्यत्वका भी नाश हो जाय।

३—जो यों कहा जाता है कि मिट्टी द्रव्य तीन कालमें घड़ा होने के योग्य है सो परद्रव्यसे मिट्टीको भिन्न बतलाकर यह बतलाया जाता है कि मिट्टीके अतिरिक्त अन्य द्रव्य किसी कालमें मिट्टीका घड़ा होनेके योग्य नहीं है। परन्तु जिस समय मिट्टी द्रव्यका तथा उसकी पर्यायकी योग्यता का निर्णय करना हो तब यों मानना मिथ्या है कि 'मिट्टी द्रव्य तीनों कालमें घड़ा होनेके योग्य है' क्योंकि ऐसा माननेसे मिट्टी द्रव्यकी अन्य जो पर्यायें होती हैं उन पर्यायोंके होनेके योग्य मिट्टी द्रव्यकी योग्यता नहीं है तथापि होती है ऐसा मानना पड़ेगा जो सर्वथा असत् है। इसलिये मिट्टी मात्र घटरूप होने योग्य है यह मानना मिथ्या है।

४—उपरोक्त कारणोंसे लेकर यह मानना कि 'मिट्टी द्रव्य तीनों कालमें घड़ा होनेके योग्य है और जहाँ तक कुम्हार न आये वहाँ तक घड़ा नहीं होता (यह मानना) मिथ्या है किन्तु मिट्टी द्रव्यकी पर्याय जिस समय घड़ेरूप होनेके योग्य है वह एक समयकी ही योग्यता है अतः उसी

समय घडेरूप पर्याय होती है, आगे पीछे नही होती और उस समय कुम्हार आदि निमित्त स्वयं उपस्थित होते ही हैं।

५—प्रत्येक द्रव्य स्वय ही अपनी पर्यायका स्वामी है अतः उसकी पर्याय उस उस समयकी योग्यताके अनुसार स्वय हुवा ही करती है, इस तरह प्रत्येक द्रव्यकी अपनी पर्याय प्रत्येक समय तत्तद् द्रव्यके ही आधीन है; किसी दूसरे द्रव्यके आधीन वह पर्याय नहीं है।

६—जीव द्रव्य त्रिकाल पर्यायोका पिंड है। इसीलिये वह त्रिकाल वर्तमान पर्यायोंके योग्य है और प्रगट पर्याय एक समयकी है अतः उस उस पर्यायके स्वय योग्य है।

७—यदि ऐसा न माना जावे तो एक पर्याय मात्र ही द्रव्य हो जायगा। प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायका स्वामी है अतः उसकी वर्तमानमें होनेवाली एक एक समयकी पर्याय है वह उस द्रव्यके आधीन है।

८—जीवको पराधीन कहते हैं इसका यह अर्थ नहीं है कि पर द्रव्य उसे आधीन करता है अथवा पर द्रव्य उसे अपना खिलौना बनाता है किन्तु तत्तद् समयका पर्याय जीव स्वयं परद्रव्यकी पर्यायके आधीन हुआ करता है। यह मान्यता मिथ्या है कि परद्रव्य या उसकी कोई पर्याय जीवको कभी भी आश्रय दे सकती है उसे रमा सकती है, हैरान कर सकती है या सुखी दुःखी कर सकती है।

९—प्रत्येक द्रव्य सत् है अतः वह द्रव्यसे, गुणसे और पर्यायसे भी सत् है और इसीलिये वह हमेशा स्वतंत्र है। जीव पराधीन होता है वह भी स्वतन्त्ररूपसे पराधीन होता है। कोई पर द्रव्य या उसकी पर्याय उसे पराधीन या परतंत्र नहीं बनाते।

१०—इस तरह श्री वीतराग देव ने संपूर्ण स्वतन्त्रताकी मुनादी पीटी है—घोषणा की है।

परिशिष्ट–३

साधक जीवकी दृष्टि की सतत कथा (स्तर)

अध्यात्म शास्त्रोंमें ऐसा नहीं कहा कि "जो निश्चय है सो मुख्य है" यदि निश्चयका ऐसा अर्थ करें कि जो निश्चयनय है सो मुख्य है, तो किसी समय निश्चयनय मुख्य हो और किसी समय व्यवहारनय मुख्य हो, अर्थात् किसी समय 'द्रव्य' मुख्य हो और किसी समय 'गुण–पर्यायके भेद' मुख्य हों लेकिन द्रव्यके साथ अभेद हुई पर्यायको भी निश्चय कहा जाता है इसलिये निश्चय सो मुख्य न मानकर मुख्य सो निश्चय मानना चाहिये। और आगमशास्त्रोंमें किसी समय व्यवहारनयको मुख्य और निश्चय नयको गौण करके कथन किया जाता है। अध्यात्म शास्त्रोंमें तो हमेशा "जो मुख्य है सो निश्चयनय है और उसीके आश्रयसे धर्म होता है—ऐसा समझाया जाता है और उसमें सदा निश्चयनय मुख्य ही रहता है। पुरुषार्थ के द्वारा स्व में शुद्ध पर्याय प्रगट करने अर्थात् विकारी पर्याय दूर करनेके लिये हमेशा निश्चयनय ही आदरणीय है उस समय दोनों नयों का ज्ञान होता है किन्तु धर्म प्रगट करने के लिये दोनों नय कभी आदरणीय नहीं। व्यवहारनयके आश्रयसे कभी आंशिक धर्म भी नहीं होता परन्तु उसके आश्रयसे तो राग-द्वेषके विकल्प उठते ही हैं।

छहों द्रव्य उनके गुण और उनकी पर्यायोंके स्वरूपका ज्ञान कराने के लिये किसी समय निश्चयनय की मुख्यता और व्यवहारनयकी गौणता रखकर कथन किया जाता है और किसी समय व्यवहारनयको मुख्य करके तथा निश्चयनयको गौण करके कथन किया जाता है स्वयं विचार करनेमें भी किसी समय निश्चयनयको मुख्यता और किसी समय व्यवहारनयकी मुख्यता की जाती है। अध्यात्म शास्त्रमें भी जीव विकारी पर्याय स्वयं करता है इसीलिये होती है। और उस जीवके अनन्य परि

णाम है-ऐसा-व्यवहार द्वारा कहा और समझाया जाता है किन्तु उस प्रत्येक समयमे निश्चयनय एक ही मुख्य और आदरणीय है ऐसा ज्ञानियोका कथन है।

ऐसा मानना कि किसी समय निश्चयनय आदरणीय है और किसी समय व्यवहारनय आदरणीय है सो भूल है। तीनो काल अकेले निश्चयनयके आश्रयसे ही धर्म प्रगट होता है—ऐसा समझना।

प्रश्न—क्या साधक जीवके नय होता ही नही ?

उत्तर—साधक दशामे ही नय होता है। क्योकि केवलीके तो प्रमाण है अत. उनके नय नही होता, अज्ञानी ऐसा मानते है कि व्यवहार-नयके आश्रयसे धर्म होता है इसीलिये उनको तो व्यवहारनय ही निश्चयनय होगया, अर्थात् अज्ञानीके सच्चा नय नही होता। इस तरह साधक जीवके ही उनके श्रुतज्ञानमे नय होता है। निर्विकल्पदशासे अतिरिक्त कालमे जब उनके नयरूपसे श्रुतज्ञानका भेदरूप उपयोग होता है तब, और ससारके शुभाशुभ भावमें हो या स्वाध्याय, व्रत नियमादि कार्योमे हो तब जो विकल्प उठते हैं वह सब व्यवहारनयके विषय हैं, परन्तु उस समय भी उनके ज्ञानमें एक निश्चयनय ही आदरणीय है (अतः उस समय व्यवहार-नय है तथापि वह आदरणीय नही होनेसे) उनकी शुद्धता बढ़ती है। इस तरह सविकल्प दशामें भी निश्चयनय आदरणीय है और जब व्यवहार-नय उपयोग रूप हो तो भी ज्ञानमे उसी समय हेयरूपसे है, इस तरह निश्चय और व्यवहारनय—ये दोनो साधक जीवोंके एक ही समयमें होते हैं।

इसलिये यह मान्यता ठीक नही है कि साधक जीवोंके नय होता ही नहीं, किन्तु साधक जीवोके ही निश्चय और व्यवहार दोनो नय एक ही साथ होते हैं। निश्चयनयके आश्रयके बिना सच्चा व्यवहारनय होता ही नही। जिसके अभिप्रायमें व्यवहारनयका आश्रय हो उसके तो निश्चयनय रहा ही नही, क्योकि उसके तो व्यवहारनय ही निश्चयनय होगया।

चारों अनुयोगोंमें किसी समय व्यवहारनयकी मुख्यतासे कथन किया जाता है और किसी समय निश्चयनयको मुख्य करके कथन किया जाता है किन्तु उस प्रत्येक अनुयोगमें कथनका सार एक ही है और वह यह है कि निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों जानने योग्य हैं, किन्तु शुद्धताके लिये आश्रय करने योग्य एक निश्चयनय ही है और व्यवहारनय कभी भी आश्रय करने योग्य नहीं है—वह हमेशा हेय ही है—ऐसा समझना।

व्यवहारनयके ज्ञानका फल उसका आश्रय छोड़कर निश्चयनयका आश्रय करना है। यदि व्यवहारनयको उपादेय माना जाय तो वह व्यवहार नयके सच्चे ज्ञानका फल नहीं है किन्तु व्यवहारनयके अज्ञानका अर्थात् मिथ्यात्वका फल है।

निश्चयनयके आश्रय करनेका अर्थ यह है कि निश्चयनयके विषयभूत आत्माके त्रिकाली चैतन्यस्वरूपका आश्रय करना और व्यवहारनयका आश्रय छोड़ना—उसे हेय समझना—इसका यह अर्थ है कि व्यवहारनयके विषयरूप विकल्प, परद्रव्य या स्वद्रव्यकी अपूर्ण अवस्थाकी ओरका आश्रय छोड़ना।

अध्यात्मका रहस्य

अध्यात्ममें जो मुख्य है सो निश्चय और जो गौण है सो व्यवहार यह कहा है अतः उसमें मुख्यता सदा निश्चयनयकी ही है और व्यवहार सदा गौणरूपसे ही है। साधक जीवकी यह कला या स्तर है। साधक जीवकी दृष्टिकी सतत कलाकी यही रीति है।

साधक जीव प्रारम्भसे अन्ततक निश्चयनयकी मुख्यता रखकर व्यवहारको गौण ही करता जाता है इसीलिये साधकको साधक दशामें निश्चयकी मुख्यताके बलसे शुद्धताकी वृद्धि ही होती जाती है और अशुद्धता हटती ही जाती है इस तरह निश्चयकी मुख्यताके बलसे ही पूर्ण केवलज्ञान होते हैं फिर वहाँ मुख्यता-गौणता नहीं होती और नय भी नहीं होता।

वस्तुस्वभाव और उसमें किस ओर झुके?

वस्तुमें द्रव्य और पर्याय नित्यत्व और अनित्यत्व इत्यादि जो

विरुद्ध धर्म स्वभाव है वह कभी दूर नही होता। किन्तु जो दो विरुद्ध धर्म हैं उनमें एकके आश्रयसे विकल्प टूटता–हटता है और दूसरेके आश्रयसे राग होता है। अर्थात् द्रव्यके आश्रयसे विकल्प टूटता है और पर्यायके आश्रयसे राग होता है, इसीसे दो नयोका विरुद्ध है। अब द्रव्य स्वभावकी मुख्यता और अवस्थाकी–पर्यायकी गौणता करके जब साधक जीव द्रव्य स्वभावकी तरफ झुक गया तब विकल्प दूर होकर स्वभावमे अभेद होने पर ज्ञान प्रमाण हो गया। अब यदि वह ज्ञान पर्यायको जाने तो भी वहाँ मुख्यता तो सदा द्रव्य स्वभावकी ही रहती है। इसतरह जो निज द्रव्य स्वभावकी मुख्यता करके स्व सन्मुख झुकने पर ज्ञान प्रमाण हुवा वही द्रव्यस्वभावकी मुख्यता साधक दशाकी पूर्णता तक निरन्तर रहा करती है। और जहाँ द्रव्यस्वभावकी ही मुख्यता है वहाँ सम्यग्दर्शनसे पीछे हटना कभी होता ही नही, इसीलिये साधक जीवके सतत द्रव्यस्वभावकी मुख्यताके बलसे शुद्धता बढते बढते जब केवलज्ञान हो जाता है तब वस्तुके परस्पर विरुद्ध दोनो धर्मोंको (द्रव्य और पर्यायको) एक साथ जानता है, किन्तु वहाँ अब एककी मुख्यता और दूसरेकी गौणता करके झुकाव—झुकना नही रहा। वहाँ सम्पूर्ण प्रमाणज्ञान हो जाने पर दोनो नयोका विरोध दूर हो गया (अर्थात् नय ही दूर हो गया) तथापि वस्तुमे जो विरुद्ध धर्म स्वभाव है वह तो दूर नही होता।

प्रकार का निमित्त होता ही है—ऐसा ज्ञान कराया है' कोई अज्ञानी, निमित्त को सर्वथा न मानता हो तो 'निमित्त बिना नहीं होता"— ऐसा कहकर निमित्त की प्रसिद्धि कराई है अर्थात् उसका ज्ञान कराया है। किन्तु उससे निमित्त आया इसलिये कार्य हुआ और निमित्त न होता तो वह पर्याय नहीं होती"—ऐसा उसका सिद्धान्त नहीं है। "निमित्त बिना नहीं होता' —इसका आशय इतना ही है कि जहाँ-जहाँ कार्य होता है वहाँ वह होता है न हो ऐसा नहीं हो सकता। निमित्त का ज्ञान कराने के लिये निमित्त की मुख्यता से कथन होता है परन्तु निमित्त की मुख्यता से कहीं पर कार्य नहीं होता, शास्त्रों में तो निमित्त के और व्यवहार के अनेक लेख भरे हैं किन्तु स्व-पर प्रकाशक जागृत हुए बिना उनका आशय स्पष्ट कौन करेगा ?

(१०२) शास्त्रों के उपदेश के साथ क्रमबद्धपर्याय की सन्धि

कुन्दकुन्दाचार्यदेव की आज्ञा से वसुबिन्दु अर्थात् जयसेनाचार्य देव ने दो दिन में ही एक प्रतिष्ठापाठ की रचना की है उसमें जिनेन्द्र प्रतिष्ठा सम्बन्धी क्रियाओं का प्रारम्भ से लेकर अन्त तक का वर्णन किया है। प्रतिमाजी के लिये ऐसा पाषाण लाना चाहिये ऐसी विधि से लाना चाहिये ऐसे कारीगरों के पास ऐसी प्रतिमा बनवाना चाहिये तथा अमुक विधि के लिये मिट्टी लेने जाये वहाँ जमीन खोदकर मिट्टी ले ले और फिर वही हुई मिट्टी से वह गड्ढा पूरने पर यदि मिट्टी बढ़े तो उसे शुभ शकुन समझना चाहिये।—इत्यादि अनेक विधियों का वर्णन आता है, किन्तु आत्मा का ज्ञायकपना रखकर वह सब बात है। ज्ञायकपने से च्युत होकर या क्रमबद्धपने को तोड़कर वह बात नहीं है। प्रतिष्ठा करानेवाले को उस प्रकार का विकल्प होता है और मिट्टी आदि की वैसी क्रमबद्धपर्याय होती है—उसकी वहाँ पहिचान कराई है, किन्तु ऐसा नहीं बतलाया है कि अजीव की पर्याय जीव कर देता है। प्रतिष्ठा में 'सिद्धचक्रमण्डलविधान और 'यागमण्डलविधान आदि के बड़े बड़े रंगबिरंगे मण्डल रचे जाते हैं और शास्त्र में भी उनका उपदेश आता है तथापि वह सब क्रमबद्ध ही है, शास्त्र में

उसका उपदेश दिया इसलिये उसकी क्रमबद्धता मिट गई या जीव उसका कर्ता हो गया—ऐसा नही है। ज्ञाता तो अपने को जानता हुआ उसे भी जानता है, और क्रमबद्धपर्याय से स्वय अपने ज्ञायकभावरूप उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार मुनि को समिति के उपदेश मे भी "देखकर चलना, विचारकर बोलना, वस्तु को यत्नपूर्वक उठाना-रखना"—इत्यादि कथन आता है, किन्तु उसका आशय यह बतलाने का नही है कि शरीर की क्रिया को जीव कर सकता है। मुनिदशा मे उस-उस प्रकार का प्रमादभाव होता ही नही, हिंसादि का अशुभभाव होता ही नही-ऐसा ही मुनिदशा की क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप है—वह बतलाया है। निमित्त से कथन करके समझायें, तो उससे कही क्रमबद्धपर्याय का सिद्धान्त नही टूट जाता।

(१०३) स्वयंप्रकाशीज्ञायक

शरीरादि का प्रत्येक परमाणु स्वतत्ररूप से अपनी क्रमबद्ध-पर्यायरूप परिणमित हो रहा है, उसे कोई दूसरा अन्यथा बदल दे—ऐसा तीनकाल मे नही हो सकता। अहो! भगवान आत्मा तो स्वय प्रकाशी है, अपने क्षायिकभाव द्वारा वह स्व-पर का प्रकाशक ही है, किन्तु अज्ञानी को उस ज्ञायकस्वभाव की बात नही जमती। मैं ज्ञायक, क्रमबद्धपर्यायो को यथावत् जाननेवाला हूँ,—सदा जाननेवाला ही हूँ किन्तु किसीको बदलनेवाला नही हूँ—ऐसी स्वसन्मुख प्रतीति न करके अज्ञानीजीव कर्ता होकर पर को बदलना मानता है, वह मिथ्या-मान्यता ही ससार परिभ्रमण का मूल है।

सर्व जीव स्वयप्रकाशीज्ञायक हैं, उसमे—

(१) केवली भगवान "पूर्ण ज्ञायक" हैं, (उनके ज्ञायकपना पूर्णव्यक्त हो गया है।)

(२) सम्यक्त्वी—साधक "अपूर्ण ज्ञायक" हैं, (उनके पूर्ण ज्ञायकपना प्रतीति मे आ गया है, किन्तु अभी पूर्ण व्यक्त नही हुआ।)

(१) अज्ञानी "विपरीत ज्ञायक" हैं (उन्हें अपने ज्ञायकपने की खबर नहीं है।)

ज्ञायकस्वभाव की अप्रतीति वह संसार

ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति द्वारा साधक दशा वह मोक्षमार्ग और—ज्ञायकस्वभाव पूर्ण विकसित हो जाये वह केवलज्ञान और मोक्ष।

(१०४) प्रत्येक द्रव्य "निजभवन" में ही विराजमान है

जगत में प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्याय के साथ तद्रूप है किन्तु पर के साथ तद्रूप नहीं है। अपने-अपने भाव का जो "भवन" है, उसीमें प्रत्येक द्रव्य विराजमान है। जीव के गुण-पर्यायें वह जीव का भाव है और जीव भाववान है अजीव के गुण-पर्यायें वह उसका भाव है और अजीव भाववान है। अपने-अपने भाव का जो भवन अर्थात् परिणमन—उसीमें सब द्रव्य विराजमान हैं। जीव के भवन में अजीव नहीं जाता—प्रवेश नहीं करता और अजीव के भवन में जीव प्रविष्ट नहीं होता। इसी प्रकार एक जीव के भवन में दूसरा जीव प्रवेश नहीं करता और एक अजीव के भवन में दूसरा अजीव नहीं जाता। जीव या अजीव प्रत्येक द्रव्य तीनोंकाल अपने-अपने निज भवन में (निज परिणमन में) विराजमान है अपने निज भवन में से बाहर निकलकर दूसरे के भवन में कोई द्रव्य नहीं जाता।

सुदृष्टितरंगिणी में छह मुनियों का उदाहरण देकर कहा है कि—जिस प्रकार एक गुफा में बहुत समय से छह मुनिराज रहते हैं किन्तु कोई किसी से मोहित नहीं है उदासीनता सहित एक गुफा में रहते हैं छहों मुनिवर अपनी-अपनी स्वरूपसाधना में ऐसे लीन हैं कि दूसरे मुनि क्या क्या करते हैं उसपर ध्यान ही नहीं जाता एक दूसरे से निरपेक्ष रहकर सब अपने-अपने में एकाग्र होकर विराजमान हैं। उसीप्रकार इस चौदह ब्रह्माण्डरूपी गुफामें जीवादि छहों द्रव्य एक-दूसरे से निरपेक्ष रहकर अपने-अपने स्वरूप में विराजमान हैं कोई द्रव्य अन्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं रखता सर्व द्रव्य अपने-अपने गुण-

पर्यायो मे ही विद्यमान हैं, जगत की गुफा मे छहो द्रव्य स्वतन्त्ररूप से अपने-अपने स्वरूप मे परिणमित हो रहे हैं। उसमे भगवान आत्मा ज्ञायकस्वभाववाला है, आत्मा के अतिरिक्त पाँचो द्रव्यो मे ज्ञायकपना नही है।

(१०५) यह बात न समझनेवालों की कुछ भ्रमणायें

आत्मा ज्ञायक है, और ज्ञायकस्वभावरूप से परिणमित होता हुआ वह क्रमबद्धपर्यायो का ज्ञाता ही है। इसमे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि का अनन्तबल आता है,—उसे न समझनेवाले अज्ञानी मूढ जीवो को इसमे एकान्त नियतपना ही भासित होता है, किन्तु उसके साथ स्वभाव और पुरुषार्थ, श्रद्धा और ज्ञानादि आ जाते हैं वे उसे भासित नही होते।

कुछ लोग यह बात सुनने के बाद क्रमबद्धपर्याय की बातें करना सीखे हैं, किन्तु उसका ध्येय कहाँ जाता है और उसे समझनेवाले की दशा कैसी होती है वह नही जानते, इसलिये वे भी भ्रमणा मे ही रहते हैं।

"हम निमित्त बनकर पर की व्यवस्था मे फेरफार करदें"—ऐसा कुछ अज्ञानी मानते हैं, वे भी मूढ हैं।

प्रश्न —अगर ऐसा है, तो पच्चीस आदमियो को भोजन का निमन्त्रण देकर फिर चुपचाप बैठे रहे, तो क्या अपने आप रसोई बन जायेगी!!

उत्तर—भाई, यह तो अन्तर्दृष्टि की गहरी बात है, इसप्रकार अद्धर से यह नही जम सकती। जिसे निमंत्रण देने का विकल्प आया, वह कही वीतराग नही है, इसलिये उसे विकल्प आये बिना नही रहेगा, किन्तु जीव को विकल्प आये, तो भी वहाँ वस्तु मे क्रमबद्धरूप से जो अवस्था होना है वही होती है। यह जीव विकल्प करे, तथापि सामनेवाली वस्तु में वैसी अवस्था नही भी होती, इसलिये

विकल्प के कारण-बाह्यकार्य होते हैं—ऐसा नहीं है। और विकल्प होता है उसपर भी ज्ञानी की दृष्टि का बल नहीं है।

(१०६) "ज्ञानी क्या करते हैं"—यह अन्तर्दृष्टि के बिना नहीं जाना जा सकता

प्रश्न—शरीर में रोग का होना या मिटना यह सब अजीव की क्रमबद्धपर्याय है—ऐसा ज्ञानी जानते हैं तो भी वे दवा तो करते हैं, खाने-पीने में भी परहेज रखते हैं—सब करते हैं!

उत्तर—तुझे ज्ञायकभाव की खबर नहीं है, इसलिये अपनी बाह्यदृष्टि से तुझे ज्ञानी सब करते दिखाई देते हैं किन्तु ज्ञानी तो अपने ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से ज्ञायकभाव में ही तन्मयरूप से परिणमित हो रहे हैं राग में तन्मय होकर भी वे परिणमित नहीं होते और पर की कर्तृबुद्धि तो उनके स्वप्न में भी नहीं रही है। अन्तर्दृष्टि के बिना तुझे ज्ञानी के परिणमन की खबर नहीं पड़ सकती। ज्ञानी को अभी पूर्ण वीतरागता नहीं हुई है इसलिये अस्थिरता में अमुक रागादि होते हैं उन्हें वे जानते हैं किन्तु अकेले राग को जानने की भी प्रधानता नहीं है। ज्ञायक को जानने की मुख्यतापूर्वक राग को भी जानते हैं और अनन्तानुबन्धी रागादि उनके होते ही नहीं तथा ज्ञायकदृष्टि में स्वसन्मुख पुरुषार्थ भी चालू ही है। जो स्वच्छन्द का पोषण करें—ऐसे जीवों के लिये यह बात नहीं है।

(१०७) दो पंक्तियों में अद्भुत रचना!

अहो! दो पंक्तियों की टीका में तो आचार्यदेव ने जगत के जीव और अजीव समस्त द्रव्यों की स्वतन्त्रता का नियम रखकर अद्भुत रचना की है। जीव अपने क्रमबद्धपरिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं है इसीप्रकार अजीव भी अपने क्रमबद्धपरिणामों से उत्पन्न होता अजीव ही है जीव नहीं है। जीव अजीव की पर्याय को करता है या अजीव जीव की पर्याय को करता है'—ऐसा जो माने

उसे जीव अजीव के भिन्नत्व की प्रतीति नही रहती अर्थात् मिथ्याश्रद्धा हो जाती है।

(१०८) 'अभाव' है वहाँ 'प्रभाव' कैसे पाडे ?

प्रश्न—एक-दूसरे का कुछ कर नही सकते, किन्तु परस्पर निमित्त होकर प्रभाव तो पाडते हैं न ?

उत्तर—किस प्रकार प्रभाव पाडते हैं ? क्या प्रभाव पाडकर पर की अवस्था को कोई वदल सकता है ? कार्य हुआ उसमे निमित्त का तो अभाव है, तव फिर उसने प्रभाव कैसे पाड़ा ? जीव अपने स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से सत् है, किन्तु परवस्तु के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से वह असत् है, इसलिये परद्रव्य की अपेक्षा से वह अद्रव्य है, परक्षेत्र की अपेक्षा से वह अक्षेत्र है, परकाल की अपेक्षा से वह अकाल है, और परवस्तु के भाव की अपेक्षा से वह अभावरूप है, तथा इस जीव के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से अन्य सर्व वस्तुये अद्रव्य-अक्षेत्र-अकाल और अभावरूप हैं। तव फिर कोई किसी मे प्रभाव पाडे यह वात नही रहती। द्रव्य, क्षेत्र और भाव को तो स्वतत्र कहे, किन्तु काल अर्थात् स्वपर्याय पर के कारण (निमित्त के कारण) होती है—ऐसा माने वह भी स्वतत्र वस्तुरूप को नही समझा है। प्रत्येक वस्तु प्रतिसमय अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होती है अर्थात् उसका स्वकाल भी अपने से—स्वतत्र है।

एक पण्डितजी ऐसा कहते हैं कि—"अमुक-अमुक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव मे ऐसी शक्ति है कि निमित्त होकर दूसरे पर प्रभाव डालते हैं"—किन्तु यदि निमित्त प्रभाव डालकर पर की पर्याय को बदल देता हो तो दो वस्तुओ की भिन्नता ही कहाँ रही ? प्रभाव डालना कहना तो मात्र उपचार है। यदि पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अपनी पर्याय होना माने तो, अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से स्वयं नही है—ऐसा हो जाता है इसलिये अपनी नास्ति हो जाती है। इसी प्रकार स्वय निमित्त होकर पर की अवस्था को करे तो सामने-

वासी वस्तु की नास्ति हो जाती है। और, कोई द्रव्य पर का कार्य करे तो वह द्रव्य पररूप है—ऐसा हो गया, इसलिये अपने रूप नहीं रहा। जीव के स्वकाल में जीव है और अजीव के स्वकाल में अजीव है कोई किसी का कर्ता नहीं है।

पुनश्च, निमित्त की बलवानता बतलाने के लिये सूकरी के दूध का दृष्टान्त देते हैं कि—सूकरी के पेट में दूध तो बहुत भरा है किन्तु दूसरा कोई उसे नहीं निकाल सकता उसके छोटे-छोटे बच्चों के आकर्षक मुँह का निमित्त पाकर वह दूध झट उनके गले में उतर जाता है।—इसलिये देखो निमित्त का कितना सामर्थ्य है!—ऐसा कहते हैं किन्तु भाई! दूध का प्रत्येक रजकण अपने स्वतंत्र क्रमबद्धभाव से ही परिणमित हो रहा है। इसी प्रकार 'हल्दी और चूने के मिलने से लाल रंग हुआ तो वहाँ एक-दूसरे पर प्रभाव डालकर नई अवस्था हुई या नहीं? —ऐसा भी कोई कहते हैं, किन्तु वह बात सच्ची नहीं है। हल्दी और चूने के रजकण एकमेक हुए ही नहीं हैं उन दोनों का प्रत्येक रजकण स्वतंत्ररूप से अपने-अपने क्रमबद्धपरिणाम से ही उस अवस्थारूप उत्पन्न हुआ है किसी दूसरे के कारण वह अवस्था नहीं हुई। जिस प्रकार हार में अनेक मोती गुँथे हैं उसी प्रकार द्रव्य में अनादि-अनन्त पर्यायों की माला है उसमें प्रत्येक पर्यायरूपी मोती क्रमानुसार लगा है।

(१०९) प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्याय के साथ तद्रूप है

पहले तो आचार्यदेव ने मूल नियम बतलाया कि जीव और अजीव दोनों द्रव्य अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं अब दृष्टान्त और उसका हेतु देते हैं। यहाँ दृष्टान्त भी 'सुवर्ण' का दिया है—जिसप्रकार सुवर्ण को कभी जंग नहीं लगती उसी प्रकार यह मूलभूत नियम कभी नहीं फिरता। जिस प्रकार कंकनादि पर्यायोंरूप से उत्पन्न होनेवाले सुवर्ण का अपने कंकणादिपरिणामों के साथ तादात्म्य है उसी प्रकार सर्व द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ

तादात्म्य है। सुवर्ण मे चूडी आदि जो अवस्था हुई, उस अवस्थारूप से वह स्वय ही उत्पन्न हुआ है, स्वर्णकार नही, यदि स्वर्णकार वह अवस्था करता हो तो उसमे वह तद्रूप होना चाहिये, किन्तु स्वर्णकार और हथौडी तो एक ओर पृथक् रहने पर भी वह ककनपर्याय तो रहती है, इसलिये स्वर्णकार या हथौडी उसमे तद्रूप नही है—सुवर्ण ही अपनी कंकनादिपर्याय मे तद्रूप है। इस प्रकार सर्व द्रव्यो का अपने-अपने परिणामो के साथ ही तादात्म्य है—पर के साथ नही।

देखो, यह मेज़ पर्याय है, इसमे उस लकडी के परमाणु ही तद्रूप होकर उत्पन्न हुए हैं, बढई या आरी के कारण यह अवस्था हुई है—ऐसा नही है। यदि बढई के द्वारा यह मेज़रूप अवस्था हुई हो तो बढई इसमे तन्मय होना चाहिये, किन्तु इस समय बढई या आरी निमित्तरूप से न होने पर भी उन परमाणुओ मे मेज़पर्याय वर्त रही है, इसलिये निश्चित् होता है कि यह बढई का या आरी का काम नही है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु का—उत्पन्न होती हुई अपनी क्रमबद्ध-पर्यायो के साथ ही तादात्म्यपना है, किन्तु साथ में सयोगरूप से रहनेवाली अन्य वस्तुओ के साथ उसका तादात्म्यपना नही है।—ऐसा होने से जीव को अजीव के साथ कार्य-कारणपना नही है, इसलिये जीव अकर्ता है—यह बात आचार्यदेव युक्तिपूर्वक सिद्ध करेगे।

❋ पाँचवाँ प्रवचन ❋

[आश्विन शुक्ला १, वीर स० २४८०]

देखो, इस क्रमबद्धपर्याय में वास्तव में तो ज्ञानस्वभावी आत्मा की बात है, क्योंकि क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता कौन ? "ज्ञायक" को जाने बिना क्रमबद्धपर्याय को जानेगा कौन ? ज्ञायकस्वभाव की ओर उन्मुख होकर जो ज्ञायकभावरूप से परिणमित हुआ वह ज्ञायक हुआ अर्थात् अकर्ता हुआ, और वही क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ।

(११०) क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होनेवाला ज्ञायक पर का अकर्ता है

यह सर्वविशुद्धज्ञान-अधिकार है, सर्वविशुद्धज्ञान अर्थात् शुद्धज्ञायकभाव वह पर का अकर्ता है—यह बात यहाँ सिद्ध करना है।

अपने ज्ञायकभाव की क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव पर का कर्ता नहीं है और पर उसका कार्य नहीं है। पर्याय नई होती है उस अपेक्षा से वह 'उत्पन्न होता है' —ऐसा कहा है। पहले वह पर्याय नहीं थी और नई प्रगट हुई—इसप्रकार पहले की अपेक्षा से वह नई उत्पन्न हुई कहलाती है किन्तु उस पर्याय को निरपेक्षरूप से देखें तो प्रत्येक समय की पर्याय उस-उस समय का सत् है उसकी उत्पत्ति और विनाश—वह तो पहले के और बाद के समय की अपेक्षा से है।

'द्रव्य के बिना पर्याय नहीं होती अर्थात् द्रव्य और पर्याय—इन दो वस्तुओं के बिना कर्ताकर्मपना सिद्ध नहीं होता' —यह दलील तो तब आती है जब कर्ताकर्मपना सिद्ध करना हो किन्तु पर्याय भी निरपेक्ष सत् है' —ऐसा सिद्ध करना हो वहाँ यह बात नहीं आती। प्रत्येक समय की पर्याय भी स्वयं अपने से सत् होने से द्रव्य से नहीं आलिंगित ऐसी शुद्धपर्याय है, पर्याय द्रव्य से आलिंगित नहीं है अर्थात् निरपेक्ष है। (देखो प्रवचनसार गाथा १७२ टीका) यहाँ यह बात सिद्ध करना है कि अपनी निरपेक्ष क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव उसमें तद्रूप है। द्रव्य अपनी पर्याय के साथ तद्रूप—एकमेक है, किन्तु पर की पर्याय के साथ तद्रूप नहीं है इसलिये उसका पर के साथ कर्ताकर्मपना नहीं है —इसप्रकार ज्ञायक आत्मा अकर्ता है। यह कर्ताकर्म-अधिकार नहीं है किन्तु सर्वविशुद्धज्ञान-अधिकार है इसलिये यहाँ ज्ञायकभाव पर का अकर्ता है—ऐसा अकर्तापना सिद्ध करना है।

जीव अपने क्रमबद्ध परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही

है—अजीव नही है। "उत्पन्न होता है"—कौन उत्पन्न होता है ? जीव स्वय। जीव स्वय जिस परिणामरूप से उत्पन्न होता है उसके, साथ उसे अनन्यपना—एकपना है, अजीव के साथ उसे अनन्यपना नही है इसलिये उसे अजीव के साथ कार्यकारणपना नही है। प्रत्येक द्रव्य को—स्वय जिस परिणामरूप से उत्पन्न होता है—उसीके साथ अनन्यपना है, दूसरे के परिणामो के साथ उसे अनन्यपना नही है। इसलिये वह अकर्ता है। आत्मा भी अपने ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होता हुआ उसके साथ तन्मय है, वह अपने ज्ञानपरिणाम के साथ एकमेक है, किन्तु पर के साथ एकमेक नही है, इसलिये वह पर का अकर्ता है। ज्ञायकरूप उत्पन्न होते हुए जीव को कर्म के साथ एकपना नही है, इसलिये वह कर्म का कर्ता नही है, ज्ञायकदृष्टि मे वह नये कर्मबन्धन को निमित्त भी नही होता इसलिये वह अकर्ता ही है।

(१११) कर्म के कर्तापने का व्यवहार किसे लागू होता है ?

प्रश्न—यह तो निश्चय की बात है, किन्तु व्यवहार से तो आत्मा कर्म का कर्ता है न ?

उत्तर—ज्ञायकस्वरूप आत्मा पर जिसकी दृष्टि नही है और कर्म पर दृष्टि है, ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव ही कर्म का व्यवहार से कर्ता है—यह बात आचार्यदेव अगली गाथाओ मे कहेगे। इसलिये जिसे अभी कर्म के साथ का सम्बन्ध तोडकर ज्ञायकभावरूप परिणमित नही होना है किन्तु कर्म के साथ कर्ताकर्मपने का व्यवहार रखना है, वह तो मिथ्यादृष्टि ही है। मिथ्यात्वादि जडकर्म के कर्तापना का व्यवहार अज्ञानी को ही लागू होता है।

प्रश्न—तो फिर ज्ञानी को कौन-सा व्यवहार ?

उत्तर—ज्ञानी के ज्ञान मे तो अपने ज्ञायकस्वभाव को जानने की मुख्यता है, और मुख्य वह निश्चय है, इसलिये अपने ज्ञायकस्वभाव को जानना वह निश्चय है, और साधकदशा मे बीच में जो राग रहा है उसे जानना वह व्यवहार है। ज्ञानी को ऐसे निश्चय-व्यवहार एकसाथ

वर्तते हैं। किन्तु, मिथ्यात्वादि कर्मप्रकृति के बन्धन में निमित्त हो या व्यवहार से कर्ता हो—ऐसा व्यवहार ज्ञानी के होता ही नहीं। उसे ज्ञायकदृष्टि के परिणमन में कर्म के साथ का निमित्त-नैमित्तिक-संबंध टूट गया है। अगली गाथाओं में आचार्यदेव यह बात विस्तारपूर्वक समझायेंगे।

(११२) वस्तु का कार्यकाल

कार्यकाल कहो या क्रमबद्धपर्याय कहो जीव का जो कार्यकाल है उसमें उत्पन्न होता हुआ जीव उससे अनन्य है और अजीव के कार्यकाल से वह भिन्न है। जीव की जो पर्याय हो उसमें अनन्यरूप से जीवद्रव्य उत्पन्न होता है। उस समय जगत के अन्य जीव-अजीव द्रव्य भी सब अपने-अपने कार्यकाल में—क्रमबद्धपर्याय से—उत्पन्न होते हैं, किन्तु उन किसी के साथ इस जीव की एकता नहीं है।

उसी प्रकार अजीव का जो कार्यकाल है उसमें उत्पन्न होता हुआ अजीव उससे अनन्य है और जीव के कार्यकाल से वह भिन्न है। अजीव के एक-एक परमाणु की जो पर्याय होती है उसमें अन न्यरूप से वह परमाणु उत्पन्न होता है उसे दूसरे के साथ एकता नहीं है। शरीर का हलन-चलन हो भाषा बोली जाये—इत्यादि पर्यायोंरूप से अजीव उत्पन्न होता है वह अजीव की क्रमबद्धपर्याय है जीव के कारण वह पर्याय नहीं होती।

(११३) निषेध किसका ? निमित्तका, या निमित्ताधीनदृष्टि का ?

प्रश्नः—आप क्रमबद्धपर्याय होना कहते हैं, उसमें निमित्त का तो निषेध हो जाता है।

उत्तरः—क्रमबद्धपर्याय मानने से निमित्त का सर्वथा निषेध नहीं हो जाता किन्तु निमित्ताधीनदृष्टि का निषेध हो जाता है। पर्याय में अमुक निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध भले हो किन्तु यहाँ ज्ञायकदृष्टि में उसकी बात नहीं है। क्रमबद्धपर्याय मानने से निमित्त होने का

सर्वथा निषेध भी नही होता, तथा निमित्त के कारण कुछ होता है–यह बात भी नही रहती। निमित्त पदार्थ उसके क्रमबद्ध स्वकाल से अपने मे उत्पन्न होता है और नैमित्तिक पदार्थ भी उसके स्वकाल से अपने मे उत्पन्न होता है, इस प्रकार दोनो का भिन्न–भिन्न अपने मे परिणमन हो ही रहा है। "उपादान मे पर्याय होने की योग्यता तो है, किन्तु यदि निमित्त आये तो होती है, और न आये तो नही होती"—यह मान्यता मिथ्यादृष्टि की है। पर्याय होने की योग्यता हो और पर्याय न हो—ऐसा हो ही नही सकता। उसी प्रकार, यहाँ क्रमबद्ध-पर्याय होने का काल हो और उस समय उसके योग्य निमित्त न हो—ऐसा भी हो ही नही सकता। यद्यपि निमित्त तो परद्रव्य है, वह कही उपादान के आधीन नही है, किन्तु वह परद्रव्य उसके अपने लिये तो उपादान है, और उसका भी क्रमबद्धपरिणामन हो ही रहा है। यहाँ, आत्मा को अपने ज्ञायकस्वभावसन्मुख के क्रमबद्धपरिणामन से छट्ठे—सातवें गुणस्थान की भावलिंगी मुनिदशा प्रगट हो, वहाँ निमित्त मे द्रव्यलिंगरूप से शरीर की दिगम्बर दशा ही होती है—ऐसा उसका क्रम है। कोई मुनिराज ध्यान में बैठे हो और कोई अज्ञानी आकर उनके शरीर पर वस्त्र डाल जाये तो वह कही परिग्रह नही है, वह तो उपसर्ग है। सम्यग्दर्शन हुआ वहाँ कुदेवादि को माने ऐसा क्रमबद्ध-पर्याय मे नहीं होता, और मुनिदशा हो वहाँ वस्त्र-पात्र रखे ऐसा क्रमबद्धपर्याय मे नही होता,—इस प्रकार सर्व भूमिकाओ को समझ लेना चाहिये।

(११४) योग्यता और निमित्त (सर्व निमित्त धर्मास्तिकायवत् हैं)

'इष्टोपदेश' मे (३५ वी गाथा मे) कहा है कि कोई भी कार्य होने मे वास्तविक रूप से उसकी अपनी योग्यता ही साक्षात् साधक है, अर्थात् प्रत्येक वस्तु की अपनी योग्यता से ही कार्य होता है, वहाँ दूसरी वस्तु तो धर्मास्तिकायवत् निमित्तमात्र है। जिस प्रकार अपनी योग्यता से स्वय गति करनेवाले पदार्थों को धर्मास्तिकाय तो सर्वत्र बिछा हुआ निमित्त है, वह कही किसीको गति नही कराता, उसी

प्रकार प्रत्येक वस्तु में अपनी क्रमबद्धपर्याय की योग्यता से ही कार्य होता है, उसमें जगत की दूसरी वस्तुयें तो मात्र धर्मास्तिकायवत् हैं। देखो यह इष्ट-उपदेश। ऐसी स्वाधीनता का उपदेश ही इष्ट है, हितकारी है, यथार्थ है। इससे विपरीत मान्यता का उपदेश हो तो वह इष्ट-उपदेश नहीं है किन्तु अनिष्ट है। जनदर्शन का उपदेश कहो आत्मा के हित का उपदेश कहो इष्ट उपदेश कहो यथार्थ उपदेश कहो सत्य का उपदेश कहो अनेकान्त का उपदेश कहो या सर्वज्ञ भगवान का उपदेश कहो वह यह है कि-जीव और अजीव प्रत्येक वस्तु में अपनी-अपनी क्रमबद्धयोग्यता से ही कार्य होता है, पर से उसमें कुछ भी नहीं होता। वस्तु अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप अपनी योग्यता से ही स्वयं परिणमित हो जाता है दूसरी वस्तु तो धर्मास्ति कायवत् निमित्तमात्र है। यहाँ धर्मास्तिकाय का उदाहरण देकर पूज्यपादस्वामी ने निमित्त का स्वरूप बिलकुल स्पष्ट कर दिया है।

धर्मास्तिकाय तो समस्त लोक में सदैव ज्यों का त्यों स्थित है, जो जीव या पुद्गल स्वयं अपनी योग्यता से ही गति करते हैं उन्हें वह निमित्तमात्र है। गतिरूप से 'स्वयं परिणमित' को ही निमित्त है स्वयं परिणमित न होनेवाले को वह परिणमित नहीं कराता और न निमित्त भी होता है।

योग्यता के समय निमित्त न हो तो? ऐसी शंका करने वाला वास्तव में योग्यता को या निमित्त के स्वरूप को नहीं जानता। जिसप्रकार कोई पूछता है कि— 'जीव-पुद्गल में गति करने की योग्यता तो है किन्तु धर्मास्तिकाय न हो तो? —तो ऐसा पूछनेवाला वास्तव में जीव-पुद्गल की योग्यता को या धर्मास्तिकाय को भी नहीं जानता है क्योंकि गति के समय सदैव धर्मास्तिकाय निमित्तरूप से होता ही है अमुक में धर्मास्तिकाय न हो ऐसा कभी होता ही नहीं।

योग्यता के समय निमित्त न हो तो?

'गति की योग्यता के समय धर्मास्तिकाय न हो तो?

"पानी गर्म होने की योग्यता के समय अग्नि न हो तो ?"

"मिट्टी मे घडा होने की योग्यता के समय कुम्हार न हो तो?"

"जीव मे मोक्ष होने की योग्यता हो, किन्तु वज्रर्षभनाराच-सहनन न हो तो ?"

—यह सब प्रश्न एक ही प्रकार के—निमित्ताधीन दृष्टिवाले के—हैं। इसी प्रकार गुरु-शिष्य, क्षायकसम्यक्त्व और केवली-श्रुत-केवली-आदि सभी मे समझ लेना चाहिये। जगत मे जीव या अजीव प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने नियमित स्वकाल की योग्यता से ही परिणमित होता है, उस समय दूसरी वस्तु निमित्तरूप हो वह "गते धर्मास्तिकायवत्" है। कोई भी कार्य होने मे वस्तु की "योग्यता ही" निश्चयकारण है, दूसरा कारण कहना वह "गति मे धर्मास्तिकायवत्" उपचारमात्र है, अर्थात् वास्तव मे वह कारण नही है। अपनी क्रम-बद्धपर्यायरूप से वस्तु स्वय ही उत्पन्न होती है—यह नियम समझे तो निमित्ताधीनदृष्टि की सब गुत्थियाँ सुलझ जायें। वस्तु एक समय मे उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप है। एक समय मे अपनी क्रमबद्धपर्याय-रूप से उत्पन्न होती है, उसी समय पूर्व पर्याय से व्यय को प्राप्त होती है, और उसी समय अखण्डतारूप से ध्रुव स्थिर रहती है—इस प्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप वस्तु स्वय वर्तती है, एक वस्तु के उत्पाद-व्यय-ध्रुव मे बीच मे कोई दूसरा द्रव्य घुस जाये—ऐसा नही होता।

जिस प्रकार वास्तव मे मोक्षमार्ग तो एक ही है, किन्तु उसका निरूपण दो प्रकार से है, निश्चयरत्नत्रय को मोक्षमार्ग कहना वह तो वास्तव मे मोक्षमार्ग है, और शुभरागरूप व्यवहाररत्नत्रय को मोक्ष-मार्ग कहना वह वास्तव में मोक्षमार्ग नही है, किन्तु उपचारमात्र है।

उसी प्रकार कार्य का कारण वास्तव मे एक ही है। वस्तु की योग्यता ही सच्चा कारण है, और निमित्त को दूसरा कारण कहना वह सच्चा कारण नही है किन्तु उपचारमात्र है।

इसी प्रकार कार्य का कर्ता भी एक ही है दो कर्ता नहीं हैं। दूसरे को कर्ता कहना वह उपचारमात्र है।

(११५) प्रत्येक द्रव्य का स्वतन्त्र परिणमन जाने बिना भेदज्ञान नहीं होता

यहाँ कहते हैं कि द्रव्य उत्पन्न होता हुआ अपने परिणाम से अनन्य है इसलिये उस परिणमन के कर्ता दो नहीं होते। एक द्रव्य के परिणाम में दूसरा द्रव्य तन्मय नहीं होता इसलिये दो कर्ता नहीं होते; उसी प्रकार एक द्रव्य दो परिणाम में (अपने और पर के— दोनों के परिणाम में) तन्मय नहीं होता इसलिये एक द्रव्य दो परिणाम नहीं करता। नाटक-समयसार में पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि—

करता परिनामी दरव
करमरूप परिनाम।
किरिया परजय की फिरनी
वस्तु एक त्रय नाम॥ ७॥

अर्थात्—अवस्थारूप से जो द्रव्य परिणमित होता है वह कर्ता है, जो परिणाम होते हैं वह उसका कर्म है और अवस्था से अवस्थान्तर होना वह क्रिया है। यह कर्ता कर्म और क्रिया वस्तुरूप से भिन्न नहीं है, अर्थात् वे भिन्न-भिन्न वस्तु में नहीं रहते। पुनश्च—

एक परिनाम के न करता दरव दोइ,
दोई परिनाम एक दर्व न धरतु है।
एक करतूति दोइ दर्व कबहूँ न करैं
दोइ करतूति एक दर्व न करतु है॥
जीव पुद्गल एक खेत-अवगाही दोउ
अपनें अपनें रूप कोउ न टरतु है।
जड़ परनामनिकौ करता है पुद्गल
चिदानन्द चेतन सुभाउ आचरतु है॥ १०॥

अर्थात्—एक परिणाम के कर्ता दो द्रव्य नही होते, एक द्रव्य दो परिणामो को नही करता। एक क्रिया को दो द्रव्य कभी नही करते, तथा एक द्रव्य दो क्रियायें नही करता।

जीव और पुद्गल यद्यपि एक क्षेत्र मे रहते हैं, तथापि अपने-अपने स्वभाव को कोई नही छोडते। पुद्गल तो उसके जड-परिणाम का कर्ता है, और चिदानन्दआत्मा अपने चेतनस्वभाव का आचरण करता है।

—इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य के भिन्न-भिन्न स्वतत्र परिणमन को जवतक जीव न जाने तवतक पर से भेदज्ञान नही होता और स्वभाव मे एकता प्रगट नही होती, इसलिये सम्यग्दर्शनादि कुछ नही होते।

(११६) जो पर्याय में तन्मय हो वही उसका कर्ता

क्रमवद्धपरिणाम से परिणमित द्रव्य अपनी पर्याय के साथ एकमेक है,—यह सिद्धात समझाने के लिये आचार्यदेव यहाँ सुवर्ण का दृष्टात देते हैं। जिस प्रकार सुवर्ण मे कुण्डलादि जो अवस्था हुई उसके साथ वह सुवर्ण एकमेक है, पृथक् नही है, सुवर्ण की अवस्था से स्वर्णकार पृथक् है किन्तु सुवर्ण पृथक् नही है। उसी प्रकार जगत के जीव या अजीव सर्व द्रव्य अपनी-अपनी जो अवस्था होती है उसके साथ एकमेक हैं, दूसरे के साथ एकमेक नही हैं, इसलिये वे दूसरे के अकर्ता हैं। जो पर्याय हुई, उस पर्याय मे जो तन्मय हो वही उसका कर्ता होता है, किन्तु उससे जो पृथक् हो वह उसका कर्ता नही होता—यह नियम है। जैसे कि—

घडा हुआ, वहाँ उस घडारूप अवस्था के साथ मिट्टी के परमाणु एकमेक हैं, किन्तु कुम्हार उसके साथ एकमेक नही है, इसलिये कुम्हार उसका अकर्ता है।

वस्त्र हुआ, वहाँ उस वस्त्ररूप पर्याय के साथ ताने-बाने के परमाणु एकमेक हैं, किन्तु बुनकर उसके साथ एकमेक नही है, इसलिये वह उसका अकर्ता है।

आलमारी हुई, वहाँ उस आलमारी की अवस्था के साथ लकड़ी के परमाणु एकमेक हैं किन्तु बढ़ई उसके साथ एकमेक नहीं है, इसलिये वह उसका अकर्ता है।

रोटी हुई, वहाँ रोटी के साथ आटे के परमाणु एकमेक हैं किन्तु स्त्री (रसोई बनानेवाली) उसके साथ एकमेक नहीं है, इसलिये स्त्री रोटी की अकर्ता है।

सम्यग्दर्शन हुआ वहाँ उस पर्याय के साथ आत्मा स्वयं एकमेक है, इसलिये आत्मा उसका कर्ता है किन्तु अजीव उसमें एकमेक नहीं है इसलिये वह अकर्ता है। इसप्रकार सम्यग्ज्ञान सुख, आनन्द सिद्धदशा आदि सर्व अवस्थाओं में समझ लेना चाहिए। उस-उस अवस्थारूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही उसमें तद्रूप होकर उसका कर्ता है वह अजीव नहीं है इसलिये अजीव के साथ उसे कार्य-कारण पना नहीं है।

(११७) ज्ञाता राग का अकर्ता

यहाँ तो आचार्यदेव यह सिद्धान्त समझाते हैं कि—ज्ञायक-स्वभावसन्मुख होकर जो जीव ज्ञातापरिणामरूप से उत्पन्न हुआ वह जीव राग का भी अकर्ता है अपने ज्ञातापरिणाम में तन्मय होने से उसका कर्ता है और राग का अकर्ता है, क्योंकि राग में वह तन्मय नहीं है। ज्ञायकभाव में जो तन्मय हुआ वह राग में तन्मय नहीं होता इसलिये वह राग का अकर्ता ही है।

—ऐसे ज्ञातास्वभाव को जानना वह निश्चय है। स्वसन्मुख होकर ऐसा निश्चय का ज्ञान करे तो किस पर्याय में कैसा राग होता है और वहाँ *निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध किस प्रकार* का होता है—उस सब व्यवहार का भी यथार्थ विवेक हो जाता है।

(११८) निश्चय-व्यवहार का आवश्यक स्पष्टीकरण

कई लोग कहते हैं कि यह तो निश्चय की बात है, किन्तु

व्यवहार से तो जीव जड़कर्म का कर्ता है ! तो आचार्यदेव कहते हैं कि—अरे भाई ! जिसकी दृष्टि ज्ञायक पर नहीं है और कर्म पर है ऐसे अज्ञानी को ही कर्म के कर्तापने का व्यवहार लागू होता है, ज्ञायक-दृष्टिवाले ज्ञानी को वैसा व्यवहार लागू नहीं होता। ज्ञायकस्वभावी जीव मिथ्यात्वादि कर्म का अकर्ता होने पर भी उसे कर्म का कर्ता कहना वह व्यवहार है, और वह व्यवहार अज्ञानी को ही लागू होता है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टिवाला ज्ञानी तो अकर्ता ही है।

सुवर्ण की जो अवस्था हुई उसका स्वर्णकार अकर्ता है, तथापि उसे निमित्तकर्ता कहना वह व्यवहार है। जो कर्ता है उसे कर्ता जानना वह निश्चय, और अकर्ता को कर्ता कहना वह व्यवहार है। जीव अपनी क्रमबद्धअवस्थारूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, और अजीव अपनी क्रमबद्धअवस्थारूप से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है। जीव अजीव की अवस्था का अकर्ता है और अजीव जीव की अवस्था का अकर्ता।—इसप्रकार जैसे जीव-अजीव को परस्पर कर्तापना नहीं है उसी प्रकार उनको परस्पर कर्मपना, करणपना, सम्प्रदानपना, अपादानपना या अधिकरणपना भी नहीं है। मात्र निमित्तपने से उन्हे एक-दूसरे का कर्ता, कर्म, करण आदि कहना वह व्यवहार है। निमित्त से कर्ता यानी वास्तव मे अकर्ता, और अकर्ता को कर्ता कहना वह व्यवहार। निश्चय से अकर्ता हुआ तब व्यवहार का ज्ञान सच्चा हुआ। ज्ञायकस्वभाव की ओर ढलकर जो ज्ञाता हुआ वह राग को रागरूप से जानता है किन्तु वह राग मे ज्ञान की एकता नहीं करता, इसलिये वह ज्ञाता तो राग का भी अकर्ता है।

(११९) क्रमबद्धपर्याय का मूल

देखो, इस क्रमबद्धपर्याय मे वास्तव मे तो ज्ञानस्वभावी आत्मा की बात है, क्योंकि क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता कौन ? "ज्ञायक" को जाने बिना क्रमबद्धपर्याय को जानेगा कौन ? ज्ञायकस्वभाव की ओर ढलकर जो ज्ञायकभावरूप परिणमित हुआ वह ज्ञायक हुआ अर्थात्

अकर्ता हुआ और वही क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ। "ज्ञायक" कहो या "अकर्ता" कहो ज्ञायक पर का अकर्ता है। ज्ञायकस्वभाव की ओर झुककर ऐसा भेदज्ञान करे फिर साधकदशा में भूमिकानुसार जो व्यवहार रहा उसे ज्ञानी जानता है इसलिये 'व्यवहारनय उस काल जाना हुआ प्रयोजनवान है' —यह बात उसे लागू होती है मिथ्यादृष्टि को नहीं। मिथ्यादृष्टि तो ज्ञायक को भी नहीं जानता और व्यवहार का भी उसे सच्चा ज्ञान नहीं होता।

द्रव्य अपनी जिस क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है वह पर्याय ही उसका कार्य है, दूसरा उसका कार्य नहीं है। इसप्रकार एक कर्ता के दो कार्य नहीं होते इसलिये जीव अजीव को परस्पर कार्य कारणपना नहीं है। निगोद से लेकर सिद्ध तक के समस्त जीव और एक परमाणु से लेकर अचेतन महास्कन्ध तथा दूसरे चार अजीव द्रव्य—उन सबको अपने-अपने उसकाल के क्रमबद्ध उत्पन्न होनेवाले परिणामों के साथ तद्रूपपना है। पर्यायें अनादि अनन्त क्रमबद्ध होने पर भी उनमें वर्तमान रूप से तो एक ही पर्याय वर्तती है, और उस-उस समय वर्तती हुई पर्याय में द्रव्य तद्रूपता से वर्त रहा है। वस्तु को तो जब देखो तब वर्तमान है जब देखो तब वर्तमान उस समय की पर्याय सत् है, उस वर्तमान के पहले हो जानेवाली पर्यायें भूतकाल में हैं और बाद में होनेवाली पर्यायें भविष्य में हैं वर्तमान पर्याय एक समय भी आगे-पीछे होकर भूत या भविष्य की पर्यायरूप नहीं हो जाती उसी प्रकार भविष्य की पर्याय भूतकाल की पर्यायरूप नहीं होती या भूतकाल की पर्याय भविष्य की पर्यायरूप नहीं हो जाती। अनादि-अनन्त प्रवाहक्रम में प्रत्येक पर्याय अपने-अपने स्थान पर ही प्रकाशित रहती है इसप्रकार पर्यायों की क्रमबद्धता है।—यह बात प्रवचनसार की ९९ वीं गाथा में प्रदेशों के विस्तारक्रम का दृष्टान्त देकर अलौकिक रीति से समझाई है।

(१२०) क्रमबद्धपर्याय में क्या-क्या आया ?

प्रश्न— 'क्रमबद्ध' कहने से भूतकाल की पर्याय भविष्यरूप

या भविष्य की पर्याय भूतकालरूप नही होती—यह बात तो ठीक है, किन्तु इस समय यह पर्याय ऐसी ही होगी—यह बात इस क्रमबद्ध-पर्याय मे कहाँ आई ?

उत्तर —क्रमबद्धपर्याय मे जिस समय के जो परिणाम हैं वे सत् हैं, और उस परिणाम का स्वरूप कैसा होता है वह भी उसमें साथ ही आ जाता है। "मैं ज्ञायक हूँ" तो मेरे ज्ञेयरूप से समस्त पदार्थों के तीनोकाल के परिणाम क्रमबद्ध सत् है—ऐसा निर्णय उसमे हो जाता है। यदि ऐसा न माने तो उसने अपने ज्ञायकस्वभाव के पूर्ण सामर्थ्य को ही नही माना है। मैं ज्ञायक हूँ और पदार्थों मे क्रमबद्ध-पर्याय होती है—यह बात जिसे नही जमती उसे निश्चय-व्यवहार के या निमित्त-उपादान आदि के झगडे खडे होते हैं, किन्तु यह निर्णय करे तो सब झगडे शान्त हो जायें और भूल दूर होकर मुक्ति हुए बिना न रहे।

(१२१) जहाँ रुचि वहाँ जोर

"निमित्त से और व्यवहार से तो आत्मा कर्म का कर्ता है न !—ऐसा अज्ञानी जोर देता है, किन्तु भाई ! तेरा जोर उल्टा है, तू कर्म की ओर जोर देता है किन्तु "आत्मा अकर्ता है—ज्ञान ही है"—इसप्रकार ज्ञायक पर जोर क्यो नही देता ? जिसे ज्ञायक की रुचि नही है और राग की रुचि है वही कर्म के कर्तापने पर जोर देता है।

क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय करनेवाला काल के प्रवाह की ओर नही देखता, किन्तु ज्ञायकस्वभाव की ओर देखता है, क्योंकि वस्तु की क्रमबद्धपर्याय कही काल के कारण नही होती। कालद्रव्य तो परिणमन में सर्व द्रव्यो को एकसाथ निमित्त है, तथापि कोई परमाणु स्कन्ध मे जुडे, तो उसी समय दूसरा परमाणु उसमे से पृथक् होता है, एक जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है और दूसरा जीव उसी समय केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है,—इसप्रकार जीव-अजीव द्रव्यो मे अपनी-अपनी योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न अवस्थारूप से क्रमबद्ध परिणाम होते

है। इसलिये, अपने ज्ञानपरिणाम का प्रवाह जहाँ से बहता है—ऐसे ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि रखकर ही क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ ज्ञान होता है।

(१२२) तद्रूप और कद्रूप; [ज्ञानी को दिवाली, अज्ञानी को होली]

क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होनेवाला द्रव्य अपने परिणाम के साथ "तद्रूप" है—ऐसा न मानकर दूसरा कर्ता माने तो उसने द्रव्य के साथ पर्याय को तद्रूप नहीं माना किन्तु पर के साथ तद्रूप माना इसलिये उसकी मान्यता कद्रूप हुई—मिथ्या हुई। पर्याय को अन्तरोन्मुख करके ज्ञायकभाव के साथ तद्रूप करना चाहिये उसके बदले पर के साथ तद्रूप मानकर कद्रूप की, उसने दिवाली के बदले होली की है। जिस प्रकार होली के बदले दिवाली के त्योहार में मुँह पर कालिख पोतकर मुंह काला कर ले तो उसे मूर्ख कहा जायेगा उसी प्रकार "दि वाली" यानी अपनी निर्मल स्वपर्याय उसमें स्वयं तद्रूप होना चाहिये उसके बदले अज्ञानी पर के साथ अपनी तद्रूपता मानकर अपनी पर्याय को मलिन करता है, इसलिये वह दिवाली के बदले अपने गुणों की होली जलाता है। भाई, 'दि' अर्थात् स्वकाल की पर्याय उसे 'वाल' (झुका) अपने आत्मा में—तो तेरे घर पर दिवाली के दीपक जगमगा उठें अर्थात् सम्यग्ज्ञान के दीप जल उठें और मिथ्यात्व की होली दूर हो जाये। स्वकाल की पर्याय को अन्तरोन्मुख न करके पर के साथ एकत्व मानकर उस विपरीत मान्यता में अज्ञानी अपने गुणों को होम (जला) देता है इसलिये उसके गुणों की होली जलती है—गुणों की निर्मलदशा प्रगट होने के बदले मलिनदशा प्रगट होती है उसमें आत्मा की शोभा नहीं है।

स्वभावसन्मुख होकर क्रमबद्ध आये हुए निर्मल स्वकाल के साथ तद्रूपता धारण करे उसमें आत्मा की शोभा और प्रभुता है। अपनी-अपनी पर्याय के साथ तद्रूपता धारण करे उसीमें प्रत्येक द्रव्य की प्रभुता है यदि उसकी पर्याय में दूसरा कोई तद्रूप होकर उसे करे

तो उसमे द्रव्य की प्रभुता नही रहती, अथवा आत्मा स्वय पर के साथ तद्रूपता मानकर उसका कर्ता होने जाये तो उसमे भी अपनी या पर की प्रभुता नही रहती। जो पर का कर्ता होने जाये वह अपनी प्रभुता को भूलता है। क्रमवद्धपर्याय का ज्ञातापना न मानकर उसमे उल्टा-सीधा करना माने तो वह जीव अपने ज्ञाताभाव के साथ तद्रूप न रहकर मिथ्यादृष्टि—कद्रूप हो जाता है।

(१२३)—यह है जैनशासन का सार !

अहो, प्रत्येक द्रव्य स्वय ही अपनी क्रमवद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ उस-उस परिणाम मे तद्रूप होकर उसे करता है, किन्तु दूसरे परिणाम को नही करता,—इस एक सिद्धान्त मे छहो द्रव्यो के तीनोकाल के परिणमन के हल की चावी आ जाती है, सब समाधान हो जाते हैं। मैं ज्ञायक, और पदार्थों मे स्वतत्र क्रमवद्धपरिणमन—वस ! इसमे सव सार आ गया। अपने ज्ञायक स्वभाव का और पदार्थों के क्रमवद्धपरिणाम की स्वतत्रता का निर्णय करके, स्वय अपने ज्ञायक-स्वभाव मे अभेद होकर परिणमित हुआ, वहाँ स्वय ज्ञायक ही रहा और पर का अकर्ता हुआ, उसका ज्ञान रागादि से पृथक् होकर "सर्वविशुद्ध" हुआ।—इसका नाम जैनशासन और इसका नाम धर्म।

"योग्यता को ही" कार्य की साक्षात् साधक कहकर इष्टोपदेश मे स्वतत्रता का अलौकिक उपदेश किया है। "इष्टोपदेश" को "जैन का उपनिषद्" भी कहते है। वास्तव मे, वस्तु की स्वतत्रता बतलाकर आत्मा को अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर ले जाये वही इष्ट-उपदेश है, और वही जैनधर्म का मर्म है, इसलिये जैन का उपनिषद् है।

(१२४) "—विरला बूझे कोई !"

यह बात समझे विना उपादान-निमित्त का भी यथार्थ ज्ञान नही होता। उपादान और निमित्त दोनो वस्तुयें हैं अवश्य, उनका ज्ञान कराने के लिये शास्त्रो मे उनका वर्णन किया है, वहाँ अज्ञानी अपनी विपरीत दृष्टि से उपादान-निमित्त के नाम से उल्टा स्व-पर की

एकत्वबुद्धि का पोषण करता है, "देखो शास्त्र में निमित्त तो कहा है न? वो कारण तो कहे हैं न?"—ऐसा कहकर उल्टा स्व–पर की एकत्वबुद्धि को घोंटता है। पं० बनारसीदासजी कहते हैं कि—

उपादान निजगुण जहाँ तहाँ निमित्त पर होय।
भेदज्ञान परमाण विधि विरला बूझे कोय ॥ ४ ॥

अर्थात्—जहाँ उपादान की अपनी निजशक्ति से कार्य होता है वहाँ दूसरी वस्तु निमित्त होती है इसप्रकार उपादान और निमित्त दोनों वस्तुयें तो हैं किन्तु वहाँ उपादान की अपनी योग्यता से ही कार्य होता है, और निमित्त तो उसमें अभावरूप—अकिंचित्कर है—ऐसी भेदज्ञान की यथार्थ विधि कोई विरले ही जानते हैं अर्थात् सम्यक्त्वी जानते हैं।

(१२५) यहाँ सिद्ध करना है—आत्मा का अकर्तृत्व

अभी तक आचार्यदेव ने यह बात सिद्ध की है कि—'प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है अजीव नहीं है इसी प्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है जीव नहीं है क्योंकि जिस प्रकार सुवर्ण का कंकणादि परिणामों के साथ तादात्म्य है उसी प्रकार सर्व द्रव्यों को अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है।

अब इस सिद्धान्त पर से जीव का अकर्तृत्व सिद्ध करने के लिये आचार्यदेव कहते हैं कि—'इसप्रकार जीव अपने परिणामोंसे उत्पन्न होता है, तथापि उसका अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता×××' कर्ता होकर अपने ज्ञायकपरिणामरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव कर्म के बन्धन का भी कारण हो—ऐसा नहीं होता। इस प्रकार उसका अकर्तृत्व है।

(१२६) "एक" का कर्ता 'दो" का कर्ता नहीं है (ज्ञायक के अकर्तृत्व की सिद्धि)

प्रश्न.—यदि जीव अपने परिणाम मे उत्पन्न होता है और उसमे तद्रूप होकर उसे करता है, तो एक के साथ दूसरे का भी करे उसमे क्या हर्ज ? "एक का ग्वाला वह दो का ग्वाला"—यानी जो ग्वाल एक गाय चराने ले जाता है वह साथ मे दो ले जाये तो उनमें उसे क्या परिश्रम ? अथवा "एक की रसोई बनाना, वहाँ साथ मे दो की बना लेना ।" उसी प्रकार कर्ता होकर एक अपना करे वह साथ मे दूसरे का भी कर दे तो क्या हर्ज ? जीव स्वय ज्ञायकरूप से उत्पन्न भी हो और कर्म को भी बांध ले—इसमे क्या आपत्ति है ?

उत्तर —प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय के साथ तद्रूप है, इसलिये उसे तो करता है, किन्तु पर के साथ तद्रूप नही है इसलिये उसका वह कर्ता नही है । पर के साथ तद्रूप हो तभी पर को करे, किन्तु ऐसा तो कभी हो नही सकता । इसलिये "गाय के ग्वाले" जैसी लौकिक कहावत यहाँ लागू नही होती । स्वभाव-सन्मुख होकर जो जीव अपने ज्ञायकभावरूप से परिणमित हुआ, वह अपने ज्ञायकभाव के साथ तद्रूप है, इसलिये उसका तो वह कर्ता है, किन्तु रागादिभावो के साथ वह तद्रूप नही है इसलिये वास्तव मे राग का कर्ता नही है, इसलिये कर्म के कर्तृत्व का व्यवहार भी उसे लागू नही होता । इससे आचार्यदेव कहते हैं कि—"जीव अपने परिणामो से उत्पन्न होता है, तथापि उसे अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नही होता ।"

कौन-सा जीव ? कहते हैं कि ज्ञानी,

कैसे परिणाम ? कहते हैं कि ज्ञाता-दृष्टा के निर्मल परिणाम—ज्ञानी अपने ज्ञाता-दृष्टा को निर्मल परिणामरूप से उत्पन्न होता है, किन्तु अजीव कर्मों के बन्ध का कारण नही होता, क्योंकि उसे अपने ज्ञायकभाव के साथ ही एकता है, रागादि की कर्म के साथ एकता नहीं

है, इसलिये वह रागादि का और कर्म का अकर्ता ही है। जीव अपने ज्ञायकपरिणाम का कर्ता हो और साथ ही साथ अजीव में नये कर्म बाँधने में भी निमित्त हो—ऐसा नहीं होता। नये कर्मों में यहाँ मुख्यरूप से मिथ्यात्वादि ४१ प्रकृतियों की बात लेना है,—उनका बन्धन ज्ञानी को होता ही नहीं। ज्ञानी को अपने निर्मल ज्ञान परिणाम के साथ कार्यकारणपना है किन्तु अजीव के साथ या रागादि के साथ उसे कार्य कारणपना नहीं है इसलिये वह अकर्ता ही है।

(१२७) व्यवहार–कौनसा ? और किसको ?

प्रश्नः—यह तो निश्चय की बात हुई, अब व्यवहार समझाइये ?

उत्तरः—जो यह निश्चयस्वरूप समझ ले उसे व्यवहार की खबर पड़ती है। ज्ञाता जागृत हुआ और स्व–परप्रकाशक शक्ति विकसित हुई तब निमित्त और व्यवहार कैसे होते हैं उन्हें वह जानता है। स्वयं राग से अधिक होकर ज्ञायकरूप से परिणमित होता हुआ चारित्र में अस्थिरता का जो राग है उसे भी जानता है—वह ज्ञानी का व्यवहार है। किन्तु जहाँ निश्चय का भान नहीं है ज्ञाता जागृत नहीं हुआ है वहाँ व्यवहार को जानेगा कौन ? वह अज्ञानी तो राग को भला जानते हुए उसीमें एकता मान लेता है इसलिये उसे तो राग ही निश्चय हो गया राग से पृथक कोई राग का ज्ञाता नहीं रहा। यहाँ तो जागृत होकर ज्ञान की अधिकतारूप से परिणमित होता हुआ शेष अल्प राग को भी जाने वह व्यवहार है। परमार्थज्ञेय तो अपना ज्ञायक आत्मा ही है और राग वह ज्ञानी का व्यवहार ज्ञेय है। किन्तु जिसे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं है और 'कर्म का व्यवहार–कर्ता तो हूँ न !' —ऐसी दृष्टि है उसके लिये आचार्यदेव अगली गाथा में कहेंगे कि कर्म के साथ कर्तापना का व्यवहार अज्ञानी—मिथ्यादृष्टि को ही लागू होता है।

❋ छठवाँ प्रवचन ❋

[आश्विन शुक्ला २, वीर स. २४८०]

भाई, पचपरमेष्ठी भगवान ही हमारे "पच" हैं। ज्ञायकस्वभाव और क्रमवद्धपर्याय का यह जो वस्तुस्वरूप कहा जा रहा है उसी प्रकार अनादि से पचपरमेष्ठी भगवन्त कहते आये हैं, और महाविदेह में विराजमान सीमधरादि भगवन्त इस समय भी यही उपदेश दे रहे हैं। इसके सिवा अज्ञानी विपरीत माने, तो भले माने किन्तु यहाँ तो पचपरमेष्ठी भगवन्तो को पचरूप से रखकर यह बात कही जा रही है।

(१२८) ज्ञायक वस्तुस्वरूप, और अकर्तृत्व

इस "सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार" को "शुद्धात्मद्रव्य अधिकार" भी कहा जाता है। ज्ञायकस्वभावी शुद्ध आत्मद्रव्य का स्वरूप क्या है वह आचार्यदेव बतलाते हैं। आत्मा का स्वभाव तो ज्ञायक है, ज्ञाता है, वह ज्ञायकस्वभाव न तो पर का कर्ता है, और न राग का। कर्ता होकर पर की अवस्था उत्पन्न करे ऐसा तो ज्ञायक का स्वरूप नही है, और न राग मे कर्ताबुद्धि भी उसका स्वभाव है, राग भी उसके ज्ञेयरूप ही है। राग मे तन्मय होकर नही, किन्तु राग से अधिक रहकर—भिन्न रहकर ज्ञायक उसे जानता है। ऐसा ज्ञायक–वस्तुस्वरूप समझे तो ज्ञातृत्व और कर्तृत्व के सारे गर्व दूर हो जायें।

यहाँ जीव को समझाना है कि तू ज्ञायक है, पर का अकर्ता है। "ज्ञायक" ज्ञाता–दृष्टा परिणाम के अतिरिक्त दूसरा क्या करे? ऐसे अपने ज्ञायकस्वभाव को जानकर जो स्वसन्मुख निर्मल परिणामरूप से परिणमित हुआ वह ज्ञानी ऐसा जानता है कि प्रतिसमय मेरे ज्ञान के जो निर्मल क्रमबद्धपरिणाम होते हैं उन्हीमे मैं तन्मय हूँ, राग में या पर में मैं तन्मय नही हूँ, इसलिये उनका मैं अकर्ता हूँ।

अजीव भी अपने क्रमबद्ध होनेवाले जड़ परिणामों के साथ तन्मय है और दूसरों के साथ तन्मय नहीं है इसलिये वह अजीव भी पर का अकर्ता है किन्तु यहाँ उसकी मुख्यता नहीं है यहाँ तो जीव का अकर्तृत्व सिद्ध करना है, जीव को यह बात समझाना है।

(१२९) दृष्टि बदलकर सम्यग्दर्शन प्रगट करे, वही इस उपदेश का रहस्य समझा है

यह आत्मा के ज्ञायकभाव की बात है, इसे समझ ले तो अपूर्व सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हो और उसके साथ अतीन्द्रिय आनन्द के अंश का वेदन हो। दृष्टि को बदले तो यह बात जीव की समझ में आ सकती है। यह वस्तु मान करने के लिये नहीं है किन्तु समझकर दृष्टि को अन्तरोन्मुख करने के लिये यह उपदेश है। क्रमबद्ध पर्याय तो अजीव में भी होती है, किन्तु उसे कहीं ऐसा नहीं समझाना है कि तू अकर्ता है इसलिये दृष्टि को बदल! यहाँ तो जीव को समझाना है। अज्ञानी जीव अपने ज्ञायकस्वभाव को भूलकर 'मैं पर का कर्ता'—ऐसा मान रहा है उसे यहाँ समझाते हैं कि भाई! तू तो ज्ञायक है जीव और अजीव सब द्रव्य अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्याय में परिणमित हो रहे हैं तू उनका ज्ञायक है किन्तु किसी पर का कर्ता नहीं है। "मैं ज्ञायक स्वभाव पर का अकर्ता अपनी ज्ञानपर्याय में क्रमबद्ध परिणमित होता हूँ—ऐसा समझकर स्वद्रव्य की दृष्टि करने से सम्यग्ज्ञान होता है। दृष्टि की दिशा स्वोन्मुख करे तभी क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय होता है और उसके अपने में निर्मल पर्याय का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। मेरी सब पर्यायें क्रमबद्ध-क्रमानुसार होती हैं—ऐसा निर्णय करते हुए, उन पर्यायों-रूप से परिणमित होनेवाले ऐसे ज्ञायकद्रव्य की ओर दृष्टि जाती है। मेरा क्रमबद्धपरिणमन मुझमें और पर का क्रमबद्धपरिणमन पर में, पर के क्रम में मैं नहीं हूँ और मेरे क्रम में पर नहीं है—ऐसा यथार्थ भेदज्ञान करने से "मैं पर का कुछ करूँ"—ऐसी दृष्टि छू-

जाती है, और ज्ञायकस्वभावोन्मुखदृष्टि होती है। उस स्वसन्मुख दृष्टि का परिणमन होने से ज्ञान, आनन्द, वीर्यादि समस्त गुणो मे भी स्वाश्रय से अशतः निर्मल परिणमन हुआ।

(१३०) जैनधर्म की मूल बात

पडित या त्यागी नाम धारण करनेवाले कितनो को तो अभी "सर्वज्ञ" की तथा क्रमबद्धपर्याय की भी श्रद्धा नही है। किन्तु यह तो जैनधर्म की मूल बात है, इसका निर्णय किये बिना सच्चा जैनत्व होता ही नही। यदि केवलज्ञान तीनकाल की समस्त पर्यायो को न जाने तो वह केवलज्ञान काहे का ? और यदि पदार्थों की तीनोकाल की समस्त पर्यायें व्यवस्थित—क्रमबद्ध ही न हो तो केवलीभगवान ने देखा क्या ?

(१३१) "सर्वभावांतरच्छिदे"

समयसार का मागलिक करते हुए पहले ही कलश मे आचार्य-देव ने कहा है कि—

नमः समयसाराय
स्वानुभूत्या चकासते
चित्स्वभावाय भावाय
सर्वभावातरच्छिदे ॥ १ ॥

"समयसार" अर्थात् शुद्ध आत्मा को नमस्कार करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि मैं साधक हूँ, इसलिये मेरा परिणमन अतर में नमता है, मैं शुद्धात्मा मे परिणमित होता हूँ।—कैसा है शुद्धात्मा ? प्रथम तो स्वानुभूति से प्रकाशमान है यानी स्वसन्मुख ज्ञानक्रिया द्वारा ही वह प्रकाशमान है, राग द्वारा या व्यवहार के अवलम्बन द्वारा वह प्रकाशित नही होता। और कहा है कि वह ज्ञानस्वभावरूप वस्तु है, तथा स्वय से अन्य समस्त भावो का भी ज्ञाता है। इस प्रकार जीव का ज्ञान स्वभाव है और वह तीनोकाल की क्रमबद्धपर्यायो को जानता है—यह बात भी उसमे आ गई।

(११२) ज्ञान में जो पर को जानने की शक्ति है वह अभूतार्थ नहीं है

प्रश्न—जीव का ज्ञान स्वभाव है और केवलज्ञान होने पर वह सर्व पदार्थों की तीनोंकाल की क्रमबद्धपर्यायों को जानता है—ऐसा आप कहते हैं, किन्तु नियमसार की १५९ वीं तथा १६६ वीं गाथा में कहा है कि केवलीभगवान निश्चय से स्व को जानते-देखते हैं और लोकालोक को तो व्यवहार से जानते-देखते हैं तथा समयसार की ११ वीं गाथा में व्यवहार को अभूतार्थ कहा है इसलिये 'सर्वज्ञभगवान ने तीनकाल की समस्त पर्यायों को जाना है और तदनुसार ही पदार्थों में क्रमबद्धपरिणमन होता है'—यह बात ठीक नहीं है !! (—ऐसा प्रश्न है।)

उत्तर—भाई, तुझे सर्वज्ञ की भी श्रद्धा नहीं रही ? शास्त्रों की ओट में तू अपनी विपरीत दृष्टि का पोषण करना चाहता है किन्तु सर्वज्ञ की श्रद्धा के बिना तुझे शास्त्रों का एक अक्षर भी यथार्थरूप से समझ में नहीं आ सकता। ज्ञान पर को व्यवहार से जानता है—ऐसा कहा, वहाँ ज्ञान में जानने की शक्ति कहीं व्यवहार से नहीं है, जानने की शक्ति तो निश्चय से है किन्तु पर के साथ एकमेक होकर अथवा तो पर सन्मुख होकर केवलज्ञान उसे नहीं जानता इसलिये व्यवहार कहा है। स्व को जानते हुए अपने में एकमेक होकर जानता है इसलिये स्व-परप्रकाशपने को निश्चय कहा और पर में एकमेक नहीं होता इसलिये परप्रकाशकपने को व्यवहार कहा है। किन्तु ज्ञान में स्व-परप्रकाशक शक्ति है वह तो निश्चय से ही है वह कहीं व्यवहार नहीं है। 'सवभावावरणियारे'—ऐसा कहा उसमें क्या दोष रह गया ?—वह कहीं व्यवहार से नहीं कहा है। और १६० वीं गाथा में 'जो णाणणाणदरिसी   अर्थात् आत्मा स्वयं ही ज्ञान होने के कारण विश्व को (सर्व पदार्थों को) सामान्य-विशेषरूप से जानने के स्वभाववाला है—ऐसा कहा वह कहीं व्यवहार से नहीं कहा है किन्तु निश्चय से ऐसा ही है। ज्ञान में स्व-

पर को जानने की शक्ति है वह कही व्यवहार या अभूतार्थ नही है। अरे ! स्वच्छन्द से कही हुई अपनी बात को सिद्ध करने के लिये, ज्ञान-स्वभाव के सामर्थ्य को भी अभूतार्थ कहकर उडाये, और उसी पर कुन्दकुन्द भगवान जैसे आचार्यों के नाम से बात करे—यह तो मूढ जीवो का महान गजब है ! और जो उनकी ऐसी बात को स्वीकार करते हैं उन्हे भी वास्तव में सर्वज्ञदेव की श्रद्धा नही है।

(१३३) सर्वज्ञस्वभाव का निर्णय करे उसे पुरुषार्थ की शंका नहीं रहती

अब, अनेक जीव यों ही (निर्णय विना) सर्वज्ञ को मानते हैं, उन्हे ऐसा प्रश्न उठता है कि—यदि सर्वज्ञभगवान के देखे अनुसार ही क्रमवद्ध होता है और उस क्रम में फेरफार नही हो सकता,—तो फिर जीव को पुरुषार्थ करना कहाँ रहा ? तो उससे कहते है कि हे भाई ! तूने अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया है ?—सर्वज्ञ का निर्णय किया है ? तू अपने ज्ञानस्वभाव का और सर्वज्ञ का निर्णय कर तो तुझे खबर पडेगी कि क्रमवद्धपर्याय मे पुरुपार्थ किस प्रकार आता है ? पुरुषार्थ का यथार्थ स्वरूप ही अभी लोगों की समझ में नही आया है। अनादिकाल से पर मे और राग में ही स्वत्व मानकर मिथ्यात्व के अनन्त दुःख का अनुभव कर रहा है, उसके वदले ज्ञायक-स्वभाव का निर्णय होने से वह विपरीत मान्यता छूट गई और ज्ञायकभाव की ओर दृष्टि ढली, वहाँ अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्द के अंश का अनुभव होता है,—इसीमें अपूर्व पुरुषार्थ आ जाता है। ज्ञायकस्वभाव को दृष्टि में लेकर उसका अनुभव करने से पुरुषार्थ, ज्ञान, श्रद्धा, आनन्द, चारित्र—इन समस्त गुणो का परिणमन स्वोन्मुख हुआ है। स्वसन्मुख होकर ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया उसमे केवलज्ञान का निर्णय, क्रमवद्धपर्याय का निर्णय, भेदज्ञान, सम्यग्दर्शन, पुरुषार्थ, मोक्षमार्ग—यह सब एकसाथ आ गया है।

(१२४) निर्मल क्रमबद्धपर्याय कब प्रारम्भ होती है ?

सर्व द्रव्य अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं और उसमें वे तद्रूप हैं—जीव अपनी पर्याय से उत्पन्न होता है तथापि वह अजीव को उत्पन्न नहीं करता इसलिये अजीव के साथ उसे कार्यकारणपना नहीं है। ऐसा होने पर भी, अज्ञानी अपनी दृष्टि अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर न घुमाकर, "मैं पर का कर्ता" —ऐसी दृष्टि से अज्ञानरूप परिणमित होता है, और इसलिये वह मिथ्यात्वादि कर्मों का निमित्त होता है। क्रमबद्ध तो क्रमबद्ध ही है, किन्तु अज्ञानी अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय नहीं करता इसलिये उसकी क्रमबद्ध पर्याय शुद्ध न होकर विकारी होती है। यदि ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करे तो दृष्टि बदल जाये और मोक्षमार्ग की निर्मल क्रमबद्धपर्याय प्रारम्भ हो जाये।

(१२५) "मात्र दृष्टि की भूल है"

चैतन्यमूर्ति आत्मा ज्ञानस्वभाव है वह स्व-पर का प्रकाशक है, इसलिये पदार्थ जैसे हैं वैसा ही उनको जाननेवाला है, किन्तु किसी को आगे-पीछे करनेवाला नहीं है। भाई! जगत के समस्त पदार्थों में जिस पदार्थ की जिस समय जो अवस्था होना है वह होना ही है द्रव्य किसी परद्रव्य की अवस्था में फेरफार करने की सामर्थ्य नहीं रखता —तो अब तुझे क्या करना रहा? अपने ज्ञायकस्वभाव को चूककर, "मैं पर का कर्ता" —ऐसी दृष्टि में अटका है उसकी गुलाँट मारकर ज्ञानस्वभाव की ओर अपनी दृष्टि घुमा! ज्ञायक की ओर दृष्टि करने से क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता रह जाता है, वह ज्ञाता अपने निर्मल ज्ञानादि-परिणामों का तो कर्ता है, किन्तु रागादि का या कर्म का कर्ता वह नहीं है। ऐसे ज्ञातास्वभाव को जो न जाने और पर का कर्ता होकर उसकी क्रमबद्ध पर्याय को बदलने जाये तो उस जीव को सर्वज्ञ की भी सच्ची श्रद्धा नहीं है। जिस प्रकार सर्वज्ञभगवान ज्ञाता-दृष्टापने का ही कार्य करते हैं किसी के परिणमन को नहीं बदलते उसीप्रकार इस आत्मा का स्वभाव भी ज्ञाता दृष्टापने का कार्य करना ही है।

पुण्य–पाप अधिकार की १६० वी गाथा मे आचार्यदेव कहते है कि —

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरण्ण णिएणवच्छण्णो ।
समारसमावण्णो ण विजाणदि सव्वदो मव्व ॥
—यह सर्वज्ञानी-दर्शि भी, निजकर्म रज आच्छाद से ।
ससार प्राप्त, न जानता वो सर्व को सब रीत से ॥१६०॥

ज्ञानस्वरूपी आत्मा तो सर्व का ज्ञायक तथा दर्शक है, किन्तु अपने ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर उसकी प्रतीति नही करता, इसीलिये वह अज्ञानरूप से वर्तता है। सर्व को जाननेवाला जो अपना सर्वज्ञ-स्वभाव अर्थात् ज्ञायकस्वभाव, अपने अपराध के कारण उसे स्वयं नही जानता, इसलिये ज्ञाता–दृष्टापने का परिणमन न होकर अज्ञान के कारण विकार का परिणमन होता है। ज्ञानस्वभाव की प्रतीति होने के पश्चात् ज्ञानी को अस्थिरता के कारण अमुक रागादि होते हैं और ज्ञान का परिणमन अल्प होता है—उसकी यहाँ मुख्यता नही है, क्योकि ज्ञानी को ज्ञाता–दृष्टापने की ही मुख्यता है, ज्ञायकदृष्टि के परिणमन मे राग का कर्तापना नही है।

(१३६) "पुरुषार्थ" भी न उड़े...और..."क्रम" भी न टूटे !

अपनी क्रमबद्धपर्याय मे ज्ञातापने का कार्य करता हुआ जीव दूसरे का भी कार्य करे—ऐसा नही होता, इस प्रकार ज्ञायकजीव अकर्ता है। जड या चेतन, ज्ञानी या अज्ञानी,—सब अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप ही उत्पन्न होते हैं।

ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से पुरुषार्थ होता है, तथापि पर्याय का क्रम नहीं टूटता,
ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, तथापि पर्याय का क्रम नही टूटता,
ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से चारित्रदशा होती है, तथापि पर्याय का क्रम नही टूटता,

ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से आनन्द प्रगट होता है तथापि पर्याय का क्रम नहीं टूटता'

ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से केवलज्ञान होता है तथापि पर्याय का क्रम नहीं टूटता

देखो यह वस्तुस्थिति ! पुरुषार्थ भी नहीं उड़ता और क्रम भी नहीं टूटता। ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्रादि का पुरुषार्थ होता है, और वसी निर्मलदशायें होती जाती हैं तथापि पर्याय की क्रमबद्धता नहीं टूटती।

(१२७) अज्ञानी को क्या करना चाहिये ?

प्रश्न—हम तो अज्ञानी हैं, हमें क्या करना चाहिये ? क्या क्रमबद्ध मानकर बैठे रहें ?

उत्तर:—भाई ! अज्ञानी को अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय करना चाहिये। स्वसन्मुख पुरुषार्थ द्वारा जहाँ ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया वहाँ क्रमबद्ध का भी निर्णय हुआ और अपनी क्रमबद्धपर्याय में जो-निर्मल पर्याय का क्रम था वही पर्याय आकर उपस्थित हो गई। स्वसन्मुख पुरुषार्थ से रहित तो क्रमबद्ध की मान्यता भी सच्ची नहीं है। ज्ञानस्वभाव का आश्रय करके परिणमित होने से, यद्यपि पर्याय का क्रम आगे-पीछे नहीं होता तथापि सम्यग्दर्शनादि का परिणमन हो जाता है और अज्ञानदशा छूट जाती है। इसलिये 'अज्ञानी को क्या करना चाहिये' —इसका उत्तर यह है कि अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके अज्ञान दूर करना चाहिये। प्रश्न ऐसा था कि—"क्या हम बैठे रहें ? —किन्तु भाई ! बैठ रहने की व्याख्या क्या ? यह जड़ शरीर बैठा रहे तो इसके साथ कहीं धर्म का सम्बन्ध नहीं है। अज्ञानी अनादिकाल से राग के साथ एकत्वबुद्धि करके उस राग में ही बैठा है—राग में ही स्थित है, उसके बदले ज्ञायकस्वभाव में एकता करके उसमें बैठे—अर्थात् एकाग्र हो तो अज्ञान दूर हो और सम्यग्दर्शनादि शुद्धता का अपूर्व क्रम प्रारम्भ हो।—इसका नाम धर्म है।

(१३८) एक बिना सब व्यर्थ !

मैं ज्ञाता ही हूँ और पदार्थ क्रमबद्ध परिणमित होनेवाले हैं—ऐसा जो नही मानता वह केवलीभगवान को, आत्मा के ज्ञानस्वभाव को, पंचपरमेष्ठी भगवन्तो को या शास्त्र को नही मानता, जीव-अजीव की स्वतन्त्रता या सात तत्त्वो की उसे श्रद्धा नही है, मोक्षमार्ग के पुरुषार्थ की तथा द्रव्य-गुण-पर्याय की, उपादान-निमित्त की या निश्चयव्यवहार की भी उसे खबर नही है। जिसने ज्ञानस्वभाव का निर्णय नही किया उसका कुछ भी सच्चा नही है। ज्ञानस्वभाव का निर्णय करे तो उसमे सभी पक्षो का निर्णय आ जाता है।

(१३९) पंचरूप से परमेष्ठी और उनका फैसला

प्रश्न —इस सम्बन्ध मे आजकल बहुत झगडे (मतभेद) चल रहे हैं, इसलिये "पंचो" को बीच मे रखकर इसका कुछ निपटारा करो न ?

उत्तर—भाई, पचपरमेष्ठी भगवान ही हमारे "पच" हैं। ज्ञायकस्वभाव का और क्रमबद्धपर्याय का यह जो वस्तुस्वरूप कहा जा रहा है उसी प्रकार अनादि से पचपरमेष्ठी भगवान कहते आये हैं, और महाविदेह मे विराजमान सीमधरादि भगवन्त इस समय भी यही उपदेश दे रहे हैं। इसके सिवा अज्ञानी विपरीत मानते हो तो भले मानें, किन्तु यहाँ तो पचपरमेष्ठी भगवन्तो को पचरूप से रखकर यह बात कही जा रही है। पचपरमेष्ठी भगवन्त इसी प्रकार मानते आये हैं और इसी प्रकार कहते आये हैं। जिसे पचपरमेष्ठी मे सम्मिलित होना हो उसे इसी अनुसार मानना पडेगा।

देखो, यह पचायत का फैसला !

हे भाई ! पचपरमेष्ठीभगवन्तो मे अरिहन्त और सिद्ध भगवत सर्वज्ञ हैं, तीनकाल तीनलोक को प्रत्यक्ष जाननेवाले हैं,—उस सर्वज्ञता को तू मानता है या नही मानता ?

—यदि तू वास्तव में सर्वज्ञता को मानता हो तो उसमे क्रमबद्धपर्याय की स्वीकृति भी आ ही गई।

—और यदि तू सर्वज्ञता को मानता हो तो तूने पंचों को (—पंचपरमेष्ठीभगवन्तों को) ही वास्तव में नहीं माना है।

'णमो अरिहंताणं और णमो सिद्धाणं' —ऐसा प्रतिदिन बोलते हैं किन्तु अरिहन्त और सिद्धभगवान केवलज्ञान सहित हैं वे तीनकाल तीनलोक को जानते हैं और उसीप्रकार होता है—ऐसा माने तो उसमें क्रमबद्धपर्याय की स्वीकृति आ ही जाती है। आत्मा की सम्पूर्ण ज्ञानशक्ति को और क्रमबद्धपर्याय को जो नहीं मानता वह पंचपरमेष्ठी भगवन्तों को भी यथार्थस्वरूप से नहीं मानता। इसलिये जिसे वास्तव में पंचपरमेष्ठी भगवन्तों को पहिचानना हो उसे बराबर निर्णय करके यह बात मानना चाहिये।

—ऐसा पंचों का फैसला है।

(१४०) जीव के अकर्तृत्व की न्याय से सिद्धि

ज्ञायक आत्मा कर्म का अकर्ता है—ऐसा यहाँ आचार्यदेव न्याय से सिद्ध करते हैं:—

(१) प्रथम तो जीव और अजीव सभी द्रव्य अपनी अपनी क्रमबद्ध पर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं;

(२) जो पर्याय होती है उसमे वे तद्रूप है,

(३) जीव अपने परिणामरूप से उत्पन्न होता है, तथापि वह पर को (—कर्म को) उत्पन्न नही करता, इसलिये उसे पर के साथ उत्पाद्य—उत्पादकभाव नही है,

(४) उत्पाद्य—उत्पादकभाव के बिना कार्यकारणपना नही होता इसलिये जीव कारण होकर कर्म को उत्पन्न करे ऐसा नही होता, और—

(५) कारण—कार्यभाव के बिना जीव का अजीव के साथ कर्ताकर्मपना सिद्ध नही हो सकता, अर्थात् ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होनेवाला जीव कर्ता होकर, मिथ्यात्वादि अजीव कर्म को उत्पन्न करे—ऐसा किसी प्रकार सिद्ध नही होता ।

—इसलिये ज्ञायकभाव की क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होता हुआ ज्ञानी कर्म का अकर्ता ही है । भाई ! तू तो ज्ञानस्वभाव ! तू अपने ज्ञाता—दृष्टाभावरूप से परिणमित होकर, उस परिणाम मे तद्रूप होकर उसे कर सकता है, किन्तु तू जडकर्म का कर्ता हो—ऐसा तेरा स्वभाव नही है । अहो ! मैं ज्ञा य क हूँ ऐसा अ त र्मु ख हो कर स म झे तो जी व को कि त नी शा ति हो जा ये !

(१४१) अजीव में भी अकर्तापना

यहाँ जीव का अकर्तापना समझाने के लिये आचार्यदेव ने जो न्याय दिया है वह सर्व द्रव्यो मे लागू होता है । अजीव में भी एक अजीव दूसरे अजीव का अकर्ता है । जैसे कि—पानी उष्ण हुआ वहाँ अग्नि उसका अकर्ता है, वह निम्नानुसारः—

(१) अग्नि और पानी दोनो पदार्थ अपनी—अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं,

(२) अपनी—अपनी जो पर्याय होती है उसमें वे तद्रूप हैं,

(३) अग्नि अपने परिणामरूप से उत्पन्न होती है, तथापि वह पानी की उष्ण अवस्था को उत्पन्न नहीं करती इसलिये उसे पानी के साथ उत्पाद्य–उत्पादकभाव नहीं है;

(४) उत्पाद्य–उत्पादकभाव के बिना कार्य–कारणपना नहीं होता, इसलिये अग्नि कारण होकर पानी की उष्ण अवस्था को उत्पन्न करे—ऐसा नहीं होता और—

(५) कारण–कार्यभाव के बिना अग्नि का पानी के साथ कर्ताकर्मपना सिद्ध नहीं हो सकता।

—इसलिये अग्नि पानी की अकर्ता ही है। अग्नि अग्नि की पर्याय में तद्रूप है और उष्ण पानी की अवस्था में वह पानी ही तद्रूप है। इसीप्रकार कुम्हार और घड़ा आदि जगत के समस्त पदार्थों में भी उपरोक्तानुसार पाँच बोल लागू करके एक–दूसरे का अकर्तापना समझ लेना चाहिये।

[नोट:—यहाँ जो अग्नि और पानी का दृष्टान्त दिया है, वह जीव का अकर्तृत्व सिद्ध करने के लिये नहीं दिया है, किन्तु अजीव का परस्पर अकर्तृत्व सिद्ध करने के लिये दिया है—यह बात लक्ष में रखना चाहिये।]

(१४२) " निमित्त कर्ता तो है न!"

प्रश्न—जीव कर्ता है या नहीं ?

उत्तर:—हाँ जीव कर्ता अवश्य है, लेकिन किसका ? कि—अपने ज्ञायकपरिणाम का—पुद्गलकर्म का नहीं।

प्रश्न—पुद्गल कर्म का निमित्तकर्ता है या नहीं ?

उत्तर—नहीं ज्ञायकभावरूप से परिणमित होनेवाला जीव मिथ्यात्वादि पुद्गलकर्म का निमित्तकर्ता भी नहीं है। कर्म के निमित्त होने पर जिसकी दृष्टि है उस जीव को ज्ञायकभाव का परिणमन नहीं है किन्तु अज्ञानभाव का परिणमन है। अज्ञानभाव के कारण ही वह

पुद्गलकर्म का निमित्तकर्ता होता है, और वह संसार का ही कारण है।—यह बात आचार्यदेव ने आगे आनेवाली गाथाओ मे भलीभाँति समझाई है।

(१४३) ज्ञाता का कार्य

ज्ञानस्वभावी जीव कर्ता होकर किसी की पर्याय को आगे-पीछे बदल दे ऐसा नही है। स्वय अपने ज्ञातापरिणामरूप से उत्पन्न होता हुआ क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता है, ज्ञातापरिणाम ही ज्ञानी का कार्य है। जिसप्रकार "ईश्वर जगत का कर्ता"—यह बात मिथ्या है, उसीप्रकार जीव पर का कर्ता—यह बात भी मिथ्या है। ज्ञायकमूर्ति आत्मा स्व-परप्रकाशक है, वास्तव मे ज्ञायक तो शुभ-अशुभभावो का भी ज्ञाता ही है, उसमे एकतारूप परिणमित न होने से, किन्तु भिन्न ज्ञानभावरूप परिणमित होने से, वह राग का कर्ता नही है। राग को ज्ञान के साथ एकमेक करके जो उसका कर्ता होता है, उसकी दृष्टि "ज्ञायक" पर नही है किन्तु विकार पर है, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है। शुभभाव हो, वहाँ "अशुभभाव होना थे, किन्तु ज्ञान ने उन्हे बदलकर शुभ कर दिया"—ऐसा जो मानता है उसकी उन्मुखता भी विकार की ओर ही है, ज्ञायक की ओर उसकी उन्मुखता नही है। ज्ञाता तो ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर, अपने अपने ज्ञाताभावरूप ही परिणमित होता हुआ, उस-उस समय के राग को भी ज्ञान का व्यवहारज्ञेय बनाता है, किन्तु उसे ज्ञान का कार्य नही मानता। उस समय जो ज्ञानपरिणमन हुआ (-उस ज्ञानपरिणमन के साथ सम्यक्‌श्रद्धा, आनद, पुरुषार्थ आदि का परिणमन भी साथ ही है) वही ज्ञाता का कार्य है। इसप्रकार ज्ञानी अपने निर्मल ज्ञान—आनन्दादि परिणामो का कर्ता है, किन्तु राग का या पर का कर्ता नही है।

(१४४) "अकार्यकारणशक्ति" और पर्याय में उसका परिणमन

ज्ञानी जानता है कि मुझमे अकार्यकारणशक्ति है, मैं कारण होकर पर का कार्य करूँ और पर वस्तु कारण होकर मेरा कार्य

करे—ऐसा पर के साथ कार्यकारणपना मुझे नहीं है। अरे! अन्तर में ज्ञान कारण होकर राग को कार्यरूप से उत्पन्न करे अथवा तो राग को कारण बनाकर ज्ञान उसके कार्यरूप से उत्पन्न हो—ऐसा ज्ञान और राग को भी कार्यकारणपना नहीं है।—ऐसी अकार्यकारण शक्ति आत्मा में है।

प्रश्न—अकार्यकारणपना तो द्रव्य में ही है न ?

उत्तर—द्रव्य में अकार्यकारणशक्ति है—ऐसा माना किसने ?—पर्याय ने। जिस पर्याय ने द्रव्योन्मुख होकर अकार्यकारण शक्ति को माना वह पर्याय द्रव्य के साथ अभेद होकर स्वयं भी अकार्य कारणरूप हो गई है इस प्रकार पर्याय में भी अकार्यकारणपना है। दूसरे प्रकार से कहा जाये तो—ज्ञायकस्वभावोन्मुख होकर जो पर्याय अभेद हुई उस पर्याय में राग का या पर का कर्तृत्व नहीं है, वह तो ज्ञायकभावरूप ही है।

(१४५) आत्मा पर का उत्पादक नहीं है

देखो भाई! जिसे अपने आत्मा का हित करने की गरज हुई हो—ऐसे जीव के लिये यह बात है। अन्तर की लोकोत्तरदृष्टि की यह बात है' लौकिक बात के साथ इस बात का मेल नहीं बन सकता। लोकव्यवहार में तो आजकल ऐसी योजनायें चल रही हैं कि—'अनाज का उत्पादन बढ़ाओ और वस्ती का उत्पादन कम करो। किन्तु यहाँ तो लोकोत्तरदृष्टि की बात है कि भाई! तू पर का उत्पादक नहीं है तू तो ज्ञान है। अरे! अभक्ष्य वस्तु खाकर भी अनाज बचाओ —ऐसा कहनेवाले तो अनार्यदृष्टिवाले हैं —ऐसों की बात तो दूर रही किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा कर्ता होकर पर को उत्पन्न करे या पर का उत्पन्न होना रोके—ऐसा माननेवाले भी मूढ़ मिथ्यादृष्टि हैं। ज्ञानी को तो अन्तर में राग का भी अकर्तृत्व है—यह बात तो अभी इससे भी सूक्ष्म है।

(१४६) "सब मानें तो सच्चा"—यह बात झूठ है। (सच्चे साक्षी कौन ?)

प्रश्न —सब लोग हाँ कहे तो आपकी बात सच्ची है !

उत्तरः—अरे भाई ! हमारे तो पचपरमेष्ठी ही पंच हैं, इसलिये जो पचपरमेष्ठी मानें वह सच है। दुनिया के अज्ञानी लोग भले ही कुछ और मानें।

जैसा प्रश्न यहाँ किया वैसा ही प्रश्न भैया भगवतीदासजी के उपादान-निमित्त के दोहे मे किया है, वहाँ निमित्त कहता है कि—

निमित्त कहै मोको सबै जानत हैं जगलोय,
तेरो नाव न जानहि उपादान को होय ? ॥ ४ ॥

—हे उपादान ! जगत मे घर-घर जाकर लोगो से पूछें तो सब मेरा ही नाम जानते हैं—अर्थात् निमित्त से कार्य होता है—ऐसा सब मानते हैं, किन्तु उपादान क्या है उसका तो नाम भी नही जानते।

तब उसके उत्तर में उपादान कहता है कि—

उपादान कहे रे निमित्त ! तू कहा करै गुमान ?
मोको जानें जीव वे जो हैं सम्यक्वान ॥ ५ ॥

—अरे निमित्त ! तू गुमान किसलिये करता है ? जगत के अज्ञानी लोग मुझे भले ही न जानें, किन्तु जो सम्यक्वत ज्ञानी जीव हैं वे मुझे जानते हैं।

निमित्त कहता है कि जगत से पूछें, उपादान कहता है कि ज्ञानी से पूछें।

उसी प्रकार निमित्त फिर से कहता है कि—

कहैं जीव सब जगत के जो निमित्त सोइ होय।
उपादान की बात को पूछे नाही कोय ॥ ६ ॥

—जैसा निमित्त हो वैसा कार्य होता है—ऐसा तो जगत के

सभी जीव कहते हैं किन्तु उपादान की बात को तो कोई पूछता भी नहीं है।

तब उसे उत्तर देते हुए उपादान कहता है कि—

उपादान बिन निमित्त तू कर न सके इक काम।
कहा भयो जग ना लखे जानत हैं जिनराज ॥ ८ ॥

—अरे निमित्त! उपादान के बिना एक भी कार्य नहीं हो सकता अर्थात् उपादान से ही कार्य होता है।—जगत के अज्ञानी जीव इसे न जानें उससे क्या हुआ?—जिनराज तो ऐसा जानते हैं।

उसी प्रकार यहाँ "आत्मा का ज्ञायकस्वभाव और उसके ज्ञेयरूप से वस्तु की क्रमबद्धपर्यायें" —यह बात दुनिया के अज्ञानी जीव न समझें और उसका स्वीकार न करें तो उससे क्या? किन्तु पंच परमेष्ठीभगवन्त उसके साक्षी हैं उन्होंने इसी प्रकार जाना है और इसी प्रकार कहा है और जिस जीव को अपना हित करना हो–पंच परमेष्ठी की श्रेणी में बैठना हो, उसे यह बात समझकर स्वीकार करना ही पड़ेगी।

(१४७) "गोशाला का मत ?"—या जैनशासन का मर्म ?

यह तो जैनशासन की मूल बात है। इस बात को 'गोशाला का मत' कहनेवाला जैनशासन को नहीं जानता। प्रथम तो 'गोशाला' था ही कब? और यह बात तो अनेकों बार स्पष्ट कही जा चुकी है कि ज्ञायकस्वभावसन्मुख के पुरुषार्थ बिना एकान्त नियत माननेवाला इस क्रमबद्धपर्याय का रहस्य समझा हो नहीं है। सम्यक पुरुषार्थ द्वारा जिसने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति की और ज्ञाता हुआ उसीको क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय है, और उसीने जैनशासन को जाना है।

(१४८) कर्ता–कर्म का अन्य से निरपेक्षपना

उत्पाद्यवस्तु स्वयं ही अपनी योग्यता से उत्पन्न होती है अन्य कोई उत्पादक नहीं है वस्तु में ही वैसी क्रमबद्धपर्यायरूप से स्वयं

परिणमित होने की शक्ति है—वैसी अवस्था की योग्यता है—वैसा ही स्वकाल है, तो उसमे दूसरा क्या करे ? और यदि वस्तु मे स्वय मे वैसी शक्ति न हो—योग्यता न हो—स्वकाल न हो तो भी दूसरा उसमे क्या करे ? इसलिये अन्य से निरपेक्षपने से ही कर्ता–कर्मपना है। पहले कर्ता–कर्म अधिकार मे आचार्यदेव यह बात कह गये है कि "स्वयं अपरिणमित को पर द्वारा परिणमित नही किया जा सकता, क्योकि वस्तु मे जो शक्ति स्वय न हो उसे अन्य कोई नही कर सकता। और स्वय परिणमित को तो पर परिणमित करनेवाले की अपेक्षा नही होती, क्योकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नही रखती।" (देखो, गाथा ११६ से १२५)

(१४९) सर्वत्र उपादान का ही बल

पुनश्च, प० बनारसीदासजी भी कहते हैं कि—

उपादान बल जहाँ—तहाँ, नहि निमित्त को दाव।
एक चक्रसो रथ चले, रविको यहै स्वभाव॥ ५॥

—जहाँ देखो वहाँ उपादान का ही बल है, अर्थात् योग्यता से ही कार्य होता है, उसमे निमित्त का कोई दाव—पेंच नही है, "निमित्त के कारण कार्य हुआ"—ऐसा निमित्त का दाव या बारी कभी आती ही नही, जहाँ देखो वहाँ उपादान का ही दाव है। "ऐसा क्यो ?" कहते हैं—उपादान की वैसी ही योग्यता। "निमित्त के कारण हुआ ?"—कहते हैं नही।

(१५०) "–निमित्त बिना ..!!"

प्रश्न —निमित्त कुछ नही करता यह सच, किन्तु क्या निमित्त के बिना होता है ?

उत्तर—हां, भाई! उपादान के कार्य मे तो निमित्तका अभाव है, इसलिये वास्तव मे निमित्त के बिना ही कार्य होता है। निमित्त है अवश्य, किन्तु वह निमित्त मे है, उपादान मे तो उसका अभाव ही है, उस अपेक्षा से निमित्त बिना ही होता है।

—ऐसी बात आवे वहाँ उपादान–निमित्त का भेदज्ञान समझने के बदले कुछ विपरीत दृष्टिवाले जीव कहते हैं कि— 'अरे ! निमित्त का निषेध हो जाता है ! भाई रे ! इसमें निमित्त के अस्तित्व का निषेध नहीं होता निमित्त तो निमित्तरूप से ज्यों का त्यों रहता है । तू निमित्त को निमित्त रूप से रख उसे उपादान में मत मिला । अज्ञानी निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध को कर्ताकर्मरूप से मानकर उपादान–निमित्त की एकता कर डालते हैं ।

—कार्य होता तो है उपादान से किन्तु कहीं निमित्त के बिना होता है ?

—शरीर की क्रिया होती शरीर से है किन्तु कहीं जीव के बिना होती है ?

—विकार करता है जीव स्वयं किन्तु कहीं कर्म के बिना होता है ?

—ज्ञान होता है स्वयं से किन्तु कहीं गुरु के बिना होता है ?

—मोक्ष होता है जीव के उपादान से किन्तु कहीं मनुष्यदेह के बिना होता है ?

—इस प्रकार कितने ही दलील करते हैं किन्तु भाई ! उपादान की अपनी योग्यता से ही कार्य होता है—ऐसा जो वास्तव में जानता है उसे इसका भी ज्ञान होता है कि परनिमित्त कैसा होता है' इसलिये निमित्त के बिना का प्रश्न उसे नहीं रहता । वह तो जानता है कि उपादान से कार्य होता है और वहाँ योग्य निमित्त होता ही है—"गतेः धर्मास्तिकायवत् । (देखो श्री पूज्यपादाचार्य देवकृत इष्टोपदेश गाथा–३५)

जो जीव स्व-पर दो वस्तुओं को मानता ही नहीं निमित्त को जानता ही नहीं ऐसे अन्यमती को निमित्त का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये 'निमित्त के बिना नहीं होता' —ऐसी दलील से समझाया जाता है किन्तु जहाँ स्व-पर के भेदज्ञान की बात चलती

हो, उपादान–निमित्त की स्वतन्त्रता का वर्णन चलता हो, वहाँ बीच मे "निमित्त के विना नही होता"—यह दलील रखना तो निमित्ताधीनदृष्टि ही सूचित करता है। "निमित्त होता ही है" फिर "निमित्त के विना नही होता"—इस दलील का क्या काम है ?

प्रवचनसार गाथा १६० मे आचार्यदेव कहते हैं कि वास्तव मे मैं शरीर, वाणी और मन को आधारभूत नही हूँ, उनका कारण मैं नही हूँ, उनका कर्ता, प्रयोजक या अनुमोदक भी मैं नही हूँ, मेरे विना ही, अर्थात् मैं उन शरीरादि का आधार हुए विना, कारण हुए बिना, कर्ता हुए विना, प्रयोजक या अनुमोदक हुए विना, वे स्वय अपने-अपने से ही होते हैं, इसलिये मैं उन शरीरादि का पक्षपात छोडकर (अर्थात् मेरे निमित्त बिना वे नही हो सकते—ऐसा पक्षपात छोडकर) अत्यत मध्यस्थ–साक्षीस्वरूप—ज्ञायक हूँ।

(देखो, प्रवचनसार गाथा १६०)

(१५१) इस उपदेश का तात्पर्य और उसका फल

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई ! सर्व द्रव्यो को दूसरे के साथ उत्पाद्य–उत्पादकभाव का अभाव है इसलिये तू ज्ञाता ही रह। "मैं ज्ञान हूँ"—ऐसा निर्णय करके जो स्वसन्मुख ज्ञातापरिणामरूप से उत्पन्न हुआ वह जीव अपने सम्यक्श्रद्धा–ज्ञान–आनन्दादि कार्यरूप से उत्पन्न होता है इसलिये उसका उत्पादक है, किन्तु कर्मादि पर का उत्पादक नही है।—इसप्रकार जीव को स्वभावसन्मुख दृष्टि करके निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होने के लिये यह उपदेश है। ज्ञायकस्वभावसन्मुख दृष्टि करके परिणमित हुआ वहाँ—

ज्ञानगुण अपने निर्मल परिणाम के साथ तद्रूप होकर परिणमित हुआ,

श्रद्धागुण अपने सम्यग्दर्शनपरिणाम के साथ तद्रूप होकर परिणमित हुआ,

आनन्दगुण अपने आनन्दपरिणाम के साथ तद्रूप होकर परिणमित हुआ

—इस प्रकार ज्ञायकस्वभावसम्मुख होकर परिणमित होने से श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र–वीर्यादि समस्त गुणों की निर्मल परिणमनधारा बहने लगी।—यह है ज्ञायकस्वभाव की और क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति का फल !

सातवाँ प्रवचन

[आश्विन शुक्ला ३ वीर सं २४८]

एक ओर अकेला ज्ञायकस्वभाव और दूसरी ओर क्रमबद्धपर्याय—इसका यथार्थ निर्णय करने में सब आ जाता है यह मूल वस्तुधर्म है, यह केवलीभगवान का पुकार है, सन्तों का हार्द है, शास्त्रों का मर्म है विश्व का दर्शन है और मोक्षमार्ग का कर्तव्य कैसे होता है उसकी यह रीति है।

अज्ञानी कहते हैं कि यह 'धूल की बीमारी' है तब यहाँ कहते हैं कि यह तो सर्वज्ञ का हार्द है जिसे यह बात बैठ गई उसके हृदय में सर्वज्ञ बैठ गये —वह अल्पज्ञ होने पर भी "मैं सर्वज्ञ जैसा ज्ञाता ही हूँ" —ऐसा उसे निर्णय हो गया।

(१५२) अधिकार का नाम

इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार की पहली चार गाथाओं की अवनिका हो रही है। सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार कहो ज्ञायकद्रव्य का अधिकार कहो या क्रमबद्धपर्याय का अधिकार कहो जहाँ ज्ञायकद्रव्य को पकड़कर ज्ञान एकाग्र हुआ वहाँ वह ज्ञान सर्वविशुद्ध हो गया और उस ज्ञान के विषयरूप से सब द्रव्यों की क्रमबद्धपर्याय है उसका भी उसे निर्णय हो गया।

(१५३) "क्रमबद्ध" और "कर्मबन्ध" !

देखो, यह क्रमबद्धपर्याय की बात छह दिन से चल रही है, और आज सातवाँ दिन है, बहुत-बहुत पक्षो से स्पष्टीकरण हो गया है, तथापि कुछ लोगो को यह बात समझना कठिन मालूम होता है। कोई तो कहते हैं कि—"महाराज ! आप क्या कहते हो, "कर्मबन्ध" मानना यह सम्यग्दर्शन है—ऐसा आप कहते हो ?"—अरे भाई ! यह "क्रमबद्ध" अलग और "कर्मबन्ध" अलग ! दोनो के बीच विशाल अन्तर है। कर्मबन्धरहित ज्ञायकस्वभाव कैसा है और वस्तु की पर्याय मे क्रमबद्धता किस प्रकार है उसे पहिचाने तो सम्यग्दर्शन हो। इस "क्रमबद्ध" को समझ ले तो "कर्मबन्ध" का नाश हो, और जो "क्रमबद्ध" को न समझे उसे "कर्मबन्ध" होता है।

(१५४) "ज्ञायक" और "क्रमबद्ध" दोनों का निर्णय एकसाथ

जीव मे या अजीव में प्रतिसमय जो क्रमबद्धपर्याय होना है वही होती है, पहले होनेवाली पर्याय बाद मे नही होती, और बाद मे होनेवाली पर्याय पहले नही होती। अनादि-अनन्त कालप्रवाह के जितने समय हैं उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें हैं, उनमे जिससमय जिस पर्याय का नम्बर (क्रम) है उस समय वही पर्याय होती है। जिस प्रकार सात वारो मे रविवार के बाद सोमवार और फिर मगलवार-इसप्रकार ठीक क्रमबद्ध ही आते हैं उल्टे सीधे नही आते, उसीप्रकार एक से सौ तक के नम्बरोमे १ के बाद २, ५० के बाद ५१, ९९ के बाद १००,—इसप्रकार सब क्रमबद्ध ही आते हैं, उसीप्रकार द्रव्य की क्रमबद्धपर्यायो मे जो ५१ वी पर्याय होगी वह ५० वी या ५२ वी नही होती, और जो '५२' वी हो वह ५१ वी नही होती। अर्थात् पर्याय के क्रमबद्धपने मे कोई भी पर्याय बीच से हटकर आगे-पीछे नही होती। जिसप्रकार पदार्थकी पर्यायका ऐसा क्रमबद्धस्वरूप है, उसीप्रकार आत्मा का ज्ञायकस्वरूप है। मैं सर्वविशुद्धज्ञानमात्र ज्ञायक हूँ—ऐसे ज्ञायकस्वरूप के निर्णय के साथ क्रमबद्धपर्याय का भी निर्णय हो जाता

है। आत्मा का ज्ञायकस्वरूप और पर्यायों का क्रमबद्धस्वरूप—इन दो में से एक को भी न माने तो ज्ञान और ज्ञेय का मेल नहीं रहता अर्थात् सम्यग्ज्ञान नहीं होता। ज्ञायकस्वभाव और क्रमबद्धपर्याय—इन दोनों का निर्णय एकसाथ ही होता है।—कब होता है?—जब ज्ञानस्वभाव की ओर ढले तब।

(१५५) यह बात किसे परिणमित होती है?

अभी तो जिसने यथार्थ *गुरुगम से ऐसी बात का श्रवण भी नहीं किया है, वह उसका ग्रहण और धारण तो कहाँ से करेगा?* और सत्य का ग्रहण तथा धारण किये बिना ज्ञानस्वभावसन्मुख होकर उसकी रुचि का परिणमन कहाँ से होगा? यहाँ ऐसा कहना है कि अभी जो विपरीत बात का श्रवण और पोषण कर रहे हैं उनके *सत्यरुचि के परिणमन की योग्यता नहीं है। जिसके अन्तर की महान* पात्रता और पुरुषार्थ हो उसीको यह बात परिणमित होती है।

(१५६) धर्म का पुरुषार्थ

उत्पाद–व्यय–ध्रुवयुक्त सत्, और सत् वह द्रव्य का लक्षण है उसमें भी क्रमबद्धपर्याय की बात का समावेश हो जाता है क्रमबद्ध पर्याय के बिना उत्पाद–व्यय नहीं हो सकते। प्रत्येक पर्याय का उत्पाद अपने–अपने काल में एक समय पर्यन्त सत् है। अकेली पर्याय पर या राग पर दृष्टि रखकर इस क्रमबद्धपर्याय का निर्णय नहीं होता किन्तु ध्रुव ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि रखकर ही क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय होता है। अनेक लोगों को ऐसा प्रश्न उठता है कि—क्रमबद्धपर्याय में धर्म का पुरुषार्थ करना कहाँ रहा? उनसे कहते हैं कि भाई! सम्यक् श्रद्धा–ज्ञान के अन्तरपुरुषार्थ बिना यह बात निश्चित् ही नहीं होती। 'मैं ज्ञायक हूँ'—ऐसी दृष्टि के बिना क्रमबद्धपर्याय का ज्ञान करेगा कौन? ज्ञान के निर्णय बिना ज्ञेय का निर्णय होता ही नहीं। ज्ञान के *निर्णय सहित क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करे तो अनन्त पदार्थों में कहीं* भी फेरफार करने का अनन्त अहंकार दूर हो जाये और ज्ञातारूप ही

रहे।—इसीमे मिथ्यात्व के और अनन्तानुवन्धीकषाय के नाश का पुरुपार्थ आ गया। यही धर्म के पुरुपार्थ का स्वरूप है, अन्य कोई वाहर का पुरुषार्थ नही है।

(१५७) "क्रमवद्ध" का निर्णय और उसका फल

क्रमवद्धपर्याय का निर्णय किसे होता है? और उसका फल क्या?

—जिसकी बुद्धि ज्ञायकभाव मे एकाग्र हुई है, और राग मे या पर का फेरफार करने की मान्यता मे रुक गई नही है, उसीको क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय हुआ है, और उस निर्णय के साथ उसे पुरुषार्थादि पाँचो समवाय (पूर्वोक्त प्रकार से) आ जाते हैं। और, स्वसन्मुख होकर वह निर्णय करते ही सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायो का क्रमबद्ध प्रवाह प्रारम्भ हो जाता है—यही उसका फल है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि कहो, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय कहो, या मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ कहो,—तीनो एकसाथ ही हैं, उनमे से एक हो और दूसरे दो न हो—ऐसा नही हो सकता।

प्रत्येक पदार्थ सत् है, उसका जो अनादि अनन्त जीवन है उसमे तीनोकाल की पर्यायें एकसाथ प्रगट नही हो जाती, किन्तु एक के बाद एक प्रगट होती है, और प्रत्येक समय की पर्याय व्यवस्थित क्रमबद्ध है। ऐसे वस्तुस्वरूप का निर्णय करनेवाले को सर्वज्ञ के केवलज्ञान का निर्णय हुआ और अपने ज्ञानमे वैसा सर्वज्ञता का सामर्थ्य है—उसका भी निर्णय हो गया। ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता मे इन सबका निर्णय एकसाथ हो जाता है। अक्रम ऐसे ज्ञायकस्वभावी द्रव्य की ओर उन्मुख होकर उसका निर्णय करने से पर्याय की क्रमबद्धता का निर्णय भी हो जाता है, अक्रमरूप अखण्ड द्रव्य की दृष्टि बिना पर्याय की क्रमबद्धता का यथार्थज्ञान नही होता।

भगवान! द्रव्य त्रिकाली सत् है, और पर्याय एक-एक समय का सत् है, वह सत् जैसा है उसे वैसा ही जानने का तेरा स्वभाव है,

किन्तु उसमें कहीं उलटा-सीधा करने का तेरा स्वभाव नहीं है। अरे सत् में ऐसा क्यों ?' —इसप्रकार विकल्प करने का भी तेरा स्वभाव नहीं है।—ऐसे स्वभाव की प्रतीति करने से मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हो जाता है और उसमें मोक्षमार्ग के पाँचों समवाय एकसाथ आ जाते हैं।

(१५८) यह है संतों का हार्द

एक ओर अकेला ज्ञायकस्वभाव और दूसरी ओर क्रमबद्ध पर्याय —इसका यथार्थ निर्णय करने में सब आ जाता है यह मूल वस्तुधर्म है, यह केवलीभगवान का उदर है संतों का हार्द है शास्त्रों का मर्म है विश्व का दर्शन है, और मोक्षमार्ग का कर्तव्य कैसे होता है उसकी यह रीति है।

अज्ञानी कहते हैं कि यह 'भूत की बीमारी है' तब यहाँ कहते हैं कि यह सर्वज्ञ का हार्द है जिसे यह बात बैठ गई उसके हृदय में सर्वज्ञ बैठ गये —वह अल्पज्ञ होने पर भी मैं सर्वज्ञ जैसा ज्ञाता हूँ —ऐसा उसे निर्णय हो गया।

अभी जिन्होंने ऐसे वस्तुस्वरूप का निर्णय नहीं किया अरे! यह बात सुनी भी नहीं और यों ही त्यागी या व्रतपना लेकर धर्म मान लिया है उन्हें धर्म तो नहीं है किन्तु धर्म की रीति क्या है— इसकी भी उन्हें खबर नहीं है।

(१५९) जो यह बात समझ ले उनकी दृष्टि बदल जाती है

यहाँ ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि की बात है इसलिये ज्ञानस्वभाव का निर्णय क्या पुरुषार्थ क्या सम्यग्दर्शन क्या —यह सब साथ ही आ जाता है और इस दृष्टि में तो गृहीत या अगृहीत दोनों मिथ्यात्व का नाश हो जाता है। जो ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं करता पुरुषार्थ को नहीं मानता सम्यग्दर्शन नहीं करता और जो होना होगा वह होगा —इसप्रकार एकान्त नियत को पकड़कर स्वच्छन्दी होता है वह गृहीतमिथ्यादृष्टि है, ऐसे जीव की यहाँ बात नहीं है। यह बात

समझे उसे ऐसा स्वच्छन्द रहता ही नही, उसकी तो दृष्टि का सारा परिणमन ही बदल जाता है।

(१६०) ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि की ही मुख्यता

द्रव्यदृष्टि के बिना क्रमबद्धपर्याय का निर्णय नही होता, क्योकि क्रमबद्धपना समय–समय की पर्याय मे है, और छद्मस्थ का उपयोग असंख्य समय का है, उस असंख्य समय के उपयोग मे एक–एक समय की पर्याय पृथक् करके नही पकडी जा सकती, किन्तु ध्रुवज्ञायकस्वभाव मे उपयोग एकाग्र हो सकता है। इसलिये समय–समय की पर्याय का क्रमबद्धपना पकडते हुए उपयोग अन्तरोन्मुख होकर ध्रुवज्ञायकस्वभाव में एकाग्र होता है और ज्ञायक की प्रतीति मे क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति भी हो जाती है।—इसप्रकार इसमें ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि ही मुख्य है।

(१६१) जैसा वस्तुस्वरूप, वैसा ही ज्ञान और वैसी ही वाणी

देखो, यह वस्तुस्वरूप ! पदार्थ का जैसा स्वरूप हो वैसा ही ज्ञान जाने, तो वह ज्ञान सच्चा हो। समस्त पदार्थों की तीनोकाल की पर्यायें क्रमबद्ध हैं,—ऐसा ही वस्तुस्वरूप है, सर्वज्ञभगवान ने केवलज्ञान में प्रत्यक्ष इसप्रकार जाना है और वाणी मे भी वैसा ही कहा है, इसप्रकार पदार्थ, ज्ञान और वाणी तीनो समान हैं। पदार्थों का जैसा स्वभाव है वैसा हो ज्ञान मे देखा, और जैसा ज्ञान मे देखा वैसा ही वाणी मे आया,—ऐसे वस्तुस्वरूप से जो विपरीत मानता है—आत्मा कर्ता होकर पर की पर्याय बदल सकता है—ऐसा मानता है वह पदार्थ के स्वभाव को नही जानता, सर्वज्ञ के केवलज्ञान को नही जानता और सर्वज्ञ के कहे हुए आगम को भी वह नही जानता, इसलिये देव–गुरु–शास्त्र को उसने वास्तव मे नही माना है।

इस "क्रमबद्धपर्याय" के सम्बन्ध मे आजकल अनेक जीवो का कुछ निर्णय नही है, और बडी गडबडी चल रही है, इसलिये यहाँ अनेकानेक प्रकारो से उसकी स्पष्टता की गई है।

(१६२) स्वच्छन्दी के मन का मैल (१)

प्रश्न—आप कहते हैं कि जैसा सर्वज्ञ भगवान ने देखा होगा वैसा क्रमबद्ध होगा तो फिर हमारी पर्याय में मिथ्यात्व भी जैसा क्रमबद्ध होना होगा वैसा होगा ।

उत्तर—अरे मूढ़ ! तुझे सर्वज्ञ को मानना नहीं है और स्वच्छंद का पोषण करना है !—निकाल दे अपने मन का मैल ! ! सर्वज्ञ का निर्णय करे और मिथ्यात्व भी रहे—यह कहाँ से लाया ? तूने सर्वज्ञ का निर्णय ही नहीं किया है । इसलिये अन्तर का मैल निकाल दे खोटे निकाल दे और ज्ञानस्वभाव के निर्णय का उद्यम कर । ज्ञानस्वभाव के निर्णय बिना क्रमबद्ध की बात तू कहाँ से लाया ? मात्र "क्रमबद्ध" शब्द की पकड़ रखने से नहीं चलेगा । ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके क्रमबद्ध को माने तो अपनी पर्याय में मिथ्यात्व रहने का प्रश्न ही न उठे क्योंकि उसकी पर्याय तो अन्तरस्वभावोन्मुख हो गई है उसे अब मिथ्यात्व का क्रम हो ही नहीं सकता और सर्वज्ञभगवान भी ऐसा देख ही नहीं सकते ।

जिसे ज्ञानस्वभाव का भान नहीं है सर्वज्ञदेव का निर्णय नहीं है और उस प्रकार का उद्यम भी नहीं करता विकार की रुचि नहीं छोड़ता और मात्र भाषा में "क्रमबद्धपर्याय" का नाम लेकर स्वच्छन्दी होता है वैसा जीव तो अपने आत्मा को ही ठगता है । अरे ! जो परमवीतरागता का कारण है उसकी ओट लेकर स्वच्छन्द का पोषण करता है यह तो महान विपरीतता है ।

(१६३) स्वच्छन्दी के मन का मैल (२)

एक त्यागी-पंडितजी ने विद्यार्थी पर खूब क्रोध किया जब किसीने उनसे कहा तो वे बोले कि— अरे भया ! तुमने गोम्मटसार नहीं पढ़ा गोम्मटसार में ऐसा लिखा है कि जब क्रोध का उदय आता है तब क्रोध हो ही जाता है । देखो यह गोम्मटसार पढ़कर सार निकाला ! अरे भाई ! तू गोम्मटसार की ओट न ले तुझ जसे स्वच्छन्द की पुष्टि

करनेवाले के लिये वह कथन नही है। पहले तो क्रोधादिकपाय होने का भय रहता था और अपने दोषों की निन्दा करता था, उसके बदले अब तो वह भी नही रहा! भाई! शास्त्र का उपदेश तो वीतरागता के लिये होता है या कपाय बढाने के लिये? अज्ञानदशा मे जैसा कषाय था वैसे ही कपाय मे खडा हो तो उसने शास्त्र पढे ही नही, भले ही वह गोम्मटसार का नाम ले, किन्तु वास्तव मे वह गोम्मटसार को नही मानता।

(१६४) स्वच्छन्दी के मन का मैल (२)

—इसी प्रकार अब इस क्रमबद्धपर्याय की बात मे लो। कोई जीव रुचिपूर्वक तीव्र क्रोधादिभाव करे और फिर कहे कि—"क्या किया जाये भाई? हमारी क्रमबद्धपर्याय ऐसी ही होना थी!" क्रमबद्धपर्याय सुनकर ज्ञायकस्वभावोन्मुख होने के बदले, यदि ऐसा सार निकाले तो वह स्वच्छन्दो है, वह क्रमबद्धपर्याय को समझा ही नहो है। अरे भाई! तू क्रमबद्धपर्याय की ओट न ले, तुझ जैसे स्वच्छन्द का पोषण करनेवाले के लिये यह बात नही है। पहले तो क्रोधादि कषाय का भय रहता था और अपने दोषो की निन्दा करता था, उसके बदले अब तो वह भी नही रहा? भाई रे! यह क्रमबद्धपर्याय का उपदेश तो अपने ज्ञायकभाव की दृष्टि करने के लिये है या विकार की रुचि का पोषण करने लिये? जो विकार की रुचि छोडकर ज्ञानस्वभाव की दृष्टि नही करता वह जीव क्रमबद्धपर्याय की बात समझा ही नही है, भले ही क्रमबद्धपर्याय का नाम ले, किन्तु वास्तव मे वह क्रमबद्धपर्याय को मानता ही नही है।

इसलिये हे भाई! अपने मन का मैल निकाल दे, स्वच्छन्द का बचाव छोड दे और विकार की रुचि छोडकर ज्ञानस्वभाव की प्रतीति का उद्यम कर।

(१६५) सम्यक्त्वी की अद्भुत दशा!

प्रश्न—क्रमबद्धपर्याय की सच्ची समझ कैसे होती है?

उत्तर—"मैं ज्ञायक हूँ—इस प्रकार ज्ञाता की ओर ढलकर, अपनी दृष्टि को ज्ञायकस्वभाव की ओर मोड़ दे उसीको क्रमबद्धपर्याय की सच्ची समझ होती है, इसके सिवा नहीं होती। इस प्रकार क्रमबद्धपर्याय माननेवाले की दृष्टि क्रोधादि पर नहीं होती किन्तु ज्ञायक पर ही होती है और ज्ञायकदृष्टि के परिणमन में क्रोधादि नहीं रहते। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि का ऐसा परिणमन हुए बिना जीव को सच्चा सन्तोष और समाधान नहीं होता' और सम्यक्त्वी को ऐसी दृष्टि का परिणमन होने से उनके सब समाधान हो गये हैं ज्ञायकपने के परिणमन में उन्हें किसीका अभिमान भी नहीं रहा और अपने में प्रमाद भी नहीं रहा तथा उतावल भी न रही। ज्ञातापने के परिणमनकी ही धारा चल रही है उसमें व्याकुलता भी कैसी? और प्रमाद भी कैसा?—ऐसी सम्यक्त्वी की अद्भुत दशा है।

(१६६) ज्ञातापने से च्युत होकर अज्ञानी कर्ता होता है

एक ओर ज्ञाता-भगवान और सामने पदार्थों का क्रमबद्ध परिणमन—उनका आत्मा ज्ञाता ही है ऐसा मेल है उसके बदले वह मेल तोड़कर (अर्थात् स्वयं अपने ज्ञातास्वभाव से च्युत होकर) जो जीव कर्ता होकर पर के क्रम को बदलना चाहता है वह जीव पर के क्रम को तो नहीं बदल सकता किन्तु उसकी दृष्टि में विषमता (मिथ्यात्व) होती है। ज्ञायकपने का निर्मल प्रवाह चलना चाहिये उसके बदले विपरीतदृष्टि के कारण वह विकार के कर्तृस्वरूप से परिणमित होता है।

(१६७) सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान कब होते हैं ?

जिसे अपना हित करना हो—ऐसे जीव के लिये यह बात है। हित सत्य से होगा है किन्तु असत्य से नहीं होता। सत्य के स्वीकार बिना सच्चा ज्ञान नहीं होता और सम्यक्ज्ञान के बिना धर्म या हित नहीं होता। जिसे अपने ज्ञान में से असम्यक्पना टालकर सम्यक्ता करना हो उसे क्या करना चाहिये ?—उसकी यह बात है।

जैसा पदार्थ है वैसी ही उसकी श्रद्धा करे, और जैसी श्रद्धा है वैसा ही पदार्थ हो, तो वह श्रद्धा सच्ची है, इसी प्रकार जैसा पदार्थ है वैसा ही उसका ज्ञान करे, और जैसा ज्ञान करे, वैसा ही पदार्थ हो—तो वह ज्ञान सच्चा है।

"आत्मा ज्ञायकस्वरूप है, ज्ञायकपना ही जीवतत्त्व का सच्चा स्वरूप है, और पदार्थ क्रमबद्धपर्यायरूप से स्वय परिणमित होनेवाले हैं, यह "ज्ञायक" अपने ज्ञानसहित उनका ज्ञाता है, किन्तु वह किसी के क्रम को बदलकर आगे-पीछे करनेवाला नही है"—ऐसे वस्तुस्वरूप की श्रद्धा और ज्ञान करे तो वे श्रद्धा-ज्ञान सच्चे हो, इसलिये हित और धर्म हो।

(१६८) मिथ्याश्रद्धा-ज्ञान का विषय जगत में नहीं है

—किन्तु कोई ऐसा माने कि "मैं कर्ता होकर पर की अवस्था को बदल दूँ, अर्थात् मेरा पर के साथ कार्यकारणपना है"—तो उसकी मान्यता मिथ्या है, क्योंकि उसकी मान्यतानुसार वस्तुस्वरूप जगत मे नही है। मिथ्याश्रद्धा का (और मिथ्याज्ञान का) विषय जगत मे नही है। जिस प्रकार जगत मे "गधे का सीग" कोई वस्तु ही नही है, इसलिये "गधे का सीग" ऐसी श्रद्धा या ज्ञान वह मिथ्या ही है। उसी प्रकार "पर के साथ कार्यकारणपना हो"—ऐसी कोई वस्तु ही जगत में नही है, तथापि "मैं पर का करूँ"—इस प्रकार जो पर के साथ कार्यकारणपना मानता है उसकी श्रद्धा और ज्ञान मिथ्या ही हैं, क्योकि उसकी मान्यतानुसार कोई विषय जगत मे नही है। यहाँ ऐसा नही समझना चाहिये कि—जिस प्रकार "गधे का सीग" और पर के साथ कार्यकारणपना जगत मे नही है उसी प्रकार मिथ्या श्रद्धा भी नही है। मिथ्या श्रद्धा-ज्ञान तो अज्ञानी की पर्याय मे हैं, किन्तु उसकी श्रद्धानुसार वस्तुस्वरूप जगत मे नही है। अज्ञानी की पर्याय में मिथ्या श्रद्धा तो "सत्" है, किन्तु उसका विषय "असत्" है अर्थात् उसका कोई विषय जगत में नही है।

देखो, यहाँ कहा है कि- 'मिथ्याश्रद्धा सत् है' इसका क्या मतलब ?—कि जगत में मिथ्याश्रद्धा का अस्तित्व (सत्पना) है मिथ्याश्रद्धा है ही नहीं—ऐसा नहीं है किन्तु उस मिथ्याश्रद्धा के अभिप्रायानुसार कोई वस्तु जगत में नहीं है। यदि उस श्रद्धानुसार वस्तु का स्वरूप हो तो उसे *मिथ्याश्रद्धा न कहा जाये।*

(१६९) इसमें क्या करना आया ?

यहाँ एक बात चल रही है कि आत्मा का ज्ञायकपना और सब वस्तुओं की पर्यायों का क्रमबद्धपना माने बिना श्रद्धा-ज्ञान सच्चे नहीं होते और सच्चे श्रद्धा ज्ञान बिना हित या धर्म नहीं होता।

कोई पूछे कि *इसमें क्या करना आया ?*—तो उसका उत्तर यह है कि—पहले पर का कर्तृत्व मानकर विकार में एकाग्र होता था उसके बदले अब ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता करके ज्ञाता-दृष्टा रहा। उस ज्ञाता-दृष्टापने में अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन स्वभाव का पुरुषार्थ आदि भी साथ ही है।

(१७०) ज्ञायकसन्मुख दृष्टि का परिणमन ही सम्यक्त्व का पुरुषार्थ

ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करके जिसने क्रमबद्धपर्याय मानी उसके स्वसन्मुख पुरुषार्थ भी साथ ही आ गया है। ज्ञायकस्वभावसन्मुख जो परिणमन हुआ उसमें पुरुषार्थ कहीं अलग नहीं रह जाता पुरुषार्थ भी साथ ही परिणमित होता है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय स्वसन्मुख पुरुषार्थ या सम्यग्दर्शन—यह सब कहीं पृथक-पृथक नहीं है किन्तु एक ही हैं। इसलिये कोई ऐसा कहे कि 'हमने *ज्ञायक का और क्रमबद्ध का निर्णय तो कर लिया किन्तु अभी* सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ करना बाकी है' तो उसका निर्णय सच्चा नहीं है क्योंकि यदि ज्ञायकस्वभाव का और क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय हो तो सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ उसमें आ ही जाता है।

(१७१) ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से ही निर्मल पर्याय का प्रवाह

स्वसन्मुखपुरुषार्थ द्वारा ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करने से सम्यग्दर्शन होता है तथापि वह क्रमवद्ध है।

ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करने से मुनिदशा होती है, तथापि वह क्रमवद्ध है।

ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करने से शुक्लध्यान होता है, तथापि वह क्रमवद्ध है।

ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करने से केवलज्ञान और मोक्षदशा होती है, तथापि वह भी क्रमवद्ध है।

इसप्रकार ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से ही निर्मल पर्याय का प्रवाह चलता है। जो ज्ञायकस्वभाव का आश्रय नही करता उसे क्रमवद्धपर्याय मे निर्मल प्रवाह प्रारम्भ नही होता, किन्तु मिथ्यात्व चालू ही रहता है। स्वसन्मुखपुरुषार्थ द्वारा ज्ञायकस्वभाव का आश्रय किये विना किसीको भी निर्मलपर्याय का क्रम प्रारम्भ हो जाये—ऐसा नही होता।

(१७२) अकेले ज्ञायक पर ही जोर

देखो, इसमें जोर कहाँ आया? अकेले ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन पर ही सारा जोर आया। कालप्रवाह की ओर देखकर बैठा रहना नही आया किन्तु ज्ञायक की ओर देखकर उसमे एकाग्र होना आया। ज्ञानी की दृष्टि का जोर निमित्त पर, राग पर या भेद पर नहीं है, किन्तु अक्रम ऐसे चैतन्यभाव पर ही उसकी दृष्टि का जोर है, और वही सच्चा पुरुषार्थ है। अन्तर मे अपने ज्ञायकस्वभाव को ही स्वज्ञेय बनाकर ज्ञान एकाग्र हुआ, वही सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र और मोक्ष का कारण है।

(१७३) तुझे ज्ञायक रहना है या पर को बदलना है?

ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ

उसका फल वीतरागता है, और यही जैनशासन का सार है। जिन्हें ज्ञानस्वभाव की खबर नहीं है, सर्वज्ञ की श्रद्धा नहीं है;—ऐसे लोग इस 'क्रमबद्धपर्याय' के सम्बन्ध में ऐसी दलील करते हैं कि— 'ईश्वर का कर्तृत्व माने यहाँ तो भक्ति आदि से ईश्वर को संतुष्ट करके उसमें फेरफार भी कराया जा सकता है किन्तु यह क्रमबद्धपर्याय का सिद्धांत तो इतना कठिन है कि ईश्वर भी इसमें फेरफार नहीं कर सकता!'— अरे भाई! तुझे अपने में ज्ञायकरूप से रहना है या किसी में फेरफार करने जाना है? क्या पर में कहीं फेरफार करके तुझे सर्वज्ञ का ज्ञान मिथ्या सिद्ध करना है। तुझे आत्मा के ज्ञानस्वभाव को मानना है या नहीं? ज्ञानस्वभावी आत्मा के पास से ज्ञाता-दृष्टापने के अतिरिक्त दूसरा कौनसा काम तुझे लेना है? ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करके ज्ञायकस्वभावरूप से परिणमित होने में सम्पूर्ण मोक्षमार्ग का समावेश हो जाता है।

(१७४) ज्ञानी ज्ञाता ही रहते हैं, और उसमें पाँचों समवाय आजाते हैं

एक बार ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करे तो ज्ञातापना होजाये और पर के कर्तृत्व का अभिमान उड़ जाये इसलिये पर के प्रति एकत्वबुद्धि के अनन्तानुबन्धी राग-द्वेष हर्ष-शोक का तो भुक्का हो गया। राग का और पर का संग छोड़कर अन्तर में ज्ञायकस्वभाव का संग करे उसे ज्ञेयों की क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हो जाता है इसलिये वह ज्ञाता ही रहता है एकत्वबुद्धिपूर्वक के राग-द्वेष उसे कहीं होते ही नहीं। शिष्य की ज्ञानादि पर्याय उसके अपने से क्रमबद्ध होती है मैं उसका क्या करूँ?—मैं तो ज्ञाता ही हूँ—ऐसा जाना वहाँ ज्ञानी को उसके प्रति एकत्वबुद्धि से राग या द्वेष (—शिष्य होशियार हो तो राग और उसे न आवे तो द्वेष) होता ही नहीं और इसप्रकार ज्ञानी को कहीं भी एकत्वबुद्धि से रागादि नहीं होते उसके तो अपने ज्ञानस्वभाव में एकत्वबुद्धि से निर्मल ज्ञानादिपरिणाम ही होते हैं।

ज्ञायकभाव का जो परिणमन हुआ वही उसका स्वकाल है

वही उसका नियत है, वही उसका स्वभाव है, वही उसका पुरुषार्थ है, और उसमे कर्म का अभाव है। इसप्रकार ज्ञायकभाव के परिणमन मे ज्ञानी के एक साथ पाँचो समवाय आ जाते हैं।

(१७५) यहाँ जीव को उसका ज्ञायकपना समझाते हैं

जीव क्रमवद्ध अपनी ज्ञानादि पर्यायरूप से उत्पन्न होता है, इसलिये उसे अपनी पर्याय के साथ कार्य–कारणपना है, किन्तु पर के साथ कारण–कार्यपना नही है। एक द्रव्य मे दूसरे द्रव्य के कारण–कार्य का अभाव है। इस द्रव्य मे अपनी क्रमवद्धपर्याय का कार्य–कारणपना प्रतिसमय हो रहा है, और उसी समय सामने जगत के अन्य द्रव्यो मे भी अपनी–अपनी पर्याय का कारण–कार्यपना वन ही रहा है, किन्तु सर्व द्रव्यो को अन्य द्रव्यो के साथ कारण–कार्यपने का अभाव है। ऐसी वस्तुस्थिति समझे तो, मैं कारण होकर पर का कुछ भी कर दूं—ऐसा गर्व कहाँ रहता है? यह समझे तो भेदज्ञान होकर ज्ञायक-स्वभावोन्मुखता हो जाये। जीव को अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर उन्मुख करने के लिये यह वात समझाते हैं। जिसकी दृष्टि अपने ज्ञायकस्वभाव पर नही है, प्रत्येक वस्तु क्रमवद्धपर्यायरूप से स्वय ही उत्पन्न होती है—उसकी जिसे खवर नही है, और रागादि द्वारा पर की अवस्था में फेरफार करना मानता है ऐसे जीव को समझाते हैं कि अरे जीव! तेरा स्वरूप तो ज्ञान है, जगत के पदार्थों की जो क्रमवद्ध-अवस्था होती है उसका तू वदलनेवाला या करनेवाला नही है किन्तु जाननेवाला है, इसलिये अपने ज्ञातास्वभाव की प्रतीति कर और ज्ञातारूप से ही रह,—अर्थात् ज्ञानस्वभाव मे ही एकाग्र हो, यही तेरा सच्चा कार्य है।

(१७६) जीव को अजीव के साथ कारण–कार्यपना नहीं है।

जगत के पदार्थों में स्वाधीनरूप से जो क्रमबद्धअवस्था होती है वही उनकी व्यवस्था है, उस व्यवस्था को आत्मा नही वदल सकता। जीव अपने ज्ञानरूप से परिणमित होता हुआ, साथ में अजीव की

अवस्था को भी कर दे ऐसा नहीं होता। आत्मा और जड़ दोनों में प्रतिसमय अपना-अपना नया-नया कार्य उत्पन्न होता है और वे स्वयं उसमें तद्रूप होने से उसका कारण हैं इसप्रकार प्रत्येक वस्तु को अपने में समय-समय नया-नया कार्य-कारणपना बन ही रहा है तथापि उन्हें एक-दूसरे के साथ कार्य-कारणपना नहीं है। जैसा ज्ञान हो वैसी भाषा निकलती हो अथवा जैसे शब्द हों वैसा ही ज्ञान होता हो तथापि ज्ञान को और शब्द को कारण-कार्यपना नहीं है। इच्छानुसार भाषा निकाले वहाँ अज्ञानी ऐसा मानता है कि मेरे कारण भाषा बोली गई; अथवा शब्दों के कारण मुझे वैसा ज्ञान हुआ-ऐसा वह मानता है किन्तु दोनों के स्वाधीन परिणमन को वह नहीं जानता। प्रत्येक वस्तु प्रतिसमय नये-नये कारणकार्यरूप से परिणमित होती है और निमित्त भी नये-नये होते हैं तथापि उनको परस्पर कार्य-कारणपना नहीं है अपने कार्य-कारण अपने में और निमित्तके कारण-कार्य निमित्तमें। भेदज्ञान से ऐसा वस्तुस्वरूप जाने तो ज्ञान का विषय सच्चा हो इसलिये सम्यग्ज्ञान हो जाये।

(१७७) भूले हुओं को मार्ग बतलाते हैं, रोगी का रोग मिटाते हैं

ज्ञायकस्वभाव क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता है उसके बदले क्रमबद्ध को एकान्त-नियत कहकर जो उसका निषेध करता है वह अपने ज्ञायकत्व का ही इन्कार करता है और केवलज्ञान को उड़ाता है। भाई! तू एकबार अपने ज्ञायकत्व का तो निर्णय कर ज्ञायक का निर्णय करने से तुझे क्रमबद्ध की प्रतीति भी हो जायेगी इसलिये अनादिकालीन विपरीत परिणमन छूटकर सीधा सम्यक परिणमन प्रारम्भ हो जायेगा। इसप्रकार विपरीतमार्ग से छुड़ाकर स्वभाव के सीधे मार्ग पर चढ़ाने की यह बात है। जिस प्रकार कोई लग्नमंडप में जाने के बदले श्मशान में जा पहुँचे उसीप्रकार अज्ञानी अपने ज्ञायक स्वभाव की लगन लगाकर उसमें एकाग्र होने के बदले मार्ग भूलकर मैं पर का करूँ —ऐसी विपरीतदृष्टि से भवभ्रमण के मार्ग पर चढ़ गया है। यहाँ आचार्यदेव उसे ज्ञायकस्वभाव का मण्डप बतलाकर

सीधे मार्ग (मोक्षमार्ग) पर चढाते है। "मैं ज्ञायकस्वरूप हूँ"—ऐसी ज्ञायक की लगन छोडकर मूढ अज्ञानी जीव पर की कर्ताबुद्धि से, आत्मा की श्रद्धा जहाँ भस्म हो जाती है ऐसे मिथ्यात्वरूपी स्मशान मे जा पहुँचा है। आचार्यदेव उसे कहते हैं कि भाई! तेरा ज्ञायकजीवन है, उसका विरोध करके बाह्यविषयो मे एकत्वबुद्धि के कारण तुझे आत्मा की श्रद्धा मे क्षयरोग लग गया है, यह तेरा क्षयरोग दूर करने की औषधि है, ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर क्रमबद्धपर्याय का निर्णय कर, तो तेरी कर्ताबुद्धि दूर हो जाये और क्षयरोग मिटे, अर्थात् मिथ्याश्रद्धा दूर होकर सम्यक्श्रद्धा हो। आजकल अनेक जीवो को यह निर्णय करना कठिन होता है, किन्तु यह तो खास आवश्यक है, यह निर्णय किये विना भवभ्रमण का अनादिकालीन रोग दूर नही हो सकता। मेरा ज्ञायकस्वभाव पर का अकर्ता है, मैं अपने ज्ञायकपने के क्रम मे रहकर, क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हूँ—ऐसा निर्णय न करे उसे अनन्त ससारभ्रमण के कारणरूप मिथ्याश्रद्धा दूर नही होती।

(१७८) वस्तु का परिणमन व्यवस्थित होता है या अव्यवस्थित ?

भाई! तू विचार तो कर कि वस्तु का परिणमन व्यवस्थित होता है या अव्यवस्थित ?

यदि अव्यवस्थित कहे तो ज्ञान ही सिद्ध नही हो सकता, अव्यवस्थित परिणमन हो तो केवलज्ञान तीनकाल का ज्ञान कैसे करेगा ? मन.पर्यय, अवधिज्ञान भी अपने भूत-भविष्य के विषयो को कैसे जानेंगे ? ज्योतिषी ज्योतिष काहे को देखेगा ? श्रुतज्ञान क्या निर्णय करेगा ? हजारो लाखो या असख्य वर्षों के बाद भविष्य की चौवीसी मे यही चौवीस जीव तीर्थंकर होगे—यह सब किस प्रकार निश्चित् होगा ? सात वारो मे किस वार के बाद कौन-सा वार आयेगा, और अट्ठाईस नक्षत्रो में किस नक्षत्र के बाद कौन-सा नक्षत्र आयेगा—यह भी कैसे निश्चित् हो सकता है ? यदि अव्यवस्थित परिणमन हो तो यह कुछ भी पहले से निश्चित् नही हो सकता, इसलिये उसका ज्ञान ही

किसी को नहीं होगा। किन्तु ऐसा ज्ञान तो होता है, इसलिये वस्तु का परिणमन *व्यवस्थित—क्रमबद्ध—नियमबद्ध ही है।*

—और व्यवस्थितपरिणामन ही प्रत्येक वस्तु में है तो फिर —आत्मा उसमें फेरफार कर दे—यह बात भी नहीं रहती मात्र ज्ञायकत्व ही रहता है। इसलिये तू अपने ज्ञायकपने का निर्णय कर और पर को *बदलने की बुद्धि छोड़—ऐसा उपदेश है।* पर को अव्यवस्थित मानने से तेरा ज्ञान ही अव्यवस्थित हो जाता है अर्थात् तुझे अपने ज्ञान की ही प्रतीति नहीं रहती। और जो ज्ञान की प्रतीति करे उसे *पर को बदलने की बुद्धि नहीं रहती।*

(१७९) *ज्ञाता के परिणमन में मुक्ति का मार्ग*

ऐसे अपने ज्ञायकस्वभाव का *निर्णय* करके स्वसन्मुख ज्ञाता भावरूप से क्रमबद्धपरिणमित होनेवाले जीव को पर के साथ (कर्म के साथ) कार्यकारणपना सिद्ध नहीं होता वह कर्ता होकर अजीव का कार्य भी करे—ऐसा नहीं होता। इसप्रकार जीव अकर्ता है—ज्ञायक है—साक्षी है। ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर ऐसा ज्ञायकपने का जो परिणमन हुआ उसमें सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्र आ जाते हैं और वही मोक्ष का कारण है।

★

❀ आठवाँ प्रवचन ❀

[आश्विन शुक्ला ४ वीर सं २४७]

भाई! यह बात समझकर तू स्वसन्मुख हो—अपने ज्ञायकस्वभावसन्मुख हो—इसके सिवा अन्य कोई हित का मार्ग नहीं है। छुटकारे का मार्ग तुझमें ही विद्यमान है। अन्तर के ज्ञायकस्वभाव को पकड़कर उसमें एकाग्र होना वो छुटकारे का मार्ग तेरे हाथ में ही है। इसके सिवा बाह्य में लाखों उपाय करने से भी छुटकारा (मुक्ति का मार्ग) हाथ नहीं आ सकता।

(१८०) हे जीव ! तू ज्ञायकरूप ही रह !

आत्मा ज्ञायक है, जड–चेतन के क्रमबद्धपरिणाम होते रहते हैं, वहाँ उनका ज्ञायक न रहकर पर मे कर्तृत्व मानता है वह जीव अज्ञानी है। यहाँ आचार्यदेव समझाते हैं कि—तुझे पर के साथ कर्ताकर्मपना नही है, तू अजीव का कर्ता और अजीव तेरा कार्य—ऐसा नही है। जीव और अजीव क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं, जिस समय जो पर्याय होना है उस समय वही होगी, वह आगे–पीछे या कम–अधिक नही हो सकती, द्रव्य स्वय अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, तो दूसरा उसमें क्या करे ? उसमें दूसरे की अपेक्षा क्या हो ? इसलिये हे जीव ! तू ज्ञायकरूप ही रह। तू ज्ञायक है, पर का अकर्ता है, तू अपने ज्ञातास्वभाव मे अभेद होकर निर्विकल्प प्रतीति कर। स्वसन्मुख होकर ज्ञाताभावरूप ही परिणमन कर, किन्तु मैं निमित्त होकर पर का काम कर दूँ—ऐसी दृष्टि छोड दे।

(१८१) भाई, तू ज्ञायक पर दृष्टि कर, निमित्त की दृष्टि छोड़ !

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि "निमित्त होकर हम दूसरे का कार्य कर दें"—यह भी विपरीतदृष्टि है। भाई, वस्तु की क्रमबद्धपर्याय जब स्वय उससे होती है तब सामने दूसरी वस्तु निमित्तरूप से होती है—इसका नाम निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध है, किन्तु अवस्था न होना हो और निमित्त आकर कर दे—ऐसा कोई निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध नही है। जड और चेतन समस्त द्रव्य स्वय ही अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं, इसलिये निमित्त से कुछ होता है—यह बात ही उड जाती है। आत्मा अजीव का कर्ता नही है,—इसे समझने का फल तो यह है कि तू पर के ऊपर से दृष्टि उठाकर, अपने अभेद ज्ञायकआत्मा पर दृष्टि रख, स्वसन्मुख होकर आत्मा की निर्विकल्प प्रतीति कर। "मैं कर्ता नही हूँ किन्तु निमित्त बनकर पर का कार्य करूँ"—यह बात भी इसमे नही रहती, क्योकि ज्ञायकोन्मुख जीव पर की ओर नही देखता,—ज्ञायक की दृष्टि मे पर के साथ के निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध

का भी लक्ष छूट गया है, उसमें तो अकेले ज्ञायकभाव का ही परिणमन है। अज्ञानी तो निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध के बहाने कर्ता–कर्मपना मान लेते हैं, उसकी बात तो दूर रही, किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि एकबार पर के साथ के निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध को भी दृष्टि में से छोड़कर अकेले ज्ञायकस्वभाव को ही दृष्टि में ले दृष्टि को अन्तरोन्मुख करके ज्ञायक में एकाग्र कर तो सम्यग्दर्शन हो। ऐसी अन्तर की सूक्ष्म बात है, उसमें "निमित्त आये तो होता है और निमित्त न आये तो नहीं होता" —ऐसी स्थूल बात तो कहीं दूर रह गई !—उसे अभी निमित्त को ढूँढ़ना है किन्तु ज्ञायक को नहीं ढूँढ़ना है अन्तर में ज्ञायकोन्मुख नहीं होना है। जिसे अपने ज्ञायकपने की प्रतीति नहीं है वह जीव निमित्त बनकर पर को बदलना चाहता है। भाई ! परद्रव्य उनकी अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं और तू अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है—फिर उसमें कोई किसी का निमित्त होकर उसके क्रम में कुछ फेरफार कर दे—यह बात कहाँ रही ! क्रमबद्धपर्याय से रहित ऐसा कौन-सा समय है कि दूसरा कोई आकर कुछ फेरफार करे ? द्रव्य में अपनी क्रमबद्धपर्याय से रहित कोई समय नहीं है। इसलिये ज्ञायकोन्मुख होकर तू ज्ञाता रह जा। ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करे तो सर्व विपरीत मान्यताओं का नाश हो जाये।

(१८२) क्रमबद्धपरिणमित होनेवाले द्रव्यों का अकार्य–कारणपना

प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक जड़ अपने–अपने क्रमबद्धपरिणाम रूप से उत्पन्न होते हैं इसप्रकार उत्पन्न होते हुए वे द्रव्य अपने परिणाम के साथ तद्रूप हैं किन्तु अन्य के साथ उन्हें कारणकार्यपना नहीं है। इसलिये जीव कर्ता होकर अजीव का कार्य करे—ऐसा नहीं होता इसलिये जीव अकर्ता है। प्रत्येक द्रव्य अपनी उस–उस समय की क्रमबद्धपर्याय के साथ अनन्य है यदि दूसरा कोई आकर उसकी पर्याय में हाथ डाले तो उसे पर के साथ अनन्यपना हो जाये इसलिये भेदज्ञान न रह कर दो द्रव्यों की एकत्वबुद्धि हो जाये। भाई ! क्रमबद्धपर्याय रूप से द्रव्य स्वयं उत्पन्न होता है तो दूसरा उसमें क्या करेगा ?—

ऐसी समझ वह भेदज्ञान का कारण है। वस्तु-स्वभाव ही ऐसा है, उसमे दूसरा कुछ हो सके ऐसा नही है, दूसरे प्रकार से माने तो मिथ्याज्ञान होता है।

(१८३) भेदज्ञान के बिना निमित्त–नैमित्तिकसम्बंध का ज्ञान नहीं होता।

देखो, यह इस शरीर की उँगली ऊँची–नीची होती है वह अजीवपरमाणुओ की क्रमवद्धपर्याय है, और उस पर्याय मे तन्मयरूप से अजीव उत्पन्न हुआ है, जीव उस पर्यायरूप से उत्पन्न नही हुआ है, इसलिये आत्मा ने उँगली की पर्याय मे कुछ किया—यह बात झूठ है। और इसप्रकार छहो द्रव्य अपने–अपने स्वभाव से ही अपनी क्रमवद्ध-पर्यायरूप से परिणमित होते हैं,—ऐसी स्वतन्त्रता जानकर भेदज्ञान करे तभी, निमित्त–नैमित्तिकसम्वन्ध का यथार्थ ज्ञान होता है। दूसरी वस्तु आये तो कार्य होता है और न आये तो नही होता—ऐसा माने तो वहाँ निमित्त–नैमित्तिकसम्वन्ध सिद्ध नही होता, किन्तु कर्ताकर्मपने की मिथ्यामान्यता हो जाती है। दूसरी वस्तु आये तो कार्य होता है—अर्थात् निमित्त से कार्य होता है—ऐसा माननेवाले है वह जीवद्रव्य के क्रमवद्धस्वतन्त्रपरिणमन को न जाननेवाले, ज्ञानस्वभाव को न मानने-वाले, और पर मे कर्तृत्व माननेवाले मूढ हैं।

(१८४)—"किन्तु व्यवहार से तो कर्ता है न...!"

"व्यवहार से तो निमित्त कर्ता है न ?" ऐसा अज्ञानी कहते हैं, किन्तु भाई! "व्यवहार से तो कर्तापना है"—ऐसा जोर देकर तू क्या सिद्ध करना चाहता है ? व्यवहार के नाम से तुझे अपनी एकता-बुद्धि ही दृढ करना है ? "किन्तु व्यवहार से कर्ता" यानी वास्तव मे अकर्ता—ऐसा तू समझ। एक वस्तु की क्रमबद्धपर्याय के समय दूसरी वस्तु भी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होती हुई निमित्तरूप से भले हो, यहाँ जो पर्याय है, और उसी समय सामने जो निमित्त है, वे दोनो सुनिश्चित् ही हैं।—ऐसा व्यवस्थितपना जो जानता है उसे "निमित्त

भाये तो होता है और न भाये तो नहीं होता —यह प्रश्न ही नहीं उठता।

(१८५) सम्यग्दर्शन की सूक्ष्म बात

दूसरे—यहाँ तो इससे भी सूक्ष्म बात यह है कि ज्ञायक पर दृष्टि करने से निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध की दृष्टि भी छूट जाती है। निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध पर ही जिसकी दृष्टि है उसकी दृष्टि पर के ऊपर है और जबतक पर के ऊपर दृष्टि है तबतक निर्विकल्पप्रतीतिरूप सम्यक्त्व नहीं होता। अकेले ज्ञायकस्वभाव को दृष्टि में लेकर एकाग्र हो तभी सम्यग्दर्शन होता है और निर्विकल्प आनन्द का वेदन होता है।— ऐसी दशा बिना धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

(१८६) जिसे आत्महित करना है उसे बदलना ही पड़ेगा!

अहो आत्मा के हित की ऐसी श्रेष्ठ बात!! ऐसी बात को एकान्तवाद कहना या गृहीतमिथ्यादृष्टि के नियतवाद के साथ इसकी तुलना करना वह तो जैनशासन का ही विरोध करने जैसा महान गजब है! स्याद्वाद नहीं है एकान्त है नियत है छूत की बीमारी है' —इत्यादि कहकर विरोध करनेवाले सभीको बदलना पड़ेगा यह बात तीनकाल में नहीं बदल सकती। इससे विरुद्ध कहनेवाले भले ही चाहे जैसे महान त्यागी या विद्वान माने जाते हों तथापि उन सबको बदलना पड़ेगा—अगर उन्हें आत्मा का हित करना है तो।

(१८७) गम्भीर रहस्य का दोहन

आचार्यभगवान ने इन चार गाथाओं में (३०८ से ३११ में) पदार्थस्वभाव का अलौकिक नियम रख दिया है और श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने टीका भी ऐसी ही अद्भुत की है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने संक्षेप में द्रव्यानुयोग को गंभीरतापूर्वक समा दिया है और अमृतचन्द्राचार्यदेव ने टीका में उसका रहस्य खोल दिया है। जिसप्रकार भैंस के पेट में जो दूध भरा हो वही दुहने से बाहर आता है उसीप्रकार सूत्र

मे और टीका मे जो रहस्य भरा है उसीका यह दोहन हो रहा है, जो मूल मे है उसीका यह विस्तार है।

(१८८) संपूर्ण द्रव्य को साथ ही साथ रखकर अपूर्व बात !

जीव अपने क्रमबद्ध परिणामो से उत्पन्न होता है, तथापि अजीव के साथ उसे कारण–कार्यपना नही है। यहाँ तो आचार्यदेव कहते हैं कि "दविय ज उप्पज्जइ" अर्थात् प्रतिसमय अपने नये–नये परिणामरूप से द्रव्य ही स्वय उत्पन्न होता है। पहले समय में कारण-कार्यरूप से जो द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव हैं, वे चारो दूसरे समय मे कुलाँट मारकर दूसरे समय के कारण–कार्यरूप से परिणमित हो जाते है, अकेले परिणाम ही पलटते हैं और द्रव्य नही पलटता—ऐसा नही है, क्योकि परिणामरूप से द्रव्य स्वय ही उत्पन्न होता है। चक्की के दो पाटो की भाँति द्रव्य और पर्याय मे भिन्नत्व नही है, इसलिये जिस प्रकार चक्की मे ऊपर का पाट घूमता है और नीचे का बिलकुल स्थिर रहता है—ऐसा नही है। पर्यायरूप से कौन परिणमित हुआ ? तो कहते हैं वस्तु स्वय। आत्मा और उसके अनन्तगुण, प्रतिसमय नई–नई पर्यायरूप से उत्पन्न होते है, उस पर्याय मे वे तद्रूप हैं। इसलिये पर्याय अपेक्षा से देखने पर द्रव्य–क्षेत्र-काल और भाव—चारो दूसरे समय पलट गये है। द्रव्य और गुणो की अपेक्षा से सदृशता ही है, तथापि पहले समय के जो द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव हैं वे पहले समय की उस पर्यायरूप से उत्पन्न (परिणमित) हुए हैं, और दूसरे समय मे वे द्रव्य–क्षेत्र–भाव तीनो पलटकर दूसरे समय की उस पर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार क्रमबद्धपर्यायरूप से द्रव्य स्वय ही परिणमित होता है। दूसरे समय की पर्याय "ज्यों की त्यो" भले हो, किन्तु द्रव्य की पहले समय जो तद्रूपता थी वह बदलकर दूसरे समय मे दूसरी पर्याय के साथ तद्रूपता हुई है। अहो, पर्याय–पर्याय मे सारे द्रव्य को साथ ही साथ लक्ष मे रखा है। द्रव्य का यह स्वरूप समझे तो पर्याय–पर्याय मे द्रव्य का

अवलम्बन वर्तता ही रहे इसलिये द्रव्य की दृष्टि में निर्मल-निर्मल पर्यायों की धारा बहती रहे ऐसी अपूर्व यह बात है।

(१८९) मुक्ति का मार्ग

पर्यायरूप से उत्पन्न कौन हुआ ? कहते हैं द्रव्य ! इसलिये अपने को अपने ज्ञायकद्रव्य के सन्मुख ही देखना रहता है दूसरा आकर इसका कुछ कर दे अथवा यह किसी दूसरे का कुछ करने आवे यह बात कहाँ रहती है ? भाई ! यह बात समझकर तू स्वसन्मुख हो अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर देख।—इसके सिवा अन्य कोई हित का मार्ग नहीं है। छुटकारे का मार्ग तुझी में विद्यमान है अंतर के ज्ञायकस्वरूप को पकड़कर उसमें एकता कर तो छुटकारे का मार्ग तेरे हाथ में ही है इसके सिवा बाह्य में लाखों प्रयत्न करने से भी छुटकारा (मुक्ति का मार्ग) हाथ नहीं आ सकता।

(१९०) "ज्ञायक" ही ज्ञेयों का ज्ञाता है

अपने क्रमबद्धपरिणामों में तद्रूप वर्तता हुआ द्रव्य प्रवाहक्रम में दौड़ता ही जाता है; आयतसामान्य अर्थात् दौड़ता प्रवाह-उसमें तद्रूपता से द्रव्य उत्पन्न होता है। द्रव्य के प्रदेश सब एकसाथ (विस्तार सामान्य समुदायरूप से) विद्यमान हैं और पर्यायें एक के बाद एक क्रमबद्ध प्रवाहरूप से वर्तती हैं। द्रव्य के क्रमबद्धपरिणमन की धारा को रोकने तोड़ने या बदलने में कोई समर्थ नहीं है। मैं ज्ञायक जगत के द्रव्य-गुण-पर्यायों को—जिस प्रकार वे सत् हैं उसी प्रकार—जानने-वाला हूँ—इस प्रकार अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करने की यह बात है। जो ज्ञायक का निर्णय करे वही ज्ञेयों को यथार्थरूप से जानता है।

(१९१) यह है ज्ञायकस्वभाव का अकर्तृत्व

द्रव्य-क्षेत्र और भाव पहले समय की उस पर्याय में तद्रूप हैं वह पर्याय बदलकर दूसरी हुई तब दूसरे समय की उस पर्याय में तद्रूप हैं।—इस प्रकार वस्तु के द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव चारों

प्रतिसमय पलटकर नई-नई अवस्थारूप से उत्पन्न होते हैं, इसलिये उसी पर्याय के साथ उन्हे कारण-कार्यपना है, किन्तु दूसरी के साथ कारणकार्यपना नही है। देखो, यह ज्ञायकस्वभाव का अकर्तृत्व !

(१) ज्ञायकभाव पर से तो भिन्न,

(२) रागादि के भावो से भी भिन्न,

(३) एक पर्याय, आगे-पीछे की दूसरी अनंत पर्यायो से भिन्न,

(४) एक गुण दूसरे अनन्त गुणो से भिन्न, और

(५) द्रव्य-गुण की पहले समय मे जिस पर्याय के साथ तद्रूपता थी वह तद्रूपता दूसरे समय नही रही, किन्तु दूसरे समय दूसरी पर्याय के साथ तद्रूपता हुई है।

—देखो यह सत्य के श्रद्धान होने की रीति ! यह बात लक्ष मे लेने से सम्पूर्ण ज्ञायक द्रव्य-दृष्टि के समक्ष आ जाता है।

(१९२) "जीवंत वस्तुव्यवस्था और ज्ञायक का जीवन"—उसे जो नही जानता वह मूढ "मरे हुए को जीवित, और जीवित को मरा हुआ मानता है।"

जिस प्रकार कोई अज्ञानी प्राणी मुर्दे को जीवित मानकर उसे जिलाना चाहे—खिलाना-पिलाना चाहे, तो कही मुर्दा जीवित नही हो सकता और उसका दु:ख दूर नही हो सकता, (यहाँ रामचंद्रजी का उदाहरण नही देते, क्योकि रामचन्द्रजी तो ज्ञानी सम्यक्त्वी थे) किन्तु मुर्दे को मुर्दारूप से जाने तो उसकी भ्रमणा का दुःख दूर हो। उसी प्रकार परवस्तु के साथ कर्ता-कर्मपने का अत्यन्त अभाव ही है, (मुर्दे की भाँति), तथापि जो वैसा मानता है कि—पर का भी करता हूँ, वह अभाव को अभावरूप न मानकर, पर का अपने मे सद्भाव मानता है, उस विपरीत मान्यता से वह दुःखी ही है।

अथवा, जिस प्रकार कोई जीवित को मरा हुआ माने तो वह

मुर्दा है उसी प्रकार आत्मा ज्ञायकस्वभाव से जीवित है ज्ञायकपना ही उसका जीवन है, उसके बदले जो उसे पर का कर्ता मानता है वह ज्ञायकजीवन का घात करता है इसलिये वह महान हिंसक है। और परवस्तु भी जीवित (स्वयं परिणमित) है उसके बदले मैं उसे परिणमित करता हूँ—ऐसा जिसने माना उसने परवस्तु को जीवित नहीं माना किन्तु मरा हुआ अर्थात् परिणमनरहित माना है। स्वतंत्र परिणमित वस्तु का जो पर के साथ कर्ता–कर्मपना मानता है वह जीवंत वस्तुव्यवस्था को नहीं मानता। समयसार गाथा ३५६ से ३६५ की टीका में भी कहा है कि– जिसका जो हो वह वही होता है जैसेकि—ज्ञान आत्मा का होने से ज्ञान आत्मा ही है —ऐसा *तात्त्विकसम्बन्ध जीवंत है। देखो यह जीवंत सम्बन्ध !!* आत्मा का अपने ज्ञानादि के साथ एकता का सम्बन्ध जीवंत है, किन्तु पर के साथ कर्ताकर्मपने का सम्बन्ध किंचित् भी जीवंत नहीं है। यदि परद्रव्य आत्मा का कार्य हो अर्थात् आत्मा पर का कार्य करे, तो वह परद्रव्य आत्मा ही हो जाये क्योंकि जो जिसका काम हो वह उससे पृथक नहीं होता। किन्तु ज्ञायकआत्मा का पर के साथ ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं है। तथापि जो पर के साथ कर्ताकर्म का सम्बन्ध मानता है वह ज्ञायकजीवन का घात कर देता है और मुर्दे को जीवित करना चाहता है वह मूढ़–मिथ्यादृष्टि है। सभी द्रव्य स्वयं परिणमित होकर अपनी क्रमसर पर्यायों में तद्रूपतापूर्वक वर्तते हैं—ऐसी जीवंत वस्तुव्यवस्था है उसके बदले दूसरे के द्वारा उसमें कुछ फेरफार होगा माने तो उससे कहीं वस्तुव्यवस्था तो नहीं बदल जायेगी किन्तु वैसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि होगा।

चारों ओर से एक ही धारा की बात है किन्तु जो पात्र होकर समझना चाहे उसीकी समझ में आती है। द्रव्य के क्रमबद्ध प्रवाह को कोई दूसरा बीच में आकर बदल दे–ऐसा जीवन्त वस्तु में नहीं है इसलिये स्वभावसन्मुख होकर ज्ञायकभावरूप परिणमित हुआ उसे ज्ञायकभाव की परिणमनधारा में बीच में राग का कर्तृत्व भा

जाये—ऐसा ज्ञायक के जीवन मे नही है; तथापि ज्ञायक को राग का कर्ता माने तो वह जीवंतवस्तु को नही जानता—ज्ञायक के जीवन को नही जानता।

ज्ञायकजीव को अपने निर्मलज्ञानपरिणाम का कर्तापना हो—ऐसा सम्बन्ध जीवित है, किन्तु ज्ञायकजीव को अजीव का कर्तृत्व हो—ऐसा सम्बन्ध जीवित नही है। ज्ञानी को ज्ञायकभाव के साथ का सम्बन्ध जीवित है और मोह के साथ का सम्बन्ध मर गया है;—ऐसा है ज्ञाता का जीवन!

(१९३) कर्ताकर्मपना अन्य से निरपेक्ष है, इसलिये जीव अकर्ता है, ज्ञायक है।

आचार्यदेव कहते हैं कि जीव कर्ता और अजीव उसका कर्म—ऐसा किसी प्रकार सिद्ध नही होता, क्योकि कर्ता–कर्म की अन्य से निरपेक्षतया सिद्धि है; एक वस्तु के कर्ता–कर्म मे बीच मे दूसरे की अपेक्षा नही है। क्रमबद्धअवस्थारूप से उत्पन्न होनेवाला द्रव्य ही कर्ता होकर अपने पर्यायरूप कर्म को करता है, वहाँ "यह हो तो ऐसा हो"—इस प्रकार अन्य द्रव्य की अपेक्षा नही है। पर की अपेक्षा के बिना अकेले स्वद्रव्य मे ही कर्ताकर्म की सिद्धि हो जाती है। यह निश्चय है,—ऐसी निश्चय वस्तुस्थिति का ज्ञान हो गया, तब दूसरे निमित्त को जानना वह व्यवहार है। वहाँ भी, इस वस्तु का कार्य तो उस निमित्त से निरपेक्ष ही है—निमित्त के कारण इस कार्य मे कुछ हुआ—ऐसा नही है। व्यवहार से निमित्त को कर्ता कहा जाता है, किन्तु उसका अर्थ यह नही है कि उसने कार्य मे कुछ भी कर दिया! "व्यवहार—कर्ता" का अर्थ ही "वास्तव मे अकर्ता" है। कर्ता–कर्म अन्य से निरपेक्ष हैं, इसलिये निमित्त से भी निरपेक्ष हैं, अन्य किसी की अपेक्षा बिना ही पदार्थ को अपनी पर्याय के साथ कर्ता-कर्मपना है। प्रत्येक द्रव्य के छहो कारक (कर्ता–कर्म–करणादि) अन्य द्रव्यों से निरपेक्ष हैं, और अपने स्वद्रव्य में ही उनकी सिद्धि होती है।

कर्त्ता–कर्म–करण–संप्रदान–अपादान और अधिकरण—यह छहों कारक जीव के जीव में हैं और अजीव के अजीव में हैं।—ऐसा होने से जीव को अजीव का कर्तापना किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता, किन्तु जीव अकर्त्ता ही है—ज्ञायक ही है—ऐसा बराबर सिद्ध होता है। इस प्रकार आचार्यदेव ने जीव का अकर्तृत्व सिद्ध किया है।

(१९४) यह "क्रमबद्धपर्याय के पारायण का सप्ताह" आज पूरा होता है

(१९५) यह समझ के उसे क्या करना चाहिये ?—सारे उपदेश का निचोड़ !

प्रश्नः—लेकिन यह बात समझने के बाद क्या ?

उत्तरः—भीतर ज्ञायक में स्थिर होना इसके सिवा और क्या करना है ? क्या तुझे बाह्य में उछल–कूद करना है ? या पर का कुछ कर देना है ? यह ज्ञायकस्वरूप समझने से स्वयं ज्ञायकसम्मुख होकर ज्ञातारूप से रहा और राग के कर्तारूप नहीं हुआ—यही इस समझ का फल है। 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसा समझा वहाँ ज्ञायक क्या करेगा ? ज्ञायक तो ज्ञाता दृष्टापने का ही कार्य करता है। ज्ञायक को पर का या राग का काम करने का जो मानता है वह ज्ञायक स्वभाव को समझा ही नहीं है और न क्रमबद्धपर्याय को समझा है। भाई ! ज्ञायकस्वभावोन्मुख होकर उसमें एकाग्र होने से सम्यग्दर्शन से लेकर केवलज्ञान तक की क्रमबद्धपर्याय विकसित होती जाती है,—और यही सभी उपदेश का निचोड़ है। सर्वविशुद्धज्ञान–अधिकार की इन चार गाथाओं में आचार्यदेव ने सारा निचोड़ भर दिया है। 'सर्वविशुद्धज्ञान' अर्थात् ज्ञायकभाव शुद्ध आत्मा ! उसकी प्रतीति कर और क्रमबद्धपर्याय को यथावत् जान।

(१९६) ज्ञायकभगवान जागृत हुआ वह क्या करता है ?

इस ज्ञायक की प्रतीति की वहाँ जब ज्ञायकभूमि में ही पर्याय

उछलती है,—ज्ञायक का ही आश्रय करके निर्मलरूप से उत्पन्न होती है, किन्तु रागादि का आश्रय करके उत्पन्न नही होती। ज्ञायकस्वभाव की सन्मुखता हुई वहाँ पर्याय उछलती है—अर्थात् निर्मल-निर्मलरूप से वढती ही जाती है। अथवा—द्रव्य उछलकर अपनी निर्मल क्रमवद्धपर्याय मे कूदता है,—उस पर्यायरूप से स्वय उत्पन्न होता है, किन्तु कही वाह्य मे नही कूदता। पहले ज्ञायक के भान विना मिथ्यात्वदशा मे सोता था, उसके वदले अव स्वभावसन्मुख होकर ज्ञायकभगवान जागृत हुआ वहाँ वह अपनी निर्मल पर्याय मे उछलने लगा, अव वढती हुई निर्मलपर्याय मे कूदते-कूदते वह केवलज्ञान प्राप्त करेगा।

(१९७) "क्रमवद्ध" के ज्ञाता को मिथ्यात्व का क्रम नहीं होता

प्रश्नः—क्रमवद्धपर्याय तो अज्ञानी को भी है न ?

उत्तर—भाई, इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से क्रमवद्धपर्याय का स्वरूप जो समझे उसे अपने मे अज्ञान रहता ही नही। वह ऐसा जानता है कि ज्ञानी को, अज्ञानी को या जड को,—सभी को क्रमवद्धपर्याय है, किन्तु उसमे —

—ज्ञानी को अपने ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से निर्मल-निर्मल क्रमबद्धपर्याय होती है,

—अज्ञानी को विपरीतदृष्टि मे मलिन क्रमबद्धपर्याय होती है, और

—जड की क्रमबद्धपर्याय जड़रूप होती है।

—ऐसा जाननेवाले ज्ञानी को अपनेमे तो मिथ्यात्वादि मलिन पर्याय का क्रम रहता ही नही है, क्योकि उसका पुरुषार्थ तो अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर ढल गया है, इसलिये उसे तो सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों का क्रम प्रारम्भ हो गया है। यदि ऐसी दशा न हो तो वह वास्तव मे क्रमबद्धपर्याय का रहस्य नही समझा है—मात्र बातें करता है।

(१९८) "चैतन्यचमत्कारी हीरा"

यहाँ आचार्यभगवान ने जीव को उसका ज्ञायकपना समझाया है—भाई! तेरा आत्मा ज्ञायक है 'चैतन्यचमत्कारी हीरा' है तेरा आत्मा प्रतिसमय ज्ञाता-दृष्टापने की क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होकर जाने—ऐसा ही तेरा स्वभाव है। किन्हीं पर पदार्थों की अवस्था को बदलने का स्वभाव नहीं है इसलिये पर की कर्ताबुद्धि छोड़ और अपने ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर ज्ञायकरूप ही रह।

(१९९) चैतन्यराजा को ज्ञायकभाव की राजगद्दी पर बिठाकर सम्यक्त्व का तिलक होता है वहाँ विरोध करके पर को बदलना चाहता है, उसके दिन फिरे हैं!

अहो ऐसी परम सत्य बात समझाकर आचार्यदेव आत्मा को उसके ज्ञायकस्वभाव की राजगद्दी पर बिठाते हैं आत्मा में सम्यक्त्व का तिलक करते हैं किन्तु विपरीतदृष्टिवाले मूढ़ जीव ऐसी सत्य बात का विरोध करते हैं उन्हें ज्ञायकरूप ही नहीं रहना है किन्तु पर के कर्तृत्व का अभिमान करके अभी संसार में भटकना है। राजा भवभग को एकबार एक सुन्दर चारण युवती नृत्य करने आई। उस समय उस सुन्दरी का रूप देखकर राजा की दृष्टि बिगड़ी इसलिये जब वह युवती नृत्य करने लगी कि राजा ने अपना मुँह दूसरी दिशा में फेर लिया। युवती दूसरी दिशा में गई तो राजा ने तीसरी दिशा में मुँह कर लिया। अन्त में उस युवती ने अपनी माता से कहा कि—माताजी 'राय फिरे है।' उसकी बात राजा का हृदय समझ गई इसलिये उसने उत्तर दिया कि— बेटा! राय नहीं

सम्यग्दर्शनरूपी राजतिलक करनेका सुअवसर आया है अरे चैतन्यराजा! बैठ अपने ज्ञायकस्वभाव की गद्दी पर यह तुझे राजतिलक होता है।"

वहाँ जिन्हे विकार की रुचि है—ऐसे विपरीत दृष्टिवाले मूढ जीव (राय नवघण की भाँति मुँह फेरकर) कहते हैं कि—अरे! ऐसा नही. ऐसा नही हम तो पर को बदल देगे " यानी उन्हे ज्ञायकरूप से नही रहना है किन्तु विकारीदृष्टि रखकर पर को बदलना है। किन्तु अरे मूढ जीवो! तुम किसीकी पर्याय नही बदल सकते, तुम ज्ञायकसन्मुख नही होते और पर की ओर मुंह फेरते हो इसलिये तुम्हारे दिन फिरे हैं—तुम्हारी दृष्टि विपरीत हुई है। ज्ञायकस्वभाव की राजगद्दी पर बैठकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी तिलक करने का अवसर आया, उस समय ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति करके स्वसन्मुख होने के बदले अज्ञानी जीव उसे विपरीत मानते हैं और "एकान्त है, रे! एकान्त है " ऐसा कहकर विरोध करते हैं। अरे! उनके दिन फिरे हैं, ज्ञायकोन्मुख होकर निर्मल स्वकाल होना चाहिये उसके बदले वे मिथ्यात्व का पोषण करते हैं इसलिये उनके दिन फिरे है।

(२००) "केवली के नन्दन" बतलाते हैं—केवलज्ञान का पंथ

भगवान! तेरा आत्मा तो ज्ञायकस्वरूप है, वह ज्ञायक रागादि भावो का अकर्ता है। ज्ञायकोन्मुख होने से जो ज्ञानभाव प्रगट हुआ तथा अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन प्रगट हुआ उसका कर्ता-भोक्ता आत्मा है, किन्तु रागादि का या कर्म का कर्ता-भोक्तापना उसमे नही है। ऐसे चैतन्यमूर्ति ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करके ज्ञाताद्रष्टारूप रहना और उसमें स्थिर होना—यही करना है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से ज्ञाता होकर अपने मे स्थिर हुआ वहाँ जीव रागादि का अकर्ता ही है और कर्म का भी अकर्ता है वह कर्मबन्धन का निमित्तकर्ता भी नही है इसलिये उसे बन्धन होता ही नही,—अब ज्ञायकस्वभावसन्मुख रहकर ज्ञाता-द्रष्टापने के निर्मल-निर्मल परिणामोरूप परिणमित होने से उसके रागादि सर्वथा दूर हो जायेंगे और केवलज्ञान प्रगट हो जायेगा।—यही केवलज्ञान का पथ है।

जय हो

ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख ले जाकर 'सर्वज्ञशक्ति' की और 'क्रमबद्धपर्याय' की प्रतीति करानेवाले केवलीप्रभु के लघुनन्दन श्री कहानगुरुदेव की

जय हो

ज्ञायकमूर्ति की जय हो

आत्मा ज्ञायक है

क्रमबद्धपर्याय का विस्तार से स्पष्टीकरण

—और—

अनेकप्रकार की विपरीत कल्पनाओं का निराकरण

भाग दूसरा

[समयसार गाथा ३०८ से ३११ तथा उसकी टीका पर पूज्य गुरुदेव के **प्रवचन**]

आत्मा के अतीन्द्रिय सुख का स्पर्श करके बाहर निकलनेवाली, भेदज्ञान की झनझनाहट करती हुई और मुमुक्षुओ के हृदय को हिलाती हुई पूज्य गुरुदेव की पावनकारी वाणी में, "ज्ञायकसन्मुख ले जानेवाले क्रमबद्धपर्याय के प्रवचनों" की जो अद्भुत अमृतधारा एक सप्ताह तक प्रवाहित हुई थी वह प्रथम भाग में प्रकाशित कर चुके हैं। तत्पश्चात् मुमुक्षुओ के विशेष सद्भाग्य से दूसरी बार आश्विन शुक्ला सप्तमी से एकादशी तक ऐसी ही अमृतधारा पांच दिन तक पुन प्रवाहित हुई। नित्य नवीनता को धारण करती हुई वह अमृतधारा यहाँ दी जाती है।

"मैं ज्ञाता हूँ—इसप्रकार ज्ञानसन्मुख होकर परिणमन न करके, रागादि का कर्ता होकर परिणमित होता है वह जीव क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता नही है। क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता तो ज्ञायकसन्मुख रहकर रागादि को भी जानता ही है। उसे स्वभावसन्मुख परिणमन मे शुद्धपर्याय ही होती जाती है।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, उसे लक्ष मे लेकर तू विचार कर कि—इस ओर मैं ज्ञायक हूँ, मेरा सर्वज्ञस्वभाव है,—तो सामने ज्ञेयवस्तु की पर्याय क्रमबद्ध ही होगी या अक्रमबद्ध? अपने ज्ञानस्वभाव को सामने रखकर विचार करे तो यह क्रमबद्धपर्याय की बात एकदम जम जाये ऐसी है, किन्तु ज्ञायकस्वभाव को भूलकर विचार करे तो एक भी वस्तु का निर्णय नही हो सकता।"

प्रवचन पहला

[आश्विन शुक्ला ७ वीर सं० २४८]

(१) अलौकिक अधिकार की पुन' अवनिका

यह अलौकिक अचिन्त्य अधिकार है इसलिये पुन' अवनिका होती है। यह मोक्षअधिकार की भूमिका है। समयसार में नवतत्त्वों का वर्णन करने के पश्चात् आचार्यदेव ने यह 'सर्वविशुद्धज्ञान' का वर्णन किया है। 'सर्वविशुद्धज्ञान' अर्थात् आत्मा का ज्ञायकस्वभाव उस स्वभाव में ढलकर अभेद हुआ ज्ञान रागादि का भी अकर्ता ही है।

यहाँ सिद्ध करना है जीव का अकर्तृत्व ! किन्तु उसमें क्रमबद्धपर्याय की बात करके आचार्यदेव ने अलौकिक रीति से अकर्तृत्व सिद्ध किया है।

(२) ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि कराने का प्रयोजन है

'प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है।' एकसाथ ज्ञान आनन्द श्रद्धादि अनन्त गुणों की क्रमबद्धपर्यायरूप से जीव द्रव्य उत्पन्न होता है। 'जीव' किसे कहा जाये उसका वर्णन पहले (गाथा २ आदि में) करते आये हैं। वहाँ कहा था कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी अपनी निर्मल पर्याय में स्थित होकर जो उत्पन्न होता है वही वास्तव में जीव है जो रागादि भावों में स्थित है वह वास्तव में जीव नहीं है। जीव ज्ञायकस्वभाव है वह ज्ञायकस्वभाव वास्तव में रागरूप से उत्पन्न नहीं होता—इसलिये ज्ञायकसन्मुख हुआ जीव राग का कर्ता नहीं होता ज्ञायक की दृष्टि में उसे राग की अधिकता नहीं होती इसलिये वह रागादि का अकर्ता ही है। ऐसा ज्ञायकस्वभाव का अकर्तृत्व बतलाकर यहाँ उस ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि कराने का प्रयोजन है।

(३) ज्ञायकस्वभावी जीव राग का भी अकर्ता है

आत्मा ज्ञायक है, अनादि से उसके ज्ञायकभाव का स्व-पर-प्रकाशक स्वभाव है, ज्ञान तो स्व-पर को जानने का ही काम करता है, किन्तु ऐसे ज्ञायकभाव की प्रतीति न करके अज्ञानी जीव राग के कर्तारूप से परिणमित होता है अर्थात् मिथ्यात्वरूप से उत्पन्न होता है। यहाँ आचार्यदेव उस अज्ञानी को उसका ज्ञायकस्वभाव समझाते हैं—आत्मा तो स्व-परप्रकाशक ज्ञायकस्वभावी है, उसका ज्ञायकभाव उत्पन्न होकर राग को उत्पन्न करे या मिथ्यात्वादि कर्मों के वन्ध मे निमित्त हो—ऐसा नही है, और उन कर्मों को निमित्त वनाकर उनके आश्रय से स्वय विकाररूप उत्पन्न हो—ऐसा भी उसका स्वभाव नही है; किन्तु ज्ञायक के अवलम्बन से क्रमवद्ध ज्ञायकभावरूप ही उत्पन्न हो —ऐसा आत्मा का स्वभाव है। स्वय निमित्तरूप होकर दूसरे को न उत्पन्न करता हुआ, तथा दूसरे के निमित्त से स्वय न उत्पन्न होता हुआ ऐसा ज्ञायकस्वभाव वह जीव है। स्वसन्मुख रहकर स्वय स्व-परप्रकाशक ज्ञानरूप क्रमवद्ध उत्पन्न होता हुआ राग को भी ज्ञेय बनाता है। अज्ञानी राग को ज्ञेय न वनाकर, उस राग के साथ ही ज्ञान की एकता मानकर मिथ्यादृष्टि होता है, और ज्ञानी तो ज्ञानस्वभाव मे ही ज्ञान की एकता रखकर राग को पृथक्रूप से ज्ञेय बनाता है, इसलिये ज्ञानी तो ज्ञायक ही है, वह राग का भी कर्ता नही है।

(४) ज्ञानी की बात, अज्ञानी को समझाते हैं

—यह बात किसे समझाते हैं ?

यह बात है ज्ञानी की, किन्तु समझाते हैं अज्ञानी को। अन्तर में जिसे ज्ञानस्वभाव और राग की भिन्नता का भान नही है ऐसे अज्ञानी को समझाते हैं कि—तू ज्ञायक है, ज्ञायकभाव स्व-पर का प्रकाशक है किन्तु रागादि का उत्पादक नही है। भाई ! ज्ञायकभाव कर्ता होकर ज्ञान को उत्पन्न करेगा या राग को ? ज्ञायकभाव तो ज्ञान

को ही उत्पन्न करता है। इसलिये, ज्ञायकभाव राग का कर्ता नहीं है—ऐसा तू समझ और ज्ञायकसन्मुख हो।

(५) किस दृष्टि से क्रमबद्धपर्याय का निर्णय होता है?

यहाँ क्रमबद्धपर्याय बतलाकर ज्ञायकस्वभाव पर जोर देना है, क्रमबद्ध के वर्णन में ज्ञायक की ही मुख्यता है, रागादि की मुख्यता नहीं है। जीव अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है उसमें ज्ञान, श्रद्धा आदि समस्त गुणों का परिणमन साथ ही है। उस परिणामरूप से कौन उत्पन्न होता है?—जीव उत्पन्न होता है। वह जीव कैसा?—ज्ञायकस्वभावी। ऐसा निर्णय करनेवाला अपने ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से ज्ञानभावरूप ही (श्रद्धा, ज्ञान आनन्दादि गुणों के निर्मल भावरूप ही) उत्पन्न होता है रागरूप उत्पन्न नहीं होता। श्रद्धा, ज्ञान आनंदादि की क्रमबद्धपर्यायरूप से 'राग' उत्पन्न नहीं होता किन्तु ज्ञायकस्वभावी 'जीव' उत्पन्न होता है। इसलिये ज्ञायकस्वभाव पर जिसकी दृष्टि है उसीको क्रमबद्धपर्याय का सच्चा निर्णय है और उसकी क्रमबद्धपर्यायें निर्मल होती जाती हैं।

(६) "स्वसमय" अर्थात् रागादि का अकर्ता

समयसार की पहली गाथा 'वंदित्तु सव्व सिद्धे' में सब सिद्धभगवन्तों को नमस्कार करके दूसरी गाथा में जीव के स्वरूप का वर्णन करते हुए आचार्यदेव ने कहा है कि—

> 'जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
> पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं॥'

अर्थात् स्वसन्मुख होकर अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल पर्याय में जो आत्मा स्थित है उसे स्वसमय जान। वह तो जीवका स्वरूप है, किन्तु निमित्तमें और रागमें एकत्वबुद्धि करके उसीमें जो स्थित है वह परसमय है वह वास्तव में जीव का स्वरूप नहीं है। यहाँ जिसे 'स्वसमय' कहा उसीको यहाँ 'अकर्ता' कहकर वर्णन किया है। ज्ञायकस्वभाव सन्मुख होकर अपने सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान और

वीतरागभाव की पर्यायरूप से जो उत्पन्न हुआ वह "स्वसमय" है और वह रागादि का "अकर्ता" है।

(७) "निमित्त का प्रभाव" माननेवाले बाह्यदृष्टि में अटके हैं

आजकल तो इस मूलभूत अतर की बात को भूलकर अनेक लोग निमित्त और व्यवहार के झगडेमे फँसे है। निमित्तोका आत्मा पर प्रभाव पडता है—ऐसा मानकर जो निमित्ताधीन दृष्टि मे ही अटक गये हैं उन्हे तो ज्ञायकस्वभावोन्मुख होने का अवकाश नही है। निमित्त का प्रभाव पडता है,—यानी कुम्हार का घडे पर, कर्म का आत्मा पर प्रभाव पडता है,—ऐसा जो मानते हैं उन्हे तो अभी मिथ्यात्वरूपी मदिरा का प्रभाव लेकर मिथ्यादृष्टि ही रहना है। ज्ञायकस्वभावोन्मुख होने से मेरी पर्याय मे ज्ञायकभाव का प्रभाव पडता है—ऐसा न मानकर, निमित्त का प्रभाव मानता है, तो हे भाई! निमित्तोन्मुखता को छोडकर तू स्वभाव की ओर कब ढलेगा? निमित्त की ओर ही न देखकर ज्ञायकस्वभावोन्मुख हो तो कर्म का निमित्तपना नही रहता। अज्ञानी को उसके अपने गुणो की विपरीतता मे कर्म का निमित्त भले हो, किन्तु वह तो परज्ञेय में जाता है, यहाँ तो ज्ञानी की बात है कि—ज्ञानी स्वयं ज्ञायक की ओर ढला है इसलिये वह ज्ञातारूप ही उत्पन्न हुआ है—रागरूप, आस्रव या बन्धरूप वह उत्पन्न नही होता, इसलिये उसे कर्म का निमित्तपना भी नही है। इस प्रकार, क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति करके ज्ञायकोन्मुख जीव, क्रमबद्धपर्याय मे रागरूप से उत्पन्न नही होता किन्तु ज्ञानरूप से ही उत्पन्न होता है और यही क्रमबद्ध की यथार्थ प्रतीति का फल है।

(८) ज्ञाता के क्रम में ज्ञान की वृद्धि और राग की हानि

प्रश्नः—यदि पर्याय क्रमबद्ध है—हीनाधिक नही होती, तो फिर अल्प ज्ञान को बढाया नही जा सकता और राग को कम नहीं किया जा सकता?

उत्तरः—अरे भाई! अभी तू यह बात नहीं समझा तेरा झुकाव ज्ञायक की ओर नहीं हुआ। भाई, ज्ञान को बढ़ाने और राग को कम करने का उपाय कहीं बाह्य में है या अंतरंग ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन में? "मैं ज्ञायक हूँ और मेरे ज्ञायक की पर्याय तो क्रमबद्ध स्व-परप्रकाशक ही होती है"—ऐसा निर्णय करके ज्ञायक का अवलम्बन लिया है, वहाँ पर्याय-पर्याय में ज्ञान की विशुद्धता बढ़ती ही जाती है और राग कम होता जाता है। मैं ज्ञान को बढ़ाऊँ और राग को कम करूँ—इस प्रकार पर्याय की ओर ही लक्ष रखे किन्तु अंतर में ज्ञायकस्वभाव का अवलम्बन न ले तो उसे ज्ञान बढ़ाने और राग कम करने के सच्चे उपाय की खबर नहीं है। साधक को जो राग होता है वह तो स्व-परप्रकाशक ज्ञान के ज्ञेयरूप है, किन्तु ज्ञान के कार्यरूप नहीं है, इसलिये ज्ञानी उसका ज्ञाता ही है किन्तु वह राग का कर्ता या उसे बदलनेवाला नहीं है। राग के समय भी ज्ञानी तो उस राग के ज्ञानरूप ही उत्पन्न हुआ है। यदि राग को इधर-उधर बदलने की बुद्धि करे तो राग का कर्तृत्व हो जाता है इसलिये ज्ञातापने का क्रम न रहकर मिथ्यात्व हो जाता है। सामने जिस समय राग का काल है उसी समय ज्ञानी को अपने में तो ज्ञातापने का ही काल है ज्ञायकोन्मुख होकर वह तो ज्ञानरूप ही उत्पन्न होता है—रागरूप उत्पन्न नहीं होता।

(९) अन्तर्मुख ज्ञान के साथ आनन्द, श्रद्धा आदि का परिणमन और वही धर्म

जीव को ऐसा स्व-परप्रकाशक ज्ञान विकसित होने पर वह अपने आनन्दादि गुणों की निर्मलता को भी जानता है। ज्ञान के साथ आनन्द श्रद्धादि अन्य अनन्त गुण भी उसी समय अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं और ज्ञान उन्हें जानता है। ज्ञान में *ऐसी ही स्व-परप्रकाशकपने की शक्ति विकसित हुई है* और उससमय अन्य नहीं किन्तु उन गुणों में ही ऐसा क्रम है। यहाँ ज्ञान में

स्व–सन्मुख होने से निर्मल स्व-परप्रकाशकशक्ति विकसित हुई और उसी समय श्रद्धा, आनन्दादि दूसरे गुणो में निर्मल परिणमन न हो—ऐसा कभी नही होता। शुद्ध द्रव्य की दृष्टि मे द्रव्य के ज्ञान–आनन्दादि गुणो मे एक साथ निर्मल परिणमन का प्रवाह प्रारम्भ हो जाता है। सम्यक्श्रद्धा के साथ सम्यक्चारित्र, आनन्दादि का अंश भी साथ ही है। देखो, इसका नाम धर्म है। अन्तर मे ऐसा परिणमन हो वह धर्म है, इसके सिवा वाहर के किसी स्थान मे या शरीरादि की क्रिया मे धर्म नही है, पाप के या पुण्य के भाव मे धर्म नही है। अकेले शास्त्रो के शब्दो को जान लेने मे भी धर्म नही है। अन्तर्मुख होकर ज्ञायकस्वभाव का अवलम्बन लेने से, श्रद्धा–ज्ञानादि गुणो का निर्मल परिणमन प्रारम्भ हो जाये उसका नाम धर्म है। इसप्रकार ज्ञायकमूर्ति आत्मा के अवलम्बन मे धर्म है। ज्ञायक का अवलम्बन लेकर ज्ञानभावरूप से उत्पन्न हुआ वही ज्ञानी का धर्म है।

(१०) जैसा वस्तुस्वरूप, वैसा ही ज्ञान, और वैसी ही वाणी

"जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते।
त जीवमजीव वा तेहिमणण्णं वियाणाहि ॥" ३०९ ॥

अर्थात् सूत्र मे जीव या अजीव के जो परिणाम दर्शाये हैं, उनके साथ उस जीव या अजीव को अनन्य–एकमेक जान। प्रत्येक द्रव्य की अपने परिणामो के साथ अभेदता है, किन्तु पर से भिन्नता है

—ऐसा सर्वज्ञदेव और सन्तो ने जाना है,
—सर्वज्ञ के आगम में—सूत्र मे भी ऐसा कहा है,
—और वस्तुस्वरूप भी ऐसा ही है,

इसप्रकार ज्ञान, शब्द और अर्थ—इन तीनो की सधि है। प्रतिसमय क्रमबद्ध उत्पन्न होनेवाले अपने परिणामो के साथ द्रव्य तन्मय है—ऐसा वस्तु का स्वरूप है, ऐसा ही सर्वज्ञ और सन्तो का ज्ञान जानता है और ऐसा ही सूत्र बतलाता है। इससे विपरीत बतलायें, अर्थात् एक द्रव्य के परिणाम का कर्ता दूसरा द्रव्य है ऐसा बतलायें, तो

वे देव गुरु या शास्त्र सच्चे नहीं हैं और वस्तु का स्वरूप भी ऐसा नहीं है ।

(११) ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि ही मूल तात्पर्य

यहाँ क्रमबद्धपर्याय में द्रव्य की अनन्यता बतलाकर द्रव्यदृष्टि कराने का ही तात्पर्य है ।

(१) "णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो ।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ॥

—ऐसा कहकर यहाँ छठवीं गाथा में पर्याय के भेदों का अवलम्बन छुड़ाकर एकरूप ज्ञायकभाव की दृष्टि कराई है ।

(२) तत्पश्चात्—

'ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूयत्थमस्सिदा खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥

—भूतार्थस्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है ऐसा कहकर यहाँ ग्यारहवीं गाथा में भी एकरूप ज्ञायकस्वभाव का ही अनुभव कराया है ।

(३) और संवर अधिकार में 'उवओगे उवओगो उपयोग में उपयोग है' —ऐसा कहकर संवर की जो निर्मल दशा प्रगट हुई उसके साथ आत्मा की अभेदता बतलाई अर्थात् ज्ञायकस्वरूप में अभेदता से ही संवर दशा प्रगट होती है—ऐसा बतलाया है ।

इसप्रकार आचार्य भगवान पहले से ही ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन की बात कहते आये हैं । यहाँ भी क्रमबद्धपर्याय में द्रव्य की अनन्यता बतलाकर दूसरे ढंग से ज्ञायकस्वभाव की ही दृष्टि कराई है । 'दविय जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं' —ऐसा कहकर पर्याय-पर्याय में (-प्रत्येक समय की पर्याय में) अभेदरूप से तेरा ज्ञायकभाव ही परिणमित हो रहा है—ऐसा बतलाया है । (इस संबंधी विस्तार के लिये प्रथम भाग में प्रवचन आठवाँ देखें)

(१२) वारम्बार मननकर अन्तर में परिणमित करने जैसी मुख्य बात

देखो, ऐसा "ज्ञा य क भा .व" जीव का सिर है,—वह मुख्य बात है इसलिये उसे सिर कहा है। यह बात मुख्य प्रयोजनभूत होने से वारम्बार रटने जैसी है, अन्तर मे निर्णय करके परिणमित करने जैसी है।

(१३) जीवतत्त्व

सात तत्त्वो मे से जीवतत्त्व कैसा है उसकी यह बात है। जीवतत्त्व का ज्ञायकस्वभाव है, उसके सन्मुख होकर ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न हुआ और उस परिणाम में अभेद हुआ वही वास्तव मे जीव है, राग मे अभेद होकर उत्पन्न हुआ वह वास्तव मे जीवतत्त्व नही है, वह तो आस्रवतत्त्व है। ज्ञानी के परिणमन मे राग की मुख्यता नही है, उनके तो एक ज्ञायक की ही मुख्यता है, राग के वे ज्ञाता हैं। ज्ञायकोन्मुख होकर उसे "निश्चयज्ञेय" बनाया वहाँ अस्थिरता का अल्पराग "व्यवहारज्ञेय" हो जाता है।

(१४) जीवन का सच्चा कर्तव्य

जीवन मे यह मुख्य करने जैसा है,—इस समझ से ही जीवन की सफलता है अरे! जीवन में ऐसी अपूर्व समझ बिना जीवन की घड़ियाँ व्यर्थ जाती हैं—ऐसी जिसे चिन्ता भी न हो—समझने की दरकार भी न हो, वह जीव समझने का प्रयत्न कहाँ से करेगा ? सच्ची समझ का मूल्य भासित होना चाहिए कि जीवन मे सत्समागम से सच्ची समझ करना ही एक करनेयोग्य सच्चा कार्य है। इस समझ के बिना "जगत मे बाह्य कार्य मैंने किये"—ऐसा मानकर जो व्यर्थ ही पर का अभिमान करता है, वह तो साँड की भाँति घूरे तितर-बितर करता है (जैसे कूडेकचरे के ढेर को साँड ऊँचा-नीचा करता है, वैसे व्यर्थ अहकार मे समय गँवाता है) उसमे आत्मा का किंचित् हित नही है।

(१५) प्रभु ! अपने ज्ञायकभाव को लक्ष में ले

भगवान ! तेरा आत्मा अनादि-अनन्त चैतन्यपिण्ड विद्यमान है उसे तो एक बार लक्ष में ले ! अनादि से बाहर देखा है किन्तु भीतर मैं कौन हूँ—यह कभी नहीं देखा सिद्धपरमात्मा जैसा अपना आत्मा है उसे कभी लक्ष में नहीं लिया। तेरा आत्मा ज्ञायक है। प्रभु ! ज्ञायक उत्पन्न होकर ज्ञायकभाव की रचना करेगा या राग की ? सुवर्ण उत्पन्न होकर सुवर्ण अवस्था की रचना करेगा कहीं लोहे की दशा नहीं रचेगा। उसी प्रकार आत्मा का ज्ञायकस्वभाव है वह तो ज्ञायकभाव का ही रचयिता है—ज्ञायक के अवलम्बन से ज्ञायकभाव की ही रचना (-उत्पत्ति) होती है किन्तु अज्ञानी अपने ज्ञायकस्वभाव को भूलकर राग की रचना करता है—रागादि का कर्ता बनता है। यहाँ ज्ञायकस्वभाव बतलाकर आचार्यदेव उस राग का कर्तृत्व छुड़ाते हैं।

(१६) निर्मल पर्याय को ज्ञायकस्वभाव का ही अवलम्बन

ज्ञानी अपने ज्ञायकस्वभाव में एकाग्रता से ज्ञायकभावरूप ही क्रमबद्ध उत्पन्न होता है अपने ज्ञायकपरिणाम के साथ अभेद होकर उत्पन्न होता हुआ वह जीव ही है अजीव नहीं है। वह किसी अन्य के अवलम्बन द्वारा निमित्त के कारण राग के कारण या पूर्व पर्याय के कारण उत्पन्न नहीं होता तथा भविष्य की पर्याय में केवलज्ञान होना है उसके कारण इस समय सम्यग्दर्शनादि पर्याय होती है—ऐसा भी नहीं है वर्तमान में जीव स्वयं ज्ञायकस्वभावोन्मुख होकर ज्ञायक भावरूप (सम्यग्दर्शनादिरूप) उत्पन्न हुआ है स्वोन्मुख हुई वर्तमान पर्याय का क्रम ही ऐसा निमित्त है। इसप्रकार अन्तरोन्मुख होकर ज्ञायकस्वभाव को पकड़ा वहाँ निर्मल पर्याय उत्पन्न हुई वर्तमान स्वभाव का अवलम्बन ही उसका कारण है इसके सिवा पूर्व-पश्चात् का कोई कारण नहीं है तथा *निमित्त या व्यवहार का अवलम्बन* नहीं है।

(१७) "पुरुष प्रमाणे वचन प्रमाण" यह कब लागू होता है ?

प्रश्न—ऐसा सूक्ष्म समझने मे बडी मेहनत होती है, इसकी अपेक्षा "पुरुष की प्रमाणता से वचन प्रमाण"—ऐसी धारणा करके यह बात मान लें तो ?

उत्तर—भाई, यह तो अकेला पर-प्रकाशक हुआ, स्व-प्रकाशक के बिना पर-प्रकाशकपना कहाँ से सच्चा होगा ? पुरुष प्रमाण है या नही, उसका निर्णय ज्ञान के बिना कौन करेगा ? ज्ञान का निर्णय करके सम्यग्ज्ञान हुए बिना पुरुष की प्रमाणता की परीक्षा कौन करेगा ? आप्तमीमासा (—देवागमस्तोत्र) मे स्वामी समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि—हे नाथ ! हम तो परीक्षा द्वारा आपकी सर्वज्ञता का निर्णय करके आपको मानते हैं। प्रयोजनरूप मूलभूत तत्त्वो की तो परीक्षा करके अपने ज्ञान मे निर्णय करे, और फिर दूसरे अप्रयोजनरूप तत्त्वो मे न पहुँच सके तो उसे "पुरुष प्रमाणे वचन प्रमाण" करके मान लेना ठीक है, किन्तु एकान्त "पुरुष प्रमाणे वचन प्रमाण" कहकर रुक जाये और अपने ज्ञान मे मूलभूत तत्त्वो के निर्णय का भी उद्यम न करे तो उसे सम्यग्ज्ञान नही होता। पुरुष की प्रमाणता का (सर्वज्ञ का) निर्णय करने जाये तो उसमे भी ज्ञानस्वभाव का ही निर्णय करना आता है। पुरुष की प्रमाणता तो उसमे है, किन्तु वह किस प्रकार है—यह तेरे ज्ञान मे तो भासित नही हुआ है, पुरुष की प्रमाणता का निर्णय तेरे ज्ञान मे तो आया नही है, इसलिये "पुरुष प्रमाणे वचन प्रमाण"—यह बात तेरे लिये लागू नही होती।

(१८) क्रमबद्ध की या केवली की बात कौन कह सकता है ?

इसीप्रकार अकेले पर की या राग की ओट लेकर कोई अज्ञानी ऐसा कहे कि "विकार क्रमबद्धपर्याय मे होना था इसलिये हुआ, अथवा केवलीभगवान ने वैसा देखा था इसलिये हुआ"—तो वह स्वच्छन्दी है, भाई रे ! अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के बिना तू क्रमबद्धपर्याय की या केवली की बात कहाँ से लाया ? तू अकेले राग की ओट लेकर

भास करता है किन्तु ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नहीं करता, तो उसने वास्तव में केवलीभगवान को या क्रमबद्धपर्याय को माना ही नहीं है। केवलीभगवान को या क्रमबद्धपर्याय को यथार्थरूप से पहिचाननेवाले जीव की दृष्टि तो अन्तर में अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर ढली होती है, उसके तो ज्ञान की ही अधिकता होती है राग की अधिकता उसके होती ही नहीं। ज्ञानस्वभाव की ओर ढले बिना धर्म में एक पग भी नहीं चल सकता।

(१९) ज्ञान के निर्णय बिना सब मिथ्या है। ज्ञायकभावरूपी तलवार से सम्यक्त्वी ने संसार को छेद डाला है

प्रश्न—तो क्या अभीतक किया हुआ हमारा सब झूठा है?

उत्तर—हाँ, भाई! सब मिथ्या है। अन्तर में "मैं ज्ञान हूँ" ऐसा लक्ष और प्रतीति न करे तबतक शास्त्रों की पढ़ाई या त्यागादि सब झूठे हैं उनसे संसार का नाश नहीं होता। आत्मा का ज्ञान स्वभाव सर्वज्ञता और पदार्थों की क्रमबद्धपर्याय—इन सब का निर्णय करके जहाँ ज्ञायक की ओर ढला वहाँ ज्ञायकभावरूपी ऐसी तलवार हाथ में ली है जो एक क्षण में संसार की जड़ को छेद डाले!

(२०) सम्यग्दृष्टि मुक्त; मिथ्यादृष्टि को ही संसार

अब अगली गाथाओं में कहेंगे कि—ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में सम्यक्त्वी को संसार ही नहीं है जिसकी दृष्टि कर्म पर है ऐसे मिथ्यादृष्टि को ही संसार है। सम्यक्त्वी तो ज्ञानानन्दस्वभाव की दृष्टि से अपने शुद्धस्वभाव में निश्चल होने से वास्तव में मुक्त ही है—'शुद्धस्वभावनियत: स हि मुक्त एव'। (देखो कलश १९८)

ज्ञायकस्वभाव की दृष्टिवाले ज्ञानी का अकर्तृत्व सिद्ध करके अब (३१२-३१३) दो गाथाओं में आचार्यदेव कहेंगे कि जिसे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं है ऐसे मिथ्यादृष्टि को ही निमित्त—नैमित्तिकभाव से संसार है।

कर्म के निमित्त का जीव पर प्रभाव पड़ता है अथवा जैसा

निमित्त आये वैसा कार्य होता है, कर्म के उदयानुसार विकार होता है—ऐसी अज्ञानी की मान्यता तो दूर रही, किन्तु जीव स्वय मिथ्यात्वादि करे तब कर्म को निमित्त कहा जाता है, और जीव निमित्त होकर मिथ्यात्वादि कर्मों का वन्ध करता है—यह बात भी मिथ्यादृष्टि को लागू होती है। कर्म का निमित्तकर्ता मिथ्यादृष्टि है, ज्ञानी तो अकर्ता ही है, ज्ञानी को कर्म के साथ निमित्त–नैमित्तिकपना नही है, उसे ज्ञायक के साथ सधि हुई है और कर्म के साथ की सधि टूट गई है।

(२१) सम्यग्दर्शन के विषयरूप जीवतत्त्व कैसा है ?

ज्ञानी अपने ज्ञायकस्वभाव के अवलम्वन से क्रमवद्ध ज्ञाताभावरूप ही उत्पन्न होता है, किन्तु राग के कर्तारूप से उत्पन्न नही होता। "राग का कर्ता जीव" सम्यग्दर्शन का विषय नही है, किन्तु "ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होनेवाला जीव" सम्यग्दर्शन का विषय है। ऐसे जीवतत्त्व की प्रतीति करना सो सम्यग्दर्शन है।

(१) "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग ।
(२) तत्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम् । और
(३) जीवाजीवास्रवबधसवरनिर्जरामोक्षास्तत्वम् ।"

—ऐसा मोक्षशास्त्र मे उमास्वामी महाराज ने कहा है, वहाँ ऐसे ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होनेवाले जीव द्रव्य को पहिचाने तो जीवतत्त्व की सच्ची प्रतीति है। ऐसे जीवतत्त्व की प्रतीति के बिना तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन या मोक्षमार्ग का प्रारम्भ नही होता।

(२२) निमित्त अकिंचित्कर है, तथापि सत् में सत् निमित्त ही होता है

अभी तो सात तत्त्वो मे से जीवतत्त्व कैसा है उसकी यह बात है। ऐसे जीव को पहिचाने तो सच्ची श्रद्धा होती है और पश्चात् ही श्रावकत्व या मुनित्व होता है। वस्तु का स्वरूप तो ऐसा है, उसमे दूसरा कुछ नहीं हो सकता। स्वय अन्तर मे पात्र होकर समझे तो पकड मे आ सकता है, दूसरा कोई दे जाये या समझा दे—ऐसा

नहीं है। यदि कोई दूसरा दे दे तो कोई तीसरा आकर लूट भी ले! किन्तु ऐसा नहीं होता। ऐसा होने पर भी—अर्थात् निमित्त अकिंचित्कर है फिर भी सम्यग्ज्ञान प्राप्त करनेवाले को निमित्त कैसा होता है वह जानना चाहिये। आत्मा का अपूर्व ज्ञान प्राप्त करनेवाले जीव को सामने निमित्तरूप से भी ज्ञानी ही होते हैं। वहाँ सम्यग्ज्ञानरूप परिणमित सामनेवाले ज्ञानी का आत्मा अन्तरंग निमित्त' है और उस ज्ञानी की वाणी बाह्यनिमित्त है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने में ज्ञानी ही निमित्त होते हैं अज्ञानी निमित्त नहीं होते और अकेली जड़ वाणी भी निमित्त नहीं होती।—यह बात नियमसार की ५३ वीं गाथा के व्याख्यान में अत्यंत स्पष्टरूप से कही जा चुकी है। (देखो आत्मधर्म हिन्दी वर्ष ७ वां अङ्क–१ वां) सत् समझने में कैसा निमित्त होता है वह न पहिचाने तो अज्ञानी–मूढ़ है और निमित्त कुछ कर दे ऐसा माने तो वह भी मूढ़–मिथ्यादृष्टि है।

(२३) आत्महित के लिए भेदज्ञान की सीधी–सादी बात

देखो यह तो सीधी–सादी बात है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होता है तो दूसरा उसमें क्या करे? तदुपरान्त यहाँ तो ऐसा समझाना है कि भगवान आत्मा ज्ञायक है वह क्रमबद्ध अपने ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होता हुआ ज्ञायकभाव की ही रचना करता है रागरूप से उत्पन्न हो या राग की रचना करे—ऐसा जीवतत्त्व का सच्चा स्वरूप नहीं है वह तो आस्रव और बंधतत्त्व में जाता है। अन्तर में राग और जीव का भी भेदज्ञान करने की यह बात है। निमित्त कुछ करता है—ऐसा माननेवाले को तो अभी बाहर का भेदज्ञान भी नहीं है—पर से भिन्नता का भान भी नहीं है तब फिर ज्ञायकभाव राग का कर्ता नहीं है —ऐसा अन्तर का (ज्ञान और राग के बीच का) भेदज्ञान तो उसे कहाँ से होगा? किन्तु जिसे धर्म करना हो—आत्मा का कुछ भी हित करना हो उसे दूसरा सब एक ओर रखकर यह समझना पड़ेगा। भाई! तेरे चैतन्य का

प्रकाशक स्वभाव है, वह नई-नई क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ, ज्ञायकस्वभाव के भानपूर्वक रागादि को या निमित्तो को भी ज्ञातारूप से जानता ही है, ज्ञातारूप से उत्पन्न होता है किन्तु राग के कर्तारूप से उत्पन्न नही होता।

जीव राग के कर्तारूप से उत्पन्न नही होता, तो क्या वह कूटस्थ है ?—नही, वह अपने ज्ञाताभावरूप से उत्पन्न होता है, इसलिये कूटस्थ नही है। यहाँ तो कहा है कि "जीव उत्पन्न होता है"— अर्थात् द्रव्य स्वय परिणमित होता हुआ अपनी पर्याय को द्रवित करता है, द्रव्य स्वय अपनी क्रमवद्धपर्यायरूप से परिणमित होता है, वह कूटस्थ नही है, तथा दूसरा उसका परिणमन करानेवाला नही है।

(२४) हे ज्ञायक चिदानन्दप्रभु ! अपने ज्ञायकतत्त्व को लक्ष में ले !

सर्वज्ञदेव, कुन्दकुन्दाचार्य—अमृतचन्द्राचार्य आदि सत और शास्त्र ऐसा कहते हैं कि ज्ञायकस्वरूपी जीव रागादि का अकर्ता है। अरे भाई ! तू ऐसे जीवतत्त्व को मानता है या नही ?—या फिर निमित्त को और राग को ही मानता है ? निमित्त को और राग को पृथक् रखकर ज्ञायकतत्त्व को लक्ष मे ले, निमित्त को उत्पन्न करनेवाला या रागरूप उत्पन्न होनेवाला मैं नही हूँ, मैं तो ज्ञायकरूप से ही उत्पन्न होता हूँ इसलिये मैं ज्ञायक ही हूँ—ऐसा अनुभव कर, तो तुझे सात तत्त्वो मे से जीवतत्त्व की सच्ची प्रतीति हुई कहलाये, और तभी तूने देव-गुरु-शास्त्र को वास्तव मे माना कहा जाये।

हे ज्ञायक चिदानन्दप्रभु ! स्व-सन्मुख होकर प्रतिसमय ज्ञाताभावरूप से उत्पन्न होना वह तेरा स्वरूप है, ऐसे अपने ज्ञायक-तत्त्व को लक्ष मे ले।

(२५) अरे ! एकान्त की बात एक ओर रखकर यह समझ !

यह बात सुनते ही, "अरे ! एकान्त हो जाता है रे एकान्त हो जाता है !"—ऐसा कई अज्ञानी पुकारते हैं। किन्तु अरे तेरी वह बात एक ओर रखकर यह समझ ! यह समझने से, राग और

ज्ञान एकमेक है ऐसा तेरा अनादिकालीन मिथ्याएकान्त दूर हो जायेगा और ज्ञायक के साथ ज्ञानकी एकतारूप सम्यकएकान्त होगा उस ज्ञान के साथ सम्यकश्रद्धा आनन्द, पुरुषार्थ आदि अनन्त गुणों का परिणमन भी साथ ही है, इसलिये अनेकान्त है।

(२६) सम्यक्त्वी के राग है या नहीं ?

ज्ञातृस्वभाव के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हुए उसके साथ चारित्र का अंश भी विकसित हुआ है—स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट हो गया है। किसी को ऐसी शंका हो कि सम्यग्दर्शन होने पर उसके साथ पूर्ण चारित्र क्यों न हुआ ? —तो उसे ज्ञान चारित्र आदि के भिन्न–भिन्न क्रमबद्धपरिणमन की खबर नहीं है। क्रमबद्धपरिणमन में कहीं ऐसा नियम नहीं है कि सम्यकश्रद्धा–ज्ञान होने पर उसी क्षण पूर्ण चारित्र भी प्रगट हो ही जाये। अरे क्षायिक सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् लाखों–करोड़ों वर्षों तक श्रावकत्व या मुनित्व (पाँचवाँ या छठवाँ–सातवाँ गुणस्थान) नहीं आता और किसीको सम्यग्दर्शन होने पर अन्तर्मुहूर्त में ही मुनिदशा—क्षपकश्रेणी और केवलज्ञान हो जाता है। तथापि सम्यक्त्वी चौथे गुणस्थान में भी राग के ज्ञाता ही हैं यहाँ अपने स्व-परप्रकाशक ज्ञान का वैसा ही सामर्थ्य है —इस प्रकार ज्ञानसामर्थ्य की प्रतीति के बल से ज्ञानी उस–उस समय के राग को भी ज्ञेय बना देते हैं। ज्ञायकस्वभाव की अधिकता उनकी दृष्टि में से एक क्षण भी नहीं हटती ज्ञायक की दृष्टि में वे ज्ञातामावरूप ही उत्पन्न होते हैं राग में तन्मयरूप से उत्पन्न नहीं होते।—इस प्रकार क्रमबद्धपर्याय में ज्ञानी को राग की प्रधानता नहीं है—ज्ञातृत्व की ही प्रधानता है। राग के समय मैं इस राग रूप उत्पन्न होता हूँ —ऐसी जिसकी दृष्टि है और ज्ञायक की दृष्टि नहीं है वह वास्तव में क्रमबद्धपर्याय का वास्तविक स्वरूप समझा ही नहीं है।

(२७) क्रमबद्धपर्याय का सच्चा निर्णय कब होता है ?

क्रमबद्धपर्याय में मुझे मिथ्यात्व आना होगा तो ? —ऐसी

शका करनेवाले का सच्चा निर्णय हुआ ही नही है। सुन रे सुन मूढ ! तूने क्रमवद्धपर्याय किसके सन्मुख देखकर मानी ? अपने ज्ञायकद्रव्य की ओर देखकर मानी है या पर की ओर देखकर ? जिसने ज्ञायक-द्रव्यसन्मुख होकर क्रमवद्ध की प्रतीति की, उसके तो मिथ्यात्व होता ही नही। और यदि अकेले पर की ओर देखकर तू क्रमवद्ध की वात करता हो तो तेरा क्रमवद्ध का निर्णय ही मिथ्या है। तेरी क्रमवद्ध-पर्यायरूप से कौन उत्पन्न होता है ?—जीव, जीव कैसा ?—ज्ञायक-स्वभावी, तो ऐसे जीवतत्त्व को तूने लक्ष में लिया है ? यदि ऐसे ज्ञायकस्वभावी जीवतत्त्व को जानकर क्रमवद्धपर्याय माने तव तो ज्ञातापने की ही क्रमवद्धपर्याय हो, और मिथ्यात्व होता ही नही, मिथ्यात्वरूप से उत्पन्न हो ऐसा ज्ञायक का स्वभाव नही है।

(२८) ज्ञानी राग के अकर्ता हैं; "जिसकी मुख्यता उसीका कर्ता"

प्रश्न —ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि होने के पश्चात् भी ज्ञानी को राग तो होता है ?

उत्तर —वह राग ज्ञाता का कार्य नही है, किन्तु ज्ञाता का ज्ञेय है। ज्ञायकस्वभाव परमार्थज्ञेय है और राग व्यवहारज्ञेय है। ज्ञाता के परिणमन मे तो ज्ञान की ही मुख्यता है, राग की मुख्यता नही है। और जिसकी मुख्यता है उसीका कर्ता–भोक्ता है। पुनश्च, "व्यवहार है इसलिये परमार्थ है"—ऐसा भी नही है, राग है इस-लिये उसका ज्ञान होता है—ऐसा नही है। ज्ञायक के अवलम्बन से ही ऐसे स्व-परप्रकाशकज्ञान का परिणमन हुआ है, राग कही ज्ञायक के अवलम्बन मे से नही हुआ है, इसलिये ज्ञानी उसका अकर्ता है।

(२९) क्रमबद्धपर्याय समझने जितनी पात्रता कब ..?

प्रश्न —आप कहते हैं ऐसे ज्ञायकस्वरूप जीव को तथा क्रमबद्धपर्याय को हम मानें, और साथ ही साथ कुदेव–कुगुरु–कुशास्त्र को भी मानें, तो क्या हर्ज ?

उत्तर —अरे ! कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र के पास इस बात की गन्ध भी नहीं है तो उनके पास जो नहीं है वह बात तुझमें कहाँ से आई ? किसीके पास से धारणा करके—चोरी करके—इस बात के नाम से तुझे अपने मान की पुष्टि करना है, यह बड़ा स्वच्छन्द है। जिसको ज्ञायकस्वभाव और क्रमबद्धपर्याय समझने जितनी पात्रता हुई हो उस जीव को कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का सेवन होता ही नहीं। किसीके शब्द लेकर रट ले तो ऐसा नहीं बन सकता। सर्व प्रकार की पात्रता हो तो यह बात समझ में आ सकती है।

(३०) भगवान ! तू कौन और तेरे परिणाम कौन ?

ज्ञानी अपने ज्ञायकभाव की क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है अजीव नहीं है। ज्ञायकभाव के सिवा राग भी वास्तव में जीव नहीं है ज्ञानी उस रागरूप से उत्पन्न नहीं होता। कर्म जीव नहीं है शरीर जीव नहीं है, इसलिये ज्ञायकरूप से उत्पन्न होने वाला जीव कर्म शरीरादि का निमित्तकर्ता भी नहीं है ज्ञायक तो ज्ञायक ही है, ज्ञायकभावरूप ही वह उत्पन्न होता है।—ऐसा जीव का स्वरूप है।

- भगवान ! तू कौन और तेरे परिणाम कौन ? उन्हें पहिचान।
- तू जीव ! ज्ञायक ! और ज्ञायक के आश्रय से दर्शन-ज्ञान-चारित्र की जो निर्मल पर्याय उत्पन्न हुई वे तेरे परिणाम !

—ऐसे निर्मल क्रमबद्धपरिणामरूप से उत्पन्न होने का तेरा स्वभाव है किन्तु विकार का कर्ता होकर पर को उत्पन्न करे या पर निमित्त से स्वयं उत्पन्न हो—ऐसा तेरा स्वभाव नहीं है। एक बार अपनी पर्याय को अन्तरोन्मुख कर, तो ज्ञायक के आश्रय से तेरी क्रमबद्धपर्याय में निर्मल परिणमन हो।

(३१) ज्ञानी की दशा

ज्ञायकस्वभाव सन्मुख होकर जो क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ है—ऐसे ज्ञानी को प्रमाद भी नहीं होता और आकुलता भी नहीं

होती, क्योंकि (१) ज्ञायकस्वभाव की सन्मुखता किसी भी समय दूर नही होती इसलिये प्रमाद नही होता, दृष्टि के बल से स्वभाव के अवलम्बन का प्रयत्न चालू ही है, और (२) क्रम बदलने की बुद्धि नही है इसलिये उतावली भी नही है—पर्यायबुद्धि की आकुलता नही है, किन्तु धैर्य है। ज्ञायकस्वभाव का ही अवलम्बन करके परिणमित होते है, उसमे प्रमाद भी कैसा और आकुलता भी कैसी ?

(३२) "अकिंचित्कर हो तो, निमित्त की उपयोगिता क्या ?" अज्ञानी का प्रश्न

जिसे ज्ञायक की दृष्टि नही है और क्रम बदलने की बुद्धि है वह भी मिथ्यादृष्टि है, तो फिर निमित्त आकर पर्याय बदल दे—यह मान्यता तो कहाँ रही ?

प्रश्न —यदि निमित्त कुछ न करता हो, तो उसकी उपयोगिता क्या है ?

उत्तर —भाई ! आत्मा मे पर की उपयोगिता है ही कहाँ ? उपयोगिता तो उपयोगस्वरूप आत्मा की ही है। निमित्त की उपयोगिता निमित्त मे है, किन्तु आत्मा मे उसकी उपयोगिता नही है। "आत्मा मे निमित्त की उपयोगिता नही है"—ऐसा मानने से कही जगत मे से निमित्त के अस्तित्व का लोप नही हो जाता, वह ज्ञान का ज्ञेय है। जगत मे ज्ञेयरूप से तो तीन काल तीन लोक हैं, उससे कही आत्मा मे उनकी उपयोगिता हो गई ? अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि—"निमित्त की उपयोगिता मानो, अर्थात् निमित्त कुछ कर देता है ऐसा मानो तो तुमने निमित्त को माना ऐसा कहा जायेगा।" किन्तु भाई ! निमित्त को निमित्त मे ही रख, आत्मा मे निमित्त की उपयोगिता नही है—ऐसा मानने मे ही निमित्त का निमित्तपना रहता है। किन्तु निमित्त उपयोगी होकर आत्मा मे कुछ कर देता है—ऐसा मानने से निमित्त निमित्तरूप से नही रहता, किन्तु उपादान-निमित्त की एकता हो जाती है अर्थात् मिथ्यात्व हो जाता है। इसलिये निमित्त का अस्तित्व जैसा है वैसा ही

जानना चाहिये। किन्तु जिन्हें शुद्ध उपादानरूप ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं है और अकेले निमित्त को जानने जाते हैं उन्हें निमित्त का यथार्थ ज्ञान नहीं होता क्योंकि स्व-परप्रकाशक सम्यक्ज्ञान ही उनके विकसित नहीं हुआ है।

❋ प्रवचन दूसरा ❋

[आश्विन शुक्ला ८, वीर सं २४८]

(२३) "जीव" अजीव का कर्ता नहीं है;—क्यों नहीं है ?

इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में क्रमबद्धपर्याय का वर्णन करके आचार्यदेव ने आत्मा का स्वरूप बतलाया है। प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है और उसीमें तन्मय है किन्तु दूसरे द्रव्य की पर्यायरूप से कोई उत्पन्न नहीं होता, अर्थात् कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य का दूसरे द्रव्य की अवस्था का कर्ता नहीं है। तदुपरान्त ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में क्रमबद्ध उत्पन्न होनेवाला जीव राग का या कर्म का कर्ता निमित्तरूप से भी नहीं है—यह बात यहाँ बतलाई है।

जीव अजीव का कर्ता नहीं है —क्यों नहीं है ?—कहते हैं कि अजीव भी अपने क्रमबद्धपरिणामरूप से उत्पन्न होता हुआ उसमें तद्रूप है, और जीव अपने ज्ञायकस्वभाव की क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ ज्ञायक ही है इसलिये वह रागादि का कर्ता नहीं है तथा अजीवकर्मों का निमित्तकर्ता भी नहीं है।

यहाँ जीव को समझाना है कि हे जीव ! तू ज्ञायक है तेरी क्रमबद्धपर्याय ज्ञाता-दृष्टारूप ही होना चाहिए, उसके बदले तू राग का कर्तारूप परिणमित होता है वह तेरा अज्ञान है।

(२४) कर्म के साथ का निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध तोड़ दिया उसने संसार तोड़ दिया

जीव दूसरे को परिणमित करता है और दूसरा निमित्त होकर जीव को परिणमित करता है—ऐसा अज्ञानी मानते हैं। और

कोई भाषा बदलकर ऐसा कहते हैं कि—"दूसरा इस जीव को परिणमित तो नही करता, किन्तु जैसा निमित्त आये वैसे निमित्त का अनुसरण करके जीव स्वत परिणमित हो जाता है, नही तो निमित्त—नैमित्तिक-सम्बन्ध उड जाता है।"—ऐसा माननेवाले भी अज्ञानी हैं, उन्हे अभी निमित्त का अनुसरण करना है और उसके साथ सम्बन्ध रखना है, किन्तु ज्ञायकस्वभाव का अनुसरण नही करना है।—ऐसे जीवो के लिये आचार्यदेव अगली गाथाओ मे कहेगे कि—अज्ञानी को कर्म के साथ निमित्त—नैमित्तिकभाव के कारण ही ससार है। ज्ञानी तो ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि मे निमित्त का अनुसरण ही नही करते, ज्ञायक का ही अनुसरण करते हैं, ज्ञायकस्वभाव में एकता करके निमित्त के साथ का सम्बन्ध उन्होने तोड डाला है, इसलिये दृष्टि अपेक्षा से उनके ससार है ही नही।

(३५) "ईश्वर जगत्कर्ता," और "आत्मा पर का कर्ता"—ऐसी मान्यतावाले दोनों समान हैं

निमित्त पाकर जीव की पर्याय होती है, अथवा तो जीव निमित्त होकर दूसरे जीव को बचा देता है—ऐसा कर्तृत्व माननेवाले भले ही जैन नाम धारण किए हो तथापि, ईश्वर को जगत्कर्ता माननेवाले लौकिकजनो की भाँति, वे मिथ्यादृष्टि ही हैं।—यह बात भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने ३२१–२२–२३ वी गाथा मे कही है।

(३६) ज्ञानी की दृष्टि और ज्ञान

अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से द्रव्य स्वयं ही प्रतिसमय उत्पन्न होता है, उसमे अन्य कर्ता की अपेक्षा नही है, दूसरे से निरपेक्षरूप से द्रव्य मे कर्ता—कर्मपना है। द्रव्य अपनी पर्याय को करे, वहाँ भूमिकानुसार निमित्त—नैमित्तिकसम्बन्ध का मेल सहज ही भले हो, किन्तु ज्ञानी की दृष्टि तो ज्ञायकस्वभाव पर ही है, निमित्तसन्मुख ज्ञानी की दृष्टि नही है। ज्ञानी के जो स्व-परप्रकाशक ज्ञान विकसित हुआ है उसमे निमित्त का भी ज्ञान आ जाता है।

(२७) द्रव्य को लक्ष में रखकर क्रमबद्धपर्याय की बात

द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावरूप वस्तु स्वयं परिणमित होकर प्रतिसमय नई-नई क्रमबद्ध अवस्थारूप से उत्पन्न होती है वस्तु में प्रतिसमय आन्दोलन हो रहा है पहले समय के द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव दूसरे समय सर्वथा ज्यों के त्यों नहीं रहते किन्तु दूसरे समय में पलटकर दूसरी अवस्थारूप से उत्पन्न होते हैं। इसलिये पर्याय के बदलने से द्रव्य भी परिणमित होकर उस-उस समय की पर्याय के साथ तन्मयरूप से वर्तता है।—इसप्रकार द्रव्य को लक्ष में रखकर क्रमबद्धपर्याय की बात है। पहली बार के आठ प्रवचनों में यह बात अच्छी तरह विस्तारपूर्वक आ गई है।

(—देखो प्रथम भाग प्रवचन ८ वाँ पेरा नं० १८८)

(२८) परमार्थतः सभी जीव ज्ञायकस्वभावी हैं;—किन्तु ऐसा कौन जानता है ?

सभी जीव अनादि–अनन्त स्व-परप्रकाशक ज्ञायकस्वभावरूप ही हैं। जीव के एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रियादि जो भेद हैं वे तो पर्याय-अपेक्षा से तथा शरीरादि निमित्तों की अपेक्षा से हैं किन्तु स्वभाव से तो सब जीव ज्ञायक ही हैं।—ऐसा कौन जानता है ?—जिसने अपने में ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि की हो वह दूसरे जीवों को भी वैसे स्वभाव वाला जानता है। व्यवहार से जीव के अनेक भेद हैं किन्तु परमार्थ से सभी जीवों का ज्ञायकस्वभाव है—ऐसा जो जान ले उसको व्यवहार के भेदों का ज्ञान सच्चा होता है। अज्ञानी तो व्यवहार को जानते हुए उसीको जीव का स्वरूप मान लेता है इसलिये उसे पर्यायबुद्धि से अनन्तानुबन्धी राग–द्वेष होता है धर्मी को ऐसा राग–द्वेष नहीं होता।

(२९) "क्रमबद्धपर्याय" और उसके चार दृष्टान्त

यहाँ आचार्यभगवान कहते हैं कि जीव की क्रमबद्धपर्यायरूप से जीव स्वयं उत्पन्न होता है और अजीव की क्रमबद्धपर्यायरूप से अजीव स्वयं उत्पन्न होता है कोई किसीका कर्ता या बदलनेवाला नहीं

है। पर्याय का लक्षण क्रमवर्तीपना है। क्रमवर्ती कहो या क्रमवद्ध कहो, या नियमवद्ध-कहो, प्रत्येक द्रव्य अपनी व्यवस्थित क्रमवद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, आत्मा अपने ज्ञायकप्रवाह के क्रम मे रहकर उसका ज्ञाता ही है।

(१) पर्याय क्रमवर्ती है, उस क्रमवर्तीपने का अर्थ "पादविक्षेप" करते हुए पचाध्यायी की १६७ वी गाथा मे कहते हैं कि—

"अस्त्यत्र य' प्रसिद्ध क्रम इति धातुश्च पादविक्षेपे।
क्रमति क्रम इति रूपस्तस्य स्वार्थानतिक्रमादेप'॥"

'क्रम' धातु है वह 'पादविक्षेप' ऐसें अर्थ मे प्रसिद्ध है, और अपने अर्थ अनुसार 'क्रमति इति क्रम'—ऐसा उसका रूप है।

'पादविक्षेप' अर्थात्—जव मनुष्य चलता है तव उसका दायाँ और वाँया पैर एक के वाद एक क्रमश उठता है, दाये के वाद वायाँ और वायें के वाद दायाँ,—ऐसा जो चलने का पादक्रम है वह उलटा-सीधा नही होता, उसीप्रकार जीव-अजीव द्रव्यो का परिणमन भी क्रमवद्ध होता है, उनकी पर्यायो का क्रम उलटा-सीधा नही होता। इसप्रकार "क्रमवद्धपर्याय" के लिये एक दृष्टान्त तो 'पादविक्षेप' का अर्थात् चलने के प्राकृतिक क्रम का है।

(२) दूसरा दृष्टान्त नक्षत्रो का है, वह भी प्रकृति का है। प्रमेयकमलमार्तंड (३-१८) मे 'क्रमभाव' के लिये नक्षत्रो का दृष्टान्त दिया है। जिसप्रकार कृतिका, रोहिणी, मृगशीर्ष आदि सभी नक्षत्र क्रमबद्ध ही हैं, वर्तमान मे 'रोहिणी' नक्षत्र उदयरूप हो तो, उसके पहले 'कृतिका' नक्षत्र ही था, और अब "मृगशीर्ष" नक्षत्र ही आयेगा,—ऐसा निर्णय हो सकता है। यदि नक्षत्र निश्चित्—क्रमबद्ध ही न हो तो, पहले कौन-सा नक्षत्र था और अव कौन-सा नक्षत्र आयेगा उसका निर्णय हो ही नही सकता। उसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य मे उसकी तीनोकाल की पर्यायें निश्चित् क्रमबद्ध ही हैं, यदि-द्रव्य की क्रमबद्धपर्याये निश्चित्

न हों तो ज्ञान तीनकाल का किस प्रकार जानेगा ? आत्मा का ज्ञानस्वभाव है और ज्ञान में सर्वज्ञता की शक्ति है—ऐसा निर्णय करे तो उसमें क्रमबद्धपर्याय की स्वीकृति आ ही जाती है। जो क्रमबद्धपर्याय को स्वीकार नहीं करता उसे ज्ञानस्वभाव का या सर्वज्ञ का यथार्थ निर्णय नहीं हुआ है।

(३) क्रमबद्धपर्याय के लिये तीसरा दृष्टान्त नक्षत्रों की भाँति सात वारों का है। जिस प्रकार सात वारों में रवि के बाद सोम और उसके बाद मंगल बुध गुरु शुक्र शनि—इसप्रकार क्रमानुसार ही आते हैं रवि के बाद सीधा बुध और बुध के बाद शनि कभी नहीं आता। भिन्न-भिन्न देशों या भिन्न-भिन्न भाषाओं में सात वारों के नाम भले ही अलग-अलग बोले जाते हों किन्तु सात वारों का जो क्रम है वह तो सर्वत्र एक-सा ही है सब देशों में रवि के बाद सोमवार ही आता है और सोमवार के पश्चात् मंगलवार ही आता है। रविवार के बाद बीचमें सोमवार आये बिना सीधा मंगलवार आ जाये—ऐसा कभी किसी देश में नहीं होता। उसीप्रकार द्रव्य की जो क्रमबद्धपर्याय है वह कभी किसी द्रव्य में उलटी-सीधी नहीं होती। सात वारों में जिस बार के पश्चात् जिस बार का क्रम होता है वही बार आता है, उसीप्रकार द्रव्य में जिस पर्याय के पश्चात् जिस पर्याय का क्रम (स्वकाल) होता है वही पर्याय होती है। यह ज्ञायकजीव अपने ज्ञायकपने को भूलकर उसमें फेरफार करना चाहे तो वह मिथ्यादृष्टि है क्योंकि वह पर में कर्तृत्व मानकर उसे बदलना चाहता है। मैं ज्ञाता हूँ—इसप्रकार ज्ञानसन्मुख परिणमित न होकर रागादिका कर्ता होकर परिणमित होता है वह जीव क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता नहीं है। क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता तो ज्ञायक-सन्मुख रहकर रागादि को भी जानता ही है। उसे स्वभावसन्मुख परिणमन में शुद्ध पर्याय ही होती जाती है।

(४) 'क्रमबद्धपर्याय' का चौथा दृष्टान्त है—माला के मोती का। जिसप्रकार १०८ मोतियों की माला में प्रत्येक मोती का क्रम नियमित है किसी मोती का क्रम इधर-उधर नहीं होता उसीप्रकार

द्रव्य की अनादि–अनन्त पर्यायमाला–पर्यायो की पंक्ति—है, उसमे प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध है, कोई पर्याय इधर–उधर नही होती। (–देखो, प्रवचनसार गाथा ६६ टीका)

देखो, यह वस्तुस्वरूप !

(४०) हे जीव ! तू ज्ञायक को लक्ष में लेकर विचार

भाई, यह समझने के लिये कही बडे–बडे न्यायशास्त्रो का अध्ययन करना पडे ऐसा नही है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव है उसे लक्ष में लेकर तू विचार कर कि इस ओर मैं ज्ञायक हूँ—मेरा सर्वज्ञस्वभाव है,—तो सामने ज्ञेयवस्तु की पर्याय क्रमबद्ध ही होगी या अक्रमबद्ध ? अपने ज्ञानस्वभाव को सामने रखकर विचार करे तो यह क्रमबद्धपर्याय की बात सीधी जम जाये ऐसी है, किन्तु ज्ञायकस्वभाव को भूलकर विचार करे तो एक भी वस्तु का निर्णय नही हो सकता। निर्णय करनेवाला तो ज्ञायक है, उस ज्ञायक के ही निर्णय बिना पर का या क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करेगा कौन ? "मैं ज्ञायक हूँ"—इसप्रकार स्वभाव में एकता करके साधकजीव ज्ञायकभावरूप ही उत्पन्न होता है। जिसकी मुख्यता है उसीका कर्ता–भोक्ता है। ज्ञानी को राग की मुख्यता नही है इसलिये उसका कर्ता–भोक्ता नही है। राग को गौण करके, व्यवहार मानकर अभूतार्थ कहा है इसलिये ज्ञानी रागरूप से उत्पन्न होता ही नही। इसप्रकार अभेद की बात है,—ज्ञायक मे अभेद हुआ वह ज्ञान–आनन्द–श्रद्धादिरूप ही उत्पन्न होता है, राग मे अभेद नही है इसलिये वह रागरूप से उत्पन्न ही नही होता। श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र-आनन्दादि के निर्मल क्रमबद्धपरिणामरूप ही ज्ञानी उत्पन्न होता है।

(४१) क्रमबद्धपना किस प्रकार है ?

यहाँ "क्रमबद्धपरिणाम" कहा जाता है, उसका क्या अर्थ ? पहले एक गुण परिणमित होता है, फिर दूसरा और उसके बाद तीसरा —ऐसा क्रमबद्धपरिणाम का अर्थ नही है। अनन्त गुण हैं वे कही एक के बाद एक परिणमित नही होते। गुण तो सब एकसाथ ही परिणमित

होते हैं इसलिये अनन्त गुणों के अनन्त परिणाम एकसाथ हैं किन्तु यहाँ तो गुणों के परिणाम एक के बाद एक (ऊर्ध्वक्रम से) उत्पन्न होते हैं उसकी बात है। गुण सहभावरूप—एकसाथ—हैं किन्तु पर्यायें क्रमभावरूप—एक के बाद एक—हैं। एक के बाद एक होने के उपरांत वह प्रत्येक पर्याय स्वकाल में नियमित—व्यवस्थित है।—यह बात लोगों को जमती नहीं है और फेरफार करना—पर का कर्तृत्व—मानते हैं। आचार्यप्रभु समझाते हैं कि भाई! ज्ञानस्वभाव तो सब को जानता है या किसी को बदल देता है? अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करके तू स्वोन्मुख हो जा और पर को बदलने की मिथ्याबुद्धि छोड़ दे।

(४२) * ज्ञान और ज्ञेय की परिणमन धारा;
* केवलीभगवान के दृष्टांत से साधकदशा की समझ

केवलज्ञानी भगवान को परिपूर्ण स्व-परप्रकाशकभाव परिणमित हो रहा है और सामने सम्पूर्ण ज्ञेय ज्ञात हो गया है। सारे ज्ञेय क्रमबद्ध परिणमित हो रहे हैं और यहाँ पूर्ण ज्ञान तथा उसके साथ पूर्ण आनन्द वीर्यादि क्रमबद्ध परिणमित हो रहे हैं। ज्ञान और ज्ञेय दोनों व्यवस्थित—क्रमबद्ध परिणमित हो रहे हैं तथापि कोई किसीको बदलता नहीं है, किसीके कारण कोई नहीं है।

ज्ञेयों में पहले समय जो वर्तमानरूप है वह दूसरे समय भूतरूप हो जाता है और भविष्य उस वर्तमानरूप होता जाता है इसप्रकार ज्ञान की पर्यायें भी बदलती हैं परन्तु ज्ञान तो भूत भविष्य और वर्तमान तीनों को एकसाथ जानता है वह कहीं क्रम से नहीं जानता। यहाँ पूरा ज्ञायकभाव और सामने सब ज्ञेय—इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय की परिणमनधारा चली जाती है, उसमें बीच में भगवान को रागादि नहीं आते। यहाँ केवलीभगवान का उदाहरण देकर ऐसा समझना है कि—जिसप्रकार भगवान अकेले ज्ञायकभावरूप ही परिणमित होते हैं उसीप्रकार साधकज्ञानी भी अपने ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से ज्ञायकभावरूप ही परिणमित होते हैं; उनका ज्ञान राग को ज्ञेयरूप

से जानता है किन्तु राग के अवलम्बन से प्रवर्तित नही होता । "भगवान का केवलज्ञान लोकालोक का अवलम्बन लेकर प्रवर्तित होता है"— ऐसा कहा जाता है, किन्तु वह तो ज्ञान के परिपूर्ण सामर्थ्य की विशालता बतलाने के लिये कहा है, केवलज्ञान मे कही पर का अवलम्बन नही है । उसीप्रकार साधक के ज्ञान मे अपने ज्ञायकस्वभाव के सिवा अन्य किसी का अवलम्बन नही है ।

केवलीभगवान को तो रागादिरूप व्यवहार रहा ही नही है, साधक को भूमिकानुसार अल्प रागादि है वे व्यवहारज्ञेयरूप से हैं, इसलिये कहा है कि "व्यवहार जाना हुआ उस काल मे प्रयोजनवान है" किन्तु साधक को उस व्यवहार का अवलम्बन नही है, अवलम्बन तो अन्तर के परमार्थभूत ज्ञायकस्वभाव का ही है । स्व-परप्रकाशक ज्ञानसामर्थ्य मे उस-उस काल का व्यवहार और निमित्त ज्ञेयरूप से हैं ।

(४३) "जीव" कैसा ? और जीव की प्रभुता काहे में ?

यहाँ स्वभाव के साथ अभेद होकर जो परिणाम उत्पन्न हुए उन्हीको जीव कहा है, रागादि मे अभेद होकर वास्तव मे ज्ञानी जीव उत्पन्न नही होता । ज्ञायकभाव के अवलम्बन से जो निर्मल परिणाम उत्पन्न हुए वे जीव के साथ अभेद हैं, इसलिये वे जीव हैं, उनमे राग का या अजीव का अवलम्बन नही है इसलिये वे अजीव नही हैं ।

देखो, यह जीव की प्रभुता ! प्रभो ! अपनी प्रभुता मे तू है,— राग में या अजीव मे तू नही है । तेरी प्रभुता तेरे ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन मे है, अजीव के अवलम्बन मे तेरी प्रभुता नही है, अपने ज्ञायकभाव के परिणमन मे तेरी प्रभुता है, राग के परिणमन मे तेरी प्रभुता नही है । कोई भगवान जगत के नियामक हैं—यह बात तो झूठ है, किन्तु तेरा ज्ञानस्वभाव स्व-पर का निश्चायक है-निश्चय करनेवाला है—ज्ञाता है । ज्ञेय की क्रमबद्ध अवस्था के कारण यहाँ वैसा परिणमन होता है-ऐसा भी नही है । और ज्ञान के कारण ज्ञेयो का क्रमबद्ध ऐसा परिणमन होता है—ऐसा भी नही है ।

(४४) "पर्याय-पर्याय में ज्ञायकपने का ही काम"

देखो ग्राम का स्टेशन बाजार से बिलकुल निकट है। दो मिनट में स्टेशन पहुँचा जा सके—इतने निकट है। कभी गाड़ी में जाना हो और घर भोजन करने बैठे हों वहाँ गाड़ी की सीटी सुनाई दे। पहले धीरे-धीरे भोजन कर रहे हों और गाड़ी आने की सूचना मिलते ही जल्दी खाने की इच्छा हो जाये तथा और भी जल्दी से उठने लगें तथापि सब क्रमबद्ध अपने-अपने कारण ही है।

—गाड़ी आई इसलिये ज्ञान हुआ—ऐसा नहीं है और
—ज्ञान के कारण गाड़ी नहीं आई है।
—गाड़ी आने का ज्ञान हुआ इसलिये उस ज्ञान के कारण जल्दी खाने की इच्छा हुई—ऐसा भी नहीं है
—ज्ञान के कारण या इच्छा के कारण खाने की क्रिया में शीघ्रता आई—ऐसा भी नहीं है।

—प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्ररूप से अपनी-अपनी क्रमबद्ध योग्यतानुसार परिणमित होता है,—ऐसा समझे तो ज्ञायकत्व हुए बिना न रहे।

इसी प्रकार कोई मनुष्य घूमने जाये और धीरे-धीरे चल रहा हो किन्तु वहाँ पानी बरसना प्रारम्भ हो कि एकदम तेजी से पैर उठने लगते हैं—इसमें भी उपरोक्त दृष्टान्त की भाँति जीव-अजीव के परिणमन की स्वतन्त्रता समझ लेना चाहिये और इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये। लोक में कहावत है कि— दाने-दाने पर खानेवाले का नाम उसीप्रकार यहाँ "पर्याय-पर्याय में स्वकाल का नाम" है और आत्मा में 'पर्याय-पर्याय में ज्ञायकपने का ही काम' हो रहा है। किन्तु मूढ़ जीव विपरीतदृष्टि से पर का कर्तृत्व मानता है।

(४५) मूढ़ जीव मुँह आये वैसा बकता है

शरीर की बात आये वहाँ अज्ञानी कहता है कि— जीव के बिना कहीं शरीर की क्रिया हो सकती है? जीव हो तभी शरीर की क्रिया होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि जीव हो तो अजीव के

परिणाम होते हैं, यानी अजीव मे तो मानो कुछ शक्ति ही न हो!— ऐसा वह मूढ मानता है।

और जहाँ कर्म की बात आये वहाँ वह अज्ञानी ऐसा कहता है कि—"भाई! कर्म का जोर है, कर्म जीव को विकार कराते हैं और कर्म ही उसे भटकाते हैं!"—अरे भाई! अजीव मे बल तो नही था, फिर कहाँ से आ गया? कर्म जीव को बलात् परिणमित कराते हैं,— यानी जीव मे स्वाधीन परिणमन करने की तो मानो कोई शक्ति ही न हो—ऐसा वह मूढ मानता है। जीव–अजीव की स्वतत्रता के भान बिना अज्ञानी क्षण मे इधर और क्षण मे उधर, जैसा मुँह आये वैसा बकते हैं।

(४६) अज्ञानी की बिलकुल विपरीत बात; ज्ञानी की अपूर्वदृष्टि

पुनश्च, थर्मामीटर का दृष्टान्त देकर कोई कोई ऐसा कहते हैं कि—जितना बुखार हो उतना ही थर्मामीटर मे आता है, उसीप्रकार जितना उदय हो तदनुसार ही विकार होता है।—यह बात भी झूठी है। भाई, तेरी दृष्टि विपरीत है और तेरा दृष्टान्त भी उलटा है। किसी समय १०५ डिग्री बुखार हो, तथापि थर्मामीटर मे उतना नही आता। उसी प्रकार उदयानुसार ही जीव को विकार हो—ऐसा कभी होता ही नही।

"उदयानुसार ही विकार होता है"—यह बात तो महान स्थूल–विपरीत है। किन्तु, जीव स्वय विकार करके उदय को निमित्त बनाये—यह बात भी यहाँ नही है। जो अज्ञानी जीव विकार का कर्ता होता है उसीको कर्म के साथ सम्बन्ध है, किन्तु ज्ञानी तो ज्ञायकभावरूप ही परिणमित होते हैं, ज्ञायकभाव मे कर्म के साथ सम्बन्ध ही नही है—ऐसी ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि करके स्वसन्मुख ज्ञातारूप से परिणमित होना ही अपूर्व धर्म है, और वह जीव वास्तव में अकर्ता है। अकर्ता-पनेरूप अपना जो ज्ञायकभाव है उसका वह कर्ता है, किन्तु राग का या कर्म का कर्ता नही है।

(४७) "मूर्ख "

देखो शास्त्र में ऐसा आता है कि— कत्थवि बलिओ जीवो, कत्थवि कम्माइ हुंति बलियाइ अर्थात् कभी जीव बलवान होता है और कभी कर्म बलवान हो जाते हैं'—किन्तु अज्ञानी उसका आशय नहीं समझते और विपरीत मानते हैं। जीव ने पुरुषार्थ नहीं किया तब निमित्त से कर्म को बलवान कहा। परन्तु कर्म का उदय ही जीव को जबरन् राग-द्वेषरूप परिणमित करता है— ऐसा जो मानता है उसे तो पं बनारसीदासजी नाटक समयसार में 'मूर्ख' कहते हैं—

> कोऊ मूरख यों कहै राग दोष परिनाम।
> पुग्गल की जोरावरी बरतै आतमराम।। ६२।।

(४८) विपरीत मान्यता का जोर !! [उसके चार उदाहरण]

(१) विपरीत दृष्टि ही जीव को सीधा नहीं समझने देती। देखो 'उदयानुसार विकार होता है' —ऐसा माननेवाले को भी उदयानुसार तो विकार होता ही नहीं उसके शास्त्रस्वाध्यायादि में (भले ही विपरीत दृष्टिपूर्वक) मंदराग तो वर्तता है ज्ञान में भी इसी प्रकार आता है कर्म के उदयानुसार विकार होता है—ऐसा कहीं उसके ज्ञान में तो ज्ञात नहीं होता तथापि उसकी विपरीत दृष्टि का बल उसे ऐसा मनाता है कि 'उदयानुसार विकार होता है। उसकी विपरीत मान्यता में मिथ्यात्व का इतना जोर पड़ा है कि असत्ता उदय आये तो मुझे वैसा होना पड़ेगा—ऐसा उसका अभिप्राय बरतता है इसलिये उसमें तीव्र मिथ्यात्व सहित निगोददशा की ही आराधना का जोर पड़ा है।

(२) इसी प्रकार विपरीत दृष्टि का दूसरा उदाहरण— स्थानकवासी के तेरापंथी लोग असंयमी के प्रति दया-दानादि भावों को भी पाप मनाते हैं। किसी जीव के बचाने का या दानादि का भाव हो तब उसे अपनेको कोमल परिणामरूप शुभभाव है उस समय उसके ज्ञान में भी ऐसा ही ख्याल आता है कि यह कुछ शुभपरिणाम

है, उस समय ज्ञान मे कही ऐसा ख्याल नही आता कि "यह पाप परिणाम है," किन्तु विपरीत श्रद्धा का जोर ऐसा है कि अपने को शुभभाव होने पर भी उसे पाप मनाती है। दया-दान को पाप माननेवाले तेरापथी को भी दया-दान के समय कही पापभाव नही है, तथापि विपरीत दृष्टि के कारण वह उसे पाप मानता है।

(३) इसी प्रकार तीसरा उदाहरण—जिन प्रतिमा के दर्शन-पूजन-भक्ति आदि मे शुभभाव है, तथापि स्थानकवासी उसे पाप मनाते हैं, जिनप्रतिमा के दर्शनादि मे उसे शुभभाव होते हैं तथापि, और ज्ञान मे भी उस समय "यह शुभ है"—ऐसा आने पर भी, विपरीत मान्यता का जोर उस शुभ को भी पाप मनाता है।

(४) एक चौथा उदाहरण यह है कि—दया, पूजा या व्रतादि का भाव शुभराग है, वह कही धर्म नही है, तथापि मिथ्यादृष्टि की विपरीत मान्यता उसे धर्म मानती है। उस शुभराग के समय अज्ञानी को भी ज्ञान मे तो ऐसा आया है कि—"यह राग हुआ," किन्तु धर्म हुआ—ऐसा कही ज्ञान मे नही आया है, अर्थात् राग के समय उस राग का ही ज्ञान हुआ है, तथापि विपरीत दृष्टि के कारण वह राग को धर्म मानता है। राग से धर्म माननेवाले को स्वय भी कही राग से धर्म नही हो जाता, तथापि विपरीत मान्यता का जोर उसे इस प्रकार मनाता है।

—वह विपरीत मान्यता कैसे दूर हो ?—यह बात आचार्यदेव समझाते हैं।

(४९) ज्ञायक सन्मुख हो !—यही जैनमार्ग है

हे भाई ! एक बार तू स्वसन्मुख हो और ज्ञायकस्वभाव को प्रतीति मे लेकर श्रद्धा-ज्ञान को सच्चा बना, तो तुझे सब सीधा-सच्चा भासित होगा और तेरी विपरीत मान्यता दूर हो जायेगी। उपयोग को अन्तरोन्मुख करके "मैं ज्ञायक हूँ"—ऐसा जब तक वेदन न हो तब तक सम्यग्दर्शन नही होता और विपरीत मान्यता भी नही टलती। बस ! ज्ञान को अन्तरोन्मुख करके आत्मा मे एकाग्र किया उसमे सम्पूर्ण मार्ग का समावेश हो गया, सारा जैनशासन उसमें आ गया।

प्रवचन तीसरा

[आश्विन शुक्ल ८, वीर सं० २४७]

(५०) सम्यग्दृष्टि–ज्ञाता क्या करता है ?

"सर्वविशुद्धज्ञान" कहो या अभेदरूप से ज्ञानात्मक शुद्ध द्रव्य कहो—उसका यह अधिकार है। शुद्ध ज्ञायकद्रव्य की दृष्टि से सम्यग्ज्ञानी को ज्ञान में क्या क्या होता है उसका यह वर्णन है। सम्यग्दर्शन अर्थात् शुद्ध आत्मा का ज्ञान होने पर जीव क्या करता है ?—अथवा सम्यग्दृष्टि ज्ञानी का क्या काम है ? वह यहाँ समझाते हैं।

तत्त्वार्थश्रद्धान वह सम्यग्दर्शन है सात तत्त्वों में जीवतत्त्व ज्ञायकस्वरूप है। मैं ज्ञायकस्वरूप जीव हूँ—ऐसा जाननेवाला सम्यक्त्वी पर्याय–पर्याय में ज्ञाताभावरूप ही उत्पन्न होता है इसलिये ज्ञातृत्व का ही कार्य करता है। ज्ञाता स्वयं प्रतिक्षण अपने को जानता हुआ उत्पन्न होता है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से उत्पन्न होनेवाला ज्ञायक ज्ञाता–दृष्टापने का ही कार्य करता है, उस क्षण वर्तते हुए राग का वह ज्ञायक है किन्तु उसका कर्ता नहीं है। ज्ञाता उस काल वर्तते हुए रागादि को–व्यवहार को जानता है वह राग के कारण नहीं किन्तु उस समय के अपने ज्ञान के कारण वह राग को भी जानता है। इसप्रकार ज्ञानी जीव अपने क्रमबद्ध ज्ञानपरिणामरूप से उत्पन्न होता है।

(५१) निमित्त का अस्तित्व कार्य की पराधीनता सूचित नहीं करता

अजीव भी अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से स्वयं उत्पन्न होता है कोई दूसरा उसका उत्पन्न करनेवाला नहीं है। देखो घड़ा होता है वहाँ मिट्टी के परमाणु स्वयं उस पर्यायरूप से उत्पन्न होते हैं कुम्हार उन्हें उत्पन्न नहीं करता। कुम्हार ने घड़ा बनाया—ऐसा कहना तो मात्र निमित्त के संयोग का कथन है। निमित्त कहीं नैमित्तिककार्य की पराधीनता नहीं बतलाता। एक वस्तु के कार्य के समय निमित्तरूप

से दूसरी वस्तु का अस्तित्व हो, वह कही कार्य की पराधीनता नही बतलाता, किन्तु ज्ञान का स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य बतलाया है।

(५२) श्री रामचन्द्रजी के दृष्टान्त द्वारा धर्मात्मा के कार्य की समझ

जिस समय श्री राम–लक्ष्मण–सीता वन मे थे, तब वे हाथ से मिट्टी के बर्तन बनाकर उनमे भोजन बनाते थे। रामचन्द्र जी बलदेव थे और लक्ष्मण वासुदेव। वे महान चतुर, बहत्तर कला के ज्ञाता श्लाका पुरुष थे। जगल मे हाथ से मिट्टी के बर्तन बनाकर उनमे भोजन बनाते थे। "राम ने बर्तन बनाये"—ऐसा कहा जाता है, किन्तु वास्तव मे तो मिट्टी के परमाणु स्वय उन बर्तनो की अवस्थारूप से उत्पन्न हुए हैं। रामचन्द्र जी तो आत्मज्ञानी थे, और उस समय भी वे अपने ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से ज्ञाताभावरूप ही उत्पन्न होते थे, मिट्टी की पर्याय को मैं उत्पन्न करता हूँ—ऐसा वे नही मानते थे, स्व-परप्रकाशक ज्ञानरूप से क्रमबद्ध उत्पन्न होते हुए उस समय के विकल्प को और बर्तन बनने की क्रिया को जानते थे। ज्ञातारूप से ही उत्पन्न होते थे किन्तु राग के या जड की क्रिया के कर्तारूप से उत्पन्न नही होते थे। देखो, यह धर्मी का कार्य! ऐसी धर्मी की दशा है, इससे विपरीत माने तो वह अज्ञानी है, उसे धर्म के स्वरूप की खबर नही है।

(५३) आहारदान प्रसंग के दृष्टान्त से ज्ञानी के कार्य की समझ

सुगुप्ति और गुप्ति नाम के मुनिओ का ऐसा अभिग्रह था कि राजकुमार हो, वन मे हो और अपने ही हाथ से बनाये हुए बर्तन मे विधिपूर्वक आहार दे तो वह आहार लेंगे। ठीक उसी समय राम-लक्ष्मण-सीता वन में थे, हाथ से बनाये हुए बर्तन मे आहार बनाया था और ऐसी भावना कर रहे थे कि कोई मुनिराज पधारें तो उन्हे आहार दें, वही सयोगवशात् वे मुनिवर पधारे और उन्हे विधिपूर्वक पडगाहन करके नवधा भक्तिपूर्वक आहारदान दिया। इसप्रकार मुनियो के अभिग्रह का प्राकृतिक सयोग मिल गया। ऐसा संयोग अपने आप हो जाता है।

किन्तु ज्ञानी जानते हैं कि मैं तो ज्ञायक हूँ, यह आहार देने-लेने की क्रिया हुई वह मेरा कार्य नहीं है मुनिवरों के प्रति भक्ति का शुभभाव हुआ वह भी वास्तव में ज्ञाता का कार्य नहीं है। रामचन्द्रजी ज्ञानी थे उन्हें इस सबकी खबर थी। आहारदान की बाह्यक्रिया के या उस ओर के विकल्प के, परमार्थ से ज्ञानी कर्ता नहीं हैं उस समय अन्तर में ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से प्रतिक्षण ज्ञान-श्रद्धा-आनन्दादि की पर्याय का स्वयं अपने को दान देता है उस दान में स्वयं ही देनेवाला है और स्वयं ही लेनेवाला। निर्मल पर्यायरूप से उत्पन्न हुआ उसका कर्ता भी स्वयं और सम्प्रदान भी स्वयं। ज्ञान-आनन्द की पंक्ति के सिवा रागादि का या पर की पर्याय का आत्मा ज्ञाता है किन्तु कर्ता नहीं है अपनी निर्मल ज्ञान-आनन्ददशा का ही ज्ञानी कर्ता है।

छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए सन्त मुनिवरों को देखकर ज्ञानी कहें कि—'हे नाथ! पधारो पधारो!! मनशुद्धि-वचनशुद्धि-कायशुद्धि-आहारशुद्धि हे प्रभो! हमारे आँगन को पावन कीजिये! हमारे आँगन में आज कल्पवृक्ष फले हमें जंगल में मंगल हुआ। —तथापि उससमय ज्ञानी उस भाषा के और रागके कर्तारूपसे परिणमित नहीं होते किन्तु ज्ञायकपने की ही क्रमबद्धपर्याय के कर्ता रूप से परिणमित होते हैं। अज्ञानियों को यह बात बैठना कठिन होता है।

(५४) रामचन्द्रजी के वनवास के दृष्टान्त द्वारा ज्ञानी के कार्य की समझ

राजगद्दी के बदले रामचन्द्रजी को वनवास हुआ—तो क्या वह अक्रमबद्ध हुआ? अथवा राजगद्दी का क्रम था किन्तु कैकेयी माता के कारण वह बदल गया—ऐसा है?—नहीं' माता-पिता के या किसी और के कारण वनवास की अवस्था हुई ऐसा नहीं है तथा अवस्था का क्रम बदल गया ऐसा भी नहीं है। रामचन्द्रजी जानते थे कि मैं तो ज्ञान हूँ इस समय ऐसा ही ज्ञेय मेरे ज्ञान के ज्ञेयरूप से

होगा;—ऐसी ही स्व–परप्रकाशक–शक्तिरूप से मेरी ज्ञानपर्याय उत्पन्न हुई है। राजभवन मे होऊँ या वन मे होऊँ, किन्तु मैं तो स्व–परप्रकाशक ज्ञायकरूप से ही उत्पन्न होता हूँ। राजमहल भी ज्ञेय है और यह वन भी मेरे ज्ञान का ज्ञेय है, इस समय इस वन को जाने ऐसी ही मेरे ज्ञान की स्व–परप्रकाशकशक्ति विकसित हुई है। इस प्रकार ज्ञानी को ज्ञायकदृष्टि नही छूटती, ज्ञायकदृष्टि मे वे निर्मल ज्ञानपर्यायरूप ही उत्पन्न होते हैं।

(५५) ज्ञानी ज्ञाता रहता है; अज्ञानी राग का कर्ता होता है और पर को वदलना चाहता है

मैं ज्ञायक हूँ—ऐसी दृष्टि करके ज्ञातारूप से न रहकर अज्ञानी रागादि का कर्ता हो कर पर के क्रम को वदलने जाता है। उसे अभी राग करना है और पर को वदलना है, किन्तु ज्ञातारूप से नही रहना है, उसे ज्ञातृत्व नही जमता इसलिये उसे ज्ञान के प्रति क्रोध है, तथा पर के क्रमवद्धपरिणमन पर (वस्तु के स्वभाव पर) द्वेष है इसलिये उसके क्रम को वदलना चाहता है,—इस प्रकार यह मिथ्यादृष्टि के अनत राग–द्वेष हैं। अमुक समय अमुक प्रकार का राग वदलकर उसके वदले ऐसा ही राग करूँ—इस प्रकार जो हठ करके राग को वदलना चाहता है उसे भी राग के साथ एकत्ववुद्धि से मिथ्यात्व होता है। भूमिका अनुसार जो राग होता है उसे साधक जानते हैं, उस राग को ज्ञान का ज्ञेय वना देते हैं, किन्तु उसे ज्ञान का कार्य नही बनाते, और राग होने पर ज्ञान मे शका भी नही पडती। हठपूर्वक राग को वदलने जाये तो उसे उस समय के (राग को भी जाननेवाले) स्व–परप्रकाशक ज्ञान की प्रतीति नही है इसलिये ज्ञान पर ही द्वेष है। ज्ञानी तो ज्ञायकदृष्टि के बल मे ज्ञातारूप से ही उत्पन्न होते हैं, रागरूप से उत्पन्न नही होते, राग के भी ज्ञातारूप से उत्पन्न होते हैं किन्तु उसके कर्तारूप से उत्पन्न नही होते। सम्यग्दृष्टि का ऐसा कार्य है। अज्ञानी तो ज्ञायकस्वभाव की

प्रतीति न रखकर, पर्यायमूढ़ होकर पर्याय को बदलना चाहता है अथवा पर ज्ञेयों के कारण ज्ञान मानता है इसलिये वह ज्ञेयों को जानते हुए उन्हींमें राग-द्वेष करके अटक जाता है किन्तु इधर ज्ञायकस्वभाव की ओर नहीं ढलता।

(५६) जैन के वेष में बौद्ध

❀ बौद्धमती ऐसा कहते हैं कि– 'ज्ञेयों के कारण ज्ञान होता है सामने घड़ा हो तो वहाँ घड़े का ही ज्ञान होता है। घड़े के समय घड़े का ही ज्ञान होता है कि 'यह हाथी है' —ऐसा ज्ञान नहीं होता इसलिये ज्ञेय के कारण ही ज्ञान होता है। किन्तु उनकी यह बात मिथ्या है। ज्ञेयों के कारण ज्ञान नहीं होता किन्तु सामान्य ज्ञान स्वयं ही विशेष ज्ञानरूप परिणमित होकर जानता है इसलिये ज्ञान की अपनी ही वैसी योग्यता से घड़े आदि का ज्ञान होता है उस ज्ञान के समय घड़ा आदि ज्ञेय तो मात्र निमित्त हैं।—ऐसा युक्तिपूर्वक सिद्ध करके अकलंकदेव आचार्यादि महान संतों ने "ज्ञेयों के कारण ज्ञान होता है' —यह बात उड़ा दी है। उसके बदले *आज जैन नाम धारण करनेवाले कुछ विद्वान भी ऐसा मानते हैं* कि 'निमित्त के कारण ज्ञान होता है निमित्त के कारण कार्य होता है' —तो वे भी बौद्धमती जैसे मिथ्यादृष्टि सिद्ध हुए; बौद्ध के और उनके अभिप्राय में कोई अन्तर न रहा।

❀ पुनश्च जिस प्रकार ज्ञेय के कारण ज्ञान नहीं है, उसी प्रकार ज्ञान के कारण ज्ञेय की अवस्था हो—ऐसा भी नहीं है। जिस प्रकार ज्ञेय के कारण ज्ञान होना बौद्ध कहते हैं उसी प्रकार जैन में भी यदि कोई ऐसा माने कि— 'ज्ञान के कारण ज्ञेय की अवस्था होती है —जीव है इसलिये घड़ा होता है जीव है इसलिये शरीर चलता है जीव है इसलिये भाषा बोली जाती है —तो यह मान्यता भी मिथ्या है। ज्ञान और ज्ञेय दोनों की अवस्था क्रमबद्ध स्वतन्त्ररूप से अपने-अपने कारण ही हो रही है।

❀ और, राग भी व्यवहार से ज्ञाता का ज्ञेय है। जिस प्रकार ज्ञेय के कारण ज्ञान, या ज्ञान के कारण ज्ञेय नही है, उसी प्रकार राग के कारण ज्ञान या ज्ञान के कारण राग भी नही है। राग हो वहाँ ज्ञान मे भी राग ही ज्ञात होता है वहाँ अज्ञानी को ऐसा भ्रम हो जाता है कि यह राग है इसलिये उसके कारण राग का ज्ञान होता है, इसलिये राग से पृथक्—राग के अवलम्बन से रहित—ऐसा ज्ञान उसे भासित नही होता। मैं ज्ञायक हूँ और मेरे ज्ञायकस्वभाव मे यह ज्ञान का प्रवाह आता है—ऐसी प्रतीति मे ज्ञानी राग का भी ज्ञाता ही रहता है।

(५७) सच्चा समझनेवाले जीव का विवेक कैसा होता है ?

प्रश्न—प्रत्येक वस्तु की क्रमवद्धपर्याय स्वय अपने से ही होती है—ऐसी क्रमवद्धपर्याय की वात सुनेंगे तो लोग देव–गुरु–शास्त्र का वहुमान छोड देंगे, और जिन–मन्दिरादि नही वनवायेंगे ?

उत्तर—अरे भाई ! जो यह वात समझेगा उसीको समझानेवाले का सच्चा वहुमान आयेगा। निश्चय से अपने ज्ञायकस्वभाव को जाना तव क्रमवद्धपर्याय का ज्ञान सच्चा हुआ। ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख होकर क्रमवद्धपर्याय की अपूर्व वात जो समझा, उसे वह वात समझानेवाले वीतरागी देव–गुरु–शास्त्र के प्रति भक्ति का भाव आये विना नही रहेगा। "मैं ज्ञायक हूँ"—इस प्रकार ज्ञायक की श्रद्धा करके जो क्रमबद्धपर्याय को जानेगा वह अपनी भूमिका के राग को भी जानेगा। किस भूमिका मे कैसा राग होता है और कैसे निमित्त होते हैं उनका भी वह विवेक करेगा। यह तो जागृतमार्ग है, यह कही अधमार्ग नही है। साधकदशा मे राग होता है, किन्तु उस राग की वृत्ति कुदेवादि के प्रति नही जाती, किन्तु सच्चे देव–गुरु के बहुमान की ओर वृत्ति जाती है। जो सचचा समझे वह स्वच्छन्दी हो ही नही सकता, सच्ची समझ का फल तो वीतरागता है। वीतरागी देव–गुरु का बहुमान आने से बाह्य मे जिनमन्दिर बनवाने आदि के भाव

जाते हैं किन्तु बाह्य में तो उसके अपने काल में जैसा होने योग्य हो वैसा होता है। इसी प्रकार अष्ट द्रव्यों से भगवान की पूजादि में भी समझ लेना चाहिये। उस काल वैसा राग होता है और उस समय ज्ञान भी वैसा ही जानता है तथापि उस ज्ञान के या राग के कारण बाह्यक्रिया नहीं होती। उस समय भी ज्ञानी जीव तो अपने ज्ञानभाव का ही कर्ता है।

ज्ञानभाव जीवतत्त्व है
राग आस्रवतत्त्व है और
बाह्य शरीरादि की क्रिया अजीवतत्त्व है।

उसमें किसी के कारण कोई नहीं है। इस प्रकार प्रत्येक तत्त्व का भिन्न–भिन्न स्वरूप पहिचानना चाहिये तभी सच्ची तत्त्वार्थ श्रद्धा होती है।

(४८) अपनी पर्याय में ही अपना प्र भाव है

कोई कहता है कि—आपके प्रभाव से यह सब रचना हुई!—यह सब तो विनय की भाषा है। वास्तव में प्रभाव' किसी का किसी पर नहीं है। सब की पर्याय में अपना–अपना ही प्र भाव (विशेष प्रकार से भवन) है। आत्मा अपने ज्ञानरूप विशेषभाव से परिणमित हो उसीमें उसका प्रभाव है स्वयं अपने भिन्न भिन्न भावरूप से परिणमित हो उसीमें अपना प्रभाव है। किन्तु जीव का प्रभाव अजीव पर या अजीव का प्रभाव जीव पर नहीं है प्रत्येक तत्त्व भिन्न–भिन्न है एकका दूसरे में अभाव है इसलिये किसी का प्रभाव दूसरे पर नहीं पड़ता। एक पर दूसरे का प्रभाव कहना मात्र निमित्त का कथन है। (विशेष के लिये देखो प्रथम भाग प्रवचन चौथा नं० १०८)

(४९) समवसरण के नाम पर मूढ जीव की गड़बड़ी

कुछ मूढ़ लोग ऐसा प्रचार करते हैं कि—भगवान का समवसरण प्राप्त हो गया तो आता है इसलिये चाहे जिस वेश में और चाहे जिस ढंग से मुनिदशा आ जाता है। किन्तु चाहे जैसे मिथ्याभिप्राय

को मानता हो और चाहे जैसे निमित्त मे विद्यमान हो, तथापि क्रमबद्ध मे मुनिपना या सम्यग्दर्शन आ जाये—ऐसा कभी होता ही नही। अरे भाई! क्रमबद्धपर्याय क्या वस्तु है उसकी तुझे खबर नही है, सम्यग्दर्शन और मुनिपने की दशा कैसी होती है उसकी भी तुझे खबर नही है। अतरग ज्ञायकभाव मे लीन होकर मुनिदशा प्रगट हुई वहाँ निमित्तरूप से जडशरीर की दशा नग्न ही होती है। अब यह बात प्रसिद्धि मे आने से कुछ स्वच्छन्दी लोग क्रमबद्ध के शब्द पकडकर बात करना सीखे हैं। किन्तु यदि क्रमबद्धपर्याय को यथार्थ समझें तब तो निमित्त आदि चारो पक्षो का मेल बराबर मिलना चाहिये।

(९०) ज्ञायक और क्रमबद्ध का निर्णय करके स्वाश्रय का परिणमन हुआ, उसमें व्रत-प्रतिक्रमण आदि सारा जैनशासन आ जाता है

प्रश्न —इस क्रमबद्धपर्याय मे व्रत-समिति-गुप्ति-प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-प्रायश्चित आदि कहाँ आये ?

उत्तर·—जिसका ज्ञान पर से हटकर ज्ञायक मे एकाग्र हुआ है, उसीको क्रमबद्धपर्याय का निर्णय है, और ज्ञायक मे एकाग्र होकर परिणमित हुआ उसमे व्रत-समिति आदि सब कुछ आ जाता है। ज्ञायकस्वभाव मे ज्ञान की एकाग्रता-वह ध्यान है और उस ध्यान मे निश्चय व्रत-तप-प्रत्याख्यानादि सबका समावेश हो जाता है। नियमसार की ११९ वी गाथा मे कहा है कि—

आत्मस्वरूपालम्बनभावेन तु सर्वभाव परिहारम्।
शक्नोति कर्तु जीवस्तस्माद् ध्यान भवेत् सर्वम् ॥ ११९ ॥

निज आत्मा का आश्रय कर के ज्ञान एकाग्र हुआ वह निश्चय धर्मध्यान है, और वह निश्चय धर्मध्यान ही सर्व परभावो का अभाव करने मे समर्थ है, "तम्हा झाण हवे सव्व"—इसलिये ध्यान सर्वस्व है, शुद्ध आत्मा के ध्यान मे सर्व निश्चय आचारो (पचाचार) का समावेश हो जाता है।

जो आत्मा के ज्ञायकस्वभाव का और क्रमबद्धपर्याय का निर्णय नहीं करता, उसे कभी धर्मध्यान नहीं होता। ध्यान अर्थात् ज्ञान की एकाग्रता। ज्ञायक की ओर न ढले क्रमबद्धपर्यायको न जाने और पर में फेरफार करना माने—ऐसे जीव का ज्ञान परसन्मुखता से हटकर स्व में एकाग्र होता ही नहीं इसलिये उसे धर्मध्यान होता ही नहीं पर में एकाग्रता द्वारा उसे तो विपरीत ध्यान होता है। ज्ञानी तो ज्ञायक का और क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करके ज्ञायक में ही एकाग्रदृष्टि से क्रमबद्धज्ञातारूप से ही परिणमित होता है। ज्ञायक में एकाग्रता का जो क्रमबद्धपरिणमन हुआ उसमें निश्चय प्रतिक्रमण–प्रत्याख्यान–सामायिक–व्रत–इत्यादि सब आ गया। ज्ञाता तो क्रमबद्ध अपने ज्ञायकभावरूप ही परिणमित होता है—ज्ञायक के अवलम्बन से ही परिणमित होता है वहाँ निर्मल पर्यायें होती जाती हैं। बीच में जो व्यवहार परिणति होती है उसे ज्ञान जानता है किन्तु उसमें एकाग्र होकर प्रवर्तित नहीं होता स्वभाव में एकाग्ररूप से ही वर्तता है और उसमें जनशासन आ जाता है।

(६१) "अभाव, अतिभाव (—विभाव), और समभाव"

ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से ही सच्चा समभाव होता है उसके बदले जो संयोग के आश्रय से समभाव होना मनाये उसे वस्तु स्वरूप की खबर नहीं है—जैनशासन की खबर नहीं है। कोई अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि—"गरीबों के पास धनादि का 'अ भाव' है और धनवानों के पास उसका अतिभाव है इसलिये जगत में प्रतिद्वन्दिता और क्लेश होता है यदि अतिभाववाले अतिरिक्त का त्याग कर के अभाववालों को दे दें तो 'समभाव' हो जाये और सबको शांति हो इसलिये हम अणुव्रत का प्रचार करते हैं। —यह सब अज्ञानी की संयोगदृष्टि की बातें हैं। क्लेश या समभाव क्या संयोग के कारण होता है ?—यह बात ही भूली है। ज्ञायकस्वभाव से सभी जीव समान हैं इसलिये ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में ही सच्चा 'समभाव' है पर का आत्मा में अभाव है और जो "विभाव'

है वह उपाधिभाव होने से त्यागने योग्य है। इसके सिवा बाह्य मे "अभाव, अतिभाव और समभाव" की बात तो सयोगदृष्टि की बात है, वह कही सच्चा मार्ग नही है।

इसी प्रकार "वैभव कम हो तो खर्च घटे, और खर्च घटे तो पाप कम हो"—यह भी बाह्यदृष्टि की बात है। निगोदिया जीवो के पास एक पाई का भी वैभव या खर्च नही है, तथापि वे जीव अनतपाप से महा दुखी हो रहे हैं। कोई सम्यक्त्वी जीव चक्रवर्ती हो, छह खण्ड का राज्यवैभव हो और प्रतिदिन करोडो–अरबो का खर्च होता हो, तथापि उसके पाप अत्यल्प हैं, और वास्तव मे तो अखण्ड चैतन्यवैभव की दृष्टि मे उसे पाप नही है, वह ज्ञायकभावरूप ही उत्पन्न होता है, अल्प रागादि हैं वे तो ज्ञेय मे जाते हैं, उनमे एकतारूप से ज्ञानी उत्पन्न नही होते।

(६२) अज्ञानी विरोध की पुकार करते हैं तो भले करें; उससे उनकी मान्यता मिथ्या होगी, किन्तु वस्तुस्वरूप नहीं बदल सकता!

आत्मा अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता हुआ अपनी पर्याय के साथ अनन्य है और पर के साथ अनन्य नही है—ऐसा अनेकान्त है, जीव अपनी पर्याय मे तन्मय है इसलिये उसका कर्ता है, और पर की पर्याय मे तन्मय नही है इसलिये उसका कर्ता नही है—ऐसा अनेकान्तस्वरूप है। आत्मा अपना करे और पर का भी करे—ऐसा अज्ञानी मानता है किन्तु वस्तुस्वरूप ऐसा नही है। वस्तु का अनेकान्तस्वरूप ही ऐसी पुकार कर रहा है कि आत्मा अपना ही करता है, पर का तीन काल मे नही करता। अज्ञानी विरोध की पुकार करते हैं तो भले करें, किन्तु उससे कही वस्तुस्वरूप नही बदल सकता। "आप्तमीमासा" गाथा ११० की टीका मे कहते हैं कि—"वस्तु ही अपना स्वरूप अनेकान्तात्मक आप दिखावै है तो हम कहा करें ? वादी पुकारै है "विरुद्ध है रे विरुद्ध है " तो पुकारो, किछु निरर्थक पुकारने मे साध्य है नही।"—वस्तु ही स्वय अपना

स्वरूप अनेकान्तात्मक दिखलाती है तो हम क्या करें ? वादी—अज्ञानी पुकारते हैं कि 'विरुद्ध है रे विरुद्ध है'—तो भले पुकारो' उनकी निरर्थक पुकार से कुछ साध्य नहीं है। अज्ञानी विरोध की पुकार करें तो उससे कहीं वस्तुस्वरूप बदल नहीं जायेगा। प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप स्वचतुष्टयरूप है और पर के चतुष्टय रूप वह नहीं है—ऐसा ही उसका अनेकान्तस्वरूप है। पर के चतुष्टय रूप से आत्मा अभावरूप है तो पर में वह क्या करेगा ? अज्ञानी चिल्ल-पों मचाते हैं तो भले मचायें किन्तु वस्तुस्वरूप तो ऐसा ही है। उसी प्रकार इस क्रमबद्धपर्याय के सम्बन्ध में भी अज्ञानी अनेक प्रकार से विरुद्ध मानते हैं वे विरुद्ध मानते हैं तो भले मानें उससे उनकी मान्यता मिथ्या होगी किन्तु वस्तुस्वरूप तो जो है वही रहेगा वह नहीं बदल सकता। ज्ञायक आत्मा एक साथ तीनकाल-तीनलोक को सम्पूर्णतया जानता है और जगत के समस्त पदार्थ क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होते हैं—ऐसा जो वस्तुस्वरूप है वह किसी से नहीं बदला जा सकता। ज्ञानी ऐसा वस्तुस्वरूप जानकर ज्ञायकसन्मुख ज्ञानभावरूप से उत्पन्न होते हैं अज्ञानी विपरीत मानकर मिथ्यादृष्टि होता है।

❋ प्रवचन : चौथा ❋

[आश्विन सुदी १ , वीर सं० २४८]

(६३) क्रमबद्ध में ज्ञायकसन्मुख निर्मल परिणमन की धारा प्रवाहित हो—उसीकी मुख्य बात है

इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में मुख्य बात यह है कि—अपने ज्ञायकस्वभावसन्मुख होकर जो विशुद्ध परिणाम उत्पन्न हुए उन्हीं। इसमें मुख्यता है क्रमबद्धपरिणाम में ज्ञानी को निर्मल परिणाम ही होते हैं। ज्ञानी स्वसन्मुख होकर श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रादि के निर्मल

परिणमन की नियतधारा मे परिणमित होता है, उसको क्रमबद्धपर्याय मे शुद्धता का प्रवाह चलता रहता है।

समस्त पदार्थों मे मुख्य तो आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, क्योकि ज्ञान ही स्व-पर को जानता है। ज्ञानस्वभाव न हो तो स्व-पर को जानेगा कौन ? इसलिये ज्ञानस्वभाव ही मुख्य है। ज्ञानस्वभाव के निर्णय मे सात तत्त्वो का तथा देव-गुरु-शास्त्र का और क्रमबद्धपर्याय का निर्णय समा जाता है। यहाँ लोकालोक को जानने के सामर्थ्यरूप से ज्ञान परिणमित होता है और सामने लोकालोक ज्ञेयरूप से क्रमबद्ध परिणमित होते हैं, ऐसा ज्ञेय-ज्ञायक का मेल है किन्तु किसीके कारण कोई नही है। सब अपने-अपने क्रमबद्धप्रवाह मे स्वय परिणमित हो रहे हैं।

(६४) ज्ञायकभाव के क्रमबद्धपरिणमन में सात तत्त्वों की प्रतीति

अपने क्रमबद्ध होनेवाले परिणामो के साथ तन्मय होकर प्रत्येक द्रव्य प्रतिसमय परिणमित हो रहा है, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव चारो प्रतिसमय नई-नई पर्यायरूप से परिणमित हो रहे हैं। स्वस्वभावसन्मुख परिणमित आत्मा अपने ज्ञाताभाव के साथ अभेद है और राग से पृथक् है।—ऐसे आत्मा की प्रतीति जीवतत्त्व की सच्ची प्रतीति है।

मेरा ज्ञायकआत्मा ज्ञायकभावरूप से क्रमबद्ध उत्पन्न होता हुआ उसीमे तन्मय है, और अजीव मे तन्मय नही है—राग मे तन्मय नही है,—ऐसी स्वसन्मुख प्रतीति मे साततत्त्वो की श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन आ जाता है।

(१) ज्ञायकभाव के साथ जीव की अभेदता है—ऐसी श्रद्धा हुई उसमे ज्ञायकस्वभावी जीव की प्रतीति आ गई।

(२) अपने ज्ञायकभाव की क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होनेवाले जीव का अजीव के साथ एकत्व नही है, तथा अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होनेवाले अजीव का जीव के साथ एकत्व नही है,—इस प्रकार अजीवतत्त्व की श्रद्धा भी आ गई।

(३–४) अब ज्ञायकभावरूप से परिणमित होनेवाला साधकजीव उस–उस काल के रागादि को भी जानता है,—किन्तु उन रागादि को अपने शुद्धजीव के साथ तन्मय नहीं जानता उन्हें आस्रव–बंध के साथ तन्मय जानता है —इस प्रकार आस्रव और बंध तत्त्वों की श्रद्धा भी आ गई।

(५–६) ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से अपने को श्रद्धा ज्ञान आनन्द आदि के निर्मल परिणाम होते हैं वह संवर–निर्जरा है, उसे भी ज्ञानी जानते हैं और इसलिये संवर—निर्जरा की प्रतीति भी आ गई।

(७) संवर–निर्जरारूप भाव में शुद्धपर्यायरूप से तो स्वयं परिणमित होता ही है और पूर्ण शुद्धतारूप मोक्षदशा कैसी होती है—यह भी प्रतीति में आ गया है, इसलिये मोक्षतत्त्व की श्रद्धा भी आ गई।

—इस प्रकार ज्ञायकभाव की क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित जीव को सातों तत्त्वों की प्रतीति आ गई है। (क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में सातों तत्त्वों की श्रद्धा और जैनशासन' —इसके लिये देखिये आत्मधर्म अंक ११९–२० प्रवचन चौथा नं० ९३—९५)

(९५) अज्ञानी के सातों तत्त्वों में भूल

(१–२) अज्ञानी को अपने ज्ञायकभाव की खबर नहीं है और शरीरादि अजीव की क्रमबद्धपर्यायों को मैं बदल सकता हूँ—ऐसा वह मानता है यानी अजीव के साथ अपनी एकता मानता है, इसलिये उसकी जीव अजीवतत्त्व की श्रद्धा में भूल है।

(३–४) और जो शुभरागादि पुण्यभाव होते हैं वे आस्रव के साथ तन्मय हैं उसके बदले उन्हें धर्म मानता है यानी शुद्ध जीव के साथ एकमेक मानता है इसलिये उसकी आस्रव–बंध तत्त्वों की श्रद्धा में भूल है।

(५-६) आत्मा की शुद्ध वीतरागीदशा सवर-निर्जरा है, उसके बदले पंचमहाव्रतादि के शुभराग को संवर-निर्जरा मानता है, इसलिये संवर-निर्जरा तत्त्व की श्रद्धा मे भूल है।

(७) और मोक्ष का कारण भी उसने विपरीत माना इसलिये मोक्ष की श्रद्धा मे भी उसकी भूल है।

—इस प्रकार अज्ञानी की सातो तत्त्वो की श्रद्धा मे भूल है।

(६६) भेदज्ञान का अधिकार

जीव-अजीव की क्रमबद्धपर्याय को पहिचाने तो उसमें भेदज्ञान और सातो तत्वो की यथार्थ श्रद्धा आ जाती है। इस प्रकार यह भेदज्ञान का अधिकार है।

(६७) "क्रमबद्धपर्याय" की उत्पत्ति अपनी अंतरंग योग्यता के सिवा अन्य किसी बाह्यकारण से नहीं होती

क्रमबद्धपर्याय कहो या "योग्यता" कहो, तदनुसार ही कार्य होता है। पर्याय की योग्यता स्वयं ही अतरगकारण है, दूसरा निमित्त तो बाह्यकारण है। अतरगकारण के अनुसार ही प्रत्येक कार्य होता है, बाह्यकारण से कार्य की उत्पत्ति नही होती। श्री षट्खण्डागम की धवलटीका मे वीरसेनाचार्यदेव ने इस सम्बन्ध मे अति अलौकिक स्पष्टीकरण किया है।

मोहनीय कर्म के परमाणु उत्कृष्ट ७० कोडाकोडी सागरोपम तक रहते हैं, जब कि आयुकर्म के परमाणुओ की स्थिति उत्कृष्ट ३३ सागरोपम की होती है—ऐसी ही उस-उस कर्मप्रकृति की स्थिति है। कोई पूछे कि मोहकर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोडाकोडी सागर की और आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति मात्र ३३ सागर की ही:—ऐसा क्यो ? तो षट्खण्डागम मे आचार्यदेव कहते हैं कि प्रकृतिविशेष होने से उस प्रकार स्थितिबन्ध होता है, अर्थात् उन-उन विशेषप्रकृतियो की वैसी ही अतरग योग्यता है, और उनकी योग्यतारूप अतरंग-

कारण से ही वैसा कार्य होता है ।—ऐसा कहकर यहाँ आचार्यदेव ने महान सिद्धान्त बतलाया है कि— 'सर्वत्र अतरंगकारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है—ऐसा निश्चय करना चाहिये ।'

दूसरा दृष्टान्त सें—दसवें गुणस्थान में जीव को लोभ का सूक्ष्म भाव और योग का कम्पन है वहाँ उसे मोह और आयु को छोड़कर शेष छह कर्मों का बंध होता है उनमें ज्ञानावरणादि की अतर्मुहूर्त की स्थिति पड़ती है और सातावेदनीय की स्थिति १२ मुहूर्त की तथा गोत्र और नामकर्म की स्थिति आठ मुहूर्त की बँधती है। छहों कर्मो का बन्ध एक साथ होने पर भी स्थिति में इस प्रकार अन्तर होता है। स्थिति में क्यों ऐसा अन्तर होता है ?—ऐसा प्रश्न उठने पर आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि 'प्रकृतिविशेष होने से'—अर्थात् उस—उस मुख्य प्रकृति का अतरग कारण ही वैसा है और उस अन्तरग कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है ।

ऊपर भिन्न-भिन्न कर्म की भिन्न-भिन्न स्थिति के सम्बन्ध में कहा उसी प्रकार वेदनीय कर्म में परमाणुओं की संख्या अधिक और दूसरे कर्म में थोड़ी—ऐसा क्यों ? —ऐसा प्रश्न कोई करे तो उसका भी यही समाधान है कि उन उन प्रकृतियों का वैसा ही स्वभाव है। पर्याय का स्वभाव कहो योग्यता कहो या अन्तरगकारण कहो—उसीसे कार्य की उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त बाह्यकारणों से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती । यदि कभी बाह्यकारणों से कार्य की उत्पत्ति होती हो तो चावल के बीज में से गेहूँ की उत्पत्ति होना चाहिए; किन्तु ऐसा कभी नहीं होता ।

निमित्त तो बाह्यकारण है । उस बाह्यकारण के कोई द्रव्य क्षेत्र-काल या भाव ऐसे सामर्थ्यवान नहीं हैं कि जिनके बल से नीम के वृक्ष से आमों की पैदावार हो या चावल के पौधे से गेहूँ की उत्पत्ति हो अथवा जीव में से अजीव हो जाये । यदि बाह्यकारणा नुसार कार्य की उत्पत्ति होती हो तब तो अजीव के निमित्त से जीव

भी अजीवरूप हो जायेगा।—किन्तु ऐसा कभी नही होता, क्योकि वाह्यकारण से कार्य की उत्पत्ति नही होती, अन्तरंगकारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है। (देखो, पट्खण्डागम पुस्तक ६– पृष्ठ १६४)

(६८) निमित्त और नैमित्तिक की स्वतंत्रता

द्रव्य मे किस समय परिणमन नही है?—और जगतमे किस समय निमित्त नही है?—जगत के प्रत्येक द्रव्य मे प्रतिसमय परिणमन हो ह रहा है और निमित्त भी सदैव होता ही है,—तव फिर इस निमित्त के कारण यह हुआ—यह वात कहाँ रहती है? और निमित्त न हो तो नही हो सकता—यह प्रश्न भी कहाँ रहता है? यहाँ कार्य होने मे और सामने निमित्त होने मे कही समयभेद नही है। निमित्त का अस्तित्व कही नैमित्तिककार्य की पराधीनता नही वतलाता, किन्तु निमित्त किसका?—कहते हैं नैमित्तिककार्य हुआ उसका,—इस प्रकार वह नैमित्तिक को प्रगट करता है।—ऐसी निमित्त –नैमित्तिक की स्वतत्रता भी जो न जाने उसे स्व–पर का भेदज्ञान नही है और अतर मे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि तो उसे होती ही नही। यहाँ तो ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि होने से निमित्त के साथ का सम्वन्ध टूट जाता है—ऐसी सूक्ष्म वात है। ज्ञानी की दृष्टि मे कर्म के साथ का निमित्त-नैमित्तिकसम्वन्ध छूट गया है।

(६९) ज्ञायकदृष्टि में ज्ञानी का अकर्तृत्व

ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होनेवाले जीव को परके साथ कार्य-कारणपना नही है, अर्थात् वह नवीन कर्मवन्धन मे निमित्त नही होता और पुराने कर्मों को निमित्त नही बनाता। कोई पूछे कि—राग का तो कर्ता है न? तो कहते हैं कि नही, राग पर दृष्टि न होने से ज्ञानी राग के कर्ता नही हैं, ज्ञायकदृष्टि मे ज्ञायकभावरूप भी उत्पन्न हो—और रागरूप भी उत्पन्न हो ऐसा नही होता। ज्ञायक तो ज्ञायक-रूप से ही उत्पन्न होता है—रागरूप से उत्पन्न नही होता, राग के ज्ञातारूप से उत्पन्न होता है।

कारण से ही वसा कार्य होता है।—ऐसा कहकर वहाँ आचार्यदेव ने महान सिद्धान्त बतलाया है कि— 'सर्वत्र अतरंगकारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है—ऐसा निश्चय करना चाहिये।'

दूसरा दृष्टान्त लें —दसवें गुणस्थान में जीव को लोभ का सूक्ष्म भाव और योग का कम्पन है वहाँ उसे मोह और आयु को छोड़कर शेष छह कर्मों का बंध होता है उनमें ज्ञानावरणादि की अतर्मुहूर्त की स्थिति पड़ती है और सातावेदनीय की स्थिति १२ मुहूर्त की तथा गोत्र और नामकर्म की स्थिति आठ मुहूर्त की बँधती है। छहों कर्मों का बन्ध एक साथ होने पर भी स्थिति में इस प्रकार अन्तर होता है। स्थिति में क्यों ऐसा अन्तर होता है ?—ऐसा प्रश्न उठने पर आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि 'प्रकृतिविशेष होने से' —अर्थात् उस-उस मुख्य प्रकृति का अतरंग कारण ही वैसा है और उस अन्तरग कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है।

ऊपर भिन्न भिन्न कर्म की भिन्न-भिन्न स्थिति के सम्बन्ध में कहा उसी प्रकार ' वेदनीय कर्म में परमाणुओं की संख्या अधिक और दूसरे कर्म में थोड़ी—ऐसा क्यों ? —ऐसा प्रश्न कोई करे तो उसका भी यही समाधान है कि उन उन प्रकृतियों का वैसा ही स्वभाव है। पर्याय का स्वभाव कहो योग्यता कहो या अन्तरंगकारण कहो— उसीसे कार्य की उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त बाह्यकारणों से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। यदि कभी बाह्यकारणों से कार्य की उत्पत्ति होती हो तो चावल के बीज में से गेहूँ की उत्पत्ति होना चाहिए, किन्तु ऐसा कभी नहीं होता।

निमित्त तो बाह्यकारण है। उस बाह्यकारण के कोई द्रव्य क्षेत्र-काल या भाव ऐसे सामर्थ्यवान नहीं हैं कि जिनके बल से नीम के वृक्ष से आमों की पैदावार हो या चावल के पौधे से गेहूँ की उत्पत्ति हो अथवा जीव में से अजीव हो जावे। यदि बाह्यकारण अनुसार कार्य की उत्पत्ति होती हो तब तो अजीव के निमित्त से जीव

दूसरे के परिणाम का उत्पादक नही है। जैसे कि—कुम्हार अपने हाथ की हलन-चलनरूप अवस्था का उत्पादक है, किन्तु मिट्टी मे से जो घडारूप अवस्था हुई उसका वह उत्पादक नही है, उसका उत्पादक तो मिट्टी ही है,—मिट्टी स्वय ही उस अवस्था मे तन्मय होकर घडारूप से उत्पन्न हुई है—कुम्हार नही। उसी प्रकार जीव अपने क्रमबद्ध ज्ञानादिपरिणामो का उत्पादक है, किन्तु अजीव का उत्पादक नही है। ज्ञानस्वभाव मे तन्मय होकर ज्ञानभावरूप से उत्पन्न होनेवाला जीव अपने ज्ञानपरिणाम का उत्पादक है, किन्तु रागादि का उत्पादक नही है, क्योकि वह रागादि के साथ तन्मय होकर उत्पन्न नही होता, और रागादि का उत्पादक न होने से कर्मबधन मे वह निमित्त भी नही है, इस प्रकार वह जीव अकर्ता ही है। यह सारा विषय अन्तर्दृष्टि का है। अतर् की ज्ञायकदृष्टि के बिना ऐसा अकर्तापना या क्रमबद्धपना समझ मे नही आ सकता।

(७२) ज्ञानी को कैसा व्यवहार होता है, और कैसा नहीं होता ?

देखो, तत्त्वार्थसूत्र (अध्याय ५, सूत्र २१) मे जीव के परस्पर उपकार की बात की है। वहाँ उपकार का अर्थ "निमित्त" है। एक जीव ने दूसरे का उपकार किया—ऐसा निमित्त से कहा जाता है। किन्ही ज्ञानीगुरु के निमित्त से अपूर्व आत्मज्ञान की प्राप्ति हो, वहाँ ऐसा कहा जाता है कि—"अहो ! इन गुरुदेव का मुझपर अनत उपकार हुआ" यद्यपि गुरु कही शिष्य के ज्ञान के उत्पादक नही हैं, तथापि वहाँ तो विनय के लिये निमित्त से गुरु का उपकार कहा जाता है, लेकिन उसी प्रकार यहाँ ज्ञानी को तो मिथ्यात्वादि कर्मों के साथ ऐसा निमित्त-नैमित्तिकभाव भी लागू नही होता। ज्ञानी निमित्त होकर मिथ्यात्वादि कर्मों की उत्पत्ति करें—ऐसा नही होता। "अहो ! गुरु ही मेरे ज्ञान के उत्पादक हैं, गुरु ने ही मुझे ज्ञान दिया, गुरु ने ही आत्मा दिया"—ऐसा गुरु के उपकार के निमित्त से कहा जाता है—ऐसा व्यवहार तो ज्ञानी के होता है, किन्तु निमित्त होकर मिथ्यात्वादि कर्म के उत्पादक हो—ऐसा व्यवहार ज्ञानी को लागू नही

(७०) जीव के निमित्त बिना पुद्गल का परिणमन

प्रश्नः—पुद्गल तो अजीव है कहीं जीव के निमित्त बिना उसकी अवस्था हो सकती है ?

उत्तरः—भाई ! जगत में अनन्तानन्त ऐसे सूक्ष्म परमाणु—पृथक् तथा स्कन्धरूप—हैं कि जिनको परिणमन में कालद्रव्य ही निमित्त है जीव का निमित्तपना नहीं है। जीव के साथ निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध तो अमुक पुद्गलस्कन्धों को ही है किन्तु उनसे अनंत गुने परमाणु तो जीव के साथ निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध बिना ही परिणमित हो रहे हैं। एक पृथक परमाणु एक अंश में से दो अंश रूपेपन या चिकनेपनरूप परिणमित हो वहाँ कौन-सा जीव निमित्त है !—उसे मात्र कालद्रव्य ही निमित्त है। अज्ञानी को संयोग में से ही देखने की दृष्टि है इसलिये वह वस्तु के स्वाधीन परिणमन को नहीं देखता। (निमित्त न हो तो ? क्या निमित्त के बिना हो सकता है ?—इत्यादि प्रश्नों के स्पष्टीकरण के लिये अङ्क नं० ११९-१२० में पहली बार के प्रवचनोंमें नं० १ -१०१ ११४ और १५० देखिये।)

(७१) ज्ञायकभावरूप से उत्पन्न होनेवाला ज्ञानी कर्म का निमित्तकर्ता भी नहीं है

यहाँ तो 'सर्वविशुद्धज्ञान' की यानी जीव के स्वभाव की बात चल रही है। जीव का ज्ञानस्वभाव है वह पर का अकर्ता है।—निमित्तरूप से भी वह पर का अकर्ता है। पर में यहाँ मुख्यरूप से मिथ्यात्वादि कर्मों की बात है। ज्ञानस्वभावरूप से उत्पन्न होनेवाले जीव को मिथ्यात्वादि कर्मों का निमित्तकर्तापना भी नहीं है। जीव को अजीव के साथ उत्पाद्य-उत्पादकभाव का अभाव है इसलिये जीव अपने ज्ञायकस्वभावरूप से उत्पन्न होता हुआ निमित्त होकर जड़ कर्म को भी उत्पन्न करे—ऐसा कभी नहीं होता।

सर्व द्रव्यों को दूसरे द्रव्यों के साथ उत्पाद्य उत्पादकभाव का अभाव है। प्रत्येक द्रव्य अपने क्रमबद्धपरिणाम का उत्पादक है किन्तु

है ही नही, इसलिये उसके लोप होने—न होने का प्रश्न ही नही रहता। अज्ञानी को विपरीतदृष्टि मे कर्म के साथ निमित्त–नैमित्तिकपने का व्यवहार रहता है; इस ज्ञायकदृष्टि मे मिथ्यात्वादि कर्म के कर्तृत्वरूप उस व्यवहार का लोप हो जाता है। अज्ञानी को व्यवहार का अभाव नही करना है, किन्तु अभी व्यवहार रखना है, इसलिये कर्म के साथ निमित्त–नैमित्तिकसबध का व्यवहारसबध रखकर उसे ससार मे भटकना है—ऐसा उसका अर्थ हुआ। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से कर्म के साथ का निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध तोड डाला वहाँ दृष्टि–अपेक्षा से तो सम्यक्त्वी मुक्त ही है। इस प्रकार दृष्टि मे व्यवहार का निषेध करने के पश्चात् साधकपने मे जिस-जिस भूमिका मे जैसा-जैसा व्यवहार होता है उसे वह सम्यक्ज्ञान द्वारा जानता है। और पश्चात् भी, ज्ञायकस्वभाव मे एकाग्रता द्वारा शुभरागरूप व्यवहार का अभाव होगा तो वीतरागता होगी। किन्तु व्यवहार के अवलम्बन की ही जिसे रुचि और उल्लास है उसे तो ज्ञायकस्वभावोन्मुख होकर सम्यग्दर्शन करने का भी अवकाश नही है। अन्तर मे ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन बिना अपनी क्रमबद्धपर्याय मे सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें नही होती। ज्ञानी तो अपने ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से ही सम्यग्दर्शनादि निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूप परिणमित होता है, उसका नाम धर्म और मुक्ति का मार्ग है।

प्रवचन पाँचवाँ

[आश्विन शुक्ला ११, वीर स० २४८०]

(७५) क्रमबद्धपर्याय कब की है?—और वह कब निर्मल होती है?

आत्मा ज्ञायकस्वभाव है, वह पर का अकर्ता है, यह बतलाने के लिये क्रमबद्धपर्याय की बात चल रही है।

प्रश्न—यह क्रमबद्धपर्याय कब से चल रही है?

होता। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से निश्चय अकर्तृत्व को जान लें, तब भूमिकानुसार कैसा व्यवहार होता है उसकी खबर पड़े। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि के बिना जो अकेले व्यवहार को जानने जाये वह मूढ़ है स्व-परप्रकाशकज्ञान जागृत हुए बिना व्यवहार को जानेगा कौन ? अज्ञानी तो व्यवहार को जानते हुए उसीको आत्मा का परमार्थस्वरूप मान लेता है इसलिये उसे निश्चय या व्यवहार का सच्चा ज्ञान नहीं होता। ज्ञाता जागृत हुआ वही व्यवहार को यथावत् जानता है।

(७३) "मूलभूत ज्ञानकला" कैसे उत्पन्न होती है ?

मूलभूत भेदज्ञान क्या वस्तु है उसे लोग भूल गये हैं। प॰ बनारसीदासजी कहते हैं कि—

चेतनरूप अनूप अमूरति सिद्धसमान सदा पद मेरो।
मोह महातम आतम अंग कियो परसंग महातम घेरो॥
ज्ञानकला उपजी अब मोहि कहूँ गुन नाटक आगम केरो।
जासु प्रसाद सधे सिवमारग वेगि मिटे भववास बसेरो॥११॥

—इसमें कहते हैं कि मेरे ज्ञानकला उत्पन्न हुई; किस प्रकार उत्पन्न हुई ? क्या किसी बाह्यसाधन से या व्यवहार के अवलम्बन से ज्ञानकला उत्पन्न हुई ? नहीं अन्तर में मेरा स्वरूप सिद्धसमान चैतन्यमूर्ति है—उसीके अवलम्बन से भेदज्ञानरूपी अपूर्व ज्ञानकला उत्पन्न हुई, जैसे सिद्धभगवान ज्ञायकबिम्ब हैं, उसी प्रकार मेरा स्वभाव भी ज्ञायक ही है—इसप्रकार ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि और अनुभव से ज्ञानकला उत्पन्न हुई। इसके सिवा अन्य रीति माने तो वह सिद्ध भगवान या पंचपरमेष्ठीपद को नहीं मानता है।

(७४) "व्यवहार का लोप !!"—लेकिन किस व्यवहार का ? और किसे ?

अरे ! इसमें तो व्यवहार का लोप हो जायेगा !!—ऐसा कोई पूछे तो उसका उत्तर:— भाई ! कौन से व्यवहार का लोप होगा ? प्रथम तो बाह्य में शरीरादि जड़ की क्रिया तो आत्मा की कभी

है ही नही; इसलिये उसके लोप होने—न होने का प्रश्न ही नही रहता। अज्ञानी को विपरीतदृष्टि मे कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिकपने का व्यवहार रहता है; इस ज्ञायकदृष्टि मे मिथ्यात्वादि कर्म के कर्तृत्वरूप उस व्यवहार का लोप हो जाता है। अज्ञानी को व्यवहार का अभाव नही करना है, किन्तु अभी व्यवहार रखना है, इसलिये कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिकसबध का व्यवहारसबध रखकर उसे ससार मे भटकना है—ऐसा उसका अर्थ हुआ। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से कर्म के साथ का निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध तोड डाला वहाँ दृष्टि-अपेक्षा से तो सम्यक्त्वी मुक्त ही है। इस प्रकार दृष्टि मे व्यवहार का निषेध करने के पश्चात् साधकपने मे जिस-जिस भूमिका मे जैसा-जैसा व्यवहार होता है उसे वह सम्यक्ज्ञान द्वारा जानता है। और पश्चात् भी, ज्ञायकस्वभाव मे एकाग्रता द्वारा शुभरागरूप व्यवहार का अभाव होगा तो वीतरागता होगी। किन्तु व्यवहार के अवलम्बन की ही जिसे रुचि और उल्लास है उसे तो ज्ञायकस्वभावोन्मुख होकर सम्यग्दर्शन करने का भी अवकाश नही है। अन्तर मे ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन बिना अपनी क्रमबद्धपर्याय मे सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें नहीं होती। ज्ञानी तो अपने ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से ही सम्यग्दर्शनादि निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूप परिणमित होता है, उसका नाम धर्म और मुक्ति का मार्ग है।

प्रवचन पाँचवाँ

[आश्विन शुक्ला ११, वीर स० २४८०]

(७५) क्रमबद्धपर्याय कब की है?—और वह कब निर्मल होती है?

आत्मा ज्ञायकस्वभाव है, वह पर का अकर्ता है, यह बतलाने के लिये क्रमबद्धपर्याय की बात चल रही है।

प्रश्न—यह क्रमबद्धपर्याय कब से चल रही है?

उत्तर:—अनादि से चल रही है। जिस प्रकार द्रव्य अनादि है, उसी प्रकार उसकी पर्याय का क्रम भी अनादि से चल ही रहा है। जितने तीनकाल के समय हैं उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें हैं।

प्रश्न:—अनादिकाल से क्रमबद्धपर्याय हो रही है, तथापि अभी निर्मल पर्याय क्यों नहीं हुई ?

उत्तर:—समस्त जीवों को अनादि से क्रमबद्धपर्याय हो रही है तथापि ज्ञायक की ओर के सच्चे पुरुषार्थ बिना निर्मल पर्याय हो जाये—ऐसा कभी नहीं होता। विपरीत पुरुषार्थ हो वहाँ क्रमबद्धपर्याय भी विकारी ही होती है। अज्ञानी को ज्ञायकस्वभाव के भान बिना क्रमबद्धपर्याय की सच्ची प्रतीति नहीं है, और ज्ञायकस्वभाव के पुरुषार्थ बिना निर्मल पर्याय नहीं होती। ज्ञानी को अपने ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति होने से क्रमबद्धपर्याय की भी सच्ची प्रतीति है और ज्ञायक-स्वभावसन्मुख के पुरुषार्थ द्वारा उसे निर्मल क्रमबद्धपर्याय होती है। इस प्रकार ज्ञायकस्वभावसन्मुख का पुरुषार्थ करने का यह उपदेश है—ऐसा समझे वही क्रमबद्धपर्याय को समझा है।

(७६) क्रमबद्धपर्याय के निर्णय का मूल

'क्रमबद्धपर्याय रूप से उत्पन्न होता है'
—कौन उत्पन्न होता है ?
'द्रव्य उत्पन्न होता है'
—कैसा द्रव्य ?
'ज्ञायकस्वभावी द्रव्य।'

जिसे ऐसे द्रव्यस्वभाव की सन्मुखता हो उसीको क्रमबद्धपर्याय यथार्थ समझ में आती है। इस प्रकार ज्ञायकस्वभाव की सन्मुखता ही क्रमबद्धपर्याय के निर्णय का मूल है।

(७७) इस समय पर्याय का पर में "अकर्तृत्व" सिद्ध करने की मुख्यता है, पर में निरपेक्षता सिद्ध करने की मुख्यता नहीं है

यहाँ पर्याय का पर में अकर्तृत्व बतलाना है इसलिये "द्रव्य

उत्पन्न होता है"—यह बात की है। द्रव्य अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होता है, और उत्पन्न होता हुआ उस पर्याय मे वह तन्मय है,—इस प्रकार द्रव्य-पर्याय दोनो की अभेदता बतलाकर पर का अकर्तृत्व सिद्ध किया है।

जब सामान्यधर्म और विशेषधर्म—ऐसे दोनो धर्म ही सिद्ध करना हो तब तो ऐसा कहा जाता है कि पर्याय तो पर्यायधर्म से ही है—द्रव्य के कारण नही है। क्योकि यदि सामान्य और विशेष (द्रव्य और पर्याय) दोनो धर्मो को निरपेक्ष न मानकर सामान्य के कारण विशेष मानें तो, विशेषधर्म की हानि होती है, इसलिये पर्याय भी अपने से सत् है।—पर्यायधर्म को निरपेक्ष सिद्ध करना हो तब इस प्रकार कहा जाता है।

❀ श्री समन्तभद्रस्वामी "आप्तमीमासा" मे कहते हैं कि—

(श्लोक ७३)—जो धर्म धर्मी आदि के एकान्त करि आपेक्षिक सिद्धि मानिए, तो धर्म धर्मी दोऊ ही न ठहरे। बहुरि अपेक्षा विना एकान्त करि सिद्धि मानिए तो सामान्य विशेषपणा न ठहरे।

(श्लोक : ७५) धर्म अर धर्मी के अविनाभाव है सो तो परस्पर अपेक्षा करि सिद्ध है, धर्म विना धर्मी नाही। बहुरि धर्म धर्मी का स्वरूप है सो परस्पर अपेक्षा करि सिद्ध नाही है, स्वरूप है सो स्वत:-सिद्ध है।

❀ प्रवचनसार की १७२ वी गाथा मे "अलिगग्रहण" के अर्थ में कहा है कि—"×××इस प्रकार आत्मा द्रव्य से न आलिगत ऐसा शुद्ध पर्याय है।"

❀ फिर १०१ वी गाथा मे कहते हैं कि—"अशी ऐसे द्रव्यके नष्ट होता हुआ भाव, उत्पन्न होता हुआ भाव और अवस्थित रहता हुआ भाव, इन स्वरूप तीन अश—भग-उत्पादक-ध्रौव्य-स्वरूप-निज-धर्मो द्वारा आलम्बित एक साथ ही भासित होते हैं।" व्यय नष्ट होते

हुए भाव के आश्रित है; उत्पाद उत्पन्न होते हुए भाव के आश्रित है और ध्रौव्य अवस्थित रहते हुए भाव के आश्रित है।

❀ फिर श्री अमितगति आचार्यकृत योगसार में कहते हैं कि—

ज्ञानदृष्टि चारित्राणि ह्रियंते नाक्षगोचरैः।
क्रियन्ते न च गुर्वाद्यैः सेव्यमानैरनारतं ॥१८॥
उत्पद्यते विनश्यन्ति जीवस्य परिणामिनः।
ततः स्वयं स दाता न परतो न कदाचन ॥१९॥

—इसमें कहते हैं कि आत्मा में ज्ञानादिक की हीनता या अधिकता अपनी पर्याय के कारण ही होती है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र का न तो इंद्रियों के विषय से हरण होता है और न तो गुरुओं की निरन्तर सेवा से उनकी उत्पत्ति होती है; परन्तु जीव स्वयं परिणमन-शील होनेसे प्रतिसमय उसके गुणों की पर्याय बदलती है—मतिज्ञानादिक पर्यायों की उत्पत्ति और विनाश होता रहता है इसलिये मतिज्ञानादि का उत्पाद या विनाश पर से भी नहीं है और द्रव्य स्वयं भी उसका दाता नहीं है। प्रतिसमय पर्याय की योग्यता से पर्याय होती है। सामान्य द्रव्य को उसका दाता कहना वह सापेक्ष है पर्याय को निरपेक्षरूप से देखें तो वह पर्याय स्वयं वैसी परिणमित हुई है। उस समय का पर्यायधर्म ही वैसा है। सामान्यद्रव्य को उसका दाता कहना वह सापेक्ष है किन्तु द्रव्य-पर्याय की निरपेक्षता के कथन में यह बात नहीं आती। निरपेक्षता के बिना एकान्त सापेक्षता ही मानें तो सामान्य-विशेष दो धर्म ही सिद्ध नहीं हो सकते।

❀ प्रवचनसार की १६ वीं गाथा में आचार्यदेव कहते हैं कि—शुद्धोपयोग से होनेवाली शुद्धस्वभाव की प्राप्ति अन्य कारकों से निरपेक्ष होने से अत्यन्त आत्माधीन है। शुद्धोपयोग से केवलज्ञान की प्राप्ति हो उसमें आत्मा स्वयमेव छह कारकरूप होता है इसलिये 'स्वयंभू' कहा जाता है। द्रव्य स्वयं ही अपनी अनन्त शक्तिरूप सम्पदा

से परिपूर्ण है इसलिये स्वय ही छह कारकरूप होकर अपना कार्य उत्पन्न करने मे समर्थ है, उसे बाह्यसामग्री कुछ भी सहायता नही दे सकती। अहो! प्रत्येक पर्याय के छहो कारक स्वतन्त्र हैं।

❀ षट्खण्डागम–सिद्धान्त मे भी कहा है कि—"सर्वत्र अन्तरगकारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है—ऐसा निश्चय करना चाहिये।" वहाँ अन्तरगकारण कहने से पर्याय की योग्यता बतलाना है। भिन्न-भिन्न कर्मों के स्थितिबंध मे हीनाधिकता क्यो है?—ऐसे प्रश्न के उत्तर मे सिद्धांतकार कहते हैं कि—प्रकृतिविशेष होने से, अर्थात् उस–उस प्रकृति का वैसा ही विशेषस्वभाव होने से, इस प्रकार हीनाधिक स्थितिबंध होता है, उसकी योग्यतारूप अन्तरंगकारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है, बाह्यकारणो से कार्य की उत्पत्ति नही होती।

—(विशेष के लिये देखिये—इस का ही चौथा प्रवचन, न ६७)

❀ (यहाँ समयसार गाथा ३०८ से ३११ मे) कहते हैं कि—अन्य द्रव्य से निरपेक्षरूप से, स्वद्रव्य मे ही कर्ता–कर्म की सिद्धि है, और इसलिये जीव पर का अकर्ता है।

इस समय इस चालू अधिकार मे पर्याय की निरपेक्षता सिद्ध करने की मुख्यता नही है, किन्तु प्रत्येक द्रव्य को अपनी क्रमबद्धपर्याय के साथ तन्मयता होने से पर के साथ उसे कर्ताकर्मपना नही है—इस प्रकार अकर्तृत्व सिद्ध करके, "ज्ञायक आत्मा कर्म का अकर्ता है"—ऐसा बतलाना है। क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न होनेवाले द्रव्य को अपनी पर्याय के साथ अभेदता है। ज्ञायकआत्मा स्वसन्मुख होकर निर्मल पर्यायरूप से उत्पन्न हुआ उसमे वह तन्मय है, किन्तु रागादि मे तन्मय नही है, इसलिये वह रागादि का कर्ता नही है और कर्मों का निमित्तकर्ता भी नही है। इस प्रकार आत्मा अकर्ता है।

(७८) साधक को चारित्र की एक पर्याय में अनेक बोल; उसमें वर्तता हुआ भेदज्ञान; और उसके दृष्टान्त से निश्चय-व्यवहार का आवश्यक स्पष्टीकरण

साधकदशा में ज्ञानी को श्रद्धा ज्ञान चारित्रादि अनंत गुणों की पर्यायें स्वभाव के अवलंबन से निर्मल होती जाती हैं। यद्यपि अभी चारित्रगुण की पर्याय में अमुक रागादि भी होते हैं परन्तु ज्ञानी को उनमें एकत्व नहीं है इसलिये वास्तव में उनके रागादि का कर्तृत्व नहीं है। चारित्र की पर्याय में जो रागादि हैं उन्हें वे आस्रव—बंध का कारण समझते हैं और स्वभाव के अवलम्बन से जो शुद्धता हुई है उसे संवर–निर्जरा मानते हैं—इस प्रकार आस्रव और संवर को भिन्न–भिन्न जानते हैं।

देखो ज्ञानी को चारित्र गुण की एक पर्याय में संवर निर्जरा आस्रव और बंध—यह चारों प्रकार एकसाथ वर्तते हैं, उनमें समय भेद नहीं है एक ही पर्याय में एकसाथ चारों प्रकार वर्तते हैं तथापि उनमें जो आस्रव है वह संवर नहीं है, और संवर है वह आस्रव नहीं है। और उनके कर्ता–कर्म आदि छहों कारक स्वतंत्र हैं। जो संवर का कर्तृत्व है वह आस्रव का नहीं है और जो आस्रव का कर्तृत्व है वह संवर का नहीं है।

आस्रव बंध संवर और निर्जरा—ऐसे चारों प्रकार एक-साथ तो चारित्रगुण की पर्याय में ही होते हैं और वह साधक के ही होती है।

अहो एक पर्याय में आस्रव और संवर दोनों एकसाथ वर्तें तथापि दोनों के छह कारक भिन्न! अभी जो बाह्यकारणों से आस्रव या संवर मानता हो वह अन्तरंग सूक्ष्म भेदज्ञान की यह बात कहाँ से समझेगा? आस्रव के कारण आस्रव और संवर के कारण संवर,—दोनों एकसाथ हैं तथापि दोनों के कारण भिन्न हैं। यदि आस्रव के कारण संवर माने तो वह मिथ्यादृष्टि है।

—इसी प्रकार, व्यवहार और निश्चय दोनो एकसाथ (साधक को) होते हैं, किन्तु वहाँ व्यवहार के कारण निश्चय माने, अथवा ऐसा माने कि व्यवहारसाधन करते करते उससे निश्चय प्रगट हो जायेगा, तो वह भी मिथ्यादृष्टि है, उसे आस्रव और सवर तत्त्व की खबर नही है। व्यवहार रत्नत्रय का जो शुभराग है वह तो आस्रव है, और निश्चय सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप जो मोक्षमार्ग है वह सवर–निर्जरा है, आस्रव और सवर दोनो भिन्न–भिन्न तत्त्व हैं, दोनो के कारण भिन्न हैं। उसके बदले जिसने व्यवहार के कारण निश्चय होना माना, उसने आस्रव से सवर माना है, आस्रव और सवर तत्त्व को भिन्न न मानकर एक माना, इसलिये उसके तत्त्वार्थश्रद्धान में ही भूल है—वह मिथ्यादृष्टि है।

(७९) क्रमबद्धपर्याय की गहरी बात !

यहाँ तो ज्ञायकदृष्टि की सूक्ष्म बात है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि मे ज्ञानी निर्मल पर्याय के ही कर्तारूप से परिणमित होता है। अन्य कारको से निरपेक्ष होकर, अपने–अपने स्वभाव के ही छहो कारको से श्रद्धा–ज्ञान–आनन्दादि अनन्तगुण ज्ञायक के अवलम्बन से निर्मल क्रमबद्धपर्यायरूप से ज्ञानी के परिणमित हो रहे हैं, इसका नाम अभूत-पूर्व धर्म है और यही मुक्ति का मार्ग है। ज्ञायकस्वभाव के ही अवलम्बन बिना, राग के या व्यवहार के अवलम्बन से मोक्षमार्ग माने तो वह जीव आत्मा के ज्ञायकस्वभाव को, केवलीभगवान को या सात तत्त्वो को नही जानता है। निर्मल पर्याय की क्या स्थिति है अर्थात् किस प्रकार क्रमबद्धपर्याय निर्मल होती है उसे भी वह नही जानता, इसलिये वास्तव में वह क्रमबद्धपर्याय नही जानता। भाई, यह तो बडी गहरी बात है।

(८०) "मोती ढूंढनेवाला" (गोताखोर) गहरे पानी में उतरता है; उसी प्रकार जो गहराई तक उतरकर यह बात समझेगा वह निहाल हो जायेगा !

प्रश्न —गहरे पानी में उतरने मे डूब जाने का डर है ?।

उत्तर—इस पानी में उतरे तो विकार का मैल धुल जाये; इस गहरे पानी में उतरे बिना वस्तु हाथ में नहीं आ सकती। समुद्र में से मोती ढूंढने के लिये भी गहरे पानी में उतरना पड़ता है किनारे पर खड़े-खड़े हाथ लम्बाये तो मोती हाथ में नहीं आ सकते। उसी प्रकार अंतर के ज्ञायकस्वभाव की ओर क्रमबद्धपर्याय की यह बात अन्तर में गहराई तक उतरे बिना समझ में नहीं आ सकती। यह तो अलौकिक बात प्रगट हो गई है जो समझेगा वह निहाल हो जायेगा।

'सहेजे समुद्र उल्लसियो त्यां मोती तणाया जाय'
भाग्यवान कर वापरे तेनी मूठी मोतीए भराय।'

यहाँ "भाग्यवान' अर्थात् अन्तर के पुरुषार्थवान! अन्तर स्वभाव की दृष्टि का प्रयत्न करे उसकी मुट्ठी मोतियों से भर जाये अर्थात् निर्मल-निर्मल क्रमबद्धपर्यायें होती जायें किन्तु जो ऐसा प्रयत्न नहीं करता उसके लिये कहते हैं कि—

"भाग्यहीन कर वापरे तेनी शंखले मूठी भराय'

समझने का प्रयत्न करके अन्तर में न उतरे और यों ही अकेले शुभभाव में रुका रहे तो उसकी 'शंखले ऐ मूठी भराय' यानी पुण्यबंध हो किन्तु स्वभाव की प्राप्ति नहीं हो सकती—धर्म का लाभ नहीं हो सकता।

(८१) केवलज्ञान की खड़ी

यह तो केवलज्ञान की खड़ी है। आज से पचास-साठ वर्ष पहले जब पाठशाला में पढ़ने जाते थे तब सब से पहले 'सिद्धो वर्ण समाम्नाय' —ऐसा रटाते थे यानी वर्णोच्चार का समुदाय स्वयं सिद्ध—अनादि से चला आ रहा है वही हम सिखलायेंगे —ऐसा इसका अर्थ है। उसी प्रकार यहाँ भी जो बात कही जा रही है वह अनादि केवलज्ञान से सिद्ध हो गई है। और जो खड़ी सिखाते थे उस में ऐसा भी आता था कि— कक्का केवली का' उसी प्रकार यहाँ

भी यह केवलज्ञान की खडी सिखाईं जा रही है। इसे समझे विना धर्म का प्रारम्भ नही होता। "खडी" मे ही केवलज्ञान की वात करते हुए "ब्रह्मविलास" मे कहा है कि—

"कक्का" कहे करन वश कीजे, कनक कामनी दृष्टि न दीजे।
करिके ध्यान निरजन गहिये, "केवलपद" इहि विधिसो लहिये॥

(८२) क्रमवद्धपर्याय ही वस्तुस्वरूप है

देखो, यह क्रमवद्धपर्याय वस्तु का स्वरूप है; ज्ञायक का स्वभाव सब व्यवस्थित जानने का है और ज्ञेयो का स्वभाव व्यवस्थित क्रमबद्ध नियमित पर्याय से परिणमित होने का है। इस प्रकार इसमे यथार्थ वस्तुस्थिति का निर्णय आ जाता है, इससे विपरीत माने तो वह वस्तुस्वरूप को नही जानता।

कोई ऐसा कहे कि—"निश्चय से तो पर्यायें क्रमबद्ध हैं, किंतु व्यवहार से अक्रम हैं"—तो वह वात मिथ्या है।

और कोई ऐसा कहे कि—"केवली भगवान के लिये सब क्रमबद्ध है क्योकि उन्हे तो तीनकाल का पूर्ण ज्ञान है, किन्तु छद्मस्थ के लिये अक्रमबद्ध है क्यो कि उसे तीनकाल का पूर्ण ज्ञान नहीं है"— तो यह बात भी मिथ्या है। इसकी मान्यता केवली से विपरीत हुई। कही केवली के लिये अलग वस्तुस्वरूप हो और छद्मस्थ के लिये अलग—ऐसा नही है।

(८३) क्रमबद्धपर्याय में निश्चय—व्यवहार की संधि, निमित्त—नैमित्तिक की संधि;—आदि संबंधी आवश्यक स्पष्टीकरण और तत्संबंधी स्वच्छन्दियों की विपरीत कल्पनाओं का निराकरण

और क्रमबद्धपर्याय मे ऐसा भी नही है कि वस्त्रादि सहित दशा मे भी मुनित्व का या केवलज्ञान का क्रम आ जाये। आत्मा मे मुनिदशा का क्रम हो वहाँ शरीर मे दिगम्बरदशा ही होती है। वस्त्रो

का छोड़ना कहीं जीव का कार्य नहीं है किन्तु उस समय ऐसी ही दशा होती है। मुनिदशा का स्वरूप इससे विपरीत माने तो उसे निश्चयव्यवहार की कोई खबर नहीं है, तथा क्रमबद्धपर्याय के नियम की या देव–गुरु के स्वरूप की खबर नहीं है।

और जहाँ मुनिपना होता है वहाँ खड़े–खड़े हाथ में ही आहार लेने की क्रिया होती है पात्रादि में आहार की क्रिया वहाँ नहीं होती, तथापि वहाँ अजीव की (हाथ की या आहार की) वसी पर्याय जीव ने उत्पन्न की है—ऐसा नहीं है इसी प्रकार सदोष आहार के त्यागादि में भी समझ लेना चाहिये। उस–उस दशा में ऐसा ही सहज निमित्त-नैमित्तिकमेल होता है उसका मेल नहीं टूटता और जीव ज्ञायक मिटकर अजीव का कर्ता भी नहीं होता। ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करे तो अजीव के कर्तृत्व का सब भ्रम छूट जाये और मिथ्यात्वादि कर्मों का निमित्तकर्तापना भी न रहे।

ऊपर जैसा मुनिदशा के सम्बन्ध में कहा है वैसी ही समस्त पर्यायों में यथायोग्य समझना चाहिये। जैसे कि—सम्यक्त्वी के मांसादि का आहार होता ही नहीं। यहाँ जीव को सम्यग्दर्शनपर्याय का क्रम हो और सामने मांसादि का आहार भी हो—ऐसा कभी नहीं होता। तिर्यंच—सिंह आदि को जब सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है तब उनको भी मांसादि का आहार छूट ही जाता है—ऐसा ही उस भूमिका का स्वरूप है। तथापि पर की क्रिया का उत्पादक आत्मा नहीं है, ज्ञायक तो पर का अकर्ता ही है।

'हम तो सम्यक्त्वी हैं, अथवा हम तो मुनि हैं फिर बाह्य में भले ही चाहे जैसे आहारादि का योग हो' —ऐसा कहे तो वह मिथ्यादृष्टि स्वच्छन्दी ही है। किस भूमिका में कैसा व्यवहार होता है वैसा निमित्त होता है तथा कैसे निमित्त और कैसा राग छूट जाता है उसकी उसे खबर नहीं है।—ऐसे स्वच्छन्दी जीव को क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति या सम्यग्दर्शनादि नहीं होते फिर मुनिदशा तो होगी ही कहाँ से ?

ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि मे निर्मल-निर्मल क्रमवद्धपर्यायें होती जाती हैं और उन–उन पर्यायो मे योग्य निमित्त होता है वह भी क्रमवद्ध है, इसलिये "निमित्त जुटाऊँ"—यह वात नही रहती। जैसे कि—"मुनिदशा मे निमित्तरूप से निर्दोष आहार ही होता है, इसलिये निर्दोष आहार का निमित्त जुटाऊँ तो मेरी मुनिदशा वनी रहेगी"—ऐसा कोई माने उसकी निमित्ताधीन दृष्टि है। स्वभाव मे एकाग्रता से मुनिदशा स्थित रहती है उसके वदले सयोग के आधार से मुनिदशा मानता है उसकी दृष्टि ही विपरीत है। निमित्त को जुटाना नही पडता, किन्तु सहजरूप से उसी प्रकार का निमित्त होता है, निमित्त–नैमित्तिकसम्वन्ध सहज ही वन जाता है।—"अपने को जैसा कार्य करने की इच्छा हो, तदनुसार निमित्त जुटाना चाहिये"—ऐसा माने तो उसे ज्ञानस्वभाव की या क्रमवद्धपर्याय की श्रद्धा कहाँ रही?—उसके तो अभी इच्छा का और निमित्त का कर्तृत्व विद्यमान है। अरे भाई! निमित्तो को जुटाना या दूर करना कहाँ तेरे हाथ की वात है? निमित्त तो परद्रव्य है, उसकी क्रमबद्धपर्याय तेरे आधीन नही है।

(८४) "ज्ञा...य...क" क्या करता है?

ज्ञायक क्रमबद्ध अपने ज्ञायकप्रवाह की धारारूप से उत्पन्न होता है, ज्ञायकरूप से उत्पन्न होता हुआ वह किसे लेगा? किसे छोडेगा? या किसे वदलेगा? ज्ञायक तो ज्ञायकभाव का ही कर्ता है, पर का अकर्ता है। यदि दूसरे का कर्ता होने जाये तो यहाँ अपने मे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नही रहती इसलिये मिथ्यादृष्टिपना हो जाता है। ज्ञायक पर का ज्ञाता भी व्यवहार से है, निश्चय से (तन्मयरूप से) स्वय ज्ञायक का ज्ञाता है। ज्ञायकसन्मुख एकाग्रता मे परज्ञेय का भी ज्ञान हो जाता है, किन्तु पर का उत्पादक नही है। इस प्रकार ज्ञायक आत्मा अकर्ता है। सर्वज्ञभगवान स्व-पर के "ज्ञायक" हैं, ज्ञेयो को जैसे का तैसा प्रसिद्ध करते हैं इसलिये "ज्ञापक" भी हैं, और अपने "कारक" भी हैं, किन्तु पर के कारण नही हैं। पर के ज्ञायक तो हैं

किन्तु कारक नहीं है।—इस प्रकार समस्त आत्माओं का ऐसा ज्ञायक स्वभाव है और पर का अकर्तृत्व है।—यह बात यहाँ समझाई है।

(८५) ज्ञायकस्वभाव की दृष्टिपूर्वक चरणानुयोग की विधि

शास्त्रों में चरणानुयोग की विधि का अनेक प्रकार से वर्णन आता है किन्तु उस सबमें इस ज्ञायकस्वभाव की मूल दृष्टि रख कर समझे तभी समझ में आ सकता है। मुनि-दीक्षा लेने के भाव हों तब माता-पितादि के निकट जाकर इस प्रकार आज्ञा माँगना चाहिये उन्हें इस प्रकार समझाना चाहिये इसका वर्णन प्रवचनसार आदि में अच्छी तरह किया है और दीक्षा लेनेवाले को भी ऐसा विकल्प आये और माता के निकट जाकर कहे कि— हे माताजी ! अब मुझे दीक्षा की आज्ञा दीजिये ! हे इस शरीर की जननी मेरा अनादिकालीन जनक ऐसा जो आत्मा है उसके निकट जाने की मुझे अनुमति दीजिये। भगवती दीक्षा की अनुमति दीजिये। तथापि अंतर में उस समय भान है कि इस वचन का कर्ता मैं नहीं हूँ मेरे कारण इस वचन का परिणमन नहीं होता।

माता-पितादि की आज्ञा लेकर फिर गुरु के निकट—आचार्य मुनि के पास जाकर विनयपूर्वक कहते हैं कि 'हे प्रभो ! मुझे शुद्धात्म तत्त्व की उपलब्धिरूप सिद्धि से अनुगृहीत कीजिये। हे नाथ ! मुझे इस भवबंधन से छुड़ाकर भगवती मुनिदीक्षा दीजिये ! —तब श्रीगुरु भी उसे— 'यह तुझे शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धिरूप सिद्धि' —ऐसा कहकर दीक्षा देते हैं।—इस प्रकार चरणानुयोग की विधि है तथापि वहाँ दीक्षा देनेवाले और लेनेवाले दोनों जानते हैं कि हम तो ज्ञायक हैं इस अचेतन भाषा के हम उत्पादक नहीं हैं और इस विकल्प के भी वास्तवमें हम उत्पादक नहीं हैं हम तो अपने ज्ञायकभावके ही उत्पादक हैं, ज्ञायकभाव में ही हमारी तन्मयता है।—ऐसे यथार्थभान के बिना कदापि मुनिदशा नहीं होती।

मैं ज्ञायक हूँ—ऐसा अतर्भान, और क्रमवद्धपर्याय की प्रतीति होने पर भी, तीर्थंकर भगवान आदि के विरह मे, अथवा पुत्रादि के वियोग मे सम्यक्त्वी की आँखो से आँसू वहे, तथापि उस समय उन आँसुओं के वे उत्पादक नही है, और अतर मे शोक के किंचित् परिणाम हुए उनके भी वास्तव मे वे उत्पादक नही हैं, उस समय भी वे अपने ज्ञायकस्वभावरूप से उत्पन्न होते हुए ज्ञाता ही है,—हर्ष-शोक के कर्ता-भोक्ता नही हैं। यह अतर्दृष्टि की अपूर्व वात है। यह दृष्टि प्रगट किये बिना कभी किसी को धर्म का अश भी नही होता।

(८६) साधकदशा में व्यवहार का यथार्थ ज्ञान

ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि रखकर ज्ञायकजीव व्यवहार को भी यथार्थरूप से जानता है। क्रमवद्धपर्याय के यथार्थज्ञान मे व्यवहार का ज्ञान भी आ जाता है। पचाध्यायी मे भिन्न प्रकार व्यवहार के चारो प्रकारो का वर्णन है—

(१) व्यक्तराग, वह असद्भूत उपचरित व्यवहारनय का विषय,

(२) अव्यक्तराग, वह असद्भूत अनुपचरित व्यवहारनय का विषय,

(३) ज्ञान पर को जानता है, वहाँ "परका ज्ञान अथवा रागका ज्ञान" कहना वह सद्भूत उपचरित व्यवहारनय का विषय है,

(४) ज्ञान सो आत्मा—ऐसा गुण-गुणी भेद वह सद्भूत अनुपचरित व्यवहारनय का विषय है।

("नय के इन चारो प्रकारो का स्वरूप तथा ज्ञायक के आश्रय से—निश्चय के आश्रय से उन का निषेध" इस सम्बन्ध मे पूज्य गुरुदेव के विस्तृत प्रवचन के लिये देखिये—आत्मधर्म अक ९० तथा ९४)

एकाकार ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से जहाँ निश्चय सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रगट हुए और रागादि से भिन्नता जानी वहाँ साधकदशा मे उपरोक्तानुसार जो-जो व्यवहार होते हैं उन्हे ज्ञानी अपने ज्ञान का ज्ञेय बनाते हैं। यद्यपि दृष्टि तो ज्ञायकस्वभाव पर ही पडी है, किंतु

पर्याय में व्यवहार है ही नहीं, राग है ही नहीं—ऐसा नहीं मानते और उस व्यवहार की खतौनी परमार्थ में भी नहीं करते—अर्थात् उस व्यवहार के अवलम्बन से लाभ नहीं मानते, उसे ज्ञान के ज्ञेय रूप से ज्यों का त्यों जानते हैं। यहाँ ज्ञायकसम्मुख ज्ञान के क्रम में रहकर राग के क्रम को भी यथावत् जानते ही हैं, किन्तु ज्ञायक की अधिकता में उस राग के भी अकर्ता हैं—ऐसे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि धर्म की मूल नींव है।

(यहाँ क्रमबद्धपर्याय के प्रवचन पूर्ण हुए; इन प्रवचनों के अरसे में तत्सम्बन्धी बहुत कुछ चर्चा हुई थी' वह भी उपयोगी होने से यहाँ दी जा रही है।)

(८७) "केवली के ज्ञान में सब नोट है", पर को जानने की ज्ञान की सामर्थ्य है, वह कहीं अभूतार्थ नहीं है

यह क्रमबद्धपर्याय तो वस्तु का ही स्वरूप है' उसे सिद्ध करने के लिये केवलज्ञान की दलील देकर ऐसा सिद्ध किया जाता है कि—सर्वज्ञदेव ने केवलज्ञान में एकसमय में तीनकाल–तीनलोक के स्व–पर समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष देखे हैं और तदनुसार ही परिणमन होता है।

तब इसके समक्ष कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि—'केवली भगवान पर को तो व्यवहार से जानते हैं और व्यवहार तो अभूतार्थ है—ऐसा शास्त्र में कहा है' इसलिये केवली पर को नहीं जानते।'—ऐसा कहकर वे इस क्रमबद्धपर्याय का विरोध करना चाहते हैं। किन्तु वास्तव में तो वे केवलज्ञान की और शास्त्र के कथन की मजाक उड़ाते हैं शास्त्र की ओट लेकर अपने स्वच्छन्द की पुष्टि करना चाहते हैं। अरे भाई! केवली को स्व–परप्रकाशक पूर्ण ज्ञानसामर्थ्य प्रगट हो गया है, वह ज्ञान कहीं अभूतार्थ नहीं है। क्या ज्ञान का जो परप्रकाशक सामर्थ्य है वह कहीं अभूतार्थ है?—नहीं। जिस प्रकार समयसार की ७ वीं गाथा में दर्शन–ज्ञान–चारित्र

के गुणभेद को अभूतार्थ कहा—तो क्या आत्मा मे वे गुण हैं ही नही ?—हैं तो अवश्य। उसी प्रकार केवलीभगवान पर को जाने—उसे व्यवहार कहा है, तो क्या पर का ज्ञातृत्व नही है ? पर को भी जानते तो हैं ही। केवली पर को जानते ही नही—ऐसा नही है। केवली को पर का आश्रय नही है—पर मे तन्मय होकर नही जानते—पर सन्मुख होकर नही जानते—इसलिये परप्रकाशकपने को व्यवहार कहा है। परप्रकाशकपने का ज्ञान का जो सामर्थ्य है वह कही व्यवहार नही है, वह तो निश्चय से अपना स्वरूप है। भगवान के केवलज्ञान मे त्रिकाल के पदार्थों की नोंध है। प राजमलजी समय-सार कलश की टीका मे कहते हैं कि—ससारी जीवो मे एक भव्य-राशि है, और एक अभव्यराशि है, उसमे अभव्यराशि जीव तो तीनकाल मे मोक्ष प्राप्त नही करते, भव्य जीवो मे से कुछ जीव मोक्ष जाने योग्य हैं और उनका मोक्ष मे पहुँचने का कालपरिमाण है अर्थात् यह जीव इतना कालव्यतीत होनेपर मोक्ष जायेगा—ऐसी केवल-ज्ञान मे नोंध है—"यह जीव इतना काल वीत्या मोक्ष जासै—इसौ न्यौवु केवलज्ञान माँहे छै।" (पृष्ठ १०) केवलीभगवान के ज्ञान मे तीनकाल–तीनलोक की सारी नोंध है। जिस जीव को अतर्स्वभाव के ज्ञान का पुरुषार्थ हुआ उसे अल्पकाल मे मोक्ष होना है—ऐसा केवलज्ञान की नोंध मे आ गया है। जिसके ज्ञान मे सर्वज्ञभगवान विद्यमान हो गये उसकी मुक्ति भगवान के ज्ञान मे लिखी गई।

प्रश्न —केवली भगवान को विकल्प तो नही है, तब फिर विकल्प के बिना पर को किस प्रकार जानेंगे ?

उत्तर —पर को जानते हुए केवली को कही पर की ओर उपयोग नही डालना पडता, किन्तु अपना ज्ञानसामर्थ्य ही ऐसा स्व-परप्रकाशक विकसित हो गया है कि—स्व-पर सब एकसाथ विकल्प बिना—ज्ञान मे ज्ञात हो जाता है। पर को जानना वह कही विकल्प नही है। (ज्ञान को सविकल्प कहा जाता है उसमे अलग अपेक्षा है।

यहाँ रागरूप विकल्प की बात है।) केवलीभगवान को ज्ञान का सामर्थ्य ही ऐसा परिणमित हो रहा है कि राग के विकल्प बिना ही स्व-पर सब प्रत्यक्ष ज्ञात होता है।

अहो आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, उस स्वभाव में से जो केवल ज्ञान विकसित हुआ उसका अचिंत्य सामर्थ्य है। वह केवलज्ञान—

अस्पष्ट नहीं जानता।
विकल्प से नहीं जानता।
परसन्मुख होकर नहीं जानता।
तथापि जाने बिना कुछ भी नहीं रहता।
—ऐसा केवलज्ञान है।

ऐसे केवलज्ञान को यथार्थरूप से पहिचाने तो आत्मा के ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता होकर सम्यग्दर्शन हुए बिना न रहे। प्रवचनसार की ८० वीं गाथा में आचार्यभगवान ने यही बात अलौकिक रीति से कही है।

(८८) भविष्य की पर्याय होने से पूर्व केवलज्ञान उसे किस प्रकार जानेगा ?—उसका स्पष्टीकरण

प्रश्न—भविष्य की जो पर्यायें नहीं हुई हैं, किन्तु होनेवाली हैं उन्हें ज्ञान वर्तमान में जान सकता है ?

उत्तर—हाँ केवलज्ञान एक समय की वर्तमान पर्याय में तीनोंकाल का सब कुछ जान लेता है।

प्रश्न—तो क्या भविष्य में जो पर्याय होनेवाली है उसे वर्तमान में प्रगटरूप से जानता है ?

उत्तर—भविष्य की पर्याय को भविष्यरूप से जानता है, किन्तु वह पर्याय वर्तमान में प्रगटरूप से वर्तती है—ऐसा नहीं जानता। जानता तो सब वर्तमान में है किन्तु जैसा हो वैसा जानता है। भविष्य में जो होना हो उसे वर्तमान में भविष्यरूप से जानता है। स्पष्टरूप से जानता है।

प्रश्न—ज्ञान मे भविष्य की पर्याय को भी जानने की शक्ति है, इसलिये जब वह पर्याय होगी तब ज्ञान उसे जानेगा,—इस प्रकार है ?

उत्तर—नही, ऐसा नही है। भविष्य को भी जानने का कार्य तो वर्तमान मे ही है, वह कही भविष्य मे नही है। जैसे कि—अमुक जीव को अमुक समय भविष्य मे केवलज्ञान होना है, तो ज्ञान वर्तमान मे ऐसा जानता है कि इस जीव के इस समय ऐसी पर्याय होगी, किन्तु ज्ञान कही ऐसा नही जानता कि इस जीव को इस समय केवलज्ञान पर्याय व्यक्तरूप से वर्तती है। और भविष्य की वह पर्याय होगी तब ज्ञान उसे जानेगा—ऐसा भी नही है। भविष्य की पर्याय को भविष्य की पर्यायरूप से वर्तमान मे ही ज्ञान जानता है। जिस प्रकार भूतकाल की पर्याय वर्तमान मे वर्तती न होने पर भी वर्तमानज्ञान उसे जानता है, उस प्रकार भविष्य की पर्याय वर्तमान मे वर्तती न होने पर भी ज्ञान उसे प्रत्यक्ष जानता है।

(८९) केवली को क्रमबद्ध, और छद्मस्थ को अक्रम—ऐसा नहीं है

प्रश्न—"सब क्रमबद्ध है"—यह बात केवलीभगवान के लिये बराबर है। केवलीभगवान ने सब जाना है, इसलिये उनके लिये तो सब क्रमबद्ध ही है, किन्तु छद्मस्थ को तो पूर्णज्ञान नही है, इसलिये उसके लिये सब क्रमबद्ध नही है, छद्मस्थ के तो फेरफार भी हो सकता है—इस प्रकार कोई कहे तो वह बराबर है ?

उत्तर—नही, यह बात बराबर नही है। वस्तुस्वरूप सब के लिये एक-सा ही है। केवली के लिये अलग वस्तुस्वरूप और छद्मस्थ के लिये अलग—ऐसा दो प्रकार का वस्तुस्वरूप नही है। केवली के लिये सब क्रमबद्ध और छद्मस्थ के लिये अक्रमबद्ध अर्थात् छद्मस्थ उसमे उल्टा-सीधा भी कर सकता है—ऐसा माननेवाले को क्रमबद्ध-पर्याय के स्वरूप की खबर नही है। केवलीभगवान भले ही पूर्ण प्रत्यक्ष जानें और छद्मस्थ पूर्ण प्रत्यक्ष न जानें, तथापि वस्तुस्वरूप का (क्रमबद्ध-

पर्याय आदि का) निर्णय तो दोनों को एक-सा ही है। केवलीभगवान सर्व द्रव्यों की क्रमबद्धपर्याय होना मानें और छद्मस्थ उनका अक्रम से होना माने तब तो उसके निर्णय में ही विपरीतता हुई। मैं ज्ञायक हूँ और पदार्थों की क्रमबद्ध अवस्था है—ऐसा निर्णय करके ज्ञायक-स्वभावसन्मुख परिणमित होनेवाले ज्ञानी को तो ज्ञाताभाव का ही परिणमन विकसित होते-होते अनुक्रम से केवलज्ञान हो जाता है। परन्तु अभी जिसके निर्णय में ही भूल है उसके ज्ञातापने का परिणमन नहीं होता किन्तु विकार का ही कर्तापना रहता है।

(६०) ज्ञान और ज्ञेय का मेल, तथापि दोनों की स्वतंत्रता

प्रश्न:—केवलीभगवान ने जैसा जाना उसी प्रकार इस जीव को परिणमित होना पड़ता है ? या जैसा यह जीव परिणमित हो वैसा केवलीभगवान जानते हैं ?

उत्तर:—पहली बात यह है कि केवलज्ञान का निर्णय करने वाले ने "ज्ञानशक्ति" के अवलम्बन से यह निर्णय किया है इसलिये उसका निर्मल परिणमन (सम्यग्दर्शनादि) हो गया है और केवली भगवान ने भी वैसा ही जाना है।

केवलीभगवान का ज्ञान और इस जीव का परिणमन—इन दोनों का ज्ञेय-ज्ञायकपने का मेल होने पर भी कोई किसी के आधीन नहीं है। केवलीभगवान ने तो सब पदार्थों की तीनोंकाल की अवस्थायें एक साथ जान ली हैं और पदार्थ में परिणमन तो एक के बाद एक अवस्था का होता है। केवली ने जाना इसलिये पदार्थ को वैसा परिणमित होना पड़ता है ऐसा नहीं है अथवा पदार्थ वैसा परिणमित होता है इसलिये केवली वैसा जानते हैं—ऐसा भी नहीं है। ऐसा होने पर भी केवलज्ञान और ज्ञेय की संधि नहीं टूटती केवलज्ञान ने जाना उससे दूसरे प्रकार से वस्तु परिणमित हो अथवा तो वस्तु परिणमित हो उससे दूसरे प्रकार से केवलज्ञान जाने ऐसा कभी नहीं होता।

इसमे, केवलज्ञान की अर्थात् आत्मा के ज्ञायकस्वभाव की महत्ता समझना चाहिये और ज्ञायकसन्मुख होकर परिणमित होना चाहिये, वही मूलभूत वस्तु है।

(९१) आगम को जानेगा कौन ?

प्रश्न —यह पर्याय की जैसी वात आप कहते हैं वैसी आगम मे नही मिलती।

उत्तर —अरे भाई! अभी तुझे सर्वज्ञ का तो निर्णय नही है; तव फिर सर्वज्ञ के निर्णय विना, "सर्वज्ञ के आगम कैसे होते हैं और उनमे क्या कहा है" उसकी तुझे क्या खवर पडेगी ? गुरुगम के विना, अपनी विपरीतदृष्टि से आगम के यथार्थ अर्थ भासित हो ऐसा नही है। आगम कहता है कि आत्मा का ज्ञानस्वभाव है और उसमे सर्वज्ञता का सामर्थ्य है। यदि ऐसे ज्ञानस्वभाव को और सर्वज्ञता को न जाने तो उसने आगम को जाना ही नही है। और यदि ऐसे ज्ञान-स्वभाव को माने तो क्रमवद्धपर्याय का निर्णय उसमे आ ही जाता है।

जो क्रमबद्धपर्याय को सीधी रीति से न समझे उसे समझाने के लिये यह केवलज्ञान की दलील दी जाती है; वाकी वस्तु तो स्वय ही वैसे स्वभाववाली है, क्रमबद्धपर्याय वह वस्तु का ही स्वरूप है, वह कही केवलज्ञान के कारण नही है।

(९२) केवलज्ञान के और क्रमवद्धपर्याय के निर्णय विना धर्म क्यों नहीं होता ?

प्रश्न —आप केवलज्ञान और क्रमबद्धपर्याय पर इतना अधिक भार देते हैं, तो क्या सर्वज्ञ के निर्णय बिना या क्रमबद्धपर्याय के निर्णय बिना धर्म नही हो सकता ?

उत्तर —नही, भाई! यह केवलज्ञान का या क्रमबद्धपर्याय का निर्णय तो ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन से होता है, और इसके बिना

कभी धर्म नहीं होता। ज्ञानस्वभाव कहो, केवलज्ञान कहो या क्रमबद्ध पर्याय कहो —इन तीनों में से एक के निर्णय में दूसरे दो का निर्णय भी आ जाता है और यदि केवलज्ञान को या क्रमबद्धपर्याय को न माने तो वह वास्तव में आत्मा के ज्ञानस्वभाव को ही नहीं मानता। यह तो जैनधर्म की मूल वस्तु है उसके निर्णय बिना धर्म का प्रारम्भ हो ऐसा कभी नहीं होता। स्वसन्मुख होकर मैं ज्ञान हूँ —ऐसी ज्ञाताबुद्धि होने से सर्वज्ञता का निर्णय भी हो गया क्रमबद्धपर्याय का भी निर्णय हो गया कहीं फेरफार करने की बुद्धि न रही —इसका नाम धर्म है।

(९३) तिर्यंच-सम्यक्त्वी को भी क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति

प्रश्न—तिर्यंच में भी कोई-कोई जीव (मेंढक आदि) सम्यक्त्वी होते हैं तो क्या उन तिर्यंच सम्यक्त्वियों को भी ऐसी क्रम-बद्धपर्याय की श्रद्धा होती है ?

उत्तर—हाँ 'क्र म ब द्ध' ऐसे शब्द की भले ही उसे खबर न हो किन्तु मैं ज्ञायक हूँ मेरा आत्मा सब जानने के स्वभाव वाला है —ऐसे अंतर्वेदन में क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति भी उसे आ जाती है क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति का जो कार्य है वह कार्य उसे हो ही रहा है। उसका ज्ञान ज्ञाताभावरूप ही परिणमित होता है। पर का कर्ता या राग का कर्ता—ऐसी बुद्धि उसके नहीं है ज्ञाताबुद्धि ही है और उसमें क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति समा जाती है। ज्ञानपर्याय को अन्तरोन्मुख करके 'मैं ज्ञायकभावरूप जीवतत्त्व हूँ' —ऐसी प्रतीति हुई है वहाँ क्रमबद्धपर्याय का ज्ञातृत्व ही है।

और देखो उन मेंढक या चिड़िया आदि तिर्यंचों को सम्यग्ज्ञान होने से स्वसन्मुख होकर संवर-निर्जरादशा प्रगट हुई है, किन्तु अभी केवलज्ञान नहीं हुआ है। पर्याय में अभी अल्पता और राग भी है तथापि उस पर्याय को जानते हुए उन्हें ऐसा विकल्प या संदेह नहीं उठता कि 'इस समय ऐसी पर्याय क्यों ? और केवलज्ञानपर्याय क्यों नहीं ? ऐसा ही उस पर्याय का क्रम है ऐसा जानते हैं। केवलज्ञान

नही है इसलिये कही सम्यग्दर्शन मे शका नही पडती। इसी प्रकार उस पर्याय मे राग है उसे भी जानते हैं, किन्तु उस राग को जानते हुए वे तिर्यंच सम्यक्त्वी उसका स्वभावरूप से वेदन नही करते, राग से भिन्न ज्ञायकस्वभावरूप ही स्वय का अनुभव करते है। राग है उतने अश मे उसका वेदन है, किन्तु ज्ञायकदृष्टि मे उसका वेदन है ही नही। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से ज्ञान समाधानरूप से वर्तता है, कही पर को इधर-उधर करने की मिथ्याबुद्धि नही होती, यही क्रमबद्ध-पर्याय की प्रतीति का फल है।

—इस प्रकार, जो भी सम्यक्त्वी जीव हैं उन सबको अपने ज्ञायकस्वभाव के निर्णय मे, सर्वज्ञ की और क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति भी साथ मे आ ही जाती है,—इससे विपरीत माननेवाले को सम्यग्दर्शन नही होता।

सम्यग्दर्शन कहो, "के व ल" ज्ञान (अर्थात् राग से भिन्न ज्ञान) कहो, भेदज्ञान कहो, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय कहो, जैनशासन कहो, या धर्म का प्रारम्भ कहो—वह सब इसमें एकसाथ आ जाता है।

(९४) क्रमबद्धपर्याय के निर्णय का फल—"अबंधता," "ज्ञायक को बंधन नहीं है"

जीव और अजीव दोनो की क्रमबद्धपर्याय अपने-अपने से स्वतत्र है, ज्ञायकस्वरूप जीव अपने ज्ञायकपने की क्रमबद्धपर्याय मे परिणमित होता हुआ उसका ज्ञाता है, किन्तु पर का अकर्ता है। इस प्रकार अकर्तारूप से परिणमित होते हुए ज्ञायक को बन्धन होता ही नही।

—ऐसा होने पर भी, अज्ञानी को बन्धन क्यो होता है ? आचार्यदेव कहते हैं कि यह उसके अज्ञान की महिमा प्रगट है, उसके अज्ञान के कारण ही उसे बन्धन होता है। ज्ञायकस्वभाव की महिमा

जावे तो बन्धन न हो। ज्ञायकस्वभाव की महिमा भूलकर जो पर का कर्ता होता है उसके अज्ञान की महिमा प्रगट हुई है और इसीसे उसे बंधन होता है।

ज्ञायकस्वभावरूप परिणमित होनेवाला जीव, मिथ्यात्वादि कर्म के बंधन में निमित्त भी नहीं होता, निमित्तरूप से भी वह मिथ्यात्वादि का अकर्ता ही है।

अजीव की क्रमबद्धपर्याय भी स्वतंत्र है, इसलिये उसमें जो मिथ्यात्वकर्मरूप से परिणमित होने का उपादान हो तो हमें भी मिथ्यात्वभाव करके उसे निमित्त होना पड़ेगा! —ऐसी जिसकी दृष्टि है उसके अज्ञान की महिमा प्रगट है अर्थात् वह महान अज्ञानी है। ज्ञायकस्वभाव की या क्रमबद्धपर्याय की उसे खबर नहीं है। ज्ञानी ने तो ज्ञानस्वभाव पर दृष्टि रखकर क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किया है इसलिये उसकी दृष्टि का परिणमन तो स्वभावोन्मुख हो गया है कर्म को निमित्त होने पर उसकी दृष्टि नहीं है। मिथ्यात्वादि कर्म उसके बंधता ही नहीं है।

क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय करनेवाले को अपने में मिथ्यात्व का क्रम नहीं होता—यह बात पहले की और निमित्तरूप से अजीव में भी उसे मिथ्यात्व का क्रम नहीं होता।

'जड़ में मिथ्यात्व का क्रम हो तो जीव को मिथ्यात्व करना पड़ता है' —यह दलील तीव्र मिथ्यादृष्टि अज्ञानी की है वह अजीव को ही देखता है किन्तु जीव को नहीं देखता जीव के स्वभाव का निर्णय करके जीव की ओर से न लेकर अजीव की दृष्टि की ओर से लेता है वह विपरीतदृष्टि है—उसके अज्ञान की गहनता है। क्रमबद्ध के निर्णय का फल तो स्वोन्मुख होना आता है स्वभावोन्मुख होकर ज्ञायक हुआ उसे *मिथ्यात्व नहीं होता और मिथ्यात्वकर्म का निमित्तकर्तापना भी उसके नहीं रहता* अजीव में दर्शनमोह होने का क्रम उसके लिये होता ही

नही। इस प्रकार कर्म के साथ का निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध भी उसको छूट गया है।

आत्मा निश्चय से अजीव का कर्ता नही है; इसलिये कोई ऐसा कहे कि—"पुद्गल के मिथ्यात्व का निश्चय से अकर्ता, किन्तु उसमे मिथ्यात्वकर्म बघे तब जीव मिथ्यात्व करके उसका निमित्तकर्ता होता है अर्थात् व्यवहार से उसका कर्ता है।—इस प्रकार निश्चय से अकर्ता और व्यवहार से कर्ता—ऐसा हो तो ?"

—तो यह भी मिथ्यादृष्टि की ही बात है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि मे कर्म का निमित्तकर्तापना आता ही नही। मिथ्यात्वादि कर्मों का व्यवहार कर्तापना मिथ्यादृष्टि को ही लागू होता है, ज्ञानी को वह किसी प्रकार लागू नही होता। यहाँ ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि कर के स्वय ज्ञायकभाव से (सम्यग्दर्शनादिरूप से) परिणमित हुआ, वहाँ निश्चित् हो गया कि मेरी पर्याय मे मिथ्यात्व होने की योग्यता नही है, और मेरे निमित्त से पुद्गल मे मिथ्यात्व कर्म हो—ऐसा भी हो ही नही सकता—यह भी निर्णय हो गया। अहो! अतर मे ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करके क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता हुआ, अन्तरोन्मुख होकर ज्ञायक हुआ अकर्ता हुआ, वह अब बन्धन का कर्ता हो यह कैसे हो सकता है ?? नहीं ही हो सकता। ज्ञायकभाव बन्धन का कर्ता हो ही नही सकता। वह तो निजरस से—ज्ञायकभाव से शुद्धरूप ही परिणमित होता है—बन्धन के अकर्तारूप से ही परिणमित होता है। इस प्रकार ज्ञायक को बन्धन होता ही नही है। ऐसा अबन्धपना क्रमबद्धपर्याय के निर्णय का फल है। अबन्धपना कहो या मोक्षमार्ग कहो, या धर्म कहो—उसकी यह रीति है।

(९५) स्वच्छन्दी जीव इस बात के श्रवण का भी पात्र नहीं है

जीव ज्ञायकस्वभाव है, उस ज्ञायक की क्रमबद्धपर्याय मे विकार के कर्तृत्व की बात नही आती। क्योकि ज्ञाता के परिणमन मे विकार कहाँ से आया ? भाई! अपने ज्ञायकत्व का निर्णय करके

पहले तू ज्ञाता हो तो तुझे क्रमबद्धपर्याय की खबर पड़ेगी। ज्ञाता के क्रम में राग आता ही नहीं; वह ज्ञेयरूप में भले हो। वास्तव में तो राग को ज्ञेय करने की भी मुख्यता नहीं है, अतर में ज्ञायकस्वभाव को ही ज्ञेय बनाकर उस में अभेद हो—उसीकी मुख्यता है। ज्ञायकस्वभाव को ज्ञेय बनाये बिना, राग का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता।

क्रमबद्धपर्याय का नाम लेकर रागादि का भय न रखें, और स्वच्छन्दरूप से विषय-कषायों में वर्तें—ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों की *यहाँ बात ही नहीं है वह तो इस बात के श्रवण का पात्र नहीं है।* क्रमबद्ध की ओट लेकर स्वच्छन्दरूप से वर्ते तो न रहा पाप का भय और न रहा सत्य के श्रवण का भी प्रेम इसलिये सत्य के श्रवण की भी योग्यता न हो वहाँ ज्ञान के परिणमन की तो योग्यता ही कहाँ से हो ? जो स्वच्छन्द को छुड़ाकर मोक्षमार्ग में ले जाने की बात है उसी की ओट में जो ढिठाई से स्वच्छन्द की पुष्टि करता है उसे आत्मा की दरकार नहीं है भवभ्रमण का भय नहीं है।

(९६) सम्यग्दर्शन कब होता है ?—तो कहते हैं पुरुषार्थ करे तब

कुछ अज्ञानी इस बात को समझे बिना ऐसा कहते हैं कि—हमें तो क्रमबद्धपर्याय में सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें होना होंगी तो हो जायेंगी।—किन्तु उनकी बात विपरीत है, वे सिर्फ पर की ओर देख कर क्रमबद्धपर्याय की बात करते हैं *वह ठीक नहीं है।* भाई रे, तू अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर का पुरुषार्थ करेगा तभी तेरी निर्मल पर्याय होगी। क्रमबद्धपर्याय की समझ का फल तो ज्ञायकस्वभावोन्मुख होना है जो ज्ञायकस्वभावोन्मुख हुआ है उसके तो निर्मल पर्याय का क्रम हो ही गया है और जिसकी उन्मुखता ज्ञायकस्वभाव की ओर नहीं है वह वास्तव में क्रमबद्धपर्याय को जानता ही नहीं है। अन्तरोन्मुख होकर ज्ञायकस्वभाव पर जोर देते हुए भगवान ने क्रमबद्धपर्याय में जिस निर्मल पर्याय का होना देखा है वही पर्याय आ पड़ती होती है। किसी भी जीव को ज्ञायकस्वभाव की ओर के पुरुषार्थ बिना निर्मल पर्याय होती है—ऐसा भगवान ने नहीं देखा है।

"समस्त पर्यायें क्रमबद्ध हैं इसलिये जैसा क्रम होगा वैसी पर्यायें होती रहेगी, अब अपने को पुरुषार्थ की कोई आवश्यकता नही हैं"—ऐसा कोई माने तो उससे कहते हैं कि भाई ! ज्ञायक की ओर के पुरुषार्थ के बिना तू क्रमबद्ध का ज्ञाता कैसे हुआ ? अपने ज्ञायक-स्वभाव के निर्णय का प्रयत्न किये बिना क्रमबद्धपर्याय को तू किस प्रकार समझा ? स्वसन्मुख होकर ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करे उसीको क्रमबद्धपर्याय समझ मे आती है और उसकी पर्यायमे निर्मलता का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार, स्वसन्मुख पर्याय और क्रमबद्धपर्याय के निर्णय की सन्धि है।

(९७) क्रमबद्धपर्याय और उसका कर्तृत्व

प्रश्न —क्रमबद्धपर्याय है उसमे कर्तृत्व है या नही ?

उत्तर —हाँ, जिसने स्वसन्मुख होकर अपने ज्ञायकस्वभाव का निर्णय किया है, उसे अपनी निर्मल क्रमबद्धपर्याय का कर्तृत्व है, और जिसके ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नही है तथा पर मे कर्तृत्वबुद्धि है उसे अपने मे मिथ्यात्व आदि मलिन भावो का, कर्तृत्व है।

अजीव को उस अजीव की क्रमबद्धअवस्था का कर्तृत्व है। क्रमबद्धपर्याय का निर्णय कर के जो जीव ज्ञायकस्वभाव की ओर ढल गया है उसे विकार का कर्तृत्व नही है, वह तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल ज्ञानभाव का ही कर्ता है।

(९८) सूक्ष्म-किन्तु समझ में आ जाये ऐसा

प्रश्न—आप कहते हैं वह बात तो बहुत सरल है, किन्तु बडी सूक्ष्म बात है !

उत्तर —भाई ! सूक्ष्म तो अवश्य है, किन्तु समझ मे आ सके ऐसा सूक्ष्म है या न आये ऐसा ? आत्मा का स्वभाव ही सूक्ष्म (अतीन्द्रिय) है, इसलिये उसकी बात भी सूक्ष्म ही होती है। यह सूक्ष्म होने पर भी समझ में आ सके ऐसा है। आत्मा की सचमुच

उसमे भी प्रतिसमय पर्याय का परिणमन तो होता ही रहता है, किन्तु वह परिणमन ज्ञान और आनन्दमय है इसलिये उसमें आकुलता या थकान नहीं है; उसमें तो परम अनाकुलता है और वही सच्चा विश्रामस्थल है। अज्ञानी जीव ज्ञायकपने को भूलकर "पर में यह करूँ, यह करूँ"—ऐसी मिथ्यामान्यता से आकुल-व्याकुल होकर दुःखी हो रहा है और भवभ्रमण में भटक रहा है। यदि वह ज्ञायकस्वभाव की ओर क्रमबद्धपर्याय की बात समझे तो उसकी आकुलता मिट जाये और ज्ञानस्वभाव से ज्ञान—आनन्द के अनुभवरूप सच्चा विश्रामस्थल प्राप्त हो।

(९-७०) सम्यक्त्वी कहते हैं—"श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ है"

इस क्रमबद्धपर्याय के यथार्थ निर्णय में ज्ञानस्वभाव का और केवलज्ञान का निर्णय आ जाता है। जिस प्रकार केवली भगवान परिपूर्ण ज्ञायक ही हैं, उसी प्रकार मैं भी ज्ञायक ही हूँ—ऐसा निर्णय होने पर श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ। अभी साधकदशा में अल्पज्ञान है, तथापि वह भी ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन से ज्ञातापने का ही कार्य करता है, इसलिये केवलज्ञान की श्रद्धा तो हो गई, अर्थात् श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी कहा है कि—"यद्यपि कभी वर्तमान में प्रगट रूप से केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं हुई है, किन्तु जिनके वचन के विचारयोग से शक्तिरूप से केवलज्ञान है—ऐसा स्पष्ट जाना है,

—ऐसा श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ है,

—विचारदशारूप से केवलज्ञान हुआ है,

—इच्छादशारूप से केवलज्ञान हुआ है,

—मुख्यनय के हेतु से केवलज्ञान वर्तता है,

—वह सर्व अव्याबाध सुख का प्रगट करनेवाला केवलज्ञान जिनके योग से सहजमात्र में जीव प्राप्त करने योग्य हुआ, उन सत्पुरुष

के उपकार को सर्वोत्कृष्ट भक्ति से नमस्कार हो ! नमस्कार हो !"

देखो, इतने-से कथन में कितनी गंभीरता है !

सब प्रथम ऐसा कहा कि— 'यद्यपि कभी वर्तमान में प्रगट रूप से केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं हुई है' —इस कथन में यह बात भी गर्भित रूप से रखी है कि—वर्तमान में प्रगट नहीं है किन्तु शक्ति-रूप से है' और वर्तमान में प्रगट नहीं है किन्तु भविष्य में अल्पकाल में केवलज्ञान प्रगट होना है।

❀ फिर कहा है कि— 'जिनके वचन के विचारयोग से शक्तिरूप से केवलज्ञान है—ऐसा स्पष्ट जाना है। —केवलज्ञान प्रगट नहीं है तथापि वह प्रगट होने का सामर्थ्य मुझमें है—ऐसा जाना है— स्पष्ट जाना है, अर्थात् स्वसन्मुख होकर निःशंक जाना है। किसने जाना ?—तो कहते हैं कि वर्तमान पर्याय ने जाना है। मुझमें सर्वज्ञता का सामर्थ्य है ऐसा पहले नहीं जाना था और अब स्वसन्मुख होकर जाना इसलिये पर्याय में निर्मलता का क्रम प्रारंभ हो गया।

मेरी शक्ति में केवलज्ञान है—ऐसा "स्पष्ट' जाना है अर्थात् राग के अवलम्बन बिना जाना है,—स्वभाव के अवलम्बन से जाना है स्वसंवेदन से जाना है।

❀ जानने में निमित्त कौन ? तो कहते हैं कि—"जिन के वचन के विचारयोग से जाना है जिन के वचन अर्थात् केवली-भगवान गणधरदेव कुन्दकुन्दाचार्य आदि संत—मुनि और सम्यक्त्वी—इन सबके वचन उसमें आ जाते हैं। अज्ञानी की वाणी उसमें निमित्त नहीं होती सम्यक्त्वी से लेकर केवलीभगवान तक के सबकी वाणी अविरुद्ध है जैसी केवलीभगवान की वाणी है वैसी ही सम्यक्त्वी की वाणी है भले ही केवलीभगवान की वाणी में बहुत भाव और सम्यक्त्वी की वाणी में कम भाव, किन्तु दोनों का अभिप्राय तो एक ही है।

और 'जिन के वचन के विचारयोग से जाना —इसमें

(१०१) "केवलज्ञान की खडी" के तेरह प्रवचन.. और केवलज्ञान के साथ संधिपूर्वक उनका अंतमंगल

—इस क्रमबद्धपर्याय पर पहलीबार के "आठ" और दूसरीबार के "पाँच"—इस प्रकार कुल तेरह प्रवचन हुए। तेरहवां गुणस्थान केवलज्ञान का है और ज्ञायकोन्मुख होकर इस क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करना वह "केवलज्ञान की खडी" है, उसका फल केवलज्ञान है। जो इसका निर्णय करे उसे क्रमबद्धपर्यायमे अल्पकाल में केवलज्ञान हुए बिना नही रहेगा। इस क्रमबद्ध का निर्णय करनेवाला "केवलीभगवान का पुत्र" हुआ, प्रतीतिरूप से केवलज्ञान प्रगट हुआ, उसे अब विशेष भव नही हो सकते। ज्ञायकस्वभाव सन्मुख होकर यह निर्णय करने से अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, और फिर निर्मल निर्मल क्रमबद्धपर्यायें होने पर अनुक्रम से चारित्रदशा और केवलज्ञान होता है।

—इसप्रकार केवलज्ञान के साथ संधिपूर्वक ज्ञायकस्वभाव और क्रमबद्धपर्याय का अलौकिक रहस्य प्रगट करनेवाला यह विषय पूर्ण होता है।

"केवलज्ञान" के साथ क्रमबद्धपर्याय की

संधि करानेवाले यह तेरह प्रवचन

जयवंत प्रवर्तमान हों

ज्ञायकस्वभाव और क्रमबद्धपर्याय का अलौकिक

रहस्य समझाकर,

केवलज्ञान को प्रकाशित करनेवाले

श्री कहान गुरुदेव की जय हो

अनेकान्तगर्भित सम्यक् नियतवाद

क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में आ जानेवाला अनेकान्तवाद

वस्तु मे तीनोकाल की अवस्थायें क्रमबद्ध ही होती हैं, कोई अवस्था उलटी-सीधी नही होती—ऐसा ही वस्तुस्वभाव है। वस्तु-स्वभाव के इस महान सिद्धान्त का रहस्य न समझनेवाले अज्ञानी लोग, उस पर मिथ्या नियतवाद अथवा एकान्तवाद होने का आरोप करते हैं, यहाँ उसका निराकरण किया जाता है।

नियत के साथ ही पुरुषार्थ, ज्ञान, श्रद्धादि धर्म भी विद्यमान ही हैं। नियतस्वभाव के निर्णय के साथ विद्यमान सम्यक् पुरुषार्थ को, सम्यक् श्रद्धा को, सम्यक् ज्ञान को, स्वभाव को—आदि को स्वीकार न करे तभी एकान्त नियतवाद कहलाता है।

अज्ञानी तो, नियत वस्तुस्वभाव के निर्णय मे आ जानेवाला ज्ञान का पुरुषार्थ, सर्वज्ञ के निर्णय का पुरुषार्थ, स्वसन्मुख श्रद्धाज्ञानादि को स्वीकार किये बिना ही नियत की (-जैसा होना होगा सो होगा—ऐसी) बात करते हैं, इसलिये उसे तो एकात नियत कहा जाता है।

परन्तु ज्ञानी तो नियत वस्तुस्वभाव के निर्णय मे साथ ही विद्यमान ऐसे सम्यक् पुरुषार्थ को, स्वसन्मुख ज्ञान—श्रद्धा को, स्वभाव को, काल को, निमित्त को—सभी को स्वीकार करते हैं, इसलिये वह मिथ्यानियत नही है परन्तु सम्यक् नियतवाद है, उसीमे अनेकान्तवाद आ जाता है।

नियत को और उसके साथ दूसरे अनियत को-(पुरुषार्थ, काल, स्वभाव, ज्ञान, श्रद्धा, निमित्तादि को) भी ज्ञानी स्वीकार करते हैं, इसलिये उनके नियत-अनियत का मेल हुआ। [यहाँ 'अनियत' का अर्थ 'अक्रमबद्ध' नही समझना, परन्तु नियत के साथ विद्यमान

नियत के अतिरिक्त पुरुषार्थ आदि धर्मों को यहाँ 'अनियत' कहा है—ऐसा समझना।] इस प्रकार वस्तु में 'नियत' 'अनियत' दोनों धर्म एक समय एक साथ हैं इसलिये अनेकान्त स्वभाव है, और उसकी श्रद्धा में अनेकान्तवाद है।

क्रमबद्धपर्याय में पुरुषार्थ आदि का क्रम भी साथ ही है, इसलिये क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति भी आ ही जाती है। पुरुषार्थ कहीं क्रमबद्धपर्यायों से दूर नहीं रह जाता इसलिये नियत के निर्णय में पुरुषार्थ उड़ नहीं जाता परन्तु साथ ही आ जाता है। इसलिये नियत स्वभाव की श्रद्धा वह अनेकान्तवाद है—ऐसा समझना। जो वस्तु की पर्यायों का नियत–क्रमबद्ध होना न माने अथवा तो क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में विद्यमान सम्यक्–पुरुषार्थ को न माने उसे अनेकान्तमय वस्तुस्वभाव की खबर नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है।

—श्री समयसार कलश २ पर पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचन से।

❋ अनेकान्त ❋

[प्रत्येक वस्तु को अनेकान्त 'अपने से पूर्ण' और 'पर से पृथक्' घोषित करता है]

प्रत्येक वस्तु अनेकान्तरूप से निश्चित् होती है। एक वस्तु मे वस्तुपने को उत्पन्न करनेवाली अस्ति-नास्ति आदि परस्पर विरुद्ध दो शक्तियो का प्रकाशित होना सो अनेकान्त है। प्रत्येक वस्तु अपने रूप से अस्तिरूप है और पररूप से नास्तिरूप है, ऐसे अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्त द्वारा प्रत्येक वस्तु का स्वरूप निश्चित् होता है। इसी न्याय से, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार और द्रव्य-पर्याय, इस प्रत्येक बोल का स्वरूप भी अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्त द्वारा निम्नानुसार निश्चित् होता है —

निमित्त सम्बन्धी अनेकान्त

उपादान और निमित्त यह दोनो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, दोनो पदार्थ अपने अपने स्वरूप से अस्तिरूप हैं और दूसरे के स्वरूप से नास्तिरूप हैं, इस प्रकार निमित्त स्व-रूप से है और पर-रूप से नही है, निमित्त निमित्तरूप से है और उपादानरूप से वह नास्तिरूप है। इसलिये उपादान में निमित्त का अभाव है, इससे उपादान मे निमित्त कुछ नही कर सकता। निमित्त निमित्त का कार्य करता है, उपादान का कार्य नही करता—ऐसा अनेकान्तस्वरूप है। ऐसे अनेकान्तस्वरूप से निमित्त को जाने तभी निमित्त का यथार्थ ज्ञान होता है। 'निमित्त निमित्त का कार्य' भी करता है और निमित्त उपादान का कार्य भी करता है'—ऐसा कोई माने तो उसका अर्थ यह हुआ कि निमित्त अपनेरूप से अस्तिरूप है और पररूप से भी अस्तिरूप है, ऐसा होने

से निमित्त पदार्थ में अस्ति–नास्तिरूप परस्पर विरुद्ध दो धर्म सिद्ध नहीं हुए, इसलिए वह मान्यता एकान्त है। इसलिये 'निमित्त उपादान का कुछ करता है'—ऐसा जिसने माना उसने अस्ति–नास्तिरूप अनेकान्त द्वारा निमित्त के स्वरूप को नहीं जाना किन्तु अपनी मिथ्या कल्पना से एकान्त मान लिया है उसने उपादान—निमित्त की भिन्नता, स्वतन्त्रता नहीं मानी किन्तु उन दोनों की एकता मानी है इसलिये उसकी मान्यता मिथ्या है।

उपादान सम्बन्धी अनेकान्त

उपादान स्व–रूप से है और पररूप से नहीं है' इस प्रकार उपादान का अस्ति–नास्तिरूप अनेकान्तस्वभाव है। उपादान के कार्य में उपादान के कार्य की अस्ति है और उपादान के कार्य में निमित्त के कार्य की नास्ति है।—ऐसे अनेकान्त द्वारा प्रत्येक वस्तु का भिन्न भिन्न स्वरूप ज्ञात होता है तो उपादान में निमित्त क्या करे? कुछ भी नहीं कर सकता। जो ऐसा जानता है उसने उपादान को अनेकांत स्वरूप से जाना है किन्तु 'उपादान में निमित्त कुछ भी करता है —ऐसा जो माने उसने उपादान के अनेकान्तस्वरूप को नहीं जाना है किन्तु एकान्तस्वरूप से माना है इसलिये उसकी मान्यता मिथ्या है। निश्चय–व्यवहार भी मिथ्या है।

निश्चय और व्यवहार सम्बन्धी अनेकान्त

उपादान–निमित्त की भाँति निश्चय और व्यवहार का भी अनेकान्तस्वरूप है। निश्चय है वह निश्चयरूप से अस्तिरूप है और व्यवहाररूप से नास्तिरूप है व्यवहार है वह व्यवहाररूप से अस्तिरूप है और निश्चयरूप से नास्तिरूप है। इस प्रकार कथंचित् परस्पर विरुद्ध दो धर्म होने से वह अनेकान्तस्वरूप है। निश्चय और व्यवहार का एक दूसरे में अभाव है परस्पर अभाव भी विरुद्ध है—ऐसा अनेकान्त बतलाता है तब फिर व्यवहार निश्चय में क्या करेगा?

व्यवहार व्यवहार का कार्य करता है और निश्चय का कार्य नहीं करता अर्थात् व्यवहार बन्धन का कार्य करता है और अबन्ध

पने का कार्य नही करता—ऐसा व्यवहार का अनेकान्तस्वभाव है। इसके बदले व्यवहार व्यवहार का भी कार्य करता है और व्यवहार निश्चय का कार्य भी करता है—ऐसा जो मानता है उसने व्यवहार के अनेकान्तस्वरूप को नही जाना है किन्तु व्यवहार को एकान्तरूप से माना है। वह व्यवहाराभासमात्र का धारक मिथ्यादृष्टि है।

व्यवहार करते करते निश्चय होता है अर्थात् व्यवहार निश्चय का कारण होता है—ऐसा माना उसने निश्चय और व्यवहार को पृथक् नही जाना किन्तु दोनो को एक ही माना है, इसलिये वह भी एकान्त मान्यता हुई।

द्रव्य और पर्याय सम्बन्धी अनेकान्त

द्रव्य-पर्याय सम्बन्धी अनेकान्तस्वरूप इस प्रकार है: द्रव्य द्रव्यरूप से है और सम्पूर्ण द्रव्य एक पर्यायरूप नही है। पर्याय पर्याय-रूप है और एक पर्याय सपूर्ण द्रव्यरूप नही है। उसमे द्रव्य के आश्रय से धर्म नही होता है, पर्याय के आश्रय से धर्म नही होता। पर्यायबुद्धि से धर्म होता है-ऐसा मानना वह एकान्त है। स्व-द्रव्य के आश्रय से धर्म होता है उसके बदले अंश के-पर्याय के आश्रय से जिसने धर्म माना उसकी मान्यता मे पर्याय ने ही द्रव्य का काम किया अर्थात् पर्याय ही द्रव्य हो गई, उसकी मान्यता मे द्रव्य-पर्याय का अनेकान्तस्वरूप नहीं आया है। द्रव्यदृष्टि से (द्रव्य के आश्रय से) ही धर्म होता है और पर्यायबुद्धि से धर्म नही होता—ऐसा मानना सो अनेकान्त है।

इस प्रकार एकान्त-अनेकान्त का स्वरूप समझना चाहिये।

जो जीव ऐसा अनेकान्त वस्तुस्वरूप समझे वह जीव निमित्त, व्यवहार या पर्याय का आश्रय छोडकर अपने द्रव्यस्वभाव की ओर ढले बिना नही रहता, अर्थात् स्वभाव के आश्रय से उसे सम्यग्दर्शन —ज्ञानादि धर्म होते हैं। इस प्रकार अनेकान्त की पहिचान से धर्म का प्रारम्भ होता है। जो जीव ऐसा अनेकान्तस्वरूप न जाने वह कभी पर का आश्रय छोडकर अपने स्वभाव की ओर नही ढलेगा और न उसे धर्म होगा।

अनेकान्त का प्रयोजन

'हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि बाह्य व्यवहार के अनेक विधि-निषेध के कर्तृत्व की महिमा में कोई कल्याण नहीं है। यह कहीं ऐकान्तिक दृष्टि से लिखा है अथवा अन्य कोई हेतु है ऐसा विचार छोड़कर उन वचनों से जो भी अन्तर्मुख वृत्ति होने की प्रेरणा मिले उसे करने का विचार रखना सो सुविचार दृष्टि है।.. बाह्य क्रिया के अन्तर्मुखदृष्टिहीन विधि-निषेध में कुछ भी वास्तविक कल्याण नहीं है। अनेकान्तिक मार्ग भी सम्यक एकान्त-निज पद की प्राप्ति कराने के अतिरिक्त अन्य किसी भी हेतु से उपकारी नहीं है यह जानकर ही लिखा है। यह मात्र अनुकम्पाबुद्धि से निराग्रह से निष्कपट भाव से निदम्भता से और हित दृष्टि से लिखा है' यदि इस प्रकार विचार करोगे तो यह यथार्थ दृष्टिगोचर होगा।

(श्रीमद् राजचन्द्र ग्रु पृष्ठ १४६-४७)

★

जीव और कर्म दोनों स्वतंत्र हैं

श्री अमितगति आचार्य कृत योगसार (–अर्थात् अध्यात्मतरगिणी) के नववें अधिकार की ४९ वी गाथा मे (पृष्ठ १८६) कहा है कि—

न कर्म हृति जीवस्य न जीव· कर्मणो गुणान् ।
वध्य घातक भावोऽस्ति नान्योन्य जीव कर्मणोः ॥ ४९ ॥

अर्थ—न तो कर्म जीव के गुणो को नष्ट करता है और न जीव ही कर्म के गुणो को नष्ट करता है इसलिये जीव और कर्म का आपस मे वध्य घातक सम्बन्ध नही ।

भावार्थ—"वध्य घातक भाव" नामक विरोध मे वध्य का अर्थ मरनेवाला और घात का अर्थ मारनेवाला है, यह विरोध अहिन-कुल, अग्नि–जल आदि मे देखने मे आता है अर्थात् नोला सर्प को मार देता है इसलिये सर्प वध्य और नोला घातक कहा जाता है तथा जल अग्नि को बुझा देता है इसलिये अग्नि वध्य और जल घातक होता है, यहाँ पर जीव और कर्मों मे यह विरोध देखने मे नही आता क्योकि यदि कर्म जीव के गुणो को नष्ट करता अथवा जीव कर्म के गुणो को नष्ट करता तब तो जीव और कर्म मे वध्य घातक भाव नामक विरोध होता । सो तो है नही, इसलिये जीव और कर्म मे वध्य घातक भाव नामक विरोध नही हो सकता ।

अनन्त पुरुषार्थ

> स्वभाव का अनन्त पुरुषार्थ क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में आता है। क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा नियतवाद नहीं किन्तु सम्यक —पुरुषार्थवाद है।

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३२१-३२२-३२३ पर पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन

[वस्तु की पर्याय क्रमबद्ध ही होती है तथापि पुरुषार्थ के बिना शुद्ध पर्याय प्रगट नहीं होती' इसी सिद्धान्त पर मुख्यतया यह प्रवचन है। इस प्रवचन में निम्नलिखित विषयों के स्वरूप का स्पष्टीकरण हो जाता है—

१—पुरुषार्थ २—सम्यग्दृष्टि की धर्मभावना ३—सर्वज्ञ की यथार्थ श्रद्धा ४—द्रव्यदृष्टि, ५—जड़ और चेतन पदार्थों की क्रमबद्ध पर्याय ६—उपादान निमित्त ७—सम्यग्दर्शन ८—कर्तृत्व और ज्ञातृत्व १०—साधकदशा ११—कर्म में उदीरणा इत्यादि के प्रकार १२—मुक्ति की निःसन्देह प्रतिध्वनि १३—सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि १४—अनेकान्त और एकान्त १५—पाँच समवाय १६—अस्ति—नास्ति १७—नैमित्तिक संबंध १८—निश्चय—व्यवहार, १९—आत्मज्ञ और सर्वज्ञ २०—निमित्त की उपस्थिति होने पर भी निमित्त के बिना कार्य होता है। इसमें अनेक पहलुओं से—प्रकारान्तर से बारंबार स्वतंत्र पुरुषार्थ को सिद्ध किया है और इस प्रकार पुरुषार्थस्वभावी आत्मा की पहचान कराई है। जिज्ञासुजन इस प्रवचन के रहस्य को समझकर आत्मा के स्वतंत्र सत्य पुरुषार्थ की पहचान करके उस ओर उन्मुख हों यही भावना है।]

स्वामी कार्तिकेय आचार्यने तीन गाथाओं में यह बताया है कि सम्यग्दृष्टि जीव वस्तुस्वरूप का कैसा चिंतवन करते हैं तथा किस प्रकार पुरुषार्थ की भावना करते हैं। यह विशेष आवश्यक होने से यहाँ वर्णन किया जा रहा है। वे मूल गाथायें इस प्रकार हैं —

ज जस्स जम्मिदेसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि ।
णाद जिणेण णियद जम्म वा अहव मरण वा ॥ ३२१ ॥
त तस्स तम्मिदेसे तेणविहाणेण तम्मि कालम्मि ।
को सक्कइ चालेदु इदो वा अह जिणिदो वा ॥ ३२२ ॥

अर्थ —जिस जीव को जिस देश मे, जिस काल मे, जिस विधि से जन्म–मरण, सुख–दु ख तथा रोग और दारिद्रय इत्यादि जैसे सर्वज्ञदेव ने जाने हैं उसी प्रकार वे सब नियम से होगे। सर्वज्ञदेव ने जिस प्रकार जाना है उसी प्रकार उस जीव के उसी देश मे, उसी काल मे और उसी विधि से नियम पूर्वक सब होता है, उसके निवारण करने के लिए इन्द्र या जिनेन्द्र तीर्थंकरदेव कोई भी समर्थ नही है।

भावार्थ —सर्वज्ञदेव समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अवस्थाओ को जानते हैं। सर्वज्ञ के ज्ञान मे जो कुछ प्रतिभासित हुआ है, वह सब निश्चय से होता है, उसमे हीनाधिक कुछ भी नही होता, इस प्रकार सम्यग्दृष्टि विचार करता है। (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा पृष्ठ १२५)

इस गाथा मे यह बताया है कि सम्यग्दृष्टि की धर्मानुप्रेक्षा कैसी होती है। सम्यग्दृष्टि जीव वस्तु के स्वरूप का किस प्रकार चिंतवन करता है यह बात यहाँ बताई है। सम्यग्दृष्टि की यह भावना दु ख मे धीरज दिलाने के लिये अथवा झूठा आश्वासन देने के लिये नही है किन्तु जिनेन्द्रदेव के द्वारा देखा गया वस्तुस्वरूप जिस प्रकार है उसी प्रकार स्वय चिंतवन करता है, वस्तुस्वरूप ऐसा ही है, वह कोई कल्पना नही है। यह धर्म की बात है। 'जिस काल में जो होने वाली अवस्था सर्वज्ञभगवान ने देखी है उस काल मे वही अवस्था होती है दूसरी नही होती' इसमे एकान्तवाद या नियतवाद नही है किन्तु इसीमे सच्चा अनेकान्तवाद और सर्वज्ञता की भावना तथा ज्ञान का अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है।

आत्मा सामान्य–विशेषस्वरूप वस्तु है, अनादि अनन्त ज्ञान-

स्वरूप है उस सामान्य और उस ज्ञान में से समय समय पर जो पर्याय होती है वह विशेष है। सामान्य स्वयं ध्रुव रहकर विशेषरूप में परिणमन करता है' उस विशेष पर्याय में यदि स्वरूप की रुचि करे तो समय समय पर विशेष में शुद्धता होती है और यदि उस विशेष पर्याय में ऐसी विपरीत रुचि करे कि 'जो रागादि देहादि हैं वह मैं हूँ' तो विशेष में अशुद्धता होती है। इस प्रकार यदि स्वरूप की रुचि करे तो शुद्ध पर्याय क्रमबद्ध प्रगट होती है और यदि विकार की—पर की रुचि होती है तो अशुद्ध पर्याय क्रमबद्ध प्रगट होती है चैतन्य की क्रमबद्धपर्याय में अन्तर नहीं पड़ता किन्तु क्रमबद्ध का ऐसा नियम है कि जिस ओर की रुचि करता उस तरफ की क्रमबद्ध दशा होती है जिसे क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होती है उसे द्रव्य की रुचि होती है और जिसे द्रव्य की रुचि होती है उसकी क्रमबद्धपर्याय शुद्ध ही होती है अर्थात् सर्वज्ञभगवान के ज्ञान के अनुसार क्रमबद्धपर्याय ही होती है उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इतना निश्चय करने में तो द्रव्य की ओर का अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है। यहाँ पर्याय का क्रम नहीं बदलना है किन्तु अपनी ओर रुचि करनी है।

प्रश्न—जगत के पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध होती है। जड़ अथवा चेतन इत्यादि सभी में एक के बाद दूसरी क्रमबद्ध अवस्था जो सर्वज्ञदेव ने देखी है उसीके अनुसार अनादि अनन्त समयबद्ध होती है तब फिर इसमें पुरुषार्थ करने की बात ही कहाँ रही ?

उत्तर—मात्र आत्मा की ओर का ही पुरुषार्थ किया जाता है तब ही क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होती है। जिसने अपने आत्मा में क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किया कि अहो! जड़ और चैतन्य सभी की अवस्था क्रमबद्ध स्वयं हुआ करती है मैं पर में क्या कर सकता हूँ? मेरा ऐसा स्वरूप है कि मात्र जैसा होता है मैं वैसा ही जानता हूँ ऐसे निर्णय में पर की अवस्था में अच्छा बुरा मानना नहीं रह जाता किन्तु ज्ञातृत्व ही रहता है अर्थात् विपरीत मान्यता और अन

न्तानुबन्धी कषाय का नाश हो जाता है। अनन्त पर द्रव्य के कर्तृत्व का महा मिथ्यात्वभाव दूर होकर अपने ज्ञाता स्वभाव की अनन्त दृढता हो गई। ऐसा अपनी ओर का अनन्त पुरुषार्थ क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा मे हुआ है।

समस्त द्रव्यो की अवस्था क्रमबद्ध होती है। मैं उसे जानता हूँ किन्तु मैं किसी का कुछ नही करता ऐसी मान्यता के द्वारा मिथ्यात्व का नाश करके पर से पुनरावृत्त होकर जीव अपनी ओर झुकता है। सर्वज्ञदेव के ज्ञान मे जो प्रतिभासित हुआ है उसमे कोई अन्तर नही पडता, समस्त पदार्थों की समय समय पर जो अवस्था क्रमबद्ध होती है वही होती है, ऐसे निर्णय मे सम्यग्दर्शन भी आ जाता है। इसमे पुरुषार्थ किस प्रकार आया सो बतलाते हैं।

१—पर की अवस्था उसके क्रमानुसार होती ही रहती है, मैं पर का कुछ नही करता यह निश्चय किया कि सभी पर द्रव्यो का अभिमान दूर हो जाता है।

२—विपरीत मान्यता के कारण पर की अवस्था मे अच्छा बुरा मानकर जो अनन्तानुबन्धी रागद्वेष करता था वह दूर हो गया। इस प्रकार क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करने पर परद्रव्य के लक्ष से हटकर स्वय रागद्वेष रहित अपने ज्ञातास्वभाव मे आ गया अर्थात् अपने हित के लिये परमुखापेक्षा रुक गई और ज्ञान अपनी ओर प्रवृत्त हो गया। अपने द्रव्य मे भी एक के बाद दूसरी अवस्था क्रमबद्ध होती है। मैं तो तीनोकाल की क्रमबद्ध अवस्थाओ का पिंडरूप द्रव्य हूँ, वस्तु तो ज्ञाता ही है, एक अवस्था जितनी वस्तु नही है, अवस्था में जो राग-द्वेष होता है वह पर वस्तु के कारण नही किन्तु वर्तमान अवस्था की दुर्बलता से होता है, उस दुर्बलता को भी देखना नही रहा किन्तु पुरुषार्थ से परिपूर्ण ज्ञातास्वरूप में ही देखना रहा। उस स्वरूप के लक्ष से पुरुषार्थ की दुर्बलता अल्प काल में टूट जायगी।

क्रमबद्धपर्याय द्रव्य में से आती है पर पदार्थ में से नहीं आती तथा एक पर्याय में से दूसरी पर्याय प्रगट नहीं होती इसलिये अपनी पर्याय के लिये पर द्रव्य की ओर अथवा पर्याय को नहीं देखना रहा किन्तु मात्र ज्ञातास्वरूप को ही देखना रहा। जिसको ऐसी दशा हो जाती है, समझना चाहिये कि उसने सर्वज्ञ के ज्ञान के अनुसार क्रमबद्धपर्याय का निर्णय किया है।

प्रश्न—सर्वज्ञभगवान ने देखा हो तभी तो आत्मा की रुचि होती है न ?

उत्तर—यह किसने निश्चय किया कि सर्वज्ञभगवान सब कुछ जानते हैं ? जिसने सर्वज्ञभगवान की ज्ञानशक्ति को अपनी पर्याय में निश्चित् किया है उसकी पर्याय संसार से और राग से हटकर अपने स्वभाव की ओर लग गई है तभी तो वह सर्वज्ञ का निर्णय करता है। जिसकी पर्याय ज्ञानस्वभाव की ओर हो गई है उसे आत्मा की ही रुचि होती है। जिसने यह यथार्थतया निश्चय किया कि अहो ! केवलीभगवान तीनकाल और तीनलोक के ज्ञाता हैं वे अपने ज्ञान से सब कुछ जानते हैं किन्तु किसी का कुछ नहीं करते उसने अपने आत्मा को ज्ञातास्वभाव के रूप में मान लिया और उसकी तीनकाल और तीनलोक के समस्त पदार्थों की कर्तृत्वबुद्धि दूर हो गई है अर्थात् अभिप्राय की अपेक्षा से वह सर्वज्ञ हो गया है। ऐसा स्वभाव का अनंत पुरुषार्थ क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में आता है। क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा एकान्त नियतवाद नहीं है किन्तु पाँचों समवाय सहित सम्यक पुरुषार्थवाद है।

प्रस्तुत द्रव्यों की एक के बाद दूसरी जो अवस्था होती है उसका कर्ता स्वयं वही द्रव्य होता है किन्तु मैं उसका कर्ता नहीं हूँ और न मेरी अवस्था को कोई अन्य करता है। किसी निमित्तकारण से रागद्वेष नहीं होते। इस प्रकार निमित्त और रागद्वेष को जाननेवाली मात्र स्वसन्मुख ज्ञान की अवस्था रह जाती है वह अवस्था ज्ञाता

स्वरूप को जानती है, रागको जानती है और सभी पर को भी जानती है, मात्र जानना ही ज्ञान का स्वरूप है। जो राग होता है वह ज्ञान का ज्ञेय है किन्तु राग उस ज्ञान का स्वरूप नही है—ऐसी श्रद्धा मे ज्ञान का अनन्त पुरुपार्थ समाविष्ट रहता है। यह समझने के लिये ही आचार्यदेव ने यहां पर दो गाथायें देकर वस्तु स्वरूप बताया है। सम्यग्दृष्टि को अभी केवलज्ञान नही हुआ इससे पूर्व अपने केवलज्ञान की भावना को करता हुआ वस्तुस्वरूप का विचार करता है। सर्वज्ञता के होने पर वस्तुस्वरूप कैसा ज्ञात होगा इसका चितवन करता है।

आत्मा की अवस्था क्रमबद्ध होती है। जब आत्मा की जो अवस्था होती है तब उस अवस्था के लिये अनुकूल निमित्तरूप पर वस्तु स्वय उपस्थित होती ही है। आत्मा की क्रमबद्ध पर्याय की जो योग्यता हो उसके अनुसार यदि निमित्त न आये तो वह पर्याय कही अटक जायगी सो बात नही है। यह प्रश्न ही अज्ञान से परिपूर्ण है कि यदि निमित्त न होगा तो यह कैसे होगा, उपादानस्वरूप की दृष्टिवाले के यह प्रश्न ही नही उठ सकता। वस्तु मे अपने क्रम से जब अवस्था होती है तब निमित्त होता ही है, ऐसा नियम है।

धूप परमाणु की ही प्रकाशमान दशा है और छाया भी परमाणु की काली दशा है। परमाणु मे जिस समय काली अवस्था होनी होती है उसी समय काली अवस्था उसके द्वारा स्वय होती है, और उस समय सामने दूसरी वस्तु उपस्थित होती है। परमाणु की काली दशा के क्रम को बदलने के लिये कोई समर्थ नही है। धूप में बीच में हाथ रखने पर नीचे जो परछाईं पडती है वह हाथ के कारण नही होती, किन्तु वहाँ के परमाणु की ही उस उस समय क्रमबद्ध अवस्था काली होती है। अमुक परमाणुओ मे दोपहर को ३ बजे काली अवस्था होनी है ऐसा सर्वज्ञदेव ने देखा है और यदि उस समय हाथ न आये तो उन परमाणुओ की ३ बजे होनेवाली दशा अटक जायगी ? नही ! ऐसा बनता ही नही। परमाणुओ मे ठीक ३ बजे काली अवस्था होनी हो, तो ठीक उसी समय हाथ इत्यादि निमित्त

स्वयं उपस्थित होता ही है सर्वज्ञदेव ने अपने ज्ञान में यह देखा हो कि ३ बजे अमुक परमाणुओं की काली अवस्था होनी है और यदि निमित्त का अभाव होने से अथवा निमित्त के विलम्ब से आने के कारण वह अवस्था विलंब से हो तो सर्वज्ञ का ज्ञान गलत ठहरेगा किन्तु यह असम्भव है। जिस समय वस्तु की जो क्रमबद्ध अवस्था होनी होती है उस समय निमित्त उपस्थित न हो यह हो ही नहीं सकता। निमित्त होता तो है किन्तु वह कुछ करता नहीं है।

यहाँ पर पुद्गल का दृष्टांत दिया गया है इसी प्रकार अब जीव का दृष्टांत देकर समझाते हैं। किसी जीव के केवलज्ञान प्रगट होना हो और शरीर में वज्रवृषभनाराचसंहनन न हो तो केवलज्ञान रुक जायगा ऐसी मान्यता बिलकुल असत्य पराधीन दृष्टि की है। जीव केवलज्ञान प्राप्त करने की तैयारी में हो और शरीर में वज्रवृषभनाराचसंहनन न हो ऐसा कदापि हो ही नहीं सकता। जहाँ उपादान स्वयं सन्नद्ध हो वहाँ निमित्त स्वयं उपस्थित होता ही है। जिस समय उपादान कार्यरूप में परिणमित होता है उसी समय दूसरी वस्तु निमित्तरूप उपस्थित होती है निमित्त बाद में आता हो सो बात नहीं है। जिस समय उपादान का कार्य होता है उसी समय निमित्त की उपस्थिति भी होती है ऐसा होने पर भी निमित्त-उपादान के कार्य में किसी भी प्रकार की सहायता असर प्रभाव अथवा परिवर्तन नहीं करता। यह नहीं हो सकता कि निमित्त न हो और निमित्त से कार्य हो ऐसा भी नहीं हो सकता। चेतन अथवा जड़ द्रव्य में उसकी अपनी जो क्रमबद्ध अवस्था जब होनी होती है तब अनुकूल निमित्त उपस्थित होते हैं। ऐसा जो स्वाधीनदृष्टि का विषय है उसे सम्यग्दृष्टि ही जानता है मिथ्यादृष्टियों को वस्तु की स्वतंत्रता की प्रतीति नहीं होती इसलिये उनकी दृष्टि निमित्त पर जाती है।

अज्ञानी को वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं है इसलिये वस्तु की क्रमबद्धपर्याय में शंका करता है कि यह ऐसा कैसे हो गया? उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की और वस्तु की स्वतंत्रता की प्रतीति नहीं है, अज्ञानी को

वस्तुस्वरूप मे शंका नही होती। वह जानता है कि जिस काल मे जिस वस्तु की जो पर्याय होती है वह उस की क्रमबद्ध अवस्था है, मैं तो मात्र जाननेवाला हूँ, इस प्रकार ज्ञानी को अपने ज्ञातृत्वस्वभाव की प्रतीति है। इसलिये सर्वज्ञभगवान के द्वारा जाने गये वस्तुस्वरूप का चिंतवन करके वह अपने ज्ञान की भावना को बढाता है कि जिस समय जो जैसा होता है उसका मैं वैसा ज्ञायक ही हूँ, अपने ज्ञायक-स्वरूप की भावना करते करते मेरा केवलज्ञान प्रगट हो जायगा।

ऐसी भावना केवलीभगवान के नही होती किन्तु जिसे अभी अल्प रागद्वेष होता है ऐसे चौथे, पाचवें और छठे गुणस्थानवाले ज्ञानी की धर्मभावना का यह विचार है, इसमे यथार्थ वस्तुस्वरूप की भावना है यह कोई मिथ्या कल्पना या दु ख के आश्वासन के लिये नही है। सम्यग्दृष्टि किसी भी संयोग–वियोग को आपत्ति का कारण नही मानते किन्तु ज्ञान की अपूर्णदशा के कारण अपनी दुर्बलता से अल्प राग–द्वेष होता है—उस समय सपूर्ण ज्ञानदशा किस प्रकार की होती है इसका वे इस तरह चिंतवन करते हैं।

जिस काल मे जिस वस्तु की जो अवस्था सर्वज्ञदेव के ज्ञानमे ज्ञात हुई है उसी प्रकार क्रमबद्ध अवस्था होगी। भगवान तीर्थंकरदेव भी उसे बदलने मे समर्थ नही हैं, देखिये इस मे सम्यग्दृष्टि की भावना कि नि'शकता का कितना बल है। 'भगवान भी उसे बदलने मे समर्थ नही हैं' यह कहने मे वास्तव मे अपने ज्ञान की नि शकता ही है। सर्वज्ञदेव मात्र ज्ञाता हैं किन्तु वे किसी भी तरह का परिवर्तन करने मे समर्थ नही हैं, तब फिर मैं तो कर ही क्या सकता हूँ ? मैं भी मात्र ज्ञाता ही हूँ, इस प्रकार अपने ज्ञान की पूर्णता की भावना का बल है।

जिस क्षेत्र मे जिस शरीर के जीवन या मरण, सुख या दु ख का सयोग इत्यादि जिस विधि से होना है उसमे किंचित् मात्र भी अतर नही आ सकता। साप का काटना, पानी मे डूबना, अग्नि मे जलना

इत्यादि जो संयोग होना है उसे बदलने में कोई भी तीनकाल और तीन लोक में समर्थ नहीं है। स्मरण रहे कि इसमें महागतम सिद्धांत निहित है जो कि मात्र पुरुषार्थ को सिद्ध करता है। इसमें स्वामी कार्तिकेय आचार्य ने बारह भावना का स्वरूप वर्णित किया है। वे महा सन्तमुनि थे, वे दो हजार वर्ष पूर्व हो गये हैं। वस्तुस्वरूप को दृष्टि में रखकर इस शास्त्र में भावनाओं के स्वरूप का वर्णन किया गया है। यह शास्त्र सनातन जैन परम्परा में बहुत प्राचीन माना जाता है। स्वामी कार्तिकेय के सम्बन्ध में श्रीमद् राजचन्द्र ने भी कहा है कि—'नमस्कार हो उन स्वामी कार्तिकेय को'। इन महा सन्तमुनि के कथन में बहुत गहन रहस्य भरा हुआ है।

'जो जिस जीव के' अर्थात् सभी जीवों के लिए यही नियम है कि जिस जीव को जिस काल में जीवन मरण इत्यादि का कोई भी संयोग सुख दुःख का निमित्त आने वाला है उसमें परिवर्तन करने के लिये देवेन्द्र नरेन्द्र अथवा जिनेन्द्र इत्यादि कोई भी समर्थ नहीं हैं। यह सम्यग्दृष्टि जीव के यथार्थज्ञान की पूर्णता की भावना का विचार है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है उसे अपने ज्ञान में लिया जाता है किन्तु किसी संयोग के भय से भाग लेने के लिये यह विचार नहीं है। एक पर्याय में तीन काल और तीन लोक के पदार्थों का ज्ञान इस प्रकार ज्ञात हो जाय सम्यग्दृष्टि इसका विचार करता है।

यहाँ सुख दुःख के संयोग की बात की गई है। संयोग के समय भीतर स्वयं जो शुभ या अशुभभाव होता है वह आत्मा के वीर्य का कार्य है। पुरुषार्थ की दुर्बलता से राग-द्वेष होता है वहाँ सम्यग्दृष्टि अपनी पर्याय की हीनता को स्व-लक्ष से जानता है वह यह नहीं मानता कि संयोग के कारण से निज को रागद्वेष होता है किन्तु वह यह मानता है कि जैसा सर्वज्ञदेव ने देखा है वैसा ही संयोग वियोग क्रमशः होता है मिथ्यादृष्टि जीव यह मानता है कि पर संयोग के कारण से निज को रागद्वेष होता है इसलिये वह संयोग को बदलना चाहता है, उसे वीतरागशासन के प्रति श्रद्धा नहीं है।

उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की भी श्रद्धा नही है, क्योकि जो कुछ होता है वह सब सर्वज्ञदेव के ज्ञान के अनुसार होता है फिर भी वह शका करता है कि ऐसा क्यो कर हुआ ? यदि उसे सर्वज्ञ की श्रद्धा हो तो उसे यह निश्चय करना चाहिये कि जो कुछ सर्वज्ञदेव ने देखा है उसीके अनुसार सब कुछ होता है, और ऐसा होने से यह मान्यता दूर हो जाती है कि सयोग के कारण अपने मे रागद्वेष होता है। और यह मान्यता भी दूर हो जाती है कि मैं सयोग को बदल सकता हूँ। जो इस सम्बन्ध मे थोडा-सा भी अन्यथा मानता है, समझना चाहिये कि उसे वीतरागशासन के प्रति थोडी भी श्रद्धा नही है।

जिस जीव को जिस निमित्त के द्वारा जो अन्न-जल मिलना होता है उस जीव को उसी निमित्त के द्वारा वे ही रज-कण मिलेंगे, उसमे एक समयमात्र अथवा एक परमाणुमात्र का परिवर्तन करने के लिये कोई समर्थ नही है। जीवन, मरण, सुख, दु ख और दरिद्रता इत्यादि जो जब जैसा होने वाला है वैसा ही होगा, उसमे लाख प्रकार की सावधानी रखनेपर भी किंचित् मात्र परिवर्तन नही हो सकता, उसे इन्द्र, नरेन्द्र, अथवा जिनेन्द्र आदि कोई भी बदलने मे समर्थ नही हैं। इसमे नियतवाद नही है किन्तु मात्र ज्ञायकपन का पुरुषार्थवाद ही है।

'जैसा सर्वज्ञभगवान ने देखा है वैसा ही होता है, इसमे किंचित् मात्र भी परिवर्तन नही होता' ऐसी दृढ प्रतीति को नियतवाद नही कहते किन्तु यह तो सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा का पुरुषार्थवाद है। सम्यग्दर्शन के बिना यह बात नही जमती। पर मे कुछ नही देखना है किन्तु निज मे ही देखना है। जिसकी दृष्टि मात्र परपदार्थ पर ही है उसे भ्रम से ऐसा लगता है कि यह तो नियतवाद है, किन्तु यदि स्व-वस्तु की ओर से देखे तो इसमे मात्र स्वाधीन तत्त्वदृष्टि का पुरुषार्थ ही भरा हुआ है, वस्तु का परिणमन सर्वज्ञ के ज्ञान के अनुसार क्रमबद्ध होता है, जहाँ ऐसा निश्चय किया कि जीव समस्त पर

द्रव्यों से उदास हो जाता है और इसलिये उसे स्व-द्रव्य में ही देखना होता है और उसीमें सम्यक् पुरुषार्थ आ जाता है। इस पुरुषार्थ में *मोक्ष के पाँचों समवाय समाविष्ट हो जाते हैं। इस क्रमबद्धपर्याय* की श्रद्धा के भाव सर्वज्ञभगवान के ज्ञान का अवलम्बन करनेवाले हैं यह भाव तीनकाल और तीनलोक में बदलनेवाले नहीं हैं। यदि सर्वज्ञ का केवलज्ञान गलत हो जाय तो यह भाव बदले जो कि सर्वथा अशक्य है। जगत जगत ही है यदि जगत के जीवों के यह बात नहीं बैठती तो इससे क्या? जो वस्तु-स्वरूप सर्वज्ञदेव ने देखा है वह कभी नहीं बदल सकता। जैसा सर्वज्ञदेव ने देखा है वैसा ही होता है इसमें जो शंका करता है वह मिथ्यादृष्टि है। निमित्त और संयोग में मैं परिवर्तन कर सकता हूँ ऐसा माननेवाला सर्वज्ञ के ज्ञान में शंका करता है, और इसलिये वह प्रगटरूप मिथ्यादृष्टि अज्ञानी मूढ़ है।

अहो! इस एक सत्य को समझ लेने पर जगत के समस्त द्रव्यों के प्रति कितना उदासीनभाव हो जाता है। चाहे कम खाने का भाव करे या अधिक खाने का भाव करे किन्तु जितने और जो पर माणु आना हैं उतने और वे ही परमाणु आयेंगे उनमें से एक भी परमाणु को बदलने में कोई जीव समर्थ नहीं है। बस ऐसा जान कर शरीर का और पर का कर्तृत्व छूटकर ज्ञानस्वभाव की प्रतीति होनी चाहिये। इसे मानने में अनन्त वीर्य अपनी ओर कार्य करता है। जो जीव पर का कर्तृत्व अन्तरंग से मानता हो पर में सुखबुद्धि हो और कहे कि जो होना है सो होगा यह तो शुष्कता है यह बात ऐसी नहीं है। जब समस्त पर द्रव्यों से पृथक होकर जब जीव मात्र स्वभाव में संतोष मानता है तब यह बात यथार्थ बैठती है इसकी स्वीकृति में तो सभी पर पदार्थों से हटकर ज्ञान ज्ञान में ही लगता है अर्थात् मात्र वीतरागभाव का पुरुषार्थ प्रगट हुआ है। नरेन्द्र देवेन्द्र अथवा जिनेन्द्र तीनकाल और तीनलोक में एक परमाणु को भी बदलने में समर्थ नहीं हैं। जिसके ऐसी प्रतीति है वह ज्ञान की ओर उन्मुख हुआ है और

उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त है, वह क्रमशः ज्ञान की दृढता के बल से राग का नाश करके अल्प काल मे ही केवलज्ञान को प्राप्त कर लेगा, क्योकि यह निश्चय किया हुआ है कि सब कुछ क्रमबद्ध ही होता है इसलिये वह अब ज्ञाताभाव से जानता ही है, ज्ञान की एकाग्रता की कचाई के कारण वर्तमान मे कुछ अपूर्ण जानता है और अल्प राग-द्वेष भी होता है, परन्तु मैं तो ज्ञान ही हूँ ऐसी श्रद्धा के बल से पुरुषार्थ की पूर्णता करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेगा, इसलिये 'मैं तो ज्ञातास्वरूप हूँ, पर पदार्थों की क्रिया स्वतत्र होती है उसका मैं कर्ता नही हूँ किन्तु ज्ञाता ही हूँ' इस प्रकार की यथार्थ श्रद्धा ही केवलज्ञान को प्रगट करने का एक मात्र अपूर्व और अफर (अप्रतिहत) उपाय है।

जो कुछ वस्तु मे होता है वह सब केवली जानता है और जो कुछ केवली ने जाना है वह सब वस्तु मे होता है। इस प्रकार ज्ञेय और ज्ञायक का परस्पर मेल—सबध है। यदि ज्ञेय ज्ञायक का मेल न माने और कर्ता कर्म का किंचितमात्र भी मेल माने तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है। केवलज्ञानी सम्पूर्ण ज्ञायक हैं, उनके किसी भी पदार्थ के प्रति कर्तृत्व या रागद्वेषभाव नही होता। सम्यग्दृष्टि के भी ऐसी श्रद्धा होती है कि केवलज्ञानी की तरह मैं भी ज्ञाता ही हूँ, मैं किसी भी वस्तु का कुछ नही कर सकता तथा किसी वस्तु के कारण मुझमें कुछ परिवर्तन नही होता, यदि अस्थिरता से राग हो जाय तो वह मेरा स्वरूप नही है। इस प्रकार श्रद्धा की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि भी ज्ञायक ही है। जिसने यह माना कि नियमपूर्वक वस्तु की क्रमबद्धदशा होती है वह वस्तुस्वरूप का ज्ञाता है।

हे भाई! यह नियतवाद नही है, किन्तु अपने ज्ञान मे समस्त पदार्थों के नियति (क्रमबद्ध अवस्थाओ) का निर्णय करनेवाला पुरुषार्थवाद है। जब कि समस्त पदार्थों की क्रमबद्ध अवस्था होती है तो मैं उसके लिये क्या करूँ? मैं किसी की अवस्था का क्रम बदलने के लिये समर्थ नही हूँ, मेरी क्रमबद्ध अवस्था मेरे द्रव्यस्वभाव मे से प्रगट होती है, इसलिये मैं अपने द्रव्यस्वभाव मे एकाग्र रह कर सब का ज्ञाता

ही है—ऐसी स्वभावदृष्टि (द्रव्यदृष्टि) में अनंत पुरुषार्थ आ जाता है।

प्रश्न—जब कि सभी क्रमबद्ध है और उसमें जीव कोई भी परिवर्तन नहीं कर सकता तो फिर जीव में पुरुषार्थ कहाँ रहा?

उत्तर—सब कुछ क्रमबद्ध है, इस निर्णय में ही जीव का अनन्त पुरुषार्थ समाविष्ट है किन्तु उसमें कोई परिवर्तन करना आत्मा के पुरुषार्थ का कार्य नहीं है। भगवान जगत का सब कुछ मात्र जानते हो हैं किन्तु वे भी कोई परिवर्तन नहीं कर सकते तब क्या इससे *भगवान का पुरुषार्थ परिमित हो गया? नहीं नहीं भगवान का* अनंत अपरिमित पुरुषार्थ अपने ज्ञान में समाविष्ट है। भगवान का पुरु-*षार्थ निज में है पर में नहीं।* पुरुषार्थ जीव द्रव्य की पर्याय है इसलिये उसका कार्य जीव की पर्याय में होता है किन्तु जीव के पुरुषार्थ का कार्य पर में नहीं होता।

जो यह मानता है कि सम्यग्दर्शन और केवलज्ञानदशा आत्मा के पुरुषार्थ के बिना होती है वह मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानी प्रतिक्षण स्व भाव की पूर्णता के पुरुषार्थ की भावना करता है। अहो! जिनका पूर्ण ज्ञायकस्वभाव प्रगट हो गया है वे केवलज्ञानी हैं उनके ज्ञान में सब कुछ एक ही साथ ज्ञात होता है। ऐसी प्रतीति करने पर स्वयं भी निज दृष्टि से देखनेवाला ही रहा ज्ञान के अतिरिक्त पर का कर्तृत्व अथवा रागादिक सब कुछ अभिप्राय में से दूर हो गया। ऐसी द्रव्यदृष्टि के बल से ज्ञान की पूर्णता की भावना से वस्तुस्वरूप का चितवन करता है। यह भावना ज्ञानी की है अज्ञानी मिथ्यादृष्टि की नहीं है क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव पर का कर्तृत्व मानता है और कर्तृत्व की मान्यतावाला जीव ज्ञातृत्व की यथार्थ भावना नहीं कर सकता क्योंकि कर्तृत्व और ज्ञातृत्व का परस्पर विरोध है।

'सर्वज्ञभगवान ने अपने केवलज्ञान में जैसा देखा है वही होता है। यदि हम उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकते तो फिर उसमें *पुरुषार्थ नहीं रहता* इसप्रकार *जो मानते हैं वे अज्ञानी हैं। हे भाई!* तू किसके ज्ञान से बात करता है? अपने ज्ञान से या दूसरे के ज्ञान

से ? यदि तू अपने ज्ञान से ही वात करता है तो फिर जिस ज्ञान ने सर्वज्ञ का और सभी द्रव्यो की अवस्था का निर्णय कर लिया उस ज्ञान मे स्वद्रव्य का निर्णय न हो यह हो ही कैसे सकता है ? स्वद्रव्य का निर्णय करनेवाले ज्ञान मे अनन्त पुरुपार्थ है।

तूने अपने तर्क मे कहा है कि 'सर्वज्ञभगवान ने अपने केवलज्ञान मे जैसा देखा हो वैसा होता है' तो वह मात्र वात करने के लिये कहा है—अथवा तुझे सर्वज्ञ के केवलज्ञान का निर्णय है ? पहले तो यदि तुझे केवलज्ञान का निर्णय न हो तो सर्वप्रथम वह निर्णय कर और यदि तू सर्वज्ञ के निर्णयपूर्वक कहता हो तो सर्वज्ञभगवान के केवलज्ञान के निर्णयवाले ज्ञान मे अनन्त पुरुपार्थ आ ही जाता है। सर्वज्ञ का निर्णय करने मे ज्ञान का अनन्तवीर्य कार्य करता है तथापि उससे इन्कार करके तू कहता है कि क्रमवद्धपर्याय मे पुरुषार्थ कहाँ रहा ? सच तो यह है कि तुझे पूर्ण केवलज्ञान के स्वरूप की ही श्रद्धा नही है, और केवलज्ञान को स्वीकार करने का अनन्त पुरुषार्थ तुझमे प्रगट नही हुआ। केवलज्ञान को स्वीकार करने मे अनन्त पुरुपार्थ का अस्तित्व आ जाता है तथापि यदि उसे स्वीकार नही करता तो कहना होगा कि तू मात्र वातें ही करता है किन्तु तुझे सर्वज्ञ का निर्णय नही हुआ। यदि सर्वज्ञ का निर्णय हो तो पुरुपार्थ की और भव की शका न रहे। यथार्थ निर्णय हो जाय और पुरुषार्थ न आये यह हो ही नही सकता।

अनन्त पदार्थों को जाननेवाले, अनन्त पदार्थों से परिपूर्ण और भवरहित केवलज्ञान का जिस ज्ञान ने अपने पुरुषार्थ के द्वारा निर्णय किया उस ज्ञानने अपने पुरुषार्थ के द्वारा निर्णय किया है या बिना ही पुरुषार्थ के ? जिसने भवरहित केवलज्ञान को प्रतीति मे लिया है उसने राग मे लिप्त होकर प्रतीति नही की किन्तु राग से पृथक् करके अपने ज्ञानस्वभाव मे स्थिर होकर भवरहित केवलज्ञान की प्रतीति की है। जिस ज्ञान ने ज्ञान मे स्थिर होकर भवरहित केवलज्ञान

की प्रतीति की है वह ज्ञान स्वयं भवरहित है और इसलिये उस ज्ञान में भव की शंका नहीं है। पहले केवलज्ञान की प्रतीति नहीं थी तब वह अनंत भव की शंका में झूलता रहता था और अब प्रतीति होने पर अनंत भव की शंका दूर हो गई है और एकाध भव में मोक्ष के लिये ज्ञान निश्शंक हो गया है। उस ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ निहित है। इस प्रकार सर्वज्ञभगवान ने अपने केवलज्ञान में जैसा देखा हो वैसा ही होता है ऐसी यथार्थ श्रद्धा में अपनी भवरहितता का निर्णय समाविष्ट हो जाता है अर्थात् उसमें मोक्ष का पुरुषार्थ आ जाता है। यथार्थ निर्णय के बल से मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

सभी द्रव्यों की तरह अपने द्रव्य की अवस्था भी क्रमबद्ध ही है। जैसे अन्य द्रव्यों की क्रमबद्धपर्याय इस जीव से नहीं होती वैसे ही इस जीव की क्रमबद्धपर्याय अन्य द्रव्यों से नहीं होती। अपनी क्रमबद्ध पर्याय के स्वभाव की प्रतीति करने पर अपने द्रव्यस्वभाव में ही देखा जाता है कि अहो! मेरी पर्यायें तो मेरे द्रव्य में से ही आती हैं द्रव्य में रागद्वेष नहीं है कोई परद्रव्य मुझे रागद्वेष नहीं कराता। पर्याय में जो अल्प रागद्वेष है वह मेरी नबलाई का कारण है वह नबलाई भी मेरे द्रव्य में नहीं है। ऐसा होने से उस जीव को पर में न देखकर अपने स्वभाव में ही देखना रह जाता है अर्थात् द्रव्यदृष्टि में स्थिर होना रह जाता है। स्वभाव के बल से अल्प काल में राग को दूर करके वह केवलज्ञान को अवश्य प्राप्त करेगा। बस इसी का नाम क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा है इस जीव ने ही सर्वज्ञ को यथार्थतया जाना है, और यही जीव स्वभावदृष्टि से साधक हुआ है उसका फल सर्वज्ञ दशा है।

द्रव्य में समय समय पर जो विशेष अवस्था होती है वह विशेष सामान्य में से हो आती है, सामान्य में से विशेष प्रगट होता है इसमें केवलज्ञान भरा हुआ है। जैन के अतिरिक्त सामान्य—विशेष की यह बात जन को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी नहीं है और सम्यग्दृष्टि के अतिरिक्त अन्य लोग इसे यथार्थतया समझ नहीं सकते। सामान्य में

से विशेप होता है इतना सिद्धात निश्चित् करने पर वह परिणमन निज की ओर ढल जाता है। पर से मेरी पर्याय नही होती, निमित्त से भी नही होती, विकल्प से भी नही होती और पर्याय मे से भी मेरी पर्याय नही होती। इस प्रकार सब से लक्ष हटाकर जो जीव मात्र द्रव्य की ओर झुका है उस जीव को ऐसी प्रतीति हो गई है कि सामान्य मे से ही विशेप होता है। अज्ञानी को ऐसी स्वाधीनता की प्रतीति नही होती।

भगवान ने जैसा देखा है वैसा ही होता है यह निश्चय करनेवाले का वीर्य पर से हटकर निज मे स्तम्भित हो गया है। ज्ञान ने निज मे स्थिर होकर सर्वज्ञ की ज्ञानशक्ति का और समस्त द्रव्यो का निर्णय किया है। वह निर्णयरूप पर्याय न तो किसी पर मे से आई है और न विकल्प मे से भी आई है। किन्तु वह निर्णय की शक्ति द्रव्य मे से प्रगट हुई है, अर्थात् निर्णय करनेवाले ने द्रव्य को प्रतीति मे लेकर निर्णय किया है। ऐसा निर्णय करनेवाला जीव ही सर्वज्ञ का सच्चा भक्त है। उसका झुकाव अपने सर्वज्ञस्वभाव की ओर हुआ है अत वह कही भी न रुककर अल्प काल मे ही सपूर्ण सर्वज्ञ हो जायगा। इससे विरुद्ध अर्थात् कोई द्रव्य अन्य द्रव्य का कुछ कर सकता है, ऐसा जो मानता है वह वास्तव मे अपने आत्मा को, सर्वज्ञ के ज्ञान को, न्याय को तथा द्रव्य पर्याय को नही मानता।

१—अपना आत्मा पर से भिन्न है तथापि वह पर का कुछ करता है इस प्रकार मानना सो आत्मा को पर रूप मानना है अथवा आत्मा को नही मानना ही है।

२—वस्तु की अवस्था सर्वज्ञदेव के देखे हुए अनुसार होती है उसकी जगह मानना कि मैं उसे बदल सकता हूँ, सर्वज्ञ के ज्ञान को यथार्थ न मानने के समान है।

३—वस्तु की ही क्रमबद्ध अवस्था होती है, वहाँ निमित्त करता है अथवा निमित्त कोई परिवर्तन कर डालता है यह बात कहाँ

की प्रतीति की है वह ज्ञान स्वयं भवरहित है और इसलिये उस ज्ञान में भव की शंका नहीं है। पहले केवलज्ञान की प्रतीति नहीं थी तब वह अनंत भव की शंका में झूलता रहता था और अब प्रतीति होने पर अनन्त भव की शंका दूर हो गई है और एकाध भव में मोक्ष के लिये ज्ञान निःशंक हो गया है। उस ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ निहित है। इस प्रकार सर्वज्ञभगवान ने अपने केवलज्ञान में जैसा देखा हो वैसा ही होता है ऐसी यथार्थ श्रद्धा में अपनी भवरहितता का निर्णय समाविष्ट हो जाता है अर्थात् उसमें मोक्ष का पुरुषार्थ आ जाता है। यथार्थ निर्णय के बल से मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

सभी द्रव्यों की तरह अपने द्रव्य की अवस्था भी क्रमबद्ध ही है। जैसे अन्य द्रव्यों की क्रमबद्धपर्याय इस जीव से नहीं होती वैसे ही इस जीव की क्रमबद्धपर्याय अन्य द्रव्यों से नहीं होती। अपनी क्रमबद्ध पर्याय के स्वभाव की प्रतीति करने पर अपने द्रव्यस्वभाव में ही देखा जाता है कि अहो! मेरी पर्यायें तो मेरे द्रव्य में से ही आती हैं द्रव्य में रागद्वेष नहीं है कोई परद्रव्य मुझे रागद्वेष नहीं कराता। पर्याय में जो अल्प रागद्वेष है वह मेरी नबलाई का कारण है वह नबलाई भी मेरे द्रव्य में नहीं है। ऐसा होने से उस जीव को पर में न देखकर अपने स्वभाव में ही देखना रह जाता है अर्थात् द्रव्यदृष्टि में स्थिर होना रह जाता है। स्वभाव के बल से अल्प काल में राग को दूर करके वह केवलज्ञान को अवश्य प्राप्त करेगा। बस इसी का नाम क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा है इस जीव ने ही सर्वज्ञ को यथार्थतया जाना है, और यही जीव स्वभावदृष्टि से साधक हुआ है, उसका फल सर्वज्ञ दशा है।

द्रव्य में समय समय पर जो विशेष अवस्था होती है वह विशेष सामान्य में से ही आती है, सामान्य में से विशेष प्रगट होता है, इसमें केवलज्ञान भरा हुआ है। जैन के अतिरिक्त सामान्य—विशेष की यह बात जैन को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी नहीं है और सम्यग्दृष्टि के अतिरिक्त अन्य लोग उसे यथार्थतया समझ नहीं सकते। सामान्य में

से विशेष होता है इतना सिद्धात निश्चित् करने पर वह परिणमन निज की ओर ढल जाता है। पर से मेरी पर्याय नही होती, निमित्त से भी नही होती, विकल्प से भी नही होती और पर्याय मे से भी मेरी पर्याय नही होती। इस प्रकार सब से लक्ष हटाकर जो जीव मात्र द्रव्य की ओर झुका है उस जीव को ऐसी प्रतीति हो गई है कि सामान्य मे से ही विशेष होता है। अज्ञानी को ऐसी स्वाधीनता की प्रतीति नही होती।

भगवान ने जैसा देखा है वैसा ही होता है यह निश्चय करनेवाले का वीर्य पर से हटकर निज मे स्तम्भित हो गया है। ज्ञान ने निज मे स्थिर होकर सर्वज्ञ की ज्ञानशक्ति का और समस्त द्रव्यो का निर्णय किया है। वह निर्णयरूप पर्याय न तो किसी पर मे से आई है और न विकल्प मे से भी आई है। किन्तु वह निर्णय की शक्ति द्रव्य मे से प्रगट हुई है, अर्थात् निर्णय करनेवाले ने द्रव्य को प्रतीति में लेकर निर्णय किया है। ऐसा निर्णय करनेवाला जीव ही सर्वज्ञ का सच्चा भक्त है। उसका झुकाव अपने सर्वज्ञस्वभाव की ओर हुआ है अतः वह कही भी न रुककर अल्प काल मे ही सपूर्ण सर्वज्ञ हो जायगा। इससे विरुद्ध अर्थात् कोई द्रव्य अन्य द्रव्य का कुछ कर सकता है, ऐसा जो मानता है वह वास्तव मे अपने आत्मा को, सर्वज्ञ के ज्ञान को, न्याय को तथा द्रव्य पर्याय को नही मानता।

१—अपना आत्मा पर से भिन्न है तथापि वह पर का कुछ करता है इस प्रकार मानना सो आत्मा को पर रूप मानना है अथवा आत्मा को नही मानना ही है।

२—वस्तु की अवस्था सर्वज्ञदेव के देखे हुए अनुसार होती है उसकी जगह मानना कि मैं उसे बदल सकता हूँ, सर्वज्ञ के ज्ञान को यथार्थ न मानने के समान है।

३—वस्तु की ही क्रमबद्ध अवस्था होती है, वहाँ निमित्त करता है अथवा निमित्त कोई परिवर्तन कर डालता है यह बात कहाँ

रही ? निमित्त पर का कुछ भी नहीं करता तथापि जो यह मानता है कि मेरे निमित्त से पर में कोई परिवर्तन होता है वह सच्चे न्याय को नहीं मानता ।

४—द्रव्य की पर्याय द्रव्य में से ही आती है, उसकी जगह जो यह मानता है कि पर में से द्रव्य की पर्याय आती है (अर्थात् जो यह मानता है कि मैं पर की पर्याय को करता हूँ) वह द्रव्य–पर्याय के स्वरूप को ही नहीं मानता । इस प्रकार एक विपरीत मान्यता में अनन्त असत् का सेवन आ जाता है ।

वस्तु में से क्रमबद्धपर्याय आती है, वह दूसरा कुछ नहीं करता, तथापि उस समय निमित्त अवश्य उपस्थित होता है किन्तु निमित्त के द्वारा कोई भी काम नहीं होता । निमित्त सहायता करता हो सो बात नहीं है और न ऐसा ही होता है कि निमित्त की उपस्थिति न हो । जैसे ज्ञान समस्त वस्तु को मात्र जानता है किन्तु किसी का कुछ करता नहीं है इसी प्रकार निमित्त मात्र उपस्थित होता है वह उपादान के लिये कोई असर सहायता अथवा प्रेरणा नहीं करता और प्रभाव भी नहीं डालता ।

जिस समय निजसत्ता के पुरुषार्थ के द्वारा आत्मा की सम्यग्दर्शनपर्याय प्रगट होती है उस समय सच्चे देव गुरु शास्त्र निमित्तरूप अवश्य होते हैं ।

प्रश्न—जीव को सम्यग्दर्शन के प्रगट होने की तैयारी हो और सच्चे देव गुरु शास्त्र न मिलें तो क्या सम्यग्दर्शन नहीं होता ?

उत्तर—यह हो ही नहीं सकता कि जीव की तयारी हो और सच्चे देव गुरु शास्त्र न हों । जब उपादानकारण तैयार होता है तब निमित्तकारण स्वयमेव उपस्थित होता है किन्तु कोई किसी का कर्ता नहीं होता । उपादान के कारण न तो निमित्त आता है और न निमित्त के कारण उपादान का काम होता है । दोनों स्वतंत्र रूप में अपने अपने कार्य के कर्ता हैं ।

अहो ! वस्तु कितनी स्वतन्त्र है ! समस्त वस्तुओं मे क्रम-वर्तित्व चल ही रहा है, एक के बाद दूसरी पर्याय कहो या क्रमबद्ध-पर्याय कहो, जो पर्याय होनी है वह होती ही रहती है। ज्ञानी जीव ज्ञाता के रूप मे जानता रहता है और अज्ञानी जीव कर्तृत्व का मिथ्याभिमान करता है। जो पर का अभिमान करता है उसकी पर्याय क्रमबद्ध हीन परिणमित होती है और जो ज्ञाता रहता है उसकी ज्ञानपर्याय क्रमश' विकसित होकर केवलज्ञान को प्राप्त हो जाती है।

वस्तु की अनादि अनन्त समय की पर्याय मे से एक भी पर्याय का क्रम नही बदलता। अनादि अनन्त काल के जितने समय हैं उतनी ही प्रत्येक वस्तु की पर्यायें हैं। पहले समय की पहली पर्याय, दूसरे समय की दूसरी पर्याय और तीसरे समय की तीसरी पर्याय के क्रम से जितने समय हैं उतनी ही पर्यायें क्रमबद्ध होती हैं। जिसने ऐसा स्वीकार किया उसकी दृष्टि एक एक पर्याय पर से हटकर अभेद द्रव्य पर हो गई और वह पर से उदास हो गया। यदि कोई यह कहे कि मैं पर की पर्याय कर दू तो इसका मतलब यह हुआ कि वह वस्तु की अनादि अनन्त काल की पर्यायो में परिवर्तन करना मानता है, अर्थात् वह वस्तुस्वरूप को विपरीतरूप मे मानता है, और इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है।

वस्तु और वस्तु के गुण अनादि अनन्त हैं। अनादि अनन्त काल के जितने समय हैं उतनी ही उस उस समय की पर्यायें वस्तु मे से क्रमबद्ध प्रगट होती हैं। जिस समय की जो पर्याय है उस समय वही पर्याय प्रगट होती है, उल्टी सीधी नही होती तथा आगे पीछे भी नही होती। पर्याय के क्रम मे परिवर्तन करने के लिये कोई भी समर्थ नही है। इस क्रमबद्धपर्याय के सिद्धान्त मे केवलज्ञान खडा हो जाता है। यह तो दृष्टि के चिर स्थायी प्याले है उन्हें पचाने के लिए श्रद्धा—ज्ञान मे अनन्त पुरुषार्थ चाहिए। जब अनादि अनन्त अखण्ड द्रव्य को प्रतीति मे लेते हैं तब क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होती है, क्योकि क्रमबद्ध-पर्याय का मूल तो वही है। जो क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करता है वह

अनादि अनन्त पर्यायों का ज्ञायक और चैतन्य के केवलज्ञान की प्रतीतिवाला हो जाता है। मेरी पर्याय मेरे द्रव्य में से आती है इस प्रकार द्रव्य की ओर झुकने पर साधकपर्याय में अपूर्णता रहने पर भी उसे अब द्रव्य की ओर ही देखना रहा और उसी द्रव्य के बल पर पूर्णता हो जायगी।

वस्तु का सत्यस्वरूप तो ऐसा ही है इसे समझे बिना छुटकारा नहीं है वस्तु का स्वाधीन परिपूर्ण स्वरूप ध्यान में लिए बिना पर्याय में शान्ति कहाँ से आयगी, यदि सुखदशा चाहिए हो तो वह वस्तुस्वरूप जानना पड़ेगा जिसमें से सुखदशा प्रगट हो सके।

अहो! मेरी पर्याय भी क्रमबद्ध ही होती है इस प्रकार जिसने निश्चय किया उसे अपने में समभाव—ज्ञाताभाव हो जाता है उसे पर्याय को बदलने की आकुलता नहीं रहती। किन्तु जो जो पर्यायें होती हैं उनका ज्ञाता के रूप में जाननेवाला होता है। जो ज्ञाता के रूप में जाननेवाला होता है उसे केवलज्ञान होने में विलम्ब कैसा? जिसे स्वभाव में समभावी ज्ञान नहीं है अर्थात् जिसे अपने द्रव्य की क्रमबद्धदशा की प्रतीति नहीं है उस जीव की रुचि पर में जाती है और उसके विषमभाव से क्रमबद्धरूप में विकारी पर्याय होती है। ज्ञातृत्व का विरोध करके जो पर्याय होती है वह विषमभाव से है (विकारी है) और निज में दृष्टि करके ज्ञातृत्व के रूप में रहने पर जो पर्याय होती है वह समभाव से क्रमबद्ध विशेषशुद्ध होती जाती है।

इसमें तो सब कुछ अपनी पर्याय में ही समाविष्ट हो जाता है। यदि अपनी क्रमबद्धपर्याय को स्वदृष्टि से करे तो शुद्ध हो और यदि पर दृष्टि से करे तो अशुद्ध हो। पर के साथ सम्बन्ध न रहने पर भी दृष्टि जिस ओर जाती है उस पर क्रमबद्धपर्याय का आधार है। कोई जीव शुभभाव करने से पर वस्तु (देव शास्त्र गुरु अथवा मन्दिर इत्यादि) को प्राप्त नहीं कर सकता और अशुभभाव मैं रुक से कोई रुपया पैसा इत्यादि पर वस्तु को प्राप्त नहीं कर सकता। जो पर वस्तु जिस काल में और जिस क्षेत्र में आनी होती है वही वस्तु उस

काल और उस क्षेत्र मे स्वयं आ जाती है, वह आत्मभाव के कारण नही आती। समस्त वस्तु की पर्याये अपने क्रमवद्ध नियमानुसार ही होती हैं उनमे कोई फर्क नही आता। इस समझ मे वस्तु की प्रतीति और केवलज्ञानस्वभाव का अनन्त वीर्य प्रगट होता है। इसे मानने पर अनन्त पर द्रव्यो के कर्तृत्व को छेदकर अकेला ज्ञाता हो जाता है। इसमे सम्यग्दर्शन का ऐसा अपूर्व पुरुषार्थ भरा हुआ है कि जैसा अनन्त काल मे कभी भी नही किया था।

जैसे आत्मा मे सभी पर्याय क्रमवद्ध होती है उसी प्रकार जड मे भी जड की सभी अवस्थायें क्रमबद्ध होती हैं। कर्म की जो जो अवस्था होती है उसे आत्मा नही करता किन्तु वह परमाणु की क्रमबद्धपर्याय है। कर्म के परमाणुओ मे उदय, उदीरणा इत्यादि जो दस अवस्थायें (कारण) हैं वे भी परमाणु की क्रमबद्ध दशायें हैं। आत्मा के शुभ परिणाम के कारण कर्म के परमाणुओ की दशा बदल नही गई, किन्तु परमाणुओ मे ही उस समय वह दशा होने की योग्यता थी इसलिये वह दशा हुई है। जीव के पुरुषार्थ के कारण कर्म की क्रमबद्ध अवस्था मे भग नही पड जाता, जीव अपनी दशा मे पुरुषार्थ करता है और उस समय कर्म के परमाणुओ की क्रमवद्ध-दशा उपशम, उदीरणादिरूप स्वयं होती है, परमाणु मे उसकी अवस्था उसकी योग्यता से, उसके कारण से होती है, किन्तु आत्मा उस का कुछ नही करता।

प्रश्न—यदि कर्म उस परमाणु की क्रमबद्धपर्याय ही है तो फिर जैनो मे तो कर्मसिद्धान्त के विपुल शास्त्र भरे पडे हैं उसके सबध मे क्या समझा जाय ?

उत्तर—हे भाई ! यह सभी शास्त्र आत्मा को ही बतानेवाले हैं। कर्म का जितना वर्णन है उसका आत्मा के परिणाम के साथ मात्र निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध है। आत्मा के परिणाम किस किस प्रकार के होते हैं यह समझाने के लिये उपचार से कर्म मे भेद करके

समझाया है। निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध का ज्ञान कराने के लिये कर्म का वर्णन किया है किन्तु जड़कर्म के साथ आत्मा का कर्ताकर्म सम्बन्ध किंचित्मात्र भी नहीं है।

प्रश्न—बंध उदय, उदीरणा, उपशम अपकर्षण उत्कर्षण, संक्रमण सत्ता निद्धत, और निकाचित ऐसे दस प्रकार के करण (कर्म की अवस्था के प्रकार) क्यों कहे हैं ?

उत्तर—अहो इसमें भी वास्तवमें तो चतन्य की ही पहचान कराई गई है। कर्म के जो दस प्रकार बताये हैं वे आत्मा के परिणामों के प्रकार बताने के लिये ही हैं। आत्मा का पुरुषार्थ ऐसे दस प्रकार से हो सकता है यह बताने के लिये कर्म के भेद करके समझाये हैं। आत्मा के पुरुषार्थ के समय प्रस्तुत परमाणु उसकी योग्यता के अनुसार स्वयं परिणमन करता है। इसमें तो दोनों के निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध का ज्ञान कराया है परन्तु यह बात नहीं की है कि कर्म आत्मा का कुछ करते हैं।

एक कर्म परमाणु भी द्रव्य है उसमें जो अनादि अनन्त पर्याय होती हैं वही समय समय पर क्रमबद्ध होती हैं।

प्रश्न—आपने तो यह कहा है न कि कर्म की उदीरणा होती है?

उत्तर—उदीरणा का अर्थ यह नहीं है कि बाद में होने वाली अवस्था को उदीरणा करके जल्दी लाया गया हो कर्म की क्रमबद्ध अवस्था ही उस तरह की होनी है। जीव ने अपने में पुरुषार्थ किया है यह बताने के लिये उपचार से ऐसा कहा है कि कर्म में उदीरणा हुई है। वास्तव में कर्म की अवस्था का क्रम बदल नहीं गया परन्तु जीव ने अपनी पर्याय में उस प्रकार का पुरुषार्थ किया है—उसका ज्ञान कराने के लिये ही उदीरणा कही जाती है।

जहाँ यह कहा जाता है कि जीव अधिक पुरुषार्थ करे तो अधिक कर्म खिर जाते हैं वहाँ भी वास्तव में जीव ने कर्मों को खिराने का

पुरुषार्थ नही किया किन्तु अपने स्वभाव मे रहने का पुरुषार्थ किया है। जीव के विशेष पुरुषार्थ का ज्ञान कराने के लिये उपचार से ऐसा कहा जाता है कि बहुत समय के कर्मपरमाणुओ को अल्प काल मे ही नष्ट कर दिया है। इस आरोपित कथन मे यथार्थ वस्तुस्वरूप तो यह है कि जीव ने स्वभाव मे रहने का पुरुषार्थ किया और उस समय जिन कर्मों की अवस्था स्वय खिरने रूप थी वह खिर गई। परमाणु की अवस्था के क्रम मे भग नही पडता। बहुत काल के कर्म क्षण भर मे टाल दिये इसका अर्थ इतना ही समझना चाहिये कि जीवने बहुतसा पुरुषार्थ अपनी पर्याय मे किया है।

छहो द्रव्य परिणामनस्वभावी हैं और वे अपने आप क्रमबद्ध-पर्याय मे परिणमित होते हैं। छहो द्रव्य पर की सहायताके बिना स्वय परिणमित होते हैं, यह श्रद्धा करने मे ही अनन्त पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ के बिना जीव को एक भी पर्याय नही होती। मात्र पुरुषार्थ की उन्मुखता अपनी ओर करने की जगह जीव पर की ओर करता है, यही अज्ञान है। यदि स्वभाव की रुचि करे, तो स्वभाव की ओर ढले, अर्थात् पर्याय क्रमश शुद्ध हो जाय।

इस बात की समझ मे आत्मा के मोक्ष का उपाय निहित है इसलिये इस बात को खूब विश्लेषण करके समझना चाहिये, उसे जरा भी ढकना नही चाहिये। उसे निर्णयपूर्वक स्पष्ट करके जानना चाहिये। परम सत् को ढकना नही चाहिये किन्तु ऊहापोह करके बराबर विश्लेषणपूर्वक निश्चय करना चाहिये। सत्य मे किसी की लज्जा नही होती यह तो वस्तुस्वरूप है।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा अपने सम्यग्ज्ञान से यह जानता है कि सर्वज्ञभगवान ने अपने ज्ञान मे जो जाना है उस प्रकार प्रत्येक वस्तु क्रमबद्ध परिणमित होती है। मेरी केवलज्ञान पर्याय भी क्रमबद्धरूप मे मेरे स्वद्रव्य मे से ही प्रगट होगी। ऐसी सम्यक् भावना से उसका ज्ञान बढकर स्वभाव मे एकाग्र होता है और ज्ञाताशक्ति प्रति पर्याय मे

निर्मल होती जाती है तथा विकारी पर्याय क्रमशः दूर होती जाती है। कौन कहता है कि इसमें पुरुषार्थ नहीं है। ऐसे स्वभाव में निःशंक है वह सम्यग्दृष्टि है और इस स्वभाव में जो तनिक भी संदेह का वेदन करता है वह मिथ्यादृष्टि है, उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की और अपने ज्ञाता स्वभाव की श्रद्धा नहीं है।

अहो ! इस सम्यग्दृष्टि जीव की भावना तो देखो वह स्वभाव से ही प्रारंभ करता है और स्वभाव में ही लाकर पूर्ण करता है। उसने जहाँ से प्रारंभ किया था वहीं का वहीं ला रखा है। आत्मा में स्वाश्रय से साधकदशा प्रारंभ की है और पूर्णता भी स्वाश्रय से आत्मा में ही होती है। केवलज्ञान संपूर्णतया निज में ही समाविष्ट हो जाता है। साधक धर्मात्मा अपने में ही समाविष्ट होना चाहता है। उसने बाहर से न तो कहीं से प्रारंभ किया है और न बाह्य में कहीं रुकने वाला है। आत्मा का मार्ग आत्मा में से निकलकर आत्मा में ही समाविष्ट हो जाता है।

यहाँ मात्र जीव की ही बात नहीं है किन्तु सभी पदार्थों की अवस्था क्रमबद्ध होती है। यहाँ मुख्यतया जीव की बात समझाई है, आत्मा की अवस्था आत्मा में ही क्रमबद्ध प्रगट होती है वह निश्चय करने में अनन्त वीर्य है। वह निश्चय करने पर पहले अनन्त पदार्थों को अच्छा बुरा मानकर जो रागद्वेष होता था वह सब दूर हो गया पर निमित्त का स्वामित्व मानकर जो वीर्य पर में रुक जाता था वह अब अपने आत्मस्वभाव को देखने में लग गया है राग निमित्त वगैरह की ओर की दृष्टि गई और स्वभाव में दृष्टि हो गई। स्वभावदृष्टि में अपनी पर्याय की स्वाधीनता की कैसी प्रतीति होती है तत्सम्बंधी यह बात है। स्वभावदृष्टि को समझे बिना व्रत तप भक्ति, दान और पठन-पाठन यह सब बिना एकाई के शून्य के समान व्यर्थ है। मिथ्या दृष्टि जीव के यह कुछ सच्चे नहीं होते।

हे जीव ! तेरी वस्तु में भगवान जितनी ही परिपूर्ण शक्ति है, भगवानपना वस्तु में ही प्रगट होता है। यदि ऐसे अवसर पर

यथार्थवस्तु को दृष्टि मे न लें तो वस्तुके स्वरूप को जाने विना जन्म–मरण का अन्त नही हो सकता। वस्तु के जानने पर अनन्त ससार दूर हो जाता है। वस्तु मे संसार नही है, वस्तु की प्रतीति होने पर मोक्षपर्याय की तैयारी की प्रतिध्वनि होने लगती है। भगवन्! यह तेरे स्वभाव की वात है, एकवार हाँ तो कह। तेरे स्वभाव की स्वीकृति मे से स्वभावदशा की अस्ति आयेगी, स्वभावसामर्थ्य से इन्कार मत कर। सव प्रकार से अवसर आ चुका है, अपने द्रव्य मे दृष्टि करके देख, द्रव्य मे से सादि—अनन्त मोक्षदशा प्रगट होती है, उस द्रव्य की प्रतीति के वल से मोक्ष दशा प्रगट हो जाती है ॥ ३२१–३२२ ॥

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छहो द्रव्य मे क्रमवद्धपर्याय है। यदि जीव अपनी क्रमवद्धपर्याय की श्रद्धा करे तो उसकी क्रमवद्ध मोक्षपर्याय हुए बिना न रहे, क्योकि क्रमवद्ध की श्रद्धा का भार निज मे आता है। जिस वस्तु में से अपनी अवस्था आती है उस वस्तु पर दृष्टि रखने से मोक्ष होना है। पर द्रव्य मेरी अवस्था को कर देगा ऐसी दृष्टि के टूट जाने से और निज द्रव्य में दृष्टि रखने से राग की उत्पत्ति नही होती, अर्थात् वस्तु की क्रमवद्ध अवस्था होती है ऐसी दृष्टि होने पर स्वय ज्ञाता–दृष्टा हो जाता है और ज्ञाता–दृष्टा के बल से अस्थिरता को तोडकर सपूर्ण स्थिर होकर अल्पकाल मे ही मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। इसमे अनन्त पुरुषार्थ समागत है।

पुरुषार्थ के द्वारा स्वरूप की दृष्टि करने से और उस दृष्टि के बल से स्वरूप मे रमणता करने से चैतन्य मे शुद्ध क्रमबद्धपर्याय होती है। चैतन्य की शुद्ध क्रमबद्धपर्याय प्रयत्न के बिना नही होती। मोक्ष-मार्ग के प्रारम्भ से मोक्ष की पूर्णता तक सर्वत्र, सम्यक् पुरुषार्थ और ज्ञान का ही कार्य है।

बाह्य वस्तु का जो होना हो सो हो इस प्रकार क्रमबद्धता का निश्चय करना वास्तव में तब कहलाता है जब बाह्य वस्तु से

उदास होकर सबका ज्ञाता मात्र रह जाय, तभी उसके क्रमबद्ध का सच्चा निर्णय होता है। जो जीव अपने को पर का कर्ता मानता है और यह मानता है कि पर से अपने को सुख दुःख होता है उसे क्रमबद्धपर्याय की किंचित् मात्र भी प्रतीति नहीं है।

मैं द्रव्य हूँ और मेरे अनन्तगुण हैं, वे गुण पलटकर समय समय पर एक के बाद एक अवस्था होती है वह उल्टी सीधी नहीं होती और न एक ही साथ दो अवस्थायें एकत्रित होती हैं; कोई भी समय अवस्था के बिना—खाली नहीं जाता। केवलज्ञान और मोक्ष दशा भी मेरे गुण में से ही क्रमबद्ध प्रगट होती है। इस प्रकार क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होने पर अपनी पर्याय प्रगट होने के लिये किसी पर वस्तु पर लक्ष नहीं रहेगा और इसलिये किसी पर वस्तु पर रागद्वेष करने का कारण नहीं रहेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि समस्त पर पदार्थों का लक्ष छोड़कर आत्मनिरीक्षण में ही लग जाता है। ऐसा होने पर अपने में भी ऐसा आकुलता का विकल्प नहीं रहेगा कि 'मेरी पूर्ण शुद्धपर्याय कब प्रगट होगी' क्योंकि तीनकाल की क्रमबद्धपर्याय से भरा हुआ द्रव्य उसकी प्रतीति में आ गया है। तात्पर्य यह है कि जो क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा करता है वह जीव अवश्य ही आसन्न मुक्तिगामी होता है।

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होने पर द्रव्य की अवस्था चाहे जिससे हो किन्तु उसमें यह विचार (राग–द्वेष) कदापि नहीं होता कि—'यह ऐसा क्यों हुआ ? यदि ऐसा हुआ होता तो मुझे ठीक होता। क्रमबद्धपर्याय का निश्चय करनेवाले के यह श्रद्धा होती है कि इस द्रव्य की इस समय ऐसी ही क्रमबद्ध अवस्था होनी थी, जैसा ही हुआ है तब फिर वह उसमें राग या द्वेष क्यों करेगा ? मात्र जिस समय जिस वस्तु की जो अवस्था होती जाती है उसका वह मात्र ज्ञान ही करता है, बस वह ज्ञाता हो गया' ज्ञातारूप में रहकर वह अल्पकाल में ही केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्ति को प्राप्त करेगा। यह है क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा का फल।

क्रमवद्ध अवस्था का निर्णय उसी ज्ञायकभाव का अर्थात् वीतरागस्वभाव का निर्णय है और वह निर्णय अनन्त पुरुपार्थ से हो सकता है। पुरुषार्थ को स्वीकार किये बिना मोक्ष के ओर की क्रमवद्ध-पर्याय नही होती। जिसके ज्ञान मे पुरुपार्थ का स्वीकार नही होता वह अपने पुरुपार्थ को प्रारम्भ नही करता और इसलिये पुरुपार्थ के बिना उसे सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान नही होता। पुरुषार्थ को स्वीकार न करनेवाले की क्रमवद्धपर्याय निर्मल नही होती, किन्तु विकारी होगी। अर्थात् पुरुषार्थ को स्वीकार न करनेवाला अनन्त ससारी है और पुरुषार्थ को स्वीकार करनेवाला निकट मोक्षगामी है। चाहे क्रमवद्ध अवस्था का निर्णय कहो या पुरुषार्थवाद कहो—वह यही है।

प्रश्न—यदि क्रमवद्धपर्याय जव जो होनी हो वही हो तो फिर विकारीभाव भी जब होने हो तभी होगे न ?

उत्तर—अरे भाई ! तेरा प्रश्न विपरीत को लेकर उपस्थित हुआ है। जिसने अपने ज्ञान मे यह प्रतीति कर ली है कि 'विकारी पर्याय जब होनी थी तब हुई' तो उसकी रुचि कहाँ जाकर अटकी है ? विकार को जाननेवाले के ज्ञान की रुचि है या विकार की रुचि है ? विकार को यथार्थतया जानने का काम करनेवाला वीर्य तो अपने ज्ञान का है और उस ज्ञान का वीर्य विकार से हटकर स्वभाव के ज्ञान मे अटक रहा है, स्वभाव के ज्ञान मे अटका हुआ वीर्य विकार की या पर की रुचि मे कदापि नही अटकता, किन्तु स्वभाव के बल से विकार का अल्प काल मे क्षय होता है। जिसे विकार की रुचि है उसकी दृष्टि का बल (वीर्य का भार) विकारकी ओर जाता है। "जो होनी होती है वही पर्याय क्रमबद्ध होती है" इस प्रकार किसका वीर्य स्वीकार करता है, यह स्वीकार करनेवाले के वीर्य में पर मे सुखबुद्धि नही होती किन्तु स्वभाव में ही संतोष होता है।

जैसे किसी बडे आदमी के यहाँ शादी का अवसर हो और वह सब को आचूल निमत्रण देकर विविध प्रकार के मिष्टान्न जिमाये,—

इसी प्रकार यहाँ सर्वज्ञदेव के घर में आमूल निमंत्रण है; 'मुक्ति के मंडप में सबका आमंत्रण है। मुक्तिमंडप के हर्ष–मोज में सर्वज्ञ भगवान के द्वारा दिव्यध्वनि में परोसे गये न्यायों में से उच्च प्रकार के न्याय परोसे जाते हैं जिन्हें पचाने से आत्मा पुष्ट होता है।

यदि तुझे सर्वज्ञ भगवान होना हो तो तू भी इस बात को मान जो इस बात को स्वीकार करता है उसकी मुक्ति निश्चित है। लो! यह मुक्तिमंडप और इसका हर्ष–मोज इसे स्वीकार करो! अब गाथा ३२१–३२२ में जो वस्तुस्वरूप बताया है उसकी विशेष दृढ़ता के लिये ३२३ वीं गाथा कहते हैं। जो जीव पहले गाथा ३२१ ३२२ में कहे गए वस्तुस्वरूप को जानता है वह सम्यग्दृष्टि है और जो उसमें संशय करता है वह मिथ्यादृष्टि है—

एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए।
सो सद्दिट्ठि सुद्धो जो संकदि सो हु कुदिट्ठि ॥ ३२३ ॥

अर्थ—इस प्रकार निश्चय से सर्व द्रव्यों (जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल) तथा उन द्रव्यों की समस्त पर्यायों को जो सर्वज्ञ के आगमानुसार जानता है—श्रद्धा करता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है और जो ऐसी श्रद्धा नहीं करता—शंका संदेह करता है वह सर्वज्ञ के आगम के प्रतिकूल है—प्रगटरूप में मिथ्यादृष्टि है।

सर्वज्ञदेव ने केवलज्ञान के द्वारा जानकर जिन द्रव्यों और उनकी अनादि अनन्तकाल की समस्त पर्यायों को आगम में कहा है वे सब जिसके ज्ञान में और प्रतीति में जम गये हैं वे "सद्दिट्ठि सुद्धो' अर्थात् शुद्ध सम्यग्दृष्टि हैं। मूल पाठ में 'सो सदृष्टि शुद्धा' यह कह कर भार दिया है। पहली बात अस्ति की अपेक्षा से कही है और फिर नास्ति की अपेक्षा से कहते हैं कि 'शंकदि सो हु कुदिट्ठि' अर्थात् जो उसमें शंका करता है वह प्रगट रूप में मिथ्यादृष्टि है—सर्वज्ञ का शत्रु है।

स्वामी कार्तिकेय आचार्यदेव ने इस ३२१–३२२–३२३ वीं गाथाओं में गूढ़ रहस्य संकलित करके रख दिया है। सम्यग्दृष्टि जीव

वरावर जानता है कि त्रैकालिक समस्त पदार्थों की अवस्था क्रमवद्ध है। सर्वज्ञदेव और सम्यग्दृष्टि मे इतना अन्तर है कि सर्वज्ञदेव समस्त द्रव्यो कि क्रमवद्धपर्यायो को प्रत्यक्ष ज्ञान से जानते हैं और सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा समस्त द्रव्यो की क्रमवद्धपर्यायो को आगमप्रमाण से प्रतीति मे लेता है अर्थात् परोक्षज्ञान से निश्चय करता है। सर्वज्ञ के वर्तमान रागद्वेष सर्वथा दूर हो गये हैं। सम्यग्दृष्टि के भी अभिप्राय मे राग-द्वेष सर्वथा दूर हो गये हैं। सर्वज्ञभगवान केवलज्ञान से त्रिकाल को जानते हैं, सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि केवलज्ञान से नही जानता तथापि वह श्रुतज्ञान के द्वारा त्रिकाल के पदार्थों की प्रतीति करता है। उसका ज्ञान भी नि शक है। पर्याय प्रत्येक वस्तु का धर्म है, वस्तु स्वतन्त्रतया अपनी पर्यायरूप मे होती है। जानने पर 'यो कैसे हुई' ऐसी शका करनेवाले को वस्तु के स्वतन्त्र 'पर्यायधर्म' को और ज्ञान के कार्य की खवर नही है। ज्ञान का कार्य मात्र जानना है, जानने में यो कैसे हुआ, इस प्रकार की शका को स्थान ही कहाँ है? 'ऐसा कैसे' ऐसी शका करने का ज्ञान का स्वरूप ही नही है, किन्तु 'जो पर्याय होती है वह वस्तु के धर्मानुसार ही होती है,' इस प्रकार ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके ज्ञानी सवको नि शक रूप में जानता रहता है। ऐसे ज्ञान के बल से केवलज्ञान और अपनी पर्याय के बीच के अन्तर को तोडकर पूर्ण केवलज्ञान को अल्प काल मे ही प्रगट कर लेगा।

जो जीव वस्तु की क्रमबद्ध स्वतन्त्र पर्याय को नही मानता और यह मानता है कि 'मैं पर का कुछ कर सकता हूँ—उसमे परिवर्तन कर सकता हूँ और पर मुझे रागद्वेष कराता है' उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की श्रद्धा नही है, तथा वह सर्वज्ञ के आगम से प्रतिकूल प्रगट मिथ्या-दृष्टि है। जो यह मानता है कि जो सर्वज्ञ के ज्ञान मे प्रतिभासित हुआ है उसमे मैं परिवर्तन कर दूँ वह सर्वज्ञ के ज्ञान को नही मानता। जो सर्वज्ञ के ज्ञान की और उनकी श्री मुखवाणी के न्यायो को नही मानता वह प्रगटरूप मे मिथ्यादृष्टि है। सर्वज्ञदेव तीनकाल

और तीनलोक के समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को जानते हैं और सभी वस्तु की पर्यायें प्रगट रूप में उसीसे स्वयं होती हैं तथापि जो उससे विरुद्ध मानता है (सर्वज्ञ के ज्ञान से और वस्तु के स्वरूप से विरुद्ध मानता है) वह सर्वज्ञ का और अपने आत्मा का विरोधी एवं प्रगट रूप में मिथ्यादृष्टि है।

यद्यपि पर्याय क्रमबद्ध होती है किन्तु वह बिना पुरुषार्थ के नहीं होती। जिस ओर का पुरुषार्थ करता है उस ओर की क्रमबद्ध पर्याय होती है। यदि कोई कहे कि इस में तो नियत आ गया, तो उसके उत्तर में कहते हैं कि हे भाई! त्रिकाल की नियत पर्याय का निर्णय करनेवाला कौन है? जो त्रिकाल की पर्यायों को निश्चित करता है वह मानो द्रव्य को ही निश्चित करता है। जो पर के लक्ष से निज का नियत मानता है वह एकान्तवादी बातूनी और अपने स्वभाव के लक्ष से स्वयं स्वभाव में मिलकर—स्वभाव की एकता करके राग को दूर करके ज्ञायक हो गया है उसके अपने स्वभाव के पुरुषार्थ में नियत समाविष्ट हो जाता है। जहाँ स्वभाव का पुरुषार्थ है वहाँ नियम से मोक्ष है अर्थात् पुरुषार्थ में ही नियत आ जाता है। जहाँ पुरुषार्थ नहीं है वहाँ मोक्षपर्याय का नियत भी नहीं है।

अहो! महा सन्त मुनीश्वरों ने जंगल में रह कर आत्मस्वभाव का अमृत प्रवाहित किया है। आचार्यदेव धर्म के स्तंभ हैं आचार्यदेवों ने पवित्र धर्म को सहारा देकर उसे स्थिर रखा है। एक एक आचार्य देव ने अद्भुत कार्य किया है। साधकदशा में स्वरूप की शान्ति का वेदन करते हुए, परिषहों को जीतकर परम सत्य को जीवित रखा है। आचार्यदेव के कथन में केवलज्ञान की प्रतिध्वनि गर्जित हो चुकी है। ऐसे महान शास्त्रों की रचना करके आचार्यों ने अनेकानेक जीवों पर अपार उपकार किया है। उनकी रचना तो देखो पद पद पर *कितना गम्भीर रहस्य भरा है। यह तो सत्य की घोषणा है* इसके संस्कार अपूर्व वस्तु हैं, और इसे समझना मानो मुक्ति को वरण करने

का श्रीफल है—जो इसे समझ लेता है उसका मोक्ष निश्चित है।

प्रश्न—जो होना होता है, सो होता है, ऐसा मानने मे अनेकान्तस्वरूप कहाँ आया ?

उत्तर—जो होना होता है वह वैसा होता है अर्थात् पर का पर से होता है और मेरा मुझ से होता है—यह जानकर पर से हटकर जो अपनी ओर सन्मुख हुआ, उसने स्वभाव के लक्ष से माना है, उसकी मान्यता मे अनेकान्तस्वरूप है और 'मेरी पर्याय मेरे द्रव्य मे से क्रमवद्ध आती है, मेरी पर्याय मे से नही आती' इस प्रकार अनेकान्त है। तथा 'पर की पर्याय पर के द्रव्य मे से क्रमवद्ध जो होनी होती है सो होती है, मैं उसकी पर्याय को नही करता' इस प्रकार अनेकान्त है। 'जो होना होता है वही होता है' यह जानकर अपने द्रव्य की ओर उन्मुख होना चाहिये परन्तु 'जो होना होता है सो होता है' इस प्रकार जो मात्र पर से मानता है किन्तु अपने द्रव्य की पर्याय कहाँ से आती है इसकी प्रतीति नही करता अर्थात् पर लक्ष को छोडकर स्वलक्ष नही करता वह एकान्तवादी है।

प्रश्न—भगवान ने तो मोक्षमार्ग के पाँच समवाय कहे हैं और आप तो मात्र पुरुषार्थ-पुरुषार्थ ही रटा करते हो तो फिर उसमे अन्य चार समवाय किस प्रकार आते हैं ?

उत्तर—जहाँ जीव सच्चा पुरुषार्थ करता है वहाँ स्वयं अन्य चारो समवाय अवश्य होते हैं। पाच समवायो का सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

१—मैं पर का कुछ करनेवाला नही हूँ, मैं तो ज्ञायक हूँ मेरी पर्याय मेरे द्रव्य मे से आती है, इस प्रकार स्वभावदृष्टि करके पर की दृष्टि को तोडना सो पुरुषार्थ है।

२—स्वभावदृष्टि का पुरुषार्थ करते हुए जो निर्मलदशा प्रगट होती है वह दशा स्वभाव मे थी सो वही प्रगट हुई है, अर्थात् जो शुद्धता प्रगट होती है वह स्वभाव है।

३—स्वभावदृष्टि के पुरुषार्थ से स्वभाव में से जो क्रमबद्ध पर्याय उस समय प्रगट होनी थी वही शुद्धपर्याय उस समय प्रगट हुई सो नियति है। स्वभाव की दृष्टि के बल से स्वभाव में जो पर्याय प्रगट होने की शक्ति थी वही पर्याय प्रगट हुई है। बस स्वभाव में से जिस समय जो दशा प्रगट हुई वही पर्याय उसकी नियति है। पुरुषार्थ करनेवाले जीव के स्वभाव में जो नियति है वही प्रगट होती है बाहर से नहीं आती।

४—स्वदृष्टि के पुरुषार्थ के समय जो दशा प्रगट हुई वही उस वस्तु का स्वकाल है। पहले पर की ओर झुकता था उसकी जगह स्वोन्मुख हुआ सो यही स्वकाल है।

५—जब स्वभावदृष्टि से यह चार समवाय प्रगट हुए तब निमित्तरूप कर्म उसकी अपनी योग्यता से स्वयं हट गये यह कर्म है।

इसमें पुरुषार्थ स्वभाव, नियति और काल यह चार समवाय अस्तिरूप हैं अर्थात् ये चारों उपादान की पर्याय से सम्बद्ध हैं और पांचवां समवाय नास्तिरूप है वह निमित्त से सम्बद्ध है। यदि पांचवां समवाय आत्मा में लागू करना हो तो वह इस प्रकार है—परोन्मुखता से हटकर स्वभाव की ओर झुकने पर प्रथम के चारों अस्तिरूप में और कर्म को नास्तिरूप में—इस प्रकार आत्मा में पांचों समवायों का परिणमन हो गया है अर्थात् जिसके पुरुषार्थ में पांचों समवाय अपनी पर्याय में समाविष्ट हो जाते हैं। प्रथम चार अस्ति से और पांचवां नास्ति से अपने में है।

जब जीव ने सम्यक् पुरुषार्थ नहीं किया तब विकारीभाव के लिये कर्म निमित्त कहलाया और जब सम्यक् पुरुषार्थ किया तब कर्म का अभाव निमित्त कहलाया। जीव अपने में पुरुषार्थ के द्वारा चार समवायों को प्रकट करे और प्रस्तुत कर्म की दशा बदलनी न हो ऐसा हो ही नहीं सकता। जीव निज लक्ष करके चार समवायरूप परिणमित होता है और कर्म की ओर लक्ष करके परिणमित नहीं होता

(अर्थात् उदय मे युक्त नही होता) तब कर्म की अवस्थाको निर्जरा कहा जाता है। जीव जब स्वसन्मुख परिणमित होता है तब भले ही कर्म उदय मे हो किन्तु जीव के उस समय के परिणमन मे कर्म के निमित्त की नास्ति है। स्वय निज मे एकमेक हुआ और कर्म की ओर नही गया सो यही कर्म की नास्ति अर्थात् उदय का अभाव है।

आत्मा मे एक समय की स्व-सन्मुखदशा मे पाचो समवाय आ जाते हैं। जीव जब पुरुषार्थ करता है तब उसके पाचो ही समवाय एक ही समय मे होते हैं, स्व की प्रतीति मे पर की प्रतीति आ ही जाती है। ऐसी क्रमबद्ध वस्तुस्वरूप की प्रतीति मे केवलज्ञान का पुरुषार्थ आ गया है।

प्रश्न—जीव केवलज्ञान को प्रगट करने का पुरुषार्थ करे किन्तु उस समय कर्म की क्रमबद्ध अवस्था अधिक समय तक रहनी हो तो जीव के केवलज्ञान कैसे प्रगट होगा ?

उत्तर—अद्भुत है तुम्हारी शका, तुझे अपने पुरुषार्थ का ही विश्वास नही है इसलिये तेरी दृष्टि कर्म की ओर प्रलबित हुई है। जो ऐसी शका करता है कि 'सूर्य का उदय होगा और फिर भी यदि अन्धकार नष्ट न हुआ तो ?' वह मूर्ख है, इसी प्रकार 'मैं पुरुषार्थ करूँ और कर्म की स्थिति अधिक समय तक रहनी हो तो ?' जो ऐसी शका करता है उसे पुरुषार्थ की प्रतीति नही है, वह मिथ्यादृष्टि है। कर्म की क्रमबद्धपर्याय ऐसी ही है कि जब जीव पुरुषार्थ करता है तब वह स्वय ही दूर हो जाती है 'कर्म अधिक काल तक रहना हो तो ?' यह दृष्टि तो पर की ओर प्रलबित हुई है और ऐसी शका करनेवाले ने अपने पुरुषार्थ को पराधीन माना है। तुझे अपने आत्मा के पुरुषार्थ की प्रतीति है या नही ? मैं अपने स्वभाव के पुरुषार्थ से केवलज्ञान प्रगट करता हूँ और मैं जब अपनी केवलज्ञानदशा प्रगट करता हूँ तब घातियाकर्म होते ही नही, ऐसा नियम है। जिसे उपादान की श्रद्धा हो उसे निमित्त की शका नही होती। जो

निमित्त की शंका में भटक गया है उसने उपादान का पुरुषार्थ ही नहीं किया। जो उपादान है सो निश्चय है और जो निमित्त है सो व्यवहार है।

निश्चयनय संपूर्ण द्रव्य को लक्ष में लेता है। संपूर्ण द्रव्य की श्रद्धा में केवलज्ञान से कमी को स्वीकृति ही कहाँ है ? क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में द्रव्य की श्रद्धा है और द्रव्य की श्रद्धा में केवलज्ञान से हीन दशा की प्रतीति ही नहीं है। इसलिये क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में केवलज्ञान ही है।

सर्वज्ञ तो सभी वस्तु की पर्यायों के क्रम को जानता है इस लिये जो निम्नदशा में भी यह प्रतीति में लाता है कि 'सभी वस्तुओं की पर्यायें क्रमबद्ध हैं' वह जीव सर्वज्ञता को स्वीकार करता है और जो सर्वज्ञता को स्वीकार करता है वह आत्मज्ञ ही है क्योंकि सर्वज्ञता कभी भी आत्मज्ञता के बिना नहीं होती। जो जीव वस्तु की सम्पूर्ण क्रमबद्धपर्यायों को नहीं मानता वह सर्वज्ञता को नहीं मानता और जो सर्वज्ञता को नहीं मानता वह आत्मज्ञ नहीं हो सकता।

आत्मा की सम्पूर्ण ज्ञानशक्ति में सभी वस्तुओं की तीनों काल की पर्यायें जैसी होनी होती हैं वैसी ही ज्ञात होती हैं और जैसी ज्ञात होती हैं उसी प्रकार होती हैं—जिसे ऐसी प्रतीति हो जाती है उसे क्रमबद्धपर्याय की और सर्वज्ञ की शक्ति की प्रतीति हो जाती है और वह आत्मज्ञ हो जाता है' आत्मज्ञ जीव सर्वज्ञ अवश्य होता है।

वस्तु के प्रत्येक गुण की पर्याय प्रवाहवद्ध चलती ही रहती है। एक ओर सर्वज्ञ का केवलज्ञान परिणमित हो रहा है दूसरी ओर जगत के सर्व द्रव्यों की पर्याय अपने अपने भीतर क्रमबद्ध परिणमित हो रही है। अहो ! इसमें एक दूसरे का क्या कर सकता है समस्त द्रव्य अपने आप में ही परिणमित हो रहे हैं। बस ! ऐसी प्रतीति

करने पर ज्ञान अलग ही रह गया, सबमे से राग-द्वेष उड़ गया और मात्र ज्ञान रह गया, यही केवलज्ञान है।

परमार्थ से निमित्त के बिना ही कार्य होता है। विकाररूप मे या शुद्धरूप मे जीव स्वय ही निज पर्याय मे परिणमित होता है और उस परिणमन मे निमित्त की तो नास्ति है। कर्म और आत्मा का सम्मिलित परिणमन होकर विकार नही होता। एक वस्तु के परिणमन के समय परवस्तु की उपस्थिति हो तो इससे क्या? पर वस्तु का और निज वस्तु का परिणमन तो बिलकुल भिन्न ही है, इसलिये जीव की पर्याय निमित्त के बिना अपने आप से हो होती है, निमित्त कही जीव की रागद्वेषादि पर्याय मे घुस नही जाता। इसलिये निमित्त के बिना ही राग-द्वेष होता है। निमित्त की उपस्थिति होती है सो तो ज्ञान करने के लिये है, ज्ञान की सामर्थ्य होने से जीव निमित्त को जानता भी है, परन्तु निमित्त के कारण उपादान में कुछ भी नही होता।

वस्तु विज्ञान–अंक

इसमें भी प्रवचनसार की ११ वी गाथा के प्रवचन प्रगट किए गये हैं। इस गाथा की गहराई में भरा हुआ वस्तुस्वरूप का यथार्थ विज्ञान पूज्य श्री कानजी स्वामी ने विशिष्ट सूक्ष्मता और स्पष्टता के साथ इन प्रवचनों में प्रगट किया है। इससे इस का नाम 'वस्तुविज्ञान–अंक' रखा गया है।

वीतरागी विज्ञान में ज्ञात होता

विश्व के ज्ञेय पदार्थों का स्वभाव

[श्री प्रवचनसार गाथा ९९ पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचनो का सार]

सदवट्ठिद सहावे दव्व दव्वस्स जो हि परिणामो ।
अत्थेसु सो सहावो ट्ठिदिस भवणाससवद्धो ॥ ९९ ॥
सदवस्थित स्वभावे द्रव्य द्रव्यस्य यो हि परिणाम ।
अर्थेषु स स्वभावः स्थितिसभवनाशसवद्ध. ॥ ९९ ॥

'द्रव्यो स्वभाव विषे अवस्थित, तेथी 'सत्' सौ द्रव्य छे,
उत्पाद-ध्रौव्य-विनाशयुत परिणाम द्रव्यस्वभाव छे' । ९९ ।

यह गाथा अलौकिक है । इस गाथा मे आचार्यदेव ने वस्तु के स्वभाव का रहस्य भर दिया है । उत्पाद-व्यय-ध्रुवयुक्त परिणाम वह वस्तु का स्वभाव है और उस स्वभाव मे द्रव्य नित्य अवस्थित है, इसलिये द्रव्य सत् है ।

यहाँ द्रव्य के समय-समय के परिणाम मे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य समझाने के लिये आचार्यदेव क्षेत्र का उदाहरण देते हैं । द्रव्य का—(आत्मा का) असख्यप्रदेशी क्षेत्र एक साथ खुला-फैला हुआ है, इससे वह झट लक्ष मे आ जाये इसलिये उस क्षेत्र का उदाहरण देकर परिणाम के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य समझाते हैं ।

जिस प्रकार द्रव्य को सम्पूर्ण विस्तारक्षेत्ररूप से लक्ष में लिया जाये तो उसका वास्तु (क्षेत्र) एक है, उसी प्रकार सम्पूर्ण द्रव्य के तीनोकाल के समय-समय के परिणामो को एक साथ लक्ष में लिया जाये तो उसकी वृत्ति एक है, तथापि, जिस प्रकार क्षेत्र मे प्रदेशक्रम है उसी प्रकार द्रव्य के परिणमन मे प्रवाहक्रम है । द्रव्य के विस्तारक्रम का अश वह प्रदेश है उसी प्रकार द्रव्य के प्रवाहक्रम का अश सो परिणाम है ।

देखो, यह ज्ञेय अधिकार है। समस्त ज्ञेय सत् हैं और उन्हें जाननेवाला ज्ञान है। समस्त ज्ञेय जैसे हैं वसे एक साथ ज्ञान में ज्ञात होते हैं। यहाँ भीतरमें ज्ञान का सागर है और सामने स्व–पर समस्त ज्ञेयों का सागर भरा पड़ा है। बस इसमें मात्र वीतरागता ही आई; ज्ञेय में 'यह ऐसा क्यों ऐसा राग–द्वेष या फेरफार करना नहीं रहा। अहो! आचार्यदेव ने प्रत्येक गाथा में वीतरागी धरफी के पर्त लगाये हैं, प्रत्येक गाथा में से वीतरागता के टुकड़े निकलते हैं।

समयसार के सर्वविशुद्ध ज्ञान अधिकार में द्रव्य अपने क्रमबद्धपरिणाम से उत्पन्न होता है—यह बात करके वहाँ सम्यग्दर्शन का सम्पूर्ण विषय बतलाया है—द्रव्यदृष्टि कराई है। और यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है इससे, समस्त द्रव्य परिणमनस्वभाव में स्थित हैं—ऐसा कह कर पूर्ण ज्ञान और पूर्ण ज्ञेय बतलाये हैं —ऐसे सर्व ज्ञेयों के स्वभाव और उन्हें जाननेवाले ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा करना सो सम्यग्दर्शन है।

प्रत्येक आत्मा प्रत्येक परमाणु और धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य पृथक पृथक स्वयंसिद्ध पदार्थ हैं। सामान्यतया देखने पर उस प्रत्येक द्रव्य का क्षेत्र अखण्ड एक है, तथापि उस क्षेत्र के विस्तार का जो सूक्ष्म अंश है वह प्रदेश है। छह द्रव्यों में से परमाणु और काल का क्षेत्र तो एक प्रदेश ही है। आत्मा का असंख्यप्रदेशी क्षेत्र है। वह समग्रपने द्वारा एक होने पर भी उसका अन्तिम अंश प्रदेश है। इसे प्रकार यहाँ क्षेत्र का दृष्टान्त है और सिद्धान्तरूप में वस्तु के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य परिणामों को समझाना है। जिस प्रकार असंख्य प्रदेशी विस्तार एक साथ लेने से द्रव्य का क्षेत्र एक है उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य की अनादि–अनन्त परिणमनधारा समग्रपने के द्वारा एक है और उस संपूर्ण प्रवाह का छोटे से छोटा एक अंश सो परिणाम है। प्रत्येक परिणाम को पृथक् किये बिना समग्ररूप से द्रव्य के अनादि–अनन्त प्रवाह को देखने पर वह एक है। अनादि निगोद से लेकर अनन्त सिद्धदशा तक द्रव्य का परिणमनप्रवाह एक ही है। जिस प्रकार संपूर्ण क्षेत्र एक साथ फैला हुआ पड़ा हुआ है, उसमें

प्रदेशभेद से न देखा जाये तो द्रव्य का क्षेत्र एक ही है। उसी प्रकार त्रिकाली द्रव्य के प्रवाह मे परिणाम का भेद न किया जाये तो सपूर्ण प्रवाह एक ही है, और उस त्रैकालिक प्रवाहक्रम का प्रत्येक अश सो परिणाम है।

यहाँ प्रदेशो का विस्तारक्रम क्षेत्र अपेक्षा से है और परिणामो का प्रवाहक्रम परिणमन अपेक्षा से है। यहाँ क्षेत्र का दृष्टान्त देकर आचार्यदेव परिणामो का स्वरूप समझाना चाहते हैं।

यह, ज्ञान मे ज्ञात होने योग्य ज्ञेयपदार्थों का वर्णन है। कोई कहे कि ऐसी सूक्ष्म बात कैसे ज्ञात हो ?—किन्तु भाई ! यह सब ज्ञेय हैं इसलिये अवश्य ज्ञात हो सकते हैं, और तेरा ज्ञानस्वभाव समस्त ज्ञेयो को जान सकता है। आत्मा ज्ञाता है और स्वय स्वज्ञेय भी है। तथा अन्य जीव—पुद्गलादि परज्ञेय हैं। उस ज्ञान और ज्ञेय को कैसा प्रतीति मे लेने से सम्यक्त्व होता है उसकी यह बात है।

धर्मास्तिकाय आदि के असख्यप्रदेश ऐसे के ऐसे बिछे-फैले हुए हैं, आकाश के अनन्त प्रदेश ऐसे के ऐसे बिछे-फैले हुए हैं, उनमे कभी एक भी प्रदेश का क्रम आगे-पीछे नही होता, उसी प्रकार द्रव्य का अनादि अनन्त प्रवाहक्रम भी कभी खण्डित नही होता। प्रवाहक्रम कहकर आचार्यदेव ने अनादिअनन्त ज्ञेयो को एक साथ स्तब्ध बतला दिया है। 'प्रवाहक्रम' कहने से समस्त परिणामो का क्रम व्यवस्थित ही है, कोई भी परिणाम—कोई भी पर्याय आगे-पीछे नही होती। इस प्रतीति मे ही द्रव्यदृष्टि और वीतरागता है।

समय-समय के परिणामो का एकदम सूक्ष्म सिद्धान्त समझाने के लिये प्रदेशो का उदाहरण दिया है वह भी सूक्ष्म मालूम होता है। भीतर अपने लक्ष मे यदि वस्तु का ख्याल आये तो समझ मे आ सकता है। 'यह स्वरूप इस प्रकार कहना चाहते है'—ऐसा अतर् मे अपने को भास होना चाहिये। समझने के लिये जीने (सीढी) का दृष्टान्त लेते हैं—जिस प्रकार क्षेत्र से देखने पर पूरा जीना ऐसे

का ऐसा स्थित है, उसका छोटा अंश प्रदेश है, और जीने की लम्बाई से देखने पर एक के बाद एक सीढ़ियों का प्रवाह है, पूरे जीने का प्रवाह एक है, उसकी एक-एक सीढ़ी उसके प्रवाह का अंश है। उन सीढ़ियों के प्रवाह का क्रम टूटता नहीं है। दो सीढ़ियों के बीच में भी छोटे छोटे भाग किये जायें तो अनेक भाग होते हैं उस चढ़ते हुए प्रत्येक सूक्ष्म भाग को परिणाम समझना चाहिए। उसी प्रकार आत्मा असंख्य प्रदेशों में फैला हुआ एक है, और उसके क्षेत्र का प्रत्येक अंश सो प्रदेश है और सपूर्ण द्रव्य का अस्तित्व अनादि अनन्त प्रवाह रूप से एक है तथा उस प्रवाह के प्रत्येक समय का अंश सो परिणाम है। उन परिणामों का प्रवाहक्रम जीने की सीढ़ियों की भाँति क्रमबद्ध है उन परिणामों का क्रम आगे-पीछे नहीं होता। इसलिये सब कुछ जैसा है वैसा जानना ही आत्मा का स्वभाव है। इसके अतिरिक्त बीच में दूसरा कुछ डाले तो उसे वस्तु के सत्स्वभाव की श्रद्धा नहीं है। वस्तु जैसी हो वैसा जाने–माने तो ज्ञान–श्रद्धा सच्चे हों न! वस्तु जैसी हो उससे अन्य प्रकार से माने तो ज्ञान–श्रद्धा सच्चे नहीं होते इसलिये धर्म नहीं हो सकता।

यहाँ क्षेत्र के दृष्टान्त से परिणाम का स्वरूप समझाया है।

जिस प्रकार द्रव्य का क्षेत्र सो विस्तार और विस्तारक्रम के अंश सो प्रदेश। उसी प्रकार द्रव्य का परिणमन सो प्रवाह और प्रवाहक्रम के अंश सो परिणाम।

इस प्रकार क्षेत्र के दृष्टान्त द्वारा परिणाम सिद्ध करके एक बात पूरी की अब उन परिणामों का एक दूसरेमें अभाव बतलाते हैं।

'जिस प्रकार विस्तारक्रम का कारण प्रदेशों का परस्पर व्यतिरेक है उसी प्रकार प्रवाहक्रम का कारण परिणामों का परस्पर व्यतिरेक है।

द्रव्य में विस्तारक्रम अर्थात् क्षेत्र अपेक्षा से विस्तार का कारण प्रदेशों का परस्पर भिन्नत्व है। पहले प्रदेश का दूसरे में अभाव दूसरे

का तीसरे मे अभाव—इस प्रकार प्रदेशो के भिन्न–भिन्नपने के कारण विस्तारक्रम रचा हुआ है। यदि प्रदेशो का एक—दूसरे मे अभाव न हो, और एक प्रदेश दूसरे प्रदेश मे भी भावरूप से वर्तता हो अर्थात् सब मिलकर एक ही प्रदेश हो तो द्रव्य का विस्तार ही न हो, किन्तु द्रव्य एकप्रदेशी ही हो जाये। इसलिये विस्तारक्रम कहने से ही प्रदेश एक–दूसरे के रूप से नही है ऐसा आ जाता है। 'विस्तारक्रम' अनेकता का सूचन करता है, क्योकि एक मे क्रम नही होता। अब, अनेकता कब निश्चित होती है ? सबमे एकता न हो किन्तु भिन्नता हो, तभी अनेकता निश्चित होती है, और अनेकता हो तभी विस्तारक्रम होता है, इसलिये विस्तारक्रम का कारण प्रदेशो का परस्पर व्यतिरेक है।

इसी प्रकार अब विस्तारक्रम की भाँति प्रवाहक्रम का स्वरूप कहा जाता है। 'प्रवाहक्रम' कहते ही परिणामो की अनेकता सिद्ध होती है, और परिणामो की अनेकता कहते ही एक का दूसरे मे अभाव सिद्ध होता है। क्योकि यदि एक का दूसरे मे अभाव हो तभी अनेकता हो। यदि ऐसा न हो तो सब एक ही हो जाये। इसलिये विस्तारक्रम मे जिस प्रकार एक प्रदेश का दूसरे मे अभाव है उसी प्रकार प्रवाहक्रम मे एक परिणाम का दूसरे मे अभाव है। इस प्रकार परिणामो मे एक का दूसरे मे अभाव होने से अनादिअनत प्रवाहक्रम रचा हुआ है। ऐसा द्रव्य का स्वभाव है, ऐसे परिणामस्वभाव मे द्रव्य स्थित है।

यहाँ विस्तारक्रम तो दृष्टातरूप है। और प्रवाहक्रम सिद्धातरूप है। दृष्टान्त सर्वप्रकार से लागू नही होता। पुद्गल और काल द्रव्य का विस्तार तो एकप्रदेशी ही है इसलिये उसमे प्रदेशो के परस्पर व्यतिरेक का दृष्टान्त लागू नही होता, किन्तु प्रवाहक्रम का जो सिद्धान्त है वह समस्त द्रव्यो मे समान रीति से लागू होता है।

जैसे—२५ कमरो के विस्तारवाली दालान कब होती है ? यदि वे कमरे क्रमानुसार एक–दूसरे से पृथक् हो तब। उसी प्रकार आत्मा मे असख्यप्रदेशी विस्तारवाला क्षेत्र कब होता है ? जब कि एक

प्रदेश का दूसरे प्रदेश में अभाव हो और वे समस्त प्रदेश विस्तारक्रम में अखण्डरूप से एक-दूसरे के साथ सम्बन्धित हों।

इसी प्रकार (-प्रदेशों के विस्तारक्रम की भाँति) द्रव्य का अनादिअनंत अन्वय प्रवाहक्रम कब होता है? जब कि एक परिणाम का दूसरे परिणाम में अभाव हो तब। पहला परिणाम दूसरे परिणाम में नहीं है, दूसरा तीसरे में नहीं है—इस प्रकार परिणामों में व्यतिरेक होने से द्रव्य में प्रवाहक्रम है। द्रव्य के अनादि-अनंत प्रवाह में एक के बाद एक परिणाम क्रमशः होते रहते हैं ऐसे द्रव्य को ज्ञेय हैं। ज्ञेय द्रव्य की यथावत् प्रतीति करने से श्रद्धा में निर्विकल्पता और वीतरागता हो वह मोक्ष का मार्ग है।

अहो! एक ही द्रव्य के एक परिणाम में दूसरे परिणाम का भी जहाँ अभाव है वहाँ एक द्रव्य की अवस्था में दूसरा द्रव्य कुछ करे —यह तो बात ही कहाँ रहती है? एक तत्त्व दूसरे तत्त्व में कुछ करता है अथवा एक द्रव्य के क्रमपरिणामों में परिवर्तन किया जा सकता है—ऐसा जो मानता है उसे ज्ञेयतत्त्व की खबर नहीं है और ज्ञेयों को जाननेवाले अपने ज्ञानतत्त्व की भी खबर नहीं है।

कोई ऐसा माने कि मैंने अपनी बुद्धि से पैसा कमाया तो ऐसा नहीं है क्योंकि बुद्धि के जो परिणाम हुए वह आत्मा के प्रवाहक्रम में आया हुआ परिणाम है और पैसा आया वह पुद्गल के प्रवाहक्रम में आया हुआ पुद्गल का परिणाम है। दोनों द्रव्य अपने अपने प्रवाह क्रम में भिन्न भिन्नरूप से वर्त रहे हैं। आत्मा अपने परिणामप्रवाह में स्थित है और जड़ पदार्थ जड़ के परिणामप्रवाह में स्थित हैं। दोनों पदार्थों का अस्तित्व भिन्न भिन्न है। जिसने पदार्थों का ऐसा स्वरूप जाना उसके 'मैं पर में कुछ फेरफार करता हूँ या पर के कारण मुझ में कुछ फेरफार होता है'—ऐसी मिथ्याबुद्धि तो दूर हो गई, इसलिये वह समस्त द्रव्यों का ज्ञाता रह गया। केवली भगवान वीतरागरूप से सब के ज्ञाता हैं उसी प्रकार यह भी ज्ञाता ही है। अभी साधक

है इसलिये अस्थिरता के राग–द्वेष होते हैं किन्तु वह भी ज्ञाता का ज्ञेय है। ज्ञान और राग की एकतापूर्वक राग–द्वेष नही होते किन्तु ज्ञान के ज्ञेयरूप से राग–द्वेष होते हैं। इसलिये अभिप्राय से (श्रद्धा से) तो वह साधक भी पूर्ण ज्ञाता ही है।

यथार्थ वस्तु स्वरूप को जानने से स्वयं छहो द्रव्यो का ज्ञाता हो गया और छहो द्रव्य ज्ञान मे ज्ञेय हुए। इस ओर स्वय एक ज्ञाता और सामने छहो द्रव्य ज्ञेय,—ऐसा ज्ञातापना बतलाने के लिये 'स्वात्मानुभव मनन' मे कहा है कि—आत्मा सप्तम द्रव्य हो जाता है।

अहो! ज्ञान ज्ञातास्वरूप से है, उस ज्ञान की प्रतीति निर्विकल्पसम्यक्त्व का कारण है। प्रतिसमय उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप ऐसे द्रव्यस्वभाव को निश्चय करे तो ज्ञान जानने का ही कार्य करे, और ज्ञेय मे 'ऐसा क्यो' ऐसा मिथ्याबुद्धि का विकल्प न आये। अस्थिरता का विकल्प आये वह तो ज्ञान का ज्ञेय हो जाता है, क्योकि ज्ञान मे स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य प्रगट हो गया है इसलिये वह राग को भी ज्ञान से भिन्न ज्ञेयरूप से जानता है, इसलिये उस विकल्प मे 'ऐसा विकल्प क्यो ?' ऐसा विकल्प का जोर नही आता, किन्तु 'यह राग भी ज्ञेयरूप से सत् है'—ऐसा ज्ञान जान लेता है इसलिये ज्ञान की ही अधिकता रहती है,—दूसरे प्रकार से कहा जाये तो ज्ञान और राग का भेदज्ञान हो जाता है। और पश्चात् भी ऐसे ज्ञानस्वभाव के आधार से ज्ञेयो को जानने से उस ज्ञान का विकास होकर उसकी सूक्ष्मता और वीतरागता बढती जाती है, और क्रमशः पूर्ण वीतरागता और केवलज्ञान होने से सपूर्ण लोकालोक ज्ञेयरूप से एक साथ ज्ञान मेंं डूब जाता है।—ऐसा यह अधिकार है।

यहाँ आत्मा मे केवलज्ञान का सारा दल, और सामने लोकालोक ज्ञेय का दल। बस! ज्ञेय–ज्ञायकस्वभाव रह गया। ज्ञेय-ज्ञायकपने मे राग–द्वेष या फेरफार करना कहाँ रहा ? अहो! ऐसे स्वभाव

का स्वीकार तो कर ! इसकी स्वीकृति में वीतरागी श्रद्धा है और उसीमें वीतरागता तथा केवलज्ञान के बीज हैं।

❀

दो बातें हुई हैं—(१) प्रथम तो, क्षेत्र के दृष्टान्त से द्रव्य के अनादि-अनन्त प्रवाह की एक समप्रवृत्ति बतलाई, और उस प्रवाह क्रम के सूक्ष्म अंश सो परिणाम हैं—ऐसा बतलाया। इस प्रकार द्रव्य को सत् सिद्ध किया। उसमें अखण्ड अस्तित्व की अपेक्षा से एकत्व और परिणामों की अपेक्षा से अनेकत्व—इस प्रकार सत् में एकत्व-अनेकत्व भी सिद्ध किया

(२) उसके पश्चात् परिणामों का परस्पर व्यतिरेक सिद्ध किया।

इस प्रकार दो बातें सिद्ध कीं अब उनका विस्तार करके उसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य निकालते हैं।

जिस प्रकार वे प्रदेश अपने स्थान में स्व-रूप से उत्पन्न और पूर्वरूप से विनष्ट होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से रचित एक वास्तुपने द्वारा अनुत्पन्न—अविनष्ट होने से उत्पत्ति-संहार-ध्रौव्यात्मक हैं उसी प्रकार वे परिणाम अपने अवसर में स्व-रूप से उत्पन्न और पूर्वरूप से विनष्ट होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से रचित एक प्रवाहपने द्वारा अनुत्पन्न—अविनष्ट होने से उत्पत्ति-संहार-ध्रौव्यात्मक हैं।

इसमें प्रदेशों की बात दृष्टान्तरूप और परिणामों की बात सिद्धान्तरूप है।

प्रश्न—यह कौनसा विषय चल रहा है ?

उत्तर—यह वस्तुस्वभाव की बात हो रही है। उत्पाद-व्यय ध्रौव्यरूप परिणाम—वह पदार्थों का स्वभाव है और उस स्वभाव में सर्वदा स्थित द्रव्य सत् है—यह बात यहाँ सिद्ध करना है। उसमें प्रथम इतनी बात तो सिद्ध कर चुके हैं कि—द्रव्य की वृत्ति अनादि-अनन्त अखण्डरूप से एक होने पर भी उसके प्रवाहक्रम का अंश सो परिणाम है। वे-वे परिणाम एक दूसरे में नहीं वर्तते किन्तु उनका एक-दूसरे

में अभाव है। उसमे से अब विस्तार करके उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य निकालते हैं। उसमे भी प्रथम क्षेत्र का दृष्टान्त देते है।

सपूर्ण द्रव्य के एक क्षेत्र को ले तो उसके प्रदेश उत्पत्ति–विनाश रहित है, और उन प्रदेशो का परस्पर व्यतिरेक होने से, वे अपने अपने स्वक्षेत्र मे अपने से सत् और पूर्वप्रदेशरूप से असत् हैं,—अर्थात् वे प्रदेश अपने से उत्पादरूप हैं और पूर्व के प्रदेश की अपेक्षा से व्ययरूप है, इस प्रकार समस्त प्रदेश उत्पाद–व्ययरूप है और सर्व प्रदेशो का विस्तार साथ मे ले लेने से द्रव्य के प्रदेश ध्रौव्यरूप हैं। इस प्रकार समस्त प्रदेश एकसमय मे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप हैं। (यहाँ प्रदेशो के जो उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य कहे है वे क्षेत्र अपेक्षा से समझना।) इस उदाहरण के अनुसार समय समय के परिणामो मे भी उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यपना है। अनादि–अनन्त एक प्रवाह की अपेक्षा से परिणाम उत्पत्ति–विनाशरहित ध्रुव हैं, और वे परिणाम अपने अपने स्वकाल मे उत्पादरूप हैं तथा पूर्वपरिणाम की अपेक्षा से व्यय-रूप हैं। इस प्रकार समस्त परिणाम उत्पाद–व्यय–ध्रुवरूप है और ऐसे उत्पाद–व्यय–ध्रुवरूप परिणाम वह वस्तु का स्वभाव है।

यहाँ प्रथम समुच्चय क्षेत्र की और समुच्चय परिणामो की इकट्ठी बात लेकर उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य सिद्ध किये हैं। एक परि-णाम पृथक् करके उसकी बात फिर करेंगे। यह बात अकेले आत्मा की नही किन्तु समस्त द्रव्यो के स्वभाव की है। किन्तु यहाँ आत्मा की मुख्यता से बात की जाती है।

जिस प्रकार आत्मा के असख्य प्रदेशो मे एक समय मे क्षेत्र अपेक्षा से उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य लागू होता है, उसी प्रकार आत्मा के प्रवाहक्रम मे वर्तनेवाले समस्त परिणाम अपने अपने अवसर मे स्व-रूप से उत्पन्न हैं, पूर्वरूप से विनष्ट हैं और अखण्ड धारावाहीप्रवाह-रूप से वे उत्पन्न या विनष्ट नहीं है, इसलिये वे परिणाम उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप हैं।

का स्वीकार तो कर! इसकी स्वीकृति में वीतरागी श्रद्धा है और उसीमें वीतरागता तथा केवलज्ञान के बीज हैं।

❀

दो बातें हुई हैं:—(१) प्रथम तो, क्षेत्र के दृष्टान्त से द्रव्य के अनादि-अनन्त प्रवाह की एक समप्रवृत्ति बतलाई, और उस प्रवाह क्रम के सूक्ष्म अंश सो परिणाम हैं—ऐसा बतलाया। इस प्रकार द्रव्य को सत् सिद्ध किया। 'उसमें अखण्ड अस्तित्व की अपेक्षा से एकत्व और परिणामों की अपेक्षा से अनेकत्व—इस प्रकार सत् में एकत्व-अनेकत्व भी सिद्ध किया

(२) उसके पश्चात् परिणामों का परस्पर व्यतिरेक सिद्ध किया।

इस प्रकार दो बातें सिद्ध कीं अब उनका विस्तार करके उसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य निकालते हैं।

जिस प्रकार वे प्रदेश अपने स्थान में स्व-रूप से उत्पन्न और पूर्वरूप से विनष्ट होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से रचित एक वास्तुपने द्वारा अनुत्पन्न—अविनष्ट होने से उत्पत्ति-संहार-ध्रौव्या त्मक हैं उसी प्रकार वे परिणाम अपने अवसर में स्व-रूप से उत्पन्न और पूर्वरूप से विनष्ट होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से रचित एक प्रवाहपने द्वारा अनुत्पन्न-अविनष्ट होने से उत्पत्ति-संहार-ध्रौव्या त्मक हैं।

इसमें प्रदेशों की बात दृष्टान्तरूप और परिणामों की बात सिद्धान्तरूप है।

प्रश्न—यह कौनसा विषय चल रहा है ?

उत्तर—यह वस्तुस्वभाव की बात हो रही है। उत्पाद-व्यय ध्रौव्यरूप परिणाम—वह पदार्थों का स्वभाव है और उस स्वभाव में सदैव स्थित द्रव्य सत् है—यह बात यहाँ सिद्ध करना है। उसमें प्रथम इतनी बात तो सिद्ध कर चुके हैं कि—द्रव्य की वृत्ति अनादि-अनन्त अखण्डरूप से एक होने पर भी उसके प्रवाहक्रम का अंश सो परिणाम है। वे-वे परिणाम एक दूसरे में नहीं वर्तते किन्तु उनका एक-दूसरे

के कारण यहाँ परिणाम मे फेरफार होता है, कर्म के उदय से विकार होता है, या व्यवहार करते करते परमार्थ प्रगट होता है, अथवा तो पर्याय के आधार से पर्याय होती है'—ऐसी कोई बात बनी ही नही रहती। समस्त परिणाम अपने अपने अवसर मे द्रव्य मे से प्रगट होते हैं। जहाँ द्रव्य का प्रत्येक परिणाम अपने अपने अवसर मे 'सत्' है वहाँ निमित्त के सन्मुख देखना ही कहाँ रहा ?—और 'मैं पर मे फेरफार करूँ या पर से मुझमे फेरफार हो'—यह बात भी कहाँ रही ?—मात्र ज्ञाता और ज्ञेयपना ही रहता है, यही मोक्षमार्ग है, यही सम्यक् पुरुषार्थ है।

जो तीनकाल के परिणाम है वे द्रव्य के प्रवाहरूपी साकल की कडियाँ हैं। जिस प्रकार साकल की कडियाँ आगे–पीछे नही होती, जैसी हैं वैसी ही रहती हैं, उसीप्रकार द्रव्य के अनादि–अनन्त परिणाम अपने अवसर से आगे–पीछे नही होते, प्रत्येक परिणाम अपने अपने अवसर में सत् है। इसमे तीनकाल के परिणामो की एक अखण्ड साकल लेकर उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य की बात है। द्रव्य अपने परिणाम-स्वभाव मे स्थित है। इस समय परिणाम का स्वभाव क्या है वह बात चल रही है। प्रथम परिणामो का उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वभाव सिद्ध करते हैं, और पश्चात् द्रव्य उस परिणामस्वभाव मे स्थित होने से वह द्रव्य भी उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त सत् है—ऐसा अन्त मे सिद्ध करेंगे। ज्ञाता, वस्तु के ऐसे स्वभाव को जाने और ज्ञेयो मे फेरफार करना न माने वह सम्यक्त्व है, और पदार्थों के स्वभाव का ज्ञाता रहे उसमे वीतरागता है।

इस प्रवचनसार मे पहले तो ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन मे आत्मा का ज्ञानस्वभाव निश्चित् किया है, और पश्चात् दूसरे अधिकार मे ज्ञेयतत्त्वो का वर्णन किया है। आत्मा का स्वभाव ज्ञान ही है, और जीव—अजीव मे अपने अपने अवसर मे होनेवाले तीनकाल के परिणाम ज्ञेय हैं,—ऐसी प्रतीति करने से कही फेरफार या आगे–पीछे करने

प्रदेशों के उदाहरण में क्षेत्र–अपेक्षा से उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य है और सिद्धान्त में परिणाम–अपेक्षा से (प्रवाह अपेक्षा से काल अपेक्षा से) उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य है।

देखो तो ! क्रमबद्ध अपने अवसर में समस्त परिणामों के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य कहकर पूर्ण त्रैकालिक द्रव्य को ज्ञेयरूप से सामने रख दिया है। सर्वज्ञ की और ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के बिना किसी प्रकार यह बात भीतर नहीं जम सकती। इसकी प्रतीति में सम्यग्दर्शन है और चौंसठपुटी पीपर घुट रही हो इस प्रकार इसके घोंटने में अकेली वीतरागता ही घुटती है। अहो ! अद्भुत बात रखी है।

द्रव्य के समस्त परिणाम अपने अपने अवसर में स्व-रूप से उत्पन्न हैं पूर्वरूप से विनष्ट हैं और एक अखण्डप्रवाह की अपेक्षा से वे उत्पत्ति–विनाश रहित ध्रौव्य हैं।

यहाँ परिणामों का स्वअवसर कहकर आचार्यदेव ने अद्भुत बात की है। जितने एक द्रव्य के परिणाम उतने ही तीनकाल के समय और जितने तीनकाल के समय उतने ही एक द्रव्य के परिणाम। बस ! इतना निश्चित करे तो अपने ज्ञायकपने की प्रतीति हो जाये। द्रव्य के प्रत्येक परिणाम का अपना अपना अवसर भिन्न है। तीनकाल के परिणाम एक साथ ज्ञेय हैं और यहाँ आत्मा उनका ज्ञाता है। ऐसे ज्ञेय–ज्ञायकपने में बीच में राग नहीं रहा अकेली वीतरागता ही आई। प्रथम ऐसी श्रद्धा करने से वीतरागी श्रद्धा होती है और पश्चात् ज्ञानस्वभाव में स्थिरता होने से वीतरागी चारित्र होता है।

अहो ! द्रव्य के परिणामो का स्वअवसर कहो अथवा क्रमबद्धपरिणाम कहो उसकी प्रतीति करने से परिणामी–ऐसे त्रिकाली द्रव्य पर ही दृष्टि जाती है। परिणामों के स्वअवसर की यह बात स्वीकार करने से तो—'निमित्त आये तो परिणाम होता है या निमित्त

मे, द्रव्य के समस्त प्रदेशो को क्षेत्र-अपेक्षा से उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक सिद्ध किया।)

(४) तत्पश्चात् एक ही परिणाम मे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकपना बतलाया। (उसके दृष्टात मे, प्रत्येक प्रदेश मे क्षेत्र-अपेक्षा से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य बतलाये।)

(५) इस प्रकार परिणाम के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्ध करने के पश्चात् अन्त मे—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकपरिणाम के प्रवाह मे निरन्तर वर्त रहा है इसलिये द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित होने से सत् है—इस प्रकार सम्पूर्ण द्रव्य लेकर उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्ध किये हैं।

ऊपर जो पाँच बोल कहे हैं, उनमे से इस समय यह तीसरे बोल का विवेचन हो रहा है। अपने अपने अवसर मे त्रैकालिक समस्त परिणामो के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य की एक ही साथ बात करके यहाँ अकेला ज्ञायकभाव ही बतलाया है। यहाँ सम्पूर्ण ज्ञायकभाव और सामने सम्पूर्ण ज्ञेय एकसाथ ले लिया है।

यहाँ परिणामो मे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य समझाने के लिये प्रदेशो का उदाहरण लिया है। कोई ऐसा कहे कि—दूसरा कोई सरल उदाहरण न देकर आचार्यदेव ने प्रदेशो का ऐसा सूक्ष्म उदाहरण क्यो दिया ?—तो कहते हैं कि—भाई ! तू शान्त हो ! आचार्यदेव ने प्रदेशो का उदाहरण योग्य ही दिया है। क्योकि द्रव्य का सारा क्षेत्र एकसाथ अक्रम से फैला पडा है, और परिणामो की व्यक्तता तो क्रमश होती है, इसलिये प्रदेशो का उदाहरण शीघ्र ही समझ मे आ सकता है, और परिणामो की बात उससे सूक्ष्म है। यहाँ परिणामो के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की सूक्ष्म एव गम्भीर बात समझाना है इसलिये उदाहरण भी प्रदेशो का सूक्ष्म ही लेना पडा है। यदि बाह्य—स्थूल उदाहरण दें तो सिद्धान्त की जो सूक्ष्मता और गम्भीरता है वह ख्याल मे नही आयेगी, इसलिये ऐसे सूक्ष्म उदाहरण की ही यहाँ आवश्यकता है।

की बुद्धि नहीं रही इसलिये ज्ञान स्व में स्थिर हुआ। यही वीतरागता और केवलज्ञान का कारण है।

पदार्थों का जैसा सत्स्वभाव हो वैसा माने तो सत्मान्यता कहलाये किन्तु पदार्थों के सत्स्वभाव से अन्य प्रकार माने तो वह मान्यता मिथ्या है। यह 'सत्' की श्रद्धा कराते हैं। सत्' द्रव्य का लक्षण है और वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला है। द्रव्य के ऐसे सत् स्वभाव की प्रतीति करना सो सम्यग्दर्शन है। यही सच्चा 'तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शनम्' है। इस समय बात तो परिणामों की चल रही है किन्तु परिणाम के निर्णय में परिणामी द्रव्य का निर्णय भी आ जाता है। परिणाम तो क्षणिक हैं किन्तु वह परिणाम किसके! कहते हैं कि-त्रिकाली द्रव्य के। परिणाम अधर से नहीं होते किन्तु परिणामी के परिणाम हैं इसलिये परिणाम का निर्णय करने से परिणामी द्रव्य का ही निर्णय होता है, और अकेले परिणाम के ऊपर से रुचि हटकर त्रिकाली द्रव्यस्वभाव की ओर रुचि और ज्ञान झुकता है —यही सम्यग्दर्शन और वीतरागता का मूल है।

यह ९९ वीं गाथा अत्युत्तम है इसमें वस्तुस्थिति कि स्वरूप का अलौकिक रीति से वर्णन किया है। समस्त द्रव्य सत् है उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसहित परिणाम उसका स्वभाव है और ऐसे स्वभाव में सदैव प्रवर्तमान होने से द्रव्य भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला है — ऐसा इस गाथा में सिद्ध करना है।

(१) टीका में प्रथम तो द्रव्य में समग्रपने द्वारा अनादि-अनन्त प्रवाह की एकता और प्रवाहक्रम के सूक्ष्म अंश सो परिणाम-ऐसा बतलाया।

(२) फिर प्रवाहक्रम में प्रवर्तमान परिणामों का परस्पर व्यतिरेक सिद्ध किया।

(३) पश्चात् समुच्चयरूप से सम्पूर्ण द्रव्य के त्रिकाली परिणामों को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सिद्ध किया। (उसके दृष्टान्त

मे, द्रव्य के समस्त प्रदेशो को क्षेत्र-अपेक्षा से उत्पाद—व्यय—ध्रौव्यात्मक सिद्ध किया।)

(४) तत्पश्चात् एक ही परिणाम मे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकपना बतलाया। (उसके दृष्टात मे, प्रत्येक प्रदेश मे क्षेत्र-अपेक्षा से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य बतलाये।)

(५) इस प्रकार परिणाम के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्ध करने के पश्चात् अन्त मे—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकपरिणाम के प्रवाह मे निरन्तर वर्त रहा है इसलिये द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित होने से सत् है—इस प्रकार सम्पूर्ण द्रव्य लेकर उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्ध किये हैं।

ऊपर जो पाँच बोल कहे हैं, उनमे से इस समय यह तीसरे बोल का विवेचन हो रहा है। अपने अपने अवसर मे त्रैकालिक समस्त परिणामो के उत्पाद—व्यय—ध्रौव्य की एक ही साथ बात करके यहाँ अकेला ज्ञायकभाव ही बतलाया है। यहाँ सम्पूर्ण ज्ञायकभाव और सामने सम्पूर्ण ज्ञेय एकसाथ ले लिया है।

यहाँ परिणामो मे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य समझाने के लिये प्रदेशो का उदाहरण लिया है। कोई ऐसा कहे कि—दूसरा कोई सरल उदाहरण न देकर आचार्यदेव ने प्रदेशो का ऐसा सूक्ष्म उदाहरण क्यो दिया ?—तो कहते हैं कि—भाई! तू शान्त हो! आचार्यदेव ने प्रदेशो का उदाहरण योग्य ही दिया है। क्योकि द्रव्य का सारा क्षेत्र एकसाथ अक्रम से फैला पडा है, और परिणामो की व्यक्तता तो क्रमश होती है, इसलिये प्रदेशो का उदाहरण शीघ्र ही समझ मे आ सकता है, और परिणामो की बात उससे सूक्ष्म है। यहाँ परिणामो के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की सूक्ष्म एव गम्भीर बात समझाना है इसलिये उदाहरण भी प्रदेशो का सूक्ष्म ही लेना पडा है। यदि बाह्य—स्थूल उदाहरण दें तो सिद्धान्त की जो सूक्ष्मता और गम्भीरता है वह ख्याल मे नही आयेगी, इसलिये ऐसे सूक्ष्म उदाहरण की ही यहाँ आवश्यकता है।

आत्मा ज्ञानस्वभाव है। उस ज्ञान का स्वभाव 'जानना' है अर्थात् ज्ञान जानने का ही कार्य करता है। आत्मा में और पर में क्रमशः जो अवस्था हो वह ज्ञेय है उसे जैसी हो वैसा मात्र जानना ज्ञान का स्वभाव है किन्तु उसमें कुछ भी फेरफार करे ऐसा ज्ञान का स्वभाव नहीं है। ज्ञान करे क्या ? ज्ञान तो जानता है। जानने के अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञान का कार्य नहीं है। रागादि परिणाम हुए उन्हें भी जानना ज्ञान का कार्य है किन्तु उस राग को अपना त्रिकाली स्वभाव माने या हितकर माने ऐसा ज्ञान का कार्य नहीं है और उस रागपरिणाम को बदलकर आगे-पीछे करे ऐसा भी ज्ञान का काम नहीं है। बस ! स्व या पर, विकारी या अविकारी समस्त ज्ञेयों को जानना ही ज्ञान का कार्य है मैं रागादि परिणामों जितना ही हूँ—ऐसा ज्ञान नहीं मानता।—ऐसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति ही वीतरागता का मूल है।

इस जगत में अनंत जीव अनंत पुद्गल धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाश और असख्यात कालाणु—ऐसे छह प्रकार के पदार्थ हैं। उनमें से प्रत्येक आत्माका ज्ञानगुण छहों पदार्थों की क्रमशः होनेवाली समस्त अवस्थाओं को तथा द्रव्य-गुण को जाननेवाला है ऐसा प्रत्येक आत्मा का ज्ञानस्वभाव है। ऐसे ज्ञातास्वभाव को जो जानता है वह जीव रागपरिणाम को जानता अवश्य है किन्तु उस राग को अपना मूल स्वरूप नहीं मानता —राग को धर्म नहीं मानता राग को उपादेय नहीं मानता और रागपरिणाम को आगे-पीछे करनेवाला भी स्वभाव नहीं मानता। उसके अवसर में वह रागपरिणाम भी सत् है और उसे जाननेवाला ज्ञान भी सत् है द्रव्य के त्रिकाली प्रवाहक्रम में वह रागपरिणाम भी सत्रूप से आ जाता है इसलिये वह भी ज्ञान का ज्ञेय है। राग था इसलिये राग का ज्ञान हुआ—ऐसा नहीं है किन्तु ज्ञान का ही स्वभाव जानने का है। पूर्ण स्वज्ञेय को जाननेवाला ज्ञान उस राग को भी स्वज्ञेय के अंशरूप से जानता है ? त्रिकाली अंशों के ज्ञानरहित अंश का भी ज्ञान करता

है। यदि राग को स्वज्ञेय के अंशरूप से सर्वथा न जाने तो उस ज्ञान मे सपूर्ण स्वज्ञेय पूर्ण नही होता, इसलिये वह ज्ञान सच्चा नही होता; और यदि उस रागरूप अंश को ही पूर्ण स्वज्ञेय मान ले और त्रिकाली द्रव्यगुण को स्वज्ञेय न बनाये तो वह ज्ञान भी मिथ्या है। द्रव्य-गुण और समस्त पर्याये-यह तीनो मिलकर स्वज्ञेय पूरा होता है, उसमें अंशी-त्रिकाली द्रव्य-गुण की रुचि सहित अंश को और परज्ञेय को जानने का कार्य सम्यग्ज्ञान करता है। यथार्थ ज्ञान मे ज्ञेयो का स्वभाव कैसा ज्ञात होता है उसका यह वर्णन है।

समस्त पदार्थों का स्वभाव उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त है, प्रत्येक पदार्थ मे प्रतिसमय परिणाम होते हैं, वे परिणाम क्रमानुसार अनादि-अनन्त होते रहते है, इसलिये स्वअवसर मे होनेवाले परिणामो का प्रवाह अनादि-अनन्त है। उस प्रवाहक्रम का छोटे से छोटा प्रत्येक अंश भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप स्वभाववाला है। अनादि-अनन्त काल के प्रत्येक समय मे उस-उस समय का परिणाम स्वय सत् है। ऐसे सत् परिणामो को ज्ञान जानता है किन्तु उनमे कुछ भी फेरफार नही कर सकता। जैसे-अग्नि या बरफ आदि पदार्थों को आँख देखती है किन्तु उनमे कुछ भी फेरफार नही करती, उसी प्रकार ज्ञान की पर्याय भी ज्ञेयो को सत्रूप से जैसे हैं वैसा जानती ही है, उनमे कुछ फेरफार नही करती। स्वअवसर मे जब जो परिणाम है उस समय वही परिणाम होता है-अन्य परिणाम नही होते-ऐसा जहाँ ज्ञान मे निश्चित् किया वहाँ किसी भी ज्ञेय को उल्टा-सीधा करने की मिथ्याबुद्धिपूर्वक के राग-द्वेष नही होते।

अहा! देखो तो! क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में कितनी गभीरता है! द्रव्य की पर्याय पर से बदलती है—यह बात तो है ही नही, किन्तु द्रव्य स्वयं अपनी पर्याय को उल्टा-सीधा करना चाहे तो भी नही हो सकती। जिस प्रकार त्रिकाली द्रव्य पलटकर अन्यरूप नही हो जाता, उसी प्रकार उसका प्रत्येक समय का अंश—परिणाम भी बदलकर अन्यरूप नही होता। 'मैं जीव नही रहना चाहता किन्तु

अजीव हो जाता है'—इस प्रकार जीव को बदलकर कोई अजीव करना चाहे तो क्या वह बदल सकता है ? नहीं बदल सकता। जीव पलट कर कभी भी अजीवरूप नहीं होता। जिस प्रकार त्रिकाली सत् नहीं बदलता उसी प्रकार उसका वर्तमान सत् भी नहीं बदलता। जिस प्रकार त्रिकाली द्रव्य नहीं बदलता उसी प्रकार उसकी प्रत्येक समय की अनादि–अनंत अवस्थायें भी जिस समय जो हैं उनमें फेरफार या आगा–पीछा नहीं हो सकता। त्रिकाली प्रवाह के वर्तमान अंश अपने अपने काल में सत् हैं। बस पर में या स्व में कहीं भी फेरफार करने की बुद्धि न रही इसलिये ज्ञान ज्ञाता ही रह गया। पर्यायबुद्धि में रुकना न रहा। इस प्रकार ज्ञान जानने का काम करता है — ऐसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करना सो सम्यग्दर्शन है। अभी केवल ज्ञान होने से पूर्व वह जीव केवलीभगवान का लघुनन्दन हो गया। श्रद्धा अपेक्षा से तो वह साधक भी सर्व का ज्ञायक हो गया है।

समस्त पदार्थों के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वभाव को निश्चित करने से स्व में या पर में फेरफार करने की बुद्धि नहीं रही किन्तु ज्ञान में जानने का ही कार्य रहा। इसलिये ज्ञान में से ऐसा क्यों — ऐसी हाय–हाय (खलबलाहट) निकल गई और ज्ञान ज्ञाता होकर अपने में स्थिर हुआ—इसीमें ज्ञान का परमपुरुषार्थ है इसीमें मोक्ष मार्ग का और केवलज्ञान का पुरुषार्थ आ जाता है। पर में कर्तृत्व बुद्धिवाले को ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नहीं बैठती और न उसे ज्ञान के स्वभाव का—ज्ञायकपने का पुरुषार्थ भी ज्ञात होता है।

अहो ! समस्त द्रव्य अपने अपने अवसर में होनेवाले परिणामों में वर्त रहे हैं उसमें तू कहाँ परिवर्तन करेगा ? भाई ! तेरा स्वभाव तो देखने का है। तू देखनेवाले को द्रष्टा ही रख द्रष्टा को हाय–हाय करनेवाला न बना। दृष्टास्वभाव की प्रतीति ही सम्यग्दर्शन है। मैं पर में फेरफार करता हूं और पर मुझमें फेरफार करता है— ऐसा मिथ्यादृष्टि का भाव है, उसे ज्ञान और ज्ञेय के स्वभाव की प्रतीति

नही है। जगत के जड या चेतन समस्त द्रव्य अपने प्रवाह मे वर्तते हैं, उनमे जो–जो अश वर्तमान मे वर्त रहा है उसे कोई आगे–पीछे नही कर सकता। मैं ध्यान रखकर शरीर को बराबर रखूँ–ऐसा कोई माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। शरीर का प्रत्येक परमाणु उसके अपने प्रवाहक्रम मे वर्त रहा है, उसके क्रम को कोई बदल नही सकता। कही भी फेरफार करने का आत्मा के किसी भी गुण का कार्य नही है, किन्तु स्व को जानते हुए पर को जाने–ऐसा उसके ज्ञान–गुण का स्व–परप्रकाशक कार्य है। इसकी प्रतीति ही मुक्ति का कारण है।

प्रत्येक द्रव्य त्रिकाल परिणमित होता रहता है, उसके त्रिकाल के प्रवाह मे स्थित समस्त परिणाम उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप है। अपने स्वकाल मे वे सब परिणाम अपनी अपेक्षा से उत्पादरूप हैं, पूर्व के परिणाम की अपेक्षा से व्ययरूप हैं और परस्पर सम्बन्धवाले अखण्डप्रवाह की अपेक्षा से वे ध्रौव्य हैं। द्रव्य के समस्त परिणाम अपने अपने काल में सत् हैं। वे परिणाम स्वय अपनी अपेक्षा से असत् (व्ययरूप) नही हैं, किन्तु अपने पहले के–पूर्वपरिणाम की अपेक्षा से वे असत् (व्ययरूप) हैं। और प्रथम पश्चात् के भेद किये बिना अखण्डप्रवाह को देखो तो समस्त परिणाम ध्रौव्य हैं। जब देखो तब द्रव्य अपने वर्तमान परिणाम मे वर्त रहा है। द्रव्य त्रिकाल होने पर भी जब देखो तब वह वर्तमान परिणाम मे वर्त रहा है—कही भूत मे या भविष्य मे नही वर्तता। द्रव्य के तीनो काल के जो वर्तमान परिणाम हैं वे अपने से पहले के परिणाम के अभावस्वरूप है, और स्वपरिणामरूप से उत्पादरूप हैं, तथा वे ही अखण्डप्रवाहरूप से ध्रौव्यरूप हैं।

देखो, इसमे यह बात आ गई कि पूर्व के परिणाम अभावस्वरूप वर्तमान परिणाम हैं इसलिये पूर्व के सस्कार वर्तमान पर्याय मे नही आते, और न पूर्व का विकार वर्तमान मे आता है, पहले विकार

अजीव हो जाता है—इस प्रकार जीव को बदलकर कोई अजीव करना चाहे तो क्या वह बदल सकता है ? नहीं बदल सकता। जीव पलट कर कभी भी अजीवरूप नहीं होता। जिस प्रकार त्रिकाली सत् नहीं बदलता उसी प्रकार उसका वर्तमान सत् भी नहीं बदलता। जिस प्रकार त्रिकाली द्रव्य नहीं बदलता उसी प्रकार उसकी प्रत्येक समय की अनादि-अनंत अवस्थायें भी जिस समय जो हैं उनमें फेरफार या आगा-पीछा नहीं हो सकता। त्रिकाली प्रवाह के वर्तमान अंश अपने अपने काल में सत् हैं। बस पर में या स्व में कहीं भी फेरफार करने की बुद्धि न रही इसलिये ज्ञान ज्ञाता ही रह गया। पर्यायबुद्धि में रुकना न रहा। इस प्रकार ज्ञान जानने का कार्य करता है—ऐसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करना सो सम्यग्दर्शन है। अभी केवल ज्ञान होने से पूर्व वह जीव केवलीभगवान का लघुनन्दन हो गया। श्रद्धा अपेक्षा से तो वह साधक भी सब का ज्ञायक हो गया है।

समस्त पदार्थों के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव को निश्चित करने से स्व में या पर में फेरफार करने की बुद्धि नहीं रही किन्तु ज्ञान में जानने का ही कार्य रहा। इसलिये ज्ञान में से ऐसा क्यों—ऐसी हाय-हाय (-अकुलाहट) निकल गई और ज्ञान ज्ञाता होकर अपने में स्थिर हुआ—इसीमें ज्ञान का परमपुरुषार्थ है इसीमें मोक्ष मार्ग का और केवलज्ञान का पुरुषार्थ आ जाता है। पर में कर्तृत्व बुद्धिवाले को ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नहीं बैठती और न उसे ज्ञान के स्वभाव का—ज्ञायकपने का पुरुषार्थ भी ज्ञात होता है।

अहो ! समस्त द्रव्य अपने अपने अवसर में होनेवाले परिणामों में वर्त रहे हैं उनमें तू कहाँ परिवर्तन करेगा ? भाई ! तेरा स्वभाव तो देखने का है। तू देखनेवाले को देखा ही रख देखा को हाय-हाय करनेवाला न बना। स्वस्वभाव की प्रतीति ही सम्यग्दर्शन है। मैं पर में फेरफार करता हूँ और पर मुझमें फेरफार करता है—ऐसा मिथ्यादृष्टि का भाव है उसे ज्ञान और ज्ञेय के स्वभाव की प्रतीति

नही है। जगत के जड या चेतन समस्त द्रव्य अपने प्रवाह मे वर्तते हैं, उनमे जो-जो अंश वर्तमान मे वर्त रहा है उसे कोई आगे-पीछे नही कर सकता। मैं ध्यान रखकर शरीर को बराबर रखूँ-ऐसा कोई माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। शरीर का प्रत्येक परमाणु उसके अपने प्रवाहक्रम मे वर्त रहा है, उनके क्रम को कोई बदल नही सकता। कही भी फेरफार करने का आत्मा के किसी भी गुण का कार्य नही है, किन्तु स्व को जानते हुए पर को जाने-ऐसा उसके ज्ञान-गुण का स्व-परप्रकाशक कार्य है। इसकी प्रतीति ही मुक्ति का कारण है।

प्रत्येक द्रव्य त्रिकाल परिणमित होता रहता है, उसके त्रिकाल के प्रवाह मे स्थित समस्त परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप हैं। अपने स्वकाल मे वे सब परिणाम अपनी अपेक्षा से उत्पादरूप हैं, पूर्व के परिणाम की अपेक्षा से व्ययरूप हैं और परस्पर सम्बन्धवाले अखण्डप्रवाह की अपेक्षा से वे ध्रौव्य है। द्रव्य के समस्त परिणाम अपने अपने काल मे सत् हैं। वे परिणाम स्वय अपनी अपेक्षा से असत् (व्ययरूप) नही हैं, किन्तु अपने पहले के-पूर्वपरिणाम की अपेक्षा से वे असत् (व्ययरूप) हैं। और प्रथम पश्चात् के भेद किये विना अखण्डप्रवाह को देखो तो समस्त परिणाम ध्रौव्य हैं। जब देखो तब द्रव्य अपने वर्तमान परिणाम मे वर्त रहा है। द्रव्य त्रिकाल होने पर भी जब देखो तब वह वर्तमान परिणाम मे वर्त रहा है—कही भूत मे या भविष्य मे नही वर्तता। द्रव्य के तीनो काल के जो वर्तमान परिणाम हैं वे अपने से पहले के परिणाम के अभावस्वरूप हैं, और स्वपरिणामरूप से उत्पादरूप हैं, तथा वे ही अखण्डप्रवाहरूप से ध्रौव्यरूप हैं।

देखो, इसमे यह बात आ गई कि पूर्व के परिणाम अभावस्वरूप वर्तमान परिणाम हैं इसलिये पूर्व के सस्कार वर्तमान पर्याय मे नही आते, और न पूर्व का विकार वर्तमान मे आता है, पहले विकार

किया था इसलिये इस समय विकार हो रहा है-ऐसा नहीं है। वर्तमान परिणाम स्वतंत्रतया द्रव्य के आश्रय से होते हैं। यह निर्णय होने से ज्ञान और श्रद्धा द्रव्यस्वभावोन्मुख हो जाते हैं। जिस प्रकार त्रिकाली जड़ द्रव्य बदलकर चेतन या चेतन द्रव्य बदलकर जड़ नहीं होता उसी प्रकार उसका वर्तमान प्रत्येक अंश भी बदलकर दूसरे अंशरूप नहीं होता। जिस-जिस समय का जो अंश है उस-उस रूप ही सत् रहता है। बस भगवान सर्वज्ञरूप से ज्ञाता हैं उसी प्रकार ऐसी प्रतीति करनेवाला स्वयं भी प्रतीति में ज्ञाता ही रहा।

पर के कारण पर में कुछ होता है—यह बात तो दूर रही परन्तु द्रव्य स्वयं अपने अंश को आगे-पीछे करे ऐसी उस द्रव्य की शक्ति नहीं है पहले का अंश पीछे नहीं होता पीछे का अंश पहले नहीं होता।—ऐसा निर्णय करनेवाले को अंशबुद्धि दूर होकर अंशी की दृष्टि होने से सम्यक्त्वपरिणाम का उत्पाद और मिथ्यात्वपरिणाम का व्यय हो जाता है।

प्रभु! तू आत्मा वस्तु है तेरा ज्ञानगुण तेरे आधार से टिका है वह ज्ञाता स्वभाववाला है। और तेरे तीनकाल के परिणाम अपने अवसर के अनुसार द्रव्य में से होते रहते हैं। तेरे अपने वर्तमान में प्रवर्तमान अंश को कम-अधिक या आगे-पीछे कर सके-ऐसा तेरा स्वभाव नहीं है और न पर के परिणाम में भी फेरफार हो सकता है। स्व-पर समस्त ज्ञेयों को यथावत् जानने का ही तेरा स्वभाव है। ऐसे ज्ञातास्वभाव की प्रतीति में ही आत्मा का सम्यक्त्व है।

प्रश्न—मिथ्यात्वपरिणाम को बदलकर सम्यक्त्व करू— ऐसा तो लगता है न?

उत्तर—देखो ज्ञातास्वभाव की प्रतीति करने से सम्यग्दर्शन हुआ उसमें मिथ्यात्व दूर हो ही गया है। सम्यक्त्वपरिणाम का उत्पाद हुआ उस समय मिथ्यात्वपरिणाम वर्तमान नहीं होते इस

लिये उन्हे बदलना भी कहाँ रहा ? मिथ्यात्व को हटाकर सम्यक्त्व करूँ—ऐसे लक्ष से सम्यक्त्व नही होता, किन्तु द्रव्यसन्मुख दृष्टि होने से सम्यक्त्व का उत्पाद होता है उसमे पूर्व के मिथ्यात्वपरिणाम का अभाव हो ही गया है। इसलिये उस परिणाम को भी बदलना नही रहता। मिथ्यात्व दूर होकर सम्यक्त्वपर्याय प्रगट हुई उसे भी आत्मा जानता है, किन्तु परिणाम के किसी भी क्रम को वह आगे-पीछे नही करता।

अहो ! जिस-जिस पदार्थ का जो वर्तमान अश है वह कभी नही बदलता।—इसमे अकेला वीतरागीविज्ञान ही आता है। पर्याय को बदलने की बुद्धि नही है और 'ऐसा क्यो'—ऐसा विषमभाव नही है इसलिये श्रद्धा और चारित्र दोनो का मेल बैठ गया। इस ९९ वी गाथा मे दो नौ इकट्ठे होते हैं और उनमे से सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र दोनो इकट्ठे हो जायें ऐसा उच्च भाव निकलता है। जिस प्रकार नौ का अक अफर (जो फिर न सके) माना जाता है उसी-प्रकार यह भाव भी अफर हैं।

त्रिकाली द्रव्य के प्रत्येक समय के परिणाम सत् हैं—ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है, द्रव्य सत् है और पर्याय भी सत् है, यह 'सत्' जिसे नही बैठा और पर्यायो मे फेरफार करना मानता है उसे वस्तु के स्वभाव की, सर्वज्ञदेव की, गुरु की या शास्त्र की बात नही जमी है, और वास्तव में उसने उन किसी को नही माना है।

त्रिकाली वस्तु का वर्तमान कब नही होता ?—सदैव होता है। वस्तु का कोई भी वर्तमान अश ख्याल मे लो वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है। वस्तु को जब देखो तब वह वर्तमान मे वर्त रही है। इस वर्तमान को यहाँ स्वयसिद्ध सत् सिद्ध करते हैं। जिस प्रकार त्रिकाली सत् पलटकर चेतन मे से जड नही हो जाता, उसी प्रकार उसका प्रत्येक वर्तमान अश है वह सत् है, वह अश भी पलटकर आगे-पीछे नही होता। जिसने ऐसे वस्तुस्वभाव को जाना उसको अपने अकेले

ज्ञायकपने की प्रतीति हुई, वही धर्म हुआ। और उसने देव-गुरु-शास्त्र को भी यथार्थरूप से माना कहा जायेगा।

तीनोंकाल के समय में तीनोंकाल के परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य हैं कोई भी एकसमय का जो परिणाम है वह पहले नहीं था और फिर उत्पन्न हुआ इसलिये पूर्वपरिणाम के पश्चात्‌रूप से वह उत्पादरूप है और उस परिणाम के समय पूर्व के परिणाम का व्यय है—पूर्वपरिणाम का व्यय होकर वह परिणाम उत्पन्न हुआ है इसलिये पूर्वपरिणाम की अपेक्षा वही परिणाम व्ययरूप है, और तीनोंकाल के परिणाम के अखण्डप्रवाह की अपेक्षा से वह परिणाम उत्पन्न भी नहीं हुआ है और विनाशरूप भी नहीं है—है सत्ता है अर्थात् ध्रौव्य है। इस प्रकार अनादि-अनंत प्रवाह में जब देखो तब प्रत्येक परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभावरूप है।

किसी भी वस्तु की पर्याय में फेरफार करने की उमंग सो पर्यायबुद्धि का मिथ्यात्व है उसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नहीं है और ज्ञेयों के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव की भी खबर नहीं है। अरे भगवान! वस्तु 'सत्' है न? तो तू उस सत् के ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा उसमें क्या करेगा? तू सत् में फेरफार करना मानेगा तो सत् तो नहीं बदलेगा किन्तु तेरा ज्ञान असत् होगा। जिस प्रकार वस्तु सत् है उसी प्रकार उसे भगवान ने केवलज्ञान में जाना है वही वाणी द्वारा कहा गया है—नवीन नहीं कहा गया। भगवान ने तो जैसा सत् था वैसा मात्र ज्ञान किया है वाणी जड़ है उसे भी भगवान ने नहीं निकाला। भगवान का आत्मा अपने केवलज्ञानपरिणाम में वर्त रहा है और वाणी की पर्याय परमाणुओं के परिणमनप्रवाह में वर्त रही है तथा समस्त पदार्थ अपने सत् में वर्त रहे हैं। ज्ञायकमूर्ति आत्मा तो जानने का कार्य करता है कि—सत् ऐसा है। बस इसी का नाम सम्यग्दर्शन और वीतरागता का मार्ग है।

*भगवान कैसे हैं?—उत्तर—पर के कर्ता किसी में राग-*द्वेष या फेरफार करनेवाले नहीं हैं। भगवान की भाँति मेरे आत्मा का

स्वभाव भी जानने का है—इस प्रकार तू भी अपने ज्ञातास्वभाव की श्रद्धा कर और पदार्थों मे फेरफार करने की बुद्धि छोड़ ! जिसने अपने ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा की वह अस्थिरता के राग–द्वेष का भी ज्ञाता ही रहा। जिसने ऐसे ज्ञानस्वभाव को माना, उसीने अरिहंतदेव को माना, उसीने आत्मा को माना, उसीने गुरु को तथा शास्त्र को माना, उसीने नवपदार्थों को माना, उसीने छह द्रव्यो को तथा उनके वर्तमान अंश को माना, उसीका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

'जानना' आत्मा का स्वभाव है। बस, जानना ही आत्मा का पुरुषार्थ है वही आत्मा का धर्म है, उसी मे मोक्षमार्ग और वीतरागता है। अनन्त सिद्धभगवत भी प्रतिसमय पूर्ण जानने का ही कार्य कर रहे हैं।

ज्ञान मे स्व–पर दोनो ज्ञेय हैं। 'ज्ञान ज्ञाता है'–ऐसा जाना वहाँ ज्ञान भी स्वज्ञेय हुआ। ज्ञान को रागादि का कर्ता माने या बदलनेवाला माने तो उसने ज्ञान के स्वभाव को नही जाना है,—स्वय अपने को स्वज्ञेय नही बनाया इसलिये उसका ज्ञान मिथ्या है। वस्तु के समस्त परिणाम अपने अपने समय मे सत् हैं—ऐसा कहते ही अपना स्वभाव ज्ञायक ही है—ऐसा उसमे आ जाता है।

❀

इस गाथा में क्षेत्र का उदाहरण देकर पहले द्रव्य का त्रिकाली सत्पना बतलाया, उसके त्रिकाली प्रवाहक्रम के अश बतलाये, और उन अशो में (परिणामो मे) अनेकतारूप प्रवाहक्रम का कारण उनका परस्पर व्यतिरेक है—ऐसा सिद्ध किया। तत्पश्चात् सम्पूर्ण द्रव्य के समस्त परिणामो को स्व–अवसर मे वर्तनेवाला, उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप बतलाया। इतनी बात पूर्ण हुई।

अब, प्रत्येक समय के वर्तमान परिणाम को लेकर उसमे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यपना बतलाते हैं। पहले समय परिणामो की बात थी और अब यहाँ एक ही परिणाम की बात है। और फिर अन्त मे

परिणामी द्रव्य की ही बात लेकर द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य बतलायेंगे।

प्रश्न 'जिस प्रकार वस्तु का जो छोटे से छोटा (अन्तिम) अंश पूर्वप्रदेश के विनाशरूप है वही (अंश) तत्पश्चात् के प्रदेश के उत्पादस्वरूप है तथा वही परस्पर अनुस्यूति से रचित एकवास्तुपने द्वारा अनुभयस्वरूप है (अर्थात् दो में से एक स्वरूप भी नहीं है।) उसी प्रकार प्रवाह का जो छोटे से छोटा अंश पूर्वपरिणाम के विनाश स्वरूप है वही तत्पश्चात् के परिणाम के उत्पादस्वरूप है तथा वही परस्पर अनुस्यूति से रचित एक प्रवाहपने द्वारा अनुभयस्वरूप है।

असंख्यप्रदेशी आत्मा का कोई भी एक प्रदेश लो तो वह प्रदेश क्षेत्र अपेक्षा से पूर्व के प्रदेश के व्ययरूप है स्वयं अपने क्षेत्र के उत्पादरूप है और असंख्य क्षेत्र अपेक्षा से वही ध्रौव्य है।—यह दृष्टान्त है। उसी प्रकार अनादिअनन्त प्रवाहक्रम में वर्तमान प्रवर्तित कोई भी एक परिणाम पूर्व के परिणाम के व्ययरूप है तत्पश्चात् के परिणाम की अपेक्षा से उत्पादस्वरूप है, और पहले-पीछे का भेद किये बिना सम्पूर्ण प्रवाहक्रम के अंशरूपसे देखें तो वह परिणाम ध्रौव्यरूप है। इस प्रकार प्रत्येक परिणाम में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है।

समस्त परिणामों के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की बात ली तब अपने अपने अवसर में'—ऐसा कहकर उस प्रत्येक का स्वतंत्र स्वकाल बतलाया था। और यहाँ एक परिणाम की विवक्षा लेकर बात करने से उन शब्दों का उपयोग नहीं किया क्योंकि वर्तमान एक ही परिणाम लिया उसीमें उसका वर्तमान स्वकाल आ गया।

वर्तमान वर्तनेवाला परिणाम पूर्वपरिणाम के अभावरूप ही है इसलिये पूर्व के विकार का अभाव करू—यह बात नहीं रहती और वर्तमान में सत्रूप है इसमें भी फेरफार करना नहीं रहता। ऐसा समझने पर मात्र वर्तमान परिणाम की दृष्टि से परिणाम और परिणामी की एकता होने पर सम्यक्त्व का उत्पाद होता है, उसमें पूर्व

के मिथ्यात्व का व्यय है ही, मिथ्यात्व को दूर नही करना पडता। किसी भी परिणाम को मैं नहीं बदल सकता, मात्र जानता हूँ—ऐसा मेरा स्वभाव है,—इस प्रकार ज्ञानस्वभाव की प्रतीति में सम्यक्त्व-परिणाम का उत्पाद है, और उसीमे मिथ्यात्व का व्यय है ही। इस-लिये मिथ्यात्व को दूर करूँ और सम्यक्त्व प्रगट करूँ—यह बात ही नही रहती। जहाँ ऐसी बुद्धि वहाँ उस समय का सत्परिणाम स्वय ही सम्यक्त्व के उत्पादरूप और मिथ्यात्व से व्ययरूप है, तथा एक—दूसरे के साथ सबन्धित परिणामो के अखण्डप्रवाहरूप से वह परिणाम ध्रौव्य है। इस प्रकार प्रत्येक परिणाम उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त सत् है।

जिस प्रकार वस्तु सत् है उसी प्रकार उसका वर्तमान भी सत् है। वस्तु के त्रिकाली प्रवाह मे प्रत्येक समय का अश सत् है, वर्तमान समय का परिणाम पूर्व के कारण नही है किन्तु पूर्व के अभाव से ही अपनेरूप से सत् है। वह वर्तमान अश पर से नही किन्तु अपने से है। प्रत्येक समय का वर्तमान अश निरपेक्षरूप से अपने से ही उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप सत् है।

सर्वज्ञ के अतिरिक्त वस्तुस्वरूप का ऐसा वर्णन अन्यत्र नहीं हो सकता। भाई! तू क्या करेगा? जगत के तत्त्व सत् हैं, उनकी पहली पर्याय के कारण भी दूसरी पर्याय नही होती, तब फिर तू उसमे क्या करेगा? तू तो मात्र ज्ञाता रह! इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ मानेगा तो, वस्तु मे तो कुछ भी फेरफार नही होगा किन्तु तेरा ज्ञान मिथ्या होगा।

वस्तु का वर्तमान अ श है वह सत् है,—इस प्रकार यहाँ तो वर्तमान प्रत्येक समय के परिणाम को सत् सिद्ध करना है। द्रव्य के आधार से अ श है—यह बात इस समय नही लेना है। यदि द्रव्य के कारण परिणाम का सत्पना हो तब तो सभी परिणाम एक समान ही हो, इसलिये द्रव्य के कारण परिणाम का सत् है ऐसा

परिणामी द्रव्य की ही बात लेकर द्रव्य के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य बतलायेंगे ।

पुनश्च 'जिस प्रकार वस्तु का जो छोटे से छोटा (अन्तिम) अंश पूर्वप्रदेश के विनाशरूप है वही (अंश) तत्पश्चात् के प्रदेश के उत्पादस्वरूप है तथा वही परस्पर अनुस्यूति से रचित एकवास्तुपने द्वारा अनुभयस्वरूप है (अर्थात् दो में से एक स्वरूप भी नहीं है ।) उसी प्रकार प्रवाह का जो छोटे से छोटा अंश पूर्वपरिणाम के विनाश स्वरूप है वही तत्पश्चात् के परिणाम के उत्पादस्वरूप है तथा वही परस्पर अनुस्यूति से रचित एक प्रवाहपने द्वारा अनुभयस्वरूप है ।

असंख्यप्रदेशी आत्मा का कोई भी एक प्रदेश लो तो वह प्रदेश क्षेत्र अपेक्षा से पूर्व के प्रदेश के व्ययरूप है स्वयं अपने क्षेत्र के उत्पादरूप है और अखण्ड क्षेत्र अपेक्षा से वही ध्रौव्य है ।—यह दृष्टान्त है । उसी प्रकार अनादिअनन्त प्रवाहक्रम में वर्तमान प्रवर्तित कोई भी एक परिणाम पूर्व के परिणाम के व्ययरूप है तत्पश्चात् के परिणाम की अपेक्षा से उत्पादस्वरूप है, और पहले–पीछे का भेद किये बिना सम्पूर्ण प्रवाहक्रम के अंशरूपसे देखें तो वह परिणाम ध्रौव्यरूप है । इस प्रकार प्रत्येक परिणाम में उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य है ।

समस्त परिणामों के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य की बात ली तब 'अपने अपने अवसर में'—ऐसा कहकर उस प्रत्येक का स्वतंत्र स्वकाल बतलाया था । और यहाँ एक परिणाम की विवक्षा लेकर बात करने से उन शब्दों का उपयोग नहीं किया' क्योंकि वर्तमान एक ही परिणाम लिया उसीमें उसका वर्तमान स्वकाल आ गया ।

वर्तमान वर्तनेवाला परिणाम पूर्वपरिणाम के अभावरूप ही है इसलिये पूर्व के विकार का अभाव करू —यह बात नहीं रहती और वर्तमान में सत्‌रूप है इसमें भी फेरफार करना नहीं रहता । ऐसा समझने पर मात्र वर्तमान परिणाम की दृष्टि से परिणाम और परिणामी की एकता होने पर सम्यक्त्व का उत्पाद होता है, उसमें पूर्व

के मिथ्यात्व का व्यय है ही, मिथ्यात्व को दूर नही करना पडता। किसी भी परिणाम को मैं नही बदल सकता, मात्र जानता हूँ—ऐसा मेरा स्वभाव है,—इस प्रकार ज्ञानस्वभाव की प्रतीति में सम्यक्त्व-परिणाम का उत्पाद है, और उसीमे मिथ्यात्व का व्यय है ही। इस-लिये मिथ्यात्व को दूर करूँ और सम्यक्त्व प्रगट करूँ—यह वात ही नही रहती। जहाँ ऐसी वुद्धि वहाँ उस समय का सत्परिणाम स्वय ही सम्यक्त्व के उत्पादरूप और मिथ्यात्व से व्ययरूप है, तथा एक-दूसरे के साथ सवन्धित परिणामो के अखण्डप्रवाहरूप से वह परिणाम ध्रौव्य है। इस प्रकार प्रत्येक परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत् है।

जिस प्रकार वस्तु सत् है उसी प्रकार उसका वर्तमान भी सत् है। वस्तु के त्रिकाली प्रवाह मे प्रत्येक समय का अश सत् है, वर्तमान समय का परिणाम पूर्व के कारण नही है किन्तु पूर्व के अभाव से ही अपनेरूप से सत् है। वह वर्तमान अश पर से नही किन्तु अपने से है। प्रत्येक समय का वर्तमान अश निरपेक्षरूप से अपने से ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप सत् है।

सर्वज्ञ के अतिरिक्त वस्तुस्वरूप का ऐसा वर्णन अन्यत्र नहीं हो सकता। भाई! तू क्या करेगा? जगत के तत्त्व सत् हैं, उनकी पहली पर्याय के कारण भी दूसरी पर्याय नही होती, तव फिर तू उसमे क्या करेगा? तू तो मात्र ज्ञाता रह! इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ मानेगा तो, वस्तु में तो कुछ भी फेरफार नही होगा किन्तु तेरा ज्ञान मिथ्या होगा।

वस्तु का वर्तमान अ श है वह सत् है,—इस प्रकार यहाँ तो वर्तमान प्रत्येक समय के परिणाम को सत् सिद्ध करना है। द्रव्य के आधार से अ श है—यह वात इस समय नही लेना है। यदि द्रव्य के कारण परिणाम का सत्पना हो तब तो सभी परिणाम एक समान ही हो, इसलिये द्रव्य के कारण परिणाम का सत् है ऐसा

न लेकर प्रत्येक समय का परिणाम स्वयं सत् है और द्रव्य ही उस वर्तमान परिणामरूप से वर्तता हुआ सत् है—ऐसा सिया है। प्रवाह का वर्तमान अंश उस अंश के कारण ही है। अहो! प्रत्येक समय का अकारणीय सत् सिद्ध किया है। समय समय का सत् अहेतुक है। समस्त पदार्थों के तीनोंकाल के वर्तमान का प्रत्येक अंश निरपेक्ष सत् है ज्ञान उसे जैसे का तैसा—यथावत्—जानता है किन्तु वह सत्ता नहीं है। ज्ञान ने जाना इसलिये वह अंश वैसा है—ऐसी बात नहीं है। वह स्वयं सत् है।

वर्तमान परिणाम पूर्व परिणाम के व्ययरूप है इसलिये वर्तमान परिणाम को पूर्व परिणाम की भी अपेक्षा नहीं रही तब फिर परपदार्थ के कारण उसमें कुछ हो यह बात कहाँ रही? केवली भगवान को पहले समय केवलज्ञान हुआ इसलिये दूसरे समय वह केवलज्ञान रहा—ऐसा नहीं है, किन्तु दूसरे समय के उस वर्तमान परिणाम का केवलज्ञान उस समय के अंश से ही सत् है। पहले समय के सत् के कारण दूसरे समय का नहीं है। इसी प्रकार सिद्धभगवान को पहले समय की सिद्धपर्याय थी इसलिये दूसरे समय सिद्धपर्याय हुई—ऐसा नहीं है। सिद्ध में और समस्त द्रव्यों में प्रत्येक समय का अंश सत् है।

यहाँ एक अंश के परिणाम के उत्पाद—व्यय—ध्रौव्य में 'अपने अवसर में'—ऐसी भाषा का उपयोग नहीं किया' क्योंकि वर्तमान अवर्तित एक परिणाम की बात है और वर्तमान में जो परिणाम वर्तता है वही उसका स्वकाल है। तीनोंकाल के प्रत्येक परिणाम का जो वर्तमान है वह वर्तमान ही उसका स्वकाल है। अपने वर्तमान को छोड़कर वह आगे—पीछे नहीं होता। इस प्रकार वर्तमान प्रत्येक परिणाम का उत्पाद—व्यय—ध्रौव्यस्वभाव है।

❀ ❀ ❀

इस गाथा मे अभीतक चार बोल आये —

(१) द्रव्य का अखण्ड प्रवाह एक है और उसके क्रमश. होनेवाले अ श सो परिणाम हैं ।

(२) उन परिणामो मे अनेकता है, क्योकि परस्पर व्यति-रेक है ।

(३) तीनोकाल के परिणामो का पूरा दल लेकर समस्त परिणामो मे सामान्यरूप से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपना कहा।

(४) सम्पूर्ण प्रवाह का एक अ श लेकर प्रत्येक परिणाम मे उत्पाद—व्यय—ध्रौव्य कहे ।

—ऐसे चार प्रकार हुए। इस प्रकार परिणाम का उत्पाद—व्यय—ध्रौव्यपना निश्चित् करके, अब अन्त मे परिणामी द्रव्य मे उत्पाद—व्यय—ध्रौव्य सिद्ध करते हैं ।

इस प्रकार स्वभाव से ही त्रिलक्षण परिणामपद्धति में (परिणामो की परम्परा मे) प्रवर्तमान द्रव्यस्वभाव का अतिक्रमण न करने से सत्त्व को त्रिलक्षण ही अनुमोदना ।

द्रव्य के समस्त परिणाम उत्पाद—व्यय—ध्रौव्यस्वरूप हैं, और उन परिणामो के क्रम मे प्रवर्तमान द्रव्य भी उत्पाद—व्यय—ध्रौव्ययुक्त ही है। यदि परिणाम की भाँति द्रव्य भी उत्पाद—व्यय—ध्रौव्ययुक्त न हो तो वह परिणामो की परम्परा मे वर्त ही नही सकता। जो द्रव्य है सो उत्पाद—व्यय—ध्रौव्यरूप समस्त परिणामो की परम्परा मे वर्तता है इससे उसके भी उत्पाद—व्यय—ध्रौव्य हैं। परिणामो की पद्धति कही है अर्थात् जिस प्रकार साकल की कडियाँ आगे–पीछे नही होती उसी प्रकार परिणामो का प्रवाहक्रम नही बदलता, जिस समय द्रव्य का जो परिणाम प्रवाहक्रम में हो उस समय उस द्रव्य का वही परिणाम होता है—दूसरा परिणाम नही होता। देखो, यह वस्तु के सत् स्वभाव का वर्णन है। वस्तु का सत्स्वभाव है, सत् उत्पाद—

व्यय—ध्रौव्ययुक्त परिणाम है, और उसे भगवान् द्रव्य का लक्षण कहते हैं—'सद् द्रव्य लक्षण'। तेरा स्वभाव जानने का है। जैसा सद् है वैसा तू जान। सत् को उलटा-सीधा करने की बुद्धि करेगा तो तेरे ज्ञान में मिथ्यात्व होगा। वस्तुयें सत् हैं और मैं उनका ज्ञाता हूँ—ऐसी श्रद्धा होने के पश्चात् अस्थिरता का विकल्प उठता है किन्तु उसमें मिथ्यात्व का जोर नहीं जाता। इसलिये ऐसी ज्ञान और ज्ञेय की श्रद्धा के बल से उस अस्थिरता का विकल्प भी टूटकर वीतरागता और केवलज्ञान होगा ही!—ऐसी यह अलौकिक बात है।

यह विषय अत्यन्त सूक्ष्म परम सत्य एवं गम्भीर है।

सर्वज्ञदेव ने केवलज्ञान में वस्तु का स्वभाव जैसा है वैसा पूर्ण जाना, और वैसा ही वाणी में आ गया। जैसा वस्तु का स्वभाव है वैसा जानकर माने तो ज्ञान और श्रद्धा सम्यक् हो वस्तु के स्वभाव को यथावत् न जाने तथा अन्य रीति से माने तो सम्यकज्ञान और सम्यकश्रद्धा नहीं होते और उनके बिना व्रत-तपादि सच्चे नहीं होते। वस्तु के स्वभाव की स्थिति क्या है और उसके नियम कैसे सत्य हैं, उसका यह वर्णन है। इसे समझने के लिये ज्ञान में एकाग्र होने की आवश्यकता है।

देखो अभीतक क्या कहा गया है? प्रत्येक चेतन और जड़ पदार्थ स्वयं सत् है उसमें एक-एक समय में परिणाम होता है वह परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त है। मूल वस्तु त्रिकाल है वह वस्तु असंयोगी—स्वयंसिद्ध है, वह किसी से निमित्त नहीं है और न कभी उसका नाश होता है जब देखो तब वह सत्रूप से वर्तमान वर्त रही है।

प्रत्येक समय के परिणाम में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होता है उसमें वस्तु वर्त रही है। प्रत्येक द्रव्य में तीनकाल के जितने समय हैं उतने ही परिणाम हैं। जैसे—स्वर्ण के सौ वर्ष लिये जायें तो उन सौ वर्षों में हुई कड़ा कुण्डल हार इत्यादि समस्त अवस्थाओं का एक पिंड होता है, उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य तीनकाल के समस्त परिणामों का

पिण्ड है। वे परिणाम क्रमश'—एक के बाद एक होते हैं। तीनकाल के समस्त परिणामो का प्रवाह वह द्रव्य का प्रवाहक्रम है, और उस प्रवाहक्रम का एक समय का अ्रश सो परिणाम है। तीनकाल के जितने समय हैं उतने ही प्रत्येक द्रव्य के परिणाम हैं। उस प्रत्येक परिणाम मे उत्पाद, व्यय ओ्रौर ध्रौव्य—ऐसे तीन प्रकार सिद्ध किये हैं। अपने अपने निश्चित् अ्रवसर मे प्रत्येक परिणाम उत्पाद—व्यय—ध्रौव्यवाला है। किसी से किसी के परिणाम का उत्पाद हो या कोई परिणाम आ्रागे—पीछे हो—यह बात तो यहाँ से कही दूर उड गई, कोई परिणाम आगे—पीछे नही होते इस निर्णय मे तो सर्वज्ञता का निर्णय और ज्ञायक द्रव्य की दृष्टि हो जाती है।

आत्मा में वर्तमान जो ज्ञानअवस्था है उस अ्रवस्था मे ज्ञान-गुण वर्त रहा है, दूसरी अवस्था होगी तब उसमे वर्तमान वर्तेगा। श्रौर तीसरी अ्रवस्था के समय उसमे भी वर्तमान वर्तेगा। इस प्रकार दूसरी—तीसरी—चौथी सभी अवस्थाओ के प्रवाह का पिण्ड सो ज्ञान-गुण है। ऐसे अनन्तगुणो का पिण्ड सो द्रव्य है। द्रव्य के प्रतिसमय जो परिणाम होते हैं वे परिणाम अपनी अपेक्षा से उत्पादरूप हैं, पूर्व के अ्रभाव की अपेक्षा से व्ययरूप हैं, और अखण्ड प्रवाह मे वर्तनेवाले अ्रश-रूप से ध्रौव्य हैं। ऐसा उत्पाद—व्यय—ध्रौव्यवाला परिणाम है वह प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है, श्रौर ऐसे स्वभाव मे द्रव्य नित्य प्रवर्तमान है इसलिये द्रव्य स्वय भी उत्पाद—व्यय—ध्रौव्यस्वभाववाला है—ऐसा अनुमोदन करना।

प्रत्येक वस्तु पलटती हुई—नित्य है। यदि वस्तु अकेली 'नित्य' ही हो तो उसमे सुख—दु ख इत्यादि कार्य नही हो सकते, और यदि वस्तु एकान्त 'पलटती' ही हो तो त्रह त्रिकालस्थायी नही रह सकती, दूसरे ही क्षण उसका सर्वथा अ्रभाव हो जायेगा। इसलिये वस्तु अ्रकेली नित्य, या अकेली पलटती नही है, किन्तु नित्यस्थायी रहकर प्रतिक्षण पलटती है। इस प्रकार नित्य पलटती हुई वस्तु कहो या 'उत्पाद—व्यय—ध्रौव्ययुक्त सत्' कहो, उसका यह वर्णन है। अ्रल्प

व्यय—ध्रौव्ययुक्त परिणाम है और उसे भगवानने द्रव्य का लक्षण कहते हैं—'सत् द्रव्य लक्षण।' तेरा स्वभाव जानने का है। जैसा सत् है वैसा तू जान। सत् को उलटा-सीधा करने की बुद्धि करेगा तो तेरे ज्ञान में मिथ्यात्व होगा। वस्तुयें सत् हैं और मैं उनका ज्ञाता हूँ—ऐसी श्रद्धा होने के पश्चात् अस्थिरता का विकल्प उठता है किन्तु उसमें मिथ्यात्व का जोर नहीं आता। इसलिये ऐसी ज्ञान और ज्ञेय की श्रद्धा के बल से उस अस्थिरता का विकल्प भी टूटकर वीतरागता और केवलज्ञान होगा ही!—ऐसी यह अलौकिक बात है।

यह विषय अत्यन्त सूक्ष्म परम सत्य एवं गम्भीर है।

सर्वज्ञदेव ने केवलज्ञान में वस्तु का स्वभाव जैसा है वैसा पूर्ण जाना और वैसा ही वाणी में आ गया। जैसा वस्तु का स्वभाव है वैसा जानकर माने तो ज्ञान और श्रद्धा सम्यक् हो वस्तु के स्वभाव को यथावत् न जाने तथा अन्य रीति से माने तो सम्यक्ज्ञान और सम्यक्श्रद्धा नहीं होते और उनके बिना व्रत-तपादि सच्चे नहीं होते। वस्तु के स्वभाव की स्थिति क्या है और उसके नियम कैसे सत्य हैं उसका यह वर्णन है। इसे समझने के लिये ज्ञान में एकाग्र होने की आवश्यकता है।

देखो अभीतक क्या कहा गया है? प्रत्येक चेतन और जड़ पदार्थ स्वयं सत् है उसमें एक-एक समय में परिणाम होता है वह परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त है। मूल वस्तु त्रिकाल है, वह वस्तु असयोगी—स्वयंसिद्ध है, वह किसी से निमित्त नहीं है और न कभी उसका नाश होता है जब देखो तब वह सद्रूप से वर्तमान वर्त रही है।

प्रत्येक समय के परिणाम में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होता है उसमें वस्तु वर्त रही है। प्रत्येक द्रव्य में तीनकाल के जितने समय हैं उतने ही परिणाम हैं। जैसे—स्वर्ण के सौ वर्ष लिये जायें तो उन सौ वर्षों में हुई कड़ा कुण्डल हार इत्यादि समस्त अवस्थाओं का एक पिंड सोना है उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य तीनकाल के समस्त परिणामों का

पिण्ड है। वे परिणाम क्रमशः—एक के वाद एक होते हैं। तीनकाल के समस्त परिणामो का प्रवाह वह द्रव्य का प्रवाहक्रम है, और उस प्रवाहक्रम का एक समय का अंश सो परिणाम है। तीनकाल के जितने समय हैं उतने ही प्रत्येक द्रव्य के परिणाम हैं। उस प्रत्येक परिणाम मे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य–ऐसे तीन प्रकार सिद्ध किये हैं। अपने अपने निश्चित् अवसर मे प्रत्येक परिणाम उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाला है। किसी से किसी के परिणाम का उत्पाद हो या कोई परिणाम आगे–पीछे हो—यह वात तो यहाँ से कही दूर उड गई, कोई परिणाम आगे–पीछे नही होते इस निर्णय मे तो सर्वज्ञता का निर्णय और ज्ञायक द्रव्य की दृष्टि हो जाती है।

आत्मा मे वर्तमान जो ज्ञानअवस्था है उस अवस्था मे ज्ञान-गुण वर्त रहा है, दूसरी अवस्था होगी तव उसमे वर्तमान वर्तेगा। और तीसरी अवस्था के समय उसमे भी वर्तमान वर्तेगा। इस प्रकार दूसरी–तीसरी–चौथी सभी अवस्थाओ के प्रवाह का पिण्ड सो ज्ञान-गुण है। ऐसे अनन्तगुणो का पिण्ड सो द्रव्य है। द्रव्य के प्रतिसमय जो परिणाम होते हैं वे परिणाम अपनी अपेक्षा से उत्पादरूप हैं, पूर्व के अभाव की अपेक्षा से व्ययरूप हैं, और अखण्ड प्रवाह मे वर्तनेवाले अंश-रूप से ध्रौव्य हैं। ऐसा उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाला परिणाम है वह प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है, और ऐसे स्वभाव मे द्रव्य नित्य प्रवर्तमान है इसलिये द्रव्य स्वय भी उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वभाववाला है—ऐसा अनुमोदन करना।

प्रत्येक वस्तु पलटती हुई–नित्य है। यदि वस्तु अकेली 'नित्य' ही हो तो उसमे सुख–दु ख इत्यादि कार्य नही हो सकते, और यदि वस्तु एकान्त 'पलटती' ही हो तो वह त्रिकालस्थायी नही रह सकती, दूसरे ही क्षण उसका सर्वथा अभाव हो जायेगा। इसलिये वस्तु अकेली नित्य, या अकेली पलटती नही है, किन्तु नित्यस्थायी रहकर प्रतिक्षण पलटती है। इस प्रकार नित्य पलटती हुई वस्तु कहो या 'उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त सत्' कहो, उसका यह वर्णन है। अल्प

से अल्पकाल में होनेवाले परिणाम में वर्तता–वर्तता द्रव्य नित्यस्थायी है। उसके प्रत्येक परिणाम में उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यपना है–यह बात हो गई है। और वह द्रव्य स्वयं भी उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाला है। —यह बात चल रही है।

समस्त पदार्थ सत् है। पदार्थ 'है'—ऐसा कहते ही उसका सत्पना आ जाता है। पदार्थों का सत्पना पहले (७८ वीं गाथा में) सिद्ध कर चुके हैं। पदार्थ सत् हैं और सत् उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यसहित है। कोई भी वस्तु हो वह वर्तमान—वर्तमानरूप से वर्तती रहेगी न? कहीं भूत या भविष्य में नहीं रहेगी। वस्तु तो वर्तमान में ही वर्तती है और वह प्रत्येक समय का वर्तमान भी यदि उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य वाला न हो तो वस्तु का त्रिकाल परिवर्तनपना सिद्ध नहीं होगा। इस लिये प्रतिसमय होनेवाले उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाले परिणाम में ही वस्तु वर्तती है। जिस प्रकार द्रव्य त्रिकाली सत् है उसी प्रकार उसके तीनोंकाल के परिणाम भी प्रत्येक समय का सत् है। प्रत्येक परिणाम को उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त सत् सिद्ध करके यहाँ परिणाम में वर्तने वाले द्रव्य को उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त सिद्ध करते हैं।

द्रव्य का एक वर्तमान प्रवर्तित परिणाम अपने से उत्पादरूप है अपने पहले के परिणाम की अपेक्षा से व्ययरूप है और अखण्ड प्रवाह में वह ध्रौव्य है।—इस प्रकार परिणाम उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य वाला है और उस परिणाम में द्रव्य वर्तता है इसलिये द्रव्य भी उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाला ही है। परिणाम के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य सिद्ध करने से उस परिणाम में वर्तनेवाले परिणामी के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य सिद्ध हो ही जाते हैं इसलिये कहा है कि द्रव्य को त्रिक्षण अनुमोदना। अनुमोदना अर्थात् रुचिपूर्वक मानना सानंद संमत करना।

यदि समय–समय के परिणाम की यह बात समझ ले तो पर में खटपट करने का अहंकार न रहे और अकेले रागादि परिणामों पर

भी दृष्टि न रहे किन्तु परिणामी ऐसे त्रिकाली द्रव्य की दृष्टि हो जाये, और द्रव्यदृष्टि होने से आनन्द का अनुभव हुए विना न रहे। इसलिये कहा है कि 'सानद समत करना।'

जिस प्रकार त्रिकाली सत् मे जो चैतन्य है वह चैतन्य ही रहता है और जड है वह जड ही रहता है, चैतन्य मिटकर जड नही होता और न जड मिटकर चैतन्य होता है। उसी प्रकार एक समय के सत् मे भी—जो परिणाम जिस समय मे सत् है वह परिणाम उसी समय होता है–आगे–पीछे नही होता। जिस प्रकार त्रिकालो सत् है उसी प्रकार वर्तमान भी सत् है। जिस प्रकार त्रिकाली सत् पलटकर अन्यरूप नही हो जाता उसी प्रकार वर्तमान सत् पलटकर भी भूत या भविष्यरूप नही हो जाता। तीनो काल के समय समय के वर्तमान परिणाम अपना स्वसमय (स्व–काल) छोडकर पहले या पीछे के समय नही होते। जितने तीन काल के समय हैं उतने ही द्रव्य के परिणाम हैं, उनमे जिस समय का जो वर्तमान परिणाम है वह परिणाम अपना वर्तमानपना छोडकर भूत या भविष्य मे नही होता। वस ! प्रत्येक परिणाम अपने अपने काल मे वर्तमान सत् है। उस सत् को कोई वदल नही सकता। सत् को वदलना माने वह मिथ्यादृष्टि है, उसे ज्ञातास्वभाव की प्रतीति नही है। जिस प्रकार चेतन को वदलकर जड नही किया जा सकता उसी प्रकार द्रव्य के त्रिकाली प्रवाह मे उस–उस समय के वर्तमान परिणाम को आगे–पीछे नही किया जा सकता। अहो ! लोगो को अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नही है इसलिये ज्ञेयो के ऐसे व्यवस्थितस्वभाव की प्रतीति नही बैठती।

जिस प्रकार वस्तु अनादि–अनंत हैं उसी प्रकार उसका प्रत्येक समय का वर्तमान भी प्रवाहरूप से अनादि अनत है। वस्तु और वस्तु का वर्तमान—वह पहले–पीछे नही है। वस्तु का वर्तमान कब नही होता ? कभी भी वर्तमान बिना वस्तु नही होती। दोनो ऐसे के ऐसे अनादि अनत हैं। तीनोकाल मे से एक भी समय के वर्तमान को

निकाल दें तो त्रिकाली वस्तु ही सिद्ध नहीं हो सकती। तीनों काल के वर्तमान का पिण्ड सो सत् द्रव्य है और उन तीनों काल का प्रत्येक वर्तमान परिणाम अपने अवसर में सत् है वह अपने से उत्पादरूप है, पूर्व की अपेक्षा से व्ययरूप और अखण्ड वस्तु के वर्तमानरूप से ध्रौव्य रूप है। ऐसे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त परिणाम सो सत् है और वह द्रव्य का स्वभाव है। ऐसे सत् को कौन बदल सकता है? सत् को जैसे का तैसा जान सकता है किन्तु उसे कोई बदल नहीं सकता।

वस्तु के द्रव्य-गुण-पर्याय का जैसा स्वभाव है वैसा ज्ञान जानता है। अंश को अंशरूप से जानता है और त्रिकाली को त्रिकाली रूप से जानता है'—ऐसा स्वभाव जानने पर अकेले अंश की रुचि न रहने से त्रिकाली स्वभाव की रुचि की ओर श्रद्धा ढल जाती है। अंश को अंशरूप से और अंशी को अंशीरूप से श्रद्धा में लेने पर श्रद्धा का सारा बल अंश पर से हटकर त्रिकाली द्रव्य-गुण की ओर ढल जाता है। यही सम्यग्दर्शन है।

द्रव्य, गुण और पर्याय-यह तीनों स्वज्ञेय हैं। एक समय में द्रव्य-गुण-पर्याय का पिण्ड वह सम्पूर्ण स्वज्ञेय है। उसमें पर्याय एक समयपर्यन्त की है–ऐसा जानने से उस पर एक समयपर्यंत का ही बल रहा और द्रव्य भी त्रिकाली जानने से उस पर त्रिकाली बल आया इसलिये उसीकी मुख्यता हुई और उसकी रुचि में श्रद्धा का बल ढल गया। इस प्रकार स्वज्ञेय को जानने से सम्यक्त्व आ जाता है। इसलिये इस ज्ञेय–अधिकार का दूसरा नाम सम्यक्त्व–अधिकार भी है।

स्वज्ञेय परज्ञेय से बिलकुल भिन्न है। यहाँ राग भी स्वज्ञेय में आता है। समयसार में द्रव्यदृष्टि की प्रधानता से कथन है वहाँ स्वभावदृष्टि में राग की गौणता हो जाती है, इसलिये वहाँ तो 'राग आत्मा में होता ही नहीं राग जड़ के साथ तादात्म्यवाला है'—ऐसा कहा जाता है। वहाँ दृष्टि अपेक्षा से राग को पर में डाल दिया और द्रव्य की दृष्टि कराई। और यहाँ इस प्रवचनसार में ज्ञान अपेक्षा

से कथन है, इसलिये सम्पूर्ण स्वज्ञेय बताने के लिये राग को भी स्वज्ञेय में लिया है। दृष्टि अपेक्षा से राग पर मे जाता है और ज्ञान अपेक्षा से वह स्वज्ञेय मे आता है, परन्तु राग मे ही स्वज्ञेय पूरा नही हो जाता। रागरहित द्रव्य–गुण–स्वभाव भी स्वज्ञेय है। इस प्रकार द्रव्य–गुण–पर्याय तीनो को स्वज्ञेयरूप से जाना वहाँ राग मे से एकत्वबुद्धि छूटकर रुचि का बल द्रव्य की ओर ढल गया। अकेले राग को सम्पूर्ण तत्त्व स्वीकार करने से स्वज्ञेय सम्पूर्ण प्रतीति मे नही आता था। और द्रव्य–गुण–पर्यायरूप सम्पूर्ण स्वज्ञेय की प्रतीति होने से उस प्रतीति का बल त्रिकाली की ओर बढ जाता है, इसलिये त्रिकाली की मुख्यता होकर उस ओर रुचि का बल ढलता है। इस प्रकार इसमे भी द्रव्यदृष्टि आ जाती है।

स्वद्रव्य–गुण–पर्याय यह सब मिलकर स्वज्ञेय है, राग भी स्वज्ञेय है। किन्तु ऐसा जानने से रुचि का बल राग से हटकर अंतर मे ढल जाता है। त्रिकाली तत्त्व को भूलकर मात्र प्रगट अश को ही स्वीकार करती थी वह मिथ्यारुचि थी, द्रव्य–गुण–पर्याय तीनो को ज्ञेयरूप जानकर अव्यक्त—शक्तिरूप अतरस्वभावोन्मुख हो जाता है तभी स्वज्ञेय को पूर्ण प्रतीति मे लिया है और तभी उसने भगवान कथित द्रव्य–गुण–पर्याय का स्वरूप सुना—ऐसा कहा जाता है।

जैसे—गुड को गुडरूप से जाने और विष को विषरूप से जाने तो वह ज्ञान बराबर है, किन्तु गुड को विषरूप से जाने और विष को गुडरूप से जाने तो वह ज्ञान मिथ्या है। उसी प्रकार द्रव्य–गुण–पर्याय तीनो मिलकर एक समय मे सम्पूर्ण स्वज्ञेय है, उसमे द्रव्य को द्रव्यरूप से जाने, गुण को गुणरूप से जाने और पर्याय को पर्यायरूप से जाने तो ज्ञान सच्चा हो, किन्तु जैसा है वैसा न जाने या क्षणिक पर्याय को ही सम्पूर्ण तत्त्व मान ले अथवा तो क्षणिक पर्याय को सर्वथा ही न जाने–तो वह ज्ञान सच्चा नही होता। पदार्थ के सच्चे ज्ञान बिना श्रद्धा भी सच्ची नही होती, और ज्ञान–श्रद्धान बिना सम्यक्चारित्र, वीतरागता या मुक्ति नही होती।

त्रिकाली तत्त्व की रुचि की ओर उन्मुख होकर सम्पूर्ण स्वज्ञेय प्रतीति में आया तब परज्ञेय को जानने की ज्ञान की यथार्थ शक्ति विकसित हुई। ज्ञान की वर्तमान दशा रागसन्मुख रुककर उसे सम्पूर्ण स्वज्ञेय मानती थी वह ज्ञान मिथ्या था उसमें स्व-परप्रकाशक ज्ञान सामर्थ्य नहीं था। और ज्ञान की वर्तमानदशा में अन्तर की सम्पूर्ण वस्तु को ज्ञेय बनाकर उस ओर उन्मुख हो जाने से वह ज्ञान सम्यक हुआ और उसमें स्व-परप्रकाशकशक्ति विकसित हुई।

परिणाम के प्रवाहक्रम में वर्तनेवाला द्रव्य है-ऐसा निश्चित् किया वहाँ रुचि का बल उस द्रव्य की ओर ढलने से रुचि सम्यक हो गई। उस पर्याय में राग का अंश वर्तता है वह भी ज्ञान के ज्ञेय से बाहर नहीं है ज्ञान उसे स्व-ज्ञेयरूप से स्वीकार करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण स्वज्ञेय को (द्रव्य-गुण को तथा विकारी-अविकारी पर्यायों को) स्वीकार करने से रुचि तो द्रव्य-गुण-पर्याय की ओर उन्मुख होकर सम्यक् हो गई और ज्ञान में द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों का ज्ञान सच्चा हुआ।—ऐसा इस ज्ञेय अधिकार का वर्णन है।

ज्ञेय के तीनों अंशों को (—द्रव्य-गुण-पर्याय को) स्वीकार करे वह ज्ञान सम्यक है एक अंश को ही (राग को ही) स्वीकार करे तो वह ज्ञान मिथ्या है, और सर्वथा रागरहित स्वीकार करे तो वह ज्ञान भी मिथ्या है क्योंकि रागपरिणाम भी साधक के वर्तते हैं उन रागपरिणामों को स्व-ज्ञेयरूप से न जाने तो रागपरिणाम में *वर्तनेवाले द्रव्य को भी नहीं माना।*

रागपरिणाम भी द्रव्य के तीनकाल के परिणाम की पद्धति में आ जाता है रागपरिणाम कहीं द्रव्य के परिणाम की परम्परा से पृथक् नहीं है। तीनों काल के परिणामों की परम्परा में वर्त कर ही द्रव्य स्थित है।

निगोद या सिद्ध—कोई भी परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है, और उस परिणाम में द्रव्य वर्त रहा है। परिणाम की जो रीति

है—जो क्रम है—जो परम्परा है—जो स्वभाव है, उसमें द्रव्य अवस्थित है। वह द्रव्य अपने उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप परिणामस्वभाव का अतिक्रम नही करता। यहाँ 'स्वभाव' कहने से शुद्ध परिणाम ही नही समझना, किन्तु विकारी या अविकारी समस्त परिणाम द्रव्य का स्वभाव है, और वह स्वज्ञेय में आ जाता है। और जो ऐसा जानता है उसे शुद्धपरिणाम की उत्पत्ति होने लगती है। स्वज्ञेय में पर-ज्ञेय नही है और पर-ज्ञेय मे स्वज्ञेय नही है—ऐसा जानने मे ही वीतरागी श्रद्धा आ जाती है। क्योकि मेरा स्व-ज्ञेय पर-ज्ञेयो से भिन्न है—ऐसा निर्णय करने से किसी भी पर-ज्ञेय के अवलम्बन का अभिप्राय नही रहा इसलिये स्व-द्रव्य के अवलम्बन से सम्यक्श्रद्धा हुई। सम्पूर्ण द्रव्य सो परिणामी और उसका अ श सो परिणाम, उसमे पूर्ण परिणामी की अन्तर्दृष्टि बिना परिणाम का सच्चा ज्ञान नही होता। परिणामो की परम्परा को द्रव्य नही छोडता किन्तु उस परम्परा मे ही वर्तता है, —इसलिये लक्ष का बल कहाँ गया ?—द्रव्य पर। इस प्रकार इसमे भी द्रव्यदृष्टि आ जाती है।

द्रव्य तो अनत शक्ति का त्रिकाली पिण्ड है, और परिणाम तो एकसमयपर्यन्त का अ श है,—ऐसा जाना वहाँ श्रद्धा का बल अनत शक्ति के पिण्ड की ओर ढल गया इससे द्रव्य की प्रतीति हुई, और द्रव्य–पर्याय दोनो का यथार्थ ज्ञान हुआ।

प्रत्येक वस्तु अपने परिणामस्वभाव मे वर्त रही है, उस परिणाम के तीन लक्षण (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक) हैं, इसलिये उस परिणाम में प्रवर्तित वस्तु मे भी यह तीनो लक्षण आ जाते हैं, क्योकि वस्तु का अस्तित्व परिणामस्वभाव से पृथक् नही है। वस्तु 'है' ऐसा कहते ही उसमें उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य आ जाते हैं। उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य बिना 'वस्तु है'—ऐसा सिद्ध नही होता। परिणाम 'है' ऐसा कहने से वह परिणाम भी उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाला है। 'अस्तित्व (–सत्)' उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य के बिना नही होता। इसलिये सत्त्व को त्रिलक्षण अनुमोदना।

पहले यथार्थ श्रवण करके वस्तु को बराबर जाने कि–'यह ऐसा ही है' तो ज्ञान निश्चयक हो, और ज्ञान निश्चयक हो तभी अंतर में उसका मंथन करके निर्विकल्प अनुभव करे। किन्तु जहाँ ज्ञान ही मिथ्या हो और ऐसा होगा या वैसा—ऐसी शंका में झूलता हो वहाँ अन्तर में मंथन कहाँ से होगा ? निर्णय ज्ञानरहित मंथन भी मिथ्या होता है अर्थात् मिथ्याज्ञान और मिथ्याश्रद्धा होती है। पहले वस्तु स्थिति क्या है यह बराबर ध्यान में लेना चाहिये। वस्तु को बराबर ध्यान में लिये बिना किसका मंथन करेगा ?

वस्तु परिणाम का उल्लंघन नहीं करती क्योंकि परिणाम सत् है। यदि वस्तु परिणाम का उल्लंघन करे तब तो 'सत्' का ही उल्लंघन करे इसलिये वस्तु है ऐसा सिद्ध न हो। वस्तु तीनों काल के परिणाम के प्रवाह में वर्तती है।

अहो यह तो सम्पूर्ण द्रव्य का पिण्ड प्रतीति में लेने का मार्ग कहो अथवा पूर्ण ज्ञानपिण्ड की दृष्टि कहो सम्यक नियतिवाद कहो या यथार्थ मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ कहो वीतरागता कहो अथवा तो धर्म कहो—यह सब इसमें आ जाता है।

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि वस्तु का स्वभाव ही यह (उपरोक्तानुसार) है ऐसा वस्तुस्वभाव आनन्दपूर्वक मानना—संमत करना। जो ऐसे वस्तुस्वभाव को जाने उसे अपूर्व आनन्द प्रगट हुए बिना न रहे। जहाँ वस्तु को निःशरण जाना वहाँ आत्मा स्वयं सम्यक् स्वभाव में ढले बिना नहीं रहता—वस्तु सम्यक्-स्वभावरूप परिणमित होने पर अपूर्व आनन्द का अनुभव होता ही है। इसलिये यहाँ कहा है कि ऐसे वस्तुस्वभाव को आनन्द से मान्य करना।

देखो उस–उस परिणाम का वस्तु उल्लंघन नहीं करती इसलिये दृष्टि कहाँ गई ? वस्तु पर दृष्टि गई परिणाम–परिणामी की एकता हुई इसलिये सम्पूर्ण सत् एकाकार हो गया—सम्पूर्ण स्वज्ञेय अभेद हो गया। ऐसे स्वज्ञेय को जाने और माने वहाँ वस्तुस्वभाव की सम्यक्प्रतीति और अपूर्व आनन्द का अनुभव हुए बिना नहीं रहता।

जिस प्रकार केवलज्ञानी लोकालोक—ज्ञेय को सत् रूप से जानता है, उसी प्रकार सम्यक्‌दृष्टि भी उसे ज्ञेयरूप से स्वीकार करता है, और उसे जाननेवाले अपने ज्ञानस्वभाव को भी वह स्वज्ञेयरूप से स्वीकार करता है। वहाँ उसकी रुचि स्वभाववान् ऐसे अन्तरद्रव्य की ओर ढलती है, उस रुचि के बल से निर्विकल्पता हुए बिना नही रहती, निर्विकल्पता मे आनन्द का अनुभव भी साथ ही होता है।

प्रश्न—कितने काल मे कितने जीव मोक्ष मे जाते हैं–ऐसी तो कोई बात इसमें नही आई ?

उत्तर—इतने काल मे इतने जीव मोक्ष जाते हैं–ऐसी गिनती की यहाँ मुख्यता नही है, किन्तु मोक्ष कैसे हो ? उसकी मुख्य बात है। स्वय ऐसे यथार्थ स्वभाव को पहिचाने तो अपने को सम्यक्त्व और वीतरागता हो, और मोक्ष हो जाये। आत्मा का मोक्ष कब होता है—ऐसी काल की मुख्यता नही है, किन्तु आत्मा का मोक्ष किस प्रकार होता है यही मुख्य प्रयोजन है और इसीकी यह बात चल रही है।

जिस प्रकार सत् है उसी प्रकार स्वीकार करे तो ज्ञान सत् हो और शाति आये। इस गाथा मे दो सम–अक [९९] हैं और वह भी दो नौ। नव प्रकार के क्षायिकभाव हैं इसलिये नव का अक क्षायिकभाव सूचक है और दो नव इकट्ठे हुए इसलिये समभाव—वीतरागता बतलाते हैं,—क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र–दोनो साथ आ जायें ऐसी अपूर्व बात है। अक तो जो है सो है, किन्तु यहाँ अपने भाव का आरोप करना है न !

वर्तमान—प्रवर्तित परिणाम में वस्तु वर्त रही है, इसलिये सम्पूर्ण वस्तु ही वर्तमान मे वर्तती है। वह वस्तु उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाली है। यहाँ उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य कहकर सत् सिद्ध करते हैं।

आत्मा सत् जड़ सत् एक द्रव्य के अनंत गुण सत्, तीन काल के स्व अवसर में होनेवाले परिणाम सत् प्रत्येक समय के परिणाम उत्पाद-व्यय ध्रौव्यात्मक सत्! बस इस सत् में कोई फेरफार नहीं होता।—ऐसा स्वीकार किया वहाँ मिथ्यात्व को बदलकर सम्यक्त्व करू —यह बात नहीं रही। क्योंकि जिसने ऐसा स्वीकार किया उसने अपने ज्ञायकभाव को ही स्वीकार किया और वह जीव द्रव्यस्व भावोन्मुख हुआ वहाँ वर्तमान परिणाम में सम्यक्त्व का उत्पाद हुआ, और उस परिणाम में पूर्व के मिथ्यात्वपरिणाम का तो अभाव ही है। पूर्व के तीव्र पापपरिणाम वर्तमान परिणाम में बाधक नहीं होते, क्योंकि वर्तमान में उनका अभाव है। पूर्व के तीव्र पाप के परिणाम इस समय बाधक होंगे'—ऐसा जिसने माना उसको वह विपरीत मान्यता बाधक होती है किन्तु पूर्व के पाप तो उसको भी बाधक नहीं हैं। 'पूर्व के तीव्र पाप के परिणाम इस समय बाधक होंगे—ऐसा जिसने माना उसने द्रव्य को त्रिलक्षण नहीं जाना। यदि त्रिलक्षण द्रव्य के वर्तमान उत्पादपरिणाम में पूर्व परिणाम का व्यय है इसलिये 'पूर्व परिणाम बाधा देते हैं' ऐसा वह न माने किन्तु प्रतिसमय के वर्तमान परिणाम को स्वतंत्र सत् जाने और उसकी दृष्टि, वे परिणाम जिसके हैं ऐसे द्रव्य पर जाये इसलिये द्रव्यदृष्टि में उसे वीतरागता का ही उत्पाद होता जाये।—इस प्रकार इसमें मोक्षमार्ग आ जाता है।

वीतराग या राग ज्ञान या अज्ञान सिद्ध या निगोद किसी भी एक समयके परिणामको यदि निकाल दें तो द्रव्य का सत्पना ही सिद्ध नहीं होता क्योंकि उस-उस समय के परिणाम में द्रव्य वर्त रहा है, इसलिये अपने क्रमबद्धपरिणामों के प्रवाह में वर्तमान वर्त रहे द्रव्य को उत्पाद व्यय ध्रौव्यवाला ही आनन्द से मानना।

स्वभाव में अवस्थित द्रव्य सत् है—यह बात सिद्ध करने के लिये प्रथम तो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त परिणाम कहकर स्वभाव सिद्ध किया और उस स्वभाव में द्रव्य नित्य अवस्थित है—ऐसा अभी सिद्ध किया।

पहले परिणामो के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य सिद्ध करने के लिये प्रदेशो का उदाहरण था, वह परिणाम की बात पूर्ण हुई। और अब द्रव्य के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य मोतियो के हार का दृष्टान्त देकर समझायेंगे।

पहले 'वर्तमान' को सिद्ध किया और फिर उस 'वर्तमान मे वर्तनेवाला' सिद्ध किया। परिणाम किसके ? परिणामी के। उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त वर्तमान परिणाम और उस परिणाम मे वर्तनेवाला उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त द्रव्य वह सम्पूर्ण स्वज्ञेय है। इसकी प्रतीति सो सम्पूर्ण स्वज्ञेय की प्रतीति है। सम्पूर्ण स्वज्ञेय की प्रतीति करने से रुचि का बल वर्तमान अश पर से हटकर त्रिकाली द्रव्य की ओर ढलता है—यही सम्यग्दर्शन है।

परिणाम मे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य निश्चित् करने से भी दृष्टि द्रव्य पर जाती है, क्योकि द्रव्य अपने परिणामस्वभाव को नही छोडता।

परिणाम स्वभाव मे कौन वर्तता है ?—द्रव्य।

परिणाम को कौन नही छोडता ?—द्रव्य।

इसलिये ऐसा निश्चित् करने से दृष्टि द्रव्य पर जाती है, और द्रव्य-दृष्टि होते ही परिणाम मे सम्यक्त्व का उत्पाद और मिथ्यात्व का व्यय हो जाता है। इस प्रकार द्रव्य की दृष्टि मे ही सम्यक्त्व का पुरुषार्थ आ जाता है। इसके अतिरिक्त मिथ्यात्व दूर करने के लिये और सम्यक्त्व प्रगट करने के लिये दूसरा कोई अलग पुरुषार्थ करना नही रहता। द्रव्यदृष्टि ही सम्यक्दृष्टि है।

❀

जिसे धर्म करना हो उसे कैसा वस्तुस्वरूप जानना चाहिए—उसकी यह बात है। धर्म आत्मा की पर्याय है इसलिये वह आत्मा मे ही होता है। आत्मा का धर्म पर से नही होता और न पर के द्वारा

ही होता है। और पर्याय का धर्म पर्याय में से नहीं होता किन्तु द्रव्य में से होता है धर्म तो पर्याय में ही होता है किन्तु उस पर्याय द्वारा (पर्याय सन्मुख देखने से या पर्याय का आश्रय करने से) धर्म नहीं होता किन्तु द्रव्य की सन्मुखता से पर्याय में धर्म होता है। पर का तो आत्मा में अभाव है इसलिये परसन्मुख देखने से धर्म नहीं होता।

अब जिसे अपनी अवस्था में धर्म करना है उसे अधर्म को दूर करना है और धर्मरूप होकर आत्मा को अखण्ड बनाये रखना है। देखो इसमें 'धर्म करना है' ऐसा कहने से उसमें नवीन पर्याय के उत्पाद की स्वीकृति आ जाती है अधर्म को दूर करना है'—इस में पूर्व पर्याय के व्यय की स्वीकृति आ जाती है और आत्मा को अखण्ड बनाये रखना है—इसमें अखण्ड प्रवाह की अपेक्षा से ध्रौव्य का स्वीकार आ जाता है। इस प्रकार धर्म करने की भावना में वस्तु के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वभाव की स्वीकृति आ जाती है। यदि वस्तु में उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य न हों तो अधर्म दूर होकर धर्म की उत्पत्ति न हो और आत्मा अखण्ड स्थित न रहे। और ये उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य भी यदि काल के छोटे से छोटे भाग में न हों तो एक समय में अधर्म दूर करके धर्म न हो सके। इसलिये धर्म करनेवाले को वस्तु को प्रति समय उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वभाववाली जानना चाहिये।

द्रव्य–गुण नित्य हैं और पर्याय क्षणिक है उन तीनों को जानकर नित्यस्थायी द्रव्य की ओर वर्तमान पर्याय को सन्मुख किये *बिना धर्म नहीं होता। वस्तु में अवस्था तो नवीन–नवीन होती ही* रहती है। यदि नवीन अवस्था न हो तो धर्म कैसे प्रगट हो? और यदि पुरानी अवस्था का अभाव न हो तो अधर्म कैसे दूर हो? तथा परिणामों में अखण्डरूप से ध्रौव्यता न रहती हो तो द्रव्य स्थिर कहाँ रहे? इसलिये वस्तु में उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य यह तीनों जानना चाहिये। उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य यह लक्षण है और परिणाम लक्ष्य है तथा परिणाम में वस्तु वर्तती है इसलिये वह वस्तु भी उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य ऐसे त्रिलक्षणवाली ही है।

कोई भी परिणाम लो तो प्रवाह की अखण्ड धारा मे वह ध्रौव्य है, अपने स्वकाल अपेक्षा से उत्पादरूप है और पूर्व परिणाम अपेक्षा से व्ययरूप है। इस प्रकार परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत् है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षण है और परिणाम लक्ष्य है। परिणाम किसी अन्य पदार्थ के कारण नही होते किन्तु वे स्वय अपने अवसर मे सत् हैं। भगवान की वीतरागी मूर्ति के कारण या गुरु के उपदेश के कारण जीव को राग के अथवा ज्ञान के परिणाम हुए—ऐसा नही है, तथा पर जीव दु खी है इसलिये अपने को अनुकम्पा के भाव उत्पन्न हुए ऐसा भी नही है। किन्तु जीव के प्रवाहक्रम मे उस–उस भाववाले परिणाम सत् हैं। किसी भी द्रव्य के परिणाम की अखण्ड धारा मे एक भी समय का खण्ड नही पडता। यदि इस प्रकार परिणामो को जाने तो उन परिणामो के प्रवाह मे प्रवर्तमान द्रव्य को भी पहिचान ले, क्योकि अपने परिणाम के स्वभाव को कोई द्रव्य नही छोडता—उल्लघन नही करता।

ऐसा वस्तुस्वभाव समझे बिना कही बाहर से धर्म नही आ जायेगा। जैसे—लकडी के भारे बेचने से लखपति नही हुआ जा सकता किन्तु हीरा–माणिक की परख करना सीखे तो उसके व्यापार से लखपति होता है। (यह तो दृष्टान्त है।) उसी प्रकार अतर के चैतन्य–हीरे को परखने की कला मे ही धर्म की कमाई हो सकती है। इसके अतिरिक्त किन्ही बाह्य क्रिया–काण्डो से या शुभराग से धर्म की कमाई नही होती। देखो, यह तो द्रव्यानुयोग का सूक्ष्म विषय है, इसलिये अन्तर में सूक्ष्म दृष्टि करे तो समझ मे आ सकता है।

वस्तु में जिस काल मे जो परिणाम होता है वह सत् है, तीन काल के परिणाम अपने अपने काल मे सत् हैं और ऐसे परिणामो में द्रव्य वर्तमान वर्त रहा है। वह द्रव्य उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य ऐसे त्रिलक्षणवाला है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ऐसे तीन भिन्न भिन्न लक्षण नही हैं किन्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य यह तीनो मिलकर द्रव्य का एक लक्षण है।

ही होता है। और पर्याय का धर्म पर्याय में से नहीं होता किन्तु द्रव्य में से होता है धर्म तो पर्याय में ही होता है किन्तु उस पर्याय द्वारा (पर्याय सम्मुख देखने से या पर्याय का आश्रय करने से) धर्म नहीं होता किन्तु द्रव्य की सन्मुखता से पर्याय में धर्म होता है। पर का तो आत्मा में अभाव है इसलिये परसन्मुख देखने से धर्म नहीं होता।

अब जिसे अपनी अवस्था में धर्म करना है उसे अधर्म को दूर करना है और धर्मरूप होकर आत्मा को अखण्ड बनाये रखना है। देखो इसमें 'धर्म करना है' ऐसा कहने से उसमें नवीन पर्याय के उत्पाद की स्वीकृति आ जाती है 'अधर्म को दूर करना है'—उस में पूर्व पर्याय के व्यय की स्वीकृति आ जाती है और आत्मा को अखण्ड बनाये रखना है—इसमें अखण्ड प्रवाह की अपेक्षा से ध्रौव्य का स्वीकार आ जाता है। इस प्रकार धर्म करने की भावना में वस्तु कि उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वभाव की स्वीकृति आ जाती है। यदि वस्तु में उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य न हों तो अधर्म दूर होकर धर्म की उत्पत्ति न हो और आत्मा अखण्ड स्थित न रहे। और वे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य भी यदि काल के छोटे से छोटे भाग में न हों तो एक समय में अधर्म दूर करके धर्म न हो सके। इसलिये धर्म करनेवाले को वस्तु को प्रति समय उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वभाववाली जानना चाहिये।

द्रव्य–गुण नित्य हैं और पर्याय क्षणिक है उन तीनों को जानकर नित्यस्थायी द्रव्य की ओर वर्तमान पर्याय को उन्मुख किये बिना धर्म नहीं होता। वस्तु में अवस्था तो नवीन–नवीन होती ही रहती है। यदि नवीन अवस्था न हो तो धर्म कैसे प्रगट हो? और यदि पुरानी अवस्था का अभाव न हो तो अधर्म कैसे दूर हो? तथा परिणामों में अखण्डरूप से ध्रौव्यता न रहती हो तो द्रव्य स्थित कहाँ रहे? इसलिये वस्तु में उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य यह तीनों जानना चाहिये। उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य यह लक्षण है और परिणाम लक्ष्य है, तथा परिणाम में वस्तु वर्तती है इसलिये वह वस्तु भी उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य ऐसे त्रिलक्षणवाली ही है।

परिणाम की धारा मे वर्त रहा द्रव्य है। अपने प्रवाहक्रम मे अपने स्वकाल मे उसके परिणाम हुए हैं। और व्रत या क्रोधादि जीव के परिणाम हुए उसमे वह जोवद्रव्य वर्तता है। समस्त द्रव्य अपने अपने परिणाम मे भिन्न-भिन्न वर्तते हैं। उनमे एक के परिणाम के कारण दूसरे के परिणाम हो या रुकें—ऐसा माननेवाला मूढ है, भगवान कथित त्रिलक्षण वस्तुस्वभाव को उसने नही जाना है।

वस्तु प्रतिसमय अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को करेगी या पर के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य करने जायेगी ? परवस्तु भी अपने स्वभाव से ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाली है। वस्तु अपने वर्तमान परिणाम का उल्लघन करके दूसरे के परिणाम करने जाये—ऐसा कभी नही हो सकता। निमित्त के बल से उपादान के परिणाम हो यह बात इसमे कही नही रहती। प्रत्येक वस्तु स्वय नित्य परिणामी स्वभाववाली है—'परिणमन करता हुआ-परिणमन करता हुआ हो नित्य' स्वभाव है। ऐसे स्वभाव मे सदैव विद्यमान वस्तु स्वय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित है—ऐसा सानन्द मानना-अनुमोदन करना।

❀

अब, मोतियो के हार का दृष्टान्त देकर वस्तु के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य समझाते हैं —

जिस प्रकार—'जिसने (अमुक) लम्बाई ग्रहण की है ऐसे लटकते हुए मोती के हार मे, अपने अपने स्थान मे प्रकाशित समस्त मोतियो मे, पीछे-पीछे के स्थानो मे पीछे-पोछे के मोती प्रगट होने से और पहले-पहले के मोती प्रगट न होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति का रचयिता डोरा अवस्थित होने से त्रिलक्षणपना प्रसिद्धि पाता है '

हार में एक-दो मोती नही हैं किन्तु अनेक मोतियो का हार है। और वह हार जैसा-तैसा नही पडा है किन्तु 'लटकता' हुआ लिया है। १०८ मोतियो का हार लिया जाये तो उसमे सभी मोती अपने

भाई ! अपने ज्ञान में तू ऐसा निर्णय कर कि द्रव्य में जिस समय जो परिणाम है उस समय वही सत् है उसका मैं ज्ञाता हूँ उसमें कोई फेरफार करनेवाला नहीं हूँ ।—ऐसा जानने से पर्याय के राग का स्वामित्व और प्रथक्बुद्धि दूर हो जाती है और ध्रौव्य के लक्ष से सम्यक्त्व एवं वीतरागता होती है—यही धर्म है ।

प्रत्येक द्रव्य भिन्न भिन्न है उस भिन्न-भिन्न द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्वारा उस-उस द्रव्य की सत्ता पहिचानी जाती है । एक द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्वारा दूसरे द्रव्य की सत्ता नहीं जानी जाती । शरीर में रोटी नहीं आई उस परिणाम द्वारा पुद्गल द्रव्य की सत्ता जानी जाती है, किन्तु उसके द्वारा जीव के धर्मपरिणाम नहीं पहिचाने जा सकते । रोटी नहीं आई वहाँ पुद्गल द्रव्य ही अपनी परिणामधारा में वर्तता हुआ उस परिणाम द्वारा लक्षित होता है और उस समय आत्मा अपने ज्ञानादि परिणामों द्वारा लक्षित होता है । जिस द्रव्य के जो परिणाम हों उनके द्वारा उस द्रव्य को पहिचानना चाहिए, उसके बदले एक द्रव्य के परिणाम दूसरे द्रव्य ने किये-ऐसा जो मानता है उसने वस्तु के परिणामस्वभाव को नहीं जाना अर्थात् सत् को ही नहीं जाना है । वस्तु सत् है और सत् का सदा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है, इसलिये वस्तु में स्वभाव से ही प्रति समय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होते रहते हैं तो दूसरा उसमें क्या करेगा ?—या तो ज्ञाता रहकर वीतरागभाव करेगा या फेरफार करने का अभिमान करके मिथ्याभाव करेगा, किन्तु पदार्थ में तो कुछ भी फेर फार नहीं कर सकता ।

जीव के व्रत करने के भावों के कारण द्वारिका नगरी जलने से बच गई, और कोई व्रत करनेवाला नहीं रहा इसलिये द्वारिका नगरी जल गई'—ऐसा जो मानता है उसे वस्तु के स्वभाव की खबर नहीं है । अथवा तो—किसी जीव के क्रोध के कारण द्वारिका नगरी जल गई—ऐसा भी नहीं है । द्वारिका नगरी का प्रत्येक पुद्गल अपने

दृष्टान्त मे मोतियो का अपना अपना स्थान था, सिद्धात मे परिणामो का अपना—अपना अवसर है।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव वाला संपूर्ण द्रव्य सत् है, उसमे कही फेरफार नही होता।—इस प्रकार सम्पूर्ण सत् लक्ष मे आये विना ज्ञान मे धैर्य नही होता। जिसे पर मे कही फेरफार करने की बुद्धि है उसका ज्ञान अधीर-आकुल-व्याकुल है और सत् जानने से कही भी फेरफार की बुद्धि नही रही इसलिये ज्ञान धीर होकर अपने मे स्थिर हुआ—ज्ञातारूप से रह गया। ऐसे का ऐसा संपूर्ण द्रव्य उत्पाद—व्यय-ध्रौव्यस्वभाव से सत् पडा है—इस प्रकार द्रव्य पर दृष्टि जाने से सम्यक्त्व का उत्पाद और मिथ्यात्व का व्यय हुआ, और तत्पश्चात् भी उस द्रव्य की सन्मुखता से क्रमश वीतरागता की वृद्धि होती जाती है।—ऐसा धर्म है।

प्रत्येक द्रव्य नित्य—स्थायी है, नित्य—स्थायी द्रव्य लटकते हुए हार की भाँति सदैव परिणमित होता है, उसके परिणाम अपने—अपने अवसर मे प्रकाशित होते हैं। जिस प्रकार माला मे मोतियो का क्रम निश्चित जमा हुआ है, माला फिराने से वह क्रम उल्टा—सीधा नही होता। उसी प्रकार द्रव्य के तीनकाल के परिणामो का निश्चित स्व-अवसर है, द्रव्य के तीनकाल के परिणामो का अपना-अपना जो अवसर है उस अवसर मे ही वे होते हैं, आगे पीछे नही होते। ऐसा निश्चय करते ही ज्ञान मे वीतरागता होती है। यह निश्चित करने से अपना वीर्य पर से विमुख होकर द्रव्योन्मुख हो गया, पर्यायमूढता नष्ट हो गई, और द्रव्य की सन्मुखता से वीतरागता की उत्पत्ति होने लगी। सामने-वाले पदार्थ के परिणाम उसके अवसर के अनुसार और मेरे परिणाम मेरे अवसर के अनुसार,—ऐसा निश्चित किया इसलिये पर मे या स्व मे कही भी परिणाम के फेरफार की बुद्धि न रहने से ज्ञान ज्ञान में ही एकाग्रता को प्राप्त होता है। उसीको धर्म और मोक्षमार्ग कहते हैं।

एक ओर केवलज्ञान और सामने द्रव्य के तीनकाल के स्व-

अपने स्थान में प्रकाशित हैं और पीछे-पीछे के स्थान में पीछे-पीछे का मोती प्रकाशित होता है इसलिये उन मोतियों की अपेक्षा से हार का उत्पाद है। तथा एक के बाद दूसरे मोती को लक्ष में लेने से पहले का मोती लक्ष में से छूट जाता है इसलिये पहले का मोती दूसरे स्थान पर प्रकाशित नहीं होता इस अपेक्षा से हार का व्यय है। और सभी मोतियों में परस्पर सम्बन्ध जोड़नेवाला प्रखण्ड डोरा होने से हार ध्रौव्यरूप है।—इस प्रकार हार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ऐसे त्रिलक्षणवाला निश्चित् होता है। हार का प्रत्येक मोती अपने-अपने स्थान में है पहला मोती दूसरे नहीं होता दूसरा मोती तीसरे नहीं होता। जो जहाँ है वहाँ वही है पहले स्थान में पहला मोती है दूसरे स्थान में दूसरा मोती है, और हार का प्रखण्ड डोरा सर्वत्र है। मोती की माला फेरते समय पीछे-पीछे का मोती अंगुली के स्पर्श में आता जाता है उस अपेक्षा से उत्पाद पहले पहले का मोती छूटता जाता है उस अपेक्षा से व्यय और माला के प्रवाहरूप से प्रत्येक मोती में वर्तती हुई माला ध्रौव्य है। इसप्रकार उसमें उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप त्रिलक्षणपना प्रसिद्धि पाता है। इस प्रकार दृष्टान्त कहा अब सिद्धान्त कहते हैं —

'मोती के हार की भाँति जिसने नित्यवृत्ति ग्रहण की है ऐसे रचित (परिणमित) द्रव्य में अपने अपने अवसरों में प्रकाशित होते हुए (प्रगट होते हुए) समस्त परिणामों में पीछे-पीछे के परिणाम प्रगट होने से और पहले पहले के परिणाम प्रगट न होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति रचयिता प्रवाह अवस्थित (-स्थायी) होने से त्रिलक्षणपना प्रसिद्धि पाता है।

दृष्टांत में मधुर सम्बाईवाला हार या सिद्धांत में नित्यवृत्ति वाला द्रव्य है।

दृष्टांत में लटकता हार या सिद्धांत में परिणमन करता हुआ द्रव्य है।

पहले मोती के स्पर्श की अपेक्षा से माला का व्यय हुआ, दूसरे मोती के स्पर्श की अपेक्षा माला का उत्पाद हुआ, और 'माला' रूप से प्रवाह चालू रहा इसलिये माला ध्रौव्य रही। इस प्रकार एक के पश्चात् एक—क्रमश होनेवाले परिणामो मे वर्तनेवाले द्रव्य मे भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य समझना।

कोई कहे कि 'उत्पाद-व्यय तो पर्याय के ही होते हैं और द्रव्य तो ध्रौव्य ही है, उसमे परिणमन नही होता।' तो ऐसा नही है। द्रव्य एकान्त नित्य नही है किन्तु नित्य—अनित्यस्वरूप है, इसलिये परिणाम बदलने से उन परिणामो मे वर्तनेवाला द्रव्य भी परिणमित होता है। यदि परिणाम का उत्पाद होने से द्रव्य भी नवीन परिणाम-रूप से उत्पन्न होता हो तो द्रव्य भूतकाल मे रह जायेगा अर्थात् वह वर्तमान-वर्तमानरूप नही वर्त सकेगा, और उसका अभाव ही हो जायेगा। इसलिये परिणाम का उत्पाद-व्यय होनेसे द्रव्य भी उत्पाद-व्ययरूप परिणमित होता ही है। द्रव्य के परिणमन के विना परिणाम के उत्पाद-व्यय नही होगे और द्रव्य की अखण्ड ध्रौव्यता भी निश्चित् नही होगी, इसलिये द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला ही है। 'पर्याय मे ही उत्पाद-व्यय हैं और द्रव्य तो ध्रौव्य ही रहता है, उसमे उत्पाद-व्यय होते ही नही'—ऐसा नही है। परिणाम के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य मे प्रवर्तमान द्रव्य भी एक समय मे त्रिलक्षणवाला है।

अहो! स्व या पर प्रत्येक द्रव्य के परिणाम अपने-अपने काल मे होते हैं। पर-द्रव्य के परिणाम उस द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से होते हैं, और मेरे परिणाम मेरे द्रव्य मे से क्रमानुसार होते हैं।—ऐसा निश्चित् करने से पर द्रव्य के ऊपर से दृष्टि हट गई और स्वोन्मुख हुआ। अब, स्व मे भी पर्याय पर से दृष्टि हट गई क्योकि उस पर्याय में से पर्याय प्रगट नही होती किन्तु द्रव्य मे से पर्याय प्रगट होती है, इसलिये द्रव्य पर दृष्टि गई। उसे त्रिकाली सत् की प्रतीति हुई। ऐसी त्रिकालो सत् की प्रतीति होने से द्रव्य अपने परिणाम मे

अवसर में होनेवाले समस्त परिणाम इनमें फेरफार होना है ही नहीं। लोग भी हाथ पर आम नहीं उगते'—ऐसा कहकर वहाँ धैर्य रखने को कहते हैं उसी प्रकार 'द्रव्य के परिणाम में फेरफार नहीं होता'—ऐसी वस्तुस्थिति की प्रतीति करने से ज्ञान में धर्म आ जाता है। और जहाँ ज्ञान धीर होकर स्वोन्मुख होने लगा वहाँ मोक्षपर्याय होते देर नहीं लगती। इस प्रकार क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति में मोक्षमार्ग आ जाता है।

द्रव्य के समस्त परिणाम स्व अवसर में प्रकाशित होते हैं यह सामान्यरूप से बात की, उसमें अब उत्पाद-व्यय ध्रौव्य को उतार रहे हैं। द्रव्य जब देखो तब वर्तमान परिणाम में वर्तता है। वर्तमान में उस काल के जो परिणाम हैं उस काल में वही प्रकाशित होते हैं—उनके पहले के परिणाम उस समय प्रकाशित नहीं होते। पहले परिणाम के उत्पाद-व्यय ध्रौव्य सिद्ध करते समय 'वर्तमान परिणाम पूर्व परिणाम के व्ययरूप हैं'—ऐसा कहा था और यहाँ द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्ध करने में कथनशैली में परिवर्तन करके ऐसा कहा कि 'वर्तमान परिणाम के समय पूर्व के परिणाम प्रगट नहीं होते' इसलिये उन पूर्व परिणामों की अपेक्षा से द्रव्य व्ययरूप है। जिस परिणाम में द्रव्य वर्त रहा हो उस परिणाम की अपेक्षा द्रव्य उत्पाद-रूप है, उसके पूर्व के परिणाम—जो कि इस समय प्रगट नहीं हैं—की अपेक्षा से द्रव्य व्ययरूप है और समस्त परिणामों में अखण्ड बहते हुए द्रव्य के प्रवाह की अपेक्षा से वह ध्रौव्यरूप है। इस प्रकार द्रव्य का त्रिलक्षणपना ज्ञान में निश्चित् होता है। ऐसा ज्ञेयों का निर्णय करने वाला ज्ञान स्व में स्थिर होता है उसका नाम तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन् है।

मोतियों की माला लटक रही हो उसमें पहले एक मोती अंगुली के स्पर्श में आता है और फिर वह छूटकर दूसरा मोती स्पर्श में आता है उस समय पहला मोती स्पर्श में नहीं आता इसलिये

पहले मोती के स्पर्श की अपेक्षा से माला का व्यय हुआ, दूसरे मोती के स्पर्श की अपेक्षा माला का उत्पाद हुआ, और 'माला' रूप से प्रवाह चालू रहा इसलिये माला ध्रौव्य रही। इस प्रकार एक के पश्चात् एक—क्रमश होनेवाले परिणामो मे वर्तनेवाले द्रव्य मे भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य समझना।

कोई कहे कि 'उत्पाद—व्यय तो पर्याय के ही होते है और द्रव्य तो ध्रौव्य ही है, उसमे परिणमन नही होता।' तो ऐसा नही है। द्रव्य एकान्त नित्य नही है किन्तु नित्य—अनित्यस्वरूप है, इसलिये परिणाम वदलने से उन परिणामो मे वर्तनेवाला द्रव्य भी परिणमित होता है। यदि परिणाम का उत्पाद होने से द्रव्य भी नवीन परिणाम-रूप से उत्पन्न होता हो तो द्रव्य भूतकाल मे रह जायेगा अर्थात् वह वर्तमान—वर्तमानरूप नही वर्त सकेगा, और उसका अभाव ही हो जायेगा। इसलिये परिणाम का उत्पाद—व्यय होनेसे द्रव्य भी उत्पाद—व्ययरूप परिणमित होता ही है। द्रव्य के परिणमन के विना परिणाम के उत्पाद—व्यय नही होगे और द्रव्य की अखण्ड ध्रौव्यता भी निश्चित् नही होगी, इसलिये द्रव्य उत्पाद—व्यय—ध्रौव्यवाला ही है। 'पर्याय मे ही उत्पाद—व्यय हैं और द्रव्य तो ध्रौव्य ही रहता है, उसमे उत्पाद—व्यय होते ही नही'—ऐसा नही है। परिणाम के उत्पाद—व्यय—ध्रौव्य मे प्रवर्तमान द्रव्य भी एक समय मे त्रिलक्षणवाला है।

अहो! स्व या पर प्रत्येक द्रव्य के परिणाम अपने—अपने काल मे होते हैं। पर—द्रव्य के परिणाम उस द्रव्य के उत्पाद—व्यय—ध्रौव्य से होते हैं, और मेरे परिणाम मेरे द्रव्य मे से क्रमानुसार होते हैं।—ऐसा निश्चित् करने से पर द्रव्य के ऊपर से दृष्टि हट गई और स्वोन्मुख हुआ। अब, स्व मे भी पर्याय पर से दृष्टि हट गई क्योकि उस पर्याय मे से पर्याय प्रगट नही होती किन्तु द्रव्य में से पर्याय प्रगट होती है, इसलिये द्रव्य पर दृष्टि गई। उसे त्रिकाली सत् की प्रतीति हुई। ऐसी त्रिकाली सत् की प्रतीति होने से द्रव्य अपने परिणाम मे

अवसर में होनेवाले समस्त परिणाम' इनमें फेरफार होना है ही नहीं। लोग भी 'हाथ पर आम नहीं उगते'—ऐसा कहकर वहाँ धैर्य रखने को कहते हैं' उसी प्रकार 'द्रव्य के परिणाम में फेरफार नहीं होता'—ऐसी वस्तुस्थिति की प्रतीति करने से ज्ञान में धैर्य आ जाता है। और जहाँ ज्ञान धीर होकर स्वोन्मुख होने लगा वहाँ मोक्षपर्याय होते देर नहीं लगती। इस प्रकार क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति में मोक्षमार्ग आ जाता है।

द्रव्य के समस्त परिणाम स्व अवसर में प्रकाशित होते हैं, यह सामान्यरूप से बात की उसमें अब उत्पाद-व्यय ध्रौव्य को उतारते हैं। द्रव्य जब देखो तब वर्तमान परिणाम में वर्तता है। वर्तमान में उस काल के जो परिणाम हैं उस काल में वही प्रकाशित होते हैं—उनके पहले के परिणाम उस समय प्रकाशित नहीं होते। पहले परिणाम के उत्पाद-व्यय ध्रौव्य सिद्ध करते समय वर्तमान परिणाम पूर्व परिणाम के व्ययरूप हैं—ऐसा कहा था और यहाँ द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्ध करने में कथनशैली में परिवर्तन करके ऐसा कहा कि 'वर्तमान परिणाम के समय पूर्व के परिणाम प्रगट नहीं होते इसलिये उन पूर्व परिणामों की अपेक्षा से द्रव्य व्ययरूप है। जिस परिणाम में द्रव्य वर्त रहा हो उस परिणाम की अपेक्षा द्रव्य उत्पादरूप है उसके पूर्व के परिणाम—जो कि इस समय प्रगट नहीं हैं—की अपेक्षा से द्रव्य व्ययरूप है और समस्त परिणामों में अखण्ड बहते हुए द्रव्य के प्रवाह की अपेक्षा से वह ध्रौव्यरूप है। इस प्रकार द्रव्य का त्रिलक्षणपना ज्ञान में निश्चित होता है। ऐसा ज्ञेयों का निर्णय करने वाला ज्ञान स्व में स्थिर होता है उसका नाम 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' है।

मोतियों की माला लेकर जप कर रहा हो उसमें पहले एक मोती अगुली के स्पर्श में आता है और फिर वह छूटकर दूसरा मोती स्पर्श में आता है उस समय पहला मोती स्पर्श में नहीं आता इसलिये

पहले मोती के स्पर्श की अपेक्षा से माला का व्यय हुआ, दूसरे मोती के स्पर्श की अपेक्षा माला का उत्पाद हुआ, और 'माला' रूप से प्रवाह चालू रहा इसलिये माला ध्रौव्य रही। इस प्रकार एक के पश्चात् एक—क्रमश होनेवाले परिणामो मे वर्तनेवाले द्रव्य मे भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य समझना।

कोई कहे कि 'उत्पाद–व्यय तो पर्याय के ही होते हैं और द्रव्य तो ध्रौव्य ही है, उसमे परिणमन नही होता।' तो ऐसा नही है। द्रव्य एकान्त नित्य नही है किन्तु नित्य—अनित्यस्वरूप है, इसलिये परिणाम बदलने से उन परिणामो मे वर्तनेवाला द्रव्य भी परिणमित होता है। यदि परिणाम का उत्पाद होने से द्रव्य भी नवीन परिणाम-रूप से उत्पन्न होता हो तो द्रव्य भूतकाल मे रह जायेगा अर्थात् वह वर्तमान–वर्तमानरूप नही वर्त सकेगा, और उसका अभाव ही हो जायेगा। इसलिये परिणाम का उत्पाद–व्यय होनेसे द्रव्य भी उत्पाद–व्ययरूप परिणमित होता ही है। द्रव्य के परिणमन के बिना परिणाम के उत्पाद–व्यय नही होगे और द्रव्य की अखण्ड ध्रौव्यता भी निश्चित् नही होगी, इसलिये द्रव्य उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाला ही है। 'पर्याय मे ही उत्पाद–व्यय हैं और द्रव्य तो ध्राव्य ही रहता है, उसमे उत्पाद–व्यय होते ही नही'—ऐसा नही है। परिणाम के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य मे प्रवर्तमान द्रव्य भी एक समय मे त्रिलक्षणवाला है।

अहो! स्व या पर प्रत्येक द्रव्य के परिणाम अपने–अपने काल मे होते हैं। पर–द्रव्य के परिणाम उस द्रव्य के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य से होते हैं, और मेरे परिणाम मेरे द्रव्य मे से क्रमानुसार होते हैं।—ऐसा निश्चित् करने से पर द्रव्य के ऊपर से दृष्टि हट गई और स्वोन्मुख हुआ। अब, स्व मे भी पर्याय पर से दृष्टि हट गई क्योकि उस पर्याय मे से पर्याय प्रगट नही होती किन्तु द्रव्य मे से पर्याय प्रगट होती है, इसलिये द्रव्य पर दृष्टि गई। उसे त्रिकाली सत् की प्रतीति हुई। ऐसी त्रिकालो सत् की प्रतीति होने से द्रव्य अपने परिणाम मे

स्वभाव की धारारूप बहता और विभाव की धारा का नाश करता हुआ परिणमन करता है। इसलिये द्रव्य को त्रिलक्षण अनुमोदना।

पहले परिणाम के उत्पाद-व्यय ध्रौव्य की बात की थी, और यहाँ द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की बात की है।

द्रव्य की सत्ता अर्थात् द्रव्य का अस्तित्व उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला है। मात्र उत्पादरूप व्ययरूप या ध्रौव्यरूप द्रव्य की सत्ता नहीं है किन्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ऐसी तीन लक्षणवाली ही द्रव्य की सत्ता है। उत्पाद व्यय और ध्रौव्य—ऐसी तीन पृथक्-पृथक सत्तायें नहीं हैं किन्तु वे तीनों मिलकर एक सत्ता है।

पहले तो जो परिणाम उत्पन्न हुए वे अपनी अपेक्षा से उत्पादरूप पूर्व की अपेक्षा से व्ययरूप और अखण्ड प्रवाह की अपेक्षा से ध्रौव्यरूप—ऐसी परिणाम की बात की थी और यहाँ तो अब अन्तिम योगफल निकालकर द्रव्य में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य उतारते हुए ऐसा कहा है कि द्रव्य में पीछे-पीछे के परिणाम प्रगट होते हैं इससे द्रव्य का उत्पाद है पहले-पहले के परिणाम उत्पन्न नहीं होते इसलिये द्रव्य व्ययरूप है और सर्वपरिणामों में अखण्डरूप से प्रवर्तमान होने से द्रव्य ही ध्रौव्य है। इस प्रकार द्रव्य को त्रिलक्षण अनुमोदना।

अहो! समस्त द्रव्य अपने वर्तमान परिणामरूप से उत्पन्न होते हैं पूर्व के परिणाम वर्तमान में नहीं रहते इसलिये पूर्व परिणाम रूप से व्यय को प्राप्त हैं और अखण्डरूप से समस्त परिणामों के प्रवाह में द्रव्य ध्रौव्यरूप से वर्तते हैं। बस उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप से वर्तते हुए द्रव्य टंकोत्कीर्ण सत् है। ऐसे सत् में कुछ भी आगे-पीछे नहीं होता। अपने ज्ञान मे ऐसे टंकोत्कीर्ण सत् को स्वीकार करने से फेर फार करने की बुद्धि तथा 'ऐसा क्यों' ऐसी विस्मयता दूर हुई, उसी में सम्यक्श्रद्धा और वीतरागता आ गई। इसलिये ज्ञायकपना मोक्ष का मार्ग हुआ।

यह 'वस्तुविज्ञान' कहा जा रहा है। पदार्थ का जैसा स्वभाव है वैसा ही उसका ज्ञान करना सो पदार्थविज्ञान है। ऐसे पदार्थविज्ञान के बिना कभी शाति नही होती। जहाँ, प्रत्येक वस्तु उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वभाववाली है–ऐसा जाना वहाँ वस्तु के भिन्नत्व की वाड बन्ध गई। मेरे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य मे पर का अभाव है और पर के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य मे मेरा अभाव है, मेरे द्रव्य-गुण-पर्याय में मैं, और पर के द्रव्य-गुण-पर्याय मे पर—ऐसा निश्चित करने से पर के द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वामित्व छोडकर स्वय अपने द्रव्य-गुण-पर्याय का रक्षक हुआ। स्व-द्रव्योन्मुख होने से स्वय अपने द्रव्य-गुण-पर्याय का रक्षक हुआ अर्थात् ध्रौव्य द्रव्य के आश्रय से निर्मल पर्याय का उत्पाद होने लगा, वही धर्म है। पहले, पर को मैं बदल दूँ—ऐसा मानता था तब पराश्रयबुद्धि से विकारभावो की ही उत्पत्ति होती थी और अपने द्रव्य-गुण-पर्याय की रक्षा नही करता था,—इसलिये वह अधर्म था।

आचार्यभगवान ने इस गाथा मे सत् को उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त बतलाकर अद्भुत बात की है। वर्तमान-वर्तमान समय के परिणाम की यह बात है, क्योकि सम्पूर्ण द्रव्य वर्तमान परिणाम में साथ ही वर्त रहा है। [यहाँ पूज्य स्वामीजी का आशय यह समझाने का है कि परिणाम और द्रव्य दोनो साथ ही हैं। द्रव्य कभी भी परिणाम से रहित नही होता, परिणाम कभी भी द्रव्य से रहित नही होता। परिणाम इस समय हुए और द्रव्य गतकाल मे रह जाये ऐसा नही होता, और द्रव्य है किन्तु परिणाम नही है—ऐसा भी नही होता। इसलिये परिणाम और द्रव्य दोनो वर्तमान मे साथ ही हैं–ऐसा समझना] द्रव्य में स्वकाल मे सदैव वर्तमान परिणाम होते है, जब देखो तब द्रव्य अपने वर्तमान परिणाम मे ही वर्त रहा है, ऐसे वर्तमान में प्रवर्तमान द्रव्य की प्रतीति सो वीतरागता का मूल है।

'परिणाम का स्व–अवसर' कहा वहाँ परिणाम का जो वर्तन है वही उसका अवसर है, अवसर और परिणाम दो पृथक् वस्तुयें

नहीं है। जिसका जो अवसर है उस समय वही परिणाम वर्तता है उस परिणाम में वर्तता हुआ द्रव्य उत्पादरूप है उससे पूर्व के परिणाम में द्रव्य नहीं वर्तता इससे वह व्ययरूप है और सर्वत्र अखण्डपने की अपेक्षा से द्रव्य ध्रौव्य है। इस प्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप त्रिलक्षणपना प्रसिद्धि पाता है।

जीव और अजीव समस्त द्रव्य और उनके अनादि-अनन्त परिणाम सत् हैं, वह सत् स्वयंसिद्ध है, उसका कोई दूसरा रचयिता या परिणमन करानेवाला नहीं है। जिसप्रकार कोई द्रव्य अपना स्वरूप छोड़कर अन्यरूप नहीं होता उसी प्रकार द्रव्य के कोई परिणाम भी आगे-पीछे नहीं होते। द्रव्य में अपने काल में प्रत्येक परिणाम उत्पन्न होता है, पूर्व के परिणाम उत्पन्न नहीं होते और द्रव्य अखण्ड धारारूप बना रहता है।—ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाववाले द्रव्य को जानने से अपने ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति होती है और उस ज्ञायकस्वभाव की सन्मुखता से भगवान आत्मा स्वभावधारा में बहता है विभावधारा से व्यय को प्राप्त होता है और उस प्रवाह में स्वयं अखण्डरूप से ध्रुव रहता है' इस प्रकार वीतरागता होकर केवलज्ञान और मुक्ति होती है।

अहो! मुक्ति के कारणभूत ऐसा लोकोत्तर वस्तुविज्ञान समझानेवाले संतों को शत-शत वंदन हो!

[गाथा ९९ टीका समाप्त]

भव्य श्रोताजनों को तत्कालबोधक भगवान श्री गुरुवाणी माता की जय हो!

पदार्थ का परिणामस्वभाव

❀ प्रवचनसार गाथा ६६ भावार्थ ❀

'प्रत्येक द्रव्य सदैव स्वभाव मे रहता है इसलिये 'सत्' है। वह स्वभाव उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप परिणाम है।' प्रत्येक वस्तु तीनोकाल अपने स्वभाव मे अर्थात् अपने परिणाम मे रहती है। सुवर्ण अपने कुण्डल, हार आदि परिणाम में वर्तता है, कुण्डल, हार आदि परिणामो से सुवर्ण पृथक् नही वर्तता। उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ अपने वर्तमान वर्तते हुए परिणाम मे वर्तता है, अपने परिणाम से पृथक् कोई द्रव्य नही रहता। कोई भी पदार्थ अपने परिणामस्वभाव का उल्लघन करके पर के परिणाम का स्पर्श नही करता, और पर-वस्तु उसके परिणाम का उल्लघन करके अपने को स्पर्श नही करती। प्रत्येक वस्तु भिन्न-भिन्न अपने अपने परिणाम मे ही रहती है। आत्मा अपने ज्ञान या रागादि परिणाम मे स्थित है, किन्तु शरीर की अवस्था मे आत्मा विद्यमान नही है। शरीर की अवस्था मे पुद्गल विद्यमान हैं। शरीर के अनन्त रजकणो मे भी वास्तव मे प्रत्येक रजकण भिन्न-भिन्न अपनी अपनी अवस्था मे विद्यमान है। ऐसा वस्तुस्वभाव देखने-वाले को पर मे कही भी एकत्वबुद्धि नही होती और पर्यायबुद्धि के राग-द्वेष नही होते।

आत्मा और प्रत्येक पदार्थ प्रतिसमय अपनी नई अवस्थारूप उत्पन्न-होता है, पुरानी अवस्थारूप से व्यय को प्राप्त होता है और अखण्ड वस्तुरूप से ध्रौव्य रहता है। प्रत्येक समय के परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित हैं—ऐसे परिणाम सो स्वभाव है और वस्तु स्व-भाववान् है। स्वभाववान्-द्रव्य अपने परिणामस्वभाव मे स्थित है। कोई भी वस्तु अपना स्वभाव छोडकर दूसरे के स्वभाव मे वर्ते अथवा तो दूसरे के स्वभाव को करे-ऐसा कभी नही होता। शरीर की अव-स्थायें हैं वे पुद्गल के परिणाम हैं, उनमे पुद्गल वर्तते हैं, आत्मा

उसमें नहीं वर्तता, तथापि आत्मा उस शरीर की अवस्था में कुछ करता है— ऐसा जिसने माना उसकी मान्यता मिथ्या है। जिस प्रकार अफीम की कड़वाहट आदि के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यपरिणाम में अफीम ही विद्यमान है, उसमें कहीं गुड़ विद्यमान नहीं है और गुड़ के मिठास आदि के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यपरिणाम में गुड़ ही विद्यमान है, उसमें कहीं अफीम विद्यमान नहीं है। उसी प्रकार आत्मा के ज्ञान आदि के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यपरिणामस्वभाव में आत्मा विद्यमान है, उनमें कहीं इन्द्रियाँ या शरीरादि विद्यमान नहीं हैं इसलिये उनसे आत्मा ज्ञात नहीं होता और पुद्गल के शरीर आदि के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यपरिणामस्वभाव में पुद्गल ही विद्यमान है उनमें कहीं आत्मा विद्यमान नहीं है इसलिये आत्मा शरीरादि की क्रिया नहीं करता। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ अपने अपने स्वभाव में ही विद्यमान है। बस ऐसे पदार्थ के स्वभाव को जानना सो वीतरागी विज्ञान है उसीमें धर्म आता है।

प्रत्येक पदार्थ की मर्यादा-सीमा अपने अपने स्वभाव में रहने की है अपने स्वभाव की सीमा से बाहर निकलकर पर में कुछ करे— ऐसी किसी पदार्थ की शक्ति नहीं है।—ऐसी वस्तुस्थिति हो तभी प्रत्येक तत्त्व अपने स्वतंत्र अस्तित्वरूप से रह सकता है। यही बात अस्ति–नास्तिरूप अनेकान्त से कही जाये तो प्रत्येक पदार्थ अपने स्वचतुष्टय से (द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव से) अस्तिरूप है और पर के चतुष्टय से वह नास्तिरूप है। इस प्रकार प्रत्येक तत्त्व भिन्न–भिन्न स्थित है—ऐसा निश्चित करने से स्वतत्त्व को परतत्त्व से भिन्न जाना और अपने स्वभाव में प्रवर्तमान स्वभाववान् द्रव्य की दृष्टि हुई यही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और वीतरागता का कारण है।

जैसी वस्तु हो उसे वैसा ही जानना सो सम्यग्ज्ञान है। जिस प्रकार लौकिक में गुड़ को गुड़ जाने और अफीम को अफीम जाने तो गुड़ और अफीम का सच्चा ज्ञान है किन्तु यदि गुड़ को अफीम जाने

या अफीम को गुड जाने तो वह मिथ्याज्ञान है। उसी प्रकार जगत के पदार्थों मे जड–चेतन प्रत्येक पदार्थ स्वय अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव से स्थित है—ऐसा जानना सो सम्यक्ज्ञान है, और एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ के कारण कुछ होता है—ऐसा माने तो वह मिथ्याज्ञान है, उसने पदार्थ के स्वभाव को जैसा है वैसा नही जाना, किन्तु विपरीत माना है।

आत्मा का 'ज्ञायक' स्वभाव है और पदार्थों का 'ज्ञेय' स्वभाव है, पदार्थों मे फेरफार–आगेपीछे हो ऐसा उनका स्वभाव नही है, और उनके स्वभाव मे कुछ फेरफार करे ऐसा ज्ञान का स्वभाव नही है। जिस प्रकार आँख अफीम को अफीमरूप से और गुड को गुडरूप से देखती है, किन्तु अफीम को बदलकर गुड नही बनाती और गुड को बदलकर अफीम नही बनाती, और वह अफीम भी अपना स्वभाव छोडकर गुडरूप नही होती तथा गुड भी अपना स्वभाव छोडकर अफीमरूप नही होता। उसी प्रकार आत्मा का ज्ञानस्वभाव समस्त स्व–पर ज्ञेयो को यथावत् जानता है, किन्तु उनमे कही कुछ भी फेरफार नही करता। और ज्ञेय भी अपने स्वभाव को छोडकर अन्यरूप नही होते। बस, ज्ञान और ज्ञेय के ऐसे स्वभाव को प्रतीति सो वीतरागी श्रद्धा है, ऐसा ज्ञान सो वीतरागी विज्ञान है।

स्वतत्र ज्ञेयो को यथावत् जानना सो सम्यक्ज्ञान की क्रिया है। ज्ञान क्या कार्य करता है ?—जानने का कार्य करता है। इसके अतिरिक्त कही फेरफार करने का कार्य ज्ञान नही करता। प्रत्येक पदार्थ स्वयसिद्ध सत् है, और उसमे पर्यायधर्म है, वे पर्यायें उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यस्वभाववाली हैं। इसलिये पदार्थ में प्रतिसमय पर्याय के उत्पाद–व्यय–धौव्य होते हैं उनमे वह पदार्थ वर्त रहा है। इस प्रकार स्वतत्रता को न जाने तो उसने द्रव्य की स्वतत्रता को भी नही जाना है, क्योकि 'सत्' अपने परिणाम में वर्तता हुआ स्थित है। यदि वस्तु स्वय स्थित रहने के लिये दूसरे के परिणाम का आश्रय मांगे तो वह वस्तु ही 'सत्'

नहीं रहती। 'सत्' का स्वभाव अपने ही परिणाम में प्रवर्तन करने का है। सत् स्वयं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। सत् के अपने परिणाम का उत्पाद यदि दूसरे से होता हो तो वह स्वयं 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत्' ही नहीं रहता। इसलिये उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत् है—ऐसा मानते ही परिणाम की स्वतन्त्रता की स्वीकृति तो आ ही गई। और, परिणाम परिणाम में से नहीं किन्तु परिणामी (द्रव्य) में से आते हैं इसलिये उसकी दृष्टि परिणामी पर गई, वह स्व-द्रव्य के सन्मुख हुआ, स्व-द्रव्य की सन्मुखता में सम्यक्-श्रद्धा ज्ञान चारित्र की उत्पत्ति होती है वह मोक्ष का कारण है।

प्रश्न—सोना और ताँबा—दोनों का मिश्रण होने पर तो वे एक-दूसरे में एकमेक हो गये हैं न ?

उत्तर—भाई! वस्तुस्थिति को समझो। सोना और ताँबा कभी एकमेक होते ही नहीं। संयोगदृष्टि से सोना और ताँबा एकमेक हुए ऐसा कहा जाता है किन्तु पदार्थ के स्वभाव की दृष्टि से तो सोना और ताँबा कभी एकमेक हुए ही नहीं हैं क्योंकि जो सोने के रजकण हैं वे अपने सुवर्ण-परिणाम में ही वर्तते हैं और जो ताँबे के रजकण हैं वे अपने ताँबा-परिणाम में ही वर्तते हैं एक रजकण दूसरे रजकण के परिणाम में नहीं वर्तता। सोने के दो रजकणों में से भी उसका एक रजकण दूसरे में नहीं वर्तता। यदि एक पदार्थ दूसरे में और दूसरा तीसरे में मिल जाये तब तो जगत में कोई स्वतंत्र वस्तु ही न रहे। सोना और ताँबा 'मिश्र हुआ' ऐसा कहने से भी उन दोनों की भिन्नता ही सिद्ध होती है क्योंकि मिश्रण दो का होता है एक में 'मिश्रण' नहीं कहलाता। इसलिये मिश्रण कहते ही पदार्थों का भिन्न-भिन्न अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

प्रत्येक वस्तु अपने स्वभावरूप से सत् रहती है दूसरा कोई विपरीत माने तो उससे कहीं वस्तु का स्वभाव बदल नहीं जाता। कोई

अफीम को गुड माने तो इससे कही अफीम की कडवाहट दूर नहीं हो जायेगी, अफीम को गुड मानकर खाये तो उसे कडवाहट का ही अनुभव होगा। उसी प्रकार तत्त्व को जैसे का तैसा स्वतन्त्र न मानकर पर के आधार से स्थित माने तो, कही वस्तु तो पराधीन नही हो जाती, किन्तु उसने सत् की विपरीत मान्यता की इसलिये उसका ज्ञान मिथ्या होता है, और उस मिथ्याज्ञान के फल मे उसे चौरासी का अवतार होता है। कोई जीव पुण्य का शुभराग करके ऐसा माने कि मैं धर्म करता हूँ, तो कही उसे राग से धर्म नही होगा, किन्तु उसने वस्तुस्वरूप को विपरीत जाना है, इसलिये उस अज्ञान के फल मे उसे चौरासी के अवतार मे परिभ्रमण करना पडेगा।

परिणाम स्वभाव है और स्वभाववान् द्रव्य है,—ऐसा जानकर स्वभाववान् द्रव्य की रुचि होते ही सम्यक्त्व का उत्पाद, उसी समय मिथ्यात्व का व्यय और अखण्डरूप से आत्मा की ध्रुवता है।

प्रत्येक वस्तु 'सत्' है, 'सत्' त्रिकाल स्वयसिद्ध है। यदि सत् त्रिकाली न हो तो वह असत् सिद्ध होगा। किन्तु वस्तु कभी असत् नही होती। वस्तु त्रिकाल है इसलिये उसका कोई कर्ता नहीं है, क्योकि त्रिकाली का रचयिता नही होता। यदि रचयिता कहो तो उससे पूर्व वस्तु नही थी—ऐसा सिद्ध होगा, अर्थात् वस्तु का नित्यपना नही रहेगा। वस्तु त्रिकाल सत् है, और वह वस्तु परिणामस्वभाववाली है, त्रिकाली द्रव्य ही अपने तीनोकाल के वर्तमान–वर्तमान परिणामो की रचना करता है, वे परिणाम भी स्व–अवसर मे सत् हैं, इसलिये उन परिणामों का रचयिता भी दूसरा कोई नही है। जिस प्रकार त्रिकाली द्रव्य का कर्ता कोई–ईश्वर आदि–नही है, उसी प्रकार उस त्रिकाली द्रव्यके वर्तमान परिणाम कर्ता का भी कोई दूसरा (निमित्त, कर्म या जीव आदि) नही है। अपने प्रत्येक समय के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य मे स्थित रहता है इसलिये द्रव्य सत् है। यदि द्रव्य दूसरे के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य का अवलम्बन करे तो वह स्वय सत् नही रह सकता। इसलिये जो जीव द्रव्य को यथार्थतया 'सत्'

जानता हो वह द्रव्य का या द्रव्य की किसी पर्याय का कर्ता दूसरे को नहीं मानता, द्रव्य का या द्रव्य की किसी पर्याय का कर्ता दूसरे को माने उस जीव ने वास्तव में 'सत्' को नहीं जाना है।

अहो ! वस्तु के सत् स्वभाव को जाने बिना बाह्य क्रिया काण्ड के बल से अनन्तकाल बिता दिया किन्तु वस्तु का स्वभाव सत् है उसे नहीं जाना इसलिये जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है।

वस्तु परिणाम में परिणमन करती है वह परिणाम से पृथक नहीं रहती। प्रत्येक समय के परिणाम के समय सम्पूर्ण वस्तु साथ में वर्त रही है—ऐसा जाने तो अपने को क्षणिक राग जितना मानकर उस समय सम्पूर्ण वस्तु रागरहित विद्यमान है—उसका विश्वास करे इससे राग की रुचि का बल टूटकर सम्पूर्ण वस्तु पर रुचि का बल हुआ अर्थात् सम्यक्रुचि उत्पन्न हुई, राग और आत्मा का भेदज्ञान हुआ। मैं पर में नहीं वर्तता मेरे परिणाम में पर वस्तु नहीं वर्तती किन्तु मैं अपने परिणाम में ही वर्तता हूँ—इस प्रकार परिणाम और परिणामी की स्वतन्त्रता जानने से रुचि पर में नहीं जाती परिणाम पर भी नहीं रहती किन्तु परिणामी द्रव्य में प्रविष्ट हो जाती है, अर्थात् सम्यकरुचि होती है।

'वस्तु परिणाम में वर्तती है।' बस ! ऐसा निश्चित् करने में पर्यायबुद्धि दूर होकर वस्तुदृष्टि हो जाती है उसीमें वीतरागता विद्यमान है। मेरी भविष्य की केवलज्ञानपर्यायमें भी यह द्रव्य ही वर्तेगा—इसलिये भविष्य की केवलज्ञानपर्याय को देखना नहीं रहा किन्तु द्रव्यसन्मुख ही देखना रहा। द्रव्य की सन्मुखता में अल्पकाल में केवलज्ञान हुए बिना नहीं रहता।

अहो ! मैं अपने परिणामस्वभाव में हूँ परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप है उसीमें आत्मद्रव्य वर्तता है—इस प्रकार स्व-वस्तु की दृष्टि होने से पर से लाभ-हानि मानने का मिथ्याभाव नहीं रहा वहाँ सम्यग्ज्ञान पर्यायरूप से उत्पाद है, मिथ्याज्ञान पर्यायरूप से

व्यय है और ज्ञान में अखण्ड परिणामरूप से ध्रौव्यता है। इस प्रकार इसमे धर्म आता है।

'परिणामी के परिणाम हैं'—ऐसा न मानकर जिसने पर के कारण परिणामो को माना उसने परिणामी को दृष्टि मे नही लिया, किन्तु अपने परिणाम को पर करता है—ऐसा माना इसलिये स्व-पर को एक माना, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है। परिणाम परिणामी के है—इस प्रकार परिणाम और परिणामी की रुचि मे स्वद्रव्य की सम्यक्‌रुचि उत्पन्न होकर मिथ्यारुचि का नाश हो जाता है।

देखो, यह वस्तुस्थिति का वर्णन है। जैनदर्शन कोई वाडा या कल्पना नही है किन्तु वस्तुयें जिस स्वभाव से हैं वैसी सर्वज्ञ भगवान ने देखी हैं, और वही जैनदर्शन मे कही हैं। जैनदर्शन कहो या वस्तु का स्वभाव कहो।—उसका ज्ञान कर तो तेरा ज्ञान सच्चा होगा और भव का परिभ्रमण दूर होगा। यदि वस्तु के स्वभाव को विपरीत मानेगा तो असत् वस्तु की मान्यता से तेरा ज्ञान मिथ्या होगा और परिभ्रमण का अत नही आयेगा, क्योकि मिथ्यात्व ही सबसे महान पाप माना गया है, वही अनन्त संसार का मूल है।

उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त परिणाम है वह स्वभाव है, और स्वभाव है वह स्वभाववान् के कारण है।—इस प्रकार स्वभाव और स्वभाववान् को दृष्टि मे लेने से, पर के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य को मैं करूँ या मेरे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य को पर करे यह बात नही रहती, इसलिये स्वयं अपने स्वभाववान् की ओर उन्मुख होकर सम्यग्ज्ञान हो जाता है, उसीमे धर्म आ गया। लोगो ने बाह्य मे धर्म मान रखा है, किन्तु वस्तुस्थिति अतर की है। लोगो के माने हुए धर्म मे और वस्तुस्थिति मे पूर्व—पश्चिम दिशा जितना अतर है।

'वस्तु' उसे कहते हैं जो अपने गुण–पर्याय मे वास करे, अपने गुण–पर्याय से बाहर वस्तु कुछ नही करती, और न वस्तु के गुण-पर्याय को कोई दूसरा करता है। ऐसे भिन्न-भिन्न तत्त्वार्थ का श्रद्धान

सो सम्यग्दर्शन है। प्रथम सम्यग्दर्शन होता है तत्पश्चात् श्रावक और मुनि के व्रतादि होते हैं। सम्यग्दर्शन के बिना व्रतादि माने वह तो 'राख पर लीपन' मानना है। आत्मा की प्रतीति हुए बिना कहाँ रहकर व्रतादि करेगा ?

जिस प्रकार गाड़ी के नीचे चलने वाला कुत्ता मानता है कि—गाड़ी मेरे कारण चल रही है; किन्तु गाड़ी के परिणाम में उसका प्रत्येक परमाणु वर्त रहा है, और कुत्ते के रागादि परिणाम में कुत्ता है, गाड़ी और कुत्ता—कोई एक-दूसरे के परिणाम में नहीं वर्तते। तथापि कुत्ता व्यर्थ मानता है कि 'मुझसे गाड़ी चल रही है। उसी प्रकार पर वस्तु के परिणाम स्वयं उसके अपने से होते हैं, उसे देखकर अज्ञानी जीव व्यर्थ ही ऐसा मानता है कि पर के परिणाम मुझसे होते हैं। किन्तु ऐसा नहीं होता। प्रत्येक तत्त्व के परिणाम सत् हैं, उसमें कोई दूसरा क्या करेगा ? ऐसा स्वतंत्र वस्तु का स्वभाव है वही सर्वज्ञ भगवान ने ज्ञान में देखा है। कहीं भगवान ने देखा इसलिये वस्तु का ऐसा स्वभाव है—ऐसा नहीं है और ऐसा वस्तु का स्वभाव है इसलिये भगवान को उसका ज्ञान हुआ ऐसा भी नहीं है। ज्ञेय वस्तु का स्वभाव सत् है और ज्ञान भी सत् है। प्रथम ऐसे सत्स्वभाव को समझो। जो ऐसे स्वभाव को समझ ले उसीने वस्तु को वस्तुरूप से जाना है—ऐसा कहा जाये।

कर्म-परिणाम में पुद्गल वर्तते हैं और आत्मा के परिणाम में आत्मा वर्तता है, कोई एक-दूसरे के परिणाम में नहीं वर्तते; इस लिये कर्म आत्मा को परिभ्रमण नहीं कराते। अपने स्वतंत्र परिणाम को न जानकर कर्म मुझे परिभ्रमण कराते हैं—ऐसा माना है उस विपरीत मान्यता से ही जीव भटक रहा है किन्तु कर्मों ने उसे नहीं भटकाया। उस परिभ्रमण के परिणाम में आत्मा वर्त रहा है। प्रति समय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होने का प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है—यह समझे तो परिणामी द्रव्य पर दृष्टि जाती है और द्रव्यदृष्टि में सम्यक्त्व और वीतरागता का उत्पाद होता है, वह धर्म है।

यदि द्रव्य के एकसमय का सत् दूसरे से हो तो उस द्रव्य का वर्तमान सत्पना नही रहना, और वर्तमान सत् का नाश होने से त्रिकाली सत् का भी नाश हो जाता है अर्थात् वर्तमान परिणाम को स्वतत्र सत् माने विना त्रिकालो द्रव्य का सत्पना सिद्ध नही होता, इसलिये द्रव्य का वर्तमान दूसरे से (–निमित्त से) होता है—इस मान्यता मे मिथ्यात्व होता है, उसमे सत् का स्वीकार नही आता। सत् का तो नाश नही होता किन्तु जिसने सत् को विपरीत माना है उसकी मान्यता मे सत् का अभाव होता है। त्रिकाली सत् स्वतत्र, किसी के वनाये विना है, और प्रत्येक समय का वर्तमान सत् भी स्वतंत्र किसी के वनाये विना है। ऐसे स्वतत्र सत् को विपरीत–पराधीन मानना सो मिथ्यात्व है, वही महान अधर्म है। लोग काला वाजार आदि मे तो अधर्म मानते हैं, किन्तु विपरीत मान्यता से सम्पूर्ण वस्तुस्वरूप का घात कर डालते हैं उस विपरीत मान्यता के पाप की खबर नही है। मिथ्यात्व तो धर्म का महान काला वजार है, उस काले वजार से चौरासी के अवतार की जेल है। सत को जैसे का तैसा माने तो मिथ्यात्वरूपी काले वजार का महान पाप दूर हो जाये और सच्चा धर्म हो। इसलिये सर्वज्ञदेव कथित वस्तुस्वभाव को बरावर समझना चाहिये।

❀

अहो ! वीतरागी तात्पर्य

प्रत्येक द्रव्य सदेव स्वभाव में रहता है इसलिये वह 'सत्' है। वस्तु अपने परिणाम मे वर्तमान रहती हो तभी सत् रहे न ? यदि वर्तमान परिणाम में न रहती हो तो वस्तु 'सत्' किस प्रकार रहे ? उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाला परिणाम वह वस्तु का स्वभाव है, और उस वर्तमान परिणाम मे वस्तु निरतर वर्त रही है, इससे वह सत् है।

आत्मा का क्षेत्र असख्यप्रदेशी एक है, और उस क्षेत्र का छोटे से छोटा अश सो प्रदेश है। उसी प्रकार सपूर्ण द्रव्य की प्रवाहधारा एक है, और उस प्रवाहधारा का छोटे से छोटा अश सो परिणाम है।

क्षेत्र अपेक्षा से द्रव्य का सूक्ष्म अंश सो प्रदेश है।

काल अपेक्षा से द्रव्य का सूक्ष्म अंश सो परिणाम है।

यह तो ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि कराने के लिये वर्णन है। परिणाम परिणामी में से आता है,—ऐसे परिणामी द्रव्य की दृष्टि कर तो उस परिणामी के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रपरिणाम उत्पन्न हो स्थिर रहे और बढ़कर पूर्ण हो।

प्रत्येक परिणाम अपने स्वकाल में उत्पन्न होता है पूर्व परिणाम से व्ययरूप है और अखण्डप्रवाह में वह ध्रौव्य है। केवलज्ञान-परिणाम अपने स्वरूप की अपेक्षा से स्वकाल में उत्पादरूप है पूर्व की अल्पज्ञ पर्याय अपेक्षा से वह व्ययरूप है और द्रव्य के अखण्डप्रवाह में तो वह केवलज्ञानपरिणाम ध्रौव्य है इस प्रकार समस्त परिणाम अपने-अपने वर्तमान काल में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाले हैं और उस-उस वर्तमान परिणामों में वस्तु वर्त रही है अर्थात् वस्तु वर्तमान में ही पूर्ण है। ऐसी वस्तु की दृष्टि कर तो उसके आश्रय से धर्म होता है। ज्ञानी केवलज्ञान पर्याय के काल को नहीं ढूंढते (उस पर दृष्टि नहीं रखते) क्योंकि वह पर्याय इस समय तो सत् नहीं है किन्तु भविष्य में अपने स्वकाल में वह सत् है इसलिये ज्ञानी तो वर्तमान में सत्-ऐसे ध्रुव द्रव्य को ही ढूंढते हैं-(ध्रुव पर दृष्टि रखते हैं।) इस अपेक्षा से नियमसार में उदय-उपशम-क्षयोपशम और क्षायिक—इन चारों भावों को विभावभाव कहा है। जो पर्याय वर्तमान उत्पाद रूप से वर्तती है वह तो अंश है केवलज्ञान पर्याय भी अंश है —वह वर्तमान प्रगट नहीं है और भविष्य में प्रगट होगी—इस प्रकार परिणाम के काल पर देखना नहीं रहता किन्तु वर्तमान परिणाम के समय ध्रुवरूप से संपूर्ण द्रव्य वर्त रहा है उस द्रव्य की प्रतीति करना इसमें आता है द्रव्य की दृष्टि होने में वीतरागता होती है। शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागता है वीतरागता को तात्पय कहने से स्वभाव की दृष्टि करने का ही तात्पर्य है—ऐसा आया क्योंकि वीतरागता तो स्वभाव की दृष्टि से होती है। अंतर में द्रव्यस्वभाव पर सदा रहने से वीतरा

र्त्ता हो जाती है, इससे ध्रुव द्रव्यस्वभाव की दृष्टि ही सर्वस्व कार्यकर हुई। पर्याय को ढूंढना नही रहा अर्थात् पर्याय की दृष्टि नही रही। ध्रुवस्वभाव की दृष्टि रखकर पर्याय का ज्ञाता रहा, उसमे वीतरागता होती जाती है।

वीतरागता ही तात्पर्य है, किन्तु वह वीतरागता कैसे हो? वीतरागपर्याय को खोजने से (उस पर्याय सन्मुख देखने से) वीतरागता नही होती किन्तु ध्रुवतत्त्व के आश्रय मे रहने से पर्याय मे वीतरागता रूप तात्पर्य हो जाता है। इस प्रकार द्रव्य पर दृष्टि होने मे ही तात्पर्य आ जाता है। इसलिये, शास्त्रो का तात्पर्य वीतरागता है—ऐसा कहो, या शास्त्र का तात्पर्य स्वभावदृष्टि है—ऐसा कहो, दोनो एक ही हैं। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि—

'जिनपद निजपद एकता, भेदभाव नहि काई;
लक्ष थवाने तेहनो कह्या शास्त्र सुखदाई।'

जैसा भगवान का आत्मा, वैसा ही अपना आत्मा, उसके स्वभाव मे कोई भेद नही है। ऐसे स्वभाव का लक्ष करना ही शास्त्रो का सार है।

यहाँ परिणामो के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य की बात चल रही है; उसमे से वीतरागी तात्पर्य किस प्रकार निकलता है वह बतलाया है। परिणामो की ध्रौव्यता तो अखण्डप्रवाह अपेक्षा से है। अब, परिणामो का प्रवाहक्रम एक साथ तो वर्तता नही है, इसलिये परिणामो की ध्रौव्यता निश्चित करते हुए ध्रुवस्वभाव पर दृष्टि जाती है। ध्रुवस्वभाव की दृष्टि बिना परिणाम के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य निश्चित् नही हो सकते। परिणाम को ध्रौव्य कब कहा?—परिणामो के सम्पूर्ण प्रवाह की अपेक्षा से उसे ध्रौव्य कहा है, सम्पूर्ण प्रवाह एक समय मे प्रगट नही हो जाता इसलिये परिणाम की ध्रौव्यता निश्चित करनेवाले की, दृष्टि एक–एक परिणाम के ऊपर से हटकर ध्रुव द्रव्य पर गई। परिणाम के ऊपर की दृष्टि से (पर्यायदृष्टि से) परिणाम की ध्रौव्यता

निश्चित नहीं होती। परिणामों का अखण्ड प्रवाह कहीं एक ही परिणाम में तो नहीं है, इसलिये अखण्ड की—त्रिकाली ध्रौव्य की—ध्रुवस्वभाव की दृष्टि हुए बिना परिणाम के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य भी ख्याल में नहीं आ सकते।

वस्तु एक समय में पूर्ण है उसके परिणाम में उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यपना है। वह उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यपना निश्चित करने से द्रव्य पर ही दृष्टि जाती है। वर्तमानपरिणाम से उत्पाद है, पूर्वपरिणाम से व्यय है, और अखण्डप्रवाह की अपेक्षा से ध्रौव्य है। इसलिये अखण्डप्रवाह की दृष्टि में ही ध्रुवस्वभाव पर दृष्टि गई, और तभी परिणाम के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य निश्चित हुए।

इसमें पुरुषार्थ कहाँ काम करता है?—ऐसा निश्चित किया वहाँ पुरुषार्थ द्रव्यसन्मुख ही कार्य करने लगा, और वीतरागता ही होने लगी। परिणाम अपने स्वकाल में होते हैं वे तो होते ही रहते हैं किन्तु ऐसा निश्चित करनेवाले की दृष्टि ध्रुव पर पड़ी है। ध्रौव्य-दृष्टि हुए बिना यह बात नहीं जम सकती।

इस ज्ञेय–अधिकार में मात्र पर प्रकाशक की बात नहीं है परन्तु स्वसन्मुख स्वप्रकाशकपना सहित परप्रकाशक की बात है। जहाँ अपने ध्रुवस्वभाव की सन्मुखता में स्वप्रकाशक हुआ वहाँ सम्पूर्ण जगत के समस्त पदार्थ भी ऐसे ही हैं—ऐसा पर प्रकाशकपना ज्ञान में विकसित हो ही जाता है। द्रव्य भी उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक है। वे उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य कब निश्चित होते हैं? ज्ञायक चैतन्यद्रव्य की दृष्टि तथा उस ओर उन्मुखता होने से सब निश्चित हो जाता है जिस प्रकार स्व के ज्ञानसहित ही पर का सच्चा ज्ञान होता है उसी प्रकार ध्रुव की दृष्टि से ही उत्पाद–व्यय का सच्चा ज्ञान होता है।

वस्तुस्वरूप ऐसा है कि कहीं पर के ऊपर तो देखना नहीं है और मात्र अपनी पर्यायसन्मुख भी देखना नहीं है विकल्प को दूर करके निर्विकल्पता करूँ—ऐसे लक्ष से निर्विकल्पता नहीं होती किन्तु ध्रुव के लक्ष से निर्विकल्पता हो जाती है। इसलिये पर्याय के उत्पाद–

व्यय के सन्मुख भी देखना नही है। पर्यायो के प्रवाहक्रम मे द्रव्य वर्त रहा है। किस पर्याय के समय सम्पूर्ण द्रव्य नही है ?—जब देखो तब द्रव्य वर्तमान मे परिपूर्ण है, ऐसे द्रव्य की सन्मुखता होने से प्रवाहक्रम निश्चित होता है। फिर उस प्रवाह का क्रम बदलने की बुद्धि नही रहती, किन्तु ज्ञातापने का ही अभिप्राय रहता है। वहाँ वह प्रवाहक्रम ऐसे का ऐसा रह जाता है और द्रव्यदृष्टि हो जाती है। उस द्रव्यदृष्टि मे क्रमश वीतरागी परिणामो का ही प्रवाह निकलता रहेगा। ऐसा इस ६६ वी गाथा का सार है।

अहो ! अपार वस्तु है, केवलज्ञान का कोठार भरा है। इसमे से जितना रहस्य निकालो उतना निकल सकता है। भीतर दृष्टि करे तो पार आ सकता है।

अहो ! आचार्यभगवान ने अमृत के ढक्कन खोल दिये हैं,—अमृत का प्रवाह बहा दिया है।

(१) सामान्य मे से विशेष होता है ऐसा कहो,

(२) वस्तु उत्पाद—व्यय—ध्रौव्ययुक्त है ऐसा कहो, अथवा

(३) द्रव्य मे से क्रमबद्धपर्याय की प्रवाहधारा बहती है, ऐसा कहो, इसका निर्णय करने मे ध्रुवस्वभाव पर ही दृष्टि जाती है। ध्रुवस्वभाव की रुचि मे ही सम्यक्त्व और वीतरागता होती है। यह तो अतर रुचि की और अतरदृष्टि की वस्तु है, मात्र शास्त्र की, पडि-ताई की यह वस्तु नही है।

यह, वस्तु के समय—समय के परिणाम मे उत्पाद—व्यय—ध्रौव्य की सूक्ष्म बात है। कुभार घडा नही बनाता और कर्म जीव को विकार नही कराते—यह तो ठीक, किन्तु यह तो उससे भी सूक्ष्म बात है। सर्वज्ञता मे ज्ञात हुआ वस्तुस्वभाव का एकदम सूक्ष्म नियम यहाँ बतला दिया है। मिट्टी स्वय पिण्डदशा का नाश होकर घटपर्याय रूप उत्पन्न होती है और मिट्टीपने के प्रवाह की अपेक्षा वह ध्रौव्य है, उसी प्रकार समस्त पदार्थ उत्पाद—व्यय—ध्रौव्यस्वभाववाले हैं।—

ऐसा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव समझने से अपने को पर-सन्मुख देखना नहीं रहता क्योंकि पर के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को स्वयं नहीं करता और अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य पर से नहीं होते इसलिये अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के लिये कहीं परसन्मुख देखना नहीं रहता किन्तु स्वसन्मुख देखना ही रहता है। अब स्वयं अपने परिणामों को देखते हुए ज्ञान अंतर में परिणामी स्वभाव की ओर उन्मुख होता है, और उस परिणामी के आधार से वीतरागी परिणाम का प्रवाह निकलता रहता है। इस प्रकार ध्रुव के आश्रय से वीतरागी परिणाम का प्रवाह निकलता रहता है।—उसकी यह बात है।

'आत्मा दूसरे का कुछ नहीं कर सकता।'—ऐसा कहते ही अन्य किसी के सन्मुख देखना नहीं रहता, किन्तु स्वसन्मुख देखना आता है। अपने में अपने परिणाम अपने से होते हैं—ऐसा निश्चित करने पर अंतर में जहाँ से परिणाम की धारा बहती है ऐसे ध्रुव द्रव्य-सन्मुख देखना रहा। और ध्रुव-सन्मुख देखते ही (ध्रुवस्वभाव की दृष्टि होते ही) सम्यक्पर्याय का उत्पाद होता है। यदि ध्रुव सन्मुख न देखे तो पर्यायदृष्टि में मिथ्यापर्याय का उत्पाद होता है। इसलिये वस्तु के ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव को समझने से ध्रुवस्वभाव की दृष्टि से सम्यक् वीतराग पर्यायों का उत्पाद हो—यही सब कथन का तात्पर्य है।

चैतन्यतत्त्व की महिमा और दुर्लभता

अहो! आत्मा के शुद्ध स्वभाव की परमअद्भुत महिमावाली बात जीवों ने यथार्थरूप से कभी नहीं सुनी। इस समय चैतन्य तत्त्व की महिमा की बात सुनने को मिलना भी अति दुर्लभ हो गया है। जो जीव अति जिज्ञासु और आत्मार्थी योग्य होकर आत्मस्वभाव की यह बात सुने उसका कल्याण हो सकता है।

—प्रवचन में से

आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है ?

प्रवचनसार के परिशिष्ट मे ४७ नयो द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन किया है, उसपर पूज्य गुरुदेव के विशिष्ट अपूर्व प्रवचन का सार

* 'प्रभो ! यह आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त किया जाता है ?' —ऐसा जिज्ञासु शिष्य पूछता है।
* उसके उत्तर में श्री आचार्यदेव कहते हैं कि 'आत्मा अनत धर्मोवाला एक द्रव्य है और अनन्तनयात्मक श्रुतज्ञान प्रमाण पूर्वक स्वानुभव द्वारा वह ज्ञात होता है।
* उस आत्मद्रव्य का ४७ नयो से वर्णन किया है, उसमें से २५ नयो पर के प्रवचन अभीतक आ गये हैं, उसके आगे यहाँ दिये जा रहे हैं।

(२६) नियतनय से आत्मा का वर्णन

अनन्तधर्मवाला चैतन्यमूर्ति आत्मा प्रमाणज्ञान से ज्ञात होता है, उसका २५ नयों से अनेक प्रकार से वर्णन किया है। अब नियति, स्वभाव, काल, पुरुषार्थ और देव—इन पाँच बोलो का वर्णन करते हैं, उनमे प्रथम नियतिनय से आत्मा कैसा है वह कहते हैं।

आत्मद्रव्य नियतनय से नियतस्वभावरूप भासित होता है, जिस प्रकार उष्णता वह अग्नि का नियत स्वभाव है उसी प्रकार नियतिनय से आत्मा भी अपने नियतस्वभाववाला भासित होता है। आत्मा के त्रिकाल एकरूप स्वभाव को यहाँ नियतस्वभाव कहा है, उस स्वभाव को देखनेवाले नियतनय से जब देखो तब आत्मा अपने चैतन्यस्वभावरूप से एकरूप भासित होता है। पर्याय मे कभी तीव्र-राग, कभी मदराग और कभी रागरहितपना, और कभी राग बदल-

कर द्वेष, कभी मतिज्ञान और कभी केवलज्ञान, एक क्षण मनुष्य और दूसरे क्षण देव—इसतरह अनेक प्रकार होते हैं—उनका वर्णन आगे आनेवाले बोल में आत्मा के अनियत स्वभावरूप से करेंगे। यहाँ आत्मा के नियतस्वभाव की बात है। जैसा शुद्ध चैतन्य ज्ञानानन्दस्वभाव है वैसे ही नियतस्वभावरूप से आत्मा सदैव प्रतिभासित होता है पर्याय अल्प हो या अधिक हो विकारी हो या निर्मल हो परन्तु नियतस्वभाव से तो आत्मा सदव एकरूप है। ऐसे नियतस्वभाव को जो देखता है उसे अकेली पर्यायबुद्धि नहीं रहेगी किन्तु द्रव्यस्वभाव का अवलम्बन होगा। पर्यायबुद्धिवाला जीव आत्मा को एकरूप नियतस्वभाव से नहीं देख सकता और न उसके नियतनय होता है।

यहाँ द्रव्य के त्रिकाली स्वभाव को ही नियत कहा है जिस प्रकार उष्णता वह अग्नि का नियतस्वभाव है, अग्नि सदैव उष्ण ही होती है ऐसा कभी नहीं हो सकता कि अग्नि उष्णतारहित हो। उसी प्रकार चैतन्यपना आत्मा का नियत स्वभाव है उस स्वभाव से जब देखो तब आत्मा एकरूप चैतन्यस्वरूपमय ज्ञात होता है। यद्यपि पर्याय में भी नियतपना अर्थात् क्रमबद्धपना है; जिस समय जिस पर्याय का होना नियत है वही होती है उसके क्रम में परिवर्तन नहीं होता—ऐसा पर्याय का नियत स्वभाव है परन्तु इस समय यहाँ उसकी बात नहीं है यहाँ तो निमित्त की अपेक्षारहित आत्मा का जो त्रिकाल एकरूप रहनेवाला स्वाभाविक धर्म है उसका नाम नियतस्वभाव है और वह नियतनय का विषय है।

जिस प्रकार अग्नि का उष्णस्वभाव है वह नियत ही है—निश्चित ही है अग्नि सदैव उष्ण ही होती है। उसी प्रकार आत्मा का चैतन्यस्वभाव नियत—निश्चित—सदैव एकरूप है नियतस्वभाव से आत्मा अनादि—अनन्त एकरूप नियत परम पारिणामिक—स्वभावरूप ही भासित होता है बंध—मोक्ष के भेद भी उसमें दिखाई नहीं देते। बन्ध और मोक्ष की पर्यायें नियत अर्थात् स्थायी एकरूप नहीं हैं परन्तु अनियत हैं। उदय—उपशम—क्षयोपशम या क्षायिक—यह चारों

भाव भी अनियत हैं, परमपारिणामिक–स्वभाव ही नियत है। आत्मा का सहज निरपेक्ष शुद्ध स्वभाव ही नियत है। नियतनय आत्मा को सदैव ज्ञायक स्वभावरूप ही देखता है। आत्मा का ज्ञायक स्वभाव है वह नियत—निश्चित हुआ अनादि–अनन्त स्वभाव है, उसमे कभी परिवर्तन नही हो सकता। आत्मा के ऐसे स्वभाव को जाननेवाला जीव पर्याय के अनेक प्रकारो को भी जानता है, तथापि उसे पर्याय-बुद्धि नही होती। आत्मा के नियत एकरूपध्रुव स्वभाव को जानने से उसीका आश्रय होता है, इसके अतिरिक्त किसी निमित्त, विकल्प या पर्याय के आश्रय की मान्यता उसे नही रहती। इस प्रकार प्रत्येक नय से शुद्ध आत्मा की ही साधना होती है। जो जीव अन्तरग मे शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को नही देखता उसके एक भी सच्चा नय नही होता।

जैसे कोई कहे कि—ऐसा नियम बनाओ जिसमे कभी परिवर्तन न हो। उसी प्रकार यह नियतनय आत्मा के स्वभाव का ऐसा नियम बाँधता है कि जो कभी पलट न सके, आत्मा का नियम क्या है?—कि अपने शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव से त्रिकाल रहना ही उसका नियम है, अपने ज्ञानानन्दस्वभाव को वह कभी नही छोडता। जो आत्मस्वभाव के ऐसे नियम को जानता है वह नियम से मुक्ति प्राप्त करता है।

देखो, यह आत्मस्वभाव के गीत! सतो के अन्तर् अनुभव मे से यह झन्कार उठी है कि अरे जीव! तूने अपने नियत परमानन्द-स्वभाव को कभी छोडा नहीं है, तेरा सहज ज्ञान और आनन्द स्वभाव तुझमे नियत है, तू सदैव अनाकुल शात रस का कुण्ड है, यदि अग्नि कभी अपनी उष्णता को छोड दे तो भगवान् आत्मा अपने पवित्र चैतन्यस्वभाव को छोडे! परन्तु ऐसा कभी नही होता। केवलज्ञान और परम आनन्द प्रगट होने के सामर्थ्य से सदैव परिपूर्ण ऐसा तेरा नियत स्वभाव है, उस स्वभाव के अवलम्बन से ही धर्म प्रगट होता है, इसके अतिरिक्त कहीं बाह्य से धर्म नही आता। एक

बार अन्तर में अपने ऐसे नियत स्वभाव को देख !

नियतनय से देखने पर पवित्रता का पिण्ड आत्मा स्वयं चैतन्यस्वभाव से नियत ज्ञात होता है—ऐसा उसका धर्म है। यह धर्म आत्मा को सदैव अपने परम शुद्ध अमृत रस में डुबा रखता है; अपने शांत उपशम रस में स्थिर—नियत रखता है। नरक में या स्वर्ग में अज्ञानदशा के समय या साधकदशा के समय, निगोद में या सब या सिद्धदशा में होगा तब—कभी भी वह अपने स्वभाव को बदलकर अन्यरूप नहीं हो जाता—ऐसा आत्मा का नियतस्वभाव है। जो ऐसे नियतस्वभाव को जाने उसके पर्याय में भी ऐसा ही नियत होता है कि अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करे।

एक ओर देखने से अनुकूलता में राग और फिर वह बदल कर प्रतिकूलता में द्वेष—इस प्रकार आत्मा अनियतस्वभाव से सब में आता है और दूसरी ओर से देखने पर तीन लोक की चाहे जैसी प्रतिकूलता आ पड़े तथापि आत्मा कभी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता—ऐसा उसका नियतस्वभाव है।—इस प्रकार दोनों स्वभावों से जो आत्मा को जानता है उसे ध्रुव एकरूप स्वभाव की महिमा आकर उसमें अन्तरोन्मुखता हुए बिना नहीं रहेगी।

जिस प्रकार, अग्नि में उष्णता न हो ऐसा कभी नहीं हो सकता उसी प्रकार आत्मा का ज्ञानानन्द स्वभाव अनादि-अनंत एकरूप है उसका नाम नियतस्वभाव है। अग्नि का स्वभाव ऐसा नियत है कि उसमें उष्णता होती ही है उसी प्रकार आत्मा में ऐसा नियत धर्म है कि अपने शुद्धचैतन्यस्वभाव से वह कभी पृथक नहीं होता। आत्मा का त्रिकाली स्वभाव अनंत सहजानंद की मूर्ति है उस स्वभाव को देखनेवाले ज्ञानी जीव ऐसा नहीं मानते कि किन्हीं अनुकूल निमित्तों से मेरा स्वभाव नवीन उत्पन्न होता है अथवा प्रतिकूल निमित्तों से मेरा स्वभाव नष्ट हो जाता है या उसमें परिवर्तन हो जाता है। इसलिये उन ज्ञानियों को चाहे जैसे अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंगों में भी अनन्तानुबन्धी राग-द्वेष होते ही नहीं। वे जानते हैं कि हमारा आत्मा त्रिकाल चैतन्य

ज्ञायकरूप से नियत है, हमे अपने ज्ञायकस्वभाव से छुडाने की किन्ही संयोगो की तो शक्ति नही है, और पर्याय के क्षणिक विकार मे भी ऐसी शक्ति नही है कि हमे अपने स्वभाव से पृथक् कर दे। जिस प्रकार लोग नियम लेते हैं कि हम अमुक वस्तु नही खाएँगे, उसी प्रकार आत्मा के नियतस्वभाव का ऐसा नियम है कि तीनकाल मे कभी भी अपने चैतन्यस्वभाव को छोडकर विभावरूप नही होना। जो घडी–घडी मे बदले उसे नियम नही कहा जाता।

देखो, यह काहे की बात चल रही है ? यह भगवान आत्मा के गीत गाए जा रहे हैं, आत्मा में जो धर्म हैं उनकी यह महिमा गायी जा रही है। अज्ञानी को अनादिकाल से अपने स्वभाव की महिमा नही रुचती और वह पर की महिमा करता है। जहाँ उच्चप्रकार के हीरे–जवाहिरात या आभूषणो की महिमा सुनता है वहाँ उनकी महिमा आ जाती है, परन्तु आत्मा स्वयं तीनलोक का प्रकाशक चैतन्य हीरा है उसके स्वभाव की महिमा गायी जा रही है, उसे सुनने मे अज्ञानी को रुचि या उत्साह नही आता। यहाँ तो जिसे आत्मा का स्वभाव समझने की जिज्ञासा जागृत हुई है उसे आचार्यदेव समझाते हैं। आत्मा का शुद्ध-स्वभाव त्रिकाल नियमित है, उसी के आधार से पर्याय मे शुद्धता प्रगट होती है, इसके अतिरिक्त कही बाह्य में से, विकार मे से या क्षणिक पर्याय मे से शुद्ध पर्याय नही आती। भगवान आत्मा ने अपनी पवित्रता के पिण्ड को कभी छोडा नही है। पर्याय मे जो शुद्धता प्रगट होती है वह तो पहले नही थी और नवीन प्रगट हुई, इसलिये वह अनियत है, और शुद्ध स्वभाव ध्रुवरूप से सदैव ऐसे का ऐसा ही है, इसलिये वह नियत है। पर्याय जिस समय जो होना हो वही होती है,— इस प्रकार से पर्याय का जो नियत है उसकी इस नियतनय मे बात नही है परन्तु यहा तो द्रव्य के नियतस्वभाव की बात है, क्योकि नियत के समक्ष फिर अनियतस्वभाव का भी कथन करेंगे, उसमे पर्याय की बात लेगे। पर्यायो के नियतपने की (क्रमबद्धपर्याय की) जो बात है उसमें नियत और अनियत ऐसे दो प्रकार नही हैं, उसमें तो नियत का

एक ही प्रकार है कि समस्त पर्यायें नियत ही हैं—कोई भी पर्याय अनियत नहीं है। परन्तु इससमय तो आत्मवस्तु में नियतस्वभाव और अनियतस्वभाव—ऐसे दोनों धर्म उतारना हैं इसलिये यहाँ नियत अर्थात् द्रव्य का एकरूप स्वभाव पर्याय का क्रम नियत है परन्तु पर्यायस्वभाव त्रिकाल एकसमान रहनेवाला नहीं है इसलिये उसे यहाँ अनियत स्वभाव कहा है। अब पर्याय का नियतपना (—क्रमबद्धपना) कहना हो उससमय तो विकार भी नियत कहा जाता है ज्ञान नियत है ज्ञेय नियत हैं विकार नियत है संयोग और निमित्त भी नियत हैं जो हों वही होते हैं अन्य नहीं होते जिससमय जो होना है वह सब नियत ही है। ऐसे नियत के निर्णय में भी ज्ञानस्वभाव की ही दृष्टि हो जाती है और वस्तु का नियत—अनियत स्वभाव कहा उसके निर्णय में भी ध्रुवस्वभाव की दृष्टि हो जाती है। द्रव्य के नियतस्वभाव को जानने पर राग को अनियत धर्मरूप से जानता है इसलिये उस राग में स्वभावबुद्धि नहीं होती इस प्रकार आत्मा के नियत स्वभाव को जानने पर राग से भेदज्ञान हो जाता है।

राग होता है वह आत्मा का अनियतस्वभाव है—ऐसा जाने अथवा राग को उस समय की पर्याय के नियमरूप से जाने तो भी उन दोनों में आत्मा का नियतस्वभाव उस राग से भिन्न है ऐसा भेदज्ञान होकर स्वभावदृष्टि होती है।

जो जीव त्रिकाली द्रव्य के नियतस्वभाव को जाने वही जीव त्रिकाल की पर्यायों के नियतपने को यथार्थ जानता है और क्षणिक भावों के अनियतपने को भी वही जानता है। पर्याय में राग हुआ वह आत्मा का अपना अनियतधर्म है इसलिये कर्म के उदय के कारण राग हुआ यह बात नहीं रहती। आत्मा का स्थायी स्वभाव वह नियत है और क्षणिकभाव वह अनियत है। पूर्व अनादिकाल में आत्मा नरक—निगोद आदि चाहे जिस पर्याय में रहा तथापि आत्मा के नियतधर्म को उसने अपने शुद्धस्वभाव से एकरूप बना रखा है जहाँ—जहाँ परिभ्रमण किया वहाँ सर्वत्र अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव को अपने

साथ रखकर भटका है। यदि ऐसे अंतरस्वभाव का ज्ञान करे तो वर्तमान मे अपूर्व धर्म होता है।

नियतनय का विषय त्रिकाल एकरूप रहनेवाला द्रव्य है और अनियतनय का विषय पर्याय है। 'अनियत' का अर्थ अक्रमवद्ध-अनिश्चित् अथवा उल्टी-सीधी पर्याय—ऐसा नही समझना, परन्तु पर्याय वह आत्मा का त्रिकाल एकरूप रहनेवाला स्वभाव नही है किन्तु वह पलट जाता है उस अपेक्षा से उसे अनियत धर्म समझना। पर्याय तो त्रिकाल के प्रत्येक समय की जैसी है वैसी नियत है, उसमे कुछ उल्टा-सीधा नही हो सकता। वस ! तू अपने ज्ञान की प्रतीति करके उसका ज्ञाता रह जा। शरीरादि मेरे हैं—यह वात भूल जा, और राग को वदलूं—यह वात भी भूल जा, शरीरादि और रागादि—सवको जाननेवाला तेरा ज्ञानस्वभाव है उसे सँभाल; वह तेरा नियतस्वभाव है। अपने नियतस्वभाव को तूने कभी छोडा नही है।

आत्मा त्रिकाल ज्ञानस्वभाव है—इस प्रकार द्रव्य के नियतस्वभाव का निर्णय करे तो वह स्वभावदृष्टि से रागादि का ज्ञाता हो गया।

द्रव्य के नियतस्वभाव को जानने पर, राग को पर्याय के नियत रूप से जाने तो उसमें भी राग का ज्ञाता हो गया।

राग आत्मा का अनियत स्वभाव है अर्थात् वह आत्मा का त्रिकाल स्थायी स्वभाव नही है-ऐसा जाने तो उसमे भी राग और स्वभाव का भेदज्ञान होकर राग का ज्ञाता रह गया।

—इस प्रकार चाहे जिस रीति से समझे परन्तु उसमें ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता करना ही आता है और वही धर्म है।

'नियतवाद' का बहाना लेकर अज्ञानी लोग अनेक प्रकार की अधाधुधी चलाते हैं। सर्वज्ञदेव ने जैसा देखा है उसी प्रकार नियम से होता है—इस प्रकार सर्वज्ञ की श्रद्धापूर्वक के सम्यक् नियतवाद को भी अज्ञानो गृहीतमिथ्यात्व कहते हैं, परन्तु उसमे ज्ञानस्वभाव के

निर्णय का महान पुरुषार्थ आता है उसकी उन्हें खबर नहीं है। तथा दूसरे स्वच्छन्दी जीव, सर्वज्ञ के निर्णय के पुरुषार्थ को स्वीकार किये बिना अकेला नियत का नाम लेकर पुरुषार्थ को उड़ाते हैं उन्हें भी नियतस्वभाव की खबर नहीं है।

गोम्मटसार में नियतवादी को गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा है। वह जीव तो ज्ञानस्वभाव की प्रतीति का सम्यक पुरुषार्थ नहीं करता सर्वज्ञ की प्रतीति नहीं करता परन्तु विकार का और पर का स्वामी होकर कहता है कि 'जो नियत होगा वह होगा। परन्तु 'जो नियत होगा वह होगा'—ऐसा जाना किसने उसका निर्णय कहाँ किया ?—अपने ज्ञान में। तो तुझे अपने ज्ञान की प्रतीति है ? ज्ञान की बड़ाई और महिमा को जानकर उसके सन्मुख होकर ज्ञेयों के नियत को जो जानता है वह तो मोक्षमार्गी साधक हो गया है उसकी गोम्मटसार में बात नहीं है परन्तु जो मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञानस्वभाव के सन्मुख हुए बिना और सर्वज्ञ की श्रद्धा किए बिना मात्र परसन्मुख देखकर नियत मानता है वह मिथ्या नियतवादी है और उसीको गोम्मटसार में गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा है।

सर्वज्ञस्वभाव की श्रद्धापूर्वक अपने ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर ऐसा निर्णय किया कि अहो ! सब नियत है; जिस समय जैसा होना है वैसा ही क्रमबद्ध होता है, मैं तो स्व-परप्रकाशी ज्ञाता हूँ। ऐसा निर्णय वह सम्यग्दृष्टि का सम्यक् नियतवाद है। इस नियत में द्रव्य-पर्याय सबका समावेश हो जाता है, अज्ञानी का नियतवाद ऐसा नहीं होता। जिसने अपने ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर उसकी रुचि का सम्यक-पुरुषार्थ प्रगट किया और शुभ-अशुभ भावों की रुचि छोड़ दी है उसीने वास्तव में सम्यक नियतवाद को माना है उसमें चैतन्य का पुरुषार्थ है मोक्ष का मार्ग है। उसका वर्णन स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की ३२१-३२२ वीं गाथा में है सम्यग्दृष्टि जीव वस्तु के यथार्थ स्वरूप का कैसा चिंतवन करता है वह उसमें बतलाया है।

यहाँ प्रवचनसार मे जो नियतधर्म कहा है वह तीसरी बात है। यहाँ तो आत्मा का जो त्रिकाल एकरूप शुद्ध निरपेक्ष चैतन्यस्वभाव है उसका नाम नियतधर्म है। स्वभाववान कभी अपने मूल स्वभाव को नही छोडता—ऐसा उसका नियतधर्म है। यह नियतधर्म तो ज्ञानी–अज्ञानी सभी जीवो मे है, परन्तु ज्ञानी ही उसे नियतनय द्वारा जानते हैं। नियतधर्म सभी आत्माओ मे है, परन्तु नियतनय सभी आत्माओ के नही होता, जो ज्ञानी आत्मा के नियतस्वभाव को जाने उसीके नियतनय होता है।

इस प्रकार नियतनय के तीन प्रकार हुए:—

(१) गोम्मटसार में कहा हुआ ज्ञान की प्रतीतिरहित गृहीत-मिथ्यादृष्टि का नियतवाद।

(२) स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे कहा हुआ ज्ञानी का नियतवाद, उसमे सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानस्वभाव की भावनापूर्वक सर्वज्ञदेव के देखे हुए वस्तुस्वरूप का चितन करता हुआ, जैसा होता है वैसा पर्याय के नियत को जानता है, उसमे विषमभाव नही होने देता। इसलिये यह ज्ञानी का नियतवाद तो वीतरागता और सर्वज्ञता का कारण है।

(३) इस प्रवचनसार मे कहा हुआ नियतस्वभाव, नियतनय से सभी जीव त्रिकाल एकरूप ज्ञानस्वभाव से नियत हैं।

उपरोक्त तीन प्रकारो में से गोम्मटसार मे जिस नियतवाद को गृहीतमिथ्यात्व मे गिना है वह अज्ञानी का है, उसे सर्वज्ञ की श्रद्धा नहीं है। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में वर्णित नियतवाद तो सर्वज्ञ की श्रद्धा सहित और ज्ञाताद्दष्टास्वभाव की सन्मुखता के पुरुषार्थ सहित ज्ञानी का सम्यक् नियतवाद है। और प्रवचनसार मे जिस नियतवाद की बात है वह समस्त जीवो का त्रिकाल एकरूप शुद्ध चिदानन्दस्वभाव है उसकी बात है। आत्मा अपने असली चैतन्यस्वभाव को कभी नही छोडता ऐसा उसका नियतस्वभाव है। जो जीव ऐसे नियतस्वभाव को जाने उसे विकार पर बुद्धि नही रहती, क्योकि

निर्णय का महान पुरुषार्थ आता है उसकी उन्हें खबर नहीं है। तथा दूसरे स्वच्छन्दी जीव, सर्वज्ञ के निर्णय के पुरुषार्थ को स्वीकार किये बिना अकेला नियत का नाम लेकर पुरुषार्थ को उड़ाते हैं उन्हें भी नियतस्वभाव की खबर नहीं है।

गोम्मटसार में नियतवादी को गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा है। वह जीव तो ज्ञानस्वभाव की प्रतीति का सम्यक पुरुषार्थ नहीं करता सर्वज्ञ की प्रतीति नहीं करता परन्तु विकार का और पर का स्वामी होकर कहता है कि 'जो नियत होगा वह होगा। परन्तु 'जो नियत होगा वह होगा'—ऐसा जाना किसने उसका निर्णय कहाँ किया ?—अपने ज्ञान में। तो तुझे अपने ज्ञान की प्रतीति है ? ज्ञान की बड़ाई और महिमा को जानकर उसके सन्मुख होकर ज्ञेयों के नियत को जो जानता है वह तो मोक्षमार्गी साधक हो गया है उसकी गोम्मटसार में बात नहीं है परन्तु जो मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञानस्वभाव के सन्मुख हुए बिना और सर्वज्ञ की श्रद्धा किए बिना मात्र परसन्मुख देखकर नियत मानता है वह मिथ्या नियतवादी है और उसीको गोम्मटसार में गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा है।

सर्वज्ञस्वभाव की श्रद्धापूर्वक अपने ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर ऐसा निर्णय किया कि अहो ! सब नियत है जिस समय जैसा *होना है वैसा ही क्रमबद्ध होता है मैं तो स्व-परप्रकाशी ज्ञाता हूँ।* ऐसा निर्णय वह सम्यग्दृष्टि का सम्यक् नियतवाद है। इस नियत में द्रव्य-पर्याय सबका समावेश हो जाता है, अज्ञानी का नियतवाद ऐसा नहीं होता। जिसने अपने ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर उसकी रुचि का सम्यक-पुरुषार्थ प्रगट किया और शुभ-अशुभ भावों की रुचि छोड़ दी है उसीने वास्तव में सम्यक नियतवाद को माना है उसमें चैतन्य का पुरुषार्थ है, मोक्ष का माग है। उसका वर्णन स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की ३२१-३२२ वीं गाथा में है; सम्यग्दृष्टि जीव वस्तु के यथार्थ स्वरूप का कैसा चिंतवन करता है वह उसमें बतलाया है।

विकार आत्मा का त्रिकाल स्वभाव नहीं है। इस तीसरे बोल की अपेक्षा से तो विकार आत्मा का 'अनियतभाव' है और दूसरे बोल की अपेक्षा से तो विकारभाव भी 'नियत' है क्योंकि उस समय उसी पर्याय का क्रम नियत है।

विकार होता है वह आत्मा का त्रिकाली स्वभाव नहीं है इसलिये अनियतरूप से उसका वर्णन करेंगे परन्तु उस अनियत का अर्थ ऐसा नहीं है कि उस समय की उस पर्याय के क्रम में भंग पड़ा! आत्मा की पर्याय में कभी विकार होता है और कभी नहीं होता और न वह सदैव एक–सा रहता है—इसलिये उसे अनियत कहा है परन्तु पर्याय के क्रम की अपेक्षा तो वह भी नियत ही है। वस्तुस्वभाव त्रिकाल व्यवस्थित परिणमित हो रहा है उसकी तीनों काल की पर्यायों में इतनी नियमितता है कि उसके क्रम का भंग करने में अनंत तीर्थंकर भी समर्थ नहीं हैं। पर्यायों के ऐसे व्यवस्थितपने का निर्णय करनेवाला जीव स्वयं त्रिकाली द्रव्य के सन्मुख देखकर वह निर्णय करता है इसलिये वह स्वयं स्वभावोन्मुख और मोक्षपथ में बैठा हुआ साधक हो गया है। क्रमरूप पर्यायें एकसाथ नहीं होतीं इसलिये उस क्रम की प्रतीति करनेवाले की दृष्टि अक्रमरूप द्रव्यस्वभाव पर होती है, और उसीमें मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ आ जाता है।

धर्मी जीव नियतनय से ऐसा जानता है कि मैंने अपने स्वभाव को सदैव ऐसे का ऐसा नियत बना रखा है मेरे स्वभाव में कुछ भी न्यूनाधिकता नहीं विकार के समय मेरे स्वभाव में से कुछ कम नहीं हो जाता और न केवलज्ञान होने से कुछ बढ़ जाता है पर्याय में विकार हो या निर्विकारीपना हो परन्तु अपने नियतस्वभाव में से तो सदैव एकरूप हूँ। इस प्रकार द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा का नियतधर्म है परन्तु उसी के साथ पर्याय अपेक्षा से अनियतधर्म भी विद्यमान है उसे भी धर्मी जानता है, उसका वर्णन अगले बोल में करेंगे।

अग्नि कभी ठण्डी हो और कभी गर्म हो—ऐसे दो प्रकार उसमे नही हैं, अग्नि गर्म ही होती है—ऐसा एक नियत प्रकार है। उसी प्रकार नियतनय से आत्मा मे भी ऐसा नियतस्वभाव है कि वह सदैव एकरूप शुद्ध चैतन्यस्वरूप ही रहता है। जिस प्रकार अग्नि कभी अपनी उष्णता से पृथक् नही होती ऐसा उसके स्वभाव का नियम है, उसीप्रकार आत्मा के स्वभाव का ऐसा नियम है कि वह अपने शुद्ध चैतन्यत्व से पृथक् नही होता।

यहाँ त्रिकाली शुद्धस्वभाव के नियम को नियत कहा है। गोम्मटसार का नियतवादी तो ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के पुरुषार्थ से रहित है इसलिये वह गृहीतमिथ्यादृष्टि है। और द्वादशानुप्रेक्षा मे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के पुरुषार्थ सहित सम्यग्दृष्टि के सम्यक् नियतवाद का वर्णन है। जिस पदार्थ की जिस समय, जिस प्रकार जिस अवस्था का होना सर्वज्ञदेव के ज्ञान मे प्रतिभासित हुआ है उस पदार्थ की उस समय उसी प्रकार वैसी ही अवस्था नियम से होती है, कोई इन्द्र, नरेन्द्र या जिनेन्द्र भी उसमे फेरफार नही कर सकते—ऐसा वस्तुस्वरूप समझनेवाले सम्यग्दृष्टि को साथ मे ऐसी भी प्रतीति है कि मैं ज्ञाता हूँ। इसलिये पर से उदासीन होकर वह उसका ज्ञाता रहा, और अपनी पर्याय का आधार द्रव्य है उस द्रव्य की ओर उन्मुख हुआ; द्रव्य-दृष्टि से उसे क्रमश पर्याय की शुद्धता होने लगती है।—ऐसा यह सम्यक् नियतवाद है।

देखो, गोम्मटसार मे नियतवादी को गृहीत मिथ्यादृष्टि कहा, और यहाँ सम्यग्दृष्टि के नियतवाद को यथार्थ कहा। कहाँ कौन-सी अपेक्षा है वह गुरुगम से समझना चाहिये।

ज्या ज्या जे जे योग्य छे तहा समजवु तेह,
त्या त्या ते ते आचरे आत्मार्थी जन एह।

कुछ लोग तो 'नियत'—ऐसा शब्द सुनकर ही भडक उठते हैं, परन्तु भाई! तू जरा समझ तो कि ज्ञानी क्या कहते हैं? 'क्रमबद्ध

जैसा होना नियत है वैसा ही होता है'—ऐसा जानने का बीड़ा किसने उठाया ? जिस ज्ञान ने वह बीड़ा उठाया है वह अपने ज्ञानसामर्थ्य की प्रतीति के बिना वह बीड़ा नहीं उठा सकता; क्रमबद्ध जैसा होना नियत है वैसा ही होता है—ऐसा बीड़ा उठानेवाले ज्ञान में ज्ञानस्वभाव की सम्मुखता का पुरुषार्थ—इत्यादि सभी समवाय आ जाते हैं।

(१) यहाँ कहा हुआ नियतधर्म सभी जीवों में है।

(२) द्वादशानुप्रेक्षा में कथित सम्यक् नियतवाद सम्यग्दृष्टि के ही होता है।

(३) गोम्मटसार में कथित मिथ्या नियतवाद गृहीतमिथ्यादृष्टि के ही होता है।

—इसलिये नियत का जहाँ जो प्रकार हो वह समझना चाहिए; मात्र 'नियत' शब्द सुनकर भड़कना नहीं चाहिए।

नियत स्वभाव' भी आत्मा का एक धर्म है' और उस धर्म से आत्मा को जानने पर उसके दूसरे समस्त धर्मों की स्वीकृति भी साथ ही आ जाती है। आत्मा में अनन्त धर्म एकसाथ हो हैं उनमें से एक धर्म की यथार्थ प्रतीति करने से दूसरे समस्त धर्मों की प्रतीति भी साथ ही आ जाती है और प्रमाण ज्ञान होकर अनन्त धर्मों के पिण्डरूप शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव होता है।

पाँच समवाय कारणों में जो भवितव्य अथवा नियति आता है वह सम्यक् नियतवाद है उसके साथ दूसरे चारों समवाय आ जाते हैं। न होनेवाला हो जाये—ऐसा कभी होता ही नहीं' जो होता है वह सब नियत ही है। परन्तु उस नियत के निर्णय में ज्ञातास्वभाव का 'पुरुषार्थ' है स्वभाव में जो पर्याय थी वही प्रगट हुई है इसलिये उसमें स्वभाव' भी आ गया और जितने अंश में निर्मल पर्याय प्रगट हुई उतने अंश में कर्म का अभाव है—वह निमित्त' है।—इस प्रकार एक समय में पाँचों बोल एकसाथ आ जाते हैं। उनमें नियत—अनियत रूप अनेकान्त उतारना हो तो जो भवितव्य है वह 'नियत और नियत

के अतिरिक्त अन्य चार बोल हैं वह 'अनियत'—इस प्रकार नियत-अनियतरूप अनेकान्त वह भगवान का मार्ग है। परन्तु उसमें 'अनियत' शब्द का अर्थ 'आगे-पीछे या अनिश्चित'—ऐसा नही समझना चाहिये, किन्तु आत्मा के नियत धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों का नाम 'अनियत' समझना।

सम्यक् नियत मे तो विकारी-अविकारी और जड की समस्त पर्यायें आती हैं, क्योकि समस्त पर्यायो का क्रम नियत ही है, और यहाँ कहे हुए नियतस्वभाव से तो अकेला ध्रुवस्वभाव ही आता है, उसमे पर्याय नही आती।

पर्याय के नियत का निर्णय भी द्रव्य के बिना नही किया जा सकता, क्योकि पर्यायें द्रव्य मे से ही आती हैं। निश्चित पर्याय का निर्णय करने मे द्रव्यसन्मुखता का अपूर्व पुरुषार्थ है, वह निर्णय करनेवाले को पर्यायबुद्धि नही रहती। वर्तमान पर्याय की बुद्धि अत-मुंख होकर द्रव्य में प्रविष्ट हो जाये तभी सम्यक् नियत का निर्णय होता है। पर्याय मे समय-समय का विकार है वह मेरे त्रिकाली स्वभाव मे नही है—इस प्रकार दोनो धर्मों से आत्मा को जाने तो अवस्था विकार की ओर से विमुख होकर चैतन्यस्वभाव की ओर उन्मुख हो जाती है और सम्यग्ज्ञान होता है।

द्रव्य का त्रिकाल नियत स्वभाव है उसकी दृष्टि करे, या पर्याय के नियत का यथार्थ निर्णय करे अथवा नियत और पुरुषार्थ आदि पाँचो समवाय एक साथ हैं उन्हे समझे, तो मिथ्याबुद्धि दूर होकर स्वभावोन्मुखता हो जाती है। जिसने नियत का यथार्थ निर्णय किया उसके आत्मा के ज्ञानस्वभाव का, केवलीभगवान का और पुरुषार्थ का विश्वास भी साथ ही है। नियत का निर्णय कहो, केवल-ज्ञान का निर्णय कहो, पाँच समवाय का निर्णय कहो, सम्यक् पुरुषार्थ कहो—वह सब एकसाथ ही है।

नियत के साथ वाले दूसरे पुरुषार्थ आदि चार बोल हैं उन्हें नियत में नही लेते इसलिये उन्हें अनियत कहा जाता है। इस प्रकार

नियत और अनियत–ऐसा वस्तुस्वभाव है। अथवा दूसरे प्रकार से—द्रव्य का एकरूप स्वभाव वह नियतधर्म है और पर्याय में विविधता होती है वह अनियतधर्म है —इस प्रकार नियत और अनियत दोनों धर्म एक साथ विद्यमान हैं। उनमें नियतनय से आत्मा के द्रव्य स्वभाव का वर्णन किया अब अनियतनय से पर्याय की बात करेंगे।

—यहाँ २६ वें नियतनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

[२७] अनियतनय से आत्मा का वर्णन

नियतनय से आत्मा के एकरूप द्रव्यस्वभाव का वर्णन किया अब अनियतनय से पर्याय की बात कहते हैं। आत्मद्रव्य अनियतनय से अनियतस्वभावरूप भासित होता है जिस प्रकार पानी में उष्णता नियमित नहीं है परन्तु अग्नि का निमित्त पाकर कभी-कभी उसमें उष्णता आ जाती है उसी प्रकार अनियतनय से आत्मा रागादि अनियतस्वभावरूप ज्ञात होता है।

पानी का स्थायी स्वभाव ठण्डा है वह नियत है और उष्णता उसके ठण्डे स्वभाव से विपरीत दशा है वह उष्णता पानी में नित्यस्थायी रहनेवाली नहीं है इसलिये अनियत है उसी प्रकार आत्मा की अवस्था में रागादि विकारीभाव होते हैं वे स्थायी रहनेवाले नहीं हैं परन्तु क्षणिक हैं इसलिये वे अनियत हैं। ऐसा अनियतपना भी आत्मा का एक धर्म है। परन्तु "होना नहीं था और हो गया"—ऐसा यहाँ अनियत का अर्थ नहीं है। रागादि को अनियत कहा इसलिये कहीं पर्याय का क्रम टूट जाता है ऐसा नहीं है; जो रागादि हुए वे कहीं पर्याय का क्रम टूटकर नहीं हुए हैं। पर्याय के क्रम की अपेक्षा से रागादि भी नियत क्रम में ही हैं परन्तु रागादि अशुद्ध भाव हैं वह आत्मा का स्थायी स्वभाव नहीं है इसलिये उसे अनियत स्वभाव कहा है। अनियतनय से देखें तो उसमें भी क्रमबद्धपर्याय का फेरफार होना नहीं आता पर्याय का क्रम तो नियत ही है।

गोम्मटसार में एकान्त नियतवादी को मिथ्यादृष्टि कहा है

वह तो अलग बात है और यहाँ अलग बात है। गोम्मटसार मे जिस नियतवादी को मिथ्यादृष्टि कहा है वह तो नियत के नाम से मात्र स्वच्छन्द का सेवन करता है, परन्तु नियत के साथ अपना ज्ञाता स्वभाव है उसे वह जानता नही है, स्वसन्मुख होने के पुरुषार्थ को और सर्वज्ञ को मानता नही है, परसन्मुख ही रुचि रखता है किन्तु अनतस्वसामर्थ्यमय ज्ञानस्वभाव की रुचि नही करता, स्वभाव की सम्यक्–श्रद्धा–ज्ञान के पुरुषार्थ को वह स्वीकार नही करता, अपनी निर्मलपर्यायरूप स्वकाल को वह जानता नही है, और निमित्त मे कितने कर्मों का अभाव हुआ है उसे भी वह नही समझता।—इस प्रकार किसी प्रकार के मेल बिना मात्र नियत की बातें करके स्वच्छन्दी होता है, नियत के साथ के पुरुषार्थ आदि समवायो को वह मानता नही है और श्रद्धा–ज्ञान का सम्यक् पुरुषार्थ प्रगट नही करता, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है। परन्तु सम्यक्दृष्टि तो नियत के निर्णय के साथ—साथ सर्वज्ञ का भी निर्णय करता है और 'मैं ज्ञाता स्वभाव हूँ'—ऐसा भी स्वसन्मुख होकर प्रतीति करता है इसलिये नियत के निर्णय मे उसे सम्यक्श्रद्धा–ज्ञान का पुरुषार्थ भी साथ ही है, उस समय निर्मलपर्याय रूप स्वकाल है तथा निमित्त में मिथ्यात्वादि कर्म का अभाव है, इस प्रकार सम्यग्दृष्टि को एक साथ पाँच समवाय आ जाते हैं। नियत के निर्णय के सम्बन्ध में मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि का यह महान अन्तर है वह अज्ञानी नही समझ सकते इसलिये भ्रम से दोनो मे समानता लगती है, परन्तु वास्तव मे तो उन दोनो मे आकाश–पाताल जितना अतर है।

'मैं ज्ञायक हूँ'—इस प्रकार अपने ज्ञानस्वभाव की जिसे प्रतीति नही है और जो पर में फेरफार करने के मिथ्याभिमान का सेवन कर रहा है, वे यह नियतवस्तुस्वभाव की यह बात सुनते ही भडक उठते हैं कि 'अरे! क्या सब नियत है!! हमारे पुरुषार्थ से कुछ फेरफार नही हो सकता ?' यानी उसे ज्ञाता नही रहना है किन्तु फेरफार करना है,—यह बुद्धि ही मिथ्यात्व है। अज्ञानी मानता है कि वस्तु की पर्याय नियत नही है, अर्थात् निश्चित नही है, उसमे हम

अपनी इच्छानुसार परिवर्तन कर सकते हैं—यह उसकी मान्यता मिथ्या है; क्योंकि वस्तु की पर्यायों में ऐसा अनियतपना नहीं है कि वे आगे-पीछे हो जायें। यहाँ आत्मा के अनियतधर्म का वर्णन करते हैं उसमें तो असग बात है; कहीं उसमें पर्याय के क्रम में परिवर्तन करने की बात नहीं है।

अज्ञानी मानता है कि इस अनियतनय में तो हमारी मान्यतानुसार वस्तु की क्रमबद्धपर्याय में फेरफार होना आयेगा!—परन्तु ऐसा नहीं है किसी पर्याय का क्रम तो फिरता ही नहीं है—इस नियम को यथावत् रखकर ही सब बात है। द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से देखने पर आत्मा शुद्धरूप दिखाई देता है और पर्यायदृष्टि से देखने पर अशुद्ध दिखाई देता है, वह अशुद्धता आत्मा का अनियतस्वभाव है; क्षणिक अशुद्धता को भी आत्मा स्वयं अपनी पर्याय में धारण कर रखता है।

आत्मा के अनियतधर्म को कौन मान सकता है ?

आत्मा एकान्त शुद्ध है, उसकी पर्याय में भी विकार नहीं है—ऐसा जो माने उसने आत्मा के अनियतधर्म को नहीं जाना है

अथवा आत्मा की पर्याय में जो विकार है वह पर के कारण होता है—ऐसा माने तो वह भी आत्मा के अनियतधर्म को नहीं जानता है

और पर्याय में जो क्षणिक विकार है उसीको यदि आत्मा का स्थायी स्वभाव मान ले तो उसने भी आत्मा के अनियतधर्म को नहीं जाना है

पर्याय में जो विकार है वह उसके अपने कारण से है परन्तु वह आत्मा का त्रिकाल रहनेवाला स्वभाव नहीं है परन्तु क्षणिक अशुद्धभाव है—ऐसा जो जाने उसीने आत्मा के अनियतधर्म को यथार्थ रूप से माना कहा जाता है।

सर्व जीव कर्म के वश हैं—ऐसा अज्ञानी मानता है, इसलिये कर्म ही जीव को विकार करता है ऐसा वह मानता है, परन्तु आत्मा के अनियतधर्म को वह नही जानता है। रागादि विकार होता है वह कही जडकर्म का धर्म नही है, परन्तु वे रागादि आत्मा की ही अवस्था मे होते हैं इसलिये आत्मा का ही अनियतधर्म है। तत्त्वार्थ-सूत्र मे भी औदयिकभाव को भी आत्मा का स्वतत्त्व कहा है। रागादिभाव आत्मा का अनियतधर्म है, वह कही कर्म के वश नही है, आत्मा का अनियतधर्म कही जडकर्म के कारण नही है।

'आत्मा की पर्याय मे विकार नही होना था, किन्तु बहुत से कर्मोंका एकसाथ उदय आया इसलिये विकार हुआ'—ऐसा अनियत-पना नही है, परन्तु आत्मा के स्वभाव का जो एकरूप नियम है वैसा पर्याय मे नही है, इसलिये पर्याय के विकार को अनियत कहा है। चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा त्रिकाल है, उसकी अवस्था में विकार और ससार है वह अनियतस्वभाव से है, एक समय पर्यंत का अनिश्चित है, इसलिये वह आत्मा मे सदैव नही रहेगा, और शुद्ध स्वभाव तो ज्यो का त्यो रहनेवाला है, उस स्वभाव की महिमा करके उसके सन्मुख रहने से पर्याय में अनियत ऐसा ससार दूर हो जायेगा। इसलिये हे जीव! मैं ज्ञायक आनन्दकन्दस्वभाव से नियत हूँ और अवस्था का विकार वह अनियत है—ऐसी प्रतीति करके स्वभावोन्मुख हो! विकार आत्मा मे स्थायी रहनेवाला भाव नही है, इसलिये पर्याय मे भले ही चाहे जितना विकार हो उससे तू अकुलाना मत, परन्तु उस विकार की तुच्छता जान, और नित्यस्थायी शुद्ध नियतस्वभाव की महिमा लाकर उसके सन्मुख दृष्टि करके उसमें स्थिर हो!—ऐसा करने से, जैसा नित्यस्थायी शुद्धस्वभाव है वैसी शुद्धता पर्याय मे प्रगट हो जायेगी और विकार नष्ट हो जायेगा। आत्मा के शुद्धस्वभाव के आश्रय से अनियत जो विकार है वह दूर हो जाने योग्य है, परन्तु पर्याय के क्षणिक विकार से कही आत्मा के नियतस्वभाव का नाश नही हो जाता। रागादि विकार तो क्षणिक

अनियत नाशवंत हैं वे शरणभूत नहीं हो सकते और द्रव्य का नियतस्वभाव तो सदा शुद्ध है उसकी शरण में आने से जीव को शांति और कल्याण होता है। इस प्रकार नियतस्वभाव और अनियत स्वभाव—इन दोनों से आत्मा को जानकर उसके ध्रुव स्वभाव का आश्रय करना वह प्रयोजन है।

भाई! तेरा द्रव्यस्वभाव शुद्धचैतन्यमय है वह नियत है और पर्याय में विकारी संसारभाव है वह अनियत है इसलिये वह दूर हो जायेगा। नियत शुद्धस्वभाव की दृष्टि करने से अनियत विकारी भाव दूर हो जायेगा। शुभाशुभ विकार तेरा क्षणिक पर्याय-धर्म है तो भी वह अनियत है इसलिये वह पानी की उष्णता की भाँति दूर हो जाता है। अग्नि की उष्णता वह उसका नियतस्वभाव है इसलिये वह दूर नहीं होता परन्तु पानी की उष्णता अनियत है इसलिये वह दूर हो जाती है। उसी प्रकार आत्मा का शुद्धचैतन्य द्रव्यस्वभाव तो नियत है उसका कभी नाश नहीं होता और पर्याय का विकार अनियत स्वभावरूप है इसलिये वह दूर हो जाता है। इसलिये पर्याय में एक समय का विकार देखकर आकुलित मत हो क्योंकि सारा द्रव्य विकार रूप नहीं हो गया है द्रव्य तो नित्य शुद्धस्वभावरूप है ही उसकी दृष्टि करने से विकार दूर हो जायेगा और शुद्धता प्रगट हो जायेगी। पर्याय का स्वभाव अनियत है ऐसा जानकर उसका आश्रय छोड़ और द्रव्य का स्वभाव नियत है—ऐसा जानकर उसका आश्रय कर। अहो! मैं सदैव एकरूप परम पारिणामिकभाव से नियत हूँ—ऐसा जानकर स्वाश्रय करने से सम्यग्दर्शनादि अपूर्वभाव प्रगट हो जाता है।

आत्मा सदैव चैतन्य प्रभुता से परिपूर्ण है—ऐसा नियतनय देखता है और पर्याय में पामरता है उसे अनियतनय देखता है। यह दोनों धर्म आत्मा में एकसाथ हैं। आत्मा के ऐसे दोनों धर्मों को जो जानता है उसका बल पूर्णस्वभाव की प्रभुता की ओर ढले बिना नहीं रहता इसलिये द्रव्य की प्रभुता के बल से पर्याय की पामरता का नाश हुए बिना नहीं रहता।

द्रव्यस्वभाव मे विकार नही है और पर्याय मे विकार हुआ, तो वह कहाँ से आया ?—क्या कर्म के कारण आया ? नही, विकार भी आत्मा का ही अनियत धर्म है, आत्मा की पर्याय मे उस प्रकार की योग्यता है। अग्नि के सयोग के समय पानी गर्म हुआ वह अग्नि के कारण नही हुआ है परन्तु पानी की पर्याय मे उस प्रकार की योग्यता है, वह उष्णता पानी का अनियतधर्म है, उसी प्रकार आत्मा मे जो रागादि पर्याय होती है वह उसका अनियतधर्म है। यदि उस एकधर्म को भी निकाल दें या पर के कारण मानें तो सारी आत्मवस्तु ही सिद्ध नही होती अर्थात् सम्यग्ज्ञान नही होता। जिस प्रकार सौ वर्ष की उम्र का कोई व्यक्ति हो, उसके सौ वर्ष मे से बीच का एक समय भी निकाल दिया जाये तो उस व्यक्ति की सौ वर्ष की अखण्डता नही रहती, परन्तु उसके दो टुकडे हो जाते हैं उसी प्रकार आत्मा अनतधर्मों का अखण्ड पिण्ड है, उसमे से उसके एक भी अश को निकाल दें तो अखण्ड वस्तु सिद्ध नही होती।

यहाँ नय से जिन-जिन धर्मों का वर्णन किया है, वे धर्म आत्मा के हैं इसलिये नयज्ञान स्व की ओर देखता है। पर की ओर देखने से आत्मा के धर्मों का यथार्थ ज्ञान नही होता, परन्तु आत्मा की ओर उन्मुख होने से ही उसके धर्मों का यथार्थ ज्ञान होता है।

केवली भगवान को तेरहवें गुणस्थान मे योग का कम्पन है, वह उनका अनियतधर्म है, अघातिकर्म के कारण वह कम्पन नही है। योग का कम्पन भी आत्मा का अपना औदयिक भाव है, वह भी स्वतत्त्व का धर्म है। द्रव्य और पर्याय दोनो मिलकर प्रमाण हैं, पर्याय का धर्म भी आत्मा का अपना धर्म है, पर्याय का धर्म कही पर के आधार पर अवलम्बित नही है। पर्याय मे जो विकार हुआ, उस पर्यायरूप से कौन भासित होता है ?—अनियतनय से आत्मद्रव्य स्वय ही विकाररूप भासित होता है, कही परद्रव्य विकाररूप भासित नही होता।

वस्तु के अनन्तधर्मों को सर्वज्ञदेव प्रत्यक्ष जानते हैं; और साधक सम्यग्ज्ञानी उन्हें प्रतीति में लेते हैं। यह धर्म पूर्णरूप से अपनी आत्मा की प्रतीति कराते हैं धर्मी आत्मा की प्रतीति के बिना धर्म की प्रतीति नहीं होती। यह तो वीतरागता के मन्त्र हैं।

प्रमाणज्ञान कराने के लिये द्रव्य और पर्याय दोनों की बात साथ ही साथ ली है। नियतनय, द्रव्य अपेक्षा से आत्मा के नियत स्वभाव को देखता है और उसी समय पर्याय की अपेक्षा से आत्मा में अनियतस्वभाव भी है उसे देखनेवाला अनियतनय है। आत्मा की पर्याय में भूल और विकार सर्वथा हैं ही नहीं—ऐसा नहीं है भूल और विकार भी आत्मा का अपना अनियतस्वभाव है और आत्मा का स्थायी स्वभाव भूल रहित चैतन्यस्वरूपी है। वस्तु में जैसा हो वैसा ही यदि न जाने तो ज्ञान की महिमा क्या? और प्रमाणता क्या? आत्मा के विकार रहित त्रिकालीस्वभाव को ज्ञान जानता है। यदि स्वभाव और विकार—दोनों को न जाने तो विकार में से एकाग्रता दूर होकर स्वभाव में एकाग्र होना नहीं रहता, और सम्यग्ज्ञान भी नहीं होता इसलिये किसी प्रकार का धर्म नहीं होता।

द्रव्यरूप से तो आत्मा सदैव एकरूप नियतस्वभाव से है और उसकी पर्याय में हीनाधिकता के अनेक प्रकार होते हैं इसलिये अनियतपना भी है। पर्याय में अनेक प्रकार और विकार हैं उन्हें यदि न जाने तो ज्ञान सम्यक् नहीं होता। जिस प्रकार अग्नि में उष्णता तो नियत है और पानी में उष्णता अनिमित्त है इसलिये कभी होती है और कभी नहीं भी होती। पानी का स्थायी स्वभाव नित्य ठण्डा होने पर भी उसकी वर्तमान पर्याय में जो उष्णता है वह उसका अपना अनियतस्वभाव है उष्णतारूप होने की उसकी अपनी क्षणिक योग्यता है, यदि उस अनियत उष्णतास्वभाव को न जाने और पानी को एकान्त ठण्डा मानकर पीने लग जाये तो क्या होगा?—मुँह जल जायेगा। उसी प्रकार चैतन्यभगवान आत्मा उपशमरस का समुद्र नियतस्वभाव से सदा शुद्ध एकरूप होने पर भी उसकी व्यक्त पर्याय

मे जो रागादि हैं वह भी उसका एकसमय का अनियतस्वभाव है। अपनी पर्याय मे वे रागादि हैं—ऐसा यदि न जाने और आत्मा को सर्वथा शुद्ध माने तो उसे शुद्धता का अनुभव तो नही होगा परन्तु मात्र रागादि की आकुलता का ही अनुभव होगा। आत्मा की पर्याय मे जो क्षणिक विकार होता है वह उसका अनियतस्वभाव है और वह 'अनियतनय' का विषय है, वह आत्मा का स्थायी स्वभाव नही है। परन्तु यदि वह विकार एकसमयपर्यंत भी पर्याय मे न होता हो तो उसे दूर करके स्वभाव में एकाग्र होने का प्रयत्न करना नही रहता, अर्थात् मोक्षमार्ग ही नही रहता। इसलिये द्रव्य और पर्याय—दोनो का यथार्थ ज्ञान हो तभी मोक्षमार्ग की साधना हो सकती है।

वस्तु मे नियत और अनियत दोनो धर्म हैं। वस्तु का जो सदैव एकरूप रहनेवाला स्वभाव है वह नियत है, और जो क्षणिक स्वभाव है वह अनियत है। परन्तु क्रमबद्धपर्याय मे जो पर्याय होना हो उसके बदले उल्टी–सीधी होकर अनियत हो जाये—ऐसा यहाँ अनियत का अर्थ नही है। जिस प्रकार द्रव्य नियत है, उनके जड–चेतनादि गुण नियत हैं, उसी प्रकार उनकी समय–समय की पर्यायें भी नियत हैं। पर्यायो का क्रम कही अनियत नही है, जिस समय जो पर्याय होना नियत है, उस समय वही पर्याय नियम से होगी। सर्वज्ञ उसे जानते हैं। सर्वज्ञ का ज्ञान अन्यथा नही होगा और वस्तु की पर्यायो का क्रम भी नही टूटता। अहो! इस निर्णय मे स्वतत्र वस्तु–स्वभाव का निर्णय आ जाता है, और पुरुषार्थ की सन्मुखता पर की ओर से हटकर अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर हो जाती है। यह अतर्दृष्टि की बात है। अनेक लोग अपनी कल्पितदृष्टि के अनुसार शास्त्र पढ जाते हैं, परन्तु पात्रता और गुरुगम के अभाव से अतर्दृष्टि का यह रहस्य नही समझ सकते। कोई तो ऐसा कहते हैं कि—'द्रव्यो की सख्या नियत है, उनके चेतन–अचेतन गुण नियत हैं, तथा प्रतिक्षण उनका किसी न किसी प्रकार का परिणमन होगा वह भी नियत है, परन्तु अमुक समय मे अमुक ही परिणमन होगा—यह बात नियत नही है, जैसे सयोग

थायेंगे वैसी अवस्था होगी। देखो, ऐसा कहनेवाले को स्वतंत्र वस्तु स्वरूप की कोई खबर नहीं है और सवज्ञ की भी श्रद्धा नहीं है। यह बात पहले कई बार विस्तारपूर्वक कही जा चुकी है। 'द्रव्य की शक्ति तो नियत है, परन्तु परिणमन किस समय कैसा होगा वह अनियत है—इस प्रकार नियत-अनियतपना वह जैनदर्शन का अनेकान्तवाद है।'—ऐसा अज्ञानी लोग मानते हैं परन्तु वह बात मिथ्या है जैन दर्शन के अनेकान्तवाद का ऐसा स्वरूप नहीं है। नियत और अनियत का अर्थ तो जैसा कहा है वैसा ही है। द्रव्यस्वभाव से आत्मा नियत शुद्ध एकरूप होने पर भी उसकी पर्याय में जो विकार होता है वह उसका अनियतस्वभाव है विकार नित्य एकरूप रहनेवाला भाव नहीं है, इसलिये उसे अनियत कहा है—ऐसा समझना चाहिये।

नियतधर्म से देखने पर आत्मा सदैव एकरूप शुद्ध ही भासित होता है और अनियतधर्म से देखने पर वह विकारी भी है अनेकरूप है। यदि आत्मा में अनियत रूप से विकार होने का धर्म न हो तो अनन्तकर्म एकत्रित होकर भी उसे विकारी नहीं बना सकते। विकार अनियत होने पर भी वह पर के कारण नहीं है परन्तु आत्मा का अपना भाव है। शुद्धस्वभाव त्रिकाल ध्रुव है, उसमें विकार नहीं है और पर्याय में हुआ इसलिये उसे अनियत कहा है परन्तु वह विकार होने वाला नहीं था और हो गया—ऐसा अनियतस्वभाव नहीं है। पर्याय का जो नियतपना है वह बात यहाँ नहीं ली है यहाँ तो नियतरूप से त्रिकाली स्वभाव को लिया है और अनियतरूप से पर्याय की क्षणिक अशुद्धता ली है।

—यहाँ २७ वें अनियतनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

यहाँ प्रवचनसार के परिशिष्ट में पाँच समवाय के बोल लिये हैं परन्तु वे दूसरी शैली से लिये हैं उनमें से नियत तथा अनियत धर्म का वर्णन किया अब आत्मा के स्वभावधर्म और अस्वभावधर्म की बात करेंगे। पश्चात् काल तथा अकाल तथा पुरुषार्थ और दैव का भी वर्णन करेंगे।

[२०] काल नय से आत्मा का वर्णन

"आत्मद्रव्य कालनय से, जिसकी सिद्धि समय पर आधार रखती है ऐसा है,—ग्रीष्म ऋतु के दिवस अनुसार पकनेवाले आम्रफल की भांति। आत्मा को मुक्ति जिस समय होना है उसी समय होती है—ऐसा कालनय से ज्ञातव्य आत्मा का एक धर्म है। जिस काल मुक्ति होती है उस काल भी वह पुरुपार्थ पूर्वक ही होती है, किन्तु पुरुपार्थ से कथन न करके "स्वकाल से मुक्ति हुई"—ऐसा कालनय से कहा जाता है। स्वकाल से मुक्ति हुई इसलिये पुरुपार्थ उड जाता है—ऐसा नही है, स्वकाल से मुक्ति हुई उसमें भी पुरुपार्थ तो साथ ही है।

जिस समय मुक्ति होना है उसी समय होती है, किन्तु वह मुक्ति कहाँ से होती है?—द्रव्य मे से होती है, इसलिये ऐसा निर्णय करनेवाले का लक्ष अकेली मुक्ति की पर्याय पर नही रहता किन्तु पर्याय के आधारभूत द्रव्य पर उसकी दृष्टि जाती है, "जिसकाल मुक्ति होना हो उस काल होती है"—ऐसा ध र्मतो आत्मद्रव्य का है, इस-लिये आत्मद्रव्य पर जिसकी दृष्टि है वही इस धर्म का निर्णय कर सकता है, इसलिये इस निर्णय मे मुक्ति का पुरुपार्थ आ ही जाता है। अपनी मुक्तिपर्याय के काल को देखनेवाला वास्तव मे द्रव्य की ओर देखता है, क्योंकि "जिसकी सिद्धि समयपर आधारित है"—ऐसा धर्म द्रव्य का है, द्रव्य की ओर देखा वही अपूर्व पुरुपार्थ है। द्रव्य को ओर देखनेवाले ने निमित्त, विकार या पर्याय पर से दृष्टि उठा ली है, तथा एक-एक गुण के भेद पर भी उसकी दृष्टि नही है, ऐसी द्रव्यदृष्टि मे ही क्रमवद्धपर्याय का निर्णय, स्वकाल का निर्णय, भेदज्ञान, मोक्षमार्ग का पुरुपार्थ, केवली का निर्णय—इत्यादि सब कुछ आ जाता है। कालनय का परमार्थ तात्पर्य भी यही है कि स्वद्रव्य की दृष्टि करना। यह धर्म कही काल के आधार से नही है किन्तु आत्मा के आधार से है, इसलिये मुक्ति के काल का निर्णय करनेवाला काल की ओर नही किन्तु आत्मा की ओर देखता है।

केवली भगवान के केवलज्ञान में जो काल देखा उस काल ही मुक्ति होती है मुक्ति का काल बदल नहीं सकता—ऐसा आत्मद्रव्य का एक धर्म है आत्मा के इस धर्म का निर्णय कहीं परसन्मुख देखने से नहीं होता किन्तु आत्मद्रव्य के समक्ष देखने से ही उसके धर्म का निर्णय होता है। कालनय भी किसे देखता है ?—जिसकी सिद्धि काल पर आधार रखती है ऐसे आत्मद्रव्य को ही देखता है इसलिये जो जीव अन्तर्मुख होकर आत्मद्रव्य को देखता है उसीने कालनय को सच्चा माना कहा जाता है और उसका मुक्ति का काल अल्पकाल में ही होना होता है।

देखो यहाँ एक-एक धर्म को सिद्ध नहीं करना है किन्तु पूर्ण आत्मद्रव्य को सिद्ध करना है इसलिये नय देखनेवाले को स्वद्रव्याश्रित अनेक धर्मों का निर्णय करने में अपना ज्ञान एक अपने आत्मोन्मुख करना है। इस प्रकार द्रव्यदृष्टि करके शुद्ध आत्मा को प्रतीति में लेना ही इस सबका तात्पर्य है। जो जीव सम्पूर्ण आत्मा को तो प्रतीति में लेता नहीं है और एक-एक धर्म को पृथक् करके देखता है उसके सर्व नय मिथ्या हैं। प्रमाणज्ञान से अनन्त धर्मात्मक अखंड आत्मा को स्वीकार किये बिना उसके एक-एक धर्म का सच्चा ज्ञान नहीं होता अर्थात् नय नहीं होता।

कालनय कहता है कि आत्मा में जिस समय सम्यग्दर्शन होना है उसी समय होगा किन्तु वह किसे लगा है ?—जिसने द्रव्य सन्मुख दृष्टि की उसे ! इसलिये जिसे यह बात जम गई उसे तो सम्यग्दर्शन का काल आ ही गया है। आत्मा का जो धर्म है वह क्षणिक पर्याय के आधार से नहीं है किन्तु द्रव्य के आधार से है। पर्याय तो प्रतिसमय चली ही जाती है एक गुण की अनेक पर्यायें तो एक समय में होती नहीं हैं और द्रव्य तो सदैव एकरूप है, इसलिये उस द्रव्य पर दृष्टि जाते ही पर्याय के काल का या क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय होता है।

प्रत्येक समय की पर्याय का काल व्यवस्थित है। जिस पर्याय का जो काल है उसमे फेरफार नही हो सकता। यदि उसमे फेरफार हो तो वस्तुस्वभाव या केवलज्ञान ही सिद्ध नही होगा, केवलज्ञान को भी अव्यवस्थित मानना होगा, अत॰ त्रिकालवर्ती पर्यायो के पिण्ड द्रव्य पर दृष्टि रखकर प्रत्येक समय की पर्यायें व्यवस्थित हैं, प्रत्येक पर्याय का स्वकाल व्यवस्थित है ऐसा निश्चय करने मे सच्चा पुरुषार्थ भी आ जाता है, क्योकि पर्याय का निर्णय करनेवाले का मुख आत्म-द्रव्य पर है, उसकी दृष्टि मे द्रव्य की ही मुख्यता है, द्रव्य सन्मुख दृष्टि मे उसे पर्याय बदलने की बुद्धि नही रहती, किन्तु द्रव्य के आश्रय में पर्याय का निर्मल परिणमन हो जाता है और अल्पकाल मे केवल-ज्ञान प्राप्त कर लेता है। और पर्याय को अव्यवस्थित माननेवाला नि शक हो ही नही सकता और व्यवस्थित के निश्चय बिना सच्चा पुरुषार्थ भी उसे नही होता।

अहो ! वीतरागी सत चाहे जिस पक्ष से बात समझायें, किन्तु उसमे वस्तु का मूल स्वभाव ही बतलाना चाहते हैं।

❁ ❁ ❁

जो मुक्ति का काल है उसी काल मे मुक्ति होती है—ऐसा कालनय से आत्मा का स्वभाव है। अब, आत्मा की मुक्ति के समय का निर्णय करनेवाले को स्वभावसन्मुख दृष्टि से ही वह निर्णय होता है, इसलिये स्वभावसन्मुख दृष्टि मे अल्पकाल मे मुक्ति हो ऐसा काल उसको होता ही है। सर्वज्ञ भगवान ने देखा है तभी मुक्ति होगी—ऐसा कालनय से आत्मा का धर्म है, किन्तु उस धर्म का निर्णय कब होता है ? वह धर्म पर के आश्रय से नही है किन्तु आत्मा के आश्रय से ही है, इसलिये जब सपूर्ण आत्मा को दृष्टि में ले लें, तब उसके इस धर्म का निर्णय होगा। और जिसने आत्मा को दृष्टि में लिया उसके अल्पकाल मे ही मुक्ति का स्वकाल अवश्य होता है। यह काल-नय भी कही पुरुषार्थ उडाने के लिये नही है, किन्तु उसमें वीतरागी

ज्ञाताद्रष्टापने का सम्यक पुरुषार्थ आ जाता है वह मोक्ष का कारण है। जो अभेद स्वभाव पर दृष्टि करे उसीको यह नय यथार्थरूप से जमता है अन्य किसीको यह नय नहीं जमता।

शंका—कालनय से आत्मा की सिद्धि समय पर आधार रखती है इसलिये अब हमें क्या? हमें तो काल की ओर देखकर बैठना ही रहा?

समाधान—ऐसा नहीं है सुन भाई! कालनय से जिसकी सिद्धि समय पर आधार रखती है—ऐसा कौन है?—आत्मद्रव्य! तो यह धर्म माननेवाले को काल सन्मुख देखना नहीं रहा किन्तु आत्मा की ओर देखना रहा। आत्मस्वभाव पर दृष्टि गई वहाँ स्वकाल अल्पसमय में पकना ही होता है। यहाँ दृष्टान्त में भी ऐसा आम लिया है कि जो ग्रीष्मऋतु आने पर पक जाता है उसी प्रकार सिद्धांत में ऐसा आत्मा लेना चाहिये कि स्वभाव का निर्णय करके स्वभाव की ओर के सम्यक पुरुषार्थ से जिसकी मुक्ति का काल पक जाता है। सर्वज्ञदेव ने तो मुक्ति का जो समय है वह देखा है किन्तु "मैं मुक्त होऊँगा मुक्त होना मेरे आत्मा का स्वभाव है"—ऐसा जिसने निर्णय किया उसे बन्धन, संसार या राग की रुचि नहीं रहती किन्तु जिसमें से मुक्तदशा आना है ऐसे स्वद्रव्य की ओर वह देखता है और अल्पकाल में उसकी मुक्ति का स्वकाल पक ही जाता है। जिसे राग की या निमित्त की रुचि है उसे वास्तव में मुक्ति का निर्णय नहीं है। मुक्ति का निर्णय करनेवाला आत्मा को देखता है क्योंकि मुक्ति किसी निमित्त के राग के या पर्याय के आश्रित नहीं है किन्तु आत्मद्रव्य के आश्रित है इसलिये वह आत्मद्रव्य का अवलम्बन करके ज्ञाताद्रष्टा रहता है उसे पर्यायबुद्धि का अधैर्य या उतावली नहीं होती ज्ञाताद्रष्टारूप से वर्तते हुए अल्पकाल में उसकी मुक्ति हो जाती है।

जिसने अपनी मुक्ति होने का निर्णय किया कि स्वकाल में

मुक्ति पर्याय होने का धर्म मेरे आत्मा मे है, उसने राग मे एकाग्र होकर वह निर्णय नही किया है किन्तु ज्ञाता द्रव्य मे ज्ञानपर्याय को एकाग्र करके वह निर्णय किया है, इसलिये वर्तमान मे वह साधक तो हुआ है, अब उसकी दृष्टि आत्मस्वभाव पर है, 'मैं शीघ्र मुक्ति करूँ और ससार को टालूँ'—ऐसी पर्यायदृष्टि उसके नही है, अब स्वभाव मे एकाग्र होने से अल्पकाल मे उसकी मुक्तदशा हो जायेगी।

मैं खूब शक्ति लगाकर झट अपनी मुक्ति कर डालूँ, दया, कठिन व्रत–तपादि करके जल्दी मोक्ष प्राप्त कर लूँ,—इस प्रकार पर्याय-सन्मुख देखकर आकुलता करे उसमे तो विषमता है, ऐसी विषमता से मुक्ति नही होती, किन्तु मैं तो ज्ञान हूँ,—इस प्रकार ज्ञानस्वभाव को लक्ष में लेकर उसमें एकाग्र होने से मुक्ति हो जाती है। ज्ञातादृष्टा स्वभाव मे रहने से जिस समय मुक्ति होना है उस समय हो जाती है, उस मुक्ति का समय आने मे दीर्घकाल नही होता। अरे! शीघ्र मोक्ष करूँ—यह भी विषमभाव है, क्योकि अवस्था ही वस्तु की व्यवस्था है। शीघ्र मोक्ष करूँ—ऐसा कहे, किन्तु मोक्ष होने का उपाय तो स्वद्रव्य का आश्रय करना है, वह उपाय तो करता नही है, फिर मोक्ष कहाँ से होगा? स्वद्रव्य की दृष्टि करने से मोक्ष अल्पकाल मे हो जाता है, किन्तु वहाँ मोक्षपर्याय पर दृष्टि नही रहती। स्वभाव का अवलबन रखकर ज्ञातादृष्टा हुआ उसमे पर्याय की उतावली करना रहता ही कहाँ है? क्योकि स्वभाव के अवलम्बन से उसकी पर्याय का विकास होता ही जाता है, अब मुक्ति होने में उसे अधिक काल नही लगेगा।

देखो, यह कालनय का रहस्य! जिसने इस कालनय से भी आत्मा का निर्णय किया उसके ज्ञान मे ज्ञातादृष्टापने का धैर्य हो गया, उसके आत्मद्रव्य मे अल्पकाल मे मुक्ति होने का स्वकाल है ही, केवलीभगवान ने भी अल्पकाल मे उसका मोक्ष देखा है। कालनय से आत्मा की मुक्ति समय पर आधार रखती है—ऐसा कहा उसमे पुरुषार्थ की निर्बलता नही है किन्तु स्वभावदृष्टि का बल है, इसका

निर्णय करनेवाला जीव द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि रखकर बन्धमोक्ष का भी ज्ञाता रह जाता है और अल्पकाल में उसकी मुक्ति हो जाती है। केवलीभगवान के ज्ञान में उसकी मुक्ति के प्रमाण अंकित हो गये हैं और उस आत्मा के स्वभाव में भी वैसा धम है। अहो! इसमें मोक्ष का पुरुषार्थ है किन्तु आकुलता नहीं है—ज्ञाताद्रष्टापने का धैर्य है। उतावली करे तो उसके ज्ञाताद्रष्टापना नहीं रहा किन्तु आकुलता हुई—विषमभाव हुआ वह तो मोक्ष को रोकनेवाला है। श्रीमद् राजचन्द्रजी भी कहते हैं कि—जितनी उतावली उतनी कचास और जितनी कचास उतनी खटास। स्वभावदृष्टि में धर्मी को प्रमाद भी नहीं है उतावली भी नहीं है, और न पुरुषार्थ की कचास भी है स्वभावदृष्टि में ज्ञाताद्रष्टारूप से मोक्ष का प्रयत्न उसको चालू ही है और अल्पकाल में मोक्षदशा हो जाती है।

देखो आचार्यदेव ने कालनय को शुभ नहीं रखा कालनय के वर्णन में भी शुद्ध द्रव्यस्वभाव के आश्रय का ही तात्पर्य निकलता है। अज्ञानी लोग बिना समझे अपनी स्वच्छन्द कल्पना से विपरीत अर्थ करते हैं।

धर्मी कहते हैं कि— भव मोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो —लेकिन वह किसकी दृष्टि में? ध्रुवस्वभाव की दृष्टि में स्वभावदृष्टि में बंध-मोक्षपर्याय पर धर्मी को समभाव है अथवा बन्ध टालूं और मोक्ष करूँ—इस प्रकार पर्याय की विषमता पर उसकी दृष्टि नहीं है किन्तु एकरूप चिदानन्दस्वभाव पर उसकी दृष्टि है उस स्वभाव की दृष्टि में अल्पकाल में भवान्त होकर मोक्ष हुए बिना नहीं रहेगा।

यह विकार मुझे नहीं चाहिये—इस प्रकार विकार की ओर देखता रहे तो वह विषमभाव है उसका विकार दूर नहीं होता। मुझे विकार नहीं चाहिये—इस प्रकार जो विकार को टालना चाहता है उसकी दृष्टि विकार सन्मुख नहीं होती किन्तु शुद्ध स्वभाव पर होती है शुद्धस्वभाव में विकार नहीं है इसलिये उस स्वभाव की दृष्टि से विकार दूर होकर अविकारी मोक्षदशा प्रगट हो जाती है।

आत्मा मे मोक्षदशा प्रगट होने का जो काल है उसी काल वह प्रगट होती है—ऐसा आत्मद्रव्य का धर्म है,—ऐसा जिसने कालनय से जान लिया उस जीव की दृष्टि तो शुद्ध चैतन्यद्रव्य पर ही पड़ी है और उस द्रव्य के आश्रय से अल्पकाल मे अवश्य ही उसकी मुक्ति हो जाती है।

—इस प्रकार ३० वें कालनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

[३१] अकालनय से आत्मा का वर्णन

'अकालनय से आत्मद्रव्य जिसकी सिद्धि समय पर आधार नही रखती ऐसा है,—कृत्रिम गरमी से पकाये जानेवाले आम्रफल की तरह।'

जिसे स्वभावदृष्टि है वह जीव अल्पकाल मे मोक्ष प्राप्त करता है। कोई जीव उग्र प्रयत्न द्वारा स्वभाव मे एकाग्र होकर अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करे, वहाँ ऐसा कहा जाता है कि यह जीव उग्र पुरुषार्थ द्वारा शीघ्र मुक्त हुआ, इस जीव ने अचिरेण अर्थात् शीघ्र मुक्ति प्राप्त की। तथा गुरु भी शिष्य को ऐसा आशीर्वाद देते हैं कि स्वभाव के अवलम्बन से तू अचिर अर्थात् शीघ्र मोक्ष पद को प्राप्त करेगा। अकालनय से ऐसा कथन किया जाता है परन्तु उसका अर्थ ऐसा नही है कि मोक्ष का जो समय है वह बदल जाता है। जैसे घास में रखकर आम को पकायें, वहाँ भी वह आम तो उसके पकने के काल मे ही पका है, लेकिन घास मे रखा था उससे ऐसा कहा जाता है कि वह आम घास मे रखकर जल्दी पका दिया। वैसे अल्प समय में उग्र पुरुषार्थ करके जीव मुक्त हो वहाँ ऐसा कहा जाता है कि यह जीव पुरुषार्थ से शीघ्र मुक्ति को प्राप्त हुआ, वह अकालनय का कथन है और वैसा एक धर्म आत्मा मे है। मुक्ति तो उसका जो समय था उस समय ही हुई, उसका समय कुछ बदला नही गया।

यह जीव आसन्न भव्य है, यह जीव पुरुषार्थ द्वारा शीघ्र मुक्ति प्राप्त करेगा—ऐसा कहा जाता है, उसका वाच्य भी वस्तु मे है।

शिष्य भी गुरु के प्रति विनय से कहे कि हे नाथ ! हे स्वामी ! आपने मुझे इस संसार से तार दिया यदि आप न मिलते तो हम अनन्त संसार में भटकते भटकते मर जाते, आपके चरणकमलों के प्रसाद से शीघ्र हमारे संसार का अन्त आ गया और अब शीघ्र ही हम अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करेंगे। आपके उपकार से हमारा अनन्त संसार नष्ट हो गया और मोक्ष निकट आ गया—इस तरह अकालनय से कहा जाता है मोक्ष होने का काल तो जो है वही है वह कहीं उलटपुलट नहीं हो गया है।

आत्मा कैसा है ऐसा शिष्य ने पूछा था। उसे आत्मा के धर्मों द्वारा आत्मा की पहिचान कराते हैं। यहाँ आचार्यदेव ने ४७ नयों से ४७ धर्मों का कथन करके आत्मा का स्वरूप बतलाया है। उनमें कालनय से ऐसा कहा कि जिस समय जिसकी मुक्ति का स्वकाल है तभी वह मुक्ति को प्राप्त करता है। जैसे आम उसके मौसम में पकता है वैसे आत्मा के स्वभाव में मुक्ति का जो समय है उस समय वह मुक्तिरूप परिणमित हो जाता है। स्वभाव की दृष्टि करके स्थिर हो वहाँ आत्मा की मुक्ति होती है। वहाँ आत्मा की अपने काल से मुक्ति हुई ऐसा कालनय से कहा जाता है। लेकिन वह मुक्ति बिना पुरुषार्थ के नहीं हुई है।

उग्र पुरुषार्थ द्वारा जीव ने शीघ्र मुक्ति प्राप्त कर ली—ऐसा *अकालनय से कहा जाता है उसमें भी मुक्ति का जो समय है वह तो* वही है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो गया। अनन्त पुरुषार्थ करके जीव ने बहुत काल के कर्मों को अल्पकाल में नाश किया और शीघ्र मुक्ति प्राप्त की—ऐसा लक्ष में लेना वह अकालनय है।

यह जो धर्म कहे जा रहे हैं वे सभी धर्म शुद्ध चैतन्य वस्तु के आधार से हैं; किसी निमित्त के आधार से राग के आधार से अकेली पर्याय के आधार से अथवा एक एक धर्म के आधार से यह धर्म विद्यमान नहीं हैं। अर्थात् इन धर्मों का निर्णय करते समय धर्मी ऐसा चैतन्यद्रव्य लक्ष में आ जाता है। सम्पूर्ण वस्तुस्वभाव को दृष्टि में लिये

विना उसके धर्म का यथार्थ निर्णय नही हो सकता। आत्मद्रव्य की समुखता से ही उसके धर्म की यथार्थ प्रतीति होती है। चैतन्यस्वभाव सन्मुख जिसका पुरुषार्थ पलट गया हो उसे अचिर (शीघ्र) मुक्ति हुए बिना नही रह सकती।

जैसे—अचानक सर्प वगैरह के काटने से छोटी उम्र मे कोई मनुष्य मर जाये तो वहाँ ऐसा कहा जाता है कि इस मनुष्य की अकाल-मृत्यु हुई। यथार्थत तो उसकी आयु जिस समय पूरी होना थी उस समय ही हुई है, कुछ जल्दी नही हुई है, लेकिन लोक-व्यवहार से अकाल मे अवसान हुआ ऐसा कहा जाता है। वैसे ही आत्मा मे एक ऐसा धर्म है कि आत्मा पुरुषार्थ करके अकाल मे मुक्त हुआ अर्थात् शीघ्र मुक्तदशा प्राप्त की—ऐसा अकालनय से कहा जाता है। जो जीव वस्तुस्वभाव से विपरीत मानता है और विपरीत प्ररूपणा करता है वह जीव प्रतिक्षण अनन्त ससार की वृद्धि करता है, वैसे ही स्व-भावदृष्टि के बल से सम्यक्त्वी जीव ससार को एक क्षण में नष्ट कर देता है और शीघ्र मुक्ति को प्राप्त करता है। ऐसा अकालनय से कहा जाता है। पहले स्वभाव पर दृष्टि नही थी और ससार पर दृष्टि थी तब प्रतिक्षण अनन्त ससार की वृद्धि करता है ऐसा कहा, और जहाँ सत्समागम से विपरीत दृष्टि को बदलकर स्वभावदृष्टि की वहाँ एक क्षण में अनन्त ससार नष्ट कर दिया—ऐसा अकालनय से कहा जाता है। परन्तु ससार होना था और दूर हो गया अथवा उस समय मोक्ष नही होना था और हो गया—ऐसा अकालनय का अर्थ नही है। अकालनय से पर्याय का क्रम बदल जाये—ऐसा नही है। लेकिन अनन्तकाल के कर्म अल्पकाल में नष्ट कर दिये—ऐसा अकालनय से कहा जाता है। छद्मस्थ के ज्ञान मे यह नय होते हैं, केवलीभग-वान के ज्ञान मे नय नही होते, उनको तो एक साथ सम्पूर्ण प्रत्यक्ष-ज्ञान वर्त रहा है।

देखो, कालनय और अकालनय से पृथक् पृथक् दो धर्म कहे हैं, वे दोनो धर्म अलग अलग जीव मे नही हैं परन्तु एक ही जीव में

दोनों धर्म एक साथ वर्त रहे हैं इसी तरह नियत अनियत वगैरह नयों से जो धर्म कहे हैं वे भी प्रत्येक आत्मा में एक साथ ही वर्त रहे हैं। एक जीव स्वकालानुसार मुक्ति प्राप्त करे और दूसरा जीव पुरुषार्थ करके अकाल में मुक्ति प्राप्त करे—ऐसा नहीं। अर्थात् एक धर्म एक जीव में और दूसरा धर्म दूसरे जीव में हो ऐसा नहीं है। एक ही जीव में समस्त धर्म एक साथ रहते हैं।

कालनय से तो जीव को जिस समय मुक्ति प्राप्त करना है उस समय ही प्राप्त करता है और अकालनय से उसमें अदलबदल हो जाये—ऐसा परस्पर विरोध नहीं है।

इस जीव ने अपने स्वकालानुसार मुक्ति प्राप्त की ऐसा कहना वह कालनय का कथन है परन्तु ऐसा जब कालनय से कहा तब भी बिना पुरुषार्थ के उसे मोक्ष हुआ—ऐसा उसका अर्थ नहीं है स्वकाल के समय भी पुरुषार्थ तो मिला हुआ ही है।

और इस जीव ने उग्र पुरुषार्थ द्वारा शीघ्र मुक्ति प्राप्त की—ऐसा कहना वह अकालनय का कथन है। परन्तु, पुरुषार्थ से शीघ्र मुक्ति प्राप्त की ऐसा जब अकालनय से कहा तब भी मुक्ति का स्वकाल न था और मुक्ति हो गई—ऐसा उसका अर्थ नहीं पुरुषार्थ के समय उसका स्वकाल वैसा ही है।

इस प्रकार कालनय और अकालनय यह दोनों नयों के विषयरूप दोनों धर्म आत्मा में एक साथ विद्यमान ही हैं ऐसा समझना चाहिये। यहाँ जिन धर्मों का वर्णन किया जा रहा है उन सभी धर्मों का अधिष्ठाता तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा है। ऐसे आत्मा को दृष्टि में लेना वही इन सब धर्मों को जानने का फल है।

—यहाँ ११ वें अकालनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

❀ समाप्त ❀

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
१३	१८	तेरा	तेरी
४१	७	साधक का	साधक तो
१०२	१	को मानना	को नहीं मानता
११५	८	रुक गई नहीं है	रुक गई है
२५२	२६	नेरक से	करने से
२६४	२१	निमित्त नहीं	निमित्त से नहीं
३०८	७	द्रव्य को	द्रव्य की